संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास

षष्ठ-खण्ड
नाट्य

प्रधान सम्पादक

स्व. पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय

सम्पादक

कमलेश दत्त त्रिपाठी

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान
लखनऊ

संस्कृत-वाङ्मय का बृहद् इतिहास

षष्ठ-खण्ड

नाट्य

प्रधान सम्पादक

स्व. पद्मभूषण आचार्य श्री बलदेव उपाध्याय

सम्पादक

कमलेश दत्त त्रिपाठी

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान

लखनऊ

निदेशकीय-निवेदन

आङ्गिकं भुवनं यस्य वाचिकं सर्ववाङ्मयम्।
आहार्यं चन्द्रतारादि तं नुमः सात्त्विकं शिवम्।।

(नन्दिकेश्वर, अभिनय दर्पण-१)

संस्कृत-वाङ्मय निरन्तर प्रवहमान एक अमृत-नद है और नाट्यकला कल-कल निनाद करती हुई सुधारस-स्यन्दिनी त्रिपथगा मन्दाकिनी, जिसकी निर्मल धारा में अवगाहन करने पर शब्द एवं भाव रत्नों की अपूर्व मणिराशि प्राप्त होती है। सहस्रों वर्षों के कालखण्डों में इस मन्दाकिनी की संजीवनी धारा स्वच्छन्द गति से समाज का मनोरंजन करती प्रवाहित हो रही है। इसकी इस सुदीर्घ-यात्रा में ऐसी कोई जगह दिखाई नहीं देती, जहाँ इसकी कमनीयता, हृदय-रंजकता और पावनता की सुगन्ध न मिलती हो। इस प्रकार नाट्यकला की यह मन्दाकिनी सभी दिशाओं में प्रवाहित होती हुई दिखाई देती है। सदियों पूर्व से प्रवहमान जन-जीवन की सामाजिक एवं सांस्कृतिक चेतना की अभिव्यक्ति का माध्यम यह नाट्यकला ही रही है।

रामायण, महाभारत एवं पातंजल-महाभाष्य में प्राप्त साक्ष्यों के आधार पर इतिहासविद् विद्वानों का मन्तव्य है कि भारत में ईसा के कई सौ सदियों पूर्व यह नाट्यकला पूर्णरूप से विकसित हो चुकी थी। भरत मुनि ने इस नाट्य कला को शास्त्र का सुव्यवस्थित एवं वैज्ञानिक रूप प्रदान किया है। आचार्य भरत के नाट्यशास्त्र में उपलब्ध उल्लेखों से यह बात प्रमाणित होती है कि भारतवर्ष में भरतों की एक परम्परा विद्यमान रही है। उसी गौरवशालिनी परम्परा की शाश्वत साधना का परिणाम नाट्यशास्त्र है। नाट्यशास्त्र भारतीय नाट्यकला का अनुपम ग्रन्थरत्न है। इसे नाट्यकला का ही नहीं; बल्कि भारतीय कलाओं का विश्वकोश कहा जाता है। ऐसा कोई ज्ञान, विज्ञान, शिल्प, कला, विद्या, योग या कर्म नहीं है जो इस नाट्यशास्त्र में समाहित न हो-

न तज्ज्ञानं न तच्छिल्पं न सा विद्या न सा कला।
न तत्कर्म न योगोऽसौ नाट्येऽस्मिन् यन्न दृश्यते। ना.शा. १.११६

इस ग्रन्थ में काव्य, नाट्य, अभिनय, नृत्य, गीत, वाद्य, वास्तु, मूर्ति, चित्र, पुस्त आदि विविध कलाओं का व्यापक विवेचन हुआ है। विश्व की किसी भी भाषा में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं लिखा गया है, जिसमें कला के इतने अधिक रूपों पर विचार किया गया हो।

नाट्यशास्त्र भारतीय सौन्दर्य-दर्शन का प्रामाणिक मूल ग्रन्थ है। ईसा पूर्व इस ग्रन्थ के प्रतिष्ठित हो जाने पर भारतीय सौन्दर्य शास्त्रियों ने इस शास्त्र के सैद्धान्तिक और प्रायोगिक दोनों पक्षों पर गहन विचार मन्थन करके व्याख्या और स्वतन्त्र ग्रन्थों की रचना की है। नाट्य का प्रयोग, अनुसन्धान, समीक्षा और स्वतन्त्रलेखन किसी एक क्षेत्र या काल की परिधि में सीमित नहीं था, अपितु कश्मीर से कन्याकुमारी एवं अरुणाचल से पश्चिमाचल तक व्याप्त सांस्कृतिक चेतना नाट्यकला के अनेक रूपों पर सौन्दर्याधान का चिन्तन कर रही थी। इस कला का प्रयोगपक्ष तो पूरे एशिया के देशों में अपना प्रभाव फैला रहा था। इस पर व्याख्या, समीक्षा और स्वतन्त्र लेखन तो मध्यकाल तथा आधुनिक काल में भी होता रहा है। किन्तु नाट्यकला से सम्बन्धित सभी समीक्षा और संस्कृत नाटकों का ऐतिहासिक क्रमबद्ध स्वरूप अभी तक प्रकाशित नहीं हुआ था। इस अभाव का आभास 'संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास' परियोजना समिति के मनीषी आचार्यों को था। इसीलिए उन्होंने इस परियोजना में 'षष्ठ खण्ड नाट्य' निर्धारित किया था। इस नाट्य खण्ड के इतिहास के लेखन का कार्य अब पूर्ण हो गया है। आशा है यथाशीघ्र मुद्रित होकर नाट्यखण्ड के इतिहास की यह पुस्तक पाठकों को उपलब्ध हो जायेगी। इस पुस्तक को अध्येताओं के हाथ में देखकर इसके प्रधान सम्पादक पद्मभूषण स्व. श्री बलदेव उपाध्याय जी अवश्य अपने यशःकाय से प्रसन्न होकर आशीर्वाद प्रदान करेंगे।

मानव संसाधन विकास मंत्रालय, भारत सरकार तथा भाषा विभाग उत्तर प्रदेश सरकार के आदेश एवं सहयोग से यह परियोजना पूर्णता की ओर उन्मुख है। इसके षष्ठ खण्ड नाट्य के प्रकाशन के शुभावसर पर मैं भारत सरकार और उत्तर प्रदेश सरकार के प्रति ससम्मान सादर आभार प्रकट करता हूँ।

नाट्य खण्ड के आदरणीय सम्पादक आचार्य कमलेश दत्त त्रिपाठी जी का मैं विनम्र आभारी हूँ कि उन्होंने अपने वैदुष्य के व्यापक आलोक में इसका सुन्दर सम्पादन किया है। इस अवसर पर मैं प्रो. राधावल्लभ त्रिपाठी, प्रो. आजाद मिश्र 'मधुकर', प्रो. हरिदत्त शर्मा आदि सभी आचार्यों के प्रति नमनपूर्वक धन्यवाद व्यक्त करता हूँ, जिन्होंने इस सारस्वत अनुष्ठान में अपना सहयोग प्रदान किया है।

उत्तर प्रदेश संस्कृत संस्थान, लखनऊ के अध्यक्ष आदरणीय आचार्य वाचस्पति मिश्र जी के प्रति मैं हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करता हूँ जिनकी प्रेरणा सदा शक्ति का संचार करती है। संस्थान समिति के आदरणीय सभी सदस्यगण तथा उपाध्यक्ष सम्माननीय श्री शोभन लाल उकील जी के प्रति आभार प्रकट करता हूँ, जिनका सहयोग संस्थान का सम्बल है। इस प्रकाशन कार्य को पूर्ण करने में संस्थान कार्यालय के वरिष्ठ प्रशासनिक अधिकारी श्री दिनेश कुमार मिश्र तथा उनके सहयोगी अधिकारी श्रीमती चन्द्रकला शाक्य, श्री महेन्द्र कुमार पाठक, श्री जगदानन्द झा एवं अन्य समस्त कर्मचारी गण का योगदान सराहनीय एवं सफल रहा है।

अतः इस सफलता के क्षण में अपने सभी अधिकारियों और कर्मचारियों को साधुवाद समर्पित करता हूँ। इस प्रकाशन कार्य में मुद्रक शिवम् आर्ट्स, निशातगंज, लखनऊ का सहयोग सर्वथा प्रशंसनीय रहा है, अतः सुन्दर मुद्रण और सक्रिय सहयोग के लिए मैं मुद्रण प्रबन्धक के प्रति धन्यवाद ज्ञापित करता हूँ।

भवदीय

हरिबख्श सिंह

निदेशक

आभार वक्तव्य

"संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास" स्वर्गीय आचार्य महामहोपाध्याय पण्डित बलदेव उपाध्याय की महती योजना रही है। आचार्य उपाध्याय जी ने सम्पूर्ण संस्कृत वाङ्मय को क्रमबद्ध रूप में भारतीय दृष्टि से पुनः प्रस्तुत करने के उद्देश्य से एक समीक्षात्मक इतिहास के लेखन की परिकल्पना की थी। इस योजना के षष्ठ खण्ड के रूप में **"संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास : नाट्य षष्ठ खण्ड"** के सम्पादन का भार उन्होंने मुझे सौंपने की कृपा की। यह कार्य उन्होंने लगभग तीस वर्ष पहले मुझे दिया था। इस खण्ड की सम्पूर्ण परिकल्पना और इसमें लेखन करने वाले विद्वानों का निर्णय भी उन्हीं के सन्निधि में सम्पन्न हुआ था। विभिन्न विद्वानों ने अलग-अलग निर्धारित विषयों पर लिखना आरम्भ किया। इस बीच महामहोपाध्याय पं० उपाध्याय जी दिवंगत हो गये। अब प्रधान सम्पादक का भार आचार्य श्रीनिवास रथ पर आया। प्रोफेसर रथ ने प्रधान सम्पादन के साथ-साथ भास और कालिदास पर स्वयं लिखने की स्वीकृति दी थी, किन्तु व्यस्ततावश उनके द्वारा यह कार्य सम्पन्न नहीं हो पाया और वे दिवंगत हो गये। अब यह कार्य पूरा करने के लिए भास पर लेखन के लिए आचार्य राधावल्लभ त्रिपाठी से मैंने निवेदन किया और उन्होंने कृपापूर्वक अपने लिए निर्धारित कई अन्य महत्त्वपूर्ण विषयों के अतिरिक्त भास पर भी लेखन सम्पन्न किया। महाकवि कालिदास पर लिखने के लिए प्रोफेसर हरिदत्त शर्मा से अकादमी की ओर से मैंने अनुरोध किया और उन्होंने उदारतापूर्वक अपनी स्वीकृति दी और यथासमय अपना निबन्ध पूरा कर प्रस्तुत कर दिया। अभी भी महाकवि भवभूति पर व्यवस्थित लेखन के लिए विद्वान् की आवश्यकता थी और इसके लिए आचार्य मिथिला प्रसाद त्रिपाठी से अनुरोध किया गया। उन्होंने भी अपना निबन्ध प्रस्तुत कर दिया। एक अन्य विद्वान् भास्कराचार्य त्रिपाठी को भवभूति पर लिखने को कहा गया था परन्तु उनका असमय निधन हो गया। अन्य अनेक विद्वानों ने अपना बहुमूल्य योगदान संस्कृत नाट्य के इस खण्ड को पूर्ण करने में दिया है। मैं आचार्य प्रोफेसर राधा वल्लभ त्रिपाठी, प्रोफेसर मिथिला प्रसाद त्रिपाठी एवं प्रोफेसर हरिदत्त शर्मा के साथ-साथ इस खण्ड में लिखने वाले सभी विद्वानों के प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करता हूँ।

इस लम्बी कालावधि में जो विघ्न आये और मेरी अपरिहार्य व्यस्तता ने जो बाधाएँ उपस्थित की, उनकी चर्चा यहाँ करने की आवश्यकता नहीं है। मैं पिछले तीन महीनों से गम्भीर रूप से अस्वस्थ होकर अस्पताल में था और अभी चार-पाँच दिन पहले फिलहाल अस्पताल से बाहर आया हूँ। इस अस्वस्थता के बीच में भगवान् ने इस कार्य

को पूर्ण करने के लिए शक्ति दी और यह अपने वर्तमान रूप में विद्वत् जगत् के सम्मुख प्रस्तुत है। त्रुटियाँ होंगी, विद्वज्जन क्षमा करेंगे।

सर्वप्रथम मैं स्वर्गीय महामहोपाध्याय आचार्य बलदेव उपाध्याय और स्वर्गीय आचार्य श्रीनिवास रथ के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करता हूँ और आदरांजलि समर्पित करता हूँ। पहले आचार्य उपाध्याय और बाद में आचार्य रथ के प्रधान सम्पादक के रूप में मार्गदर्शन के बिना यह विशाल खण्ड पूरा किया जाना सम्भव नहीं था। मैं इन दोनों ही स्वर्गीय विद्वानों की स्मृति में नमन करता हूँ।

इस खण्ड में अपना योगदान करने वाले सभी विद्वानों के प्रति अपना गहरा आदर और कृतज्ञता का भाव अभिव्यक्त करता हूँ। विशेषरूप से आचार्य राधा वल्लभ त्रिपाठी की उदारता और उनके व्यापक सहयोग के लिए सम्मान व्यक्त करता हूँ। इस खण्ड को पूरा करने में लेखक के रूप में उन्होंने कितनी बड़ी भूमिका निभायी है यह ग्रन्थ देखने से ही स्पष्ट हो जायेगा।

इस गुरुतर दायित्व को पूरा करने के लिए अग्रज विद्वान् स्वर्गीय आचार्य विद्यानिवास मिश्र तथा आचार्य प्रोफेसर रेवा प्रसाद द्विवेदी ने सतत प्रेरणा दी है। मैं उनके प्रति अपनी प्रणति अर्पित करता हूँ। इस कार्य को पूरा करने में स्वर्गीय बेटी और श्री लालबहादुर शास्त्री राष्ट्रीय संस्कृत विद्यापीठ के साहित्य विभाग में असिस्टेंट प्रोफेसर ने अपना बहुविध सहयोग दिया। आज मैं अन्विता को कृतज्ञता से स्मरण करता हूँ।

इतने लम्बे समय में अनेक सहयोगियों और मित्र विद्वानों ने मुझे अनेक प्रकार से सहयोग प्रदान किया है जिनमें इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, क्षेत्रीय केन्द्र, वाराणसी के निदेशक, आचार्य विजय शंकर शुक्ल एवं प्रोफेसर सदाशिव कुमार द्विवेदी, समन्वयक, भारत अध्ययन केन्द्र, काशी हिन्दू विश्वविद्यालय, वाराणसी तथा प्रोफेसर युगल किशोर मिश्र, शताब्दीपीठाचार्य, राकेश कुमार उपाध्याय, शताब्दीपीठाचार्य, भारत अध्ययन केन्द्र तथा केन्द्र के अन्य सहयोगी, विजिटिंग फेलोजन का भी मैं आभारी हूँ जिनका सतत सहयोग मुझे प्राप्त हुआ है।

विदुषी डॉक्टर चन्द्रकान्ता राय को प्रूफ रीडिंग में सहयोग के लिए धन्यवाद है।

काशी हिन्दू विश्वविद्यालय में धर्मागम विभाग के अध्यक्ष प्रोफेसर शीतला प्रसाद पाण्डेय एवं उनके शिष्य श्री अंकित शर्मा ने मेरे इस अस्वस्थता के महीनों में बहुत देखभाल की है। उनको आशीर्वाद देता हूँ। प्रोफेसर उपेन्द्र पाण्डेय ने आचार्य उपाध्याय और मेरे बीच सम्पर्क सूत्र का कार्य किया। उनको भूरिशः आशीर्वाद।

इस खण्ड की शब्दानुक्रमणिका तैयार करना एक चुनौती थी पर इस चुनौती को हमारी पौत्री कुमारी ऐन्दवी त्रिपाठी ने स्वीकार किया और सम्पन्न किया। इसके लिए मैं उसे आशीर्वाद देता हूँ।

इन्दिरा गाँधी राष्ट्रीय कला केन्द्र, क्षेत्रीय केन्द्र, वाराणसी में परियोजना समन्वयक एवं पिछले दस वर्षों से सहयोगी डॉ० नरेन्द्रदत्त तिवारी ने भी सहायता की है। मैं उनके प्रति भी आभारी हूँ।

यह कार्य मेरे चिरंजीवी पुत्र आयुर्वेद चिकित्सक श्री पारिजात त्रिपाठी, मेरी बड़ी पुत्रवधू डॉ० अवन्तिका त्रिपाठी, मेरी छोटी पुत्रवधू प्रोफेसर किरन त्रिपाठी और मेरे भविष्णु पौत्र श्री ईशान त्रिपाठी की मेरे स्वास्थ्य की चिन्ताओं और देख-रेख के बिना कभी पूरा न होता। मैं उन्हें आशीर्वाद देता हूँ।

अन्त में मुझे अपने ज्येष्ठ पुत्र स्वर्गीय पलाश त्रिपाठी की याद आती है जिसने इस कार्य के आरम्भ में सहयोग किया था परन्तु जिसके असमायिक निधन ने मुझे गहरा अघात दिया। अपने दिवंगत पुत्र और पुत्री को याद करते हुए मैं अपने सभी मित्रों और सहायकों के प्रति आभारी हूँ जिन्होंने मेरी सहायता, सहयोग एवं सेवा की है। मेरी दिवंगत पत्नी श्रीमती प्रतिभा त्रिपाठी के सहयोग को मैं कैसे भूल सकता हूँ।

वैशाख शुक्ल दशमी, मंगलवार
तदनुसार मई १४, २०१६

कमलेशदत्त त्रिपाठी
कुलाधिपति
महात्मा गाँधी अन्तर्राष्ट्रीय
हिन्दी विश्वविद्यालय
एवं
शताब्दी पीठ आचार्य,
भारत अध्ययन केन्द्र,
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय।

भूमिका

नाट्यशास्त्रं संस्कृतनाट्यञ्च

नाट्यशास्त्रं भारतीयस्य नाट्यस्याकरग्रन्थो वरीवृत्यते, यत्र खलु न केवलं प्राचीन-भारतीयनाट्यस्य, अपि तु समग्रस्य प्राचीनकाव्यजातस्य, नृत्तस्य, गीतस्य, वादित्रस्यान्यासां च सम्बद्धानां कलानां शास्त्रं सुप्रतिष्ठितम्। वस्तुतस्तु नाट्यस्यानुषङ्गेण चित्रस्य, प्रतिमायाः, स्थापत्यस्य सर्वासां नाट्यानुबन्धिनीनां कलानां चाप्यनुशासनं बीजरूपेण तत्र समवस्थितम्। सोऽयं ग्रन्थः स्वीयं विशिष्टं विवेच्यं नाट्याख्यं विषयं यथा गम्भीरतया प्रतिपादयति, तथैव तदनुषङ्गिविषयानपि तत्तच्छास्त्रेभ्य आहृत्याहृत्य तत्स्वरूपं सामस्त्येन निरूपयति। अतोऽत्र दर्शनं प्राचीनमाख्यानं व्याकरणं छन्दःशास्त्रं शिक्षा सङ्गीतशास्त्रं मूर्तिशास्त्रं स्थापत्य-चित्र-पुस्तादिविधानं भुवनकोषादिकं चैतावन्ति सन्निहितानि नानाशास्त्रतत्त्वानि सामरस्यमवाप्य नाट्यस्य स्वरूपं तत्प्रयोगविधानं च प्रकाशयन्ति। अस्य कर्त्ता मुनिर्भरतो यथा नाट्यशास्त्रस्य तथैव काव्यशास्त्रस्यापि सूत्रकृदाचार्य इति परम्परया बहुशः समुद्घोषितम्। महाकविः कालिदास इदम्प्रथमतया नाट्यप्रयोगस्य शास्त्रकर्त्तारं मुनिं भरतं स्मरति।[1] तदनन्तरं नाट्यशास्त्रीय-परम्परा, सङ्गीतशास्त्रीयपरम्परा, काव्यशास्त्रीयपरम्परा च सततं मुनिम् अनुस्मरन्ती दृश्यते। नाट्यशास्त्रस्योपरि हर्षेण वार्तिकानि प्रणीतानि। उद्भट-भट्टयन्त्र-कीर्तिधर-लोल्लट-श्रीशङ्कुक-भट्टतौतादिभिश्च व्याख्यानानि विरचितानि, तान्यद्य नोपलभ्यन्ते, तथापि परममाहेश्वराणाम् अभिनवगुप्तपादानां नाट्यवेदविवृतिर्भाष्यरूपेणाद्यापि समुल्लसतीति परमं सौभाग्यं समेषामस्माकम्। सा च परम्परा शारदातनय-शाङ्गदेव-कल्लिनाथादिभिः परिबृंहिता, भारतवर्षस्य विभिन्नेषु भागेषु बालरामभरतादिभिः पल्लविता बह्वीषु धारासु प्रवहन्ती भारतीयस्य नाट्यस्येदानीमपि शास्त्रत्वं साधयति। एतद्धि शास्त्रं सर्वासां शास्त्रानुशासितानां लोकसिद्धानां च नाट्य-नर्तनशैलीनाम् अन्यासाञ्च सम्बद्धानां कलानाम् अनुशासनमूलम्। भगवता ब्रह्मणा इन्द्रपुरोगमैर्देवैः प्रार्थितेन चतुर्भ्यो वेदेभ्यः पाठ्य-गीताभिनय-रसात्मकानि तत्त्वान्युद्धृत्य सृष्टोऽयं पञ्चमो वेदः। सदाशिवपरम्परामपि स्वीकुर्वन् मुनिना भरतेन प्रणीतं नाट्यशास्त्रं नाट्यस्य काव्यस्य सर्वासां च तदनुबन्धिनीनां कलानां च आकरग्रन्थ एव। यथोक्तं ब्रह्मणः सङ्कल्पमनुवदता मुनिना-

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं ससङ्ग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्।।
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्।। (नाट्य० १.१४-१५)

---

१. "मुनिना भरतेन यः प्रयोगो भवतीष्वष्टरसाश्रयः प्रयुक्तः।"-कालिदासः विक्रमोर्वशीये द्वितीयाङ्के।

तथा च

एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्।।
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामतो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना।। (नाट्य० १/१६-१८)

एतेन नाट्यशास्त्रस्य वेदप्रभवत्वम्, उपवेदवेदाङ्गादिसम्बद्धत्वं सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नत्वं सर्वशिल्पप्रवर्तकत्वं भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकत्वादिकं ब्रुवता मुनिना नाट्य-काव्य-कलादिव्यापिनोऽस्य शास्त्रस्य स्वरूपप्रयोजनादिकं च कण्ठत एव प्रकाशितम्, तथापि कैश्चिदाक्षिप्यते यद्भारते सकलकाव्य-नाट्य-गीतवादित्र-चित्रमूर्ति-स्थापत्यादि-परिव्यापि सर्वकाव्य-नाट्यकलादिव्यापि सामान्यं च सौन्दर्यं विवेचयत् किञ्चन शास्त्रं नैवासीदिति।

अमुमेव विषयं समुपस्थापयता राघवन् महोदयेन विलियम-नाइटनाम्नः कस्यचन विदुषो मोक्षमूलरमहाशयं प्रति कृता काचन पृच्छा समुद्धृता-

"Why in India, where almost all the distinctive types of the philosophical thoughts spring up, the sense of beauty had not awakened up?"

ततश्च मोक्षमूलरमहोदयेन दत्तो निर्णयोऽपि समुट्टङ्कितः-

"The idea of beautiful in nature did not exist in the Hindu mind. The beautiful as such does not exist for them. They never excelled either in sculpture or in paintings. It is strange that a people so fond of the highest abstractions as the Hindus, should never have summerised their perception of the beautiful."[2]

प्रायशो वैदेशिकास्तु मन्यन्ते यत् 'एस्थेटिक्स' इति पदेन सूचितं शास्त्रं योरपदेशीय परम्परायामेवोपलभ्यते, तच्च बाउमगार्टेनमहोदयेन प्रवर्तितं हेगेलमहोदयेन च व्यवस्थितं सत् क्रोचेप्रभृतिभिः पल्लवितं तत्रैव स्थितम्। तच्च नवीनं शास्त्रं प्राचीने मध्यकालवर्तिनि च योरपेऽपि नैवासीत्, का कथा तर्हि भारतस्य। अयमेवार्थ कैश्चिद् भारतीयैरपि मनीषिभिः प्रकाशितः[3]। यद्यपि सौन्दयशास्त्रेति नाम्ना पृथक्तया प्रथितं किञ्चन शास्त्रं नवीनम् उद्भावनमिति

---

२. The Concept of the Beautiful in Sanskrit Literature, V. Raghavan. The Kuppuswami Shastri Research Institute, Madras-600004, 1988, P. 2

३. "साहित्य सौन्दर्य और संस्कृति", गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद, १९९५, पृ. १४,१५

स्वीकर्तुं शक्यते, तथापि भारतीयेषु निसर्गे सौन्दर्यस्य सत्ता विद्यत इति विचार एव नैवासीत्, भारते चित्रकलायां मूर्तिकलायां चोत्कर्ष एव पदं नाकरोत्, सर्वविधकाव्य-नाट्यकलादिषु परिव्याप्तं यत्सौन्दर्यं विद्यते, तद्विषयकविचार एव तत्र न कदापि प्रावर्तत-इत्येतत्सर्वं कियत्प्रामाण्यं भजत इति सुधियो विभावयन्तु। एतादृशस्य भ्रमस्य निराकरणे प्रवृत्तैरानन्द-कुमारस्वामि-श्री अरविन्द-हिरियन्ना-वासुदेवशरण अग्रवाल-नीहाररञ्जन दे-स्ट्रेलाक्रेमरिश-प्रभृतिभिर्महान् प्रयासः कृतः। आचार्यकान्तिचन्द्रपाण्डेय-कपिलावात्स्यायन-गोविन्दचन्द्रपाण्डेय-विद्यानिवासमिश्र-राममूर्तित्रिपाठिसदृशैर्विद्वद्भिरपि स्वस्वदृशा स एव मार्गो भूयोऽप्युन्मीलित इति न तिरोहितं विदुषाम्।

पूर्वतने कालेऽपि विष्णुधर्मोत्तरे (तृतीयखण्डे) कलानां परस्पराभिसम्बन्धम्, तत्र निगूढाम् काञ्चन आनुक्रमिकीम् आश्रयतां चोपदिशता मार्कण्डेयेन सर्वकलाव्यापिनोऽनुशासनस्य सङ्केतो दत्त एव। तथैव "सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्" इति नाट्यशास्त्रीयवचनं व्याख्याताभिनवगुप्तपादाचार्येण स्पष्टमेवोक्तम्-"**न केवलं प्रधानपुरुषार्थोपायदर्शकम्, यावत् सर्वेषां शास्त्राणां कलाप्रधानानां** येऽर्था गीत-नृत्य-वाद्यास्तैः सम्पन्नम्, तथा सर्वाणि शिल्पानि चित्रपुस्तादीनि प्रवर्तयति स्वोपयोगेनाक्षिपति-इत्येवम् एकेन यत्नेन समस्तवस्तुसिद्धिर्यतो भवति तन्नाट्यम्-इत्युक्तं भवति।"[४]

एतेन न केवलं कलाप्रधानानां केषाञ्चन शास्त्राणां स्थितिरिति मनीषा, अपि तु सर्वेषां कलाप्रधानानां शास्त्राणां येऽर्थाः, ते सर्वे नाट्ये समाहिताः, अतो नाट्यशास्त्रेण एकप्रयत्ननिर्वर्त्यः कश्चन कलापरको बोधोऽपि सम्पाद्य एवेति सुविशदं प्रतिपादितम्।

अत एव नाट्यं लक्षयता मुनिना तदेव च विवृण्वताभिनवगुप्तपादेन न केवलं नाट्यस्य स्वरूपं सम्यक्तया निरूपितम्, अपि तु सर्वविधानां काव्यानां, नाट्यस्य कलानां च कृतिपरम्, काव्य-नाट्यकलासर्जनव्यापारपरं तदनुभूतिस्वरूपपरञ्च समग्रं विवेचनं प्रथमाध्याय एव निक्षिप्तम्।

अभिनवभारत्यां नाट्यस्य स्वरूपं विवेचयद्भिरभिनवगुप्तपादैर्न केवलं नाट्यस्य, अपि तु तन्मुखेन सकलस्य काव्यादिकस्य कलाकृतीनाञ्च तात्त्विकं स्वरूपं प्रकाशितम्। तत्क्रम एव सर्वासु कलासु प्रतिष्ठितं सर्जनव्यापार-तत्प्रेक्षण-श्रवणजनितस्यानुभवस्य स्वरूपमप्युन्मीलितम् तैः।

---

४. अभिनवभारती, नाट्यशास्त्रे, १-१५ तमे श्लोके

महावाक्यात्मकस्य षट्साहस्रीपरस्य नाट्यशास्त्रस्य प्रतिपाद्यं तु प्रश्नपञ्चकस्योत्तर-रूपपरत्वम् इत्यप्यत्र वक्तुं शक्यते। ते प्रश्नाः आदावेव शिष्यैः पृष्टाः[५]-

नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते।

कत्यङ्गः किम्प्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः।। (नाट्य., १.४, ५)

इत्थं नाट्योत्पत्तिविषयकः प्रथमः प्रश्नः, अधिकारिविषयको द्वितीयः प्रश्नः, तस्य शास्त्रस्याङ्गविषयकस्तृतीयः प्रश्नः, प्रमाणविषयकश्चतुर्थः प्रश्नः, नाट्यप्रयोगविषयकः पञ्चमः प्रश्नः। एत एव प्रश्नाः यथावसरं नाट्यशास्त्रे निरूपणविधया समाधानं लभन्ते, तत्रापि केचन सङ्क्षेपेणापरे चातिविस्तरेण विवेचिताः, यथाधिकारिविषयोऽङ्गविषयकः प्रमाणविषयकश्चेति त्रयः प्रश्नाः सङ्क्षेपेण समुत्तरं लभन्ते, किन्तूत्पत्तिविषयकः प्रयोगविषयकश्चेमौ द्वौ प्रश्नौ विस्तरेण व्याख्यातौ। उत्पत्तिविषयके प्रश्ने स्वरूपविषयकश्च प्रश्नः, सर्जनव्यापार-विषयकः प्रश्नोऽनुभवविषयकश्चेति त्रयः प्रश्नाः गर्भिता वर्तन्ते। अत एव इमे प्रश्नाः प्रथमाध्याये नाट्योत्पत्तिसमाख्यानप्रसङ्गे समुत्थाप्य षष्ठाध्यायपर्यन्तं विवेचिताः। प्रथमाध्याये नाट्योत्पत्त्याख्यानम्, द्वितीयाध्याये तृतीयाध्याये च नाट्यप्रयोगार्थम् आदावेवापेक्षितं नाट्यप्रयोगभूमिदर्शकावस्थानभूमिरूपेण च दृष्टं प्रेक्षागृहम्, तन्निर्माणविधिः तत्संस्कारविधिश्च, चतुर्थाध्याये नाट्यप्रयोगात्पूर्वं प्रयुज्यमानस्य पूर्वरङ्गस्य सिद्धये करणानामङ्गहाराणां निरूपणं तन्मुखेन च अभिनयस्याधारभित्तिभूतानां तत्त्वानां निरूपणम्, पञ्चमाध्याये पूर्वरङ्गविधेर्विवेचनम्, षष्ठाध्याये च नाट्यस्यानुभवस्वरूपस्य विवेचनं कृतम्। प्रथमाध्याये नाट्योपत्त्याख्याने काचन अर्थगर्भा कथा समुपवर्णिता। तदनुसारं सत्ययुगे वृत्ते त्रेतायुगस्यारम्भ एव लोक ईर्ष्याक्रोधादिसम्मूढः सञ्जातः। ततश्च लोके दुःखस्यापि समुदयोऽभवत्। लोकानां दुःखं दूरीकर्तुम् इन्द्रपुरोगमा देवा ब्रह्माणमुपसृत्य दुःखविनोदनार्थं किञ्चन श्रव्यं दृश्यं च क्रीडनकं सृष्टुं न्यवेदयन्, यतो हि कर्मानुदर्शकेषु वेदेषु सर्वेषाम् अधिकारो नासीत्। अतो योगमास्थाय भगवता ब्रह्मणा चतुर्भ्यो वेदेभ्य एव पाठ्यादिकमुद्धृत्य पञ्चमो वेदः सृष्टः, यस्मिन् सर्वेषाम् अधिकारोऽभूत्। स च वेदो देवानामेवानुरोधवशान् मुनये भरताय दत्तः। तञ्च पञ्चमं वेदं मुनिः पुत्रान् शिष्यांश्चाध्यापयामास। ब्रह्मणा च महेन्द्रविजयोत्सवे ध्वजमहे तत्प्रयोगार्थं समाज्ञप्तः यथाविधि गुणनिकाः कृत्वा नान्दीञ्च प्रयुज्य मुनिः प्रयोगमारब्धवान्। तथा च नाट्यशास्त्रे वर्णितम् - **"तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा"**। (नाट्य., १.५७) देवदानवयुद्धानुकृतिरूपे प्रयोगे समारब्धे दैत्याः क्षुभिता अभूवन्। तैश्च विघ्नाः समुत्पादिताः। ते च विघ्ना इन्द्रेण स्वीयजर्जरप्रहारेण जर्जरीकृताः। दैत्यैः पुनरपि त्रासाः सञ्जनिताः। ततश्च प्रयोगं सर्वथा रक्षितुं ब्रह्मा विश्वकर्माणं शुभं सर्वलक्षणसम्पन्नं नाट्यवेश्म निर्मातुं समादिशत्। अस्य नाट्यगृहस्य परिरक्षणार्थं तत्तस्थानेषु

---

५. एतेन एवन्तु न भ्रमितव्यं यदेतच्छ्लोकः शिष्यविरचितग्रन्थः, अपि तु स्वयं मुनिरेव शिष्यभूमिकामधिष्ठाय तत्पृच्छापरकमिमं श्लोकं विरचितवानित्याशयमभिनवगुप्तपादः विवृणोति स्वीयनाट्यवेदविवृतौ।

देव-दानव-यक्ष-गन्धर्व-राक्षसादयः सर्वे नियुक्ताः। अत्रान्तरे एव देवैः ब्रह्मा प्रार्थितः तानसुरान् पूर्वं सामप्रयोगेण सान्त्वयितुम्। ब्रह्मा च नाट्यविनाशाय समुत्थितान् विघ्नकारिणो दैत्यान् तादृशप्रवृत्तेः कारणं पृष्टवान्। तदा दैत्यैरुक्तम्-

"योऽयं भगवता सृष्टो नाट्यवेदः सुरेच्छया।
प्रत्यादेशोऽयमस्माकं सुरार्थं भवता कृतः।।
तन्नैतदेवं कर्तव्यं भवता ....."।। (नाट्य., १.१०३-४)

तदूर्ध्वं ब्रह्मणा ते प्रत्युक्ताः-

"अलं वो मन्युना दैत्या विषादं त्यजतानघाः।
भवतां देवतानाञ्च शुभाशुभविकल्पकः।।
कर्मभावान्वयापेक्षी नाट्यवेदो मया कृतः।
नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।।
त्रैलोक्यस्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।।" (नाट्य. १.१०५-१०७)

एतेन सुस्पष्टं ज्ञायते यद् यद्यपि प्रथमं नाट्यं स्वरूपतोऽनुकृतिरूपतया प्रयुक्तम्, किन्तु देवदानवयुद्धे दानवपराभवस्यानुकृतिमनुकरणरूपत्वात् परमार्थतो गृहीतवतां दैत्यानां शङ्कां निराकर्तुं ब्रह्मा नाट्यस्य पार्य्यन्तिकं स्वरूपं प्रकाशितवान् भावानुकीर्तनरूपेण। आचार्योऽभिनवगुप्तस्तु अत्रैवाभिनवभारत्यां नाट्यस्य तात्त्विकं स्वरूपं विवृण्वन् परमार्थतया तस्यानुकरणरूपं निषेधति, नाट्यस्य भावानुकीर्तनरूपत्वञ्च सिद्धान्तयति। नाट्ये चित्रादिके च प्रस्तुतानां रामादीनां तत्त्वरूपताम्, तत्सादृश्यं भ्रान्तिरूपताम्, आरोपात्मत्वं गौर्वाहीकवदध्यवसायत्वं चन्द्रमुखवदुत्प्रेक्ष्यमाणत्वं चित्रपुस्तवत् प्रतिकृतित्वं गुरुमुखादुच्चरितस्य वेदस्य शिष्यरूपेणानुकृतस्यानूच्चारणवदनुकरणरूपत्वं तात्कालिकनिर्माणशक्त्या पुरतः समुपस्थापितस्य पदार्थस्येन्द्रजालवत् तात्कालिकनिर्माणरूपत्वं कयाचिद्युक्त्या विरचितस्य हस्तलाघवादौ दृश्यमानं मायावत्त्वं च निरस्य नाट्यवेदविवृतिकृता नाट्यस्य सर्वथा अलौकिकत्वमेव सिद्धान्तितम्, यतो हि रामादीनां तात्त्विकं तत्सादृश्यत्वादिकं वा स्वीकृते सति साधारणीकरणस्य सम्भावनैव निराकृता भवति। एतेषु पूर्वपक्षतया प्रस्तुतेषु सर्वेषु पक्षेषु रामादीनामसाधारणत्वमेव पर्य्यवस्यति, तेषां तत्त्वतया स्वीकारेऽसाधारणत्वं सुस्पष्टमेव, तच्चानुभवे व्याहतमपि, तत्सादृश्य-तत्सम्भावनात्व-तदध्यवसायत्व-तदारोपत्वादिपक्षस्वीकारेऽपि तेषां विशिष्टत्वमव्याहतमेव, भ्रान्तत्वेन्द्रजालत्वादिक-निर्माणाभासत्वस्य च स्वीकारे पर्य्यन्ते बाधज्ञानग्रस्ततयासाधारण्यमेव पार्य्यन्तिकतया समायाति। तदनुसारत्व-तत्प्रतिकृतित्वादिपक्षग्रहणेऽपि पर्य्यन्ते तत्त्वमेव तिष्ठति।

अतः सर्वे एवैते पक्षाः लौकिकमनुभवं व्याख्यातुमलम्, किन्तु काव्य-नाट्य-कलाद्यनुभवेऽनुभवितुः तत्त्वभूतैः रामादिभिः सह सम्बन्धः तथा च तादृशानां रामादीनामसाधारण्यस्य

स्वीकारश्च कथमपि न घटते, प्रत्युत तथा सत्यौदासीन्यमेव प्रेक्षकाणां समायाति येन साधारणीकरणस्य सम्भावनैव निरस्यते। अतः सहृदय-प्रेक्षकदृष्ट्या सर्व एते पक्षाः पराहता एव।

रामादीनां तात्त्विकत्वं तत्सादृश्यत्वादिकं वा यदि स्वीकृतं स्यात्तदा कवेस्त्वत्यन्तं नियतवर्णनीयतया स्वातन्त्र्यमेवापहृतं भवेद्, अतश्च काव्यस्यैवासम्पत्तिः अनुचितवर्जनस्यायोगोऽपि प्रतिफलति, तात्त्विकादौ तदनुकारत्वादीनां वा स्वीकारे कृते सति यथाभूतवर्णनस्य यथास्थितवर्णनस्यैव वावश्यस्वीकरणीयत्वमापतेत्। अतः कवेः कलाकृतो वा स्वातन्त्र्यं रक्षितुमेते पूर्वपक्षतया प्रस्तुताः पक्षाः सर्वथा निरसनमर्हन्ति, नाट्यादौ समायातो रामादीनामलौकिकत्वस्वीकारपक्ष एव श्रेयान् पन्थाः।

प्रयोक्तृदृष्ट्यापि पूर्वपक्षतया प्रस्तुतेषु पक्षेषु न कोऽपि पक्षोऽङ्गीकर्त्तुं युज्यते, यतो हि यथा सुरतप्रसङ्गनिरतस्य लौकिकमिथुनस्य साक्षादवलोकने कस्यचिद् द्रष्टुः क्रोधेनान्वयो कस्यचिदन्यस्य जुगुप्सया, कस्यचिदन्यस्य च सम्भोगकर्मणि निरूढवासनाजनिततया हर्षेणापि समन्वयो भवितुं शक्यते, तथैव प्रयोक्तुरपि रामादीनां तात्त्विकादिपक्षस्वीकारे सांसारिक-हर्षदोषाद्यन्वयापत्तेः प्रयोगसम्पत्तिरेव पराहता भवतीति सर्वथा समुपेक्ष्या एते पक्षाः। काव्यादिषु रामादीनामलौकिकत्वसिद्धान्तस्वीकारे तु प्रयोगसम्पत्तिरपि सर्वथा भाविनीति।

अभिनवगुप्तपादाचार्याः एतेषु सर्वेषु पक्षेषु विशेषतोऽनुकरणवादमेव निरसनाय गृह्णन्ति, तन्निरसनपूर्वकं भावानुकीर्तनवादं सिद्धान्ततया स्थापयन्ति च।

अस्मिन्नेव प्रसङ्गे तैः काव्यनाट्यादौ कलाकृतिषु च समापतितानां सर्वेषां पदार्थानां काव्यस्य नाट्यस्य कलाकृतेश्च तत्त्वमीमांसीयं स्वरूपं विविच्य प्रमाणमीमांसीयदृशापि व्यतिरिक्तत्वं स्थापयद्भिस्तद्ग्राहकस्य प्रमाणस्यापि विचारः कृतः।[६] काव्य-नाट्यादौ प्रतीतिर्नैव सम्यक्प्रतीतिरूपेण,

---

६. अभिनवभारत्यामेतत् सर्वं यथा विस्तरेण प्रतिपादितम्, न तथाऽन्यत्र दृश्यते। काव्ये प्रस्तुतानां रामादीनां तात्त्विकत्वं न वेति पक्षः राजशेखरेण काव्यमीमांसायां समुत्थापितः असत्यार्थाभिधायकत्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्, असदुपदेशकत्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यम्, अश्लीलार्थाभिधायकत्वान्नोपदेष्टव्यं काव्यमिति पूर्वपक्षं प्रस्तुवता। तेन च काव्यादौ कलाकृतिषु च यथा तत्त्वमीमांसायाः प्रश्नाः, यथा च नीतिशास्त्रीया आचारशास्त्रीया वा प्रश्ना अनुस्यूताः, तत् सर्वं तत्र सङ्क्षेपेण संसूचितम्, किन्तु समेषामेतेषां प्रश्नानां विस्तृतः विशदश्च विचारोऽभिनवभारत्यां परममाहेश्वरेण श्रीमदभिनवगुप्तपादेनैव विहितः। अतस्तत्त्वमीमांसीयप्रश्नानां समाधानाय नाट्यशास्त्रस्य प्रथमाध्यायेऽभिनवभारती विशेषतो द्रष्टव्या। यथा-"तत्र नाट्यं नाम लौकिकपदार्थव्यतिरिक्ततदनुकारप्रतिबिम्बालेख्य-सादृश्यारोपाध्यवसायोत्प्रेक्षोक्तमायेन्द्रजालादिविलक्षणं तद्ग्राहकसम्यग्ज्ञानभ्रान्ति-संशयानवधारणाध्यवसायविज्ञानभिन्नवृत्तान्तास्वादनरूपसंवेदनसंवेद्यं वस्तु रसस्वभावमिति वक्ष्यामः।" अभिनवभारती, नाट्यशास्त्रे, रामकृष्णकविसम्पादिते प्रथमभागे, द्वितीये संस्करणे, १९५६ तमे वर्षे बड़ौदानगरतः प्रकाशिते, तृतीये पृष्ठे।

न वा भ्रान्तितया, न वा संशयतया, न वाऽध्यासतया व्याख्यातुं शक्यत इत्युक्तं तैः। एताभ्यो लौकिकप्रमाणसाध्यप्रतीतिभ्यो भिन्नैव काव्यनाट्यादौ समर्पिता प्रतीतिर्वृत्तान्तस्वादनसंवेदनरूपेवेति सिद्धान्तितम्। अत एव नाट्यादौ रामचरिते दृष्टे सति प्रथमं रसास्वादनम्, तदनन्तरं 'रामादिवद्वर्तितव्यम्, न रावणादिवदि'त्याकारको बोधोऽपि समुदेति। इदमेव च वैलक्षण्यं भारतीयसौन्दर्यसिद्धान्तस्य अनुकारसिद्धान्तं गृहीतवतः पाश्चात्यसौन्दर्यसिद्धान्तात्। यत्र कलाकृतेरनुकरणमूलत्वं ब्रुवन्तो बहवः-'कलाकृतिः निसर्गस्य तथा च स्वीयस्य आत्मनः यथार्थबोधमुन्मीलयति' - इति समुद्घोषयन्ति। बोधप्रधानतां कलाकृतेराविष्कुर्वत्याः पाश्चात्यीयायाः परम्पराया अयमेव विशेषः।

अत एव मध्यकालीनपाश्चात्त्यीय-चित्रमूर्ति-सर्जनपरम्परायां यदोत्कर्षः समवाप्तः, तदनन्तरं फ्रान्सदेशीयायां कवितायाम् अनुकृतिवादस्य, निसर्गवादस्य ('Naturalism'), यथार्थवादस्य ('Realism' इत्याख्यस्य) प्रतीकतया प्रतीकवादस्य च ('Symbolism' इत्याख्यस्य) प्रसरः सञ्जातः।

अतएव आधुनिकतावादियुगानन्तरं समुदिते आधुनिकतोत्तरयुगे न तादृशो तावानाग्रहो वा विद्यते यथार्थवादं प्रति।

कलाकृतेरनुकृतिरूपत्वं प्रत्याख्यादृभरभिनवगुप्तपादाचार्यैरनुकरणवादे भरं प्रदर्शयतो विचारस्य पुङ्खानुपुङ्खं परीक्षणं कृतम्। तत्र तैरुक्तं रामादीनामनुकाररूपत्वे स्वीकृते सति प्रथमापत्तिः, यत् तादृशानां रामादीनामदृष्टपूर्वाणामनुकरणं कथङ्कारं युज्यते, यतो हि अनुकार्यस्यानुकरणे तस्य पूर्वप्रत्यक्षत्वं नूनमावश्यकम्, तच्च न सम्भवति पूर्वयुगीने अनुकार्यविषये।

अतो रामादीनामनुकरणं नाम स्वव्याघाति वचनम्, अदृष्टपूर्वाणां तादृशानामनुकरणस्या-सम्भावितत्वात्।

अन्यच्च, वर्तमानस्य जनस्य रूपस्य चेष्टादीनामनुकरणम्, तद्धि विकरणरूपत्वेन गृह्यते इति हासमात्रफलं कृतम्, तत्पक्षीयाणान्तु कृते तदेव द्वेषासूयादिजनकम्।

अभिनवगुप्तपादा विशेषतः आहुः यदनुकरणबुद्ध्यैव हि दैत्यानां हृदयक्षोभः-'एवम्भूता वयमुपहासभाजनम्'' इति[७] जातः।

---

७. "न देवासुराणामेकान्तेनानुभावनम्। नैव तेऽनुभाव्यन्ते केनचित् प्रकारेण। तथा हि तेषु न तत्त्वेन धीः। न सादृश्येन यमलकवत्। न भ्रान्तत्वेन रूप्यस्मृतिपूर्वकशुक्तिरूप्यवत्। नारोपेण सम्यग्ज्ञानबाधानन्तर-मिथ्याज्ञानरूपम्। न तदध्यवसायेन गौर्वाहीकवत्। नोत्प्रेक्ष्यमाणत्वेन चन्द्रमुखवत्। न तत्प्रतिकृतित्वेन चित्रपुस्तवत्। न तदनुकारेण गुरुशिष्यव्याख्याहेवाकवत्। न तत्कालिकनिर्माणेनेन्द्रजालवत्। न युक्तिविरचिततदाभासतया हस्तलाघवादिमायावत्। सर्वेषु तेषु पक्षेष्वसाधारणतया द्रष्टुरौदासीन्ये रसास्वादायोगात् कवेश्च नियतवर्णनीयनिश्चितत्वे काव्यस्यैवासम्पत्तेरनौचित्यावर्जनयोगात्।
(तत्रैव, ३५ तमे पृष्ठे) अभिनवभारत्यां नाट्यशास्त्रे, ३६ तमे पृष्ठे।

अन्यच्चोपहास्यताभीरवो निवर्तन्ते ततस्तादृशात् प्रयोगात्। यदप्युच्यते, मा भवतु नियतस्य कस्यचिदनुकारः, सामान्यतया तु तत्कर्तुं शक्यते-तदपि न वक्तुं शक्यते, यतो हि अनुकार्यस्य चित्तवृत्तीनामपि शोक-क्रोधादीनामनुकरणं न सम्भाव्यतां भजते, अतएवोक्तम् "न नरो रामसदृशं स्वात्मनः शोकं करोति, सर्वथैव तस्य तत्र अभावात्, अनुभावांस्तु करोति, किन्तु तत्सजातीयानेव, न तु तत्सदृशान्। साधारणरूपस्य कः केन सादृश्यार्थः। त्रैलोक्यवर्तिनः सदृशत्वन्तु न विशेषात्मना यौगपद्येनोपपद्यते, कदाचित् क्रमेण नियत एवानुकृतः स्यात्, सामान्यात्मकत्वे कोऽनुकारार्थः। तस्माद् 'अनियतानुकारो नाट्यम्' इत्यपि न भ्रमितव्यम्।"

इत्थं स्वीयाचार्यस्य भट्टतौतस्य काव्यकौतुके दर्शितमभिप्रायमनुवददिरभिनवगुप्तपादैः नाट्यस्य, तन्मुखेन सर्वासामेव कलाकृतीनां काव्यस्य चानुकृतिरूपत्वं निराकृतमेव।

तथापि "मुख्यकरणानुसारितया अनुकरणम्" इति कथने न दोष इत्यपि तैः समुद्घोषितम्[८]। अतो हि "सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति" इति भरतवचनं सर्वथा सङ्गच्छते।

अस्तु, यदि नाट्यं नाम नानुकरणं तर्हि कथमेतत् परिभाषितुं शक्यते। अत्रैव मुनिः स्पष्टयति-

"नाट्यं भावानुकीर्तनम्"। इति। (नाट्यशास्त्रे-१.१०७)

अत्रेदं तत्त्वम्-कविव्यापारो नटव्यापारः कलासृष्टिव्यापारो वा वस्तुतो भारतीय-सौन्दर्यराद्धान्ते वचन-कथन-व्याहारकीर्तनादिव्यापारमुखेन परिभाषितुं सुकरः। यतो हि भारतीयदर्शने वाचः किमपि विशिष्टं स्वरूपं स्वीक्रियते। वाच्य-वाचकरूपेण वैखरीवाङ्मात्रतया वाचः स्वरूपं सर्वत्रैव स्वीकृतं दृश्यते, किन्तु ततोऽपि परतरं परतमं मध्यमा-पश्यन्ती-परारूपत्वमपि वैयाकरणैरागमिकैश्च स्वीकृतं वाचः स्वरूपं न केवलं नैयायिकादिसम्मतात् वाचो रूपाद् भिद्यते, अपि तु पाश्चात्यादपि भाषाभ्युपगमाद् भिद्यते। वैयाकरणैरागमिकैश्च स्वीकृते वाचः स्वरूपे वाक् पार्य्यन्तिकतया विमर्श एव।

स च विमर्शोऽवबोधस्य जीवितम्, सर्वो हि बोधात्मकः प्रकाशः सर्वदैव स्वीयप्रकाशनाय प्रत्यवमर्शं विमर्शं वापेक्षते। अत एव भगवता भर्तृहरिणा वैयाकरणदर्शनस्य आगमिकदर्शनस्य च हार्दमेव प्रकाशयता समद्घोषितम्-

"वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।"

(वाक्यपदीये, ब्रह्मकाण्डे, का. ११६ अय्यरसंस्करणे)

---

८. तत्रैव, ३७ तमे पृष्ठे

वाक् च सकलेषु व्यावहारिकेष्वपि प्रत्ययेषु सर्वथानुविद्धा-

'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।' (तत्रैव, का. ११५)

सर्वेषु लौकिकेषु व्यावहारिकेषु वा प्रत्ययेषु समनुविद्धा वाक् स्वीयं संहृतं शब्दभावनास्वरूपम् यदात्यन्तस्फुटतया आविष्करोति, तदा सविकल्पेन ज्ञानेन कार्यं क्रियते। अयम्भावः-तच्च संहृतं शब्दभावनास्वरूपाविष्करणं तत्रैव कार्यकारि भवति यत्र ज्ञातुः ज्ञेयेऽर्थे विशेषो भरो भवति अवधानरूपेण। यथा त्वरितं गच्छति पुरुषे तृणलोष्टादिसंस्पर्शस्यास्फुटं वेदनं भवति, किन्तु कार्यविशेषं प्रति पुरुषस्यावधानकेन्द्रितता भवतीत्यस्फुटवेदनेन कार्यं न क्रियते, सविकल्पज्ञानेऽपि। अविकल्पे तु सा संहृतरूपिण्यखण्डा, अखण्डमेवार्थरूपं च सर्वथा विलीनीकृत्य तिष्ठतीति तेषामभिप्रायः। तत्रापि ज्ञानप्रक्रियायां सविकल्पावस्थायां कस्याञ्चिदेव ज्ञानावस्थायाम् अभिमुखीभूतशब्दभावानाबीजायाम् बह्वीषु प्रतिनियतासु शक्तिष्वाविर्भूतासु सतीष्वपि कस्याश्चन एव शब्दभावनाबीजं सुस्फुटतयाविर्भवति। तच्छब्दानुविद्धेन शक्त्यनुपातिना ज्ञानेन आकृष्यमाणः ज्ञानानुगतः व्यक्तरूपप्रत्यवभासः जायते। तदैव ज्ञायते इति व्यवहारः जायते। अत एव स्वोपज्ञवृत्तौ तैरुक्तम्-

''यथास्य संहृतरूपा शब्दभावना तथा ज्ञेयेष्वर्थेषु उत्पन्नेनापि अविकल्पेन ज्ञानेन कार्यं न क्रियते, तद्यथा त्वरितं गच्छतस्तृणलोष्टादिसंस्पर्शात् सत्यपि ज्ञाने काचिदेव सा ज्ञानावस्था, यस्यामभिमुखीभूतशब्दभावनाबीजायामाविर्भूतास्वर्थोपग्राहिणाम् आख्येयानाख्येयरूपाणाञ्च शब्दानां प्रत्यर्थनियतासु शक्तिषु शब्दानुविद्धेन शक्त्यनुपातिना ज्ञानेन आकृष्यमाणो वस्त्वात्मा ज्ञानानुगतो व्यक्तरूपप्रत्यवभासो ज्ञायत इत्यभिधीयते।''[९]

इदं हि वाचो लौकिकेषु सर्वप्रत्ययेषु सर्वथानुस्यूतं स्वरूपं ब्रुवतो भगवतो भर्तृहरेर्बीजरूपतया निक्षिप्तं ततोऽप्यधिकम् अभिप्रायम् आचार्योऽभिनवगुप्तपादः प्रकाशयति प्रत्यवमर्शापरनाम्नो विमर्शस्य परमं स्वरूपं विवृण्वन्। काश्मीरीयशिवाद्वैतवादे स च विमर्शः लौकिके ज्ञाने कृत्रिमाहन्ताविमर्शरूपेण, आध्यात्मिकानुभवे उत्तरोत्तरं समुत्कर्षं समधिगच्छन् पराहन्ताविमर्शरूपेण च तिष्ठतीति विदितमेव समेषां विदुषाम्। अभिनवगुप्तपादैः कविकर्मणि नटव्यापारे कलासृष्टिव्यापारे च तस्यैवार्थस्य पारम्यं दर्शयता 'भावानुकीर्तन' पदस्य विवरणं कृतम्-

---

९. अतएव वृषभेण संज्ञानस्य शब्दप्रकृतिविकारभावेनाविर्भावतिरोभावस्वरूपं विवृण्वता पद्धतौ स्पष्टीकृतम्-
''यतः शब्दभावनाबीजवृत्तिलाभे तदर्थसंवेदनमुपजायते। ततः शब्दः प्रकृतिः, ज्ञानं विकारः।'' नैयायिकादिभिः स्वीकृतं पक्षमपि स्पष्टीकुर्वता। तेन प्रोक्तम्-
''यतश्च तस्माज्ज्ञानादयं गौरिति शब्दो भवति। ततो ज्ञानं प्रकृतिः विकारः शब्द इति।''
-वाक्यपदीये, ब्रह्मकाण्डे पञ्चदशोत्तरशततकारिकायाः स्वोपज्ञवृत्तौ, तदुपरि ''पद्धतौ'' च सुब्रह्मण्यम् ऐय्यरसम्पादिते संस्करणे, पुणे १९५५, पृ. १८८-९०

"तेनानुव्यवसायवद् विशेषविषयीकार्यं नाट्यम्"[१०]।

स चानुव्यवसायो न हि तार्किकसम्मतोऽपि तु भिन्न एव। अत एवोक्तम्- "योऽयमनुव्यवसायो जन्यते सुखदुःखाकारतत्तच्चित्तवृत्तिरूपरूषितनिजसंविदानन्दप्रकाशमयः"[११]। नटव्यापारे तां प्रक्रियां विवृण्वन् पुनरपि तैरुक्तम्-"तथा चाहार्य्यविशेषादिना निवृत्ते तद्देश-चैत्र-मैत्रादिनटविशेषप्रत्यक्षाभिमाने, विशेषलेशोपक्रमेण च विना प्रत्यक्षाप्रवृत्तेः, रामादिशब्दस्यात्रोपयोगात् प्रसिद्धतदर्थतयाऽऽदरणीयचरितवाचकस्य असम्भावनामात्रनिराकरणेन **अनुव्यवसायस्य** प्रत्यक्षकल्पे नाट्ये हृद्यगीताद्यनुस्यूततया चमत्कारस्थानत्वाद्धृदयानुप्रवेशयोग्यत्वम् अभिनयचतुष्टयेन स्वरूपप्रच्छादनम्, प्रस्तावनादिना नटज्ञानसंस्कारसाचिव्यम्, तेन रञ्जकसामग्रीमध्यानुप्रविष्टेन प्रच्छादितस्वभावेन प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्षानुमानादिजनितसंस्कारसहायेन, सहृदयसंस्कारसचिवेन हृदयसंवादतन्मयीभावनासहकारिणा प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन **योऽनुव्यवसायो** जन्यते" इति[१२]।

अतश्च प्रथमं प्रयोक्तुः आहार्य्यविशेषग्रहणेन तद्देश-काल-नटविशेषप्रत्यक्षाभिमानस्य स्थगनम्, यतोहि नटविशेषलेशोपक्रमेण विना प्रयोक्तुः रामादिरूपेण न ग्रहणम्, ततः प्रसिद्धतदर्थतया आदरणीयवाचकस्य रामादिशब्दस्योपगमात् रामाद्यवस्थानासम्भावनानिराकरणपूर्वकं रामद्यवस्थानसम्भावनारूपस्य प्रत्यक्षकल्पस्य नाट्यस्य स्थितिः, हृद्यगीताद्यनुस्यूततया चमत्कारस्थानताया हृदयानुप्रवेशयोग्यताकः समुदयः, स्वरूपप्रच्छादनपूर्वकं प्रस्तावनादिना नटज्ञानसाचिव्यप्रकटनपूर्वकञ्च गीतादिरञ्जनसामग्रीमध्यानुप्रविष्टेन प्राक्प्रवृत्तलौकिकप्रत्यक्षादिजनित-संस्कारसहायेन सहृदयसंस्कारसचिवेन हृदयसंवादतन्मयीभवनसहकारिणा प्रयोक्त्रा दृश्यमानेन च अभिनयचतुष्टयेन **तादृशोऽनुव्यवसायो** जन्यते इति प्रक्रिया दर्शिता।

अनया प्रक्रियया विचित्रो रसन-आस्वादन-चमत्कार-चर्वण-निर्वेश-भोगाद्यपरपर्य्यायो योऽनुभवस्तत्र अवभासते, स एवानुभवो नाट्यम्। अतोऽनुभवरूपतया नाट्यं रसः, तत्र च रसनं चर्वणम् इत्यादिकोऽनुभवितृव्यापारः। तत्सिद्धये कृतो विभावादिनिरूपणपरः कविव्यापारः, आङ्गिकाद्यभिनयसहायस्य नटस्याभिनयव्यापारः, स्वरश्रुत्यादिभिर्भावनिरूपणपरो गायनादिव्यापारः, रेखावर्णादिना साधितो भाव-विभावादिनिरूपणपरो व्यापारश्चित्रकृतः, तक्षणादिना रेखामुद्भावयतः प्रतिमाकर्तुः स्थपतेर्वा तक्षणादिव्यापारो भावानुकीर्तनपदेन वर्णितः। स च व्यापारः करणशब्दात् वर्णयितुं न पार्य्यते, अत एव मुनिना कीर्तनपदस्य प्रयोगः कृतः। अत एव चाभिनवगुप्तपादेन तच्च कीर्तनम् अनुव्यवसायात्मकं रूषितविकल्पसंवेदनात्मकं भवतीति प्रोक्तम्[१३]। इत्थम्

---

१०. नाट्यशास्त्रे, बडोदरासंस्करणे, प्रथमभागे ३७तमे पृष्ठे

११. तत्रैव

१२. तत्रैव

१३. तत्रैव

अनुव्यवसायरूपं नाट्यम् एकतः सुखदुःखाकारतत्तच्चित्तवृत्तिरूपरूषितविकल्पसंवेदनात्मकम् अपरतश्च सुखदुःखाकार-तत्तच्चित्तरूपरूषितविकल्पस्य निजसंविदानन्दप्रकाशमयत्वमित्यपि निरूपितम्। नैष लौकिकोऽनुव्यवसायात्मकः विकल्पः, अपि तु काव्ये गीतवाद्यादिकलासु च अनुभूयमानं किञ्चद्विलक्षणं संवेदनं कश्चिद्विलक्षणोऽनुभवश्चेति प्रतिपाद्यते।[१४]

अनुभवितुः सहृदयस्य प्रेक्षकस्य कृते रसरूपतया पर्यन्ते स्थितं नाट्यं कविव्यापारेण नटव्यापारेण भावानुकीर्तनात्मकेन रूपेण साध्यते, अत एव नाट्यस्य 'तद्वेदनवेद्यत्वम्'[१५] उक्तम् अभिनवगुप्तपादैः। कलासृष्टौ काव्ये नाट्ये च न किञ्चिदुत्पाद्यते, अपि तु कीर्त्यते, वर्ण्यते, व्याह्रियते, तच्च कीर्तनं भावानामेव, यतो हि सर्वाः क्रिया भावेषु लीयन्ते, भावश्च सर्वप्राणिसाधारणः, विशेषस्तु सर्वपुरुषेषु प्रतिष्ठितः।

अतश्च भावः कवि-काव्य-सहृदयसाधारणः काव्यानुकार्य्यानुकर्तृप्रेक्षकसाधारणः कवि-काव्य-सहृदयमध्ये अनुकार्य्यानुकर्तृद्रष्टृमध्ये च कञ्चन सेतुं विरचयति, येन सहृदयस्य प्रेक्षकस्य रामादिचरितस्य श्रवणे प्रेक्षणे च प्रवृत्तिर्भवतीति। तस्यैव भावस्य साधारणीकरणाद्रसोऽभिव्यज्यते संविदानन्दमयः। अत एव श्रीमहानयप्रकाशे प्रोक्तम्-

"भावा वृत्तिषु ताश्चित्ते चित्तं संविदि सा परे।
व्योम्न्यस्तङ्गतो यत्र क्रम उल्लङ्घनात्मकः।"[१६]

तच्च भावस्यानुकीर्तनं नामकीर्तनवदावर्तनपूर्वकं क्रियते। प्रत्येकभावावर्तनं नवमेवार्थस्वरूपमुद्घाटयति। सा चावर्तनात्मकता सम्प्रत्यपि शास्त्रीये नृत्ये, गाने, वादने च सुप्रकाशिता, तथैव केरलीयसंस्कृते नाट्ये कुडियाट्टमाख्ये सा पल्लविता दृश्यते। अत एव कविव्यापारे, नटव्यापारे, सङ्गीते, चित्रप्रतिमाविधाने च तदेवानुकीर्तनमावर्तनात्मकरूपेण बहुशः प्रयुक्तं दृश्यते। चित्रादौ मूर्तिविधाने च एका आकृतिः केन्द्रस्था भवति, तां च परिवार्य्य निखिलस्यापि चराचरात्मकस्य लोकस्य चित्रणं वर्णनं वा क्रियते। एतेन आवर्तनकर्मणा यथा काव्ये नाट्ये च विभावादिनिरूपणद्वारा बहुस्तरीयास्तदर्था धारावाहिकरूपेण प्रकाश्यन्ते, तथैव गाने वादने च भावानां निरूपणं भवति। चित्रमूर्त्यादावपि भावानुकीर्तनस्य केन्द्रीया प्रक्रिया आकृतेः परितो बह्वीनामाकृतीनां सन्निवेशात्तत् सर्वमर्थजातं प्रकाशयति।

कीर्तनपदेन कीर्तनीयस्य महिमख्यापनं सम्भवति, तथैवात्र कीर्तनीयस्य भावस्य विभावादीनाञ्च लौकिकप्रत्यक्षदृष्टात् स्वरूपात् किञ्चिद् अतिरञ्जितं स्वरूपं वर्ण्यते। पारम्परिकचित्रादौ तच्चातिरञ्जनं सुसदृशाद् यथार्थदृष्टाद् रूपात् किमपि हृदयावर्जकं व्यञ्जकमेव

---

१४. तत्रैव

१५. तत्रैव

१६. महार्थमञ्जर्य्यां समुद्धृतोऽयं श्लोकः, महार्थमञ्जरी, सम्पादको व्रजवल्लभद्विवेदः, वाराणसी, १९९२, पृ.८१

रूपमुन्मीलयति। तदेवातिरञ्जनं गायनवादने कर्षणरूपेण प्रयुज्यते, येन स्वरकर्षणात्सौन्दर्यं समुदेति।

अत एवानुकरणमभिधास्थानीयम्, अनुकीर्तनं तु व्यञ्जनास्थानीयमिति वक्तुं पार्य्यते। अयमर्थोऽस्माभिः केरलीयनाट्यशास्त्राविदुषो पण्डितपिषारटिसकाशात् लब्धः। एतेनानुकीर्तनपदस्य इदं व्याख्यानं नास्माकं कल्पनाविजृम्भितम्, अपि तु परम्परागतमेवेति सूच्यते।

अनुकीर्तनपदेन चित्रादौ यदि प्रथमाङ्कनसोपानं साधु न दृश्यते, तदा तस्य अन्यथाकरणम् अपि सूच्यते। अत एव महाकविकालिदासेन-'यद्यत् साधु न चित्रे स्यात्, क्रियते तत्तदन्यथा' इत्युक्तम्। तच्चान्यथाकरणं वस्तुतो कविभिः कलाकृद्भिश्च लोकसामान्याद् रूपादेवालोकसामान्यरूपस्य समुन्मीलनमेव।

भावानुकीर्तने काव्य-नाट्य-सङ्गीत-चित्र-प्रतिमादौ सर्वत्रैव रसप्रतीतिसम्भावना-मुन्मीलयति कविः कलाकृच्चेति भावानुकीर्तनविधिना भारतीयसौन्दर्यदृष्टेर्विशिष्टं स्वरूपं प्रकाशयति। यदि सौन्दर्यं रसः, तर्हि तत्प्रकाशनविधिर्भावानुकीर्तनम् इति वक्तुं शक्यते। यथा रसस्तथैव भावानुकीर्तन-सिद्धान्तः पाश्चात्यसौन्दर्यदर्शनात् भारतीयसौन्दर्यदर्शनं व्यावर्तयतीति।

संस्कृतनाट्यञ्च भावानुकीर्तनरूपेण प्रयुक्तं दृश्यते। कविकुलगुरोः कालिदासस्य मालविकाग्निमित्रे छलितप्रयोगानन्तरं परिषद्मुखन्यस्तप्रयोगसमालोचनं तादृशमेव तत्स्वरूपं प्रकाशयति। यथा

"अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः,
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ,
भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव।।२.८।।

अत्र नाट्यशास्त्रीयसामान्याभिनयाध्यायस्थाङ्गिकसामान्याभिनयप्रकरणे निर्दिष्टेन सूचा-भिनयेन प्रारब्धोऽभिनयोऽद्यापि परम्परामुपबृंहन्तं कुडियाट्टम् इत्याख्यामभिनयशैलीं केरलीयां स्मारयति। तथैव शाखेति नाट्यशास्त्रे प्रथितं आङ्गिकसामान्याभिनयं कालिदासः स्मरति। सर्वत्र पादन्यासस्य लयानुगतत्वे परापततो भावान् सामान्याभिनय अङ्कुर इत्याख्यया प्रसिद्धान् अस्मिन् श्लोके कालिदासः प्रत्यभिजानाति। नाट्यस्य पार्यन्तिकतया रसमयत्वमपि तत्र सूचितमेव। सत्स्वपि भावविकल्पेषु अङ्कुराभिनये विद्यमाने न हि प्रयोगस्य नैरन्तर्यं व्याहतम्, मुखरागबन्धस्यैक्यरक्षणात्।

यथा च नाट्यशास्त्रीया प्रयोगपरम्परा मालविकाग्निमित्रे सन्दर्शिता, तथैव पार्वती परमेश्वरविवाहप्रसङ्गे प्रस्तूयमानस्य नाट्यस्य वर्णने करणाङ्गहारादिप्रयोगसमृद्ध्या शोभिता परम्परा कुमारसम्भवे दृश्यते।

विक्रमोर्वशीयस्य चतुर्थाङ्के ध्रुवा-प्रयोगानुसरणेन, तत्र कविना प्रयोगसमयोऽपि तत्र तत्र नाट्यनिर्देशे निबद्धः, प्राचीनटीकाकृद्भिश्च व्याख्यातः संस्कृतनाट्यप्रयोगपरम्परायाः सातत्यं द्योतयति।

तथैव दामोदरगुप्तेन काश्यां शिवालये प्रयुक्तस्य रत्नावलीचतुर्थाङ्कस्य नाट्यसमीक्षा तस्या नाट्यशास्त्रमूलत्वमाविष्करोति। सा च ख्रीस्तीयनवमशताब्द्यामपि प्रवर्धमानासीदिति प्रतीयते दामोदरगुप्तस्य वर्णनेन। सैव परम्परा अभिनवभारत्यां प्रयोगपरतया विवेचिता शारदातनयेन, शाङ्गदेवेन, कल्लिनाथादिना च व्याख्याता स्वीयां प्रवहमानतां प्रकाशयति।

संस्कृतनाट्यप्रयोगपरम्परा नाट्यशास्त्रमनुरुन्धाना समग्रेऽपि भारतवर्षे बहुशः विकसिता तेषु तेषु प्रदेशेषु नाट्यशास्त्रमनुसृत्य रचितेषु नाट्य-नृत्यग्रन्थेषु परिवर्द्धिता रक्षिता चेत्येतत्सर्वं डाक्टरकपिलावात्स्यायन-महाभागया सुनिपुणं प्रदर्शितमिति तत्सर्वं तत्रैव विलोकनीयम्।[१७]

एषा संस्कृतनाट्य-परम्परा निखिलभारतदेशे लोकनाट्यशैलीषु विविधरूपेण पल्लविता, पुष्पिता, फलिताऽद्यापि भारतीयनाट्यस्य स्वरूपं रक्षन्ती तिष्ठति। किं बहुना जापानदेशत आरभ्य भारतवर्षं यावत् यावन्नाट्यवैविध्यम् अद्यापि सुरक्षितमेशिया महाद्वीपदेशेषु विशेषतस्तु इण्डोनेशियादेशीये बालीत्याख्ये द्वीपे तन्न तिरोहितं विदुषाम्।

अतः संस्कृतनाट्यस्य वैविध्यं तस्य सातत्ये परिवर्तने च निभालनीयमिति निवेद्यते। अयंच ग्रन्थः आचार्य बलदेवोपाध्याय महोदयानां प्रवर्तनया विरचितः बहून विघ्नान् पराजित्याद्य विदुषां पुरस्तात् प्रस्तूयत इति मनसि महान् प्रमोदः।

इति निवेदनं

त्रिपाठिनः कमलेशदत्तस्य

वैशाखकृष्णद्वितीयायां २०७६ तमे

वैक्रमाब्दे, वाराणस्याम्

• • • •

१७. Bharata : The Natyasastra, Kapila Vatsyayan, Sahitya Akadami, New Delhi-1996

भूमिका

नाट्यशास्त्र और संस्कृत नाट्य

नाट्यशास्त्र भारतीय नाट्य का मूल ग्रन्थ है, जिसमें न केवल प्राचीन भारतीय नाट्य का, अपितु समग्र प्राचीन काव्य, नृत्य, गीत, वाद्य तथा अन्य सम्बद्ध कलाओं का शास्त्र प्रतिष्ठित है। वस्तुतः नाट्य के अनुषंग के रूप में चित्र, प्रतिमा, स्थापत्य और सभी नाट्य से सम्बद्ध कलाओं का नियमन बीजरूप में वहाँ स्थित है। यह ग्रन्थ अपने विशिष्ट, विवेच्य विषय नाट्य को जिस गंभीरता से प्रतिपादित करता है, उसी प्रकार उसके अंगभूत विषयों को भी उन-उन शास्त्रों से आहरण कर उनके स्वरूप का भी समग्रतया निरूपण करता है, इसलिए नाट्यशास्त्र में दर्शन, प्राचीन आख्यान, व्याकरण, छन्दशास्त्र, शिक्षा, संगीतशास्त्र, मूर्तिशास्त्र, स्थापत्य-चित्र-पुस्त (नाट्य में प्रयुक्त मुखौटे और 'प्रापर्टी' आदि) विधान का तथा भारतवर्ष के भूगोल आदि सभी विषयों का इस प्रकार सन्निवेश किया गया है कि अनेक शास्त्रों के तत्वों के सामरस्य से नाट्य के स्वरूप और उसके मंच पर प्रयोग का विधान सुस्पष्ट रूप से विदित हो जाता है। इसके प्रणेता मुनि भरत जैसे नाट्यशास्त्र के सूत्रकर्ता आचार्य हैं वैसे ही काव्यशास्त्र के भी सूत्रकार हैं, यह बात परम्परा घोषित करती है। मुनि के बाद नाट्यशास्त्र की परम्परा, संगीत-शास्त्र की परम्परा तथा काव्य-शास्त्र की परम्परा निरन्तर मुनि भरत का स्मरण करती आई है। नाट्यशास्त्र पर हर्ष ने वार्तिकों की रचना की है। उद्भट्ट-भट्टयंत्र-कीर्तिधर-लोल्लट-श्री शंकुक, भट्टनायक और भट्टतौत आदि ने भी व्याख्याएँ की थीं, जिन्हें 'भाष्य' कहते हैं किन्तु आज ये उपलब्ध नहीं है फिर भी परममाहेश्वर अभिनवगुप्तपाद द्वारा रचित नाट्यवेद विवृति अथवा अभिनवभारती 'भाष्य' के रूप में आज भी उपलब्ध है, यह हम सबका परम सौभाग्य है। इस परम्परा को शारदातनय, शाङ्गदेव और कल्लिनाथ आदि ने परिवर्धित की है। यह परम्परा भारतवर्ष के विभिन्न भागों में बालरामभरत आदि विद्वानों के द्वारा पल्लवित की गई और अनेक धाराओं में प्रवाहित होती रही है और इस तरह नाट्यशास्त्र मूल-शास्त्र है-यह बात प्रमाणित करती है।

नाट्य की ब्राह्म-परम्परा का संकेत करते हुए भरतमुनि ने ग्रन्थ के आरम्भ में ही ब्रह्मा जी के संकल्प को प्रकाशित किया है, जिसमें नाट्य के सामान्य और विशेष प्रयोजन के साथ उसके सामान्य और विशेष स्वरूप भी बताये गये हैं। भारतीय सांस्कृतिक परम्परा के अनुसार पुरुषार्थ चतुष्टय धर्म, अर्थ, काम और मोक्ष की प्राप्ति यह नाट्य का सामान्य प्रयोजन है तथा लोक व्यवहार हेतु आदर्श का अनुदर्शन और स्वस्थ मनोरंजन विशेष प्रयोजन। इसी प्रकार स्वरूप की संकल्पना में कहा गया है कि यद्यपि इस नाट्य में सारे

शास्त्रों के तत्त्वों का सामान्य रूप से समायोजन रहेगा, तथापि यह नाट्य सभी कलाओं का निधान होगा। वस्तुतः मूर्ति, चित्र, स्थापत्य के साथ काव्य, नृत्य, गीत, वाद्य आदि कलाओं के सन्निधान से ही नाट्य के स्वरूप का निर्माण होता है और उनमें नई-नई उद्भावनाएँ होती रहती हैं, अतः यह नाट्य उन कलाओं का प्रवर्तक भी होगा। इसी संकल्पना के साथ ब्रह्मा जी ने इतिहास के साथ नाट्य को पंचम वेद की संज्ञा दी और ऋग् यजुः साम अथर्व इन चारों वेदों के विशेष तत्त्वों से नाट्यवेद की रचना की थी-

धर्म्यमर्थ्यं यशस्यं च सोपदेश्यं ससङ्ग्रहम्।
भविष्यतश्च लोकस्य सर्वकर्मानुदर्शकम्।।
सर्वशास्त्रार्थसम्पन्नं सर्वशिल्पप्रवर्तकम्।
नाट्याख्यं पञ्चमं वेदं सेतिहासं करोम्यहम्।।
एवं सङ्कल्प्य भगवान् सर्ववेदाननुस्मरन्।
नाट्यवेदं ततश्चक्रे चतुर्वेदाङ्गसम्भवम्।।
जग्राह पाठ्यमृग्वेदात् सामतो गीतमेव च।
यजुर्वेदादभिनयान् रसानाथर्वणादपि।।
वेदोपवेदैः सम्बद्धो नाट्यवेदो महात्मना।
एवं भगवता सृष्टो ब्रह्मणा सर्ववेदिना।। (नाट्य० १/१४-१८)

भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में चारों वेदों से नाट्यवेद की उत्पत्ति के प्रसंग में कहा है कि ऋग्वेद से संवाद, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय और अथर्ववेद से रस लेकर नाट्यशास्त्र की रचना हुई है। इसी प्रकार इसमें उपवेद, वेदांग तथा अन्य सभी शास्त्रों से शिल्प एवं विविध कलाओं का समाहरण हुआ है। इस प्रकार इस नाट्यशास्त्र में वेदों का अवदान होने से यह वेदमूलक है। इसमें उपवेद, वेदांग एवं शास्त्रों का सहयोग होने से यह तत्तन्मूलक भी है। इसमें पूर्ववर्ती सभी कला शास्त्रों के तत्त्वों का सामंजस्य होने से यह नाट्यशास्त्र सभी प्रकार के शिल्प और कलाओं का प्रवर्तक है और लोक व्यवहार में सत्कर्म आचरण हेतु सुन्दर आदर्श उपस्थापित करता है। इस प्रकार ग्रन्थ के आरम्भ में भरतमुनि ने विधाता की संकल्पना और नाट्यवेद की संरचना के माध्यम से जहां नाट्य के प्रयोजन और स्वरूप पर प्रकाश डाला है वहीं नाट्य-कलारूप प्रासाद के चार प्रमुख स्तम्भ संवाद, गीत-संगीत, अभिनय और रस तत्त्व का प्रमुखता से उल्लेख किया है। इसके साथ ही उन्होंने नाट्यशास्त्र को चित्र-मूर्ति-स्थापत्य आदि हस्तशिल्प, गीत-संगीत-वाद्य आदि स्वरशिल्प, नृत्य-नृत्त-अभिनयादि शारीरिकशिल्प और काव्य-भावाभिव्यंजनादि मानसशिल्प का निधान और प्रवर्तक बताया है।

भरत मुनि के कथन का विश्लेषण करने पर यह तथ्य स्पष्ट हो रहा है कि नाट्यशास्त्र सभी प्रकार के शिल्प और कलाओं का न केवल आधार है, अपितु वह उनका

पारखी है और उनमें नई उद्भावनाओं की दृष्टि भी देता है। भरत मुनि की इस स्पष्ट उक्ति के बाद भी कुछ पश्चिमी और कुछ भारतीय विद्वान् आलोचक यह आक्षेप करते हैं कि भारत में काव्य-नाट्य-गीत-संगीत-चित्र-मूर्ति-वास्तु-शिल्प अथवा काव्य-नाट्य आदि कला के सामान्य सौन्दर्य की विवेचना करने वाला कोई शास्त्र नहीं था। वी. राघवन् जी ने The concept of the Beautiful in sanskrit Literature पुस्तक में विलियम नाइट के प्रश्न का और मैक्समूलर महोदय के उत्तर का उल्लेख किया है। विलियम जी ने आंख मूंदकर प्रश्न पूछा कि "भारत में सभी प्रकार की विभिन्न दार्शनिक विचारधाराएं प्रवाहित हो रहीं हैं, किन्तु वहाँ सौन्दर्य के विषय में कोई विचार नहीं हुआ, ऐसा क्यों?" मैक्समूलर जी ने ठीक उसी तरह इस प्रश्न का उत्तर भी दे दिया-"हिन्दुओं के स्वभाव में सौन्दर्य का कोई स्थान है ही नहीं। अपितु उनके लिए सौन्दर्य निरर्थक या बाधक तत्त्व है, अतः वहां मूर्ति-वास्तु-शिल्प अथवा चित्र आदि कला में न तो कोई निपुणता है और नहीं सौन्दर्य का विश्लेषण करने वाला कोई शास्त्र है। हालांकि वहाँ निर्गुण और निर्विकल्प के विषय में गूढ़ विचार हुआ है तथापि आश्चर्य है कि वहाँ सौन्दर्य-विश्लेषणपरक शास्त्र का अभाव है।"

मैक्समूलर महोदय की इस अदूरदर्शी, एकांगी और दुराग्रही स्थापना के आलोक में अधिकांश पाश्चात्य विद्वानों का मत है कि सौन्दर्यशास्त्र (एस्थेटिक्स) का उद्भव और विकास योरोप में ही हुआ है। बाउमगार्टेन महोदय ने इस शास्त्र की कल्पना की थी, जिसे हेगेल ने व्यवस्थित रूप दिया था और क्रोचे महोदय आदि पश्चिम के विद्वानों ने विविध-शाखा-प्रशाखा में इसका विकास किया है। इस प्रकार योरोप में भी वाउम गार्टेन से पहले प्राचीन या मध्यकाल में सौन्दर्यशास्त्र नहीं था, फिर भारत में होने का प्रश्न ही नहीं उठता है। यही विचार कुछ भारतीय मनीषियों ने भी प्रकाशित किये हैं। इस विषय में इतना कथन सत्य है कि भारत में "सौन्दर्यशास्त्र" नाम से भले ही कोई पुस्तक या शास्त्र नहीं था, किन्तु यह मानना नितान्त दुराग्रह या भ्रम है कि भारतीयों के स्वभाव में सौन्दर्य-बोध का अस्तित्व ही नहीं था, भारत में चित्रकला या मूर्ति शिल्प का उत्कर्ष ही नहीं हुआ था, गद्य-पद्य-आख्यान-आख्यायिका सभी प्रकार के काव्य-नाट्य-गीत-संगीत-वाद्य या नृत्यकला के सौन्दर्य पर विचार ही नहीं हुआ था। प्राचीन भारतीय शास्त्रों का अध्येता कोई भी विद्वान् उक्त कथन को मात्र दुराग्रह, भ्रमपूर्ण अथवा सार-हीन कहेगा। ऐसे विद्वानों की लम्बी सूची है, जिन्होंने अपनी-अपनी पुस्तकों में तथाकथित पाश्चात्य और तदनुगामी भारतीय आलोचकों के निराधार दुष्प्रचार का प्रबल तर्कों से खण्डन किया है। भारतीय पक्ष के पुरोधाओं में कुछ प्रमुख नाम हैं-आनन्द कुमार स्वामी-श्री अरविन्द-हिरियन्ना-वासुदेवशरण अग्रवाल-नीहार रंजन-दे स्ट्रेलाक्रेमरिश-आचार्य कान्तिचन्द्र पाण्डेय-कपिला वात्स्यायन-गोविन्द चन्द्र पाण्डेय-विद्यानिवासमिश्र-राममूर्ति त्रिपाठी। इन विद्वानों ने अपने-अपने विचारों से नाट्यशास्त्र एवं अन्य प्राचीन भारतीय वाङ्मय में विद्यमान सौन्दर्य-दर्शन की विवेचना के साथ उसकी स्थापना की है।

नाट्यशास्त्र अथवा प्राचीन भारतीयशास्त्रों में 'सौन्दर्य' शब्द का प्रयोग नहीं हुआ है किन्तु उसी अर्थ में 'कला' और 'शिल्प' शब्दों का प्रयोग, उनकी परिभाषा तथा गम्भीर विवेचना पर्याप्त मात्रा में उपलब्ध है। काव्य-नाट्य कला अथवा चित्र-मूर्ति शिल्प यह काव्यादि का सौन्दर्य ही तो है। वस्तुतः सौन्दर्य का आधान करने के लिए ही काव्यादि कला या शिल्प का अनुशासन और विश्लेषण हुआ है। भारत में कला की विवेचना प्राचीन काल से ही होती आ रही है। नाट्यशास्त्र तथा उससे सम्बन्धित अन्य शास्त्रों, उपवेद और वेदांगों में भी कला और शिल्प की ही विवेचना की गयी है। महर्षि मार्कण्डेय ने विष्णु धर्मोत्तर पुराण के तीसरे खण्ड में काव्यादि अनेक कलाओं के परस्पर सम्बन्ध और उनमें निहित पौर्वापर्य तथा आधाराधेयभाव का अत्यन्त गूढ वर्णन किया है। इसी प्रकार नाट्यशास्त्र की अभिनव भारती व्याख्या में आचार्य अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र को केवल परमपुरुषार्थ मोक्ष का उपाय बताने वाला शास्त्र नहीं माना है, अपितु कलाप्रधान सभी शास्त्रों की सर्वविध कलाओं का उपयोग करने वाला शास्त्र माना है। नाट्यशास्त्र में न केवल नाट्यकला अपितु काव्य-गीत-संगीत-वाद्य-नृत्यकला तथा चित्र-पुस्त-मूर्ति-स्थापत्यादि शिल्प का विश्लेषण-विभाजन-विनियोजन-उद्भावन आदि अनेक दृष्टियों से गहन अनुसन्धान और समायोजन हुआ है। इस प्रसंग में अभिनव गुप्त ने नाट्यशास्त्र की परिभाषा दी है-एक ही प्रयास से सभी कलाओं का बोध जिससे प्राप्त हो, उसे नाट्यशास्त्र कहते हैं।

आचार्य अभिनव गुप्त की उक्त व्याख्या से दो बातें स्पष्ट हो रही हैं-१. भरत मुनि के समय में भी कला-प्रधान कुछ शास्त्र विद्यमान थे, २. नाट्यशास्त्र में उन कला-प्रधान शास्त्रों के तत्त्वों का उपयोग हुआ है। इसीलिए आचार्य ने नाट्यशास्त्र की कलापरक परिभाषा की है- 'केवल नाट्यशास्त्र के अध्ययन से सभी कलाओं का बोध सम्भव है'। आचार्य ने प्रथम अध्याय की व्याख्या में ही बड़े विस्तार से अनेक विधा के काव्यों और अनेक प्रकार के नाटकों में रहने वाली शोभाधायक भिन्न-भिन्न कलाओं के स्वरूप का वर्णन किया है। उन्होंने उनके निर्माण और आधान की पद्धति भी समझाई है। आचार्य भली-भाँति जानते थे कि श्रोता और दर्शकों में उन कलाओं के कारण ही आनन्दातिरेक का अनुभव होता है, अतः उन्होंने उस अनुभव के स्वरूप का और उसमें कला-प्रदर्शन की कारणता का भी विवेचन किया है। इस प्रकार अभिनवभारती व्याख्या में नाट्य के भेद-प्रभेद और उनमें सौन्दर्य का आधान करने वाली भिन्न-भिन्न कलाओं का विवेचन तो है ही, उनके अतिरिक्त काव्यकला, नृत्य-संगीतादिकला, चित्रकला, पुस्त एवं वास्तुकला के तात्त्विक स्वरूप पर भी पर्याप्त विचार हुआ है। अतः अभिनव भारती के शब्दों में हम कह सकते हैं कि नाट्यशास्त्र वस्तुतः कलाशास्त्र है।

भरतमुनि ने नाट्यशास्त्र नामक नाट्यवेद के प्रतिपाद्य विषय को मुख्यतः पाँच भागों में विभक्त किया है। उन विभागों को उन्होंने प्रश्न की शैली में प्रस्तुत किया है। अतः

यहां यह शंका निराधार है कि पूछने वाला कोई शिष्य अलग है और यह प्रश्न-विषयक श्लोक उसी का है। अपितु यह एक संवादात्मक शैली है, जिसका प्रयोग पतंजलि के व्याकरण महाभाष्य में अधिक हुआ है। इसी आशय से आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी व्याख्या में लिखा है कि भरतमुनि शिष्य की भूमिका में प्रश्न के माध्यम से ग्रन्थ के प्रतिपाद्य विषय का विभाजन प्रस्तुत कर रहे हैं। विषय-विभाग निम्नांकित है-

नाट्यवेदः कथं ब्रह्मन्नुत्पन्नः कस्य वा कृते।

कत्यङ्गः किम्प्रमाणश्च प्रयोगश्चास्य कीदृशः।। (नाट्य., १.४,५)

१. नाट्य की उत्पत्ति।

२. नाट्य के अधिकारी।

३. नाट्य के एकादश (११) अंग। यथा-रस-भाव-अभिनय-धर्मी-वृत्ति-प्रकृति-सिद्धि-स्वर-आतोद्य-गान और रंगमंच, इन ग्यारह अंगों का विवेचन।

४. नाट्य का प्रमाण अर्थात् मंचन की कालावधि अथवा लोक, नाट्यवेद और अभिनेता नट का अन्तश्चैतन्य, इन प्रमाणों का विवेचन।

५. नाट्य का प्रयोग। इसमें आंगिक-वाचिक-सात्त्विक अभिनय, आहार्य और मंच-सज्जा आदि विषय समाहित हैं।

नाट्यशास्त्र के अलग-अलग अध्यायों में इन विभाजित पांचों बिन्दुओं का वर्णन हुआ है। नाट्य के अधिकारी आदि कुछ विषयों का संक्षेप में विवेचन है तो कुछ विषयों का बड़े विस्तार से अनेक अध्यायों में वर्णन हुआ है। जैसे यहां विभाजित पहला विषय नाट्यशास्त्र की उत्पत्ति है। इसका वर्णन आरम्भ के छः अध्यायों में बड़े विस्तार से हुआ है। प्रथम अध्याय के आरंभ में ही चारों वेद, उपवेद, वेदांग और कला-प्रधान शास्त्रों के अवदान से नाट्यवेद अर्थात् नाट्य शास्त्र की उत्पत्ति बताने के बाद नाट्य से सम्बन्धित आरंभिक तीन विषयों का निरूपण आवश्यक था। ये तीन विषय हैं-१. नाट्य का स्वरूप, २. नाट्य के प्रदर्शन से पूर्व करणीय अवान्तर व्यापार और ३. नाट्य का पारमार्थिक भावात्मक स्वरूप अनुभव। उक्त तीनों विषय उत्पत्ति से ही संबंधित हैं, क्योंकि ये विषय आरंभिक और नाट्य के स्वरूप का बोध करने में आवश्यक हैं। अतः भरतमुनि ने उक्त तीनों विषयों को उत्पत्ति में ही समाहित करते हुए आरंभ के छह अध्यायों में इनका वर्णन किया है।

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में नाट्य की उत्पत्ति से सम्बन्धित एक लघु आख्यान है। दूसरे और तीसरे अध्याय में नाट्य प्रदर्शन से पूर्व के आवश्यक करणीय व्यापारों का वर्णन है। इसमें नाट्य प्रयोग के लिए अपेक्षित रंगमंच का निर्माण और दर्शकों

के सुखपूर्वक बैठने के लिए प्रेक्षागृह का निर्माण, प्रेक्षागृह के त्र्यस्र-चतुरस्रादि भेद, उनके आकार, उनके निर्माण की विधि तथा निर्मित प्रेक्षागृह के संस्कार-शुद्धि आदि विषयों का वर्णन है। चौथे अध्याय में नृत्य एवं अभिनय से संबंधित करण, अंगहार तथा अभिनय का आधार ध्रुवा-गान आदि परिवेश के निर्माण में सहायक तत्त्वों की विवेचना हुई है। पाँचवे अध्याय में पूर्वरंग का विवेचन है, जिसका मंच पर प्रदर्शन अभिनय आरम्भ होने से पूर्व होता है। छठे अध्याय में नाट्य के भावात्मक स्वरूप की सूक्ष्म और गम्भीर विवेचना हुई है। इस प्रकार नाट्यशास्त्र के आरंभिक छह अध्यायों में नाट्य प्रदर्शन से पूर्व आवश्यक करणीय कार्यों के शिल्प का विशद विश्लेषण और नाट्य के स्वरूप का तात्त्विक विवेचन प्रस्तुत हुआ है।

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय के आरंभ में नाट्य की उत्पत्ति के प्रसंग में एक सारगर्भित कथा चित्रित है। कथा में कहा गया है कि सत्ययुग बीत जाने पर त्रेता युग के आरम्भ से ही लोगों में राग-द्वेष-ईर्ष्या-क्रोध आदि दुर्भावनाओं की वृद्धि होने लगी, जिससे सारे लोग दुःखी रहने लगे। लोगों के विषाद को दूर करने के लिए देवगण राजा इन्द्र के नेतृत्व में ब्रह्मा जी के पास पहुँचे। उन्होंने ब्रह्मा जी से प्रार्थना की, हे भगवन्! लोगों के दुःख को दूर कर उनमें हर्ष का संचार करने वाला कोई दृश्य-श्रव्य उपाय बतायें, जिसमें सबका अधिकार हो और सब का मनोरंजन हो। देवताओं की प्रार्थना सुनकर ब्रह्मा जी ध्यान-मग्न हो गये। उसके बाद उन्होंने चारों वेदों से संवाद-गीत-अभिनय आदि तत्वों का संकलन करके पंचम नाट्यवेद की रचना की, जिसमें सबका समान अधिकार था और वह सबके मनोरंजन का साधन था। देवताओं के अनुरोध करने पर ब्रह्मा जी ने भरत मुनि को वह नाट्यवेद प्रदान किया। भरतमुनि ने अपने पुत्रों और शिष्यों को उस नाट्यवेद की शिक्षा दी। उस समय देवासुर-संग्राम में देवों को विजय मिली थी। देवों के राजा इन्द्र ने विजय के उपलक्ष्य में महोत्सव का आयोजन किया। ब्रह्मा जी के आदेश से भरतमुनि ने उस महोत्सव में देवासुर-संग्राम नाटक का मंचन आरम्भ किया। आरंभ करने से पहले भरतमुनि ने पात्रों का पूर्वाभ्यास कराकर उनके आहार्य अभिनय के साधन की व्यवस्था पूरी कर ली थी। अतः मंच पर नान्दी पाठ के पश्चात् अभिनय आरम्भ हुआ। अभिनय में नटों का देव और असुर के वेश में अनुकरण देखकर सारे दैत्य नाराज हो गये और नाटक में विघ्न डालने लगे। उस समय राजा इन्द्र ने अपने जर्जर के प्रहार से दैत्यों को भगाया और विघ्न को शान्त करने का प्रयास किया, किन्तु इन्द्र के प्रयास से दैत्य शान्त नहीं हुए। तब ब्रह्मा जी ने विश्वकर्मा को बुलवाया और उनको सुरक्षित एवं सुन्दर नाट्यशाला बनाने का आदेश दिया। उस समय ब्रह्माजी ने नाट्यशाला की सुरक्षा के लिए देव-दानव-यक्ष-गन्धर्व और राक्षसों को नियुक्त किया था।

किन्तु इन सभी सुरक्षा उपायों के करने के बाद भी देवगण आश्वस्त और सन्तुष्ट नहीं थे। अतः उन्होंने साम-नीति से असुरों को समझाने के लिए ब्रह्मा जी से प्रार्थना की। देवताओं की प्रार्थना सुनकर ब्रह्माजी ने विघ्नकारी दैत्यों से नाटक में बाधा पहुँचाने का कारण पूछा। दैत्यों ने उत्तर दिया कि आपने देवताओं की इच्छा से नाट्यवेद की रचना की है। इससे देवों का मनोरथ पूरा हो रहा है, किन्तु नटों के अनुकरण से हमारा तो तिरस्कार हो रहा है। आपको तो भला ऐसा नहीं करना चाहिए। इस प्रकार दैत्यों का उत्तर सुनकर ब्रह्मा जी ने उनसे कहा, हे दैत्यगण! आप लोग अपना क्रोध शान्तकर और निरर्थक चिन्ता-विषाद भूलकर मेरी बात पर विचार करें। मेरे द्वारा रचित यह नाट्यवेद आप और देवता दोनों के लिए शुभ-अशुभ मार्ग का दर्शक है। आप लोग नाट्य की वेशभूषा और अनुकरण से नाराज न हों; क्योंकि कर्म की भावना से इसका सम्बन्ध है, किसी वेशभूषा के अनुकरण से नहीं। इसमें केवल आप या देवताओं के ही कार्यों का अनुकरण नहीं है, अपितु इसमें तीनों लोकों के भावों का अनुकीर्तन है। अतः अनुकरण मात्र से उपहास या तिरस्कार नहीं समझना चाहिए-

"अलं वो मन्युना दैत्या विषादं त्यजतानघाः।
भवतां देवतानाञ्च शुभाशुभविकल्पकः।।
कर्मभावान्वयापेक्षी नाट्यवेदो मया कृतः।
नैकान्ततोऽत्र भवतां देवानां चानुभावनम्।।
त्रैलोक्यस्य सर्वस्य नाट्यं भावानुकीर्तनम्।।" (नाट्य. १.१०५-१०७)

इस नाटकीय कथोपकथनात्मक आख्यान से नाट्य के दो स्वरूप स्पष्ट हो रहे हैं।

१. नाट्य का भौतिक स्थूलस्वरूप 'अवस्था विशेष का अनुकरण' है। अनुकरणात्मक अभिनय को नाट्य कहते हैं, यह नाट्य का प्रारंभिक स्थूल स्वरूप है।

२. इस स्थूल स्वरूप 'अवस्थानुकरण' का पर्यवसान 'भावानुकीर्तन' में होता है, अतः पार्यन्तिक रूप से 'भावानुकीर्तन' को ही नाट्य कहते हैं। यह भावानुकीर्तन ही नाट्य का वास्तविक स्वरूप है। आवर्तन को अनुकीर्तन कहते हैं। भाव का बार-बार आवर्तन होने से उसमें विशेषांश समाप्त होकर वह 'स्वभाव' में परिणत हो जाता है। तदनन्तर उसमें 'स्व' अंश भी समाप्त होकर जब वह 'भाव' साधारणीकरण के द्वारा 'अलौकिक अनुभव' रूप में परिवर्तित होता है, तब उस 'अनुभव' को नाट्य कहते हैं, जो विषयान्तर-शून्य होने से लोकोत्तर रस स्वरूप है। उसी की चर्वणा होती है। वही 'अलौकिक नाट्यानन्द' है, जो भोक्ता, भोग्य एवं भोग स्वरूप है। उसे ही भावानुकीर्तन कहते हैं और वही नाट्य का अन्तिम वास्तविक स्वरूप है।

नाट्यशास्त्र के प्रथम अध्याय में पूर्वोक्त आख्यान के अन्त में भरतमुनि ने नाट्य की दूसरी परिभाषा प्रस्तुत की है-'नाट्यं भावानुकीर्तनम्'। आचार्य अभिनव गुप्त अपनी व्याख्या में इसी परिभाषा को सिद्धान्त पक्ष के रूप में स्वीकार करते हैं तथा यहां पर अनेक प्रबल तर्कों के माध्यम से 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' इस अनुकरण पक्ष का खण्डन करते हैं। उनका तर्क है कि रंगमंच पर नट के द्वारा प्रस्तुत होने वाले राम आदि चरित वास्तविक, सदृश, भ्रमरूप, आरोप-अध्यवसाय या काल्पनिक रूप, अनुकरण रूप, मायावी या ऐन्द्रजालिकरूप हो नहीं सकते; क्योंकि ऐसा होने पर वास्तविक रामादि, तत्सदृश रामादि या मायावी रामादि इत्यादि विशेष की प्रतीति होती रहेगी, फलस्वरूप साधारणीकरण नहीं होगा और उसके विना नाट्य-रस या नाट्यानन्द की प्राप्ति न होने से दर्शक उसे देखने ही नहीं जायेंगे।

अतः नट के द्वारा प्रस्तुत होने वाले राम आदि चरित दर्शकों की दृष्टि में अलौकिक होते हैं, यह सिद्धान्त स्वीकार करना चाहिए। नाट्य के समान काव्य, नृत्यकला, चित्रकला आदि में भी दर्शक का वास्तविक राम आदि से सम्बन्ध नहीं होता, अपितु वह दर्शक अलौकिक राम-आदि चरित से सम्बन्ध स्थापित करता है। अलौकिक होने से उसमें विशेष रामादि का संस्पर्श नहीं रहता, अतः साधारणीकृत होकर वह दर्शक को स्वानुभव के रूप में प्राप्त होता है। वह अनुभव ही आनन्द और चर्वणा है। उसी आनन्द के लिए दर्शक की नाट्य-काव्यादि में प्रवृत्ति होती है। अतः अनुकरण मात्र को नाट्य कहना एकांगी पक्ष है।

सभी यह जानते हैं कि कवि अपनी काव्यरचना में स्वतन्त्र होता है। नाट्यकार अपनी मनमर्जी से यथेच्छ चरित को प्रस्तुत करता है। उसी तरह चित्रकार और मूर्तिकार भी अपनी कल्पना के अनुसार चित्र और मूर्ति का निर्माण करते हैं। ये सभी अपनी-अपनी सृष्टि के विधाता हैं। इनकी स्वतन्त्रता तभी अक्षुण्ण रहेगी जब इनके द्वारा गढ़े गये, चित्रित या प्रस्तुत रामादि चरित को अलौकिक माना जाय। अन्यथा रामादि को वास्तविक, तत्समान या मायावी मान लेने पर इन काव्यकारों या कलाकारों की स्वतंत्रता सीमित हो जायेगी या समाप्त हो जायेगी। ऐसी स्थिति में स्वतन्त्र कवि की काव्य रचना में प्रवृत्ति नहीं होगी। फिर तो सामाजिक बुराइयों से लड़ने में लेखनी असमर्थ हो जायेगी। अतः कवि अथवा कलाकार अपनी रचना से अलौकिक दृश्य या रामादि चरित को उपस्थापित करता है, यह स्वीकार करना ही उत्तम पक्ष है।

अभिनेता नट की दृष्टि से विचार करने पर भी अलौकिक पक्ष ही समुचित प्रतीत होता है। अन्यथा जैसे लोक में किसी युवक-युवती को सुरत क्रीडा में लीन देखकर किसी द्रष्टा को क्रोध, किसी को जुगुप्सा तथा किसी वासना-वासित व्यक्ति को हर्ष होता है, उसी

तरह रंगमंच पर नट को भी क्रोध-जुगुप्सा अथवा हर्ष होने लगेगा, क्योंकि वह लौकिक चरित समझ बैठेगा। ऐसी स्थिति में अभिनय भंग हो जायेगा और नाट्य प्रयोग की ही असिद्धि हो जायेगी। अतः रंगमंच पर नट अपने द्वारा प्रस्तोतव्य रामादि चरित को अलौकिक समझ कर ही उसके अभिनय में प्रवृत्त होता है। तभी प्रयोग की सिद्धि होती है। इस प्रकार अलौकिक पक्ष को स्वीकार करने पर ही नाट्य-प्रयोग का सौन्दर्य अक्षुण्ण रहता है।

महामाहेश्वर आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी अभिनव भारती व्याख्या में कवि, नाट्यकार, कलाकार, अभिनेता और प्रेक्षक इन सबकी दृष्टि से नाट्य की पर्याप्त तत्त्व-मीमांसा की है। अन्त में सिद्धान्त रूप से 'भावानुकीर्तन' पक्ष को ही नाट्य का स्वरूप स्वीकार किया है। इस पक्ष में रामादि प्रस्तुत दृश्य की अलौकिकता, कवि व कलाकार की स्वतन्त्रता तथा साधारणीकरण-व्यापार से 'अनुभव' की अभीष्ट सिद्धि होती है, जो 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' अर्थात् अनुकरणादि पक्ष में किसी तरह सम्भव नहीं है। अतः आचार्य ने अनेक युक्तियों से अनुकरणादि पक्ष का प्रबल खण्डन किया है।

राजशेखर ने भी काव्य मीमांसा में उक्त तत्त्व-मीमांसीय विषयों की चर्चा की है, किन्तु उनका विशद विवेचन अभिनव-भारती में ही हुआ है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने अपनी तत्त्व-मीमांसा में यह स्पष्ट किया है कि काव्य-नाट्य या कलाकृतियों में दृश्य रामादि पदार्थ लोक से भिन्न अलौकिक होते हैं; क्योंकि लोक में कहीं उन पदार्थों का स्वरूप दृष्टिगोचर नहीं होता है। ठीक उसी तरह, उन पदार्थों की प्रतीति भी लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ग्रहण नहीं की जा सकती है; क्योंकि लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से कहीं सम्यक् प्रतीति होती है तो मृगमरीचिका में भ्रान्ति की प्रतीत होती है, 'स्थाणुर्वा पुरुषो वा' इत्यादि स्थल पर संशय की प्रतीति होती है तो कहीं रस्सी में सर्प के अध्यास की प्रतीति होती है। किन्तु काव्य-नाट्य-कलादि से उपस्थित पदार्थों की प्रतीति आस्वादन-संवेदन रूप होती है, जो लौकिक प्रत्यक्षादि प्रमाणों से ज्ञात प्रतीति से सर्वथा भिन्न है। इस प्रकार काव्य-नाट्य-कलादि से उपस्थित पदार्थों का स्वरूप अलौकिक है और उन स्वरूपों का ग्राहक प्रत्यक्षादि प्रमाण भी अलौकिक है। अतएव नाट्य-आदि में रामचरित देखने पर पहले रसास्वादन होता है और उसके बाद 'रामादि के समान आचरण करना चाहिए, रावणादि की तरह नहीं', इस प्रकार का बोध उत्पन्न होता है। इसीलिए आचार्य अभिनव गुप्त ने प्रमाण-मीमांसा करते हुए नाट्यादि से प्रस्तुत पदार्थ के स्वरूप- ग्राहक प्रमाण को अलौकिक स्वीकार किया है।

यहाँ अवधेय है कि भारतीय सौन्दर्य शास्त्र भावानुवर्तन-सिद्धान्त को स्वीकार करता है, जबकि इसके विपरीत योरोपीय-सौन्दर्यशास्त्र अनुकरण पक्ष का पक्षपाती है।

उनका कथन है कि 'कला-सौन्दर्य अपनी आकृति के स्वभाव और कलाकार के आत्मबोध को उजागर करता है।' इस प्रकार पाश्चात्यों की कलाकृति बोध प्रधान है, जबकि भारतीय सौन्दर्य रस-प्रधान या आस्वादन प्रधान है, उससे 'ऐसा करें और ऐसा न करें' इस प्रकार के बोध का उदय बाद में होता है।

योरोपीय सौन्दर्य सिद्धान्त में कलाकृति अनुकरणमूलक है। इसीलिए मध्यकाल में जब उनकी चित्रमूर्ति-निर्माण की परम्परा उत्कर्ष पर थी तब उसके बाद फ्रान्स-देश की कविता में अनुकृतिवाद, स्वभाववाद, यथार्थवाद और प्रतीकवाद का उदय तथा प्रसार हुआ था। इन वादों से प्रभावित कालखण्ड को 'आधुनिक युग' कहा जाता था, किन्तु इस समय आधुनिकतोत्तर युग में यथार्थवाद या अन्य वादों की न तो प्रधानता है और न कोई आग्रह है। इससे स्पष्ट है कि अनुकरणवाद कोई शाश्वत सिद्धान्त नहीं है।

आचार्य अभिनव गुप्त ने अनुकरणवाद के प्रत्येक पक्ष की बड़ी बारीकी से परीक्षा की है। उन्होंने कहा है कि अनुकरण तो पूर्वदृष्ट व्यक्ति या वस्तु का ही सम्भव है। नाट्य में विभावादि के रूप में प्रस्तुत रामादि को कभी किसी ने देखा नहीं है, अतः तत्सदृश अनुकरण करना सर्वथा असत्य है। पर हाँ, वर्तमानकालीन व्यक्ति के चरित पर आधारित नाटक भी सम्भव है। उस स्थिति में विभावादि रूप में प्रस्तुत वर्तमानकालीन व्यक्ति दृष्टपूर्व होने से उसका अनुकरण सम्भव है, परन्तु वह अनुकरण विकार के रूप में लिया जायेगा, जिससे दर्शक में हास उत्पन्न होगा, किन्तु अनुकार्य व्यक्ति में रोष-द्वेष उत्पन्न होगा। इसीलिए महेन्द्र विजयोत्सव में ब्रह्माजी के आदेश से भरतमुनि ने जब 'देवासुर संग्राम' नाटक आरम्भ किया तब अपना अनुकरण देखकर दैत्यों में महान् क्षोभ हुआ और वे अनेक विघ्न डालकर नाटक को बन्द करा दिये थे। अनुकरण उपहास का कारण होता है। भिन्न श्रेणी के भांड़ आदि अनुकरण प्रस्तुत कर हास्य का सृजन करते हैं। इससे जिसकी हंसी की जाती है, जिसका मजाक उड़ाया जाता है, उसके मन में क्षोभ उत्पन्न होता है, द्वेष-ईर्ष्या आदि कुभाव उत्पन्न होते हैं और वह वहां से उठकर चला जाता है। किन्तु नाटक में तो ऐसा नहीं होता, उससे किसी की विरति नहीं होती; अपितु सभी दर्शक नाटक का आनन्द लेते हैं। अतः अनुकरण को नाटक कहना सर्वथा अनुचित है।

यदि यह कहें कि किसी निश्चित व्यक्ति विशेष के अनुकरण को नाटक न कहें, किन्तु अनिश्चित सामान्य के अनुकरण को तो नाटक कह सकते हैं। इससे किसी व्यक्ति-विशेष को क्षोभ नहीं होगा। इस प्रश्न के उत्तर में आचार्य का कहना है कि ये दोनों ही नाटक नहीं है। इस प्रसंग में आचार्य ने निश्चित व्यक्ति-विशेष के अनुकरण को 'नियतानुकार' तथा अनिश्चित जन सामान्य के अनुकरण को 'अनियतानुकार' शब्द से व्यक्त किया है। नियतानुसार पक्ष के खण्डन में आचार्य का कथन है कि निश्चित अनुकार्य रामादि के हर्ष-शोक आदि चित्तवृत्तियों का अनुकरण नट नहीं कर सकता है, क्योंकि

रामादि के हर्ष-शोकादि का कारण भिन्न है और नट के हर्ष शोकादि का कारण अलग है। रामादि में तो वास्तविक हर्ष-शोकादि था, किन्तु नट में हर्ष-शोकादि वास्तविक नहीं है। यदि नट में वास्तविक हर्ष-शोकादि मान भी लिया जाय तो वह हर्ष-शोकादि वास्तविक हो जाते हैं, फिर उसे अनुकरण नहीं कह सकते हैं। अतः किसी निश्चित व्यक्ति-विशेष के अनुकरण अर्थात् नियतानुकार को नाट्य नहीं कह सकते हैं।

खण्डनीय दूसरा पक्ष है-'अनियतानुकार' अर्थात् अनिश्चित जन सामान्य का अनुकरण। वह सम्भव नहीं है, क्योंकि पूरे विश्व किंवा तीनों लोकों के लोग एक साथ उपस्थित हों और उन सबके अनुभावों का एक साथ अनुकरण किया जाय, यह सम्भव नहीं है। यदि उनमें से अलग-अलग एक-एक के हर्षादि अनुभावों का अनुकरण होगा तो वह 'नियतानुकार' की श्रेणी में आ जायेगा। इस असम्भव की स्थिति में अनियतानुकार अर्थात् सामान्यानुकरण को भी नाटक का स्वरूप नहीं कह सकते हैं। यहां पर आचार्य अभिनव गुप्त ने अपने गुरु भट्टतौत के काव्यकौतुक ग्रन्थ का उल्लेख करते हुए कहा है कि उन्होंने भी अनुकरणवाद को स्वीकार नहीं किया है। अतः काव्य, नाटक या कलाकृति को अनुकरणरूप मानना अनुचित है।

अवधेय है, यहाँ आचार्य ने 'नियतानुकार' पक्ष में तत्सदृश के अनुकरण का निषेध किया है, किन्तु तत्सजातीय के अनुकरण का खण्डन नहीं किया है। नाटकादि में विभाव रूप से प्रस्तुत अनुकार्य रामादि निश्चित व्यक्ति-विशेष में हर्ष-शोकादि अनुभाव के सदृश हर्ष-शोकादि भावों का अनुकरण अभिनेता नहीं कर सकता, किन्तु वह तत्सजातीय हर्ष-शोकादि अनुभावों का अनुकरण कर सकता है। यद्यपि अनुकार्य रामादि के हर्ष-शोकादि का कारण अलग है, अभिनेता नट के हर्ष-शोकादि का कारण भिन्न है, दर्शक के हर्ष-शोकादि का कारण पृथक् है; तथापि इन सबके हर्ष-शोकादि में हर्षत्व आदि जाति तो एक ही है, अतः ये सारे हर्ष-शोकादि समान जाति के होने के कारण 'सजातीय' अर्थात् एक प्रकार के हैं। इस प्रकार भूतकालीन अनुकार्य रामादि के हर्ष-शोकादि, वर्तमान नट के हर्ष-शोकादि तथा सामाजिक दर्शक के हर्ष-शोकादि सजातीय समान हैं, अत एव साधारणीकरण-व्यापार से रस-निष्पत्ति या नाट्यानन्द का अनुभव होता है। अतः सजातीय अनुभावों का अनुकरण होता है, यह स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं है। इसीलिए भरतमुनि ने कहा है-'सप्तद्वीपानुकरणं नाट्यमेतद् भविष्यति' अर्थात् इस नाटक में सात द्वीपों वाली इस पूरी धरती का सजातीय अनुकरण सम्भव है, किन्तु तत्सदृश का अनुकरण असम्भव है।

उपर्युक्त विवेचन से स्पष्ट है कि विभावादिरूप में प्रस्तुत अनुकार्य रामादि का तत्सदृश अनुकरण नाट्य में सम्भव नहीं है, अतः नाटक की 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' यह परिभाषा दोषपूर्ण है। इसीलिए भरतमुनि ने नाट्य की दूसरी परिष्कृत परिभाषा दी है-नाट्यं

भावानुकीर्तनम् (नाट्यशास्त्र-१, १०७)। नाट्य के विभावादि के रूप में प्रस्तुत रामादि के इतिवृत्त का कथन कीर्तन है और उसके बाद रंगमंच पर नट के रूप में जो अनुकथन है उसे भावानुकीर्तन कहते हैं। यह नाट्य का दूसरा पर्याय है। आचार्य अभिनव गुप्त ने इस अनुकीर्तन को ही यहाँ अनुव्यवसाय-विशेष कहा है, जिसे उन्होंने काश्मीर शैव दर्शन में प्रत्यवमर्श कहा है तथा पूर्ववर्ती आचार्य भर्तृहरि ने विमर्श या प्रत्यवमर्श शब्द से उसकी चर्चा की है।

यहां अवधेय है- भारतीय सौन्दर्यशास्त्र में काव्य, नाट्य अथवा कलाकृति वाग्-व्यापार से ही परिभाषित होते हैं। इस वाक् का अपना एक विशेष रूप है। नैयायिकादि सभी दार्शनिक इसके वैखरीरूप को तो स्वीकार करते हैं। किन्तु व्याकरणागम में उसके अतिरिक्त परा-पश्यन्ती-मध्यमा रूप को भी स्वीकार किया गया है, जिनका पर्यवसान विमर्श या प्रत्यवमर्श के रूप में होता है। अर्थात् विमर्श ही वाक् का अन्तिम वास्तविक रूप है। यह विमर्श अवबोध अर्थात् ज्ञान का प्रकाशक है, उसकी प्रतीति कराता है। यदि उस ज्ञान में विमर्श न रहे तो उस ज्ञान की प्रतीति नहीं होगी। अतः यह विमर्श शाश्वत है। इसके अभाव में विद्यमान ज्ञान भी प्रकाशित नहीं हो सकता, प्रतीति का विषय नहीं हो सकता है। व्यावहारिक सभी प्रतीतियों में इस विमर्श की अनिवार्य उपस्थिति रहती है। संसार में ऐसी कोई प्रतीति नहीं है जो विमर्शात्मक शब्द से अछूती रहती हो। अतः सारी प्रतीतियाँ विमर्श रूप शब्द से अनुविद्ध होकर ही प्रकाशित होती हैं। इसी को शब्दानुवेध अथवा विमर्श-संस्पर्श कहते हैं, जो प्रत्येक प्रत्ययात्मक ज्ञान में उपस्थित रहता है-

"वाग्रूपता चेदुत्क्रामेदवबोधस्य शाश्वती।
न प्रकाशः प्रकाशेत सा हि प्रत्यवमर्शिनी।"
'न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते।।" (वा.ब्र. ११५-११६)

उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि संसार के प्रत्येक ज्ञान में विमर्शरूपा वाक् अपने रूप को समेट कर सम्पृक्त रहती है। वाक् के इस सिमटे रूप को ही संहृत या उपसंहृत, अखण्ड या अस्फुट वाक् कहते हैं। इस संहृत या अस्फुट वाक् से जुड़े होने पर ज्ञान निर्विकल्पक अथवा अविकल्पक रूप में सुप्त रहता है अथवा प्रकाशित होने पर भी अस्फुट रहता है, वह कार्यकारी नहीं होता, उससे व्यवहार का निष्पादन नहीं होता है। किन्तु उस ज्ञान से जुड़ी हुई विमर्शरूपा वाक् जब सखण्ड या स्फुट होकर अपनी शब्दभावना का आविष्कार करती है, तब वह ज्ञान सविकल्पक होकर व्यवहार का सम्पादन करता है। इस स्थिति को एक दृष्टान्त से समझा जा सकता है- एक व्यक्ति किसी कार्य से जा रहा है। रास्ते में उसे हल्की ठोकर लगी, किन्तु वह उस पर ध्यान नहीं देता है, आगे बढ़ जाता

है और अपने निर्धारित काम को करके ही लौटता है। अथवा कोई सबेरे टहलने निकलता है। उसके घुटने में हल्की पीड़ा रहने पर भी वह बीच से नहीं लौटता, अपितु निर्धारित भ्रमण पूरा करने पर ही लौटता है। इन दोनों ही उदाहरणों में व्यक्ति को हल्की ठोकर अथवा हल्की पीड़ा का सविकल्पक ज्ञान हुआ, किन्तु वह कार्यकारी नहीं हुआ, उससे काम पर जाना या टहलना बाधित नहीं हुआ है। ऐसा क्यों? इसका एक मात्र यही कारण है कि 'ठोकर' या 'पीड़ा' की विमर्शरूपा शाब्दी भावना अस्फुट थी। उसकी अपेक्षा 'काम पर जाना' या 'टहलने' की शाब्दी विमर्श-भावना प्रबल और स्फुट थी। शाब्दी विमर्श-भावना की शक्ति का अनुपात जिस ज्ञान में अधिक था उस सविकल्पक ज्ञान ने व्यवहार का निष्पादन किया, किन्तु जिस ज्ञान में वह शाब्दी विमर्श-भावना अस्फुट या दुर्बल थी, सविकल्पक होने पर भी वह ज्ञान कार्यकारी अर्थात् व्यवहार-सम्पादक नहीं हो सका। इन सविकल्पक ज्ञानों के अतिरिक्त कभी अविकल्पक या अनाख्येय ज्ञान भी हुआ करते हैं, जिसमें संपृक्त विमर्शात्मक वाक् की शब्दभावना नितान्त अस्फुट और सर्वथा उपसंहृत रहती है। जैसे-रास्ते में चलते समय जेब से लेखनी गिर जाती है अथवा किसी दूकान पर सामान खरीदते समय मोबाइल वहीं छूट जाती है। ज्ञान तो ये भी हैं, जिन्हें हम अविकल्पक ज्ञान अथवा अनाख्येय ज्ञान कहते हैं। इन ज्ञानों में जुड़ी हुई वाक् की शाब्दी विमर्श-भावना सर्वथा अखण्ड, उपसंहृत अथवा सुप्त रहती है। अतः इस तरह के ज्ञानों की बिल्कुल प्रतीति नहीं होती है। इस प्रकार के ज्ञान अप्रकाशित ही रहते हैं।

आचार्य भर्तृहरि ने वाक् तत्त्व को विमर्शरूप में स्वीकार किया है, जिसकी सत्ता सभी लौकिक प्रतीतियों में सर्वथा अनुस्यूत रहती है। इसीलिए हरि वृषभ ने पद्धति व्याख्या में कहा है 'शब्दभावना-रूप विमर्श के होने पर संवेदन होता है'- अतः शब्द प्रकृति है और ज्ञान उसका विकार है। शब्द-प्रकृति में उसका आविर्भाव-तिरोभाव होते रहता है। नैयायिक इस सिद्धान्त के विपरीत हैं। उनका कहना है-'ज्ञान होने पर शब्द प्रयोग होता है।' अतः ज्ञान प्रकृति है और शब्द उसका विकार है।

अस्तु, भर्तृहरि ने वाक् के प्रसंग में विमर्श तत्त्व का बीजारोपण किया है तथा आचार्य अभिनव गुप्त ने काश्मीर शिवाद्वैत के आलोक में उसके स्वरूप को अधिक विस्तार दिया है। लौकिक ज्ञान में वह विमर्श वहाँ कृत्रिम अहन्ता है तथा आध्यात्मिक अनुभव में उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त होने पर वह परम अहन्ता के रूप में प्रतिष्ठित होता है। इसी प्रकार काव्य-नाट्य अथवा कलाकृति की रचना में भी वही विमर्श परम तत्त्व है। उसी तत्त्व के आधार पर आचार्य ने यहाँ नाट्यशास्त्र में 'भावानुकीर्तन' पद की विवेचना प्रस्तुत की है। यह भावानुकीर्तन 'विमर्श' पर आधारित है, जिसे हम 'अनुव्यवसाय विशेष' की संज्ञा दे सकते हैं। यह नैयायिकों के अनुव्यवसाय ज्ञान से भिन्न है, अतः इसे 'अनुव्यवसाय-विशेष' कहते हैं। क्योंकि यह सुख-दुःखात्मक चित्तवृत्ति में प्रकाशित आत्मानन्द अनुभवरूप है, जो

लोकोत्तर होता है अर्थात् इस अनुभव में लौकिक वस्तुओं का आस्वादन रसन या भोग नहीं होता है, अतः यह आनन्दानुभव अलौकिक और अनिर्वचनीय होता है। इसके विपरीत नैयायिकों के अनुव्यवसाय में लौकिक पदार्थ चित्तवृत्ति में प्रकाशित होते हैं, जैसे-घट का प्रत्यक्ष होने पर 'घटविषयक-ज्ञानवान् अहम्' इस प्रकार चित्त की वृत्ति में लौकिक 'घट' प्रकाशित होता है, अथवा नट में रामादि रूप का प्रत्यक्ष होने पर चित्तवृत्ति में लौकिक 'रामादि रूप' प्रकाशित होता है। किन्तु भावानुकीर्तन रूप अनुव्यवसाय में अलौकिक निजानन्दानुभव प्रकाशित होता है, अतः यह 'अनुव्यवसाय-विशेष' है। इसका विषयीभूत कार्य आनन्द का आस्वादनरूप व्यापार नाट्य कहलाता है।

आचार्य अभिनवगुप्त ने इस अनुव्यवसाय-विशेष की उत्पत्ति की प्रक्रिया भी समझाई है। तदनुसार अभिनेता नट पहले आहार्य अभिनय के द्वारा अपने नाम, रूप, देश और काल को छिपा लेता है। उसके बाद रंगमंच पर प्रस्तावना आदि के द्वारा उस नट में नये रामादि नाम, रूप, गुण और संस्कार का आधान या आरोपण किया जाता है। तदनन्तर सामाजिक दर्शक अभिनेता के नये रामादि नाम-रूप-गुण-संस्कार का प्रत्यक्ष करता है अथवा प्रत्यक्ष की तरह उसका परिचय प्राप्त करता है। उसके बाद अभिनेता नट संवाद-गीत-संगीत-नृत्य और वाद्यादि रंजक साधनों के माध्यम से दर्शकों का मनोरंजन करके उनसे तादात्म्य स्थापित करता है। इस प्रकार संवाद आदि मनोरंजन से दर्शक और अभिनेता में तन्मयीभाव हो जाने पर नट के अभिनय कौशल से यह अनुव्यवसाय-विशेष उत्पन्न होता है। सामाजिक दर्शक की चित्तवृत्ति में अनुव्यवसाय-विशेष के उत्पन्न होने की यही प्रक्रिया है।

इस प्रक्रिया से दर्शक के मन में एक विलक्षण आनन्द का अनुभव होता है, उस अनुभव को ही नाट्य कहते हैं। उस अनुभव में जो अनुभवन व्यापार है, उसे रसन-आस्वादन-चमत्कार-चर्वण-निर्वेश-भोग आदि पर्यायवाची शब्दों से अभिहित करते हैं। ये व्यापार अनुभव करने वाले दर्शक में रहते हैं। इस व्यापार से जिसका अनुभव होता है, उसे ही रस और उसे ही नाट्य कहते। इस प्रकार रस ही नाट्य है और नाट्य ही रस है, किन्तु दोनों में भेद की विवक्षा करके 'नाट्यरस' शब्द का व्यवहार होता है। इस नाट्य अथवा रस की सिद्धि के लिए कवि अपने काव्य या नाट्य में विभावादि का वर्णन-व्यापार करता है, इसी की सिद्धि के लिए अभिनेता आंगिक-वाचिक-सात्त्विक और आहार्य अभिनय-व्यापार करता है, इसी की सिद्धि के लिए रत्यादि भावों को उद्दीप्त करने वाला गायनादि-व्यापार होता है। इसी प्रकार अपने चित्र में रसात्मक सौन्दर्य को उभारने के लिए चित्रकार अपनी तूलिका से रंग भरने का व्यापार करता है। मूर्तिकार अपनी छेनी-हथौड़ी से व्यापार करके पत्थर में सौन्दर्य-रस प्रवाहित करता है। थवई अपनी करनी-बसुली से अनेक शैलियों के द्वारा भवन में स्थापत्य सौन्दर्य का आधान करने हेतु

अनेक व्यापार करता है। उक्त सभी कलाकारों के भिन्न-भिन्न व्यापारों को ही यहाँ भरतमुनि ने 'कीर्तन' शब्द से कहा है; क्योंकि दर्शन का 'करण' शब्द उन व्यापारों को बताने में समर्थ नहीं है। अतः मुनि उनके लिए 'कीर्तन' पद का प्रयोग करते हैं। अवधेय है, कीर्तन में व्यापारों का बार-बार आवर्तन होता है, जबकि करण में व्यापारों का आवर्तन नहीं होता है। उस कीर्तन को ही अभिनव गुप्त ने 'अनुव्यवसाय-विशेष' कहा है। इसमें सुख और दुःख से मिश्रित संवेदना और आत्मिक आनन्द भी प्रतीति ये दोनों अंश रहते हैं। इसीलिए इसको 'विशेष अनुव्यवसाय' कहा गया। इसके विपरीत लौकिक अनुव्यवसाय में एक ही अंश रहता है। अत एव काव्य-नाट्य-नृत्य-गीत तथा अन्य सभी कलाओं में कुछ अलग विलक्षण प्रतीति होती है, एक अलौकिक अनुभव होता है।

नाट्यादि सभी कलाओं को देखने-सुनने पर सहृदय दर्शक को बरवश एक अलौकिक आनन्द मिलता है, उनके सौन्दर्य में वह आत्मविभोर हो जाता है, एक विशेष प्रकार का रसास्वादन करता है। इस आनन्द, रसास्वादन अथवा सौन्दर्य का निष्पादक है भावानुकीर्तन। कवि, अभिनेता अथवा कलाकार इस भावानुकीर्तन का ही अनुष्ठान करते हैं, जिससे रसात्मक सौन्दर्य की सृष्टि होती है। इसीलिए आचार्य अभिनव गुप्त ने नाट्य को 'तद्वेदनवेद्य' कहा है। तद्=कलाकारों के वेदन=भावानुकीर्तन से रसस्वरूप या सौन्दर्य-स्वरूप नाट्य वेद्य होता है, आस्वादन का विषय बनता है। इस प्रकार रस या सौन्दर्य की अनुभूति ही नाट्य है। वस्तुतः काव्य, नाट्य अथवा कला की सृष्टि में किसी का उत्पादन या निर्माण नहीं होता, होता है केवल कीर्तन, वह कीर्तन भी केवल हर्ष-शोकादि भावों का। सारी क्रियाएं इन भावों में निलीन रहती हैं और ये भाव जगत् के सभी जीवों में निलीन रहते हैं। उन जीवों में अधिक, जो मनुष्य जाति के हैं। उनके अन्तःकरण-कुंजों में अनादिकाल से ये हर्ष-शोकादि भाव अधिक मात्रा में स्थायी और अस्थायी रूप से निवास करते हैं।

अवधेय है, भावों में उनकी प्रकृति के अनुसार आचार्यों ने तीन प्रकार के विभाजन किये हैं। उनमें रति-शोक आदि आठ या नव प्रकार के स्थायी भाव कहे गये हैं। जब वे स्थायी भाव कार्यरूप में परिणत होते हैं तब वे हर्ष-शोक आदि अनुभाव कहे जाते हैं तथा कुछ संचरण करने वाले शीघ्र परिवर्तनशील चिन्ता-लज्जा आदि तैंतीस संचारी भाव होते हैं। सजातीय होने से ये सारे 'भाव' कहे जाते हैं। ये भाव सभी मनुष्यों किंवा प्राणिमात्र में रहते हैं। कवि, काव्य और उसके श्रोता में भी ये भाव रहते हैं। इसी प्रकार नाट्यकाव्य में ये भाव रहते हैं और नाट्य के विभाव रामादि अनुकार्य में भी ये भाव थे। उस अनुकार्य का अनुकरण करने वाले अभिनेता नट और सभी दर्शकों में भी ये भाव रहते हैं। इस प्रकार सभी जगह, सभी काल और सभी इकाइयों में रहने वाले ये भाव कवि-काव्य और सहृदय श्रोता के बीच तथा नाट्यकाव्य-अनुकार्य-अनुकर्ता और सहृदय दर्शकों के बीच एक

सेतु का निर्माण करते हैं, उनमें तादात्म्य स्थापित कराते हैं। इस तादात्म्य के कारण ही रामादि चरित सुनने और देखने में दर्शक की प्रवृत्ति होती है। इन भावों के द्वारा स्थापित तादात्म्य के कारण ही इन भावों का साधारणीकरण होता है। उससे श्रोता और दर्शक की चित्तवृत्ति में जब भाव के निर्विशेष सामान्य रूप की अभिव्यक्ति होती है तब संविदानन्दमय रस का आस्वादन होता है अथवा आनन्दमय सौन्दर्य की प्रतीति होती है। इस प्रकार ये सारे भाव अपनी स्थिति से संविदानन्द और उससे भी परे परानन्द तक की यात्रा सम्पन्न करते हैं। इस यात्रा के अनेक पड़ाव हैं, जिन्हें क्रमशः पार करते हुए ये भाव अपने गन्तव्य को प्राप्त करते हैं। श्री महानय प्रकाश ग्रन्थ में भावों की इस यात्रा और उसके क्रमिक पड़ावों का वर्णन हुआ है। वर्णनपरक वह श्लोक 'महार्थमञ्जरी' ग्रन्थ में उद्धृत है। तदनुसार ये भाव चक्षुरादि इन्द्रियों की पकड़ से वृत्ति के पिंजरे में बँधते हैं। तदनन्तर वृत्ति उस पिंजरे को चित्त के पास पहुँचाती है, उसके बाद चित्त उसे संवेदन (प्रतीति) को समर्पित करता है और अन्त में संवेदन उसे व्योमा आनन्द में पहुँचाता है।

"भावा वृत्तिषु ताश्चित्ते चित्तं संविदि सा परे।
व्योम्न्यस्तङ्गतो यत्र क्रम उल्लङ्घनात्मकः।।"

(महानय प्रकाश, उद्धृत, महार्थमंजरी)

इस प्रकार 'परमे व्योमन्' आनन्द में पहुँचने पर यात्रा का क्रम समाप्त हो जाता है; क्योंकि वह 'परमानन्द' ही गन्तव्य है। भावों के रस रूप में परिणत होने की यह प्रक्रिया नितान्त वैज्ञानिक है, जो 'महानय प्रकाश' ग्रन्थ की मात्र एक कारिका से प्राप्त होती है।

प्रस्तुत प्रसंग में 'भावानुकीर्तन' शब्द के अर्थ-गाम्भीर्य पर थोड़ा विचार आवश्यक है। यहां भावों के बार-बार आवर्तन को भावानुकीर्तन कहा गया है। प्रत्येक आवर्तन से कुछ नये-नये अर्थों की सूचना मिलती है। इसीलिए आवर्तन किया जाता है। किसी के नाम के आवर्तन से भी नामार्थ के साथ नये अर्थ भी प्रकाशित होते हैं। जैसे-ए घुरहू, घुरहू जी, अरे घुरहुआ, इस प्रत्येक आवर्तन से कुछ नये अर्थ भी निकलते हैं। इसी तरह नये-नये अर्थों की सूचना देने के लिए काव्य, नाट्य, अभिनय या शिल्प-चित्र आदि कला में आवर्तन अथवा भावानुवर्तन किया जाता है। शास्त्रीय नृत्य, गायन और वादन में हम हमेशा इस आवर्तन को देखते और सुनते हैं। केरल के संस्कृतनाट्य 'कुडियाट्टम्' में इस भावानुकीर्तन का बहुत विस्तार देखने को मिलता है। चित्रकार अपनी रचना में एक मुख्य चित्र बनाकर विभिन्न भावों और अन्य अर्थों को सूचित करने के लिए मुख्य चित्र के चारों तरफ रेखाओं का आवर्तन करता है। इसी तरह मूर्तिकार भी प्रतिमा के चारों तरफ रेखाओं का आवर्तन करके अनेक भावों और अर्थों को उकेरना चाहता है। इस विवेचन से स्पष्ट है कि न केवल नाट्याभिनय में अपितु नृत्य-गीत-वाद्य-चित्र-शिल्पादि सभी कलाओं में नये-नये भावों और अर्थों को प्रकट करने के लिए भावानुकीर्तन अनिवार्य हो जाता है।

एक बात और है, भरत मुनि ने 'भावानुवर्तन' अथवा 'भावावर्तन' शब्द का प्रयोग न करके 'भावानुकीर्तन' शब्द का प्रयोग किया है। इस शब्द में प्रयुक्त 'कीर्तन' शब्द से दो विशेष ध्वनियाँ प्रकाशित होती हैं। पहली ध्वनि है 'अतिरंजना' या 'बड़ाई'। हम जिसका कीर्तन करते हैं, उस कीर्तनीय की बढ़-चढ़कर बढ़ाई बखानते हैं, उसमें अतिरंजना और अतिशयोक्ति का प्रयोग करते हैं। कलाकार सौन्दर्य या रस को उभारने के लिए अधिकृत कलाकृति अथवा भाव में सम्प्रति दृश्यमान यथार्थ आकृति या भाव की अपेक्षा अतिरंजना करके उस कलाकृति और भाव को प्रस्तुत करता है। उस अतिरंजित प्रस्तुति से वह कलाकृति अथवा भाव अधिक आकर्षक हो जाते हैं। जैसे गायन में मीड़ अर्थात् स्वर के कर्षण से अधिक सौन्दर्य अथवा श्रुति माधुर्य उत्पन्न होता है।

'अनुकीर्तन' से दूसरी ध्वनि 'अन्यथाकरण' की निकलती है। यदि प्रथम कीर्तन से कलाकृति या भाव में अभीष्ट सौन्दर्य या रस-प्रवाह की सम्भावना कम हो तो उस स्थिति में कलाकार या अभिनेता उकेरी गयी पहली लकीर को या भाव-प्रकार को बदल कर उसकी जगह अभीष्ट दूसरी रेखा या भाव-प्रकार का संचार करता है। इस प्रकार पूर्व प्रस्तुत कीर्तन का अन्यथाकरण कर देता है, उसे परिवर्तित कर देता है। जैसा कि महाकवि कालिदास ने कहा है-'यद्यत् साधु न चित्रे स्यात्, क्रियते तत्तदन्यथा' अर्थात् इस चित्र में जो रेखा सुन्दर नहीं है, सौन्दर्याधान करने में बाधक असमर्थ है, उसे अन्यथा कर देते हैं, बदल देते हैं। वस्तुत इस अन्यथाकरण से कवि, अभिनेता और कलाकार अपनी रचना में अलौकिकता का आधान करता है। लोक में सामान्य रूप से जो सौन्दर्य दिखाई पड़ता है अथवा जिस स्वरूप के दर्शन होते हैं, कलाकार अपनी रचना में उससे बढ़कर, उसमें लोकोत्तर स्वरूप का सन्धान करना चाहता है। इस प्रकार वह अपनी कला में अलौकिक रस और सौन्दर्य का उन्मीलन करता है।

वस्तुतः कवि और कलाकार भावानुकीर्तन के माध्यम से काव्य-नाट्य-संगीत-चित्र-प्रतिमादि सभी कलाओं में रस प्रतीति की संभावनाओं का उन्मीलन करता है और भारतीय सौन्दर्य दृष्टि का एक विशेष स्वरूप प्रकाशित करता है। इस प्रकार यदि सौन्दर्य रस है तो भावानुकीर्तन उसके प्रकाशन की विधि है। रस और भावानुकीर्तन ये दोनों ही सिद्धान्त भारतीय सौन्दर्यदर्शन को पश्चिमी सौन्दर्य दर्शन से अलग करते हैं। पश्चिमी सौन्दर्य दर्शन में तो अनुकरण-सिद्धान्त प्रचलित है, जिसे भारतीय सौन्दर्यदर्शन-परम्परा अभिधास्थानीय मानती है तथा भावानुकीर्तन को व्यंजना के राजसिंहासन पर प्रतिष्ठापित करती है। यही कथन केरलीय नाट्यशास्त्र के प्रकाण्ड पण्डित पिषारटिस का भी है, जहाँ आज भी भरत मुनि की नाट्य-परम्परा विलास-वैभव के साथ प्रतिष्ठित है।

भरत मुनि की नाट्यशास्त्रीय नाट्यधर्मी रसधारा संस्कृत नाट्य-परम्परा को आकण्ठ आप्लावित करती हुई आज की लोकधर्मी नाट्य-परम्परा में भी अक्षुण्ण प्रवाहित

हो रही है। दृष्टान्त के रूप में कविकुलगुरु कालिदास की चर्चा हम पहले कर सकते हैं। कालिदास के मालविकाग्निमित्रम् नाटक के दूसरे अंक में रंगमंच पर नायिका मालविका का नृत्य नायक में अनुराग अंकुरण के लिए छलित प्रयोग के रूप में आयोजित होता है। नृत्य प्रयोग के बाद परिषद् उस प्रयोग की समीक्षा करती है। तदनुसार उस नृत्य प्रयोग में नाट्यशास्त्रीय सूचाभिनय का प्रदर्शन हुआ था जिसमें आंगिकाभिनय से ही अभीष्ट अर्थ भलीभाँति सूचित हो जाता है। उस नृत्य में लयानुसारी पाद-प्रक्षेपण और रसों में तन्मयता सबको आनन्दित कर रही थी। उस नृत्य में अंगुलियों से विभिन्न मुद्राओं का प्रदर्शन, जिसे शाखाभिनय कहते हैं, नितान्त कोमल था। नृत्य में अनेक भावों का अनुकीर्तन हो रहा था, जिसमें एक भाव दूसरे भाव को आगे करके अंकुराभिनय का प्रदर्शन कर रहे थे। इस प्रकार नटी में अनेक भावों का अंकुरण होने पर भी उसके मुख पर रंजकता बनी हुई थी।

"अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः,
पादन्यासो लयमनुगतस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ,
भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव।।२.८।।

परिषद् की इस समीक्षा में नाट्यधर्मी अनेक प्रयोगों की कला के मोहक प्रदर्शन का उल्लेख हुआ है। जैसे-आंगिकाभिनय, सूचाभिनय, अंकुराभिनय, शाखाभिनय, भावानुकीर्तन, मुखराग-बन्ध और साधारणीकरण से रसानन्द का आस्वादन। इस प्रकार कालिदास ने अपने एक पद्य से नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्त और नाट्यधर्मी प्रयोगों के कलासंगम पर पहुँचा कर सहृदयों को सौन्दर्य का दुर्लभ दर्शन करा दिया है। केरल की 'कुडियाट्टम्' नृत्य-शैली तो सूचाभिनय की खान है, जिसकी चर्चा पहले भी की गयी है।

महाकवि कालिदास नाट्यशास्त्र के प्रकाण्ड-पण्डित भी थे। उन्होंने 'कुमारसम्भवम्' महाकाव्य के सातवें सर्ग में पार्वती-परमेश्वर के परिणय-प्रसंग पर 'करण' और 'अंगहार' नृत्य की चर्चा की है। भरतमुनि ने चौथे अध्याय में नृत्याभिनय में करण और अंगहार का वर्णन किया है। हस्त और पाद के विशेष विन्यास से करण नृत्य की रचना की जाती है। इस प्रकार वहाँ १०८ करण के प्रकारों का वर्णन हुआ है। नृत्य में तीन से अधिक करणों का एक साथ प्रदर्शन करने पर अंगहार नृत्य की रचना होती है। वहां ३२ अंगहारों की रचना का वर्णन मिलता है। इसी प्रकार अभिनय में ध्रुवा-गान भी रंजक होने से अनिवार्य अंग है। ध्रुवाएँ पाँच प्रकार की होती हैं। रंगमंच पर अभिनय के साथ-साथ पीछे से प्रसंगानुसार संगीत होता है, जिसके स्वर और ताल अभिनय में आधार भूमि का निर्माण करते हैं। भरतमुनि ने २८वें अध्याय में ध्रुवा-गान का विवेचन किया है। महाकवि कालिदास ने 'विक्रमोर्वशीयम्' नाटक के चौथे अंक में ध्रुवा-प्रयोग को नाट्य मंचन का अनिवार्य अंग

बताया है और 'अभिनय को ध्रुवा का अनुसरण अवश्य करना चाहिए' इस सिद्धान्त का भी संकेत किया है।

नाट्यशास्त्रीय समीक्षा-परम्परा में दामोदर गुप्त का नाम भी उल्लेखनीय है। उन्होंने नवीं शताब्दी में 'रत्नावली' नाटिका के चतुर्थ अंक की शास्त्रीय समीक्षा की थी। यह नाटिका उस समय काशी के शिवालय में मंचित की गयी थी। नाटक की प्रयोगपरक समीक्षा करने वाले आचार्यों में महामहेश्वर अभिनव गुप्त, शारदा तनय, शाङ्गदेव, कल्लिनाथ आदि महनीय नाम हैं। आधुनिक युग में डा० कपिला वात्स्यायन ने अपनी पुस्तक Bharata : The Natyasastra में नाट्यधर्मी संस्कृत नाट्य-परम्परा का देशव्यापी प्रामाणिक सर्वेक्षण प्रस्तुत किया है। इसमें उन ग्रन्थों का भी विशद विवेचन हुआ है जो नाट्यशास्त्र के आधार पर नाट्य और नृत्य का प्रान्तीय लोकधर्मी स्वरूप प्रस्तुत करते हैं।

वस्तुतः संस्कृत नाट्य परम्परा का विकास और प्रसार लोकनाट्य शैली में हुआ है, जो देश के सभी क्षेत्रों में फैली हुई हैं। इन्हें हम लोकधर्मी नाट्य-परम्परा कहते हैं। यह परम्परा भी उतनी ही पुरानी है जितनी नाट्यधर्मी। इन दोनों ही परम्पराओं में परस्पर संवाद-गीत-नृत्य और संगीत का आदान-प्रदान होता रहा है। इसीलिए भरत मुनि ने नाट्यशास्त्र में नाट्यधर्मी और लोकधर्मी दोनों परम्पराओं का उल्लेख किया है। ये दोनों ही परम्पराएँ भारतीय नाट्य के स्वरूप को ही प्रदर्शित करती हैं। जापान से लेकर भारतवर्ष तक, किंवा पूरे एशिया महाद्वीप के देशों में, विशेषकर इण्डोनेशिया क्षेत्र के बाली द्वीप में नाट्य की विविध शैलियाँ विकसित हैं और आज भी आदिवासी, जनवासी और नगरवासी सामाजिक दर्शकों का मनोरंजन करती हैं, वे सब भारतीय नाट्यशास्त्रीय परम्परा की प्रतिनिधि हैं। इस प्रकार भरतमुनि का नाट्यशास्त्र और संस्कृतनाट्य-परम्परा परिवर्तित विविध स्वरूपों में आज भी सामाजिकों के मनोरंजन का सुन्दर साधन है। भरत मुनि के द्वारा प्रवाहित रसधारा के हजारों घाटों पर समाज आज भी अवगाहन का आनन्द ले रहा है।

इस अवसर पर स्वर्गीय आचार्य बलदेव उपाध्याय जी के श्री चरणों में श्रद्धा की पुष्पांजलि अर्पित करते हुए महान् प्रमोद हो रहा है; क्योंकि उनकी ललित कल्पना आज पूरे आभरण के साथ साकार हो रही है।

भूमिका अनुवादक

श्री गंगा दशहरा-२०७६
१२ जून २०१९, बुधवार
दूरभाष : ९४५४३१८०१५
ईमेल-Prof.azadmishra@gmail.com

प्रो० आजाद मिश्र 'मधुकर'
२/२३९ विरामखण्ड, गोमती नगर
लखनऊ-२२६०१०

संस्कृतवाङ्मय का बृहद् इतिहास

संस्कृत नाट्य-खण्ड (षष्ठ खण्ड)

विषय-सूची

निदेशकीय-निवेदन ३-५

आभार वक्तव्य ६-८

भूमिका (संस्कृत) ९-२१

भूमिका-नाट्यशास्त्र और संस्कृतनाट्य २२-४०

विषयसूची ४१-४७

संस्कृत नाटक का उद्भव १-२३

(१) वैदिक यज्ञ तथा नाटक की पारस्परिकता १, (२) संवादसूक्त ६, (३) ऋग्वेद में कला-परम्परा के विकास के प्रमाण ७, (४) नाट्यशास्त्र का प्रमाण ८, (५) रङ्गदैवतपूजन तथा पूर्वरङ्ग की विधि : याज्ञिक कर्मकाण्ड से समरूपता ९, नाटक की विकासयात्रा का द्वितीय चरण : उत्तरवैदिक युग ११, नाटक का परवर्ती विकास : जैन और बौद्ध युग १६, नाटक का उत्कर्ष : मौर्ययुग से विक्रम की परवर्ती शताब्दियों में १९, कौटिल्य के अर्थशास्त्र के साक्ष्य १९, कामसूत्र का साक्ष्य २०, पतञ्जलि का उल्लेख २१, हरिवंशपुराण में नाट्याभिनय के विवरण २१, नाटकों की आरम्भिक प्रस्तुतियां : नाट्यशास्त्र का साक्ष्य २२, ग्रीकनाटक से सम्पर्क २३।

भास २४-४६

परिचय २४, भास का काल २५, भास के रूपक २६, प्राचीन कवियों व आचार्यों द्वारा भास का उल्लेख २७, घटकर्पर, धावक तथा भास की अभिन्नता ३०, स्वप्नवासवदत्तम् ३०, प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्

३३, दरिद्रचारुदत्त ३५, अविमारक ३५, महाभारताश्रित रूपक ३६, रामायणाश्रित नाटक ३९, बालचरित ४१, भास की नाट्यकला ४२, भास की काव्यकला ४४, भास और नाट्यशास्त्र ४५।

महाकवि कालिदास : नाटक एवं नाट्यकला

४७-७६

जीवन-परिचय ४७, काल ४७, स्थान ४९, व्यक्तिगत जीवन ४९, कालिदास की रूपकत्रयी ५१, मालविकाग्निमित्रम् ५१, कथानक ५१, नाट्यकला ५२, प्रेम एवं सौन्दर्य ५३, रसयोजना ५५, निष्कर्ष ५७, विक्रमोर्वशीयम् ५८, संस्करण एवं कथानक ५९, रस-योजना ६०, प्रकृति-चित्रण ६४, ध्रुवाप्रयोग ६६, अभिज्ञानशाकुन्तलम् ६६, कथानक ६७, मूलकथा में कविकृत परिवर्तन ६८, संस्करण एवं टीकाएँ ६९, रसयोजना ७०, चरित्र-चित्रण ७३, नाट्यकला ७४, कालिदासीय नाट्यत्रयी : तुलना ७५।

महाकवि अश्वघोष

७७-१३१

जीवन-वृत्तान्त ७८, समय निर्धारण ८४, ग्रन्थोल्लेख ८५, (१) महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र ८६, सूत्रालङ्कार ८६, वज्रसूची ८७, स्मृतिग्रन्थ ८८, गण्डीस्तोत्र गाथा ८८, महाकाव्य ८८, संक्षिप्त वर्ण्यविषय ८९, सौन्दरनन्द ९०, सौन्दरनन्द सर्गानुसार संक्षिप्त वृत्तान्त ९०, अश्वघोषकृत दृश्य काव्य ९३, उर्वशी-वियोग ९३, राष्ट्रपाल ९४, शारिपुत्र-प्रकरण ९४, नाट्यावशेषद्वय ९५, प्रथम रूपकावशेष ९६, द्वितीय रूपकावशेष ९६, बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व ९७, (क) धार्मिक दृष्टि ९७, (ख) भक्ति भावना ९८, (ग) वैदिक धर्म के प्रति आस्था ९९, आर्य सत्य १०६, प्रतीत्य समुत्पाद १०६, (ङ) हितोपदेश ११०, (च) व्याकरणविद् ११२, (छ) कुशल कलाविद् एवं काव्य-समीक्षा ११३, पात्र-चरित चित्रण १२४, शाक्य राज्य-शुद्धोदन १२६, महारानी माया १२६, सिद्धार्थ १२७, नन्द-विमातृज १२८, यशोधरा १२८, सुन्दरी १२९।

शूद्रक : मृच्छकटिक १३२-१५३

मृच्छकटिकम् की प्रस्तावना से शूद्रक-चरित पर प्रकाश १३४, दरिद्रचारुदत्त और मृच्छकटिक १३५, निष्कर्ष १३७, कथावस्तु १३८, संविधान १४०, चरित्रसृष्टि १४३, रस १४५, रङ्गमञ्च १४६, भाषा-शैली १४७, पाण्डित्य १५०, काव्यसौन्दर्य १५१, पारम्परिक समीक्षा में मृच्छकटिक १५३।

चतुर्भाणी १५४-१७३

संस्करण तथा अनुवाद १५४, कालनिर्णय १५५, चतुर्भाणी की विषयवस्तु १५८, शैली १६१, यथार्थ और यथार्थदृष्टि १६१, चतुर्भाणी की भाषा १६६, काव्यसौन्दर्य १७०, छन्दोविधान १७२, भाणकारों की व्युत्पत्ति १७२, रससृष्टि १७३।

भगवदज्जुकीयम् तथा मत्तविलासम् १७४-१८६

भगवदज्जुकम् १७४, रचनाकार तथा रचनाकाल १७४, वस्तुयोजना १७६, वस्तुवैशिष्ट्य १७८, पात्रवैशिष्ट्य १७९, भाषाशैली तथा संवाद १७९, छन्दोविधान १८१, शार्वानिकला १८१, रङ्गमञ्च १८२, मत्तविलासप्रहसन १८२, रचनाकाल १८३, संस्करण तथा टीकाएँ और अनुवाद १८३, पौर्वापर्यविचार १८३, कथावस्तु १८४, वस्तुवैशिष्ट्य १८५, "भगवदज्जुकीयम्" से साम्य १८७, भाषा, शैली और छन्दोविधान १८७, "मत्तविलास" का रङ्गमञ्च १८८, शार्वानिकला १८८।

विशाखदत्त १९०-२११

पौर्वापर्य १९०, समय १९०, निवास-स्थान १९२, रचनाएँ १९३, राघवानन्द १९३, अभिसारिकावञ्चितकम् १९५, देवीचन्द्रगुप्तम् १९६, वस्तुयोजना १९६, संवादयोजना १९७, भाषाशैली १९९, मुद्राराक्षस २००, कथावस्तु २००, कथावस्तु के स्रोत २०२, कथावस्तु का नाट्यशास्त्रीय विश्लेषण २०३, मुद्राराक्षस के वस्तुविधान पर अर्थशास्त्र

का प्रभाव २०४, चरित्रचित्रण २०५, रस २०७, भाषा-शैली तथा संवादयोजना २०८, विशाखदत्त की व्युत्पत्ति २११, विशाखदत्त का रङ्गमञ्च २११, मूल्यांकन २१२।

महाकवि भवभूति २१४-२५७

भवभूति और उम्बेक २१६, भवभूति से भिन्न मण्डन, सुरेश्वर और विश्वरूप २२२, भवभूति का स्थान २२२, उत्तररामचरितम् २२७, (१) अनावश्यक विस्तार २३२, (२) अप्रचलित प्रयोग २३३, (३) अनुचित प्रयोग २३३, (४) अन्वितिभङ्ग २३३, महावीरचरितम् २४६, मालती माधव २५१।

महाकवि श्रीहर्षवर्धन २५८-३०१

जीवन परिचय २५८, श्रीहर्षवर्धन का शासन प्रबन्ध २६२, श्रीहर्ष की धार्मिक भावना २६३, श्रीहर्षवर्धन का विद्यानुराग २६५, हर्षवर्धन का अनुभाव (व्यक्तित्व) २६५, श्रीहर्षवर्धन का स्थितिकाल २६६, श्रीहर्षवर्धन की कृतियाँ २६८, तीनों रूपकों में परस्पर साम्य तथा उनका एककर्तृत्व २६९, प्रियदर्शिका और रत्नावली में समानता २७०, प्रियदर्शिका और नागानन्द में समानता २७१, रत्नावली और नागानन्द में समानता २७१, श्रीहर्षवर्धन ही इन तीनों रूपकों के कर्ता २७२, श्रीहर्षवर्धन के रूपकों का कथानक २८०, प्रियदर्शिका (नाटिका) २८०, प्रथम अङ्क - २८०, द्वितीय अङ्क २८०, तृतीय अङ्क २८१, चतुर्थ अङ्क २८१, 'प्रियदर्शिका' की कथा का मूलस्रोत २८२, रत्नावली (नाटिका) २८२, प्रथम अङ्क २८२, द्वितीय अङ्क २८३, तृतीय अङ्क २८४, चतुर्थ अङ्क २८४, रत्नावली की कथा का मूलस्रोत २८५, नागानन्द (नाटक) की कथा २८५, प्रथम अङ्क २८५, द्वितीय अङ्क २८६, तृतीय अङ्क २८६, चतुर्थ अङ्क २८७, पञ्चम अङ्क २८७, नागानन्द की कथा का मूलस्रोत २८८, नाट्यकृतियों की समीक्षा २८८, प्रियदर्शिका २८९, रत्नावली २९०, नागानन्द २९२, रसयोजना २९३, श्रीहर्षवर्धन का नाट्यकला २९५, भाषा-शैली २९७, श्रीहर्ष का प्रकृति-चित्रण २९८, श्रीहर्षवर्धन की प्रशस्तियाँ ३०१।

सट्टक-परम्परा ३०२-३१३

सट्टक का लक्षण (स्वरूप) ३०३, सट्टक का उद्भव और विकास ३०७, कर्पूरमञ्जरी ३०८, रम्भामञ्जरी ३१०, चन्द्रलेखा ३११, विलासवती ३११, शृङ्गारमञ्जरी ३१२, आणंदसुन्दरी ३१२।

कविराज राजशेखर ३१४-३४४

चरित्र-चित्रण, ३३६, मुरारि का प्रभाव ३३६।

नाटिका ३४५-३८०

शिल्पविद्या ३४५, प्रियदर्शिका ३४६, रत्नावली ३४७, मूल्याङ्कन ३४६, राजशेखर ३५१, ग्रन्थ ३५२, विद्धशालभञ्जिका ३५२, मूल्याङ्कन ३५३, विल्हण ३५५, कर्णसुन्दरी ३५५, मूल्याङ्कन ३५६, मदनवाल सरस्वती ३५६, पारिजातमञ्जरी ३५७, कथानक ३५७, मूल्यांकन ३५८, हस्तिमल्ल ३५८, सुभद्रा नाटिका ३५६, मूल्याङ्कन ३५६, कविराज विश्वनाथ ३६०, चन्द्रकला नाटिका ३६१, मूल्याङ्कन ३६२, शिङ्गभूपाल ३६३, मथुरादास ३६४, विश्वनाथभट्ट ३६५, विश्वनाथदेव ३६६, कथानक ३६६, वैद्यनाथ ३६७, अज्ञातकर्तृक इन्दुलेखा नाटिका ३६७, भट्टश्रीभवनुतचूड ३६८, वीरराघव ३६८, मलयजा कल्याण नाटिका ३६८, कथावस्तु ३६८, विश्वेश्वर पाण्डेय ३६६, नवमालिका नाटिका ३७०, कथानक ३७०, अनादि मिश्र ३७१, मणिमाल नाटिका ३७१, कथावस्तु ३७२, सट्टक ३७३, कर्पूरमञ्जरी ३७३, मूल्याङ्कन ३७४, रम्भामञ्जरी ३७६, कथानक ३७६, चन्द्रलेखा ३७७, विलासवती ३७८, आनन्दसुन्दरी ३७८, कथानक ३७६, शृङ्गारमञ्जरी ३७६।

रामकथाश्रित नाटक ३८१-४१२

शक्तिभद्र ३८१, आश्चर्यचूडामणि ३८२, धीरनाग ३८५, कुन्दमाला ३८५, मायुराज (अनङ्गहर्ष) ३८७, उदात्तराघव ३८७, दामोदर मिश्र ३८८, महानाटक ३८८, मुरारि ३६०, अनर्घराघव ३६१, कथानक ३६१, मूल्याङ्कन ३६३, जयदेव ३६४, प्रसन्नराघव ३६४, मूल्याङ्कन

३९६, महादेव ३९७, अद्भुत दर्पण ३९७, रामभद्र दीक्षित ३९९, जानकीपरिणय ३९९, कतिपय प्राचीन लुप्त रामकथाश्रित नाटक ४००, यशोवर्मा ४००, रामाभ्युदय ४००, कृत्यारावण ४०२, छलितराम ४०४, जानकीराघव ४०५, राघवाभ्युदय ४०७, रामानन्द ४०९, मायापुष्पक ४१०, राघवानन्द ४११, स्वप्नदशानन ४११, अभिजातजानकी ४११, अभिनवराघव ४१२, मारीचवञ्चित ४१२, रामविक्रम ४१२।

कृष्णकथाश्रित नाटक ४१३-४३३

रूपगोस्वामी ४१३, स्थितिकाल ४१४, कृतियाँ ४१५, विदग्धमाधव ४१५, ललितमाधव ४१९, रामकृष्ण ४२३, गोपालचन्द्रिका ४२३, मधुसूदन सरस्वती ४२४, कृष्णकुतूहल ४२५, कथा का मूल स्रोत ४२७, शेषकृष्ण ४२८, कंसवध ४२९, मूल्यांकन ४३०, गोविन्दवल्लभ नाटक ४३०, रुक्मिणीपरिणय ४३१।

जैन संस्कृत नाटक ४३४-४९३

१. विबुधानन्दनाटकम् ४३६, रामचन्द्र सूरि का नाट्य-वाङ्मय ४३८, ३. नलविलास ४४२, ४. मल्लिकामकरन्द ४४४, ५. कौमुदीमित्राणन्द ४४५, ६. रघुविलास ४४७, ७. निर्भयभ्रमव्यायोग ४४९, ८. रोहिणमृगाङ्क ४५०, ९. राघवाभ्युदय ४५१, १०. यादवाभ्युदय ४५२, ११. वनमाला ४५३, १२. चन्द्रलेखाविजय प्रकरण ४५४, १३. प्रबुद्धरौहिणेय ४५५, १४. द्रौपदीस्वयंवर ४५७, १५. मोहराजपराजय ४५८, प्रथम अङ्क में ४६०, मुद्रितकुमुदचन्द्र ४६२, धर्माभ्युदय ४६४, १८. शामामृत ४६५, २०. करुणावज्रायुध ४६९, हस्तिमल्ल और उनका नाट्यवाङ्मय ४७३, अञ्जनापवनञ्जय ४७६, सुभद्रानाटिका ४७९, प्रथम अङ्क ४७९, द्वितीय अङ्क ४८०, तृतीय अङ्क ४८०, चतुर्थ अङ्क ४८१, विक्रान्तकौरव ४८२, प्रथम अङ्क ४८२, द्वितीय अङ्क ४८२, तृतीय अङ्क ४८३, चतुर्थ अङ्क ४८३, पञ्चम अङ्क ४८४, षष्ठ अङ्क ४८४, मैथिलीकल्याण ४८५, प्रथम अङ्क ४८५,

तृतीय अङ्क ४८६, चतुर्थ अङ्क ४८७, पञ्चम अङ्क ४८७, ज्योतिष्प्रभानाटक ४८८, रम्भामञ्जरी ४९०, ज्ञानचन्द्रोदय नाटक ४९२, ज्ञानसूर्योदयनाटक ४९२।

प्रतीक नाटक ४९४-५१७

कृष्णमिश्र ४९४, प्रबोध चन्द्रोदय ४९५, वैशिष्ट्य ४९६, प्रबोधचन्द्रोदय ४९७, यशःपाल ४९८, मोहराज पराजय ४९८, वेंकटनाथ ५००, संकल्पसूर्योदय ५००, कर्णपूर ५०१, चैतन्य चन्द्रोदय ५०१, अमृतोदय ५०३, कथावस्तु ५०३, धर्मविजय ५०५, जीवन्मुक्ति कल्याण नाटक ५०५, रचनायें ५०६, कथानक ५०६, शिवलिङ्ग सूर्योदय नाटक ५०७, कथावस्तु ५०७, विद्यापरिणय ५०८, जीवानन्दन नाटक ५१०, कथानक ५१०, भाग्यमहोदय नाटक ५११, कथावस्तु ५११, पूर्णपुरुषार्थ चन्द्रोदय ५१२, कथावस्तु ५१२, पुरञ्जनचरित नाटक ५१३, कथावस्तु ५१४, विवेकमिहिर नाटक ५१४, कथावस्तु ५१५, विवेकचन्द्रोदय ५१६, कथावस्तु ५१६, अनुमिति परिणय नाटक ५१७, कथानक ५१७।

वत्सराज के रूपक ५१८-५२७

वत्सराज ५१८, रचनाएं ५१८, कर्पूरचरित ५१९, हास्यचूडामणि ५२०, त्रिपुरदाह ५२२, किरातार्जुनीय ५२४, रुक्मिणीहरण ५२५।

वत्सराज का समुद्रमन्थन तथा अन्य परवर्ती कवि के समवकार तथा रूपक प्रकार ५२८-५३४

समुद्रमन्थनम् (या अम्भोधिमन्थनम्) समवकार ५३१, शक्तिनन्द समवकार-३ अङ्क ५३४, कथावस्तु ५३४।

विषयानुक्रमणिका ५३५-५६८

देवानामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषम्,
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते,
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्।।

(कालिदास)

संस्कृत नाटक का उद्‌भव

- राधावल्लभ त्रिपाठी

संस्कृत नाटक की उत्पत्ति कैसे हुई? इस प्रश्न के उत्तर में विद्वानों के द्वारा अलग-अलग मत प्रकट किये जाते रहे हैं। मैक्डॉनल प्राचीन काल में प्रचलित नृत्य से इसका उद्‌भव मानते हैं।[1] शंकर पाण्डुरंग पण्डित ने १८७७ ई० में पुत्तलिकानाट्य से संस्कृत नाटक की उत्पत्ति का सिद्धान्त प्रस्तुत किया था, पिशेल ने कुछ समय के पश्चात् इनके मत का पुनः प्रतिपादन किया और इसके साथ ही इसमें छायानाट्य से संस्कृत नाटक के जन्म लेने की सम्भावना पर भी उन्होंने विचार किया। ए०बी० कीथ[2] तथा मनमोहन घोष[3] इतिहास-काव्यों (रामायण और महाभारत) के कुशीलवों आदि के द्वारा कथागायन से संस्कृत नाटक का विकास मानते हैं, जिसकी प्रक्रिया पर विस्तृत विचार आद्यरंगाचार्य (आर०पी० जागीरदार) ने किया है।[4] इन सभी मतों में आंशिक सचाई है, जब कि कुछ विद्वानों ने आर्येतर स्रोतों से संस्कृत नाटक के उद्‌भव का सिद्धान्त प्रस्तुत किया है, जो प्रामाणिक नहीं है।

वि०सं० १९२६ (१८६९ ई०) में मैक्समूलर ने ऋग्वेद के एक सूक्त (१/१६५) कर अनुवाद करते हुए अपना यह अनुमान व्यक्त किया था कि इस सूक्त का यज्ञ के अनुष्ठान के अवसर पर दो दलों के द्वारा अभिनय किया जाता होगा, जिनमें एक दल इन्द्र का और दूसरा मरुद्‌गणों का प्रतिनिधि बनता था। आगे चलकर सिल्वां लेव्ही ने इस अनुमान का समर्थन किया तथा मैक्डानल ने इस दृष्टि से वैदिक संवाद सूक्तों में भी नाटक के उद्‌भव की संभावना मानी।[5]

भारतीय परम्परा में वैदिक साहित्य में नाटक के उद्‌भव के जितने सुस्पष्ट संकेत और प्रमाण मिलते हैं, उतने अन्यत्र कहीं नहीं मिलते, जो निम्नलिखित तथ्यों से स्पष्ट हैं :-

(१) वैदिक यज्ञ तथा नाटक की पारस्परिकता -

यदि वैदिक यज्ञ के स्वरूप पर विचार किया जाय, तो नाट्य उसमें अन्तर्गभित लगता है। महाभारत में दिलीप के यज्ञ का विवरण मिलता है, जिसमें बताया गया है कि

---

१. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर : मैकडानल, पृ. ३४६
२. संस्कृत ड्रामा : ए० बी० कीथ, पृ. १३-१४
३. कांट्रीब्यूशन टू दि हिस्ट्री आफ इण्डियन ड्रामा : मनमोहन घोष पृ. ११-१७
४. ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर : आर० बी० जागीरदार, पृ० ३८-४१
५. हिस्ट्री आफ संस्कृत लिटरेचर : मैकडानल, पृ. ३४६-४७

यज्ञ में निर्मित यूप (स्तम्भ) के चारों ओर इन्द्र आदि देवों तथा गन्धर्वों ने नृत्य किया था और विश्वामित्र ने वीणा बजायी थी।[१] वस्तुतः याज्ञिक कर्मकाण्ड वैदिक आर्यों की रचनात्मक गतिविधि का एक सक्रिय मंच भी था, और उनके आन्तरिक उल्लास की अभिव्यक्ति का माध्यम भी। इसमें हमारी कला परम्परा के बीज न केवल रोपे गये, इन्हें अंकुरित, पल्लवित और पुष्पित भी किया गया। यजुर्वेद के उल्लेख के अनुसार यज्ञ में गायन के लिये शैलूष तथा नृत्त के लिये सूत को आमन्त्रित किया जाता था।[२] वाजपेय तथ पितृमेध आदि यज्ञों में समाज के सभी वर्गों के लोग बुलाये जाते थे। श्रौतसूत्रों के उल्लेखों या विवरणों से पता चलता है कि पितृमेध यज्ञ में नृत्त, गीत तथा वादित्र का आयोजन होता था, आयस वाद्य बजाये जाते थे, जिनके साथ-साथ अमात्यों के परिक्रमण को संयोजित किया जाता था।[३] वाजपेय यज्ञ में यजमान की पत्नियां विभिन्न प्रकार की वीणाएं बजाती थीं, जिनके साथ अन्य वाद्यों की संगत की जाती थी, इन वीणाओं के नाम भी सूत्रकार ने गोधावीणा तथा काण्डववीणा दिये हैं। वीणावादन यज्ञ का एक अनिवार्य अंग बन गया था। वाजपेय यज्ञ में वीणा बजाने के लिए कुशल आचार्य भी बुलाये जाते थे, जिन्हें वीणागणगिन् कहा जाता था। वीणावादन के साथ-साथ गाथाएं गायी जाती थीं, जिनकी गायनविधि या ध्रुवा को उत्तरमन्द्रा कहा गया है।[४] अश्वमेध यज्ञ में भी वीणा बजाने के लिये निपुण आचार्यों को आमन्त्रित किया जाता था, वे अपने शिष्यों के साथ यज्ञ में सहभागी होने के लिये आते थे, शिष्यों तथा आचार्यों में से प्रत्येक को सौ-सौ स्वर्णमुद्राएं पारिश्रमिक देने का विधान था।[५]

उत्तरमन्द्रा का षड्जग्राम की प्रथम मूर्च्छना के रूप में लक्षण संगीतशास्त्र के परवर्ती ग्रन्थों में मिलता है[६] जिससे सिद्ध होता है कि वैदिक यज्ञ में प्रयुक्त संगीत तथा नाटक की प्रविधियों और उनके पारिभाषिक शब्दों का सातत्य लौकिक परम्परा में बना रहा।

यज्ञ के विभिन्न अनुष्ठानों के पीछे नाट्यप्रस्तुति की भावना रहती थी और उपस्थित जनसमुदाय भी उनसे नाट्याभिनय के अवलोकन का आस्वादन प्राप्त करता था। उदाहरण के लिये वाजपेय यज्ञ में रथों की दौड़ की स्पर्धा होती थी, जिसमें नियम था विजय यजमान की ही होगी।[७] इस प्रकार के आयोजनों में समाज के सभी वर्गों की उपस्थिति भी

---

१. महाभारत, अनुशासनपर्व, २९/६७-६९
२. यजुर्वेद ३०.६
३. कात्यायनश्रौतसूत्र, २१.३.११
४. वही, १४.३.७१, ७९ तथा २०.३.२, ३०.८.७
५. वही, ३०.३. ७-८
६. भरतकोश : सं. रामकृष्ण कवि, पृ. ७१
७. कात्यायनश्रौतसूत्र १४.३.१९.४२

आवश्यक मानी गयी थी। आपस्तम्ब धर्मसूत्र (१/१६/१) के अनुसार दर्शपौर्णमास यज्ञ में शूद्र का होना आवश्यक था। शतपथ ब्राह्मण (१३/२/३/६६) के अनुसार पितृमेध में भी शूद्रों की उपस्थित आनुष्ठानिक विधि की पूर्णता के लिये अनिवार्य थी।

यजुर्वेद में अनेक मन्त्रों में हाथों और चरणों के लयबद्ध संचालन का जा निर्देश अनुष्ठान की विधि के साथ दिया गया है, उससे यज्ञ की नाट्यरूपता सिद्ध होती है। विष्णु के तीन पदक्रमों का अनुकरण तीन चरण चल कर ही किया जाना चाहिये तथा उसके साथ अन्वर्थक मन्त्र के गायन का विधान है।[1] यज्ञ वेदी की प्रदक्षिणा की विधि में भी नाट्यायमानता अन्तर्निहित है।[2] अध्वर्यु जिस स्थान पर विष्णु की स्थापना परिकल्पित है, उससे कुछ हट कर प्रदक्षिणा में चरण रखता है, और यह भावना करता है कि उसके चरण विष्णु को छू न दें।[3] यज्ञमण्डप में देवताओं का आवाहन तथा उनकी स्थापना और नाट्यमण्डप में ब्रह्ममण्डल की स्थापना में भी परम्परा का ऐकात्म्य और सातत्य पाते हैं।

डा० कपिला वात्स्यायन ने यजुर्वेद के आधार पर अश्वमेध, सौत्रामणि आदि यज्ञों की विधि में आङ्गिक अभिनय के विनियोग तथा उससे समस्त कर्मकाण्ड की नाट्यरूपता का सटीक विश्लेषण किया है।[4] यजुर्वेद के तीसवें अध्याय में पुरुषमेध में आहूत पुरुषों में गीत, नृत्त, वाद्य तथा गायन के संलग्न कलाकारों को विशेष रूप से उल्लिखित किया गया है। सूत, शैलूष, वैणिक, वांशिक तथा मार्दङ्गिक आदि के समावेश से यहां नटमण्डली का स्वरूप उपस्थित हो गया है। इनमें सूत का स्थान नाट्य के उद्भव और विकास की दृष्टि से सबसे महत्त्वपूर्ण है। ऐसा प्रतीत होता है कि यज्ञवेदी के निर्माण के लिये नापने का सूत्र हाथ में ले कर यज्ञ में उपस्थित होने के कारण सूतों को ही सूत्रधार भी कहा जाने लगा होगा। सूत जाति के लोग वास्तुविद् होने के कारण यज्ञमण्डप और वेदी के निर्माण में भी सहयोग देते थे और याज्ञिक कर्मकाण्ड में समवेत नृत्त, नाट्य आदि के अनुष्ठान के भी वे प्रयोक्ता होते थे। इसके साथ ही यज्ञ में प्रस्तुत होने वाले आख्यानों के गायन में भी इन्हीं की भूमिका रहती होगी और इसीलिये उन्हें पौराणिक भी कहा जाने लगा होगा। महाभारत में जनमेजय के नागयज्ञ में वेदी के निर्माण के लिये जो सूत बुलाया गया था, उसी को स्थापति, वास्तुविद्याविशारद, सूत्रधार तथा पौराणिक- इन चार विशेषणों से वर्णित किया गया है और उसकी बुद्धिमत्ता की सराहना भी गयी है-

स्थपतिर्बुद्धिसम्पन्नो वास्तुविद्याविशारदः।
इत्यब्रवीत् सूत्रधारः सूतः पौराणिकस्तथा।। आदिपर्व ५१.१५

---

१. वाजसेनिय संहिता २.२५
२. वाजसेनयि संहिता २.८
३. वही।
४. क्लासिकल इंडियन डांस इन लिटरेचर एण्ड दि आर्ट्स : कपिला वात्स्यायन, पृ. १५३-५६

नाटक के विकास में आख्यानों के प्रस्तुतीकरण या कथागायन की परम्परा का अतीव महत्त्वपूर्ण योगदान है और वैदिक यज्ञ में ही आख्यानों के प्रस्तुतीकरण भी हुआ करते थे। इन्हें 'पारिप्लव आख्यान' कहा गया है। अश्वमेध यज्ञ एक वर्ष तक चलता था। इस अवधि में उसके अनुष्ठान के साथ दस-दस दिन में पूरे होने वाले और पुनः दोहराये वाले आख्यान प्रस्तुत किये जाते थे। इस प्रकार अश्वमेध यज्ञ के ३६० दिनों में दस-दस दिन में ३६ आख्यानचक्र पूरे कर लिये जाते थे।[1]

इसमें कोई सन्देह नहीं कि यज्ञविधि के सम्पादन में सम्मिलित लोग ही नाट्य के भी प्रणेता और प्रयोक्ता बने। शतपथ ब्राह्मण में शिलालि का उल्लेख आया है।[2] यह शिलालि वहां यज्ञविधि का उपदेशक है। पाणिनि के साक्ष्य के आधार पर यही शिलालि नटसूत्र के भी प्रवक्ता हैं।[3]

श्रौतसूत्रों में कतिपय ऐसे यज्ञों का वर्णन है, जिनमें संवादों की प्रस्तुति भी अनुष्ठानविधि का अंग थी। ए० बी० कीथ ने सर्वप्रथम यह स्थापना प्रस्तुत की कि महाव्रत, अग्निष्टोम के अनुष्ठान में प्रस्तुत होने वाले संवादों का सम्बन्ध नाटक से है।[4] शाङ्खायन आरण्यक में सोमयाग के अवसर पर सोमविक्रयी तथा अध्वर्यु के बीच संवाद के अनुष्ठान का उल्लेख है।[5] कीथ का कथन है कि सोम के क्रय के समय विक्रेता तथा अध्वर्यु के बीच संवाद, सोमविक्रयी की पिटाई आदि का नाटकीय रूप में अभिनय किया जाता था। इसी प्रकार महाव्रत याग में श्वेतवर्ण के वणिक् तथा कृष्ण वर्ण के शूद्र के बीच संवाद प्रस्तुत किये जाने का विधान हैं। महाव्रत विधि के ही अन्तर्गत ब्रह्मचारी और पुंश्चली का संवाद भी प्रस्तुत किया जाता था, जिसका उल्लेख शाङ्खायन आरण्यक के साथ कात्यायन और लाट्यायन श्रौतसूत्रों में भी है।[6]

अध्वर्यु और सोमविक्रयी के बीच होने वाले संवाद का, जो याज्ञिक विधि का अंग था, पूरा विवरण कात्यायन श्रौतसूत्र में दिया गया है, जिससे इस संवाद के आनुष्ठानिक रूप के साथ ही नाटंकीयता उसकी भी प्रकट होती है। सोमवल्ली वस्तुतः अध्वर्यु के पास ही है, और वह उसी विक्रेता का अभिनय करने वाले व्यक्ति को दे देता है, ताकि सोम के क्रय की घटना अभिनीत की जा सके। सोमविक्रयी वास्तविक सोमविक्रयी नहीं है, वरन् सोमविक्रयी का अभिनय करने वाला याज्ञिक अनुष्ठान से सम्बद्ध व्यति है। यह तथ्य अपने

---

१. पुराणम् : राजेन्द्र प्रसाद हाजरा कमेमोरेशन वाल्यूम, पृ. २०-२४
२. शतपथब्राह्मण १३.५.३.३
३. पाराशर्याशिलालिभ्यां भिक्षुनटसूत्रयोः - अष्टाध्यायी
४. संस्कृत ड्रामा : ए० बी० कीथ, पृ. २१-२७
५. शाङ्खायन आरण्यक, पृ० ७२
६. कात्यायन श्रौतसूत्र, १३.३६-३७, लाट्ययायन श्रौतसूत्र, ४.३.६-१२

आप में इस पूरे अनुष्ठान की नाटकीयता और अभिनेयता का रूप सामने रखता है। अध्वर्यु सोम को विक्रेता को दे देता है और फिर पांच बार उससे सोम का पण (सौदा) करता है। उसे पूछता है- हे सोमविक्रयी, तुम्हारा सोम राजा क्रय्य (खरीदने के योग्य है) है? सोमविक्रयी उत्तर देता है- हां, यह खरीदने के योग्य है। अध्वर्यु कहता है- मैं इसे खरीदता हूँ। सोमविक्रयी कहता है- खरीद लीजिये। अध्वर्यु कहता है- मैं इसे एक कला से खरीदूँगा सोमविक्रयी कहता है- सोमराजा तो इससे अधिक के योग्य है। सोम राजा इससे अधिक के ही योग्य है। अध्वर्यु कहता हे- गौ की महिमा भी महान है। गौ ही प्रतिधुक् है, उसी से घृत, उसी से शर, उसी से दधि, उसी से मस्तु, उसी से आमिक्षा और उसी से अजिन प्राप्त होता है। (यह सुनकर सोमविक्रयी) सोमराजा इससे अधिक के योग्य है- इस वाक्य को बार बार दोहराता है। फिर उनमें एक शफ (खुर) पदार्थ और पूरी गाय से सौदा होता है।[1]

सौदा पक्का हो जाने के पश्चात् अध्वर्यु सोमविक्रयी से सोम के अतिरिक्त एक न्यग्रोध का पौधा भी खरीदता है, और वे दोनों वस्तुओं के मोल में उसे कुछ स्वर्ण देता है। सोमविक्रमी स्वर्ण ले कर यज्ञवेदी के सम्मुख देवों की वन्दना के लिये पहुँचता है। ठीक उस समय जब वह देववन्दना कर के लौटने ही वाला है, अध्वर्यु तथा उसके सहायक झपट कर उसे पकड़ लेते हैं और मोल में दिया गया स्वर्ण छीन कर उसकी पिटाई कर डालते हैं।[2]

सोम की पूरी खरीद-फरोख्त यहां अनुष्ठान में भौतिक दृष्टि से वास्तविक नहीं है, खरीद-फरोख्त का अभिनय मात्र हो रहा है। सोमक्रय का यह पूरा अनुष्ठान एक प्रहसन जैसा लगता है, जिसमें सोमविक्रेता की विडम्बना की गयी है। सोमयाग को महाव्रतविधि में प्रयुक्त होने वाला ब्रह्मचारी-पुंश्चली संवाद आनुष्ठानिक दृष्टि से जितना साभिप्राय है, उतना ही नाटकीय भी है। ऐतरेय तथा शांखायन ब्राह्मणों में महाव्रतविधि का विवरण है, पर ब्रह्मचारी और पुंश्चली के संवाद उनमें नहीं दिये गये हैं। कात्यायन श्रौतसूत्र में कहा गया है कि ब्रह्मचारी तथ पुंश्चली दोनों इस अवसर पर परस्पर आक्षेप, आरोप-प्रत्यारोप या एक दूसरे पर ताना कसते हुए एक दूसरे को खिझाने वाले वाक्य कहते

---

१. तं विक्रयिणे प्रयच्छति। पञ्चकृत्यः सोमं पणते। स आह-सोमविक्रयिन्, क्रय्यस्ते सोमो राजा इति। क्रय्य इत्याह सोमविक्रयी। तं वै ते क्रीणानीति। क्रीणीह इत्याह सोमविक्रयी। कलया ते क्रीणानीति। भूयो वातः सोमो राजार्हतीति सोमविक्रयी। भूय एवातः सोमो राजार्हति। महांस्त्वेव गोर्महिमेत्यध्वर्युः। गौर्वै प्रतिधुक्, तस्यै घृतं, तस्यै शरस्तस्यै दधि तस्यै मस्तु, तस्या आमिक्षा तस्यैवाजिनमिति। भूयएवेत्यतः प्रभृति चतुरावर्तयति। एकेनान्ते पणते शफेन पदार्थेन गवा ते क्रीणानीत्यन्तः प्रश्नान्ते प्रश्नान्ते।-कात्यायन श्रौतसूत्र ७.७.२२ से ७.८.१२ तक।

२. वही।

है।[1] लाट्यायन श्रौतसूत्र में ब्रह्मचारी और पुंश्चली के यज्ञवेदी के निकट खड़े होने की स्थिति तथा उनके संवादों के आवर्तन के सम्बन्ध में सुस्पष्ट निर्देश हैं। ब्रह्मचारी अन्तर्वेदि (वेदिस्थान की सीमा में) खड़ा होता तथा उत्तर की ओर मुंह करता है। पुंश्चली बहिर्वेदी क्षेत्र में खड़ी होती है तथा उसके सम्मुख दक्षिण ओर मुख करती है। दोनों एक दूसरे का अपशब्दों से सम्बोधित करते हैं, जिनकी बार-बार आवृत्ति करने का विधान है।[2]

कतिपय विद्वानों ने वैदिक यज्ञ के धार्मिक अनुष्ठानों में नाट्यविधि खोजने और उससे नाटक का उद्गम मानने का विरोध किया है,[3] जो उचित नहीं है। नृतत्त्वशास्त्रीय तथा ऐतिहासिक प्रमाणों से सिद्ध होता है कि अन्य देश में भी प्राचीन काल में कर्मकाण्ड, जादू, तन्त्र या टोने-टोटके की विधियों से सम्पृक्त रह कर नाटक और रंगमंच प्रादुर्भूत और विकसित हुए।

(२) संवादसूक्त

वैदिक यज्ञ के उपुर्यक्त विवरणके साथ ऋग्वेद के संवाद सूक्तों का अनुशीलन करने पर उनमें नाटक के बीज देखे जा सकते हैं। ऋग्वेद के निम्नलिखित संवादसूक्त अपनी नाटकीयता के कारण विशेष रूप से उल्लेखनीय हैं- पुरूरवोर्वशी (१०.९५), सरमा-पणि (१०.१०८), अगस्त्य-लोपामुद्रा (१.१७९), यम-यमी (१०.१०), वृषाकपि-इन्द्र (१०.८६), नेमि-इन्द्र (८.१०) तथा विश्वामित्र-नदी (३.३३)।

इनमें से अन्तिम (विश्वामित्र-नदी संवाद या नद्यः सूक्त) को छोड़कर सभी सूक्तों के पीछे कोई न कोई प्राचीन कथा है और इस कथा का भी नाटकीय अंश संवाद के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है तथा इन सभी सूक्तों में दो पात्रों के बीच उक्ति-प्रत्युक्ति चलती है। उत्तर-प्रत्युत्तर में भावनात्मक आवेग, द्वन्द्व तथा मनोदशाओं का टकराव है। सरमापणि-संवाद में सरमा अपनी पैनी उक्तियों से पणियों को हतप्रभ करती जाती है। यम-यमी संवाद में यमी के सम्बोधनों में आवेग और त्वरा है, यम उसके प्रत्येक कथन का उतने ही संयम और तर्क से उत्तर देते हैं। इसी प्रकार पुरूरवोर्वशी संवाद में उर्वशी पुरूरवा के व्याकुल आह्वान में एक-एक संवाद को नकारती जाती है। इस सूक्त में अठारह मन्त्र हैं, जिनमें नौ पुरूरवा के संवादों के तथा नौ उर्वशीके संवादों के हैं। पुरूरवा के एक मन्त्र के पश्चात् उर्वशी के संवाद का मन्त्र हैं सूक्त की यह विशिष्ट संरचना अपने आप में एक नाटक का स्वरूप खड़ा कर देती है।

---

१. वही, १३.३६-३७

२. पूर्वेणाग्नीध्रीयं ब्रह्मचारी अन्तर्वेदि उदङ्मुखः तिष्ठेत्। बहिर्वेदि पुंश्चली दक्षिणाभिमुखी। सा ब्रूयात्-दुश्चरितिन्नवकीर्णिन्। इतिद्ध थिक् त्वां जाल्मि पुंश्चलि ग्रामस्य ग्रामस्य मार्जिनि पुरुषस्य पुरुषस्य शिश्नवृणेजनि इति ब्रह्मचारी। एवम् आतृतीयं-व्यत्यासम्। (लाट्यायन श्रौतसूत्र ४.३.९-१२)

३. संस्कृत ड्रामा : इन्दु शेखर, पृ. ३१

इन सभी संवाद-सूक्तों में सूक्तकार कवि की ओर से प्रत्यक्ष कोई कथन नहीं है, पात्रों क कार्य-व्यापार या चेष्टाओं की सूचना भी संवादों के माध्यम से अनुमित होती जाती है। उदाहरण के लिए उक्त सूक्त में ही उर्वशी का अन्तिम वाक्य-"न वै स्त्रैणानि सत्यानि सन्ति" - पटाक्षेप का सूचक है, उसके पश्चात् लगता है कि पुरूरवा उसके इस अन्तिम दो टूक निर्णय से आहत और हताश होकर वहां से चल पड़ा होगा।

ऋग्वेद के अन्य सूक्त जहां प्रायः स्तुतिपरक हैं, संवादसूक्तों की विषयवस्तु मनुष्य का प्रेम, करुणा और उसकी समस्याएं हैं। इन सभी तथ्यों के आधार पर इतना अवश्य कहा जा सकता है कि संवादसूक्तों में नाटक के तत्त्व विद्यमान हैं। आर्य जाति ने इनके द्वारा अपनी पुराणकथाओं को नाटकीय अभिव्यक्ति दी है।

(३) ऋग्वेद में कला-परम्परा के विकास के प्रमाण

पाश्चात्य मत से प्रभावित कतिपय विद्वानों का यह मन्तव्य रहा है कि आर्यों ने कला और संस्कृति का पाठ आर्येतर जातियों से सीखा। पर ऋग्वेद के प्राचीन सूक्तों से ही यह तथ्य सिद्ध होता है कि कला की धरोहर आर्यों की अपनी विरासत थी और नृत्य, गायन, वादन आदि प्रदर्शनकारी कलाओं की उनके पास अपनी परम्परा थी। यहां तक कि उनके अपने देव आराध्य भी संगीत और नृत्य के प्रेमी बताये गये हैं। उषा को अनेकत्र नृत्य करने वाली (नृत्) कहा गया हैं इन्द्र के नृत्यप्रेम का भी उल्लेख मिलता है, उसे नृतमान बताया गया है।[1] यहां तक कि उसके नर्तकों में सर्वश्रेष्ठ नर्तक भी ऋषियों ने माना है।[2] इन्द्रमहः के अवसर पर नृत्य और नाट्य के प्रयोग की परम्परा का ऐसी स्थित में प्रवर्तन होना स्वाभाविक ही था।[3] मरुत् और अश्विनों के नृत्य और नृत्यप्रेम का भी ऋग्वेद में उल्लेख है।[4]

स्वयं ऋग्वेद के कवि भी नृत्य और संगीत के प्रेमी और जानकार प्रतीत होते हैं। वे नर्तकों में श्रेष्ठ नर्तक होने की कामना प्रकट करते हैं।[5] उनका संसार नृत्य, कला, आनन्द और उल्लास से परिपूर्ण था। अपने परिजन की मृत्यु उसका शवसंस्कार कर के भी वे यह कहते थे कि अब हम नृत्य और आनन्द के लिये संसार में वापस लौटते हैं।[6]

संहिताओं की परम्परा का विकास ब्राह्मणग्रन्थों में हुआ और इन ब्राह्मणग्रन्थों में तो संगीत, नृत्य और कलाओं से सम्बन्धित शब्दावली को परिभाषित करने का उपक्रम भी

१. ऋग्वेद ५.३३.६
२. वही, ५.६८.३
३. नाट्यशास्त्र अध्याय-३ तथा ४
४. ऋग्वेद, ५.५२.१२, ८.२०.२२
५. वही, १०.२६.२
६. वही, १०.८.३

हुआ। शिल्प की अवधारणा पर गहरा विचार ऐतरेय, गोपथ आदि ब्राह्मणों के लेखकों ने किया तथा एक ओर तो शिल्प को अनुकरण रूप बताया गया[1], दूसरी ओर नृत्य, गीत तथ वादित्र-इन तीन रूपों में उसका त्रैविध्य भी प्रतिपादित किया गया।[2] ऐतरेय ने यह मत प्रतिपादित किया कि शिल्प आत्मसंस्कृति के लिये है।

इस प्रकार नाट्यशास्त्र की परम्परा में संगीत की अवधारणा, जिसमें नृत्य, गीत तथा वादित्र का समवाय होता है ब्राह्मणग्रन्थों के शिल्प की अवधारणा से विकसित मानी जा सकती है। कलाओं की अनुकरणरूपता का विचार तो सम्पूर्ण भारतीय कला-चिन्तन का बीज है, जिसका नाट्यशास्त्रीय लक्षणों में 'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' के रूप में हुआ है।[3]

(४) नाट्यशास्त्र का प्रमाण

एक ओर तो वैदिक साहित्य में प्राप्त उल्लेखों, पारिभाषिक शब्दों या लक्षणों से नाट्य के विकास और नाट्यशास्त्रीय अवधारणाओं का बोध उस काल में होना प्रमाणित होता है, दूसरी ओर स्वयं नाट्यशास्त्रकार आचार्य भरत और उनके अनुगामी अभिनवगुप्त आदि आचार्य अपने प्रस्थान को वेदों तथा वैदिक परम्परा से ही सीधे विकसित मानते हैं। नाट्यशास्त्र में नाट्य की उत्पत्ति की कथा बताते हुए कहा गया है- स्वायम्भुव नामक आद्य मन्वन्तर में सत्ययुग के बीत जाने पर और त्रेतायुग के आरम्भ होने पर लोग ग्राम्य धर्म में प्रवृत्त होने लगे, काम और लोभ के वश में पड़ गये, ईर्ष्या और क्रोध में विमूढ बन गये और इस कारण सुखी-दुःखी रहने लगे, तब महेन्द्र आदि देवों ने ब्रह्मा से कहा-हम ऐसा क्रीडनीयक (मनोरंजन का साधन) चाहते हैं, जो दृश्य भी हो और श्रव्य भी। शूद्रजातियों के लिये वेद श्रोतव्य नहीं है, अतः आप पांचवें सार्ववर्णिक वेद की सृष्टि कीजिये। ब्रह्मा ने कहा- 'ऐसा ही हो।' और देवराज को विदा दे कर योगसमाधि में स्थित होकर उन्होंने चारो वेदों का स्मरण किया।... फिर संकल्प करके चारों वेदों से उद्भूत नाट्यवेद की उन्होंने रचना की। ऋग्वेद से पाठ्य, सामवेद से गीत, यजुर्वेद से अभिनय तथा अथर्ववेद से रस ले कर वेद और उपवेद से सम्बद्ध यह नाट्यवेद ब्रह्मा ने रचा।[4]

अभिनवगुप्त ने नाटक का पाठ्य, गीत, अभिनय तथा रस- इन चारों तत्त्वों की निष्पत्ति क्रमशः चार वेदों से प्रदर्शित करते हुए कहा है कि नाटक के पाठ में भी उदात्त,

---

१. शिल्पं ह्यस्मिन्नधिगम्यते य एवं वेद, यदेव शिल्पानि आत्मसंस्कृतिर्वाव शिल्पानि, च्छन्दोमयं वा, एतैर्यजमान आत्मानं संस्कुरुते, देवशिल्पान्येतेषां वै शिल्पानामनुकृतीह शिल्पमधिगम्यते.... (ऐतरेय ब्राह्मण, ६.२७)
यद् वै प्रतिरूपं तच्छिल्पन्। - शतपथब्राह्मण, ३.१.५.५

२. त्रिविद् वै शिल्पम्- नृत्तं, गीतं वादित्रमिति। -कौषीतकि ब्रा० २६.५

३. द्र. नाट्यशास्त्र १.५७.१.११२, १.११७, १.११८, दशरूपक १.७

४. नाट्यशास्त्र बड़ौदा सं० १. ८-१८

अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों का प्रयोग होता है और ऋग्वेद के सूक्तों में इस प्रकार के स्वरों का प्रयोग सबसे पहले मिलता है, अतः पाठ्य का आधार ऋग्वेद को मानना उचित है। पाठ्य के लिये गीत उपरंजक होता है और सामवेद में गीत का प्रयोग प्रदर्शित है, जैसा जैमिनि ने अपने सूत्र 'गीतिषु सामाख्या' (मीमांसा० २.१.३६) के द्वारा गीत और साम का अभेद ही स्थापित किया है। अतएव गायन की विधि का आधार तो सामवेद है, पर नाटक में गायी जाने वाली ध्रुवा आदि गीतियों की पदयोजना का आधार ऋग्वेद ही है। आध्वर्यव-कर्मप्रधान यजुर्वेद में प्रदक्षिणा आदि के क्रम के निदर्शन में आंगिक व्यापर का उपयोग बताया गया है। इसी प्रकार लोहितोष्णीषत्व आदि नेपथ्य या आहार्य अभिनय के लिये भी आधार इसी वेद में प्रदर्शित याज्ञिक विधि में मिलता है। अथर्ववेद में शान्तिक-पौष्टिकादि कर्मों में ऋत्विज् अनुभाव आदि को उसी प्रकार उपस्थित करता है, जैसे नाट्याभिनय में नट। अतएव रस का तत्त्व भी अथर्ववेद से संगृहीत किया गया-यह माना जाना उचित है।[1]

इस प्रकार भरत तथा आचार्य अभिनव ने चारों वेदों से नाट्य की उत्पत्ति को एक प्रामाणिक और सुसंगत रूप से प्रस्तुत किया है। उन्होंने 'रंग दैवत पूजन' को भी यज्ञ के समान ही माना है 'यज्ञेन सम्मितं ह्येतद् रङ्गदैवतपूजनम्' (या यह वाक्य उन्होंने नाट्यशास्त्र में दो बार दोहराया है)। (२.१२४, ३.१९७ बड़ौदा सं०)

(५) रङ्गदैवतपूजन तथा पूर्वरङ्ग की विधिः याज्ञिक कर्मकाण्ड से समरूपता

नाट्यशास्त्र के तृतीय अध्याय में रङ्गदैवतपूजन तथा पञ्चम अध्याय में पूर्वरङ्ग की विधि का विशद विवरण दिया गया है। कुछ विद्वान् इन दोनों में वैदिक यज्ञ की ही परम्परा में प्रतिफलित देखते हैं। भरत ने तो स्पष्ट ही रङ्गदैवतपूजन का यज्ञसम्मितत्व प्रतिपादित किया है (द्र० ऊपर उद्धरण)।

नाट्यमण्डप बन कर तैयार हो चुकने पर रङ्गदैवतपूजन किया जाता है। यह विधि यद्यपि वास्तुपूजा के समतुल्य है, पर भरत ने इसे यजन या यज्ञ की संज्ञा दी है (नाट्यशास्त्र १.१२० तथा ३.१)। अभिनवगुप्त देवयजनरूप इस रङ्गदैवतपूजन का अधिकारी नाट्याचार्य या सूत्रधार को मानते हैं, और वही इस यज्ञ का फलभागी भी होता है-

नाट्याचार्यस्यैव देवयजनेऽधिकारः, तस्यैव फललाभः।

(अभिनवभरती, भाग १, बड़ौदा सं०, पृ० ४६)

रङ्गदैवतपूजन के अन्तर्गत जिन देवों के आवाहन, प्रतिष्ठा और पूजन का विधान किया गया है, उनमें उनमें से निम्नलिखित देव वैदिक हैं- इन्द्र, मरुद्गण, अश्विनौ, मित्र, अग्नि, मेधा, धृति। इनके अतिरिक्त विष्णु और सरस्वती भी मूलतः वैदिक देव ही हैं। पर

---

१. वही, अभिनवभारती, पृ. १४-१५ (भाग-१)

इनके अतिरिक्त नाट्यशास्त्रकार ने देवपूजा में आगमपरम्परा या पौराणिक परम्परा के अनेक देवों को भी यहां महत्त्वपूर्ण स्थान दिया है। इनमें महादेव को तो सर्वप्रमुख ही कहागया है (नाट्यशास्त्र २.१४)। पितामह, गृह, लक्ष्मी तथा महाग्रामणी (गणपति) भी इस श्रेणी के देव हैं। इनके अतिरिक्त भूत, पिशाच, राक्षस, दैत्य, नाट्यविघ्न, नाट्यमातृका, मृत्यु, नियति, कालदण्ड, विष्णुप्रहरण, नारद आदि ऋषि तथा अन्य देवों-विश्वेदेव, दक्ष, नन्दी आदि को भी यहां प्रतिष्ठा दी गयी है।

डा० एफ०बी०जे० क्वाइपर रङ्गदैवतपूजन को वैदिक यज्ञ से विकसित और प्रभावित मानते हैं[1] जब कि डा० एन० आर० लिडोवा ने इस अनुष्ठान को आगम-प्रतिपादित पूजा परम्परा का विकास माना है।[2]

यज्ञ में नाटक के समावेश के सम्बन्ध में इन विवरणों से निम्नलिखित तथ्य स्पष्ट होते हैं-

(१) नाट्य का समावेश यज्ञ की विधि में बाहर से आरोपित, अलंकार या शोभादायक तत्त्व के रूप में नहीं किया गया था। नाट्य उसकी अपनी अनुष्ठान विधि या संरचना का ही आवश्यक अंग था। यह यहां नाट्यरूप ही था यह कहा जा सकता है।

(२) वैदिक यज्ञ में समवेत नाट्य की प्रक्रिया ही नाट्यशास्त्र में निरूपित प्रविधियों, सिद्धान्तों तथा संस्कृत नाटक और उसके रंगमंच के लिये एक आधार भी बनी।

(३) याज्ञिक विधि में संगीत, नृत्य, वादन तथा अभिनय की कलाएं समवेत थीं, जिनको वहीं से लेकर नाट्यविधि में विनियुक्त किया गया।

(४) इन कलाओं से जुड़ी हुई पारिभाषिक पदावली भी वैदिक यज्ञ के अनुष्ठाताओं और व्याख्याताओं के द्वारा विकसित की गयी थी, जिसका उपयोग नाट्यशास्त्र के लक्षणकारों ने किया।

(५) वैदिक यज्ञ में सहभागी होने वाले सूत, शैलूष आदि ही नाट्य के अनुष्ठाता बने।

(६) वैदिक यज्ञ में जिन आख्यानों या संवादों की प्रस्तुति होती थी, उनसे नाटक का पाठ्यांश विकसित हुआ।

(७) यज्ञमण्डप की भौतिक संरचना के अनुरूप नाट्यमण्डप में वेदी तथा ब्रह्ममण्डप की परिकल्पना की गयी।

---

१. एफ०बी० जे० क्वाइपर, वरुण एण्ड विदूषक, एम्स्टरडम, १९७३, पृ. ११०-१६।

२. डा० एन० आर० लिडोवा, रङ्गदैवतपूजन इन दि नाट्यशास्त्र एण्ड आगमिक रिचुअल्स, अष्टम विश्व संस्कृत सम्मेलन, वियना, १९९० के शोधलेखों की संक्षिप्तिका।
रिव्युअल प्रोसेस आफ संस्कृत ड्रामा, वही, इंडियन ट्रेडिशन्स थ्रू द एजेज, १९९०, पृ. ८६।

(८) इन्द्र, मरुत् आदि जिन देवताओं के नृत्य, संगीत-प्रेम का संकेत वैदिक ऋषियों ने किया है, उनका स्मरण नाट्यशास्त्रकार ने भी नाट्यमण्डप के प्रथम निर्माण के अवसर पर सहयोगकर्त्ताओं के रूप में किया है। अतः देववाद की दृष्टि से वैदिक परम्परा का सातत्य नाट्य में सिद्ध होता है। इसी प्रकार वेदों में उल्लिखित अप्सराओं को भी भरत मुनि ने कैशिकी वृत्ति के प्रयोग के लिये अपने साथ लिया था।[1]

(९) वैदिक यज्ञ की मूल भावना है व्यष्टि के विसर्जन के साथ समष्टि से जुड़ना। नाट्यप्रयोग में भी कवि, नट तथा प्रेक्षक अपने सीमित अहं का विसर्जन कर के अनन्त से जुड़ते हैं। अतएव इस आध्यात्मिक आधार-भूमि पर अवस्थित होकर प्राचीन मनीषियों का नाट्य में यज्ञ तथा यज्ञ में नाट्य देखना स्वाभाविक ही है।

नाटक की विकासयात्रा का द्वितीय चरण : उत्तरवैदिक युग

भारतीय नाट्यपरम्परा का अगला पड़ाव उत्तरवैदिक काल में इतिहास पुराणों के विकास में आता है। रामायण तथा पौराणिक साहित्य से उसकी विकासयात्रा का साक्ष्य भी मिलता है। उत्तरवैदिककाल में विभिन्न देवों के नाम पर यात्राओं का आयोजन होने लगा था तथा समाज नाम से उत्सव भी आयोजित होते थे। इन यात्राओं तथा समाजों में नाट्य-प्रयोग हुआ करते थे। महाभारत में ऐसे ही समाज-पशुपति-समाज का वर्णन मिलता है।[2] स्वयंवर के अवसर पर भी समाज का आयोजन होता था, जिसमें नृत्य, गीत, वादित्र तथा नाट्य के प्रयोग प्रस्तुत किये जाते थे।

वैदिक यज्ञ में जो सूत उपस्थित होते थे, वे अब सूत्रधार, पौराणिक तथा स्थपति के रूप में पूजित और सम्मानित थे। लिपि का विकास हो चुका था, जिससे एक का एक रूप ग्रन्थिक भी उदित हुआ था। ग्रन्थ से आख्यान-उपाख्यान आदि का पढ़ कर सुनाने वाला सूत ग्रन्थिक कहा जाता था। ग्रन्थिक का उल्लेख महाभारत में नट, मल्ल, झल्ल आदि के साथ दो बार आया है।[3] ग्रन्थिक का उल्लेख पतञ्जलि[4] बाण[5] तथा भोज[6] ने भी किया

---

१. द्र० नाट्यशास्त्र, अध्याय ८
२. आदिपर्व, १७५.१६
३. आश्वमेधिक पर्व ६१.४ तथा ६७.६
४. महाभाष्य ३.१.२६
५. हर्षचरित, द्वितीय उच्छ्वास।
६. कंसं तयतीत्युक्ते कंसवधमाचष्ट इति प्रतीयते। (भोजा'ज़ शृङ्गारप्रकाश, पृ. ६२० पर उद्धृत)। तथा-"नलसावित्रीषोडशराजोपचारवत् प्रबन्धान्तः। अन्यप्रबोधनार्थमाख्याति यत् तदुपाख्यानम्। आख्यानसत्तां तल्लभते यद्यभिनयन् पठन् गायन ग्रन्थिक एकः कथयति, गोविन्दवदवहिते सदासि।" -वही।

है, जिससे यह सिद्ध होता है कि ग्रन्थिक के आख्यान आदि के प्रस्तुतीकरण में नाटकीयता रहती थी, वह संगीत और अभिनय के साथ अपनी प्रस्तुति देता था। भोज के द्वारा दिये गये विवरण के अनुसार ग्रन्थिक जब आख्यान आदि प्रस्तुत करता तो लोग उसे नट के रूप में देखने लगते, वह कंसवध का दृश्य प्रस्तुत करता, तो लोग कहते कि वह हंसवध करवा रहा है। ऐसी स्थिति में ग्रन्थिक नाट्यविश्व का रचयिता बन जाता होगा और उसके श्रोता प्रेक्षकों में परिणत हो जाते होंगे।

इतिहास-पुराणों की परम्परा वैदिक काल से प्रचलित हो गयी थी और इनकी रचना कथा-गायन की शैली में हो रही थी। विशेष रूप से महाभारत की रचना में तो कथा-गायन की शैली की छाप स्पष्ट है, जहाँ 'युधिष्ठिर उवाच', 'विदुर उवाच' इत्यादि निर्देश मूल पाठ के बाहर हैं। यह तभी हो सकता है जब पाठ्य अंश में अलग-अलग पात्रों के संवादों को अलग-अलग प्रकार की, वाचिक अभिनय की शैली में प्रस्तुत किया जाय।

आर० पी० जागीरदार का अनुमान है कि सूत इतिहास-पुराणों का कथागायन की शैली में प्रस्तुतीकरण करता था। इस प्रस्तुतीकरण को आकर्षक बनाने के लिये उसने अपने साथ एक या दो सहायकों को भी रखना आरम्भ किया, जो उसके कथा-गायन के साथ-साथ अभिनय कर के बताते चलते थे। सूत और उसके ये सहायक ही संस्कृत नाटक की प्रस्तावना के सूत्रधार और पारिपार्श्विक बने।[1]

महाभारत के एक अन्य सन्दर्भ में भी इस अनुमान की पुष्टि होती है। इस ग्रन्थ में सूत का एक पर्याय 'मारिष' प्रयुक्त है।[2] संस्कृत नाटक की प्रस्तावना में मारिष पारिपार्श्विक के लिये सूत्रधार द्वारा प्रयुक्त सम्बोधन है। इसलिये कथागायक सूत के सहायक सूत पारिपार्श्विक के रूप में नाट्यप्रस्तुति में भी सूत्रधार के सहायक बने-यह कहा जा सकता है।

डा० मनमोहन घोष इतिहास-पुराणों के माध्यम से संस्कृत नाटक के विकास के चार सोपान मानते हैं- (१) सूत्रधार द्वारा इतिहास-पुराणों का पथबद्ध गायन, (२) जनसमाज को उन पथों या कथाओं को समझाने के लिये गद्य में उनकी अपनी ओर से व्याख्या, (३) कथा में आने वाले संवादों का एक या दो कुशीलवों के द्वारा सहवर्ती अभिनय तथा (४) इस सारी प्रस्तुति में गीत और वाद्यों का भी समायोजन।[3]

वास्तुकला, चित्रकला तथा विविध शिल्पों क विकास के साथ नाटक अब स्थूल स्तर पर याज्ञिक कर्मकाण्ड से पृथक् और स्वतन्त्र रूप में अपनी पहचान बना रहा था।

---

१. आर०पी० जागीदरदार, ड्रामा इन संस्कृत लिटरेचर, पृ. ४८-५१

२. वनपर्व, ६४.६८

३. मनमोहन घोष, कण्ट्रिब्यूशंस टु दि हिस्ट्री आफ इण्डियन ड्रामा, पृ. ११-१८

महाभारत में प्रेक्षागारों का निर्माण अनेकत्र उल्लिखित है, नाटक के विकास के लिये यह अत्यन्त महत्त्वपूर्ण योगदान था। महाभारत में चार बड़े प्रेक्षागारों तथ एक संगीतशाला का उल्लेख मिलता है।

इन बड़े प्रेक्षागारों में से पहला प्रेक्षागार धृतराष्ट्र ने कौरव और पाण्डव राजकमारों की धनुर्विद्या के प्रदर्शन के लिये बनवाया था। यह सत्य है कि यह प्रेक्षागार नाट्यप्रयोग के लिये नहीं था, पर धनुर्वेद के प्रदर्शन के साथ-साथ गान्धर्ववेद का प्रदर्शन भी इसमें अनुषक्त था। राजकुमारों के प्रदर्शन के आरम्भ होने के पहले मंच पर नटों और नर्तकों की उपस्थिति तथा उनके गायन-वादन किये जाने का वर्णन इस प्रसंग में महाभारतकार ने किया है।[1] रंगमंच प्रेक्षागार के बीचोंबीच था, चारों ओर प्रेक्षकोपनिवेश था तथा स्त्रियों के बैठने के लिये शिविकाओं की व्यवस्था की गयी थी। मंच पर होने वाले प्रदर्शन को 'प्रयोग' कहा जाता था। विशाल प्रेक्षागारों के निर्माण के अन्य दो महत्त्वपूर्ण उल्लेख महाभारत में द्रोपदी और दमयन्ती के स्वयंवरों के प्रसंग में हुए हैं। दमयन्ती के स्वयंवर के लिये निर्मित प्रेक्षास्थली को 'रंग' तथा 'महारंग' कहा गया है।[2] इसकी उपमा पर्वत की गुफा से दी गयी है। द्रौपदी के स्वयंवर में 'समाजवाट' बनाया गया था, जिसके चारों ओर भवन थे। समाजवाट समतल मैदान में निर्मित हुआ था। इस समाजवाट में आयोजित 'समाज' कई दिनों तक चलता रहा, जिसमें नट-नर्तक, सूत-मागध वैतालिक आदि अपनी कला का प्रदर्शन करते रहे।[3]

महाभारत में उल्लिखित एक अन्य प्रेक्षागार विराट् ने मल्लविद्या के प्रयोग और मल्लों के द्वन्द्व के प्रदर्शन के लिये बनवाया था।[4] इस प्रेक्षागार के भीतर के स्थल को भी 'रंग' तथा 'महारंग' कहा गया है।[5]

ये चारों प्रेक्षागार आकार में बहुत विशाल थे, उनके भीतर सहस्रों प्रेक्षक बैठ सकते थे। विशालकाय तथा प्रेक्षकनिवेश की दृष्टि से उनकी तुलना ग्रीक एम्फी थियेटरों से की जा सकती है। इनमें प्रेक्षकनिवेश वृत्ताकार होता होगा। नाट्यशास्त्र में इस प्रकार के रंगमंच और नाट्यमण्डप का वर्णन नहीं है। भावप्रकाश में अवश्य विकृष्ट मंच के स्थान पर वृत्त-रंगमण्डप का लक्षण किया गया है[6] तथा मानसार में भी मध्यरंग का वर्णन मिलता है[7]।

---

१. आदिपर्व, २१०-११
२. आरण्यक पर्व ५४.११-१८
३. आदिपर्व १७६.१६
४. विराटपर्व १२.४
५. वही, १२.३४
६. भावप्रकाश १०.१०.१५
७. मानसार अध्याय-४७

उक्त प्रेक्षागार के अतिरिक्त राजा विराट् ने राजकुमारियों के अभ्यास के लिये एक नर्तनशाला भी बनवायी थी।[1] इसी नर्तनशाला को भास[2], कालिदास[3] आदि नाटककारों ने संगीतशाला कहा है तथा शाङ्गदिव ने संगीतरत्नाकर में संगीतशाला तथा नर्तनशाला को पर्याय बताते हुए इसका विस्तृत निरूपण किया है।[4]

वस्त्रोद्योग, चित्रकला तथा विभिन्न शिल्पकलाओं के विकास के कारण इन प्रेक्षागारों में जवनिकाओं या परदों का उपयोग भी होने लगा होगा, ऐसा महाभारत के ही साक्ष्य से अनुमान किया जा सकता है। महाभारतकार ने चित्रित पट या परदों का उपमान के रूप में बड़ा मनाहर चित्र उकेरा है।[5] सूत या सूत्रधार काष्ठकर्म में भी निपुण होते थे और उन्होंने इस काल में पुत्तलितकानाट्य तथा छायानाट्य का भी प्रवर्तन किया था, यह भी अप्रस्तुतविधान के रूप में पुतलियों (दारुयोषा) तथा उसे नचाने के उल्लेख से महाभारत के द्वारा सिद्ध होता है।[6]

रामायण तथा महाभारत के विवरणों से यह भी ज्ञात होता है कि आङ्गिक अभिनय के विकास में मल्लविद्या का अच्छा उपयोग इस काल में नटों ने किया। उपर्युक्त प्रेक्षागारों में मल्ल, मल्ल तथा योद्धा भी अपना प्रदर्शन देते और नट, नर्तकों को भी उसी मंच से अपनी कला दिखाने का अवसर मिलता। ऐसी स्थिति में यह स्वाभाविक ही था कि नटों को कला पर मल्लविद्या का प्रभाव पड़े। इसी परम्परा में आगे चलकर मल्लविद्या का प्रदर्शन करने वाली जाति को ही नट भी कहा जाने लगा। दण्डी ने दशकुमारचरित में विश्रुतचरित के अन्तर्गत राजकुमार विश्रुत को नट के छद्मवेश में प्रदर्शन करते हुए चित्रित किया है, जहां वह वृश्चिक, मकरलंघन, मत्स्योद्वर्तन आदि करणों, नृत्य, गीत, ऊर्ध्वपाद, अलातपाद आदि की स्थितियों तथा छुरियों के द्वारा चमत्कार और श्येनपात आदि दुष्कर क्रियाओं को कर के दिखाता है।[7] नाट्यशास्त्र में निरूपित मण्डल, चारी और करणों का

---

१. विराटपर्व २१.३., १६.१६

२. प्रतिमा नाटक, प्रथम अंक

३. मालविकाग्निमित्र, द्वितीय अंक तथा अभिज्ञानशाकुन्तल, पंचम अंक में।।

४. संगीतरत्नाकर, अध्याय ७, १५५१-६१।

५. प्रलापयुक्ता महती कथ न्यस्ता पटे यथा। -शल्यपर्व १.४० तथा
ददृशे बलमायान्तं पटं त्रिगतं यथा। -आश्रमवासिक पर्व ४०.२०

६. सूत्रप्रोता दारुमयीव योषा। -उद्योगपर्व, ३२.१२ तथा ३६.१
यथा दारुमयी योष नरवीर समाहिता।
ईरत्यङ्गमङ्गानि तथा राजन्निमाः प्रजाः।। -सभापर्व ३१.२२
"रङ्गावतरणं चैव तथा रूपोजीवनम्" की टीका में नीलकण्ठ ने रूपोपजीवनम् की व्याख्या चर्मनिर्मित आकृतियों से छायानाट्य के प्रदर्शन का अर्थ बताते हुए की हैं

७. दशकुमारचरित, उत्तरपीठिका।

उपयोग मल्लयुद्ध तथा अस्त्र-संचालन में भी किया जाता रहा है और नाट्यप्रदर्शन में भी। यह स्थिति रामायण और महाभारत के काल में नटों और मल्लों को एकमंच पर उपस्थित तथा परस्पर सहकार के कारण उत्पन्न हुई होगी। एक ओर तो महाभारत के उपर्युक्त विवाह, स्वयंवर आदि के प्रसंगों में मल्ल, झल्ल आदि के साथ नटों और नर्तकों को अपनी प्रस्तुतियां देते हुए बताया गया है, दूसरी ओर मल्लयुद्ध और अस्त्रशस्त्रादि के प्रदर्शनों में मल्लों तथा योद्धाओं को मण्डल, चारी आदि का उपयोग करते हुए भी चित्रित किया गया है।[1] नाट्यवेद और धनुर्वेद के नैकट्य का परिणाम यह हुआ कि रामायण और महाभारत के कवियों को युद्ध में नाट्य का रूप दिखायी देने लगा।[2]

कला और सौन्दर्यशास्त्र से सम्बद्ध पारिभाषिक शब्दावली निर्मित और व्यवस्थापित करने का जो उपक्रम वैदिक काल में ब्राह्मण ग्रन्थों में हो चुका था, इस काल में उसका पर्याप्त विकास हुआ। समाज, समाजवाट, रंग और महारंग आदि शब्दों का उल्लेख ऊपर किया गया है। रंग और समाज का प्रयोग महाभारत में 'प्रेक्षक' के अर्थ में भी किया गया है।[3] इसी प्रकार 'प्रेक्षा' शब्द एक प्रदर्शन (खेल) के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।[4] संगीतविषयक पदावली तो महाभारत में परिपक्व रूप के साथ विकसित मिलती है तथा न्याय, प्रमाण, लय, स्थान, शम्या, ताल आदि शब्दों का संगीत के पारिभाषिक अर्थ में ही यहां प्रयोग किया गया है।[5]

रामायण तथा महाभारत के साक्ष्य से विदित होता है कि इन दोनों काव्यों की रचना के समय नटों, नर्तकों, गणिकाओं आदि को राजकीय संरक्षण दिया जाता था। वाल्मीकि कहते हैं कि अराजक जनपद में नट, नर्तक आदि अनाथ हो जाते हैं।[6] नाट्य के प्रयोग तथा नट और नर्तकों की उत्सव आदि में उपस्थिति का भी रामायणकार ने उल्लेख किया है।[7] नाटक शब्द का प्रयोग भी रामायण में मिलता है[8] और रस की

---

१. मण्डलावर्तमार्गेषु गदाविहरणेषु च। - शल्यपर्व ११.६
तथैव चरतो मार्गान् मण्डलेषु महात्मनः। - वही, ११.१०
तौ वृषाविव नर्दन्तो मण्डलानि व्यचेरतः। - वही ११.८

२. धनुर्ज्यातन्त्रिमधुरं हिक्कातालसमन्वितम्।
मन्दस्तनितसङ्गीतं तद् युद्धगान्धर्वमाबभौ।। - रामायण ६.४२.२३
अथाब्रवीत् पाणिनामा पाणिमाहननन्।
सन्दष्टोष्ठो नृत्यति वादयन्निव।। - महाभारत, कर्णपर्व, ६५.१३

३. शल्यपर्व ६१.४, आदिपर्व १२५.२६, १२६.२७, १२४.१६, १२६.७

४. विराट्पर्व, १८.२-३

५. सभापर्व, ४.३१-३३

६. रामायण, अयोध्याकाण्ड, ६७.१५

७. वही, बालकाण्ड १८.१७

८. नाटका विविधः काव्याः कथाख्यायिकादयः। - अयोध्याकाण्ड, ११.३६

अवधारणा तथा रसों का परिणाम भी यहां किया गया है।[1] रामायण में अयोध्या में 'वधूनाटकसंघ' होने का वर्णन किया गया है,[2] जिसका अर्थ कुछ विद्वानों ने वधुओं के लिए निर्मित नाटकशाला किया है तो कुछ ने महिलाओं का नाट्यदल।[3] रामायण में अंगकार[4] जैसे नाट्यशास्त्रीय पारिभाषिक शब्दों का प्रयोग भी नाट्य की विकासयात्रा का सूचक है। महाभारत में राजकुल में नान्दी होने का उल्लेख है,[5] यही नान्दीपाठ की परम्परा संस्कृत नाटक में पूर्वरंग का अंग बनी।

निष्कर्षतः रामायण और महाभारत के रचनाकाल के समय नाटक के क्षेत्र में निम्नलिखित विकास हुए-

(१) यज्ञ, विवाह, समाज, यात्रा आदि के अवसरों पर नृत्य-नाट्य आदि के प्रदर्शन की परम्परा में अभिवृद्धि हुई।

(२) सूतों, ग्रन्थिकों तथा कुशीलवों ने आख्यान और उपाख्यानों के कथागायन तथा नाटकीय अभिनय से युक्त प्रस्तुतीकरण की शैली का विकास किया।

(३) प्रेक्षागारों के निर्माण की परम्परा चल पड़ी। चुने हुए रसिक लोगों के लिए राजप्रासाद से जुड़ी हुई संगीतशाला या नर्तनशाला तथा विशाल जनसमूह के लिये बड़े प्रेक्षाकार- दोनों का निर्माण होने लगा।

(४) अप्सराओं और गन्धर्वों के सम्पर्क से नाट्य में कैशिकी वृत्ति का समावेश हुआ, तो मल्लों और योद्धाओं के सम्पर्क में आरभटी वृत्ति तथा मल्लविद्या से लिये गये आंगिक व्यापार का समावेश हुआ।

(५) ब्राह्मणग्रन्थों में उपक्रान्त कला और नाट्यविषयक चिन्तन तथा तत्सम्बन्धी पारिभाषिक शब्दावली को भी विस्तार दिया गया।

नाटक का परवर्ती विकास : जैन और बौद्ध युग

जैनों तथा बौद्धों के प्राचीन साहित्य से (६०० ई०पू०) ६५७ विक्रम पूर्व (६०० ई०पू०) के आसपासके काल में नाटक की विकसित स्थिति का पता चलता है। जैनागम 'रायपसेणिय' (राजप्रश्नीय) भगवान् महावीर के समक्ष देवकुमार तथा देवकुमारियों के द्वारा

---

१. रसैः शृङ्गारकरुणहासरौद्रभयानकैः।
वीरादिसैर्युक्तं काव्यमेतदगायताम्।। - बालकाण्ड ४.६

२. वही, ५.१२

३. कपिला वात्स्यायन, क्लासिकल इंडिन डांस इन लिटरेचर एण्ड आर्ट्स, पृ. १८२

४. रामायण, सुन्दरकाण्ड, १०.३६

५. महाभारत, शान्तिपर्व, ८३.६५

प्रस्तुत नृत्यनाट्य का वर्णन है। इसमें विभिन्न नृत्य रचनाओं का समावेश किया गया था। इस प्रकार के बत्तीस नृत्यों का विवरण इस आगम में दिया गया है, जिनमें से अधिकांश नृत्यनाट्य हैं और कुछ शुद्ध नृत्य हैं। इस विवरण से इस काल में नृत्य की विधा के समृद्ध स्वरूप का परिचय मिलता है तथा कलाचेतना के विकास का भी। प्रथम नृत्यरूपक में ही निम्नलिखित प्रतीकों को प्रस्तुत किया गया था-स्वस्तिक, श्रीवत्स, नन्द्यावर्त, वर्धमानक, भद्रासन, पूर्णकलश, मत्स्य तथा दर्पण। ये सभी हमारी संस्कृति के सुविदित मांगलिक प्रतीक हैं, और नृत्य में नर्तकों और नर्तकियों के द्वारा आंगिक की विभिन्न संरचनाओं से इनकी प्रस्तुति कला और सांस्कृतिक चेतना का संगम कही जा सकती है।

दूसरी नृत्यनाट्य में भी संरचनाओं या नृत्यबन्धों का वैशिष्ट्य परिलक्षित होता है। इसमें आवर्त, प्रत्यावर्त, श्रेणी, प्रश्रेणी, स्वस्तिक, सौवस्तिक आदि प्रकारों को प्रस्तुत किया गया।

द्वितीय और तृतीय नृत्यनाट्य को भक्तिचित्रा का नाम दिया गया है तथा पंचम को अवली कहा गया है। इन नृत्यनाट्यों के माध्यम से विभिन्न पदार्थों, दृश्यों और भावों को नर्तकों ने मूर्त किया था। चन्द्रोदय, सूर्योदय तथा सूर्य और चन्द्रमा की आकाश में गति, नगर और सागर के दृश्य भी नृत्यरचना के द्वारा इनमें निरूपित किये गये। तेरहवें नृत्यनाट्य में नन्दा और चम्पा तथा दो लताओं का वृत्तान्त प्रस्तुत किया गया था, तो पन्द्रहवें से उन्नीसवें नृत्य तक कवर्ग से लेकर पवर्ग तक के वर्णों को नृत्यरचनाओं के द्वारा प्रस्तुत किया गया था। बीसवें नृत्यनाट्य में अशोक, आम्र, जम्बु आदि के पल्लवों को नृत्य के द्वारा प्रदर्शित किया गया था। इक्कीसवें में विभिन्न लताओं की अवस्थिति तथा गति को तथा बाईसवें से इकतीसवें नृत्यनाट्य में विभिन्न प्रकार के नृत्य प्रदर्शित किये गये थे, जिनके नाम हैं- द्रुत, विलम्बित, द्रुतविलम्बित, अञ्चित, रिभित, अञ्चित-रिभित, आरभट, मोसल, आरभट-मोसल, उत्पात-निपात आदि। बत्तीसवें नृत्यनाट्य में महावीर के जीवन की आरम्भिक घटनाओं का चित्रण प्रस्तुत किया गया था।[1]

कुल मिलाकर रायपसेणीय के इस विवरण में नृत्यनाट्य की एक समग्र अवधारणा अत्यन्त विकसित और समृद्ध रूप में सामने आती है। इसमें प्रतिपादित परिभाषिक शब्दावली पूरी की पूरी नाट्यशास्त्र में नहीं मिलती, पर अभिनय की प्रविधि और विशेषतः आंगिक का उपयोग नाट्यशास्त्रसम्मत लगता है। नृत्य के उस काल में अनेक प्रस्थान विकसित हो चुक होंगे, जिनमें से मार्गों या देशी के किन्हीं प्रकारों का इन नृत्यनाट्यों में उपयोग किया गया होगा। मण्डल का जो स्वरूप यहां कुछ नृत्यों में बताया गया है, वह नाट्यशास्त्र में निरूपित है। डा. कपिला वात्स्यायन ने इन बत्तीस नृत्यनाट्यों का अध्ययन

---

१. राजप्रश्नीय आगम, सूत्र ४१-४६, पृ. २८५-८६ (सं. कन्हैयालाल महाराज, गड़ेरिया, राजकोट)।

करते हुए उनमें चतुर्थ को नृत्त तथा षष्ठ से नवम् तक की प्रस्तुतियों को पूर्ण विकसित नृत्यनाट्य माना है।[1]

यद्यपि भगवान बुद्ध समाज, नृत्य, नाटक आदि में भिक्षुओं की रुचि का विरोध करते थे और उन्होंने इनकी गणना निषिद्ध तत्त्वों के अन्तर्गत की थी, फिर भी बौद्ध साहित्य से नृत्य, नाटक और रंगमंच के सर्वाधिक पुष्ट प्रमाण ईसापूर्व की शताब्दियों के परिप्रेक्ष्य में प्राप्त होते हैं। दीघनिकाय के ब्रह्मजालसुत्त में बुद्ध ने विसूदकदस्सनम् (सिंहली पाठ में विपरीतदस्सनम्) के अन्तर्गत निम्नलिखित वस्तुओं को देखने से भिक्षुओं को मना किया है- नाटकम्, गीतम्, विदितम्, पेक्खाम्, आक्खानम्, पाणिस्सारम्, वेतालम्,कुम्भत्थणम्, शोभनगरकम्, कण्डलवंशाग्रपनम् आदि।

इस निषेध से भी यह तो विदित होता ही है कि नाटक आदि का उस काल में प्रचलन हो चुका था। पालि त्रिपिटकों में भिक्षुओं के समाज में सम्मिलित होने के अनेकत्र उल्लेख आते हैं, इन समाजों में नाटक का अभिनय भी होता था, विनयपिटक के कल्लवग्ग में राजगृह में आयोजित समाज का वर्णन है, जिसमें निषेध रहते हुए भी भिक्षुगण गीत, नृत्य, वादित्र आदि का आनन्द लेने के लिये सम्मिलित हो गये।

ललितविस्तर में कहा गया है कि बुद्ध के शिष्य मौग्गलायन तथा उपतिस्स गायन, वादन के साथ-साथ नाट्याभिनय में भी दक्ष थे तथा उन्होंने कई बार अपनी नाट्यकला का प्रदर्शन भी किया था।[2]

जातककथाओं में नाटकों के अभिनय होने के उल्लेख प्रचुर मात्रा में आते हैं। कुशलजातक (खण्ड-२०, संख्या ५३१) में राजा की ओर से नाटक का प्रदर्शन कराये जाने का उल्लेख है तथा उदयजातक (खण्ड-११, संख्या ४५८) में राजपुत्रों को नाट्याभिनय की शिक्षा देने का उल्लेख है। नटों और नर्तकों का भी उल्लेख अनेक स्थानों पर पालिजातक कथाएं करती हैं।

प्रसिद्ध बौद्ध ग्रन्थ ललितविस्तर के अनुसार राजकुमारियों को उस काल में अक्षक्रीडा, काव्यरचना, ग्रन्थ, चित्र, रूपकर्म, अभिकर्म, वीणावादन, नृत्य, पाठ, आख्यान, हास्य, लास्य, नाट्य आदि की शिक्षा प्रदान की जाती थी।[3] अवदानशतक में गोष्ठियों का उल्लेख किया गया है, जिनमें नृत्य, वादन आदि आयोजित होते थे।[4] राजा बिम्बिसार के

---

१. कपिला वात्स्यायन, क्लासिक इण्डियन डांस इन लिटरेचर एण्डआर्ट्स, पृ. १८६

२. विवरण के लिए द्र० वही पृ. १८२-८३

३. अक्षक्रीडायां काव्यकरणे ग्रन्थे रूपकर्मणि अभिकर्मणि वीणायां वाद्ये नृत्ये पठिते आख्याने हास्ये लास्ये नाट्ये विडम्बिते.. सर्वत्राबोधिसत्त्व एव विशिष्यते स्म।
- ललितविस्तर, पृ० १०८ (मिथिलाविद्यापीठ, दरभंगा, १९५८

४. सम्बहुलाश्च गोष्ठीका मद्यमद्यमदाक्षिप्ता वीणामृदङ्गपणवैर्विविधैर्वाद्यमानैर्नृत्यन्ती गायन्तः.... अवदानशतकम्, पृ. ७५ (सं. पी. एल. वैद्य, मिथिलाविद्यापीठ ग्रन्थमाला)।

द्वारा अपनी राज्यसभा में नटमण्डली को आमन्त्रित कर के बुद्ध के जीवनचरित पर आधारित एक नाटक कराने का विवरण भी बौद्ध ग्रन्थों में मिलता है। इस नाटक में सूत्रधार स्वयं बुद्ध की भूमिका में उतरा था। इस नाटक की प्रस्तुति बिम्बिसार की राज्यसभा के अतिरिक्त राजगृह में भी हुई, जिसमें कुवलया नामक नटी के अभिनय तथा सौन्दर्य पर अनेक बौद्धभिक्षु मुग्ध हो गये, तब स्वयं भगवान् बुद्ध ने कुवलया के आकर्षण से उन्हें बचाने के लये कुवलया को बौद्ध भिक्षुणी बना कर दीक्षा दी थी।[1]

अवदानशतक में ही नाटक के आयोजन के विषय में एक अन्य कथा मिलती है, जिसें क्रकुच्छद नामक राजा की आज्ञा से शोभवतीनगरी में किये गये नाटक का वर्णन है।[2] संयुत्तनिकाय में विदूषक बनने वाले नट का बड़ा सजीव चित्र प्रस्तुत किया गया है, जो समाज के समक्ष तथा नटमण्डली के बीच अपनी कला से लोगों को रमाता है, हंसाता है और उनका मन जीत लेता है।[3] दीघनिकाय में शोभनगरक का उल्लेख है, जिसका अर्थ नटमण्डली है। इसके अतिरिक्त कीटगिरि की रंगशाला का भी उल्लेख बौद्ध साहित्य में मिलता है।[4]

निष्कर्ष स्वरूप हम कह सकते है। कि बौद्ध और जैन युग में, विक्रम पूर्व लगभग पांच-छः शताब्दियों में, बुद्ध और महावीर जैसे महापुरुषों के जीवन पर आधरित पूर्णाकार नाटकों का अभिनय किया जाता था, नटमण्डलियों का गठन होने लगा था, जिनमें सूत्रधार संचालक रहता था। नाटक की प्रस्तुति में नृत्य का समवाय बड़ा रमणीय होता थ। नटमण्डली में विदूषक भी रहता था।

नाटक का उत्कर्ष : मौर्ययुग से विक्रम की परवर्ती शताब्दियों में

नाटक के विकास की और भी व्यवस्थित और सुसम्बद्ध शृंखलाएं मौर्यवंश, शुंगवंश तथा इनके पश्चात् के भारतीय इतिहास और इस काल में रचे हुए साहित्य से हमें प्राप्त होती हैं।

कौटिल्य के अर्थशास्त्र के साक्ष्य

कौटिल्य के अर्थशास्त्र में नट-नर्तकी तथा उनकी गतिविधियों के विषय में बड़ा प्रामाणिक विवरण मिलता है। कौटिल्य के समय नाटक प्रसतुत करने वाली मण्डलियां

---

१. ए० बी० कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ. ४३

२. अवदानशतक, २.२४, २.१७, ३.३०

३. नटानं भासमानानं यो सो नटो रङ्गमज्झे समज्जमज्झे संथलिकेन अनं हासति रमति।
- गामणीसुत्त, संयुत्तनिकाय-४, पृ. ३०६

४. द्र० इण्डियन हस्टारिकल क्वार्टर्ली पत्रिका के खण्ड-१७ में पृ. १९६-२०६ पर डॉ. विजसे सेकेर का लेख- 'बुद्धिस्ट इविडेंस फार अर्ली इक्जिस्टेंस आफ ड्रामा'

व्यावसायिक स्तर पर संघटित हो चुकी थीं, और वे एक नगर से दूसरे नगर जा-जा कर अपने प्रयोग करती थीं। कौटिल्य ने ऐसी मण्डलियों से कर वसूल करने के विधान का निरूपण किया है। राजा बाहर से आयी प्रत्येक नाट्यमण्डल के नाट्यप्रयोग की अपने नगर में व्यवस्था करवाता था तथा उन मण्डलियों से प्रत्येकशः प्रतिप्रेक्षा पांच पण का शुल्क लिया जाता था।[1] नटों का उपयोग चर के रूप में करने की भी व्यवस्था कौटिल्य ने दी है। अर्थशास्त्र में नाटक तथा प्रदर्शनकारी कलाओं से जुड़े हुए लोगों में नट, नर्तक, नायक, वाग्जीवक, कुशीलव, शौभिक, चारण आदि का उल्लेख स्थान-स्थान पर आया है।[2] इसके साथ ही अव्यवस्था को रोकने के लिये कौटिल्य ने प्रेक्षागृह नगर के मध्य में न बनाये जाने का निर्देश दिया है, जिससे यह भी सिद्ध होता है कि प्रेक्षागह उस काल में राजा की ओर से बनवये जाते थे।[3] यही नहीं, कौटिल्य ने राजा को यह भी निर्देश दिया है कि वह अपने राज्य में नट-नटियों के समुचित प्रशिक्षण की व्यवस्था करे।[4]

अर्थशास्त्र में एक रोचक उल्लेख स्त्रीप्रेक्षा का है। ऐसा लगता है कि केवल स्त्रियों के लिये और स्त्रियों के द्वारा ही प्रस्तुत किये जाने वाले प्रयोग की परम्परा उस काल में विकसित हो चुकी थी। यदि कोई स्त्री रात्रि-प्रेक्षा देखकर लौट रही हो, तो उसे दण्ड न देने का विधान था।

कामसूत्र का साक्ष्य

अर्थशास्त्र के इन उल्लेखों के पूरक विवरण वात्स्यायन विरचित कामसूत्र से मिल जाते है।। वात्स्यायन की सूचना के अनुसार उस युग में प्रत्येक नगर में सरस्वती भवन बनाये जाते थे, जिनमें पखवाड़े या महीने के एक दिन समाज होता था।[5] ऐसे समाजों में नृत्य, नाट्य और संगीत तथ काव्यगोष्ठियों का नियमित अनुष्ठान होता रहता था। वात्स्यायन कहते हैं कि कुशीलव इन समाजों में प्रेक्षणक की प्रस्तुति करें। कामसूत्र के धूपविलेपनघटा प्रकरण में कहा गयां है कि बाहर से आये हुए अभिनेतागण पहले दिन अपनी नाट्यप्रस्तुति नागरिकों के समक्ष दें और अगले दिन अपना वेतन स्वीकार करें। यदि नागरिक उनका प्रेक्षण और भी देखना चाहते हों, तो उनसे रुकने का अनुरोध करें, अन्यथा

---

१. तेषां तूर्षमागन्तुकानां पञ्चपणं प्रेक्षावेतनं दद्यात्। - अध्यक्षप्रचार- ३६

२. वही, १.१२.६; १.१८.१२; १.२१.१६; २.१.३४; ३.१३.३०; ३.१८.८; ४.१.५८, ६५; तथा ४.४.३

३. वही, अध्यक्षप्रचार-१

४. वही ३.३

५. पक्षस्य मासस्य वा प्रख्याते हनि सरस्वतीभवने नियुक्तानां नित्यं समाजः। - कामसूत्र, नागरकवृत्त, १५ (काशी संस्कृतग्रन्थमाला- २६, पृ. १२८)

उन्हें विदा दें। उत्सव या व्यसन के अवसरों में ऐसे नटों का राजा द्वारा नियुक्त नटों के समान सम्मान होता था।[1]

वात्स्यायन ने नागरक वृत्त में भोजन के पश्चात् पीठमर्द आदि के साथ उसकी नर्मगोष्ठी का विधान किया है। यह पीठमर्द नाटकमण्डली में या नाटक के पात्रों में भी स्थान पा चुका था।[2]

पतञ्जलि का उल्लेख

महाभाष्य तथा योगसूत्र के प्रणेता पतञ्जलि राजा पुष्यमित्र शुंग के महामात्य भी रहे। महाभाष्य में उन्होंने अनेकत्र उस समय की कला-विषयक गतिविधियों का प्रकारान्तर से रोचक उल्लेख किया है। व्यंजनों को वे नटभार्याओं से उपमित करते हैं। पतञ्जलि का शौभनिक और ग्रन्थिक का उल्लेख नाटक के इतिहास में अत्यन्त महत्त्व का है। वे कहते है। कि शौभनिक (नट) अपने प्रयोगों में प्रत्यक्ष कंस का वध कराते, और प्रत्यक्ष बलि का बन्धन भी कराते हैं। उनके द्वारा प्रदर्शित चित्रों में उद्गूर्ण (ऊपर उठे हुए) तथा निपतित (नीचे गिरते हुए) प्रहार दिखायी देते हैं। ग्रन्थिक तो अपने शब्दों से ही (विभिन्न पात्रों की) उत्पत्ति, समृद्धि आदि को प्रत्यक्ष प्रकाशित कर देते है। इनमें से कुछ कंस के दल का अभिनय करते हैं, कुछ वासुदेव के दल का, और कुछ कृष्णमुख होते हैं, कुछ रक्तमुख। इस प्रकार वर्ण या रंग के भेद के कारण वे पहचाने जा सकते थे।[3]

पतञ्जलि का एक अन्य महत्त्व का उल्लेख भ्रूकंस (भ्रुकुंसभ्रकुंसु, भ्रुकुंस) का है, जिसका अर्थ स्त्री का अभिनय करने वाला नट है।[4] स्त्री-पात्र का अभिनय पुरुष के द्वारा करने का विधान विकल्प से नाट्यशास्त्र ने भी दिया है।[5]

हरिवंशपुराण में नाट्याभिनय के विवरण

हरिवंशपुरा महाभारत का परिशिष्ट कहा गया है। आधुनिक विद्वानों ने इसका रचनाकाल महाभारत के पश्चात् गुप्तकाल तक माना है। नाट्यप्रस्तुतियों का कथा-प्रसंग-वश

---

१. कुशीलवाश्चागन्तवः प्रेक्षणकमेषां दद्युः। द्वितीयेऽहनि तेभ्यः पूजा नित्यं लभेरन्।
ततो यथाश्रद्धमेषां दर्शनमुत्सर्गो वा। व्यसनोत्सवेषु चेषं परस्परेस्यैककार्यता। -वही, १६, पृ. १३०।

२. पीठमर्दविटविदूषकायत्ता व्यापाराः। - वही, ६, पृ. ११६।

३. ये तावदेते शौभनिका नाम ते प्रत्यक्षं कंसे घातयन्ति, प्रत्यक्षं च वलिं बन्धयन्ति इति। चित्रेषु कथम्? चित्रेष्वपि उद्पूर्णा निपतिताश्च प्रहारा दृश्यन्ते। कंसकर्षण्यश्च। ग्रन्थिकेषु कथम्? यत्र शब्दगडुमात्रं लक्ष्यते। ते अपि तेषामुत्पक्षिप्रमृत्यविनाशात् ऋद्धीर्व्याचक्षाणाः स सन्ती बुद्धिविषयं प्रकाशयन्ति। अतश्च सतो व्यामिश्रा दृश्यन्ते। केचित् कंसभक्ता भवन्ति, केचित् वासुदेवभक्ताः। वर्णान्यत्वं खलु पुष्यन्ति। केचित् रक्तमुखा भवन्ति, केचित् कालमुखाः। - महाभाष्य, ३.१.२६

४. वही, तद्वतीय आह्निक।

५. स्त्री पुंसः प्रकृतिं कुर्यात् स्त्रीभावं पुरुषोऽपि वा। - नाट्यशास्त्र, १२, १५०

इस पुराण में जा विवरण दिया गया है, वह पुराणकार को परम्परा प्राप्त होने से प्राचीन स्थिति का सूचक ही माना जाना चाहिये।

हरिवंशपुराण में रामायण पर आधरित नाटक का विवरण है, इस नाटक में विदूषक भी एक पात्र था। इस पुराण में द्वारका के पिण्डारक क्षेत्र में यादवों के एक उत्सव का वर्णन मिलता है, जिस में गीत, नृत्य आदि के साथ श्रीकृष्ण का जीवनचरित प्रस्तुत किया गया था। वस्तुतः यह पुराण रामलीला और रामलीला के प्राचीनतम परम्परा का दिग्दर्शन कराता है, जिसका प्रवर्तन विक्रमपूर्व की शताब्दियों में हो चुका है।

हरिवंशपुराण में ही वज्रनाभ असुर के वध की कथा से उस काल में नाटक की लोकप्रियता और अभ्युदय का पता चलता है। इस काल में बताया गया है कि कृष्ण ने भद्र नामक नट को उत्पन्न किया और यादवों के साथ उसे वज्रनाभ के नगर में भेजा। यादवों की सेना ने नटमण्डली का वेश बना लिया था। प्रद्युम्र इस छद्मनटमण्डली के नायक थे। साम्ब इसमें विदूषक बने थे तथा गद पारिपार्श्विक और कुछ यादवों ने नटियों का रूप भी धर लिया था। इस मण्डली ने वज्रनाभ के नगर में रामायण नाटक प्रस्तुत किया। दशरथ, शान्ता, ऋष्यशृङ्ग, राम, लक्ष्मण आदि पात्रों का अभिनय इतना सजीव हुआ कि नगरवासी इस नाट्यप्रस्तुति की सराहना करते थकते न थे। होते-होते इस प्रस्तुति की ख्याति नगर के राजा वज्रनाभ तक पहुंची और उसने इस नटमण्डली को अपना प्रदर्शन उसकी राज्यसभा के सम्मुख देने के लिये आमन्त्रित किया, जिसमें रम्भा नामक अप्सरा के कुबेर के प्रति अभिसार का कथानक था। इस नाटक के प्रयोग को देख कर असुर रानियां इतनी प्रसन्न हुईं कि उन्होंने अपने आभूषण उतार कर नटरूपधारी यादवों को दे दिये।[1]

नाटकों की आरम्भिक प्रस्तुतियां : नाट्यशास्त्र का साक्ष्य

नाट्यशात्र में नाटक के अवतरण की जो कथा वर्णित है, उससे विदित होता है कि भरतमुनि ने अपने सौ पुत्रों, जो उनके शिष्य थे, को लेकर नटमण्डली बनायी थी। इस मण्डली ने सर्वप्रथम समुद्रमन्थन नामक समवकार का अभिनय किया, जिसकी पहली प्रस्तुति में असुरों के द्वारा विघ्न किये जाने पर इन्द्र आदि देवों के सहयोग से नाट्यमण्डप का निर्माण कराया गया तथा तब से अभिनय नाट्यमण्डप में होने लगे।[2] इसके पश्चात् भरत मुनि ने हिमालय पर सुरम्य कन्दर निर्झरमय खुले प्रांगण में भगवान् शिव के समक्ष अपने दो नाटक प्रस्तुत किये- अमृतमन्थन समवकार तथ त्रिपुरदाह डिम। शिव की प्रेरणा से नाट्य में कैशिकी वृत्ति तथा अप्सराओं का समावेश किया गया और तण्डु ने ताण्डव की

---

१. हरिवंशपुराण, खण्ड-२, अध्या, ६१-६७

२. नाट्यशास्त्र, चतुर्थ अध्याय, ५-१८

शिक्षा नटमण्डली के कलाकारों को दी, जिसने नाट्य अङ्गहारों तथा करणों के समायोग के कारण और सम्पन्न बन सका।

ग्रीकनाटक से सम्पर्क

मौर्यकाल में आकर ग्रीक नाटक से हमारे रंगमच का भी सम्पर्क हुआ- यह प्रमाणों से विदित होता है। अलक्षेन्द्र जब भारत आया तो उसने शिविर में झेलम नदी के तट पर 'आगेन' नामक नाटक खेला गया था। पेशावर के निकट प्राप्त एक पात्र पर सुप्रसिद्ध प्राचीन ग्रीक नाटक 'एण्टीगोन' का एक दृश्य अंकित मिलने से ग्रीक नाटक से भारत के सम्पर्क का अनुमान पुष्ट होता है। १९५६ वि०सं० (१८९९ ई०) में इजिप्ट से प्राप्त ग्रीक और कन्नड भाषाओं में मिश्रित रूप से लिखे गये एक प्राचीन नाटक की पाण्डुलिपि का खण्डित अंश इस अनुमान को प्रत्यक्ष आधार भी प्रदान करता है।[1]

संक्षेपतः, प्राचीन भारत में नाटक के उद्भव और विकास की कथा यात्रा को हम निम्नलिखित चरणों में ऐतिहासिक दृष्टि से समझ सकते हैं- (१) पूर्ववैदिक काल- जिसमें नृत्य, गीत और वादन की परम्परा का आदि मानव ने श्रीगणेश किया। भीमबेटका तथा अन्य स्थलों पर निर्मित विक्रम से २०,००० से लेकर १०,००० वर्ष पूर्व के शैलचित्रों से उस काल की कलात्मक प्रवृत्तियों का पता चलता है। (२) वैदिक युग- जिसमें नाटक याज्ञिक अनुष्ठानों में समवेत हो कर विकसित हुआ और आख्यान, उपाख्यान की परम्परा, संवाद की प्रस्तुति तथा कला की पारिभषिक शब्दावली और तद्विषयक चिन्तन का भी समारम्भ हुआ। (३) रामायण-महाभारत काल- जिसमें रस की अवधारणा, नटमण्डलियों का गठन तथा राज्यसभ में नाट्यप्रस्तुतियों का प्रचलन होने लगा। (४) बौद्ध युग- जिसमें नाटक की लोकप्रियता बढ़ी, नृत्यनाट्य की विधा विशेष रूप से विकसित हुई तथा समाजों में नाटक की प्रस्तुतियां और अधिक होने लगी। (५) मौर्य और शुंग युग- इस काल में आकर नटमण्डलियों का व्यावसायिक स्वर पर सुव्यवस्थित रूप में गठन हुआ, नाट्यशास्त्र का चिन्तन सामने आने लगा और अभिनयकला भी निखरी। सिद्धान्तः और प्रयोग दोनों की दृष्टि से भारतीय नाट्यपरम्परा इस काल तक इतनी परिपक्व और सम्पन्न हो चुकी थी कि उसें भास और कालिदास जैसे महान् नाटककारों का उदय हो- यह स्वाभाविक ही था।

• • • •

---

१. विवरण के लिए द्र० - ए.० एल० वराडपाण्डे, एंश्येन्ट इण्डियन एण्ड इण्डो-ग्रीक थियेटर, अभिनव पब्लिकेशन्स, दिल्ली, १९८१, पृ० १२०-६१।

भास

– राधावल्लभ त्रिपाठी

परिचय –

भास का एक महान् नाटककार के रूप में प्राचीन कवियों में कालिदास, बाण, वाक्पतिराज, राजशेखर तथा पीयूषवर्ष जयदेव ने स्मरण किया है। भास संस्कृत के नाटककारों में सर्वप्रथम स्मरणीय हैं। वे संस्कृत साहित्य की एक पहेली भी है। १९२१ ई० तक विश्व भर में संस्कृत के विद्वान् केवल भास के नाम से ही परिचित थे, उनकी रचनाएँ अप्राप्य थीं। कदाचित् उत्तर भारत से दक्षिण की ओर प्रव्रजन करने वाले रंगकर्मियों में से कुछ भास के नाटकों की पोथियाँ अपने साथ ले गये। केरल पहुँच कर ये लोग चाक्यार के नाम से जाने गये। ये लोग भास के नाटक खेलते रहे – नाटककार का नाम लिये बिना। फिर वे यह भी भूल गये कि जो नाटक वे खेलने जा रहे हैं वे किसके लिखे हुए हैं।

संसार के इतिहास में शायद और कहीं ऐसा न हुआ होगा कि हजार वर्ष तक किसी महान् नाटककार की रचनाएँ मंच पर खेली जाएँ और सराही जाएँ, पर उसका नाम जाने बिना, उसका नाम लिये बिना। केरल के चाक्यार किसी रचना को एक प्रस्तुति में कभी नहीं खेलते थे, इसके अंश ले ले कर उन्हें एक क्रम से कई दिनों तक – बल्कि महीनों तक या एक साल में खेलते थे; इन टुकड़ों में भी वे अपनी ओर से बहुत कुछ जोड़ देते थे, ऐसी स्थिति में वे मूल नाटककार का नाम लेते ही नहीं थे। जिसके पास भास की रचनाएँ थीं, उन्हें भास का नाम तक विदित न था। जिन्हें नाम और महत्ता विदित थी उनके पास भास की रचनाएँ नहीं थीं।

१९१२ ई० में केरल के प्रख्यात संस्कृत पंडित श्री टी० गणपति शास्त्री (१८६०-१९२६) ने घोषणा की कि उन्हें प्रख्यात नाटककार भास के रूपकों की अब तक अप्राप्त पांडुलिपियाँ मिल गयी हैं। उन्होंने स्वप्नवासवदत्तम् नाटक का संस्करण प्रकाशित किया और इसे भास विरचित बताते हुए इसकी भूमिका में घोषणा की कि भास के रचे हुए बाकी नाटक भी उन्हें मिल गये हैं। उन्होंने १३ नाटकों की पांडुलिपियों को भासनाटकचक्र के नाम से प्रकाशित कराया।

तभी से इस नाटक को ले कर एक ज़बरदस्त विवाद संस्कृत पंडितों के बीच चलता रहा है। यह बीसवीं सदी के संस्कृत जगत् का सबसे बड़ा विवाद भी कहा जा सकता है। इस विवाद में सदी के दिग्गज पंडित शामिल थे – प्राच्यविद्या के पाश्चात्त्य विद्वान् भी

और भारत के संस्कृत पंडित भी। काशी की पांडित्य परंपरा की सबसे उज्ज्वल विभूतियों में एक - महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा-से लगा कर बार्नेट, सिल्वाँ लेवी, विटरनित्स, सुब्बनकर, कृष्ण पिषरोटी, राम पिषरोटी और सी० आर० देवधर आदि ने भास की समस्या को ले कर अपने अपने जो मंतव्य रखे उनमें मतभेद बहुत अधिक था। गणपति शास्त्री, कीथ, लक्ष्मण स्वरूप आदि के अनुसार ये तेरहों रूपक भास के रचे हुए ही हैं। कुछ विद्वानों ने सबको नकार दिया, कुछ ने इनमें से कुछ को भास का रचा माना, तो कुछ मानते रहे कि ये भास के नाटकों के चाक्यारों के द्वारा संपादित संक्षिप्त आलेख हैं।

भास का काल -

भास का समय निर्धारण कठिन समस्या हैं इस संबंध में मुख्य मत निम्नलिखित हैं-

(१) ए० बी० कीथ का मत- इस मत के अनुसार भास का समय ३०० ई० के लगभग है। इसके लिये कीथ आदि ने ये प्रमाण दिये हैं- (१) कालिदास भास से परिचित थे। कालिदास के समय तक भास एक महान् साहित्यकार के रूप में प्रतिष्ठा पा चुके थे। प्रस्तावना में पारिपार्श्विक ने सूत्रधार से पूछता है-'भास, सौमिल्ल और कविपुत्र जैसे प्रख्यात यश वाले नाटककारों के नाटकों को अनदेखा कर के आज के कवि कालिदास की रचना में परिषद् (नाटक देखने वाले रसिक प्रेक्षकों की मंडली) का इतना मान कैसे?

कीथ कालिदास का समय ४०० ई० के लगभग मानते हैं। अतः उनके अनुसार भास का समय ३०० ई० के आसपास है। (२) भास के नाटकों की प्रकृति अश्वघोष के नाटकों की प्राकृत से परवर्ती है। प्रो० रामजी उपाध्याय इस मत का समर्थन करते हैं। वे इसकी पुष्टि में भास के प्रतिमा नाटक में मंदिर में दिवंगत राजाओं की मूर्ति लगाने की प्रथा के उल्लेख का भी प्रमाण देते हैं। यह प्रथा कुषाण काल के पश्चात् विशेष प्रचलन में आयी।

वस्तुतः यह मत इस पूर्वाग्रह पर आधारित है कि कालिदास गुप्तकाल में चौथी-पाँचवी शताब्दी में हुए। अब अधिकांश विद्वान् कालिदास का काल प्रथम शताब्दी ई०पू० मानने के पक्ष में हैं। इसके साथ ही दूसरी शताब्दी के तमिल महाकवि इलंकोवाडिगल ने भास का उल्लेख किया है, ऐसी स्थिति में उनका सम ३०० ई० कैसे माना जा सकता है?

(२) टी० गणिपति शास्त्री का मत-भास के नाटकों के उद्धारकर्ता टी० गणपति शास्त्री ने उन्हें छठी शताब्दी ई०पू० से चौथी शताब्दी ई०पू० के बीच में रखते हैं। म०म० हरप्रसाद शास्त्री तथ ए०डी० पुसालकर इस मत के समर्थक हैं। इस मत के समर्थन में ये प्रमाण दिये जाते हैं- (१) भास राजा के लिये आर्यपुत्र शब्द का प्रयोग करते हैं। आर्यपुत्र शब्द राजा के लिये अशोक के समय या उसके पहले प्रचलित था। बाद में यह केवल पति का वाचक हो गया। (२) भास के नाटकों में चित्रित सामाजिक तथा राजनीतिक स्थितियाँ

चौथी-पाँचवीं शताब्दी के आस-पास की हैं। (३) भास के नाटकों में अपाणिनीय प्रयोगों की भरमार है। अतः वे ऐसे समय में हुए जब पाणिनि व्याकरण की प्रसिद्धि पूर्णतः नहीं हो पायी थी। (४) भास ने मंदिर की परिधि में बालू छींटने की प्रथा का उल्लेख किया है, जो पाँचवीं शताब्दी ई०पू० में प्रचलित थी। (५) भास जैन और बौद्ध परंपराओं का उपहासास्पद रूप में चित्रण करते हैं। अतः वे इन दोनों धर्मों के आरंभ होने के कुछ समय पश्चात् ही हुए होंगे। (६) भास के प्रतिज्ञायौगंधरायण का एक श्लोक कौटिल्य के अर्थशास्त्र में उद्धृत है। अतः भास मौर्यकाल के पूर्व हो चुके थे। (७) भास ने मगध की राजधानी पाटलिपुत्र (आधुनिक पटना) के स्थान पर राजगृह (आधुनिक राजगिर) को बताया है पाटलिपुत्र का वे एक बड़े नगर के रूप में उल्लेख नहीं करते। मौर्यकाल में पाटलिपुत्र एक महानगर तथा मगध की राजधानी के रूप में विकसित हुआ। अतः भास इसके पहले हो चुके थे। (८) प्रतिमा नाटक में भास ने संन्यासी के छद्म वेष में रावण को मुख से उसके द्वारा पढ़ी गई विद्याओं का उल्लेख कराया है। रावण कहता है- साङ्गोपाङ्गवेदमधीये, मानवीयं धर्मशास्त्रं, माहेश्वरं योगशास्त्रं, बार्हस्पत्यमर्थशास्त्रं मेथातिथेर्न्यायशास्त्रं प्राचेतसं श्राद्धकल्पं च।' इसमें पतंजलिकृत योगशास्त्र के स्थान पर माहेश्वरकृत योगशास्त्र का उल्लेख है और कौटिल्य के अर्थशास्त्र के स्थान पर बार्हस्पत्य अर्थशास्त्र का। अतः यह सिद्ध होता है कि भास को पतंजलि और कौटिल्य के शास्त्रों की जानकारी नहीं थी और वे पतंजलि और कौटिल्य के पहले हो चुके थे। बृहस्पति का अर्थशास्त्र एक प्राचीन महान् आचार्य के रूप में स्वयं कौटिल्य ने अपने अर्थशास्त्र में उल्लेख किया है। (९) पुसालकर के अनुसार भास कामसूत्र प्रणेता वात्स्यायन से भी अपरिचित हैं। (१०) मंदिरों की परिधि में बालू छींटने का विधान आपस्तंब-धर्मसूत्र में निर्दिष्ट है, जो ३०० ई०पू० के पहले का है। भास ने प्रतिमा नाटक में इस विधान का पालन दिखाया है, अतः उनका काल भी ३०० ई०पू० के पहले का माना जाना चाहिये।

उक्त मतों को ईसा से चार या पाँच शताब्दी पूर्व स्थापित करने वाला मत ही ग्राह्य प्रतीत होता है।

भास के रूपक-

इसमें कोई संदेह नहीं कि भास ने कई रूपक लिखे। राजशेखर ने भासनाटकचक्र- इस संज्ञा का प्रयोग भास की रचनाओं के लिये किया है। यह संज्ञा तभी संभव है, जब भास के कई नाटक मिलते हों। भास के नाम से टी० गणपति शास्त्री ने तेरह रूपक प्रकाशित किये। विषयवस्तु की दृष्टि से इनका वर्गीकरण इस प्रकार किया जा सकता है।

(१) इनमें से चार रूपक लोककथा पर आधारित हैं- स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायम्, अविमारकम् तथा दरिद्रचारुदतम्।

(२) छह रूपक महाभारत की कथा को विषय बना कर लिखे गये हैं- मध्यमव्यायोगः, पञ्चरात्रम्, दूतवाक्यम्, दूतघटोत्कचम्, कर्णभारम् तथा ऊरुभङ्गम्।

(३) दो रूपक रामायणाश्रित हैं- प्रतिमा तथा अभिषेकम्।

(४) एक रूपक श्रीकृष्ण कथा को प्रस्तुत करने वसाला है-बालचरितम्।

वास्तव में इन रूपकों के कर्तृत्व को ले कर विद्वानों में मतभेद है। मुख्य रूप में इस विषय में चार मत प्रचलित हैं। पहले मत के अनुसार तेरह रूपक भास के रचे हुए ही है। टी० गणपति शास्त्री, कीथ, लक्ष्मण स्वरूप, देवधर आदि अनेक विद्वान् सभी तेरहों रूपकों का प्रणेता महाकवि भास को ही सिद्ध करते हैं। पुसालकर ने इन सभी रूपकों को भासकृत मानते हुए अपनी मान्यता के लिये ये प्रमाण प्रस्तुत किये हैं- (१) इन रूपकों में संरचना, नाट्यशिल्प, मान्यताओं, नाट्ययुक्तियों के प्रयोग, छंदोविधान, वर्णन कला, शब्दावली और शैली की दृष्टि से समानता है। (२) इनमें चित्रित समाज और सांस्कृतिक स्थितियाँ भी इनके रचनाकार का एक ही व्यक्ति होना प्रमाणित करती हैं। दूसरे मत के अनुसार ये तेरह रूपक भास के रचे हुए नहीं हैं, इनका प्रणेता या तो मत्तविलासप्रहसन का लेखक महेंद्रविक्रमवर्मन् या आश्चर्यचूडामणि नाटक के कर्ता शक्तिभद्र हो सकते हैं। अथवा ये सातवीं आठवीं शताब्दी के आसपास किसी दक्षिणात्य कवि के द्वारा रचे गये है। बार्नेट, सिल्वाँ लेव्ही, विटरनित्स और सी०आर० देवधर इसी मत में विश्वास रखते हैं। तीसरा मत यह है कि इन तेरह रूपकों में से कुछ तो भास के हैं, शेष अन्य परवर्ती कवि के। जागीरदार का मत है कि इनमें से स्वप्नवासवदत्तम्, प्रतिज्ञायौगन्धरायम् तथा पञ्चरात्रम्- ये तीन ही रूपक भास के रचे हुए हैं। सुक्थनकर केवल उदयनकथाश्रित दो रूपकों को भास रचित मानते है। चौथे मत के अनुसार ये रूपक भास के रचित रूपकों के संक्षिप्त रूपांतर हैं, चाक्यारों ने अभिनय की दृष्टि से इनमें संक्षेप तथा फेरबदल किया है।

उपलब्ध साक्ष्यों से द्वितीय मत तो सर्वथा निस्सार ठहरता है। भास ने स्वप्नवासवदत्तम् तथा प्रतिज्ञायौगंधारण नामक दो रूपक तो अवश्य ही लिखे थे, क्योंकि प्राचीन कवियों और आचार्यों की परंपरा उनका इन रूपकों के रचयिता के रूप में उल्लेख करती है।

प्राचीन कवियों व आचार्यों द्वारा भास का उल्लेख-

संस्कृत के अनेक कवियों तथा आचार्यों ने भास से परिचय प्रकट किया है। कालिदास ने अपने मालविकाग्निमित्र में पारिपार्श्विक के मुख से प्रश्न कराया है- 'प्रथतयशसां भासौमिल्लकविपुत्रादीनां प्रबन्धानतिक्रम्य, वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं परिषदो बहुमानः?-अर्थात् भास, सौमिल्ल और कविपुत्र जैसे प्रख्यात यश वाले

नाटककारों के नाटकों को अनदेखा कर के आज के कवि कालिदास की रचना में परिषद् (नाटक देखने वाले रसिक प्रेक्षकों) का इतना मान कैसे? यदि कालिदास प्रथम शताब्दी ई०पू० में हुए, तो भास उनके कुछ शताब्दियों पहले अवश्य हो चुके थे। इससे स्पष्ट है कि कालिदास के समय तक भास एक महान् नाटककार के रूप में प्रतिष्ठित थे और उनके नाटकों का अभिनय होता रहता था। कालिदास के पश्चात् बाण ने अपने हर्षचरित में भास की प्रशंसा में कहा है-

सूत्रधारकृतारम्भैर्नाटकैर्बहुभूमिकैः।
सपताकैर्यशो लेभे भासो देवकुलैरिव।।

(भास ने देवकुल या देवालय के समान सूत्रधार से आरंभ किये जाने वाले, बहुत भूमिका वाले, तथा पताका वाले अपने नाटों से यश पाया।) दंडी ने अपने काव्यादर्श (२/२२६) में भास के दरिद्रचारुदत्तम् का 'लिम्पतीब तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः' यह श्लोकार्ध उद्धृत किया है, यद्यपि यह स्पष्ट नहीं होता कि यह श्लोकोर्ध वे भास के नाटक से उद्धृत कर रहे हैं या मृच्छकटिक से। दंडी के नाम से अवंतिसुंदरीकथा नामक एक गद्य रचना प्राप्त होती है, इसमें भास का उल्लेख है।

सुप्रसिद्ध काव्यशास्त्री भामह ने अपने काव्यालंकार में प्राकृत महाकाव्य गौडवहो के कर्ता वाक्पति राज ने भास को 'ज्वलनमित्र' (अग्नि का मित्र) कहा है। काव्यालंकारसूत्र के प्रणेता आचार्य वामन भास के तीन पद्यों को उद्धृत करते हैं- शरच्छशांक गौरेण०, यासां बलिर्भवति०-यो भर्तृपिण्डस्य कृते न युध्येत-ये तीन पद्य उद्धृत करते हैं, पर न तो उन्होंने भास का नाम लिया है, न भास के किसी रूपक का। पहला पद्य स्वप्नवासवदत्तम् में कुछ परिवर्तन के साथ मिलता है, दूसरा दरिद्रचारुदत्तम् तथा मृच्छकटिकम् में समान है और तीसरा प्रतिज्ञायौगंधरायण में मिलता है। राजशेखर ने भास के विषय में लिख है कि भासनाटकचक्र की अग्निपरीक्षा की गयी, उसमें स्वप्नवासवदत्तम् नाटक को अग्नि भी नहीं जला सकी-

भासनाटकचक्रेऽपि च्छेकैः क्षिप्ते परीक्षितुम्।
स्वप्नवासवदत्तस्य दाहकोऽभून्न पावकः।।

यह पद्य राजशेखर की किसी रचना में नहीं मिलता, अपितु जल्हण ने अपनी सूक्तिमुक्तावली में इसे राजशेखरकृत बता कर उद्धृत किया है। अभिनवगुप्त ने स्वप्नवासवदत्तम् नाटक का नामोल्लेख करते हुए इसके पद्मावती द्वारा कंदुकक्रीड़ा के प्रसंग का संदर्भ दिया है। भोज ने अपने शृंगारप्रकाश के बारहवें प्रकाश में स्वप्नवासवदत्त नाटक का नामोल्लेख करते हुए इसके पाँचवे अंक की घटना का विस्तार से वर्णन किया है, जो यथावत् स्वप्नवासवदत्तम् में चित्रित है। रामचंद्र-गुणचंद्र ने नाट्यदर्पण में कहा है-

यथा भासकृते स्वप्नवासवदत्ते शेफलिकातलमवलोक्य वत्सराजः-

पादाक्रान्ताणि पुष्पाणि सोष्म चेदं शिलातलम्।
नूनं काचिदिहासीना मां दृष्ट्वा सहसा गता।

यह श्लोक टी० गणपति शास्त्री के प्राप्त हुई पांडुलिपियों में नहीं मिलता। पर यह श्लोक भासकृत स्वप्नवासवदत्तम् में रहा होगा और लिपिकार के प्रमाद से अथवा चाक्यारों के द्वारा संक्षिप्त आलेख तैयार करने के कारण छूट गया-ऐसा अनुमान किया जा सकता है। चतुर्थ अंक में उदयन को देख कर शिलातल पर बैठी पद्मावती और वासवदत्ता उनसे छिपने के लिये पीछे के लताकुंज में चली जाती हैं, तब उदयन ने शिलातल के विषय में यह कहा होगा। स्वप्नवासवदत्तम् के वर्तमान में उपलब्ध मुद्रित संस्करणों में यह श्लोक यथास्थान दे दिया गया है।

दसवीं शताब्दी में धार के राजा भोज ने अपने काव्यशास्त्रविषयक ग्रंथ 'सरस्वतीकंठाभरण' में स्वप्नवासवदत्तम् के नामोल्लेख के साथ उसके पाँचवे अंक के स्वप्नदृश्य का इस प्रकार विवेचन किया है-

स्वप्नवासवदत्ते पद्मावतीमस्वस्थां द्रष्टुं राजा समुद्रगृहकं गतः। पद्मावतीरहितं च तदवलोक्य तस्या एव शयने सुष्वाप, वासवदत्तां च स्वप्नवदस्वप्ने ददर्श। स्वप्नायमानश्च वासवदत्तामाबभाषे। स्वप्नशब्देन चेह स्वापो वा स्वप्नं वा स्वप्नदर्शने वा स्वप्नायितं वा विवक्षितम्।

इस उद्धरण से स्पष्ट है कि भोज को भास का स्वप्नवासवदत्तम् उपलब्ध था और उन्होने उसका अध्ययन किया था।

आचार्य अभिनवगुप्त ने अपने ध्वन्यालोकलोचन में स्वप्नवासवदत्तम् से निम्नलिखित पद्य उद्धृत किया है-

सञ्चितपक्ष्मकवाचं नयनद्वारं स्वरूपताडेन।
उद्घाट्य सा प्रविष्टा हृदयगुहं मे नृपतनूजा।।

पर यह पद्य स्वप्नवासवदत्तम की उपलब्ध प्रतियों में नहीं मिलता।

नाटकलक्षणरत्नकोश में सागरनंदी ने स्वप्नवासवदत्तम् की प्रस्तावना से यह गद्यांश उद्धृत किया है-

नेपथ्ये सूत्रधारः-(उत्सारणं श्रुत्वा पठति)- अये कथं तपोवनेऽप्युत्सारणा? (विलोक्य) कथं मन्त्री यौगन्धरायणः वत्सराजस्य राज्यप्राप्त्यानयनं कर्तुकामः पद्मावतीय-जनेनोत्सार्यते इति।

यह गद्यांश भी उपलब्ध स्वप्नवासवदत्तम् की प्रस्तावना या स्थापना में नहीं मिलता। पर यह मूल स्वप्नवावसदत्तम् में अवश्य रहा होगा, क्योंकि इसका पूरा प्रसंग स्वप्नवासवदत्तम् की प्रस्तावना का ही है।

तेरहवीं शताब्दी के शारदातनय ने स्वप्नवासवदत्तम् को प्रशांत कोटि के नाटक का उदाहरण मान कर इसमें पाँच संधियों का विवेचन विस्तार से किया है। अमरकोश के टीकाकार सर्वानंद (बारहवीं शताब्दी) ने स्वप्नवासवदत्तम् में राजा उदयन के पद्मावती के साथ विवाह को अर्थशृंगार का उदाहरण माना है, तथा इसके पूर्व वासवदत्ता के साथ हो चुके उसके परिणय को कामशृंगार का।

भास का उल्लेख करने वाले अन्य कवि हैं- सोड्ढल (ग्यारहवीं शताब्दी) तथ सोमप्रभसूरि (बारहवीं शताब्दी)। दूसरी शताब्दी के तमिल महाकवि इलंकोवाडिगल ने भी उनका उल्लेख किया है।

इन उल्लेखों से यह सिद्ध होता है कि भास ने कई रूपक लिखे थे, क्योंकि भासनाटकचक्र यह संज्ञा तभी संभव हो सकती है, जब उन्होंने अनेक रूपक लिखे हों। दूसेर स्वप्नवासवदत्तम् तथा प्रतिज्ञायौगंधरायण ये दो रूपक तो उन्होंने लिखे ही थे।

घटकर्पर, धावक तथा भास की अभिन्नता –

धावक राजा हर्ष की राजसभा में एक कवि थे, जिनका उल्लेख मम्मट आदि आचार्यों ने किया है। जल्हण ने सूक्तमुक्तावली में राजशेखर के कविविमर्श से कतिपय पद्य उद्धृत किये हैं, जिन में राजशेखर ने बताया है कि भास जाति से धावक (धोबी) थे। इन्होंने प्रियदर्शिका, रत्नावली तथा नागानंद- इन तीन रूपकों की रचना की थी, और इनकी रचनाओं से प्रसन्न हो कर राजा हर्ष ने इन्हें अपनी राजसभा में सम्मिलित किया था।

राजशेखर ने इनके उदात्तराघव नाटक की प्रशंसा में कहा है कि यह नाटक सचमुच उदात्तरस से गुंफित है। इन्होंने शोकांत नाटक किरणावली की नौ अंकों में रचना भी की है। हेमचंद्र ने अपने काव्यानुशासन में घटकर्पर और भास को अभिन्न बताया है। इन्होंने कहा है- 'सम्प्रति परां काष्ठामारूढेनापि भासेन भूतपूर्वा स्वकीया दशा न विस्मृता। यतोऽनेन पूर्वचरितं घटकर्परेणोदकवहनमेव प्रतिज्ञातम्। प्रतिज्ञांचेमामसहमानः परे कवयः परिहसितुमनसो विक्रमार्कसभ्यमेनं भासं तज्जातिस्मारकघटकर्परनाम्ना व्यवजहुः। क्रमेण स एव व्यपदेशो भासमहाकवेः सुप्रसिद्धः सम्पन्नः।' राजशेखर और हेमचंद्र के उल्लेखों की प्रामाणिकता विचारणीय है।

स्वप्नवासवदत्तम् –

स्वप्नवासवदत्तम् निस्संदेह विश्व साहित्य में सर्वश्रेष्ठ नाटक में से एक है। इस नाटक में छह अंक हैं। यह नाटक राजा उदयन की कथा पर आधारित है। कालिदास ने

मेघदूत में बताया है कि उदयन की कहानी अवंती प्रदेश में गाँव-गाँव में कही सुनायी जाती थी। मूल कथानक इस प्रकार है- उदयन के राज्य का एक हिस्सा शत्रु राजा आरुणि ने हड़प लिया है। उदयन के मंत्री यौगंधरायण आरुणि को परास्त करने के लिये रानी वासवदत्ता को विश्वास में लेकर एक कूटयोजना बनाते हैं। इस योजना का लक्ष्य है-राजा उदयन का दूसरा विवाह मगध की राजकुमारी से करा कर मगध की सैनिक सहायता प्राप्त करना। उदयन रानी वासवदत्ता पर इतना अनुराग रखते हैं कि वे दूसरा विवाह करने को तैयार हो ही नहीं सकते। इसलिये इस कूट योजना के अनुसार उदयन के मृगया प्रयाण के अवसर पर उस शिविर में आग लगा दी जाती है, जिसमें उनके साथ वासवदत्ता रह रही है। यौगंधरायण और वासवदत्ता वेष बदल कर उदयन के राज्य में चल देते हैं और इधर इन दोनों के अग्निदाह में जल कर मर जाने का मिथ्या प्रवाद फैला दिया जाता है। संन्यासी के वेष में यौगंधरायण तथा आवंतिका नाम वाली साधारण स्त्री के वेष में रानी वासवदत्ता चलते चलते मगध की सीमा पर आते हैं। यहाँ उन्हें अपनी माता से भेंट कर राजधानी राजगृह को जाती हुई राजकुमारी पद्मावती मिलती है। यौगंधरायण वासवदत्ता को प्रोषितभर्तृका (जिसका पति बाहर गया हो) तथा अपनी बहिन बता कर धरोहर के रूप में पद्मावती को सौंप देते हैं। इसके पश्चात् कूटयोजना के अनुसार उदयन का पद्मावती के साथ विवाह हो जाता है। वासवदत्ता छद्म वेष में पद्मावती के साथ रहती हुई अपने ही पति का दूसरा विवाह अपने सामने होते देखती है। विवाह के पश्चात् उदयन कुछ दिन राजगृह में ही रहते हैं। एक दिन विदूषक उनसे हँसी हँसी में पूछता है कि दोनों रानियों में उन्हें कौन अधिक प्रिय है- दिवंगत रानी वासवदत्ता या वर्तमान रानी पद्मावती? उदयन बहुत आनाकानी करते हुए विदूषक के द्वारा शपथ दिलाने जाने पर बताते हैं कि पद्मावती अपने रूप, शील और माधुर्य के कारण बहुत आदरणीय है, पर वासवदत्ता में अटके उनके मन को वह नहीं खींच पाती। इस बातचीत को पीछे लताकुंज में छिपी पद्मावती, वासवदत्ता (छद्मवेष में आवंतिका) तथा चेटी सुन रही हैं। वासवदत्ता के मन में उदयन को यह स्वीकारोक्ति बहुत बड़ा चिंता का बोझ हटा देती है। पद्मावती अपनी विशालहृदयता का परिचय देते हुए कहती है कि आर्यपुत्र बड़े कोमल हृदय के हैं जो अभी तक आर्या वासवदत्ता का स्मरण करते हैं। वासवदत्ता की स्मृति में उदयन की आँखें डबडबा जाती हैं। विदूषक उनके मुँह धोने के लिये पानी लेने जाता है। इसी समय वासवदत्ता पद्मावती से कहती है कि तुम अपने पति के पास चली जाओ। विदूषक दोनों में पानी ले कर आता है और दूसरी ओर से पद्मावती आ जाती है। विदूषक बात छिपा कर पद्मावती से कहता है कि कास के फूल का पराग गिर जाने से महाराज की आँखें आँसुओं से भर गयीं थीं इसलिये मैं मुखप्रक्षालन के लिये जल ले कर आया हूँ। पद्मावती मन ही मन हँसती हुई सोचती है कि उदार मन वाले व्यक्ति के सेवक भी उदार ही हैं। वह विदूषक के हाथ से

पानी का दोना ले लेती है और स्वयं राजा के पास उसे ले जाती है। राजा पद्मावती को देखकर घबरा जाते हैं, फिर विदूषक के संकेत पर वे भी कास के फूल का पराग आँखों में गिर जाने का बहाना कर देते हैं। यहाँ चौथा अंक समाप्त हो जाता है।

पाँचवे अंक में उदयन तथा वासवदत्ता को बताया जाता है कि पद्मावती शिरोवेदना के कारण रुग्ण है और उसकी शैया समुद्रगृह में लगायी गयी है। संयोग से पद्मावती समुद्रगृह में गयी ही नहीं, पर इस सूचना पर पहले उदयन और कुछ समय बाद आवंतिकावेशधारिणी वासवदत्ता उस महल में पहुँचते हैं। रात हो चुकी है। उदयन को विदूषक के मुख से एक कहानी सुनते-सुनते झपकी लग गयी है और विदूषक भी अपने ओढने के लिये शाल लाने बाहर चला गया है। इसी समय वासवदत्ता समुद्रगृह में आती है। वह दीपक के मद्धिम प्रकाश में सोये उदयन को पद्मावती समझ बैठती है और स्नेह के कारण आधी खाली शैया पर लेट जाती है। इसी समय उदयन स्वप्न में वासवदत्ताको पुकारते हैं। वासवदत्ता पहले तो यह समझ कर घबरा जाती है कि उसके पति ने उसे पहचान लिया और यौगंधरायण की सारी योजना चौपट हो गयी। फिर वह देखती है कि उदयन सपना देख रहे हैं, तो वह पास खड़ी हो कर उनका बड़बड़ाना सुनती है। सपने में उदयन वासवदत्ता से बातचीत करते हैं, और सचमुच की वासवदत्ता पास में खड़ी उनकी बातों का उत्तर देती है। उदयन का हाथ शैया से नीचे लटक गया है, वासवदत्ता उसे शैया पर रख कर जाने को होती है, तभी उदयन चौंक कर उठ बैठते हैं, और तेजी से जाती वासवदत्ता की झलक देखते हैं। इसी समय विदूषक लौट जाता है। उदयन प्रसन्न हो कर उसे बताते हैं कि वासवदत्ता जीवित है। विदूषक उन्हें विश्वास दिलाता है कि उन्होंने सपना देखा होगा। युद्ध की तैयारी की सूचना के साथ यहाँ पाँचवा अंक समाप्त हो जाता है। छठे अंक में उदयन आरुणि पर विजय प्राप्त कर के कौसांबी आ गये हैं। अचानक एक दिन उनकी घोषवती नामक वीणा कहीं झाड़ियों में पड़ी मिल जाती है, जिससे उन्होंने वासवदत्ता को विवाह के पहले वीणा बजाना सिखाया था। वीणा को ले कर उदयन वासवदत्ता को याद कर विलाप करने लगते हैं। इसी समय वासवदत्ता के माता-पिता के द्वारा भेजे गये कंचुकी और धात्री वहाँ आते हैं और महाराज महासेन तथा उनकी रानी का संदेश सुनाते हैं। वे वासवदत्ता और उदयन के चित्र भी देते हैं, जिनके द्वारा महासेन ने उज्जयिनी में दोनों का विवाह करा दिया था। पद्मावती वासवदत्ता के चित्र को देख कर चकित रह जाती है। वह उदयन को बताती है कि इस चित्र से बहुत साम्य रखने वाली एक स्त्री उसके साथ रहती है। इसी समय संन्यासी के वेष में यौगंधारण प्रकट होता है और धरोहर के रूप में सौंपी गयी अपनी बहिन को वापस माँगता है। आवंतिका वेषधारिणी वासवदत्ता जो मगध से पद्मावती के ही साथ कौशांबी आ गयी थी, उसे लाया जाता है। धात्री वसुंधरा उसे पहचान लेती है और वह कह उठती है कि यह तो वासवदत्ता है। उदयन कते हैं कि इन्हें भीतर

ले जाओ। यौगंधरायण विवाद करने लगता है कि मेरी बहिन को आप बलपूर्वक अपने रनिवास में कैसे रख सकते हैं? उदयन कहते हैं- जवनिका हटायी जाये। तब यौगंधरायण अपने वास्तविक रूप में प्रकट हो कर सारी बात का स्पष्टीकरण देता है और नाटक समाप्त होता है।

स्वप्नवासवदत्तम् का कथा संविधान कौतुक और नाटकीयता से भरपूर है। नाटकीय विडंबनाओं और विसगति के अभिप्राय का अत्यंत मार्मिक उपयोग नाटक में भास ने यहीं किया है। दर्शक तो प्रारंभ में ही यौगंधरायण की सारी कूट योजना से अवगत हो जाते हैं, और वे आवंतिका के वेष में नाटक की नायिका वासवदत्ता को आद्यंत पहचानते रहते हैं। पर पद्मावती नहीं जानती कि जिसे साधारण स्त्री बता कर धरोहर के रूप में उसे सौंपा जा रहा है, वह कौशांबी की महारानी वासवदत्ता है और यहीं नहीं आगे चल कर वह उसकी सौत बनने जा रही है। नाटक के चौथे और पाँचवे अंक तो नाट्यकला और भावजगत् की रचना में अद्वितीय ही है।

प्रतिज्ञायौगंधरायणम् -

यह चार अंकों का रूपक है। कथानक की दृष्टि से इसे स्वप्नवासवदत्तम् का पूर्वार्ध भी कहा जा सकता है। इसकी कथा इस प्रकार है- राजा उदयन मृगया के लिये जाते हैं। वन में एक आगंतुक उन्हें बताता है कि एक कोस दूर नील हस्ती है। राजा अपने मंत्री रुमण्वान् के रोकते रहने पर भी नील हस्ती को पकड़ने के लिये चल पड़ते है। उदयन वीणा के श्रेष्ठ आचार्य हैं और वे हाथियों को वीणा के राग से ही वश में कर लेते हैं। पर जिसे नील हस्ती बताया गया था, वह वास्तविक हाथी नहीं था। वह लोहे का बना हुआ यांत्रिक हाथी था। वह आगे बढ़ता गया और उदयन वीणा बजाते हुए उसके पीछे चलते गये। एकांत होने पर उस कृत्रिम हाथी का पेट खोल कर सैनिक निकले और उन्होंने राजा से युद्ध करते हुए उसे पकड़ लिया। ये सैनिक उज्जयिनी के राजा प्रद्योत के थे। प्रद्योत का दूसरा नाम महासेन या चंडप्रद्योत भी था। वह बड़ा प्रतापी राजा था। वह अपनी बेटी वासवदत्ता का विवाह राजा उदयन से करना चाहता था, पर उदयन को अपने उच्च कुल का बड़ा अभिमान था, और महासेन को भय था कि वे उसकी पुत्री से विवाह के प्रस्ताव को ठुकरा देंगे। इसलिये उसने उदयन को छल से पकड़वा लिया था। महासेन ने उदयन को अपने प्रासाद में बंदी बना लिया और राजकुमारी वासवदत्ता उदयन से वीणा सीखने के लिये प्रतिदिन उनके पास आने लगी। दोनों में प्रेम हो गया। इधर उदयन के मंत्री यौगंधरायण ने प्रतिज्ञा की थी कि वह अपने राजा को महासेन के कारागार से छुड़ा कर लायेगा। इसके लिये उसने कूट योजना बनायी और वह वेष बदल कर मंत्री रुमण्वान् और विदूषक के साथ उज्जयिनी पहुँच गया। यौगंधरण स्वयं उन्मत्तक (पागल) तथा रुमण्वान् द्वारपाल का वेष धरता है। उज्जयिनी में कारागार तक एक सुरंग खोद कर उदयन से

संपर्क करते हैं और उन्हें कारागार से छुड़ाने का प्रयास करते हैं। उदयन कहते हैं कि वे वासवदत्ता से प्रेम करते हैं, और उसे साथ ले कर ही कारागार से भागेगें, अकेले नहीं। तब यौगंधरायण दूसरी प्रतिज्ञा करता है कि वह राजकुमारी वासवदत्ता के साथ अपने राजा को कारागार से बाहर निकालेगा। इसके लिये महासेन के नलागिरि नामक एक हाथी को सुरा पिला का मदमत्त कर दिया जाता है। हाथी पागल होकर सड़क पर भाग निकलता है। उदयन हाथी को वश में करने वाला राग बजाना जानते हैं। इसलिये विवश हो कर महासेन उन्हें कारागार से बाहर निकालता है। यौगंधरायण की कूट योजना के अनुसार उदयन और वासवदत्ता भाग निकलते हैं, महासेन की सेना यौगंधाराय के पक्ष के लोगों को घेर लेती है और युद्ध छिड़ जाता है। यौगंधरायण पकड़ा जाता है, पर महासेन दंड के स्थान पर उसे उल्टे पुरस्कार देते हैं।

नाटकीय संविधान की दृष्टि से प्रतिज्ञा यौगंधरायण विश्वनाट्यसाहित्य में अपने ढंग का अनोखा रूपक है। यह ऐसा नाटक है जिसमें नायक तथा नायिका का मंच पर कहीं भी प्रवेश होता ही नहीं, फिर भी वे दोनों पूरे नाटक में छाये हुए हैं, क्योंकि सारा कार्य व्यापार उनके लिये और लगातार उन्हीं की चर्चा के साथ चलता है। नाटक पढ़ते हुए या देखते हुए हम निरंतर उनकी उपस्थिति का अनुभव करते हैं। इसप्रकार का अन्य कोई रूपक नहीं मिलता जो मुख्य पात्रों की सशरीर उपस्थित के बिना उनकी उपस्थिति का गहरा बोध दे सके। प्रतिज्ञायौगंधरायण की दूसरी विशेषता उसकी अत्यंत सुगठित व सुसंबद्ध वस्तुयोजना है। पहले अंक के आरंभ में ही राजा उदयन को छल से पकड़ लिये जाने की सूचना मंत्री यौगंधरायण को मिलती है, और यौगंधरायण अपने राजा को छुड़ाने की प्रतिज्ञा करता है। इसके आगे पूरे नाटक के घटनाचक्र का सूत्रधार यौगन्धरायण बना रहता है, और यौगंधराण जो कुछ करता है उदयन को कारागार से छुड़ाने के लिये करता है। अपने सांकतित या गूढ़ अभिप्रायगर्भित छोटे छोटे संवादों, उन्मत्तक के वेष में द्व्यर्थक एकालाप की योजना व हास्य की अनूठी सृष्टि के कारण भी प्रतिज्ञायौगंधरायण एक सफल रूपक है। वीर रस की भी इस नाटक में विशिष्ट रूप में ही अवतारणा की गयी है। एक समीक्षक के मत में वीर रस का यदि एक भेद प्रतिज्ञावीर मान लिया जाये, तो इस नाटक में यौगंधरायण की चरितगाथा वीररस की इसी नयी कोटि का निदर्शन है। घटनाचक्र पर बार बार अप्रत्याशित रूप में नयी दिशा में मुड़ जाना दर्शकों में कौतूहल बनाये रखता है।

रंगमंच की दृष्टि में प्रतिज्ञायौगंधरायण संस्कृत के सर्वाधिक लोकप्रिय रूपकों में एक कहा जा सकता है। केरल में कूडियाट्टम् शैली में चाक्यारों के द्वारा इसके अभिनय की परंपरा प्राचीन है।

प्रतिज्ञायौगंधरायण किस कोटि का रूपक है- यह प्रश्न नाट्यशास्त्रीय सिद्धांतों के आधार पर असमाधेय ठहराता है। इसे नाटिका, नाटक, ईहामृग या प्रकरण इन चार रूपक विधाओं में रखा जाता रहा है, पर किसी के भी लक्षण इसमें पूरे नहीं उतरते।

दरिद्रचारुदत्त-

यह चार अंकों का अपूर्ण रूपक है। शूद्रक-कृत मृच्छकटिक के प्रथम चार अंकों के लगभग सभी संवाद और कथायोजना इस रूपक से साम्य रखती है। या तो किसी परवर्ती कवि ने मृच्छकटिक के प्रथम चार अंकों को सरल बना कर उनमें से राजनीति से संबद्ध कथांश निकाल कर अभिनय आलेख तैयार किया अथवा मृच्छकटिककार ने इस रूपक को आधार बना कर एक बड़ा प्रकरण लिखा- यह भी संभव है। प्रथम अंक में नायक चारुदत्त अपनी दरिद्रता पर खेद प्रकट कर रहा ह। बाहर सड़क पर वसंतसेना गणिका का शकार और विट पीछा कर रहे हैं। इसी समय चारुदत्त के घर से दासी रदनिका तथा विदूषक बाहर निकलते हैं। खुले द्वार से वसंतसेना चारुदत्त के घर में प्रवेश कर जाती है। शकार दासी रदनिका को वसंतसेना समझ कर पकड़ लेता है। वसंतसेना अपने आभूषण धरोहर के रूप में चारुदत्त के पास छोड़ कर विदूषक के साथ अपने घर चली जाती है। यहाँ पहला अंक समाप्त हो जाता है, दूसरे अंक का आरंभ जुआरियों के दृश्य से होता है। वसंतसेना जुआरियों के द्वारा प्रतारित किये जा रहे संवाहक को अपने पास से धन दे कर बचाती है क्योंकि वह चारुदत्त की सेवा कर चुका है। यह संवाहक बौद्ध भिक्षु हो जाता है, और वसंतसेना को एक चेट पागल हाथी के आक्रमण से बचाता हैं तीसरे अंक में सज्जलक, जिसका नाम मृच्छकटिक में शर्विलक है, चारुदत्त के घर में चोरी करने घुसता है और वसंतसेना के द्वारा धरोहर के रूप में दिये गये आभूषण चुरा लेता है। अंतिम अंक में वसंतसेना चारुदत्त के पास अभिसार के लिये जाने को तैयार होती है।

अविमारक -

यह छह अंकों का नाटक है। इसका नायक राजकुमार अविमारक है, जो ऋषि के शाप से अत्यंज बन गया है। अविमारक का वास्तविक नाम विष्णुसेन है। वह काशीराज की रानी सुदर्शना का पुत्र है, जिसे शैशव में ही माता ने अपनी बड़ी बहिन तथ सोबीरराज की पत्नी सुचेतना को सौंप दिया था। चंडभार्गव ऋषि के शाप से सौवीरराज सपरिवार एक वर्ष के लये चांडाल हो जाते हैं और वे कुंतिभोज की नगरी में प्रच्छन्न हो कर निवास करने लगते हैं। एक बार कुंतिभोज की कन्या कुरंगी को अविमारक मतवाले हाथी के हमले से बचाता है। दोनों एक दूसरे के प्रणयपाश में बँध जाते हैं। अविमारक छिप छिप कर राजकुमारी से मिलने लगता है। दोनों गांधर्व विवाह कर लेते हैं। सौवीरराज को इस बात की सूचना मिलती है, तो वे अविमारक को पकड़वाने का प्रयास करते हैं। विमारक भाग निकलता है और दुखी हो कर प्राण त्यागने का निश्चय कर लेता है। तभी एक विद्याधर इस पर कृपा कर के उसे एक ऐसी अँगूठी देता है, जिसे बायें हाथ में पहनने पर तो पहनने वाला दिखायी पड़ता है, पर दाहिने हाथ में उसे पहनते ही वह अदृश्य हो जाता है। विद्याधर अविमारक को एक जादुई तलवार भी देता है। अविमारक इन दोनों वस्तुओं के प्रभाव से

अपनी प्रिया के पास पहुँच जाता है और उसे आत्महत्या से बचाता है। अंत में अविमारक की वास्तविकता का पता चलने पर सौवीरराज उसके द्वारा अपनी पुत्री के साथ किये गये गांधर्व विवाह को मान्य कर देते हैं।

यह रूपक आद्यंत विचित्र घटनाओं के ताने बाने में बुना हुआ है। लोककथाओं के बहुविध अभिप्राय इसमें संक्रांत हुए हैं। अविमारक कौन है-यह प्रथम अंक में रहस्य बना रहता है, दूसरे अंक में विदूषक के कथनों से अविमारक की वास्तविकता का आभास तो होता है, पर उसका इतिहास चौथे अंक में विद्याधर के संवाद से ही दर्शकों को विदित हो पाता है। इसमें शृंगार रस की प्रधानता है। जिसके साथ अद्‌भुत रस ने कथा में चमत्कार ला दिया है।

महाभारताश्रित रूपक -

मध्यमव्यायोग, दूतवाक्यम्, कर्णभार, दूतघटोत्कच, ऊरुभंग एक-एक अंक के रूपक है। इनमें से ऊरुभंग तो उत्सृष्टिकांक है और मध्यमव्यायेग व्यायोग कोटि का रूपक है। शेष दूतवाक्य तथा दूतघटोत्कच पर आंशिक रूप से व्यायोग के ही लक्षण चरितार्थ होते हैं और कर्णभार की रूपक कोटि अनिर्धारित है। पंचरात्रम् तीनों अंकों का समवकार है।

मध्यमव्ययोग अभिनेयता, कथानक की नयी परिकल्पना, कौतुकी वृत्ति को सफल निष्पत्ति और वीर के साथ हास्य रस का विलक्षण संयोग प्रस्तुत करता है। इसमें मुख्य पात्र तो महाभारत के हैं, पर जो प्रसंग इसमें चित्रित है, वह महाभारत में प्राप्त नहीं होता।

केशवदास नामक ब्राह्मण अपने परिवार के साथ वन में जा रहा है। घटोत्कच मार्ग में इस परिवार को रोक लेता है और अपनी माँ हिडिंबा के व्रत की पारणा के लिये एक व्यक्ति को सौंप देने के लये कहता है। केशवदास स्वयं उसके साथ चलने को तैयार हो जाता है, पर घटोत्ककट कहता है कि बूढ़ा व्यक्ति नहीं चाहिये। उसकी पत्नी के लिये भी वह स्त्री होने के कारण मना कर देता है। तब उसके तीन पुत्रों में प्रत्येक अपने आप को बलि के लिए अर्पित करने का प्रस्ताव करता है। केशवदास ज्येष्ठ पुत्र को नहीं सौंपना चाहता, और माता अपने कनिष्ठ पुत्र को रोकती है तब मध्यम (मँझला) पुत्र घटोत्कच के साथ चलने को तैयार होता है। जाने के पहले वह पानी पीने के लिये सरोवर जाता है और उसके देर लगाने पर घटोत्ककच ब्राह्मण से उसका नाम पूछ कर 'मध्यम, मध्यम' कह कर उसे पुकारता हे। भीमसेन जो पांडवों में मध्यम है, और पास ही में व्यायाम कर रहे होते हैं, इस पुकार को अपने लिये समझ कर वहाँ आ जाते हैं केशवदास भीमसेन को पहचान कर उनसे अपने परिवार की रक्षा करने की प्रार्थना करता है। भीमसेन उसे अभय देते हैं। वे घटोत्कट को पहचान लेते हैं, पर घटोत्कच अपने पिता को नहीं पहचान पाता। भीमसेन उसके साथ विनोद करते हुए ब्राह्मणकुमार को छोड़ देने का अनुरोध करते हैं।

घटोत्कट कहता है कि ब्राह्मणकुमार की रक्षा ही करना चाहत हो, तो तुम उसके स्थान पर चले चलो। भीमसेन उसे हँसी हँसी में चुनौती देते हुए कहते हैं कि मुझसे युद्ध कर के मुझे पकड़ कर ले चलो, घटोत्कच उनसे भिड़ जाता है, पर उसके सारे प्रहार निष्फल होते है। अंत में हार कर वह भीमसेन को उनके वचन का स्मरण दिला कर साथ चलने के लिये कहता है। दोनों हिडिंबा के सामने पहुँचते हैं। भीमसेन को देख कर हिडिंबा चकित रह जाती है और घटोत्कच को इसकी भूल का बोध करा कर क्षमा माँगने को कहती है।

पंचरात्र समवकार का आरंभ दुर्योधन के यज्ञानुष्ठान के प्रसंग से होता है। यज्ञ की समाप्ति पर दुर्योधन गुरुजनों को प्रणाम करता हुआ उन्हें दक्षिणा देना चाहता है। द्रोणाचार्य दक्षिणा नहीं लेते, जबकि दुर्योधन गुरुभक्ति से भावित हो कर अपना सर्वस्व उन्हें दे देने को तत्पर है। द्रोणाचार्य की आँख में आँसू आ जाते हैं, और वे अपने लिये कुछ न माँग कर पांडवों के लिये आधा राज्य माँगते हैं-'त्वं पाण्डवानां कुरु संविभागमेषा च भिक्षा मम दक्षिणा च।' भीष्म द्रोण के अनुरोध का समर्थन करते हैं, पर शकुनि दुर्योधन को अपना पाठ पढ़ाता हुआ द्रोण और भीष्म की बात न मानने की सलाह देता है। कर्ण पांडवों को आधा राज्य देने की बात का समर्थन करता है। तब शकुनि सुझाता है कि दुर्योधन द्रोण से यह कहे कि अज्ञातवास पर रहने वाले पांडवों का पता यदि पाँच रात्रियों के भीतर लगा दें, तो वह पांडवों का आधा राज्य सौंप देगा। भीष्म के परामर्श से द्रोणाचार्य पाँच दिन और पाँच रात के भीतर पांडवों का पता लगाने का प्रस्ताव स्वीकार कर लेते हैं। उसी समय विराट का दूत आता है। वह विराट का संदेश देता है, जिसमें विराट ने कीचक का वध हो जाने के कारण दुर्योधन के यज्ञ में न आ पाने की अपनी विवशता प्रकट की है। भीष्म कहते हैं कि विराट बहाना बना रहा है, वह कौरवों के प्रति शत्रुता के कारण यज्ञ में सम्मिलित नहीं हुआ। पांडव छद्मवेश में विराट के नगर में रह रहे हैं- इस बात का कौरवों में से किसी को भी अनुमान नहीं है। कौरव विराट की गायों का हरण करने की योजना बनाते हैं।

इसके पश्चात् कौरवों का विराट के पक्ष से युद्ध छिड़ जाता है। इस युद्ध में बृहन्नतावेशधारी अर्जुन विराट की ओर से युद्ध करता है। कौरव पक्ष की पराजय होती है, केवल अभिमन्यु उनकी ओर से अंत तक युद्ध करता रहता है, जिसे निहत्था भीम रथ से उतार कर विराट की सभा में ले आता है। अंत में पांडव अपना छद्म वेश उतार कर वास्तविक परिचय देते हैं। विराट अपनी बेटी उत्तरा का विवाह अर्जुन के साथ करने का प्रस्ताव रखते हैं, अर्जुन कहते हैं कि शिष्या होने के कारण वे उत्तरा को पुत्री के रूप में देखते रहे हैं, और वे अभिमन्यु के हाथ में उत्तरा का हाथ देने का प्रस्ताव करते हैं। उधर कौरव पक्ष में विवाद छिड़ जाता है कि अभिमन्यु को उठा कर ले जाने वाला हो न हो भीम ही है, तभी दुर्योधन के रथ की ध्वजा काटने वाले तीर पर अर्जुन का नाम अंकित

है यह बात पता चलने पर द्रोण कहते हैं कि उन्होंने पाँच रातों में पांडवों का पता लगा लिया है। फिर भी दुर्योधन और शकुनि उनकी बात नहीं मानते। तभी अभिमन्यु के विवाह में सम्मिलित होने के लिये युधिष्ठिर को निमंत्रण ले कर एक दूत उनके पास आता है। द्रोण दुर्योधन को उसके वचन का स्मरण दिलाते हैं। दुर्योधन अपनी प्रतिज्ञा के अनुसार पांडवों को उनका आधा राज्य लौटाने पर सहमत हो जाता है।

पंचरात्र में वर्णित कौरवों का विराट की गायों का अपहरण और युद्ध की घटना महाभारत में मिलती है। पर दुर्योधन की पांडवों को आधा राज्य लौटा देने की प्रतिज्ञा और आधा राज्य सचमुच में लौटा देने को तत्पर हो जाना- यह प्रसंग सर्वथा नया ही है।

दूतवाक्यम् में महाभारत युद्ध के पूर्व श्रीकृष्ण पांडवों की ओर से संधि का प्रस्ताव ले कर दुर्योधन के पास जाते हैं। दुर्योधन उन्हें हर प्रकार से अपमानित करना चाहता है। वह इसके लिये द्रौपदी के वस्त्राहरण का चित्र अपने सामने और भीर सभा के बीच रखवा लेता है, और कहता है कि कृष्ण के प्रवेश करने पर कोई खड़ा नहीं होगा। पर कृष्ण के आते ही सारे सभासद हड़बड़ा कर खड़े हो जाते हैं, दुर्योधन स्वयं संरम्भ में पड़ कर आसन से नीचे गिर जाता है। इसके पश्चात् दुर्योधन तथा कृष्ण के बीच आक्षेप और उपालंभ से भरे ओजस्वी संवाद होते हैं। दुर्योधन कृष्ण के द्वारा प्रस्तुत संधि का प्रस्ताव अस्वीकार कर देता है और कृष्ण जाने लगते हैं, तो वह उन्हें बंदी बनाने का आदेश दे देता है, जब कृष्ण के तेज के कारण कोई उन्हें बाँधने को आगे नहीं आता, तो दुर्योधन स्वयं उन्हें बाँधने का प्रयास करता है। कृष्ण अपना विश्वरूप प्रकट करते हैं और इसी समय उनके आयुध सुदर्शन चक्र, शार्ङ्ग धनुष, कौमोदकी गदा, पांजजन्य शंख, नंदक, असि और गरुड वहाँ मानव रूप में उपस्थित हो जाते हैं। अंत में धृतराष्ट्र और गांधारी आ कर कृष्ण से क्षमा माँगते हैं।

कर्णभार का नायक कर्ण है। अर्जुन से संग्राम के लिये जाता हुए कर्ण अपने सारथि शल्य को परशुराम से मिले शाप का वृत्तांत बताता है। इसी समय इंद्र ब्राह्मण का वेष धर कर उसे ठगने के लिये आ पहुँचते हैं। कर्ण अपनी प्रतिज्ञा के निर्वाह के लिये अपने कवचन और कुण्डल उन्हें दे देता है।

दूतघटोत्कच में महाभारतीय संग्राम के समय अभिमन्यु के वध के पश्चात् कृष्ण के आदेश से घटोत्कच के धृतराष्ट्र के पास दूत बन कर जाने की घटना का चित्रण है। घटोत्कच शांति और संधि का आह्वान करता है, पर कौरवपक्षीय लोग उसका उपहास करते हैं।

ऊरुभंग में महाभारत के युद्ध के अवसान का प्रसंग है। दुर्योधन कौरव पक्ष में अकेला बचा है। भीम के साथ उसका गदायुद्ध हो रहा है। दुर्योधन भीम पर भारी पड़ता

है और भीम को गिरा देता है। इसी समय कृष्ण भीम को उसकी ऊरु (जाँघ) पर प्रहार करने का संकेत करते हैं। ऊरु का भंग हो जाने पर दुर्योधन गिर पड़ता है। भीम के द्वारा गदायुद्ध के नियम तोड़ कर छल से दुर्योधन को गिरा देने से बलराम क्रुद्ध हो जाते हैं और वे भीम को मार डालना चाहते हैं। दुर्योधन अपना अंतिम समय निकट जान कर घिसटता हुआ उनके पास आता है और प्रणाम कर के कहता है कि पांडवों को मत मारिये- **'जीवन्तु ते कुरुकुलस्य निवापमेघाः'** - कुरुकुल को तिलांजलि देने के लिये पांडव ही बचे हैं, ये जीवित रहें। बलराम कहते हैं कि मैं पांडवों को मार कर पृथ्वी का राज्य तुम्हें दे दूँगा। दुर्योधन कहता है- भीम ने अपनी प्रतिज्ञा पूरी कर ली। मेरे सारे भाई मारे गये और मैं भी मरने वाला हूँ। मैं अब पृथ्वी के राज्य का क्या करूँगा? बलराम कहते हैं कि तुम्हें छल से पराजित किया गया है। यह सुन दुर्योधन आनंदित हो जाता है और कहता है- यदि आप ऐसा मानते हैं तब तो मैं हार कर भी नहीं हारा। तभी धृतराष्ट्र और गांधारी दुर्योधन की पत्नियों और उनके बेटे दुर्जय को ले कर वहाँ आते हैं। शिशु दुर्जय अपने पिता की गोद में चढ़ना चाहता है। दुर्योधन की स्थिति देख कर धृतराष्ट्र, गांधारी उसकी पत्नियाँ विलाप करने लगते हैं। दुर्योधन सब को संदेश देता है कि अब वैर भुला दें। इसी समय अश्वत्थामा वहाँ आता है। वह वाणी मात्र से दुर्जय का अभिषेक कर के पांडवों का वध करने की प्रतिज्ञा कर के चल देता है और दुर्योधन की मृत्यु हो जाती है।

ऊरुभंग में करुण रस प्रधान है। दुर्योधन के चरित्र का अत्यंत उज्ज्वल और प्रभावशाली रूप यहाँ अंकित है, जो अपनी मृत्यु के समय अपनी उदात्तता और मनुष्य की गरिमा को जिस मार्मिक रूप में प्रस्तुत करता है, वह भारतीय साहित्य में अप्रतिम ही है।

रामायणाश्रित नाटक-

प्रतिमा तथा अभिषेक इन दोनों नाटकों के द्वारा भास ने रामायण की संपूर्ण कथा को नाटकीय स्वरूप में विन्यस्त किया है।

रामकथाश्रित प्रतिमा नाटक में सात अंक हैं। इसका आरंभ राम के राज्याभिषेक की तैयारी से होता है। दशरथ की राजसभा के नाट्यदल को आदेश दिया जाता है कि वे राज्याभिषेक के उत्सव में किसी अवसरोचित नाटक की प्रस्तुति के लिये तैयार रहे। अवदातिका नामक एक चेटी कौतुक वश नाट्यदल की वेशभूषा के संग्रह से एक वल्कल वस्त्र उठा लाती है। सीता चेटी के हाथ में वल्कल देखती है, तो हँसी हँसी में उसे पहन लेती है। इसी समय उन्हें बताया जाता है कि राम का अभिषेक होने ही वाला है। मंगल वाद्यों की ध्वनि आती है। अचानक मंगलवाद्य बंद हो जाते हैं। राम को सूचित किया जाता है कि कैकेयी ने शुल्क में भरत के लिये सारा राज्य माँग लिया है। इसी समय लक्ष्मण क्रुद्ध हो कर वहाँ आते हैं, और दशरथ को बुरा भला कहते हुए धनुष उठा कर युद्ध करने

को तत्पर हो जाते हैं। राम उन्हें समझाते हैं। राम सीता के हाथ से वल्कल ले कर उसे पहन कर वन को प्रस्थान करते हैं लक्ष्मण और सीता भी उनके साथ चल पड़ते हैं। दशरथ विलाप करते हुए कहते हैं-

सूर्य इव गतो रामः सूर्य दिवस इव लक्ष्मणोऽनुगतः।
सूर्यदिवससावसाने छायेव न दृश्यते सीता।।

(राम सूर्य की तरह चले गये, सूर्य के पीछे जैसे दिन चला जाता है, उसी तरह लक्ष्मण भी चले गये। सूर्य और दिन के चले जाने पर जैसे छाया भी नहीं दिखती ऐसे ही सीता भी नहीं दिख रही है)

विलाप करते हुए दशरथ की मृत्यु हो जाती है। उनकी प्रतिमा उस मंदिर में लगा दी जाती है, जहाँ रघुकुल के दिवंगत राजाओं की मूर्तियाँ लगी हुई है। भरत चिर काल तक अपने मामा के घर रह कर लौट रहे हैं। वे अयोध्या में प्रवेश करने के पहले इस मंदिर में रुकते हैं। देवकुलिक (पुजारी) उन्हें बताता है कि मंदिर में रघुकुल के दिवंगत राजाओं- दिलीप, रघु, अज और दशरथ की प्रतिमाएँ हैं। इसी से भरत को अपने पिता के निधन का पता चलता है। उनकी तीन माताएँ भी इसी समय वहाँ आ जाती हैं। भरत कैकेयी को बुरा भला कह कर अभिषेक की सामग्री साथ ले कर राम को लौटाने के लिये वन की ओर प्रस्थान कर देते हैं। राम वन से वापस आने को तैयार नहीं होते, और भारत भारी मन से उनकी चरण पादुकाएँ ले कर लौट आते हैं।

राम को अपने पिता का श्राद्ध करना है। उसी समय सीता का हरण करने के लिये संन्यासी के वेष में रावण वहाँ आता है। वह राम को परामर्श देता है कि हिमालय पर रहने वाले कांचनपार्श्व नामक मृग से श्राद्ध में पितृतर्पण करना उत्तम होता हे। राम हिमालय जाने को तैयार होते हैं, उसी समय मारीच स्वर्ण मृग बन कर वहीं आ जाता है। रावण कहता है- हिमालय ने आपके लिये यह कांचनपार्श्व मृग स्वयं भेज दिया। इसके पश्चात् सीता-हरण तथा जटायु से युद्ध का दृश्य है। छठे अंक में सुमंत्र राम का वृत्तांत का पता लगा कर अयोध्या लौट कर भरत को राम का जनस्थान से किष्किंधा जाना, सुग्रीव से भेंट और बालिवध की घटनाएँ सूचित करते हैं। भरत कैकेयी के पास जा कर कहते हैं- तुम्हारे आदेश से मेरे जो अग्रज अपना राज्य छोड़ कर वन चले गये, उनकी पत्नी सीता का हरण हो गया- अब तो तुम्हारा मनोरथ पूरा हुआ। तब कैकेयी अपने को निरपराध सिद्ध करती हुई कहती है कि तुम्हारे पिता को शाप मिला था कि पुत्र शोक से उनकी मृत्यु होगी, इसलिये ऋषि वचन मिथ्या न हो इसके लिये मैंने राम को वन में भेजा। भरत पूछते हैं कि चौदह वर्ष के लिये वनवास क्यों दिलवाया, तो वह कहती है मैं केवल चौदह दिन का वनवास कहना चाहती थी, पर भूल से मुँह से चौदह वर्ष निकल गया। भरत

को विश्वास हो जाता है कि उनकी माता निरपराध है। फिर वे राम की सहायता के लिये सेना तैयार कर के रावण से युद्ध करने को निकल पड़ते हैं। सातवें अंक में जनस्थान में राम का भरत से पुनः मिलन हो जाता है।

नियति के घात-प्रत्याघात, भावों की सम्मिश्र स्थितियों और राम तथा भरत के चरित्रों की महनीय प्रस्तुति के कारण प्रतिमा एक प्रभावशाली नाटक है। प्रतिमा नाटक में भास ने अपनी कल्पना से रामायण की कथा में अनेक मनोहर प्रसंग जोड़े हैं। सीता के द्वारा खेल खेल में वल्कल पहन लेना और उसके कुछ क्षण बाद ही सचमुच में उनका राम के साथ वल्कल पहन कर वन-प्रस्थान का प्रसंग अपनी आकस्मिकता और नाटकीयता में अत्यंत हृदयावर्जक है। भास के अनुसार भरत अपने जन्म के बाद से मामा के यहाँ ही रहे हैं, अतः वे अपने भाइयों को नहीं पहचानते। मंदिर में दशरथ की प्रतिमा देख कर उन्हें अयोध्या में हुई घटनाओं का पता चलने का प्रसंग इस नाटक में अत्यंत मार्मिक है देवकुलिक भरत को नहीं पहचानता। भरत अपने पिता की मूर्ति देख कर उनके निधन की बात जानते हैं और मूर्च्छित हो जाते हैं, उसी समय कौसल्या आदि वहाँ आती हैं, और वे मूर्च्छित राजकुमार को देखती हैं, पर वे नहीं जानती कि ये भरत हैं।

अभिषेक नाटक को प्रतिमा का पूरक कहा जा सकता है। प्रतिमा में रामकथा के जो प्रसंग छूट गये हैं उन्हें ले कर सीताहरण के बाद से राम राज्याभिषेक तक की कथा इस नाटक में प्रस्तुत की गयी है। पहले अंक में सुगीव और बालि का युद्ध तथा राम के द्वारा बालिवध का प्रसंग है। इसके पश्चात् हनुमान् के द्वारा सीतान्वेषण, लंका पहुँचना, आशोकवाटिका में रावण और सीता का वार्तालाप सुनना तथा सीता से उनकी भेंट का प्रसंग चित्रित है। छठे अंक में सीता की अग्निपरीक्षा का प्रसंग है।

यह नाटक वीर रस से परिपूर्ण है। पहले, पाँचवे तथा छठे अंकों में युद्ध के वर्णन हैं।

बालचरित-

यह रूपक श्रीकृष्ण की बाल लीलाओं को प्रस्तुत करता है। प्रथम अंक में कारागार में कृष्ण का जन्म तथा वसुदेव का यमुना को पार कर के उन्हें नंद गोप के घर ले कर आना चित्रित है। गरुड, सुदर्शन चक्र आदि प्रकट हो कर बालरूपधारी विष्णु के समक्ष संवाद करते हैं। दूसरे अंक में आततायी कंस के समक्ष चांडाल युवतियाँ प्रवेश कर के कहती हैं कि हमारी कन्याओं से तुम्हारा विवाह हो। फिर चांडाल रूप धारी शाप कंस के घर में प्रवेश करता है। इसके पश्चात् कंस को देवकी की आठवीं संतान कन्या के रूप में उत्पन्न होने की सूचना मिलती है, जिससे वह शिला पर पटक का मारना चाहता है। कन्या कात्यायनी बन कर सपरिवार कंस के सामने प्रकट हो जाती है। उसके सहायक भी

कंस को मारने की प्रतिज्ञा करते हुए वृंदावन में ग्वाले बन कर जन्म लेने का निश्चय कर के चले जाते हैं। तीसरे अंक में कृष्ण के द्वारा अनेक असुरों का वध करने की चर्चा के पश्चात् गोपियों के साथ हल्लीसक नृत्य का आयोजन प्रस्तुत किया गया है। इसके पश्चात् कालियमर्दन तथा कंस के द्वारा निमंत्रण का दृश्य है। अंत में कंसवध के पश्चात् उग्रसेन के राज्याभिषेक के साथ नाटक समाप्त होता है।

चांडाल कन्याओं के रूप में अतिप्राकृत तत्त्व का प्रयोग तथा सुदर्शन चक्र आदि प्रयुधों का मानव रूप में प्रवेश इस रूपक के संविधान की अनोखी विशेषताएँ हैं। वीर और अद्भुत रसों की निरंतर व्याप्ति तथा असाधारण पराक्रम के चित्रण के कारण भी यह नाटक उल्लेख्य है।

भास की नाट्यकला –

भास नाट्यभाषा की अपनी अचूक पकड़ और रंगमंच के मुहावरों और तकनीक के सर्जनात्मक प्रयोग में बेजोड़ है। कथासंविधान में घटनाओं को आकस्मिकता के द्वारा वे अपने नाटकों में लगातार प्रेक्षकों की कौतुकी वृत्ति को गुदगुदा कर जगाये रखते हैं। भास जिस विलक्षण विनोदी वृत्ति के साथ ऐसा करते हैं, उसके कारण बारहवीं शताब्दी के माकवि जयदेव ने उन्हें कविताकामिनी का हास कहा था।

कथासंविधान में घटनाओं की आकस्मिकता के द्वारा भास सदैव अपने प्रेक्षकों की कौतुकी वृत्ति को जगाये रखते हैं। स्वप्नवासवदत्तम् का आरंभ संन्यासी के छद्म वेश में यौगंधरायण और साधारण स्त्री के वेष में वासवदत्ता के प्रवेश से होता है। दर्शक इन दोनों की बातचीत से यह तो जान जाता है कि संन्यासी बना हुआ पात्र वास्तव में एक मंत्री है, और साधारण स्त्री के वेष में वन में भटक रही स्त्री वस्तुतः नाटक की नायिका महारानी वासवदत्ता है। पर ये क्यों इस स्थिति में भटक रहे हैं, यह कौतुक बना रहता है। अचानक घटनाचक्र नया मोड़ ले लेता है, जब संन्यासी बना यौगंधरायण देखता है कि जिस राजकुमारी पद्मावती से मिलने के लिये निकले थे, वह तो यहीं तपोवन में आ रही है। पद्मावती घोषणा करती है कि तपोवन के मुनियों को यदि कुछ वस्तु चाहिये तो वो निस्संकोच बनायें। यौगंधरायण को तत्काल उपाय सूझ जाता है। वह पद्मावती से वासवदत्ता को अपनी दुखियारी बहन बता कर धरोहर के रूप में रखने की याचना कर बैठता हे। वासवदत्ता भी इस आकस्मिक प्रसंग से चकरा जाती है और दर्शक तो यहाँ साँस बाँधे रह ही जाते हैं, कि अब क्या होगा? इसके बाद ब्रह्मचारी का प्रवेश करा कर भास ने आगे घट चुकी घटनाओं की एक झलक उसके संवादों के द्वारा दे दी है। दूसरे अंक में वासवदत्ता और पद्मावती कंदुक क्रीड़ा कर रही हैं और इसी समय धात्री के द्वारा सूचना मिलती है कि पद्मावती का राजा उदयन के साथ वाग्दान कर दिया गया है। तीसरे अंग में पद्मावती और उदयन का विवाह हो जाता है।

भास की नाट्य कला की दूसरी दुर्लभ विशेषता नाट्यविडंबना या 'ड्रामेटिक आयरनी' का उत्कृष्ट प्रयोग है। भास रंगमंच पर कुछ ऐसे पात्रों का समूह उपस्थित करते हैं, जिनमें से कोई पात्र दूसरे पात्र को नहीं पहचानता, जबकि दूसरा पात्र पहले वाले पात्र को पहचानता है। स्वप्नवासवदत्ता के पहले अंक में ब्रह्मचारी बता रहा है कि लावाणयाक गाँव में किसी तरह आग लग जाने से रानी वासवदत्ता जल कर मर गयी और उसे बचाने के लिये आग में कूद पड़ने वाला मंत्री यौगंधरायण भी जल कर मर गया, जब कि छद्मवेष में यौगंधरायण और वासवदत्ता उसी के सामने खड़े यह सब सुन रहे हैं। ब्रह्मचारी जब बताता है कि लावाणक ग्राम में शिविर में आग लगी और महाराज उदयन की प्रिय रानी वासवदत्ता उस में जल गयी, तो आवंतिका के वेश में वहीं खड़ी वासवदत्ता मन ही मन कह उठती है.. मैं अभागिनी तो जीवित हूँ। इसी प्रकार जब वह आगे कहता है कि उस रानी को बचाने के लिये राजा का मंत्री यौगंधरायण भी उसी आग में कूद पड़ा तो उसकी कथा को सुनते हुए संन्यासी के वेष में यौगंधरायण कहता है- 'सचमुच कूद पड़ा।' दर्शक जो यौगंधरायण और वासवदत्ता के भेद को जानते हैं, वे वार्तालाप में अलग ही रस लेते हैं। पात्रों में से एक तो दूसरी को पहचानता है, पर दूसरा पहले को नहीं पहचानता, जब कि दर्शक दोनों की वास्तविकता से अवगत हैं- यह स्थिति भास के नाटकों में बार बार आती है और इसके कारण अत्यंत रोचक संवादों की मनोहारी लड़ियाँ भास गूँथते है। प्रत्यभिज्ञा (पहचान) के अभिप्राय का कुशल उपयोग करते हुए कहीं अत्यंत मधुरशिष्ट हास्य तो कहीं वेदना और व्यथा विलक्षण अनुभव देने में भास सिद्धहस्त हैं। मध्यमव्यायोग में भीम की अपने बेटे घटोत्कच से मुठभेड़ हो जाती है। भीम उसका परिचय प्राप्त करके उसे पहचान लेते हैं, और घटोत्कच अपने पिता को न पहचानता हुआ इनसे उलझ पड़ता है, और द्वंद्वयुद्ध भी करता है। पंचरात्र समवकार में अभिमन्यु परिवर्तित वेष में होने से अपने पिता अर्जुन और चाचा भीम को नहीं पहचानता और उसे झगड़ता रहता है, जब कि वे दोनों उसकी बातों का आनंद लेते हैं।

किसी पात्र का अपने विषय में हो रही बातचीत को बात करने वालो से अदृश्य रह कर सुनना- इस स्थिति का भी बड़ा नाटकीय और सधा हुआ उपयोग भास ने अपने रूपकों में किया है। विशेष रूप से वासवदत्ता जिसने अपने पति के कल्याण के लिये अनेक दुःख झेले और अपनी ही होने वाली सौत के यहाँ सामान्य स्त्री के वेष में रही, यह जब प्रति उदयन को यह कहते सुनती है कि पद्मावती का मैं उसके रूप, शील और माधुर्य के कारण सम्मान करता हूँ, पर मेरा मन तो वासवदत्ता में ही लगा हुआ है, तो उसका जी भर आता है।

भास अपने सभी बड़े नाटकों में अपने समय को मूर्त करते हैं। सामाजिक, राजनैतिक, धार्मिक स्थितियों का विशद् चित्र उनके रूपकों में मिलता है।

संवादों में त्वरिताप्रत्युक्ति (हाज़िरजवाबी) तथा प्रत्युत्पन्नमतित्व, परिहास, उपालंभ और शिष्ट विनोद की रुचिरता भास की संवादयोजना के दुर्लभ गुण हैं। एक-एक दो-दो शब्दों के वाक्यों में पात्र के व्यक्तित्व को उजागर कर देने की कला में भास अद्वितीय है।

बालचरित में कृष्ण और बलराम कंस के सभामडप में पहुँचते हैं, और ध्रुवसेन उनसे कहता है-"एष महाराजः। उपसर्पेतां भवन्तौ।" तो वे दोनों तत्काल कह उठते हैं- "आः कस्य महाराजः?" (अरे, किसका महाराज?)। यही संवादयोजना पंचरात्र में बृहन्नला अभिमन्यु को विराट के पास जाने के लिये कहती है, तब भी दोहरायी गयी है।

भास अपने पात्रों के चरित्रचित्रण में मनुष्य को अपनी संपूर्ण गरिमा, स्वाभिमान तथा तेजस्विता में प्रस्तत करते हैं। अभिषेक नाटक में राम के बाण से मारा गया गया बालि हो या ऊरुभंग में भीम का गदा की चोट से मरणासत्र दुर्योधन, मृत्यु के समय मनुष्य का ऐसा उदात्त रूप कहीं नहीं मिलता।

भास की काव्यकला -

भाषा पर भास का असाधारण अधिकार है। पात्रोचित और रसोचित भाषा के प्रयोग में वे दक्ष हैं। उदयन कथाविषयक रूपकों में यौगंधरायण का एक एक वाक्य नपातुला और सुविचारित है, वासवदत्ता की भाषा में भावुकता और त्वराजन्य प्रतिक्रिया मिलती है। उदयन के सारे संवद एक अत्यंत संवेदनशील कलाप्रेमी राजा की शैली के द्योतक हैं। भास की भाषाशैली में कहीं भी आयास या चमत्कार दिखने की प्रवृत्ति हावी नहीं हुई है। शृंगार के प्रसंगों में माधुर्य और प्रमाद का सुंदर समन्वय है, तो वीर और रौद्र के प्रसंगों में उनकी भाषा तदनुसार ओजस्विता की बानगी देती है। जो उदयन वासवदत्ता के वियोग में अत्यंत करुणमय उद्‌गर प्रकट कर रहे हैं, वे ही अपने शत्रु के साथ युद्ध छिड़ने का प्रसंग आने पर कह उठते हैं-

उपेत्य नागेन्द्रतुरङ्गतीर्णतमारुणिं दारुणकर्मदक्षम्।
विकीर्णबाणोग्रतरङ्गभङ्गे महार्णवाभे युधि नाशयामि।।

(स्वप्नवासवदत्तम्, 5/13)

भास अपने वर्ण्य विषय को सजीव और साकार रूप में उपस्थित कर देते हैं। स्वप्नवासवदत्तम् में पहले अंक में तपोवन का उन्होने जो चित्र अंकित किया है, वह सूक्ष्म पर्यवेक्षण और बिंबविधान में उनकी कुशलता का प्रमाण है।

मनोभावों के निरूपण में भास की अभिव्यक्ति पारदर्शी और हृदय को छूने वाली है। विशेष रूप से मनुष्य की कोमल संवेदनाओं और प्रेम की व्यथा के अंतरंग चित्र उकेरने में वे सूक्ष्म दृष्टि तथा असाधारण क्षमता का परिचय देते हैं। उदयन वासवदत्ता का भूल

नहीं पाते। वे विदूषक को जिन शब्दों में अपनी पीड़ा बताते हैं, उनमें प्रेम और विरह के अनुभवों को भास ने मार्मिक अभिव्यक्ति दी है। (स्वप्न0 4/5,6)

भास की सूक्तियों में लोकजीवन के संचित अनुभवों को पकड़ तथा जीवन मर्म को स्पर्श करने की प्रवृत्ति है। वासवदत्ता की कथित मृत्यु के प्रसंग में उज्जयिनी का कंचुकी मृत्यु की अनिवार्यता को रस्सी टूट जाने से कुए में गिरते पड़ते के दृष्टांत के द्वारा समझाया है (6/10)। मानवजीवन में चलते रहने वाले उलटफेर के विषय में भास की यह उक्ति भी उदाहरणीय है-

कालक्रमेण जगतः परिवर्तमाना,

चक्रारपङ्क्तिरिव गच्छति भाग्यपङ्क्तिः।

भास और नाट्यशास्त्र -

भास ने अपने रूपकों का प्रणयन उस काल में किया, जब भरत मुनि का नाट्यशास्त्र सामने नहीं आया था या लोकप्रिय नहीं हुआ था। इसलिये नाट्यशास्त्र के अनेक विधानों का भास के रूपमों में उल्लंघन मिलता है। उदाहरण कि लिये नाट्यशास्त्र नाटक में नायक आदि की मृत्यु के प्रदर्शन का निषेध करता है, भास के अभिषेक में बालि, प्रतिमा में दशरथ तथा ऊरुभंग में दुर्योधन रंगमंच पर ही मरते हुए निरूपित किये गये हैं। इसी प्रकार रंगमंच पर युद्ध, पलायन या भगदड़ के दृश्यों के प्रदर्शन का भी नाट्यशास्त्र में निषेध है। भास के अनेक रूपकों में द्वंद्वयुद्ध के दृश्य हैं, जैसे मध्यमव्यायोग में भीम और घटोत्कच का युद्ध। इसी प्रकार शयन, आलिंगन आदि को भी नाट्यशास्त्र में वर्जित बताया गया है। स्वप्नवासवदत्ता में राजा उदयन निद्रामग्न चित्रित है। दूतवाक्य में दुर्योधन आचार्य द्रोण को कूर्मासन और अपने मामा शकुनि को चर्मासन पर बैठने के लिये कहता है, नाट्यशास्त्र में अलग अलग पात्रों के लिये आसन बताये गये हैं, पर कूर्मासन और चर्मासन का निर्देश नहीं है। इसी प्रकार भास के कतिपय रूपकों में नाट्यशस्त्र- प्रोक्त दशरूपक-विधान लागू नहीं होता। प्रतिज्ञायौगंधरायण, कर्णभार आदि किस कोटि के रूपक हैं, यह निर्णय करना संभव नहीं हो पाता। तथापि भास ने अविमारक नाटक में प्रकारांतर से विदूषक के मुख से नाट्यशास्त्र का उल्लेख करा दिया है। इससे प्रतीत होता है कि वे भरतभूमि के नाट्यशास्त्र से नहीं, तो अन्य किसी नाट्यशास्त्र की परंपरा से परिचित थे। नाट्यशास्त्र में युद्ध, शयन आदि दिखाने के लिये वैकल्पिक विधान या कहीं कहीं छूट दिये जाने के निर्देश भी मिलते हैं, जो भसा के रूपकों के आधार पर दिये गये हों-यह संभव है।

गणपति शास्त्री के भासरूपकचक्र के संस्करण के प्रकाशन के साथ ही ये नाटक अब देश भर में मूल संस्कृत या अनुवादों में मंच पर प्रदर्शित होने लगे। इससे भारतीय

रंगमंच का परिदृश्य बदला। सत्तर के दशक से कूडियाट्टम् की प्रस्तुतियाँ केरल के मंदिरों के बाहर निकल कर देश भर में दिल्ली या उज्जैन जैसे शहरों के मंच पर भी की जाने लगी, रंगमंच के विशेषज्ञ और नाट्यप्रेमियों ने एक बड़े चमत्कार के रूप में अमानूर माधव चाक्यार और मणि माधव चाक्यार जैसे नाट्याचार्यों का काम देखा और सराहा तथा इसके साथ ही इसी दशक में कावालम् नारायण पणिक्कर ने भारतीय रंगमंच की नई संभावनाओं के साथ भास के मध्यमव्यायोग को मंच पर उतारा।

केरल के पारंपरिक रंगमंच और भास की नाट्यकृतियाँ दोनों का संयोग भारतीय रंगमंच का एक स्वर्णिम अध्याय कहा जा सकता है। शेक्सपीयर ओर एलिजाबेथन रंगमंच की तरह जैसे दोनों एक दूसरे के लिये बने हों। इस संयोग के तहत भास ने निरंतर अपनी शक्ति प्रमाणित की है।

• • • •

महाकवि कालिदास : नाटक एवं नाट्यकला

- प्रो. हरिदत्त शर्मा

अमरभरती-काव्य के अमर प्रणेता, कविता-कामिनी के मधुरिम विलास, रससिद्ध कवीश्वर कालिदास साहित्य-गगन के देदीप्यमान भास्कर हैं। उन्होंने अपनी कारयित्री प्रतिभा के बल से दो महाकाव्यों, दो गीतिकाव्यों तथा तीन रूपकों का प्रणयन किया। केवल तीन नाटक लिखकर कालिदास पाश्चात्त्य समीक्षकों के मध्य कई गुना अधिक नाटकों का सर्जन करने वाले शेक्सपियर से तुलना पाकर 'शेक्सपियर ऑफ इण्डिया' की उपाधि प्राप्त कर चुके हैं। उसमें भी 'अभिज्ञानशाकुन्तल' में समुच्छलित भावधारा ने तो उनको विश्व-नाट्य-साहित्य के उच्चतम शिखर पर पहुँचा दिया हे। कालिदास के समग्र साहित्य में घनी भावप्रवणता एवं मानवीय संवेदना है। वे रस एवं भाव के सिद्ध कवि हैं। उनकी लेखनी से प्रसूत साहित्य कालजयी हो गया है और वे स्वयं संस्कृत-साहित्य के संसार में अमर हो गए हैं। उनके काव्यों पर अनेक टीकाएँ, व्याख्याएँ एवं समीक्षाएँ लिखी गई हैं। आधुनिक काल में भी उन पर निरन्तर गवेषणाएँ की जा रही हैं उनके नाटकों के अनेक अनुवाद हुए हैं, और मञ्च पर प्रयोग भी। एक ओर रससिद्ध और दूसरी ओर विश्वविश्रुत होने के कारण कालिदास सर्वश्रेष्ठ कवि एवं नाटककार हैं।

जीवन-परिचय

काल

संस्कृत के इस महान् कवि ने अपने विषय में अपने काव्यों में स्वल्पमात्र सङ्केतरूप में भी कुछ नहीं लिखा। अतः इस विषय में अन्तःसाक्ष्य का अभाव है। परवर्ती काल में भी किसी साहित्यकार ने उनके विषय में कुछ नहीं लिखा। अतः बाह्य साक्ष्य के भी अभाव में कालिदास का काल अत्यधिक विवादास्पद हो गया है और इस विषय में अनेक मत-मतान्तर हो गए हैं। इस तरह कालिदास का स्थितिकाल ईसवी पूर्व द्वितीय शताब्दी से लेकर छठी शताब्दी ईसवी तक फैला है।

कालिदास ने अपने नाटक 'मालविकाग्निमित्रम्' में शुङ्गवंशीय राजा पुष्यमित्र के पुत्र अग्निमित्र को नायक बनाया है, जिसका समय १५० ई०पू० है। अतः कालिदास १५० ई०पू० से नहीं माने जा सकते। यही इनकी पूर्वसीमा है। प्रसिद्ध गद्यकार बाणभट्ट ने हर्षचरित की भूमिका में कालिदास का उल्लेख किया है। बाण सम्राट हर्षवर्धन (६०६-६४८ ई०) के राज्याश्रित कवि थे। ऐहोल शिलालेख (६३४ ई०) में कवि रविकीर्ति ने कालिदास

का उल्लेख किया है। यह कालिदास के काल की अपर सीमा है। प्रो0 फर्गुसन ने छठी शताब्दी में रखने का मत इस आधार पर व्यक्त किया कि रघुवंश में रघु-दिग्विजय-प्रसङ्ग में हूणों का उल्लेख है। हूणों का भारत पर आक्रमण 500 ई0 के लगभग हुआ था। हर्षविक्रमादित्य ने हूणों को हराकर विक्रम संवत् चलाया था और इसे पुरातन महत्त्व का बनाने क लिए छः सौ वर्ष पूर्व अर्थात् 57 वर्ष ई0पू0 से प्रारम्भ किया था। अतः कालिदास को पाँच सौ ई0 के बाद का मानना चाहिए। एक अविश्वसनीय कल्पना पर आश्रित होने के कारण छठी शताब्दी का यह मत प्रायः सभी विद्वानों द्वारा अमान्य कर दिया गया।

कालिदास के कालविषयक मत अब दो ही प्रचलित रह गए हैं- चतुर्थ शताब्दी ई0 का मत तथा प्रथम शताब्दी ई0पू0 का मत। चतुर्थ शताब्दी के कालविषयक मत को मानने वाले कालिदास को गुप्तकाल से जोड़ते हैं तथा उन्हें चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के नवरत्नों में से एक मानते हैं। इस मत के समर्थक विद्वानों का कहना है कि कालिदास के साहित्य में चित्रित समृद्धि, कला, साहित्य, वाणिज्य आदि से परिपुष्ट गुप्तकाल की ही समृद्धि है। कालिदासीय साहित्य में गुप् धातु का अत्यधिक प्रयाग भी उनके अनुसार गुप्त राजाओं के प्रति सङ्केत है। इन मतवादियों के अनुसार चन्द्रगुप्त द्वितीय ने ही मालव संवत् को अपनी विक्रम उपाधि से जोड़कर प्रचलित किया। एस0 के0 डे, स्टेन कोनो, विण्टरनिट्स, ए0बी0 कीथ, चन्द्रबली पाण्डेय, रामचन्द्र तिवारी आदि इसी मत के पोषक हैं। कतिपय विद्वान् उन्हें गुप्तकाल में स्कन्दगुप्त से जोड़ते हैं। कुछ विद्वान् रघुवंश में रघु-दिग्विजय-वर्णन का समुद्रगुप्त की विजय से साम्य बतलाते हैं।

इस मत को भी अनेक समीक्षकों ने स्वीकार नहीं किया उनके अनुसार ऐतिहासिक प्रमाण यह है कि गुप्तवंशीय राजा चन्द्रगुप्त प्रथम ने गुप्त संवत् चलाया था। अपनी वंशपरम्परा से प्रचलित संवत् को त्यागकर कोई राजा दूसरे द्वारा प्रवर्तित संवत् को क्यों चलायेगा? और वह भी नाम पर न होकर उपाधि पर चला संवत् था। जहाँ तक हूणों के उल्लेख की बात है वह चौथी शती से पूर्व भी अवेस्ता, ललितविस्तर आदि में हूणों का उल्लेख है। अतः यह मत भी अधिक मान्य न हुआ।

कालिदास को प्रथम शताब्दी ई0पू0 में मानने वाला मत मुख्यतः 'विक्रम' नाम के प्रयोग पर आधृत हैं उस मत के अनुसार कालिदास ने अपनी नाट्यकृति 'विक्रमोर्वशीयम्' में जो 'विक्रममहिम्ना' एवं 'विक्रमालङ्कारः' शब्दों का जो प्रयोग किया है, वह वस्तुतः नाम का अंश है, न कि उपाधि का। कथासरित्सागर जैसे ऐतिहासिक ग्रन्थ के प्रमाण के आधार पर विक्रमादित्य राजा महेन्द्रादित्य का पुत्र था। वह शैव था। गाथासप्तशती में उस राजा को शत्रुओं पर विजय के उपलक्ष में दान देने वाला दानी बतलाया गया है। यही विक्रमादित्य 'शकारि' कहलाया। मेरुतुङ्गाचार्यकृत 'पद्मावती' के अनुसार विक्रमादित्य ने शकों से उज्जयिनी का राज्य वापस ले लिया था। विक्रमादित्य मालव-गणतन्त्र के मुखिया थे। इन्होंने

ही विजयोल्लास में तथा मालव-गणराज्य को प्रतिष्ठित करने के लिए अपने नाम से 'विक्रम संवत्सर' चलाया था। वत्सभट्टि के मन्दसौर शिलालेख में इसे 'मालवगणस्थिति' नाम दिया गया है-

मालवानां गणस्थित्या याते शतचतुष्टये।
त्रिनवत्यधिकेऽब्दानामृतौ सेव्यघनस्वने।।

इसी राजा की सभा में कालिदास की स्थिति मानना औचित्यपूर्ण है। यह मत क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, झाला, राजवली पाण्डेय, शेम्बोनकर, बलदेव उपाध्याय, रेवाप्रसाद द्विवेदी आदि विद्वानों द्वारा मान्य है। कनिष्ककालीन बौद्धकवि अश्वघोष से भी कालिदास की रचनाशैली की तुलना कर विद्वानों ने माना है कि अश्वघोष कालिदास के ऋणी हैं। अतः कालिदास उनसे पूर्ववर्ती अर्थात् ईसा से पूर्व हैं। अधिकांश भारतीय विद्वानों ने इन ऐतिहासिक, शिलालेखीय एवं साहित्यिक प्रमाणां के आधार पर कालिदास का काल ईसा पूर्व में ही, विशेष रूप से ई०पू० प्रथम शताब्दी में ही, माना है।

स्थान

जहाँ तक कालिदास के जन्मस्थान का सम्बन्ध है, विविध आधारों पर उन्हें बंगाल, कश्मीर आदि से जोड़ा जाता है। पर कालिदास का काल जिन उज्जयिनी-नरेश विक्रमादित्य के साथ जुड़ा है, वह उनके स्थान की गुत्थी को भी सुलझा देता है। कालिदास का जन्मस्थान उज्जयिनी है, यह मेघदूत में विद्यमान अन्तःसाक्ष्यों से भी सिद्ध हो जाता है। मेघदूत में उज्जयिनी के प्रति कविहृदय का अधिक पक्षपात दिखाई पड़ता है। यक्ष मेघ से कहता है कि उत्तर दिशा की ओर जाते हुए तुम्हारा मार्ग टेढ़ा तो अवश्य हो जायगा, पर हे मेघ! तुम उज्जयिनी नगरी अवश्य जाना और वहाँ से विमुख मत होना। उज्जयिनी का महाकाल मन्दिर, वहाँ की आरती, शिप्रा नदी, उसके जल को छूकर आती हुई वायु, वहाँ के बाज़ार-हाट, वहाँ की भोली सुन्दरललनाओं के कटाक्ष-व्यापार आदि के वर्णनों में रमते हुए। कालिदास थम जाते हैं। उज्जैन नगर में केन्द्रीय एवं राज्य सरकारों के सहयोग से विधिवत् 'कालिदास अकादमी' की स्थापना हुई है। प्रतिवर्ष वहाँ देवोत्थान एकादशी से आरम्भ कर सप्तदिवसीय 'अखिल भरतीय कालिदास समारोह' सम्पन्न किया जाता है। इस समारोह के चर्चा-सत्रों में भी कालिदास के काल एवं स्थान को लेकर अनेक चर्चाएँ चलती रहती हैं। जब तक कोई अन्य अकाट्य प्रमाण प्राप्त नहीं होता तब तक कालिदास का काल प्रथम शताब्दी ई०पू० तथा उनका स्थान उज्जयिनी ही निर्धारित है।

व्यक्तिगत जीवन

सात उत्कृष्ट कालजयी काव्यों के रचना करने वाले कवि कालिदास का व्यक्तिगत जीवन कैसा रहा होगा यह बड़े कौतूहल का विषय है। परन्तु यह विषय उतना ही अज्ञात

एवं अन्धकाराच्छन्न है। कालिदास के नाम पर अनेक मिथक एवं किंवदन्तियाँ प्रचलित हैं। एक तो यह कि वे बचपन में बड़े मूर्ख थे। वृक्ष की जिस शाखा पर बैठे थे, उसी को काट रहे थे। ऐसे जड़बुद्धि कालिदास का कपटमय शास्त्रार्थ कुछ चतुर एवं ईर्ष्यालु पण्डितों ने काशी नरेश की विदुषी एवं सुन्दरी पुत्री विद्योत्तमा के साथ करवाया। दुर्नीति के प्रयोग से उसमें कालिदास के सफल होने पर उनका विवाह राजकुमारी विद्योत्तमा से करवाया गया। साथ रहने पर राजकुमारी को जब अपने तथाकथित पति की वास्तविकता का ज्ञान हुआ तो उसने तिरस्कार कर उसको घर से बाहर निकाल दिया। इस तिरस्कार से विक्षुब्ध उस व्यक्ति ने सरस्वती या कालीदेवी की कठोर आराधना की। इसके प्रभाव से प्रतिभा पाकर घर लौटने पर उस व्यक्ति ने घर का द्वार खटखटाया तो विद्योत्तमा ने पूछा-**'अस्ति कश्चिद् वाग्विशेषः'**? अपनी प्रिया पत्नी के तीन शब्दों पर आरम्भ करते हुए कवि ने क्रमशः तीन काव्य लिखे- **कुमारसम्भवम्, मेघदूतम् तथ रघुवंशमहाकाव्यम्।**

यह किंवदन्ती एक कोरी कल्पना ही क्यों न हो, पर आधुनिक काव्य-समीक्षकों ने विद्योत्तमा को कवि के इस चमत्कारी कवित्व की प्रेरणादायिनी शक्ति माना है और उसमें कवि के जीवन के सत्य को खोजने का प्रयास किया है। एक ध्रुव सत्य तो यह है कि कवि के जीवन में विरह-वियोग की वेदना, प्रियतमा से न मिल पाने की छटपटाहट अवश्य रही होगी, अन्यथा वह विरह-वेदना से आप्लावित ऐसा हृदयमर्मस्पर्शी काव्य नहीं लिख पाता। अवश्य ही कवि भोगे हुए यथार्थानुभव से युक्त होकर ऐसी विरहव्यथा को अभिव्यक्ति दे सका है। हो सकता है इस प्रेम की पात्र प्रियतमा विद्योत्तमा ही हो। अर्वाचीन संस्कृत-कवियों एवं समीक्षकों ने इस मिथक को इसी यथार्थ में परिवर्तित कर कालिदास को देखा है। संस्कृत-कवियों में श्रीधर भास्कर वर्णेकर तथा डॉ. राम किशोर मिश्र ने 'विद्योत्तमाकालिदासीयम्' नाम से नाटक लिखा। धारवाड़ के महेश्वर शास्त्री एन. जोशी ने इसी कथावस्तु पर सात दृश्यों का एक नाटक 'अस्ति कश्चिद्वाग्विशेषः' इसी नाम में लिखा। डॉ. कृष्ण कुमार ने 'अस्ति कश्चिद् वागर्थीयम्' नाम से पाँच सर्गों का नाटक लिखा। अभिराज राजेन्द्र मिश्र ने इसी वृत्त पर एक 'विद्योत्तमानाटिका' लिखी। इस तरह ये कालिदास-विद्योत्तमा-वृत्त कवियों की वाणी का विषय तो रहा ही, अनेक समीक्षकों ने इस पर पर्याप्त मात्रा में लिखा। श्रीलालबहादुरशास्त्री राष्ट्रिय संस्कृत विद्यापीठ, नई दिल्ली की ओर से एक बार 'महाकवि कालिदास के उत्कर्ष में विदुषी विद्योत्तमा का योगदान' विषय पर विद्वानों से लेख माँगे गए। एतदर्थ ३५ निबन्ध प्राप्त हुए। विद्यापीठ के कुलपति प्रो० वाचस्पति उपाध्याय के सम्पादन में इन्हें वर्ष २००६ में विद्यापीठ से 'विदुषी विद्योत्तमा एवं महाकवि कालिदास' इस शीर्षक से पुस्तक रूप में प्रकाशित किया गया। इन सभी आलेखों में विद्वानों ने विद्योत्तमा के प्रसङ्ग को ग्रहण कर यह सिद्ध किया है कि विदुषी विद्योत्तमा के संसर्ग एवं प्रेममयी प्रेरणा से ही कालिदास महान् कवि कालिदास बने। न केवल मेघदूत, अपितु अन्य काव्यों के प्रणय एवं

विरह के प्रसङ्गों में विद्योत्तमा ही प्रेरणा बनी दिखाई पड़ती है। अतः कालिदास के जीवन का अन्य कोई अंश चाहे संयोग या वियोग, से ही कालिदास स्वर्णभास्वर कालिदास बन पाये हैं।

कालिदास की रूपकत्रयी

महाकवि कालिदास ने अपनी नाट्य-प्रतिभा से तीन रूपकों की रचना की है, जिन्हें कालक्रम से इस प्रकार रखा जा सकता है- मालविकाग्निमित्रम्, विक्रमोवर्शीयम् तथा अभिज्ञानशाकुन्तलम्। इसी क्रम से कालिदास की नाट्यकला में भी उत्तरोत्तर निखार आता चला गया है। अब इन तीनों रूपकों का निरूपण प्रस्तुत किया जा रहा है।

मालविकाग्निमित्रम्

कविवर कालिदास द्वारा रचित रूपकत्रयी में से मालविकाग्निमित्रम् उनकी नाट्यकला का प्रथम स्फुटित अङ्कुर है। इस नाटक में आरम्भ से ही कालिदास अपने को नया नौसिखिया नाटककार बताते हैं। नाटक की प्रस्तावना में जब सूत्रधार सूचित करता है कि आज विद्वत्सभा ने कालिदास द्वारा रचित 'मालविकाग्निमित्र' नाटक का मञ्चन करने के लिए कहलाया है। यह कहते ही पारिपार्श्विक कहता है कि भास, सौमिल्ल, कविपुत्र जैसे नाटककारों के नाटकों को छोड़कर आप इस वर्तमान नये नाटककार कालिदास के नाटकों इतना मान, क्यों दे रहे हैं..... "प्रथितसशसां भास-सौमिल्ल-कविपुत्रादीनां प्रबन्धनतिक्रम्य वर्तमानकवेः कालिदासस्य क्रियायां कथं बहुमानः?" तब इस बिन्दु पर सूत्रधार के बहाने अपना मन्तव्य समझाते हुए कालिदास कहते हैं कि सब कुछ पुराना है, इसलिए अच्छा नहीं हो जाता, और कोई काव्य नितान्त नया है, इसलिए दोषयुक्त नहीं हो जाता। कवि का अभिप्राय है कि कोई नया नाटककर, इसलिए उसके कर्तृत्व को हल्का-फुल्का मानकर उसकी उपेक्षा नहीं करनी चाहिए, अपितु नया होने पर भी वह उत्तम कोटि का हो सकता है। इस प्रकार प्रयोग के क्षेत्र में कालिदास अपने नाटक को स्थापित करते हुए से लगते हैं।

कथानक

मालविकाग्निमित्रम् पाँच अङ्कों का नाटक है। इसकी कथावस्तु ऐतिहासिक है। इसमें शुङ्गवंशी विदिशा के महाराज अग्निमित्र तथा विदर्भ की राजकुमारी मालविका की प्रेमकथा वर्णित है। मालविका अनिन्द्य सुन्दरी है और अपने सौन्दर्य से वह अग्निमित्र को आकृष्ट करती है। राजा को मालविका का प्रथम साक्षात् दर्शन एक नाट्याचार्य के द्वारा प्रदर्शित नृत्यप्रयोग में होता है। दोनों ओर से प्रेम बढ़ता है। राजा के मित्र विदूषक तथा मालविका की परिचारिका बकुलावालिका द्वारा आयोजित कर दोनों का एकान्त मिलन क़राया जाता है, परन्तु रानी इरावती विघ्न बनकर उपस्थित हो जाती है। राजमहिषी धारिणी को भी मालविका से ईर्ष्या हो जाती है और वह राजा की दृष्टि से उसे बचाने का

यत्न करती है। अन्त में विदर्भ देश से आई हुई दो सेविकाओं से मालविका का वास्तविक परिचय प्राप्त होता है। राजकुमारी के रूप में पहचान होने पर रानी धारिणी की अनुमति से अग्निमित्र एवं मालविका का विवाह हो जाता है और इस प्रकार नायक-नायिका-संयोग से नाटक सुखान्त होता है।

नाट्यकला

इस नाटक की एक महती विशेषता यह है कि इसमें नाट्यकला एवं नाट्यविद्या के विषय में नाटककार ने अपने अनेक मन्तव्य अभिव्यक्त किये हैं। नाट्य के साथ-साथ नृत्यकला को भी रुचिपूर्वक दिखाया गया है। देवी धारिणी यह जानना चाहती है कि मालविका बहुत दिनों से छलिक नाम का नाट्य सीख रही थी, उसे वह अब तक कितना सीख पाई है। आगे चलकर नाट्य-प्रतियोगिता-निर्णायिका परिव्राजिका के मुख द्वारा कवि पुनः स्पष्ट करते हुए कहता है- "शर्मिष्ठा का बनाया हुआ चौपदों का छलिक नाम का अभिनय बड़ा कठिन-दुष्प्रयोज्य-बतलाया गया है।" अन्यत्र परिव्राजिका ही नाट्य को स्पष्ट करते हुए कहती है- "प्रयोगप्रधानं हि नाट्यशास्त्रम्।" नाट्यविद्या तो प्रयोग करके दिखाने की विद्या है। नाट्यविद्या की इस नाटक में पूरा उतारने की दृष्टि से नाटककार ने गणदास एवं हरदत्त नाम के दो नाट्याचार्यों को यहाँ परस्पर प्रतिस्पर्धा करते हुए दिखाया है। वस्तुतः यह नाट्य है क्या, इसकी व्याख्या करते हुए नाट्याचार्य गणदास कहते हैं-

देवनामिदमामनन्ति मुनयः शान्तं क्रतुं चाक्षुषं
रुद्रेणेदमुमाकृतव्यतिकरे स्वाङ्गे विभक्तं द्विधा।
त्रैगुण्योद्भवमत्र लोकचरितं नानारसं दृश्यते
नाट्यं भिन्नरुचेर्जनस्य बहुधाऽप्येकं समाराधनम्।। (माल. १/४)

वस्तुतः यह नाट्य तो देवताओं के नेत्रों को सुहाने वाला यज्ञ है। स्वयं महादेव शिव ने उमा से विवाह करके अपने शरीर में इसके दो भाग कर दिए-एक ताण्डव और दूसरा लास्य। इसमें सत्त्व, रजस् एवं तमस् इन तीन गुणों से युक्त और अनेक रसों में लोगों के चरित्र दिखाई पड़ते हैं। इसलिए यह नाटक ही ऐसा मनोरञ्जन का विषय है, जिसमें भिन्न-भिन्न रुचि वाले लोगों को एक समान आनन्द मिलता है। वस्तुः नाट्य को समान आनन्द प्रदान करने वाला बताने का कवि का यह अभिमत संस्कृत-काव्यशास्त्र में प्रतिपादित रस सिद्धान्त एवं साधारणीकरणसिद्धान्त के ही अनुरूप है।

नाटककार ने उस सङ्गीतशाला की भी चर्चा की है, जहाँ बैठकर नाट्याचार्य अभ्यास करते हैं और शिष्य-शिष्याओं को शिक्षा देते हैं। नाट्याचार्य द्वारा मालविका की 'भाविक'-भावपूर्णनृत्य-की शिक्षा देने की भी बात कही गई है। नृत्य-नाट्य की शिक्षा में

'पञ्चाङ्गाभिनय' की शिक्षा की भी चर्चा की गई है। वस्तुतः यही एक ऐसा नाटक है, जिसमें कालिदास भरतमुनि के नाट्यशास्त्र से बहुत प्रभावित दीखते हैं तथा नाट्यशिक्षा एवं नाट्यविद्या की चर्चा करते हैं। गणदास एवं हरदत्त दो नाट्याचार्यों के मध्य उत्कृष्टतर होने का विवाद भी बहुत रोचक है, जिसमें शिष्यकृत नाट्यप्रयोग को ही विवादका निर्णायक तत्त्व माना गया है। इसलिए गणदास अपनी शिष्या से शर्मिष्ठा द्वारा मध्य लय में बनाई गई चौपदी के छलिक वाले प्रयोग का प्रदर्शन करवाते हैं, जो प्राकृत भाषा में इस प्रकार है-

दुल्लहो पिओ मे, तस्सिं भव हिअअ णिरासं।
अम्हो अपङ्गओ मे परिप्फुरई किं वि वामओ।। (माल० २/४)

नाट्य-निर्णायका परिव्राजिका से जब इस प्रयोग के गुण-दोष-विवेचन के लिए कहा जाता है तो कालिदास बड़ी सूक्ष्मेक्षिका से उसका विवेचन करते हैं, जैसे-

अङ्गैरन्तर्निहितवचनैः सूचितः सम्यगर्थः
पादन्यासो लयमनुगातस्तन्मयत्वं रसेषु।
शाखायोनिर्मृदुरभिनयस्तद्विकल्पानुवृत्तौ
भावो भावं नुदति विषयाद् रागबन्धः स एव।। (माल० २/८)

'इस नर्तकी द्वारा गायै गए गीत की सब बातों का ठीक-ठीक अर्थ अङ्गों के अभिनय से भलीभाँति दिखा दिया गया है। इसके पैर लय के साथ-साथ ही चल रहे थे। गीत के रस में इनकी तन्मयता दर्शनीय थी। इनके नृत्य ने भी हमें प्रेम में मग्न कर दिया, क्योंकि ताल के साथ होने वाले अभिनय में अनेक प्रकार के अङ्ग परिचल द्वारा जो भाव दिखाये जा रहे जा रहे थे वे ऐसे आकर्षक थे कि वे मन को अन्य किसी ओर जाने ही नहीं दे रहे थे।' इस तरह कालिदास का यह प्रथम नाटक नाट्यविद्या-विषयक सन्दर्भों से भरा पड़ा हे।

प्रेम एवं सौन्दर्य

कालिदास प्रेम के कवि हैं। वे शृङ्गाररससिद्ध कवीश्वर हैं। उनके अन्य काव्यों की भाँति मालविकाग्निमित्र नाटक भी प्रणय की आधारशिला पर आधृत है। इसमें राजा अग्निमित्र एवं कनिष्ठा या मुग्धा नायिका मालविका के मध्य प्रेम पलता है, बढ़ता है और चरम परिणति तक पहुँचता है। इस प्रणय का बीज नायक के हृदय में नायिका के चित्रदर्शन से आरम्भ होता है। चित्र में देखी हुई सुन्दरी का वह प्रत्यक्ष दर्शन करना चाहता है। और इसके लिए अपने नर्मसखा विदूषक से निवेदन करता है और नर्मसचिव सचमुच यह मिलन-योजना तैयार कर लेता है। इस योजना का मूर्त रूप दिखाई पड़ता है गणदास और हरदत्त इन दो नाट्याचार्यों के विवाद में कि उन दोनों में विद्या की दृष्टि से कौन उत्कृष्टतर

है। इसीलिए नेपथ्य में दोनों का विवाद सुनाई पड़ते ही राजा कह उठता है-'मित्र! तुम्हारे सुनीति रूप वृक्ष में फूल खिल गए हैं। दोनों नाट्याचार्यों के शिष्य-शिष्याओं के नृत्यप्रयोग द्वारा ही इसका निर्णय होना है। द्वितीय अङ्क में नायिका मालविका जब नृत्य-प्रयोग के लिए उपस्थित होती है तो नायक को उसे साक्षात् देखने के उतावलेपन को कवि ने एक सुन्दर उत्प्रेक्षा द्वारा व्यक्त किया है-

नेपथ्यपरिगतायाश्चक्षुर्दर्शनसमुत्सुकं चेतः।
संहर्तुमधीरतया व्यवसितमिव मे तिरस्करिणीम्।। (माल० २/१)

'परदे के पीछे जो मेरी प्यारी खड़ी है, उसे देखने के लिए मेरी आँखें ऐसी उतावली हो रही हैं, मानों इस अधीरता में तिरस्कारिमी को ही हटाने पर तुल गई हों।' मालविका के सामने आते ही राजा का मित्र विदूषक राजा को सूचना देता है- "उपस्थितं नयनमधु" 'आपकी आँखों का शहद सामने उपस्थित है। शहद परागकणवाही बनता है, उन पराग कणों पर सदा मधुमक्खियाँ लिपटी रहती हैं। इसलिए उसके आसपास मँडराती मधुमक्खियाँ का सन्दर्भ भी यहां वर्णित है। नायक नायिका के सौन्दर्य पर मुग्ध हो रहा है-

दीर्घाक्षं शरदिन्दुकानितवदनं बाहू नतावंसयोः
संक्षिप्तं निबिडोन्नतस्तनमुरः पार्श्वे प्रमृष्टे इव।
मध्यः पाणिमितो नितम्बि जघनं पादावरालङ्गुली
छन्दो नर्तयितुर्यथैव मनसि श्लिष्टं तथास्या वपुः।। (माल० २/३)

'इस मालविका की बड़ी-बड़ी आँखें, चमकता हुआ शरद् के चन्द्रमा जैसा मुख, कन्धों पर थोड़ी झुकी हुई भुजाएँ, उभरते हुए कठोर स्तनों से ढका हुआ वक्ष, चिकने-चिकने बगलभाग, मुट्ठीभर पतली कमर, नितम्बयुक्त जघन, थोड़ी-थोड़ी झुकी हुई दोनों पैरों की अँगुलियाँ-बस ऐसी प्रतीत होती हैं मानो इसका शरीर, इसके नाट्यगुरु के कहने ही गढ़ा गया हो।' कवि ने नायिका के द्वारा 'दुल्लहो पिओ मे' आदि जो चतुष्पदी के गायन के साथ छलिक नृत्य प्रस्तुत कराया है, वह प्रेमरस से सराबोर है। नायक के प्रति नायिका द्वारा प्रणय अभिव्यक्त किया गया है। इस छलिक नृत्यगत चतुष्टपदी गीति की योजना से कालिदास ने प्रेम की मधुर अभिव्यक्ति कराई है। यह बात नाटककार ने विदूषक के मुख से कहलवाई है कि 'इस गीत के बहाने मालविका ने तुम पर अपने को न्यौछावर कर दिया है।' विदूषक एवं गणदास के द्वारा रोके जाने पर समीप से राजा मालविका का सग्र शरीर-सौन्दर्य देखता है। वह उसके सौन्दर्य पर मुग्ध है और खड़ी हुई मालविका की सम्पूर्ण शरीरयष्टि का एक रेखाचित्र खींच देता है-

वामं सन्धिस्तिमितवलयं न्यस्य हस्तं नितम्बे
कृत्वा श्यामविटप सदृशं स्रस्तमुक्तं द्वितीयम्।
पादाङ्गुष्ठालुलितकुसुमे कुट्टिमे पातिताक्षं
नृत्तादस्याः स्थितमतितरां कान्तमृज्वायतार्धम्।। (माल० २/६)

'इस मालविका ने अपना बायाँ हाथ नितम्ब पर रख लिया है, इसलिए हाथ का कंगन पहुँच पर रुककर मौन हो गया है। दूसरा हाथ श्यामा लता की शाखा के समान ढीला लटका हुआ है। नीचे आँखें किये हुए यह अपने पैर के अँगूठे से धरती पर बिखरे हुए फूलों को सरका रही है। इस प्रकार खड़ी होने से इसके ऊपर का शरीर लम्बा और सीधा हो गया है। नृत्य के समय यह उतनी सुन्दर नहीं लग रही थी जैसी अब लग रही है।' विदूषक की हास्य-वार्ता पर जब मालविका मुस्कराती है तो बड़े-बड़े सुन्दर नेत्रों वाली, थोड़े-थोड़े झलकते हुए दाँतों की शोभा वाली मालविका के मुख को देखकर राजा बार-बार उस पर बलिहारी होता है। प्रेम और सौन्दर्य का ऐसा मधुर समन्वय करके ही कालिदास इतने महान् कवि बने हैं। उनके पात्रों का प्रणय सौन्दर्य के बिना नहीं होता और उनके सौन्दर्य की परिणति प्रणय में ही होती है। दोनों का अविनाभाव सम्बन्ध है। सौन्दर्य के साथ यदि कला का संयोग हो तो सोने में सुहागा। और कवि की नायिका में यही संयोग है। तभी कवि विदूषक के मुख से कलवाता है- 'केवल रूप में ही नहीं, कला में भी मालविका अद्वितीय है।' इस सुन्दर संयोग की हृदय से प्रशंसा करता हुआ राज कहता है- 'एक तो अव्याज सुन्दरी का यह सौन्दर्य और ऊपर से ललित कला का योग।' यह क्या ही अद्भुत संयोग है।

रसयोजना

कालिदास शृङ्गाररससिद्ध कवि हैं। उनके नाटक भी शृङ्गाररसप्रधान हैं। कवि नाटकों में शृङ्गार के दोनों पक्षों सम्भेग शृङ्गार एवं विप्रलम्भ शृङ्गार का चित्रण करता है। संयोग एवं वियोग दोनों अवस्थाओं में सहृदय को रसमग्न करने की क्षमता उनमें है। मालविकाग्निमित्र में नायक एवं नायिका दोनों में कवि ने पूर्वराग का प्रदर्शन किया है। पूर्वराग के ताप को सहन करने के बाद कवि नायक-नायिक के मिलन की योजना तो बनाता है, परन्तु दूर से। इसमें पारस्परिक प्रेम का प्रकटीकरण तो होता है, परन्तु गीत की व्यञ्जना के माध्यम से क्या नायक की चेष्टाओं से। प्रेम फिर संयोग के अभाव में वियोग में बदल जाता है। तृतीय अङ्ग में मालविका के प्रेम में पागल काममानावस्थ वाला राजा प्रवेश करता है तो विप्रलम्भ शृङ्गार रस का पर्याप्त परिपोष होता है अपनी दशा देखकर राजा कहता है कि 'प्रियतमा का आलिङ्गनसुख नहीं मिल रहा है, इसलिए मेरा

शरीर क्षीण होता चला जा रहा है। यह ठीक है। पलभर के लिए भी उसे न देख पाने के कारण आँखें आँसुओं से डबडबायी रहती हैं, यह भी ठीक है। पर हे मेरे हृदय! उस मृगनयनी प्रियता से तुम तो कभी अलग नहीं होते हो। तुम्हारे इस तरह शीतलता के साधन के, पास रहने पर भी तम क्यों इस प्रकार परितप्त होते जा रहे हो?-

शरीरं क्षामं स्यादसति दयितालिङ्गनसुखे
भवेत् साम्रं चक्षुः क्षणमपि न सा दृश्यत इति।
तया सारङ्गाक्ष्या त्वमसि न कदाचिद्विरहितं
प्रसक्ते निर्वाणे हृदय परितापं व्रजसि किम्।। (माल० ३/२)

कामातुर एवं विरहातुर राजा ऐसी स्थिति में कामदेव को कोसने लगता ह। प्रेम में न मिल पाने की विह्वलता एवं उसी स्थिति में कामदेव को कोसना नायिका के पक्ष में भी मिलता है। मालविका भी अपने हृदय की बात कहती है कि 'जिस प्रियतम के हृदय की थाह मैं नहीं पा सकी हूँ, उससे प्यार करके मुझे अपने ऊपर बड़ी लज्जा आ रही है। अपनी प्यारी सखियों से भी यह बात नहीं कह पा रही हूँ। ऐसे प्रेम की पीड़ा न जाने कामदेव मुझे कब तक देता रहेगा, जिसका कोई उपचार नहीं है।'

मालविका के पैरों में महावर लगाते समय मालविका एवं बकुलावलिका की प्रेमरसभरी मीठी बातें, राजा का छिपकर सुनना, प्रेमातुर हृदयों की धड़कन, संयागवशात् यहाँ प्रमी-प्रेमिका का संयोग हो जाना आदि दृश्य शृङ्गार का परिपोष करने वाले हैं। राजा के प्रणय-प्रसङ्गों में हास्य समानान्तर रूप से चलता दिखाई पड़ता है और नर्मसचिव विदूषक की बेढंगी वाणी, चेष्टाएँ, पेटूपन, राजा के प्रणय-प्रसङ्ग में बढ़चढ़ कर सक्रिय रहना, पात्रों के पारस्परिक वार्तालाप के मध्य हँसी-मजाक की फुलझड़ियाँ छोड़ना ये सब विदूषक के काम हैं, जिनसे बार-बार नाटक में हास्य रस की सृष्टि होती है। निपुणिका के द्वारा फेंके गए दण्डकाष्ठ को साँप समझकर विदूषक तो डर कर भागता है, पर सहृदय ठहाके लगाने लगते हैं, शृङ्गार, भयानक तथा रौद्र रस की एकत्र स्थिति तृतीय अङ्क के दोहद-प्रसङ्ग में मिलती है। दोहद क्रिया हेतु महारानी की आज्ञा से जब मालविका अशोक वृक्ष पर अपने बायें पैर से प्रहार करती है, तब विदूषक के ऐसा करने का कारण पूछने पर मालविका डर जाती है। इसी बीच में राजा कोमल स्वर में पूछता है- 'हे वामोरु! इस कठोर वृक्ष में चरण के आघात से तुम्हारे बायें पैर में चोट तो नहीं लग गई? सहृदय को शृङ्गार रस में निमग्न करते हुए कालिदास नायक द्वारा नायिका के प्रति प्रणय-निवेदन करवाते हैं-

धृतिपुष्पमयमपि जनो बध्नाति न तादृशं चिरात्प्रभृति।
स्पर्शामृतन पूरय दोहदमस्याप्यनन्य रुचेः।। (माल० ३/१६)

'अपने स्पर्शरूपी अमृत को पिलाकर तु आज मेरे मन की साध पूरी कर दो' प्रणय-निवेदन के इस मृदुल-मधुर वातावरण में सहसा बाधा बनकर रानी इरावती कूद पड़ती है और राजा के ही 'पूरय' इस शब्द को पकड़ कर क्रोधावेश में 'पूरय पूरय' आदि कह उठती है, तो रति के बाद क्रोध का एक भयानक ज्वार आता दिखता है।

सम्भोग शृङ्गार का एक सुन्दर चित्र नाटककार ने नाटक के चतुर्थ अङ्क में दिया है; जहाँ प्रमदवन में नायक अग्निमित्र का नायिका मालविका से पुनः संयोग होता है। यहाँ नायिकागत भय नायकगत रति भाव का उद्दीपन बन जाता है। विदूषक एवं बकुलावलिका द्वारा दोनों के एकान्त मिलन की योजना पूरी कर देने पर राजा भयभीत खड़ी मुग्धा नायिका से अपना प्रणय-निवेदन करता है-

विसृज सुन्दरि सङ्गमसाध्वसं
तव चिरात् प्रभृति प्रणयोन्मुखे।
परिगृहाण गते सहकारतां
त्वमतिमुक्तलता-चरितं मयि।। (माल० ४/१३)

'हे सुन्दरी! इस मिलन के भय को छोड़ो। न जाने कितने दिनों में मैं तुमसे मिलने को अधीर हो रहा था। जैसे माधवी लता आम से लिपट जाती है, वैसे ही आओ, तुम भी उसी के चरित का ग्रहण कर लो। इसके तुरन्त बाद नायक नायिका के आलिङ्गन का उपक्रम करता है और नायिका अपने को छुड़ाती है। तब नायक के मुख से कालिदास लजीली नव रमणियों की चेष्टाओं एवं हाव-भावों का एक सरस चित्र खींचते हैं।

निष्कर्ष

इस प्रकार कालिदास के इस रस-भाव-निर्भर नाटक का नायक भले ही पारिभाषिक रूप से धीरोदात्त होता हो, परन्तु अपने स्वभाव एवं चेष्टाओं से वह धीरललित के लक्षणों वाला है। नाटक संयोगान्त एवं सुखान्त है। नाटकीय घटनाक्रम में यथावर कवि ने प्रकृति-सौन्दर्य के सुन्दर चित्र उँकेरे हैं जैसे द्वितीय अङ्क में वैतलिक द्वारा किया गया मध्याह्न वर्णन 'पत्रच्छायासु हंसा' आदि तथा तृतीय अङ्क में राजा द्वारा किया गया वसन्त-वर्णन 'उन्मत्तानां श्रवण०' आदि। समग्र नाटक नृत्य-सङ्गीत की स्वरलहरियों से निनादित है। विष्कम्भक एवं प्रवेशक जैसे अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग यथावसर कर नाटककार ने अपने नाट्य-रचना-नैपुण्य को दिखाया है। नाटक में लोकगीत के समावेश से विशेष

माधुर्य समाविष्ट हो गया है। रसमयता एवं साङ्गीतिक के समन्वय से यह नाटक सुन्दरतर हो गया है।

यह उल्लेखनीय है कि अग्निमित्र ऐतिहासिक नायक है। वह सुप्रसिद्ध मौर्य सेनापति पुष्यमित्र शुङ्ग का पुत्र है। नाटक की पृष्ठभूमि में राजनीतिक उथलपुथल चल रही है। एक ओर विदर्भ का शासक अग्निमित्र की राजीतिक सत्ता को चुनौती दे रहा है और दूसरी ओर सेनापति पुष्पमित्र अपने पौत्र वसुमित्र के साथ सिन्धु के तट पर यवनों अर्थात् यूनान से आये आक्रान्ताओं से लोहा ले रहे हैं, जिन्होंने अग्निमित्र को चक्रवर्ती बनाने के लिये सम्पादित किये जा रहे अश्वमेध यज्ञ के अश्व को पकड़ लिया है और इस प्रकार यह दूसरी चुनौती है। कालिदास इन ऐतिहासिक घटनाओं का उल्लेख नाटक के आदि और अन्त में करते हैं। यह साभिप्राय है। नाटक के अन्त में पुष्यमित्र के साथ रणभूमि में युद्ध कर रहे कुमार वसुमित्र की विजय की सूचना मिलती है। उधर मालविका स्वयं विदर्भ से आयी राजकन्या है और इस प्रकार उसका अग्निमित्र के साथ विवाह राजमहिषी धारिणी तथा अवन्ती राजनय की अद्वितीय समाहार भी है।

विक्रमोर्वशीयम्

विक्रमोर्वशीय कालिदास की नाट्यकला का उत्कृष्टतर निदर्शन है। यह पाँच अङ्कों में निबद्ध त्रोटक नामक उपरूपक है। मालविकाग्निमित्र यदि ऐतिहासिक रूपक है तो विक्रमोर्वशीय पौराणिक। इसकी मूलकथा ऋग्वेद, शतपथब्राह्मण तथा मत्स्यपुराण में पाई जाती है। परन्तु कवि कालिदास ने अपनी नाट्य-प्रतिभा के द्वारा उसमें आवश्यक परिवर्तन कर उसे नवीन स्वरूप दे दिया है। मालविकाग्निमित्र में वर्णित प्रेम भूलोक पर रहने वाले दो प्रेमियों का प्रेम है, जबकि विक्रमोर्वशीय पृथ्वीलोक एवं स्वर्गलोक- इन दो पृथक् लोकों में रहने वाले युगल का प्रेम है। अन्तर्लोकीय प्रेमगाथा होने के कारण इसमें अनेक दैवीय और अतिमानवीय पात्र आ गए हैं तथा अनेक अतिप्राकृतिक तत्त्वों का समावेश हो गया है। देवराज, देवता, गन्धर्वराज, अप्सरा, राक्षस, शाप, वरदान आदि के द्वारा इस रूपक का रूप अलौकिक हो गया है। अनेक घटनाओं का स्थल अन्तरिक्ष है। यह दैवी चमत्कारों से भी चमत्कृत है। देवलोक की अप्सरा की राक्षस से रक्षा भूलोक का राजा करता है और यही दोनों में प्रेम के पनपने की भूमि है। मालविकाग्निमित्र यदि नृत्य-नाट्य-प्रधान नाटक है तो विक्रमोर्वशीय शास्त्रीय-गायन-प्रधान। मालविकाग्नि सूत्र में आन्तरिक बाधाओं से बाधित प्रणय बार-बार संयोग की ओर मुड़ता है तो विक्रमोर्वशीय का प्रेम दैवी तत्त्वों से आहत होकर कठोर वियोग का नाटक बनता है। यहाँ वियोग भी तड़पन गहन भी है और दीर्घकालीन भी। प्रेमी की विरहव्यथा पूरी प्रकृति को अपने में समेट लेती है। और विरह की कसक संस्कृत तथा लोकभाषा में रचित ध्रुवाओं के माध्यम से निकली है। कालिदास

अपने अन्य प्रेमी पात्रों की भाँति यहाँ भी प्रेमी को विरह में अत्यधिक तड़पा लेने के बाद ही संयोग का अवसर देते हैं। मालविकाग्निमित्र एवं विक्रमोर्वशीय इन दोनों रूपकों के नामों में अन्तर्निहित 'अग्निमित्र' एवं 'विक्रम' शब्द तथ रूपकों के अन्तर भी इनके बहुधा प्रयोग ऐतिहासिक तथ्यों से संवलित होने के कारण कालिदास को ईसा पूर्व में ही स्थापित करने में सहायक होते हैं। अतः कालिदास के काल को लेकर इन दोनों रूपकों का समान महत्त्व है। एक विशेष बात यह कि विक्रमोर्वशीय में प्रसङ्गवश कालिदास नाट्यशास्त्र के प्रणेता आचार्य भरतमुनि एवं उनके नाट्य-निरूपण की चर्चा करते हैं यथा-

मुनिना भरतेन यः प्रयोगो
भवतीष्वष्टरसाश्रयो नियुक्तः।
ललिताभिनयं तमद्य भर्ता
मरुतां द्रष्टुमनाः सलोकपालः।। (विक्र० २/१७)

'भरतमुनि तुम लोगों को, जो आठ रसों का आश्रित नाटक सिखा रखा है, उसी का सुन्दर अभिनय इन्द्र और लोकपाल देखना चाहते हैं।' इससे ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी में विद्यमान भरतमुनि से कालिदास की बौद्धिक निकटता तथा नाट्यप्रयोग में भरत की प्रामाणिकता मानने की बात साथ ही सिद्ध होती है। इसलिए कालिदास के ये नाटक भरत के नाट्य-निकष पर खरे उतरते हैं। हाँ रूपक के चतुर्थ अङ्क में उत्तम कोटि के पात्र राजा द्वारा अपभ्रंश भाषा में ध्रुवा गीतों को गाना अवश्य नाट्यशास्त्रीय नियम का उल्लंघन सा लगता है, परन्तु इसका समाधान या तो राजा की विरह-विक्षिप्तावस्था में होना है अथवा विरहव्यथा के गीत का लोकमानस एवं लोकभाषा में होने का औचित्य है। इसके अतिरिक्त निगूढ अभिप्राय कालिदास द्वारा पुरूरवा के व्यक्तित्व विभाजन और उसके एकीकरण का भी हो सकता है। इस त्रोटक के उज्जयिनी में किये गये कतिपय आधुनिक रङ्गप्रयोगों में इस तथ्य को लक्षित किया जा सकता है।

संस्करण एवं कथानक

विक्रमोर्वशीय दो संस्करणों में उपलब्ध है- प्रथम, उत्तरीय संस्करण, जो बंगाली एवं देवनागरी लिपि में सुरक्षित है। द्वितीय, दक्षिणीय संस्करण, जो दक्षिण भारतीय भाषा की लिपियों में सुरक्षित है। पहले पर रंगनाथ (१६५० ई०) तथा दूसरे पर काटयवेम (१४०० ई०) ने टीका लिखी है। उत्तरीय संस्करण का चतुर्थ अङ्क बहुत बड़ा है।

इस रूपक का विषय महाराज पुरुरवा एवं उर्वशी अप्सरा का प्रेम है। राज पुरुरवा अपने पराक्रम से केशी नामक दैत्य के वश में पड़ी हुई उर्वशी अप्सरा को छुड़ा लेते हैं। इसी प्रसंग से दोनों परस्पर प्रेमपाश में बँध जाते हैं। उर्वशी राजा को भोजपत्र पर लिखा

हुआ प्रेमपत्र प्रेषित करती है। वह पत्र किसी तरह महारानी के हाथों पड़ जाता है, जिसे वे कुपित होती हैं। उर्वशी को भरतमुनि के शापवश पृथ्वीलोक आना पड़ता है। वह महारानी की अनुमति से विवाहकर राजा की रानी बन जाती है। एक दिन उर्वशी कुमार वन में राजा के साथ प्रविष्ट होती है और वहाँ लता बन जाती है। उसके वियोग में पुरूरवा पागल बन वन-वन मारा फिरता है। रत्न के प्रभाव से लता फिर उर्वशी बन जाती है। उसके पुत्र आयु से भी उसका मिलन हो जाता है। इन्द्र के सन्देश को पाकर उर्वशी आजीवन पुरूरवा के संयोग में रहती है।

रस-योजना

इस रूपक में भी कालिदास शृङ्गार रस की सिद्धि करते हैं। शृङ्गार के दोनों पक्ष सम्भोग एवं विप्रलम्भ इसमें परिपोष प्राप्त करते हैं। इस रूपक में प्रेम का प्रारम्भ नायक के विक्रम-दर्शन से होता है। वह अपहर्ता राक्षस के चंगुल से नायिका का बचाता है। डरी हुई उर्वशी अपने रक्षक को सामने देखकर पहली प्रतिक्रिया देती है कि दानवराज के उपद्रव ने तो मेरा उपकार ही किया है। यह नायिका के हृदय में प्रेम के बीज का प्रथम अङ्कुरण है। उधर नायक पुरूरवा भी उस अप्सरा के रूप सौन्दर्य को देखकर उस पर मुग्ध हो जाता है। वह कहता है कि ऐसे अनुपम रूप सौन्दर्य की रचना ये सृष्टि सर्जक विधाता तो नहीं कर सकते-

अस्याः सर्गविधौ प्रजापतिरभूच्चन्द्रो नु कान्तिप्रदः
शृङ्गारैकरसः स्वयं नु मदनो मासो नु पुष्पाकरः।
वेदाभ्यासजडः कथं नु विषयव्यावृत्तकौतूहलो
निर्मातुं प्रभवेन् मनोहरमिदं रूपं पुराणो मुनिः।। (विक्रम. १/१०)

नायिका नायक की इस बात को अमृतमय वचन कहती है। नायक उर्वशी एवं उसकी सखियों को हेमकूट पर्वत ले जाते हैं। रथ नीचे उतरने के झटके से उर्वशी राजा के शरीर से लग जाती है तो राजा इस विषम भूमि पर उतरना सफल मानता है और अङ्गों से अङ्ग लग जाने से वह रोमाञ्चित हो जाता है। कवि के शब्दों में ये ही मानो प्रेम के अङ्कुर फूट आए हो। स्वर्ग की ओर आकाशमार्ग से आते समय कालिदास की अन्य नायिका शकुन्तला की भाँति प्रेयसी उर्वशी भी लताविटप में अपनी एकावली वैजयन्ती माला के फँसने का बहाना कर अपने प्रिय को एक बार घूम कर देख लेती है। प्रिय प्रेमिका की यह रतिरसाप्लावित चेष्टा देखकर कहता है-'हे लते! तुमने इसे रोककर बड़ी कृपा की है कि इधर को आधा मुँह फेरकर देखती हुई इस बड़े-बड़े नेत्रों वाली को मैंने इसी बहाने आँख भर कर देख तो लिया।'-

प्रियमाचरितं लते त्वया मे
गमनेऽस्याः क्षणविघ्नमाचरन्त्या।
यदियं पुनरप्यपाङ्गनेत्रा
परिवृत्तार्धमुखी मया हि दृष्टा।। (विक्रम० १/१८)

इस प्रकार कालिदास प्रेम के प्रथम अङ्कुरण को अपनी लेखनी रूपी तूलिका से बड़ी सुकुमारता से चित्रित करते हैं और एक मनोरम उपमा द्वारा अप्सरा द्वारा बलात् अपनी ओर खींचे जाते हुए नायक के हृदय की दशा का इन शब्दों में वर्णन करते हैं- 'यह अप्सरा आकाश में उड़कर जाती हुई मेरे मन को शरीर से उसी प्रकार बलपूर्वक खींच लिये जा रही है, जैसे कोई राजहंसी टूटे हुए कमल के डंठल से उसका तन्तु खींचे लिए चली जा रही हो-

एष मनो मे प्रसमं शरीरा-
त्पितुः पदं मध्यममुत्सृजन्ती।
सुराङ्गना कर्षति खण्डिताग्रा-
त्सूत्रं मृणालादिव राजहंसी।। (विक्रम० १/२०)

उर्वशी के स्वर्ग जाने के पश्चात् द्वितीय अङ्क से शृङ्गार का वियोग पक्ष आरम्भ हो जाता है। राजा अपने मित्र विदूषक से कहता है कि जबसे उसे देखा है वह सुरलोक सुन्दरी मेरे हृदय में समा गई है। वह सुन्दरी क्या है इस पर टिप्पणी करे हुए नायक कहता है कि उस सुन्दरी का शरीर आभूषणों का भी आभूषण है, शृङ्गार की सामग्रियों का भी शृङ्गार है, उपमानों का भी प्रत्युपमान है-

आभरणस्याभरणं प्रसाधनविधेः प्रसाधनविशेषः।
उपमानस्यापि सखे प्रत्युपमानं वपुस्तस्याः।। (विक्रम २/३)

ऐसे में कालिदास अपनी काव्यशैली के अनुरूप विरही द्वारा कामदेव के प्रति उपालम्भ या रोष से सम्भृत वाक्य कहलवाते हैं। यहाँ विरहातुर राजा कहता है कि-

इदमसुलभवस्तुप्रार्थनादुर्निवारं
प्रथममपि मनो मे पञ्चबाणः क्षिणोति।
किमुत मलयवातोन्मूलिता पाण्डुपत्रैः
उपवनसहकारैर्दर्शितेष्वङ्केरेषु।। (विक्रम. २/६)

'अत्यन्त दुर्लभ वस्त के लिए जो मेरा मन मचल पड़ा है, इसे एक तो कामदेव ने पहले चलनी बना दिया था, और उस पर भी उद्यान के आम्रवृक्षों में कोंपलें फुट आई

हैं, जिनके पीले पत्ते मलय पवन द्वारा झाड़ कर गिरा दिये गए हैं।' विरही राजा पुनः अपने मित्र से कामदेव की शिकयत-सी करता हुआ अपनी विरह-वेदना को इस तरह व्यक्त करता है-

'यह कामदेव मेरे हृदय को दिन-रात अपने बाणों से बेधता रहता है। इसलिए ऐसी नींद भला कहाँ आ पायगी कि प्रियतमा से स्वप्न में भेंट हो जाय, और फिर मैं उसका चित्र भी तो नहीं बना सकता, क्योंकि बीच में आँखें डबडबा आने से वह अधूरा ही रह जायगा-

हृदयमिषुभिः कामस्यान्तः सशल्यमिदं सदा
कथमुपलभे निद्रां स्वप्ने समागमकारिणीम्।
न च सुवदनामालेख्येऽपिप्रियामसमाप्य तां
मम नयनयोरुद्वाष्पत्वं सखे न भविष्यति।। (विक्रम० २/२०)

दूसरी ओर कवि नायिका उर्वशी की ओर से प्रेम के व्यक्तीकरण के उपाय के रूप में उससे प्रेमपत्र लिखवाता है। पत्र लोकभाषा प्राकृत में है; जिसका संस्कृत-रूपान्तर इस प्रकार है-

स्वामिन् सम्भाविता यथाहं त्वयाहमज्ञाता
तथानुरक्तस्य यदि नाम तवोपरि।
किं मे ललितपारिजातशयनीये भवन्ति
नन्दनवनवाता अप्यत्युष्णकाः शरीरके।। (विक्रम० २/१२)

'स्वामि! आप और मेरे मन की बात क्या जानें। आप मुझसे प्रेम करने पर भी मेरे प्रेम की बात नहीं जानते। जरा बताइए जब मैं कोमल पारिजात के फूलों की सेज पर जाकर लेटती हूँ ता उस समय नन्दन वन का शीतल पवन मेरे शरीर को जलाने क्यों लगता है?'

इस तरह कालिदास यहाँ दोनों ओर प्रेमाग्नि वाले 'तुल्यानुराग' की चर्चा करते हैं। इसलिए वे नायक के मुख से यह कहलाते हैं कि हम दोनों का प्रेम दोनों ओर एक जैसा ही बढ़ा हुआ है-

साधारणोयमुभयोः प्रणयः स्मरस्य। (विक्रम० २/१५)

कवि ने पुनः वियोग के बाद संयोग का जो तानाबाना बुना है वह सहृदय को हृद्य लगता है। उर्वशी के स्वर्ग से अवतीर्ण होकर राजा से मिलन होने पर वह कह उठता है कि ईप्सित वस्तुओं के प्राप्त होने पर विरोधी वस्तुएँ भी अच्छी लगने लगती हैं। हे सुन्दरी!

जैसे जो वस्तुएँ मुझे क्रोधभरी एवं कठोर जान पड़ती थीं, वे सब तुम्हारे सङ्गम से कोमल हो गई हैं-

संरम्भरूक्षमिव सुन्दरि! यद्यदासीत्
त्वत्सङ्गमेन मम तत्तदिवानुनीतम्। (विक्रम० ३/२०)

विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अङ्क में प्रेम का पलड़ा फिर पलटता है और नायक को फिर संयोग से वियोग के सागर में धकेल देता है। अलकनन्दा के तट पर पुरूरवा ओर उर्वशी प्रथमविहार के लिये निकलते हैं और नदी तट पर खेलती गन्धर्व राजकन्या को निहारता पुरुरवा ठिठक जाता है। आगे निकल गयी उर्वशी मुड़कर एकटक निहारते और ठिठके पुरूरवा को देखकर बिफर उठती है और 'कुमारवन' में प्रवेश कर गाती है, जहाँ कुमार कार्तिकेय तपस्या कर रहे होते हैं। वहाँ पर स्त्री का प्रवेश वर्जित है और प्रवेश करने पर स्त्री लता हो जाती है। फलतः उर्वशी भी लता बन कर लुप्त हो जाती है और पुरूरवा उसे लुप्त पाकर उन्मत्त जैसा हो जाता है। वह काले बादल को प्रिया का अपहरण करने वाला राक्षस, इन्द्रधनुष को उस राक्षस का धनुष्, टप् टप् बरसती हुई बूँदों को बाण तथा सोने की रेखा के समान चमकती बिजली को उर्वशी समझ लेता है और काले बादल को ढेला मारने दौड़ता है, परन्तु फिर सही स्थिति समझकर सँभल कर कहता है-

नवजलधरः संनद्धोऽयं न दृप्तनिशाचरः
सुरधनुरिदं दूराकृष्टं न नाम शरासनम्।
अयमपि पटुर्धारासारो न बाणपरम्परा।
कनकनिकषस्निग्धा विद्युत् प्रिया न ममोर्वशी।। (विक्रम० ४/७)

'अरे! यह तो अभी-अभी बरसने वाला बादल है, राक्षस नहीं। यह तो खिंचा हुआ इन्द्रधनुष् है, राक्षस का धनुष नहीं। ये टप्-टप् बरसने वाले बाण नहीं हैं, वर्षा की बूँदे हैं। और यह जो कसौटी पर बनी हुई सोने की रेखा के समान चमक रही है, यह भी मेरी प्रिया उर्वशी नहीं है, बल्कि बिजली है।'.

राजा पुरूरवा के जीवन में जैसे वियोग का ज्वारभाटा आ गया है। वह प्रकृति के अङ्ग-अङ्ग से, प्रत्यक उपादान से अपनी प्रियतमा के बारे में पूछता है। वह शुक, मसूर, हंस, कोयल, चकवा, हरिण, हाथी जैसे चेतन जीव-जन्तु तथा पर्वत, नदी, अशोक आदि अचेतन पदार्थ सबसे प्रियतमा की स्थित पूछता है, पर उत्तर किसी से नहीं मिलता है। वह हंस को सम्बाधित करता हुआ कहता है-

हंस प्रयच्छ मे कान्तां गतिरस्यास्त्वया हृता।
विभावितैकदेशेन देयं यदभियुज्यते।। (विक्रम० ४/३४)

'हे हंस! मेरी जिस प्रियतमा की चाल तुमने चुराली है, उसे मुझे लौटा दो क्योंकि चोर के पास चोरी का थोड़ा भी माल मिले तो उसे पूरा माल ही देना पड़ता है? रक्ताशोक में तरुणी के पादाघात से अकाल में कुसुमों का विकास होता है इस दोहदविषयक कविसत्य को ग्रहण कर उस वृक्ष से विरही नायक एक कठिन प्रश्न पूछ लेता है कि हे 'रक्ताशोक! इस प्रेमी को छोड़कर वह पतली कमर वाली प्रियतमा कहाँ चली गई। पवन से झूमता हुआ अपना सिर हिलाकर यह क्यों कह रहे हो कि मैंने उसे नहीं देखा। यदि तुमने उसे न देखा होता तो बताओ उसके पादाघात के बिना तुम ये यह पुष्पोद्गम कैसे होता?' प्रियतमा उर्वशी के सहसा विलुप्त हो जाने से उद्दीप्त हुआ वियोग-दुःख इस रोने-कलपने से धीरे-धीरे करुण रस में परिणत होता हुआ दिखता है और कवि सहृदय की पूरी तरह करुण-सागर में डुबाने में सक्षम होता है।

विक्रमोर्वशीय के द्वितीय अंक का आरम्भ होने पर विदूषक के प्रवेश करते ही पाठक को हँसी आती है। मालविकाग्निमित्र की तरह यहाँ भी विदूषक की मुख्य भूमिका नायक राजा के नर्मसाचिव्य में है। अपने मित्र राजा से नवेली नायिका से मिलवाने, उनका संयोग कराने में इन बातों के मध्य विदूषक की जो भी चेष्टाएँ हैं, जो वाग्व्यवहार है, वह सब मिलरक हास्य रस की सृष्टि करते हैं। रूपक के आरम्भ में राज बनी राक्षस केशी को परास्त कर उसके चंगुल से उर्वशी को छुड़ा लाने में जो पराक्रम प्रदर्शित करता है उससे वीर रस की पुष्टि होती है। एक ओर नायक का शौर्य प्रदर्शन, दूसरा, राक्षस के जाल से छूटने पर भी उर्वशी का भयभीत होते रहना-इस तरह इन उत्साह एवं भय भावों की पृष्ठभूमि पर ही रतिभाव उद्भूत होता दिखता है। चतुर्थ अङ्क में सङ्गमनीय मणि के लिए नेपथ्य से वाणी होना, राजा का उसे प्राप्त करना और उसके संयोग से उर्वशी के लतारूप छोड़कर पुनः अपने मूल रूप में राजा के समक्ष प्रकट होने में विस्मय के प्रसङ्गों में अद्भुत रस का परिपोष हुआ है। आगे पञ्चम अङ्ग में गिद्ध द्वारा मांस का टुकड़ा उठा ले जाने पर रूपक में सम्भ्रम की स्थिति उत्पन्न होती है और क्रोध के क्षणों में रौद्र रस की पुष्टि होती है।

प्रकृति-चित्रण

प्रकृति के सकुमार कवि कालिदास ने इस रूपक में भी कई स्थानों पर प्रकृति के मनोरम चित्र उपस्थित किये हैं। कवि धरती और आकाश दोनों की शोभा का चित्रण करता है। आकाशमार्ग में राजा के वेगपूर्वक चलने से घने बादल कैसे पिस-पिस कर धूल जैसे बन गए हैं यह कवि की अन्तरिक्षलोकीय दृश्य की सुन्दर परिकल्पना है। कवि की सर्वाधिक प्रिय ऋतु वसन्त का वर्णन पुरूरवा के मुख से कवि इस प्रकार काता है-

अग्रे स्त्रीनखपाटलं कुरबकं श्यामं द्वयोर्भागयोः
रक्ताशोकमुपोदरागसुभगं भेदोन्मुखं तिष्ठति।
ईषद्बद्धरजःकणाग्रकपिश चूते नवा मञ्जरी
मुग्धत्वस्य च यौवनस्य च सखे मध्ये मधुश्रीः स्थिताः।।

(विक्रम0 2/7)

'इस प्रमदवन में यह है कुरबक का फूल, जिसका सिरा स्त्री के नख के समान लाला है और जिसके दोनों छोर लाल रंग के हैं। अपनी ललाई से सुन्दर लगने वाला यह लाल अशोक का फूल, ऐसा लगता है कि बस अब खिलने ही वाला है। आम के पेड़ में कुछ दिखाई देने वाले पराग के कारण पीला सा लगने लगा नया बौर फूटने लगा है। इस प्रकार यह वसन्त की शोभा ऐसी लगती है मानो वह अपने बचपन और जवानी के बीच में खड़ी हो।' गर्मी की दोपहर का भी एक दृश्य उपस्थित कवि ने सुन्दर चित्र खींचा है। गर्मी का प्रभाव पशु-पक्षियों पर कैसा पड़ रहा है इसका वर्णन करता हुआ कवि कहता है-

उष्णालुः शिशिरे निषीदति तरोर्मूलालवाले शिखी
निर्भिद्योपरि कर्णिकारमुकुलान्यालीयते षट्पदः।
तप्तं वारि विहार वीरनलिनीं कारण्डवः सेवते
क्रीडावेश्मनि चैषपञ्जरशुकः क्लान्तो जलं याचते।। (विक्रम0 2/22)

'यह मोर गर्मी से घबराकर पेड़ की जड़ के ठण्डे थाले में आ बैठा है। यह भौंरा कनेर की कला का मुँह खोलकर उसमें छिपने की चेष्टाकर रहा है। यह जल-कुक्कुट ताल का गरम पानी छोड़कर तट पर खिली हुई कमलिनी की छाया में आ बैठा है और क्रीडागृह के पिंजरे में पड़ा हुआ यह प्यासा तोता भी पानी माँग रहा है विक्रमोर्वशीय के द्वितीय अङ्क में कालिदास ने गङ्गा-यमुना इन दो नदियों के सङ्ग का उत्कृष्ट कविकल्पना के साथ वर्णन किया है। सखी चित्रलेखा उर्वशी से कहती है- 'सखी! हम लोग राजर्षि के उस भवन पर पहुँच गई हैं, जिसके समान कोई दूसरा भवन प्रतिष्ठानपुरी में नहीं है, और जो ऐसा दिखाई पड़ रहा है, मानो यमुनाजी के सङ्गम के कारण और भी पवित्र बने हुए गङ्गाजी के जल में अपना मुँह देख रहा है।' कविवर कालिदास ने अपनी विशिष्ट योजना द्वारा समस्त प्रकृति को ही पुरूरवा के विरह में सम्मिलित कर लिया है। नदी, पर्वत, पशु, पक्षी, वन, उपवन, द्रुम, लताएँ सब एक विरही की विरह-संवेदना से जुड़ गए हैं। जो नहीं भी जुड़े हैं उन्हें विरही अपने साथ जोड़ ले रहा है। मानव एवं प्रकृति की संवेदना का अद्भुत तादात्म्य यहाँ दिखाई पड़ता है।

ध्रुवाप्रयोग

विक्रमोर्वशीय के चतुर्थ अङ्क में पुरूरवा के विरह-प्रसङ्ग में कालिदास विशुद्ध रूप से ध्रुवा गान के प्रयोक्ता बन गए हैं। कवि ने इन्हें विधिवत् आक्षिप्तिका, द्विपदिका, जम्भलिका, खण्डधारा आदि नामों से बोधित किया है। इन ध्रुवागानो में कवि द्वार सखी के वियोग में विह्वल चित्रलेखा एवं सहजन्या सखियों को दो हंसिनियों तथा विरहातुर राजा को गजराज के प्रतीक के रूप में कल्पित किया गया है। अपभ्रंश भाषा में रचित विरहविकलता का यह लघुगीत मार्मिक है-

दइआरहिओ अहिअं दुहिओ बिरहाणुओ परिमंथरओ।
गिरिकाणणए कुसुमुज्जलए गजजूहवई बहुझीणगई।। (विक्रम० ४/१४)

'अर्थात् अपनी प्यारी के विरह में अत्यन्त दुःखी होने से यह हाथी फूलों से उजले इस पहाड़ी प्रदेश में धीरे-धीरे घूम रहा है।' यह बात अवश्य है कि इस गीत-परम्परा को कवि ने बहुत विस्तृत कर दिया है। इससे नाटक की गति तो मन्द हुई है, परन्तु एक भाव को सम्पूर्ण सान्द्रता एवं गहनता से आलोडन विलोडन कर अनुभूत कराने की कवि कालिदास की शैली के कारण यह सङ्गत भी है। खग-मृग, चेतन-अचेतन सबसे जा जा कर प्रियतमा के बारे में पूछना, उनसे बहस करना, उन्हें उपालम्भ देना-यह सब नाटककार द्वारा विरह के परिप्रेक्ष्य में किया जा रहा है। इसका प्रयोग चाहे गीत को गाकर प्रस्तुत किया जाय अथवा तदनुरूप प्राकृतिक दृश्य मञ्च पर उपस्थित किया जाय, पर इन गेय संवादों का लक्ष्य सहृदय-हृदय को रसाप्लावित करना ही है।

संस्कृत रूपक परम्परा में नाट्यशास्त्र में निर्दिष्ट 'ध्रुवाविधान' का प्रयोग अत्यन्त विरल है। किन्तु 'विक्रमोर्वशीयम्' का चतुर्थ अङ्क इस दृष्टि से प्राप्त होने वाला अत्यन्त समृद्ध और एकमात्र इतना विस्तृत प्रयोग निदर्शित करने वाला उदाहरण है। ये ध्रुवाएँ संस्कृत, प्राकृत और अपभ्रंश-तीनों भाषिक स्तरों पर विद्यमान हैं और प्रमाणित करती हैं कि कालिदास के नाट्यप्रयोगों में शास्त्र और प्रयोग का अद्भुत समन्वय शताब्दियों तक चलता रहा है। इन ध्रुवाओं में से कई ध्रुवाएँ परवर्ती नाट्य-प्रयोगों में भूलपाठ मे जोड़ी गयी हो सकती हैं। किन्तु अनेक स्वयं नाटककार ने यथास्थान लिखा है। इस प्रकार विक्रमोर्वशीय संस्कृतनाट्य की सजीव और शताब्दियों तक चलती रही रङ्गपरम्परा का प्रबल प्रमाण प्रस्तुत करता है।

अभिज्ञानशाकुन्तलम्

कविकुलगुरु कालिदास की अमृतनिःष्यन्दिनी वाणी का अखण्ड फल है अभिज्ञानशाकुन्तल। उनकी नाट्यकला का चरम परिपाक है अभिज्ञानशाकुन्तल। यही वह

नाटक है जिसके कारण वे विश्वविश्रुत हुए। सहृदय समाज में भी 'काव्येषु नाटकं रम्यं तत्र रम्या शकुन्तला' यह उक्ति चरितार्थ होकर प्रचलित हुई। अभिज्ञानशाकुन्तल विश्वपटल पर युगान्तरकारी नाटक सिद्ध हुआ। सर्वप्रथम उसका संस्कृत से अंग्रेजी में अनुवाद कलकत्ता के विद्वान न्यायविद् सर विलियम जोन्स ने किया, जो १७८९ ई० में प्रकाशित हुआ। कुछ ही समय बाद जार्ज फार्स्टर ने इसका अनुवाद जर्मन भाषा में किया, जो लाइप्ज़िग से १७९१ में प्रकाशित हुआ। जर्मनी के प्रसिद्ध कवि एवं नाटककार गेटे (Gaethe) ने जब इस अनुवाद के अनुवाद को पढ़ा तो वह शाकुन्तल के सम्मोहन में डूबता गया और पूरा नाटक पढ़ने के बाद आनन्दनर्तित हो उठा और उसने शाकुन्तल की भूरि भूरि प्रशंसा करते हुए चार पंक्तियाँ लिखीं, जो उनके नाट्यकाव्य 'फाउस्ट' की भूमिका में प्रकाशित हुईं पंक्तियाँ मूलतः जर्मन भाषा में थीं, फिर उनका अंग्रेजी में अनुवाद हुआ। अब संस्कृत में भी उनका अनुवाद हो चुका है, जो इस प्रकार है-

वासन्तं कुसुमं फलं च युगपद् ग्रीष्मस्य सर्वं च यत्,
यच्चान्यन्मनसो रसायनमतः सन्तर्पणं मोहनम्।
एकीभूतमभूतपूर्वमथवा स्वर्लोक-भूलोकयो-
रैश्वर्यं यदि वाञ्छसि प्रियसखे शाकुन्तलं सेव्यताम्।।

इस तरह जर्मनी तथा अन्य योरोप के देशों में शाकुन्तल एवं इसके रचयिता कालिदास की कीर्ति फैली और योरोपवासी संस्कृत भाषा एवं साहित्य की उत्कृष्टता से परिचित एवं प्रभावित हुए। शाकुन्तल के फिर और भी अनुवाद हुए। १८१५ में फ्रांस के प्रथम संस्कृतज्ञ प्रो. चेज़ी ने अभिज्ञानशाकुन्तल का फ्रेञ्च भाषा में अनुवाद एवं सम्पादन किया। शाकुन्तल पर अनेक समीक्षाएँ लिखी जाने लगीं तथा विश्व-रङ्गमञ्चों पर इसे प्रयोग भी प्रस्तुत होने लगे। शाकुन्तल से आरम्भ हुए इस घटनाक्रम के कारण अठारहवीं शताब्दी का अन्तिम चरण संस्कृत का 'पुनर्जागरण काल' कहलाया। वस्तुतः शाकुन्तल रसपेशलता, भावगहनता, कथानक, पात्र, घटनाक्रम, प्रकृति-मानव-तादात्म्य, कविकल्पना, चरित्र-चित्रण, प्रेम-सौन्दर्य-चित्रण, भाषा-संरचना, संवाद योजना, नाट्यशिल्प आदि की दृष्टि से एक उत्तम नाटक है।

कथानक

अभिज्ञानशाकुन्तल नाटक के प्रथम अङ्क का आरम्भ आश्रम के समीप वन में शिकार करते हुए राजा से "राजन्! आश्रममृगोऽयं न हन्तव्यो, न हन्तव्यः।" इस तीव्र निषेध से होता है, जो शासनसत्ता को तपोवन की गरिमा के आगे विनत होने का सन्देश देता है। फिर तीन सखियों का वृक्षसेचन, भ्रमरबाधा, एवं नायक के मन का अन्तर्द्वन्द्व, और नायक-नायिका के हृदयों में प्रेम का बीजारोपण होता है। द्वितीय अंक आते ही विदूषक

की हँसी-ठिठोली से हास्य फूट पड़ता है और राजा अपने हृदय की बात मित्र विदूषक से कहकर उसका उपाय पूछता है। तृतीय अङ्क में प्रेम का बीज बढ़कर पादप बन जाता है, जो दोनों ओर विह्वलता प्रदान कर रहा है। शकुन्तला का काम-परिताप बढ़ गया है तथा सखियों एवं गौतमी द्वारा लू लगने का उपचार किया जा रहा है। शकुन्तला अपने प्रेमी को प्रेम-पत्र लिखती है, जिसका उत्तर प्रेमी स्वयं सामने आकर देता है। सखियों द्वारा दोनों के एकान्त मिलन की योजना बनाई जाती है। दोनों का गान्धर्व विवाह हो जाता है और शकुन्तला गर्भवती हो जाती है। चतुर्थ अङ्क आते ही दृश्य बिलकु बदल जाता है। सखियों में दुष्यन्त के चले जाने पर शकुन्तला की खबर-सुध न लेने की व्यथा है। इसी बीच क्रोधी मुनि दुर्वासा शकुन्तला को शाप देने की घटना घटित हो जाती है। इधर आकाशवाणी से शकुन्तला के गर्भवती होने की सूचना पाकार कण्व उसे पतिगृह भेजने की तैयारी करते हैं। पूरा आश्रम शकुन्तला की विदाई एवं भावी विरह में व्याकुल हो जाता है। पञ्चम अङ्क में राजधानी एवं राजशाही के दृश्यों के बाद ऋषिकुमारों एवं गौतमी के साथ शकुन्तला को दुष्यन्त के राजदरबार में लाया जाता है, परन्तु दुष्यन्त शकुन्तला को पहचानने एवं स्वीकारने से मना कर देता हे। और शार्ङ्गरव और दुष्यन्त में तीखा विवाद होता है। अन्त में रोती-कलपती शकुन्तला को एक ज्योति ले जाती है। छठे अङ्क में राजनामाङ्कित अंगूठी लेने के कारण एक धीवर को राजपुरुष मारते हैं। पर अंगूठी को देखते ही राजा को पुराना सब याद आ जाता है और शकुन्तलका को अपमानित करने पर बहुत पश्चात्ताप होता है। सप्तम अङ्क में विजय के बाद स्वर्ग से लौटने पर मारीच आश्रम जाने पर राजा की भेंट पहले अपने पुत्र भरत से, फिर शकुन्तला से होती है पुनर्मिलन से सुखान्त नाटक होता है।

मूलकथा में कविकृत परिवर्तन

यह सत्य है कि शाकुन्तल की मूलकथा महाभारत के आदिपर्व एवं पद्मपुराण के स्वर्ग-खण्ड से ली गई है, परन्तु नाटककार कालिदास ने उसे अपनी नाट्यप्रतिभा के द्वारा अनेक परिवर्तन कर, अनेक नवीन कथावृत्तों को जोड़कर, उसे नये साँचे में ढालकर प्रस्तुत किया है। मूलकथा से कालिदास ने कण्वमुनि को सोमतीर्थ भेज दिया है, और उनकी अनुपस्थिति में शकुन्तला-दुष्यन्त के प्रणय एवं गान्धर्व विवाह आदि की घटना घटित होती है। अनसूया एवं प्रियंवदा सखियों के प्रसङ्ग, भ्रमरबाधा का वृत्तान्त और राजा का जाते समय शकुन्तला को अभिज्ञान के रूप में अँगूठी देना कालिदास की मौलिक उद्भावनायें हैं। दुर्वासा ऋषि का शाप भी कालिदास की कल्पना है। अँगूठी खोने एवं पुनः मिलने की कथा तथा अँगूठी से ही शापनिवृत्ति कराकर कालिदसा में 'अभिज्ञानशाकुन्तलम्' इस नाम को सार्थक किया है शकुन्तला-प्रत्याख्यान के बीच में शाप को लाकर कथावृत्त एवं दुष्यन्त के चरित्र को भी नया मोड़ दिया गया है। शार्ङ्गरव के साथ राजा का विवाद भी कविकृत

परिवर्तन है। षष्ठ अङ्क में धीवर-प्रसङ्ग से लेकर राजा का इन्द्र-सहायतार्थ स्वर्गगमन कवि की योजना है। सप्तम अङ्क को भी कवि ने मूलकथा से भिन्न आकाशमार्ग से उतरते हुए राजा का मारीचमुनि के आश्रम में जाना, सर्वदमन से मिलन और अन्ततः शकुन्तला से संयोग के सारे वृत्त को अपनी प्रतिभा से नवीन भास्वर रूप दे दिया है। कथागत इन परिवर्तनों एवं नवोद्भावनाओं के कारण ही यह विश्व का सर्वश्रेष्ठ नाटक होने की गरिमा प्राप्त कर रहा है।

संस्करण एवं टीकाएँ

प्रकृत नाटक अभिज्ञानशाकुन्तल के अब तक चार संस्करण उपलब्ध हुए हैं- बंगाली संस्करण, देवनागरी संस्करण, काश्मीरी संस्करण एवं दक्षिण भारतीय संस्करण। बंगाली संस्करण में 221 पद्य हैं। इस पर शङ्कर एवं चन्द्रशेखर ने टीकाएँ लिखी हैं। देवनागरी संस्करण में 194 पद्य है। इस पर राघवभट्ट की टीका मिलती है। यह कहना कठिन है कि कौन सा संस्करण अधिक स्वीकरणीय है। इधर गुजरात विश्वविद्यालय के प्रो0 वसन्त कुमार भट्ट ने शारदा पाण्डुलिपियों के विशेष सन्दर्भ में 'अभिज्ञानशाकुन्तल के देवनागरी पाठ में संक्षेपीकरण के पदचिन्ह' विषय पर काम कर अपना आलेख लिखा है, जिसमें उन्होंने बताया है कि शाकुन्तल की बृहत्पाठपरम्परा में तीन वाचनायें निर्धारित की गई हैं- काश्मीरी वाचना, मैथिली वाचना और बंगाली वाचना। इसके प्रतिपक्ष में लघु पाठ परम्परा में दो वाचनायें निर्धारित की गई हैं- एक संमिश्रित एवं संक्षिप्त देवनागरी वाचना तथा दूसरी दाक्षिणात्य वाचना। आचार्य सीताराम चतुर्वेदी ने हिन्दी अनुवाद सहित प्रकाशित 'कालिदास-ग्रन्थावली' में अभिज्ञानशाकुन्तल का पाठ-निर्धारण किया है आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी ने अनेक पाण्डुलिपियों का परीक्षण करने के पश्चात् पाठालोचन एवं पाठ-निर्धारण कर नाटक को प्रकाशित किया है। तीनों नाटकों में अभिज्ञानशाकुन्तल ही ऐसा है, जिस पर अनेक टीकाकारों ने टीकाएँ लिखी हैं। शङ्कर एवं चन्द्रशेखर की टीकाओं की चर्चा की जा चुकी हे। शाकुन्तल की दो टीकाएँ- वैखानस श्रीनिवासाचार्य-विरचित व्याख्या एवं राघवभट्ट-कृत 'अर्थद्योतनिका' नामक व्याख्या एक साथ 1954 में चेन्नई से प्रकाशित हुई हैं। इन दोनों में भी राघव भट्ट की टीका को अधिक ख्याति मिली। दोनों ही टीकाएँ नाटक के समस्त शब्दों, विशेष रूप से पद्य में विद्यमान शब्दों, की व्युत्पत्तिमूलक व्याख्या सहित तथा यथास्थान कोष, व्याकरणात्मक टिप्पणी, अन्य शास्त्रग्रन्थों से उद्धरण, रस, अलङ्कर, गुण, छन्द आदि की विधिवत् व्याख्या करती हैं, कवि के भाव को और अधिक अभिव्यक्त करती हैं और कहीं कहीं काव्य में अन्तर्निहित व्यङ्ग्यार्थ का स्फोरण करती हैं। कहीं-कहीं नाट्यप्रयोगों एवं लक्षणों को भी देती हैं। कहीं कहीं इस शैली में की गई व्याख्याएँ बहुत लम्बी हो गई हैं, जैसे नाटक के प्रथम नान्दी श्लोक की व्याख्या दस मुदित पृष्ठों में चली गई हैं। इन टीकाओं में प्रतिपद व्याख्याशैली अपनाई गई है। शाकुन्तल की टीकाओं पर

कालिदास अकादेमी, उज्जैन के परिसंवादों में पर्याप्त चर्चा हुई हैं प्रो० कमलेदशदत्त त्रिपाठी के निदेशकत्व-काल में उनकी प्रेरणा से प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने शाकुन्तल की टीकाओं पर एक बृहद् शोधलेख प्रस्तुत किया। उसी क्रम में प्रो० हरिदत्त शर्मा ने एक दुर्लभ टीका 'अभिज्ञानशाकुन्तलचर्चा' पर अकादमी में आलेख प्रस्तुत किया, जो नवम्बर, १९८८ की 'कालिदास' शोध-पत्रिका में प्रकाशित भी हुआ। शाकुन्तल की टीकाओं की खोज करते हुए लेखक को विशिष्ट व्याख्यानशैली से समन्वित एक अज्ञातनामा टीकाकार की टीका 'अभिज्ञानशाकुन्तलचर्चा' प्राप्त हुई। डॉ० के० राघवन पिल्लै द्वारा सम्पादित इस टीका का प्रकाशन १९६१ ई० में अनन्तशयन-संस्कृत-ग्रन्थावली (ग्रन्थाङ्क १९५) के अन्तर्गत केरल यूनिवर्सिटी, त्रिवेन्द्रम से हुआ है। अन्य टीकाकारों की शास्त्रार्थ से बोझिल एवं लक्षणों की भरमार से भरी शैली से भिन्न इस टीकाकार की शैली प्रसन्न गम्भीर पदावली वाली शैली है। टीकाकार की दृष्टि समस्त विवेचन में निरन्तर तुलनात्मक रही है। चर्चाकार ने अपनी टीका में नाट्य समीक्षा-सम्बन्धी अनेक मौलिक प्रश्न उठाये हैं और अन्य मतों के साथ अन्त में स्वाभिमत भी प्रकट किया है। उसने अनेक मौलिक प्रश्नों को उत्थापित, विवेचित एवं समाहित किया है और नाट्य-चिन्तन को नवीन दिशा दी है। जैसे शाकुन्तलीय इतिवृत्त क विवेचन में महाभारतीय इतिवृत्त से भेद बताते हुए टीकाकार ने कालिदास की परिवर्तन-परिकल्पना की औचित्य-स्थापना की है। स्थान-स्थान पर चर्चाकार ने कालिदास की गूढ व्यञ्जनाओं का व्यञ्जन तथा व्यङ्ग्यार्थों का स्फोरण किया हे। परवर्ती कालिदासीय समीक्षा को अभिनव प्रकाश-पथ की ओर अग्रसर कराने में इस टीका का अत्यधिक योगदान है।

रसयोजना

महाकवि कालिदास प्रेम एवं सौन्दर्य के मधुर चित्रण द्वारा शृङ्गाररससिद्ध कवि के रूप में ख्यापित हुए हैं। उनका प्रेमाभिव्यञ्जन अभिज्ञानशाकुन्तल में आकर अगाध गहराइयों को छू रहा है। वे नाटक के प्रथम अङ्क में बड़ी कुशलता के साथ नायक-नायिका के हृदय में प्रेम के कोमल अङ्कुरण को दिखाते हैं, जो उनके सात्त्विक एवं वाचिक अभिनयों से अभिव्यक्त हो रहा है। नायक नायिका के रूपसौन्दर्य एवं 'कुसम के समान लोभनीय' यौवन को देखकर उसकी ओर आकृष्ट होती है और उधर नायिका भी मन ही मन कहती है "किं नु खल्विमं प्रेक्ष्य तपोवनविरोधिनो विकारस्य गमनीयाऽस्मि संवृत्ता।" 'क्या बात है कि इस पुरुष को देखकर मैं पहली बार तपोवन-विरोधी मनोविकार का शिकर हो रही हूँ।' शकुन्तला का जातिविषयक सन्देह निर्णय हो जाने पर दुष्यन्त का आकर्षण वेगपूर्वक आगे बढ़ता है। शकुन्तला की सारी चेष्टाओं को वह प्रेम-चेष्टाएँ ही मानता हुआ अपने मन में कहता है-

वाचं न मिश्रयति यद्यपि तद्वचोभिः
कर्णं ददात्यभिमुखं मयि भाषमाणे।
कामं न तिष्ठति मदाननसम्मुखीना
भूयिष्ठमन्यविषया न तु दृष्टिरस्याः।। (अभि० १/२७)

'यद्यपि यह शकुन्तला मेरे वचनों से अपने वचन नहीं मिलाती अर्थात् मुझसे सीधे बात नहीं करती। परन्तु मेरे बोलने पर मेरी ओर कान लगाये रहती है। भले ही यह मरे मुख से सामने मुख करके नही बैठती, पर इसकी दृष्टि मेरे अतिरिक्त किसी दूसीर ओर नहीं जाती।' जो प्रथम अङ्क में नाटककार नहीं कह पाता, उसे द्वितीय अङ्क में नायक के मुख से कहलाता है। दुष्यन्त अक्षत कौमार्य वाली शकुन्तला तो 'अनाघ्रात पुष्प' 'लून किसलय' 'अनाविद्ध रत्न' एवं 'अनास्वादित-रस नव मधु' कहता है। नायिका की जाते- जाते की गई मधुर प्रेममयी भङ्गिमा पर मुग्ध हुआ नायक मित्र विदूषक से यह बात बताता है-

दर्भाङ्कुरेण चरणः क्षत इत्यकाण्डे
तन्वी स्थिता कतिचिदेव पदानि गत्वा।
आसीद् विवृत्तवदना च विमोचयन्ती
शाखासु वल्कलमसक्तमपि द्रुमाणाम्।। (अभि० २/१२)

'वह तन्वी शकुन्तला कुछ कदम आगे चली ही थी कि 'मेरे पैर में कुश का काँटा चुभ गया है' यह बहाना बनाकर वह कुछठण ठहर गई (जिससे वह मुझे देख सके), वृक्षों की डालियों में न उलझे हुए भी अपने वल्कल वस्त्र को छुड़ाती हु वह (इस बहाने से) मेरी ओर मुँह घुमाकर मुझे देखती रही थीं नाटक के प्रथम अङ्क में अङ्कुरित प्रेम तृतीय अङ्क में पहुँचकर पुष्पित एवं पल्लवित होता है। वहाँ पर भी कवि शकुन्तला द्वारा दुष्यन्त को लिखित मदनलेख में प्रेमिका के द्गत भाव को तथा दुष्यन्त के तुरन्त उपस्थित होकर उत्तर देने में प्रेमी के हद्गत भाव को अभिव्यक्ति देता है।

"अयं स ते तिष्ठति सङ्गमोत्सुको
विशङ्कसे भीरु! यतोऽवधीरणाम्।" (अभि० ३/११)

इस कथन में प्रेमी के हृदय की उत्सुकता एवं उत्कट मिलनेच्छा व्यक्त होती है। प्रेमी-प्रेमिका के संयाग काल में कालिदास प्रेम की अनूभूति को पराकाष्ठा तक पहुँचा देते हैं। जब अनसूया एवं प्रियंवदा प्रेमी-प्रेमिका के एकान्त मिलन को सम्भव बनाने के लिए बहाना बनाकर चली जाती है तो शकुन्तला के प्रथम एकान्त मिलन में प्रेमी दुष्यन्त ऐसी चाटुमयी प्रेम रस टपकाने वाली वाणी बोलता है-

'क्या मैं थकान मिटाने वाले कमलिनी के कोमल पत्तों के पंखों से तुम्हारी ठण्डी हवा करूँ अथवा हे करभोरु! तुम्हारे कमल के समान लाल वर्ण के चरणों को गोद में रखकर जिस प्रकार भी तुम्हें सुख प्राप्त हो उस प्रकार दबाऊँ?

किं शीतलैः क्लमविनोदिभिरार्द्रवाता-
न्सञ्चारयामि नलिनीदलतालवृन्तैः?
अङ्के निधाय करभोरु यथासुखं ते
संवाहयामि चरणावुत पद्मताम्रौ।। (अभि0 2/18)

तृतीय अङ्क में पोषित संयोग शृङ्गार चतुर्थ अङ्क में आकर शकुन्तला के लिए वियोग में परिणत हो जाता है, जबकि नायक के पक्ष में वियोग षष्ठ अङ्क में परिपक्व होता हे। नाटककार ने नायक कोभी वियोग एवं पश्चात्ताप के ताप में उतना ही सताया है, जितना नायिका पहले सहन कर चुकी है। दुष्यन्त कहता है-

प्रथमं सारङ्गाक्ष्या प्रियया प्रतिबोध्यमानमपि सुप्तम्।
अनुशयदुःखायेदं हतहृदयं सम्प्रति विबुद्धम्।। (अभि0 6/7)

नाटक के द्वितीय अङ्क में विदूषक की विविध वचोभङ्गिमाओं के कारण हास्यरस के फव्वारे छूटते हैं, जबकि चतुर्थ अङ्क में शकुन्तला को पतिगृहगमनहेतु विदाई के कारण वात्सल्य विप्रलम्भ का मार्मिक चित्रण है। शकुन्तला का साहचर्य छूटने के कारण न केवल धर्मपिता महर्षि कण्व, अपितु सम्पूर्ण आश्रम, आश्रमवासी मृग, खग, यहाँ तक कि पादप, लताएँ भी शकन्तला के भावी वियोग में आँसू बहाते, दुःखसागर में डूबते दिखाई पड़ते है।

उद्गलिकदर्भकवला मृग्यः परित्यक्तनर्तना मयूराः।
अपसृतपाण्डुपत्रा मुञ्चन्त्यश्रूणीव लताः।। (अभि0 4/12)

'शकुन्तला को पतिगृह जाते देखकर हरिणियों ने कुशों के गासों को उगल दिया है, मयूरों ने नाचना छोड़ दिया है, और पीले पत्तों को गिराकर लतायें मानों आँसू बहा रही हैं।

शाकुन्तल का पञ्चम अङ्क क्रोध के प्रसंगों से रौद्ररसमय हो गया है। प्रत्याख्यान के बाद पहले शार्ङ्गरव एवं दुष्यन्त का कठोर कथा प्रकथन और फिर दुष्यन्त एवं अन्त में शकुन्तला के तीखे क्रोध भरे वचन वातावरण को हिला देते हैं। फिर आकशवती ज्योति द्वारा शकुन्तला के ले जाये जाने में विस्मयवश अद्भुत रस के दर्शन हाते हैं। सप्तम अङ्क में राजा दुष्यन्त के राक्षस सेना के विरुद्ध इन्द्र की सहायता करने में वीररस का प्रसङ्ग आता है। बालक भरत के बालसुलभ क्रिया-कलापों में वात्सल्य के मनोहर चित्र आते हैं।

दुष्यन्त-शकुन्तला के पुनर्मिलन के दृश्य को कवि ने विशेष भावमय एवं हृदयहारी बना दिया है।

चरित्र-चित्रण

महाकवि कालिदास की कला, कल्पना एवं कवित्व के चरम परिपाक-रूप नाटक शाकुन्तल की नायिका शकुन्तला है। पौराणिका एवं ऐतिहासिक होते हुए भी कविप्रतिभा की अभिनव मृत्तिका से बने हुए इस पात्र ने साहित्य-संसार में एक विशेष स्थान पा लिया है। वह वर्ड्सवर्थ की 'ल्यूसी' की तरह प्रकृति से पोषित एक प्रकृतिकन्या है। वह प्रेम, सौहार्द, करुणा एवं कोमलता की मधुर सृष्टि है। वह आन्तरिक सौन्दर्य एवं बाह्यसौन्दर्य का सुन्दर समन्वय है। वह अनुपम सुन्दरी है। उसका रूप अव्याजमनोहर है। उसमें प्रेममयी लज्जा के दर्शन होते हैं। शकुन्तला के शरीर में जितना सौन्दर्य है, हृदय में उतना ही प्रेम भरा है। कालिदास ने उसे प्रेम की प्रतिमूर्ति बना दिया है।

खुलेआम राजदरबार में जब उसके पावन प्रेम की हँसी उड़ाई जाती है और उसके हृदय में सञ्चित प्रेमदर्पण जब प्रेमपात्र द्वारा ही चकनाचूर कर दिया जाता है, तो ठोकर खाकर उसका नारीत्व का स्वाभिमान जाग जाता है। वह तिलमिलाकर अपने पति से आक्रोश भरे वचन कहती है। परन्तु तब भी वह अपना धर्ममार्ग नहीं छोड़ती, पातिव्रत्य के पथ से विचलित नहीं होती, अपितु तपोवन में जाकर कठिन विरहव्रत धारण करती है। इस स्थिति में न वह पूरी तरह ब्रह्मचारिणी है, न पूरी तरह गृहस्थिन है और न पूरी तरह तपस्विनी ही है। मलिन वस्त्र पहने हुए, तप से सूखे हुए मुख वाली, एक वेणी धारण करने वाली शकुन्तला का चित्र साक्षात् करुणा, साधना और तपस्या की जीती-जागती मूर्ति भारतीय नारी का चित्र है-

वसने परिधूसरे वसाना नियमक्षममुखी धृतैकवेणिः।
मम निष्करुणस्य शुद्धशीला दीर्घं विरहव्रतं बिभर्ति।। (अभि0 7/21)

उस पर भी दुष्यन्त के क्षमाप्रार्थी के रूप में सामने आने पर शकुन्तला उसका तिरस्कार नहीं करती, और न बदला लेती है वह हर्ष की प्रतिक्रिया ही व्यक्त करती है। पुत्र भरत के पूछने पर कि 'माँ! यह कौन हैं'? शकुन्तला उत्तर देती है- 'आत्मनो भागधेयानि पृच्छ'- अपने भाग्य से पूछो। इस उत्तर में पुत्र-स्नेह, पति द्वारा दिया गया अन्याय, दैव का अत्याचार, आक्रोश, हर्ष आदि अनेक व्यङ्ग्यार्थ छिपे हैं।

कालिदास की कल्पनाशक्ति से निर्मित दुष्यन्त इस नाटक का नायक है, जो धीरोदात्त नायक की शास्त्रीय कसौटी पर खरा उतरता है। अनिन्द्यसुन्दरी कण्वकन्या की ओर मन का पूरा आकर्षण होने पर भी वह उसकी जाति पर विचार करके ही, संशय

मिटने के बाद ही उसकी ओर प्रवृत्त होता है। वह बल, पराक्रम एवं पौरुष का प्रतीक है, वह सुन्दर है, परन्तु कोमल नहीं। वह युद्ध में राक्षसों के विरुद्ध स्वर्गवासियों का साथ देने के लिए स्वर्ग जाता है और विजयी होता है। वह राज्य में धर्मध्वजा धारण किये हुए है। छठे अङ्क से वह पार्थिव जगत् से ऊपर उठता है और उस कोटि तक पहुँच जाता है जहाँ धर्म और काम का विरोध समाप्त हो जाता है, भोग एवं योग का सुन्दर समन्वय होने लगता है। अन्ततः वह कालिदास की नाट्यकला एवं कल्पनाशीलता के साँचे में ढलकर एक महनीय चरित्र बन जाता है।

नाट्यकला

कालिदास की नाट्यकला शाकुन्तल में अपने चरमोत्कर्ष पर पहुँच गई है। प्रस्तावना के अन्त में नाटककार तेजी से दौड़ते हुए मृग का पीछा करते हुए राजा का उपमान के रूप में वर्णन करता है, और इसी से नाटक के प्रथम दृश्य का आरम्भ हो जाता है। तृतीय अङ्क के अन्त में शकुन्तला एवं दुष्यन्त के मधुर मिलन की बेला में सहसा गौतमी के आ जाने से कालिदास ने बड़े कौशलपूर्ण नाट्यप्रयोग द्वारा नेपथ्य से पताकास्थानकमयी अन्योक्तिपूर्ण वाणी में प्रेमी युगल को सावधन किया है-"चक्रवाकवधुके! आमन्त्रायस्व सहचरम्। उपस्थिता रजनी।" 'अरी चकवी! अपने प्रमी साथी से विदा ले लो। (तुम्हारे मिलन को भंग करने वाली) यह रात आ रही हे।' चतुर्थ अङ्क में अनसूया एवं प्रियंवदा सखियों के वार्तालाप द्वारा दुष्यन्त की ओर से शकुन्तला के प्रेम-प्रसंग को भुला देने पर चिन्ता व्यक्त करना और उसी में नेपथ्य से क्रुद्ध दुर्वासा द्वारा शकुन्तला को शाप देने की घटनाओं को कवि विष्कम्भक अर्थोपक्षेपक के प्रयोग द्वारा प्रदर्शित करता हे। चतुर्थ अङ्क में आश्रम का शान्त वातावरण तथा पञ्चम अङ्क में नगर एवं राजधानी का सकलकल वातावरण नाटककार ने वैषम्य के साथ बड़ी नाट्य कुशलता से दिखाया गया है। अवसरानुकूल 'नेपथ्ये' का प्रयोग कर नाटककार नाटक में गतिशीलता ला देता है। पञ्चम अङ्क में शकुन्तला को एक ज्योतिर्मयी मूर्ति द्वारा ले जाये जाने की घटना को कवि नेपथ्य में 'आश्चर्यम्, आश्चर्यम्' द्वारा व्यक्त करता है। षष्ठ अङ्क में धीवर-प्रसङ्ग को 'प्रवेशक' नाट्यप्रयोग द्वारा दिखाया गया है, जिससे अभिज्ञानरूपी अँगूठी को देखकर राजा की स्मृति वापस आ जाती है और नाटक को नया मोड़ मिल जाता है। सप्तम अङ्क में कवि पृथिवी और आकाश की दूरी मिटाकर उन्हें जोड़ देता है। आकाश से दुष्यन्त के विमान के नीचे उतरने की कविकल्पना को नाट्य-योजना में ढालने के लिए आधुनिक नाट्यकर्मियों ने अनेक प्रयोग किए हैं। स्वर्लोक एवं भूलोक को एकाकार करने वाला, प्रकृति क मनोरम दृश्यों एवं बिम्बों को चित्रित करने वाला, विविध घटनाओं के घात प्रतिघात को प्रदर्शित करने वाला यह नाटक नाट्यकला-निपुण रंगकर्मियों के लिए कोतूहलपूर्ण एवं कौशलपूर्ण मञ्च प्रयोग का विषय बन जाता है।

कालिदासीय नाट्यत्रयी : तुलना

कालिदास ने तीन रूपकों की रचना की और उनमें उनकी नाट्यकला उत्तरोत्तर उत्कर्ष प्राप्त करती रही। मालविकाग्निमित्र में अपने बाल्यकाल में विद्यमान नाट्यकला विक्रमोर्वशीय में आकर कैशोर्य को प्राप्त करती है और अभिज्ञानशाकुन्तल की रचना से वह पूर्ण यौवन पर आरूढ हो जाती हैं। तीनों ही रूपकों की नान्दी शिव-वन्दना से आरम्भ होती है। तीनों ही रूपकों में कवि ने कान्त-कान्ताविषयिणी रति को ही विषय बनाया है। मालविकाग्निमित्र का प्रेम शुद्ध मानवीय है और वह राजा के राजमहल की सीमा में सिमटा हुआ है, जबकि विक्रमोर्वशीय का प्रेम पृथ्वीलोक राजा एवं स्वर्लोकीय अप्सरा के बीच है उसकी उड़ान ऊपर अन्तरिक्ष तक जाती हैं, अभिज्ञानशाकुन्तल प्रेम की अतिमानवीय शक्ति से सम्बद्ध है, पर वह पृथ्वी के पालक राजा का उस अप्सरा पुत्री के प्रति प्रेम है, जो मानवीय योनि वाले ऋषि-मुनियों के आश्रम में पली-बढ़ी है। इस प्रणयपात्र का प्रथम प्रणय आश्रम में पलता है, और अन्त में खोये हुए प्रेम-पात्र की प्राप्ति मुनि-आश्रम ही होती है संयोग से तीनों नाटकों के नायक राजा हैं, तीनों विवाहित हैं और बहुपत्नीक भी। तीनों के पुत्र हैं, जो अवस्था में बहुत बड़े हैं।

मालविकाग्निमित्र में नायक अग्निमित्र के पुत्र वसुमित्र ने तो शत्रु पक्ष से युद्धकर विजय प्राप्त की है। विक्रमोर्वशीय के नायक पुरूरवा का पुत्र आयु धनुर्विद्या में निपुण होकर माता-पिता के सामने आया है। हाँ, शाकुन्तल के नायक दुष्यन्त का पुत्र भरत अवस्था में छोटा है, और बाल्यकाल में ही अति तेजस्वी है। तीनों रूपकों में उन प्रेमी राजा नायकों के पुत्रों का प्रकटीकरण एवं अपने माता-पिता से मिलन रूपकों के अन्त में ही होता है।

नाट्य-संयोजन की दृष्टि से मालविकाग्निमित्र अपेक्षाकृत अप्रौढ रचना है। इसमें घटनाओं का ताना-बाना अपेक्षाकृत सरल-सहज है, जबकि विक्रमोर्वशीय में आकर नाट्यकला को परिपक्वता मिली हे। मालविकाग्निमित्र में कई बार कवि नाट्ययोजना एवं नाट्यप्रयोग के विषय में कई बार अपने कला-समीक्षा-परक विचार व्यक्त करता है, पर नाट्ययोजना का अधिक सुघटित रूप विक्रमोर्वशीय में आकर मिलता है। धरती और आकाश दोनों क मध्य इस प्रेम-कथा के विस्तार से रूपक में अधिक गतिशीलता आ गई है। चतुर्थ अङ्क में तो यह रूपक एक गीतिनाट्य जैसा बन जाता है, जिसमें अभिनय में भी अब तक अनेक प्रयोग किये गए हैं। अभिज्ञानशाकुन्तल में आकर कालिदास की नाट्यकला उच्चतम शिखर पर पहुँच गई है, जो उन्हें विश्व के नाटककारों में उच्च आसन पर पहुँचा देती है। शाकुन्तल का प्रत्येक अङ्क एक नई घटना, एक नवीन गत्यात्मकता लेकर आता है। एक पौराणिक पुरातन प्रेमकथा को अपनी कल्पनाशीलता से नये रूप में गूँथकर कालिदास ने जिस रूप में उसे प्रस्तुत कर दिया है, वह अद्वितीय है। इस नाटक

की कथा ऋषि-मुनियों के आश्रम से चलकर राजधानी एवं राजमहल तक पहुँचती है, और फिर पृथ्वी से अन्तरिक्ष तक घूमती हुई आश्रम में जाकर ही पर्यवसित होती है; नाट्यकौशल रस एवं भाव की सान्द्रता में गुँथकर और अधिक भास्वर हो गया है। घटनाओं की विविधता, भावों की गहनता, कथ की गत्यात्मकता, भाषा-संरचना, नाट्यधर्म-प्रयोग, प्रकृति-मानव-तादात्म्य, नाट्य-कौशल आदि की दृष्टि से यह नाटक अद्‌भुत हो गया है।

वैश्विक परिप्रेक्ष्य में देखा जाय तो कालिदास के तीनों नाटकों में अभिज्ञानशाकुन्तल ही विश्वपटल पर बहुत सराहा गया है। सबसे अधिक टीकाएँ इसी नाटक पर लिखी गईं। समीक्षा एवं समालोचना भी सर्वाधिक इसी नाटक की हुई। जर्मन समीक्षक वाल्टर स्लेन ने कालिदास के शाकुन्तल में मानवीय अर्थ खोजने का काम किया है। वैदेशिक भाषाओं में सबसे अधिक अनुवाद भी इसी के हुए हैं। सबसे अधिक प्रयोग एवं मञ्चन भी विविध शैलियों में इसी नाटक के हुए हैं। इसी पर फिल्में बनी है। कालीदास अकादमी, उज्जैन के परिसंवादों में सर्वाधिक परिचर्चा इसी की हुई है। इस कालजयी नाटक की रचना कर नाटककार कालिदास साहित्य-जगत् में सदा-सर्वदा के लिए अमर हो गए हैं।

• • • •

महाकवि अश्वघोष

- प्रो0 आर0 पी0 द्विवेदी

ब्रह्मा जिह्म इवाभवत् सुरगुरुर्गर्वं जहौ सर्वथा,
शर्वः खर्वमतिर्बभूव भगवान् विष्णुश्च तूष्णीं स्थितः।
इत्यनं यद्गुणकीर्तनेषु विबुधा याता हिया मूकतां,
गण्डी तस्य मुनेरियं जयति पायादपायाज्जगत्।।
प्रौढालीढाभिरूढो गुरुतरचरणक्रन्तगौरीस्तनाग्रं,
सर्वज्ञस्योत्तराङ्गस्फुटविकटशटा गर्जयन् वज्रमुख्या।
ज्वालामालीज्ज्वलाङ्गं त्रिभुवनविवरव्याप्तहुंकारभीमो,
बद्धव्याबद्धमौलिर्जयति सुरनरादित्यचन्द्रासुरेन्द्रः।। ग0 स्तो0 26, 31

बौद्धधर्म को विश्वव्यापी धर्म मानने वाले महान् सम्राटों में से प्रथम हुये प्रियदर्शी अशोक तथा द्वितीय रहे कुषाण-वंशीय महाराज कनिष्क। महाकवि अश्वघोष इन्हीं महनीय सम्राट्द्वय का संरक्षण प्राप्त था। बौद्ध धर्मिक जगत् के जिस कार्य को अशोक द्वारा अधूरा छोड़ दिया गया था, उसे पूर्ण कराने का समग्र श्रेय कनिष्क को ही दिया जा सकता है। कनिष्क ने अशोक सदृश बौद्ध धर्म प्रचारार्थ अनेक भिक्षुओं की विविध सुदूरवर्ती देशों में प्रेषित किया तथा उनके द्वारा ही सुगत-धर्म प्रचारार्थ विदेशों से मैत्री तथा वैवाहिक सम्बन्ध स्थापित कराये गये। अशोक ने यदि एक ओर भारतवर्ष से पूर्व चम्पा, श्याम, यव, सुवर्ण आदि द्वीपों तथा दक्षिणवर्ती लंका सदृश देशों में बौद्ध धर्म की कीर्ति-पताका फहरायी, तो दूसरी तरफ कनिष्क ने चीन, मध्यएशिया आदि देशों में विश्वधर्म बौद्ध धर्म की बीन बजायी। साथ ही, उन्होंने अश्वघोष के संरक्षकत्व में सुगतधर्मी विद्वानों तथा दार्शनिकों की संगीति को आमन्त्रित कर, उनके द्वारा बौद्धों के धार्मिक एवं दार्शनिक पक्षों को समीक्षित तथा प्रकाशित कराया। इससे स्पष्ट है, अश्वघोष एक प्रख्यात विद्वान, धार्मिक एवं उत्कृष्ट दार्शनिक थे। साथ ही, वह सहज प्रतिभा-सम्पन्न एक काव्यकार भी थे, जिसका जाज्वल्यमान प्रमाण उनके द्वारा रचित काव्य-कृतियाँ प्रस्तुत करती हैं। तथागत की देशनाओं तथा शिक्षाओं को काव्यमय स्वरूप देकर उन्हें सुदृढ़ आधार प्रदान करने का श्रेय अश्वघोष को ही है। तत्कालीन समाज में प्रचलित ब्राह्मण एवं बौद्ध धर्मों के मध्य विद्यमान विरोध को मिटाने के लिये इस महाकवि सदृश अनेक विद्वानों ने प्रयत्न किया। प्रथमतः उन विद्वानों ने पुराणों में वर्णित विष्णु-अवतारों में बुद्ध को भी अवतार घोषित किया तथा उनके

द्वारा इस संदर्भ में द्वितीय उल्लेखनीय कार्य था, ब्राह्मण (वैदिक) धर्म में प्रख्यात भक्तिभाव को बौद्ध जगत् में भी प्रचारित तथा प्रसारित करना। बुद्ध को भी विष्णु सदृश अर्चना एवं आराधना, उनके द्वारा ही निर्दिष्ट हुई। उक्त समन्वयवादी विचारधारा के विद्वानों में अश्वघोष उत्कृष्ट अन्यतम व्यक्तित्व थे।

जीवन-वृत्तान्त

संस्कृतसेवी अनेक विद्वानों का जीवन-वृत्त आज भी अज्ञान के अन्धकार में विलीन है। यद्यपि उनके ऊपर अथवा उनसे सम्बद्ध शोध-कार्यों की भरमार दिखती है, तथापि वास्तविकता यह है कि उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक समस्याओं का यथार्थतः समाधान अद्यावधि नहीं हो सका है, और यह अतीव खेदास्पद है। इस सम्बन्ध में विशेष वक्तव्य यह है कि संस्कृत-साहित्य के उल्लेखनीय मनीषियों ने अपने विषय में, निज रचनाओं में विशेष निर्देश नहीं दिये हैं जो आत्मस्तुति के भय से उनके लिये स्वाभाविक भी था, और द्वितीय बात यह भी थी कि जिन्होंने परमार्थ को ही जीवन का सर्वस्व समझा तथा अज्ञानान्धकार में पड़े हुये व्यक्तियों को ज्ञान के प्रकाश से आलोकित करने का बीड़ा उठाया, ऐसे निःस्वार्थ परोपकार-परायण महनीय विद्वानों के लिये आत्म-परिचय की क्या आवश्यकता थी? अस्तु, स्वल्प संकेत एवं साथ ही कुछ ऐतिहासिक साक्ष्यों द्वारा ही तत्तद् ज्ञान-मनीषियों के विषय में प्राप्त अपर्याप्त अवगति से ही संतोष करना पड़ा है। इसके अतिरिक्त उनके सम्बद्ध जानकारी हेतु कतिपय पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों की कृतियों से भी कुछ सहायक सामग्रियाँ उपलब्ध हुई है जिनके आधार पर उनसे सम्बद्ध अधिक विचार अभिव्यक्त किया गया है। विश्वविख्यात महाकवि कालिदास तो आज भी अनिश्चितता के दायरे से बाहर नहीं आ सके, परन्तु विदेशों, विशेषकर बौद्धधर्मी देशों में अगाध स्नेह एवं समादर के पात्र अश्वघोष के जीवन-वृत्त से सम्बद्ध काल विषयक कुछ बातें तो निश्चित हैं, किन्तु कुछ बातों को लेकर पूर्ण निश्चितता में अब भी सन्देह है। अश्वघोष विषयक ज्ञान-सामग्री प्रस्तुत करने वाले पाश्चात्य जगत् के प्रख्यात बौद्ध विद्वान बाटलिंक[1] विशेष रूप से उल्लेखनीय रहे हैं जिनका अनुसरण फ्रेंच, जर्मन, ब्रिटिश, जापानी, अमेरिका, डच्, मलेशिया, बेल्जियम, इटालीय तथा रूसी विद्वानों यथा- सिल्वा लेवी, कीलहार्न, स्पेयर्स, विण्टरनित्ज्, विण्डिश[2] प्रथम, ल्यूमैन, लूडर्स, याकोबी, एफ.डब्ल्यू. टामस, कीथ, गर्नर, व्योडी, अनेस्की, किमूरा, हाफ्किन्स, कार्नपौसिन्, विण्डिस् द्वितीय, स्ट्रीस स्क्राडर[3], फारमिची[4], गानोस्की, वसिलजेव, कैपेलर आदि द्वारा किया गया है। प्राच्य

१. Ashvaghasa's Buddhacarita, Ed. 1894
२. Mara and Buddha, 1895
३. Taisho University Journal, 1930
४. Ashvaghosa, Poeta del Buddhismo, 1912

विद्वानों ने इस प्रसङ्ग में जिन्होंने सराहनीय कार्य किया है, उनमें जोगलेकर, लोकुर, एस्टेकर, जगन्नाथ प्रसाद, सोवेनी, भण्डारी, सुकुमार सेन[1], बी०सी० लॉ, हर प्रसाद शास्त्री[2], पी०एल० वैद्य, बलदेव उपाध्याय[3], भरत सिंह उपाध्याय, हरदत्त शास्त्री, सूर्यनारायण चौधरी, सूर्यकान्त शास्त्री[4] आदि उल्लेखनीय हैं।

महाकाव्य सौन्दरनन्द[5] की पुष्पिका के प्रकृत उल्लेखानुसार-आर्यसुवर्णाक्षीपुत्रस्य साकेतकस्य भिक्षोराचार्यभदन्ताश्वघोषस्य महाकवेर्महावादिनः कृतिरियम्'-अश्वघोष सुवर्णाक्षी के पुत्र एवं साकेत के निवासी थे। वह भिक्षु, आचार्य, भदन्त, महाकवि, महावादी आदि विरुदों से विभूषित थे। अश्वघोष के विषय में वर्णित उक्त बातों का समर्थन जॉन्स्टन द्वारा अनूदित (आंग्ल भाषा) बुद्धचरित से भी हो जाता है। अतएव पुस्तकीय साक्ष्यों से स्पष्ट है कि वह साकेत (अयोध्या) प्रादुर्भूत हुये तथा उनकी माता का नाम सुवर्णाक्षी था। इस सन्दर्भ में कतिपय विद्वानों ने उनकी जन्मभूमि के विषय में नेपाल, पाटलिपुत्र (पटना) तथा बनारस (काशी) का भी नामोल्लेख किया है। इनके पूर्वजों के विषय में ऐसा विवरण प्राप्त होता है कि वे साकेत के मूल निवासी नहीं थे प्रत्युत् कहीं अन्यत्र से आकर पुष्यमित्र के शासनकाल (दो सौ ई०पू०) में साकेत में निवसित हो गये थे।

अश्वघोष से सम्बन्धित विविध विरुदों से यह तथ्य सुस्पष्ट है कि वह एक ख्यातिलब्ध विद्वान, विचारक तथा उत्कृष्ट पण्डित थे। विण्टरनित्ज के उल्लेखानुसार वह एक महाकवि होने के अतिरिक्त अभिनेता, नाटककार तथा संगीतज्ञ भी थे।[6] बहुआयामी विद्वान् स्व० महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अश्वघोष के अतीव सहृदय होने की चर्चा करते हुए यह बात की है कि साकेत में किसी वसन्त काल में एक तरण-प्रतियोगिता का भव्य आयोजन हुआ, जिसमें वहाँ के अनेक युवक-युवतियों ने सक्रिय भाग लिया। अश्वघोष एवं प्रभा नाम की सार्थवाह 'दत्तमित्र' की स्वरूपवती पुत्री को सर्वप्रथम साक्षात्कार का अवसर प्राप्त हुआ था। उस समय से उन दोनों में प्रेमाङ्कुर का प्रस्फुटन प्रारम्भ हुआ जो निरन्तर वृद्धिंगत होता रहा और अन्ततः वह 'प्रभा' ही अश्वघोष की प्रेमिका एवं उनकी काव्य-कृतियों की प्रेरण सिद्ध हुई।[7]

---

१. The Language of Saundaranand Kavya; JPASB, N.S. XXVI, 1920, On the Buddha Carita of J.H.Q., 1926, III.

२. Buddhacarita, Johnston's Ed., Pt. II pp. 7-9, Saunobranhmanda, H.P. Shastri Eed. pp. 11-13

३. बौद्धदर्शन मीमांसा, चौ.सं.सी., बनारस १९५४।

४. संस्कृत साहित्य का विवेचनात्मक इतिहास,... लांगमैन, १९७२।

५. सर्ग १८।

६. History of Indian Litt., II, p. 257.

७. बोलचाल से गढ़ना।

इस महाकवि के 'अश्वघोष' अभिधान के प्रसङ्ग में एक रोचक वृत्तान्त का उल्लेख उपलब्ध होता है जिसमें उनकी काव्य कृतियों की सरसता एवं उनकी संगीतात्मकता का प्राधान्य स्वीकार किया गया है। एक प्रचलित परम्परा यह स्वीकार करती है कि अश्वघोष के जन्म-दिन के अवसर पर अश्वों के सदृश हिनहिनाने का शब्द हुआ था। इसलिये उनका उपर्युक्त (अश्वघोष) नाम पड़ा। इस सम्बन्ध में एक अन्य परम्परा मानती है वह अतीव आकर्षक एवं मनोरम वाणी में धर्म-प्रचारार्थ उपदेश किया करते थे। एक समय उनके उपदेश काल में ही वहाँ उपस्थित प्राणी-समुदाय उस सरस एवं माधुर्यमय उपदेश को श्रवण कर आत्मविभोर हो उठा। मनुष्यवर्ग की तो बात ही क्या, पशु-पक्षियों ने भी प्रसन्नता की अभिव्यक्ति अपने शब्दों द्वारा की। अश्वों ने भी हर्षातिरेक का प्रकाशन अपनी हिनहिनाहट के माध्यम से किया और तभी कविवर का नाम अश्वघोष प्रयुक्त होने लगा। अनेक स्थलों पर अश्वघोष के लिये 'घोरराविन्' शब्द का व्यवहार दृष्टिगत होता है, जिससे उपर्युक्त नाम विषयक कथन समर्थित होता है।[1] अश्वघोष, जैसा कि ऊपर कहा गया है एक संगीतशास्त्री थे और जब वह वीणा पर मधुर स्वर छेड़ते थे, पशु पक्षी भी मंत्रमुग्ध हो जाते थे। उन्होंने अपने मधुर संगीत को ही धर्मोपदेश तथा धर्म-प्रचार का आधार बनाया। तिब्बती भाषा में लिखित अवश्वघोष की जीवनी के अनुसार वह एक प्रसिद्ध वीणावादक बौद्धभिक्षु थे जो कश्मीर एवं पेशावर के अपने गायक-अनुगामियों के साथ वैराग्य-गीत गाया करते थे, जिसे सुन कर प्रायः व्यक्ति मोह-मुग्ध होकर बौद्ध-धर्म को अंगीकार कर लेते थे।[2] प्रसिद्ध चीनी पर्यटक, जो भारतवर्ष में 671-675 ई0 के मध्य भ्रमणार्थ आये, ने लिखा है कि तत्कालीन बौद्ध विहारों में अश्वघोष विरचित गीतों का संगायन हुआ करता था। उपरिलिखित विवरणों से यह प्रतीति स्पष्ट हो जाती है कि अश्वघोष की रचनाओं का प्रमुख वैशिष्ट्य लयबद्धता तथा संगीतमयता थी और यही सर्वप्रथम कवि एवं दार्शनिक थे, जिन्होंने बौद्ध-धर्म के प्रचारार्थ तथागत के उदात्त स्वरूप एवं व्यक्तित्व को झंकृत करने हेतु मधुर-स्वर-वर-वीणा का सहारा लिया।

सम्भ्रान्त सनातनी कुलोत्पन्न अश्वघोष ने बौद्ध-धर्म की दीक्षा किस प्रकार ली, इस प्रसङ्ग में भी एक विशेष घटना का विवरण मिलता है। उनका प्रादुर्भाव यद्यपि साकेत में हुआ, तथापि उनके जीवन का अधिक भाग कश्मीर एवं गान्धार में ही व्यतीत हुआ। ऐसी प्रसिद्धि है कि एक समय पेशावर में 'पार्श्व' नामक बौद्ध-भिक्षु के साथ अश्वघोष का विषय विशेष को लेकर शास्त्रार्थ हुआ, जिसमें वियजश्री पार्श्व के हाथ रही। उन्हीं के द्वारा अवश्घोष बौद्धधर्म में दीक्षित हुए और भिक्षु-उपसम्पदा भी उन्होंने ही प्रदान की। किन्तु इस विषय में कतिपय विद्वानों के अनुसार पुण्ययशस् नामक विशेष बौद्ध व्यक्तित्व ने अश्वघोष

1. बौद्धदर्शन एवं अन्य भारतीय दर्शन, भाग 1, पृ. 659-60 ।
2. Literary History of Buddhism and History of Indian Literature, Pt. II

को दीक्षा दी, जो पार्श्व के शिष्य थे। वस्तुतः पार्श्व अपने समय के ख्यातिलब्ध विद्वान, उच्चकोटि के तार्किक तथा अनेक शास्त्रों के पण्डित थे।[1] चीनी एवं तिब्बती परम्परायें उन्हें अश्वघोष के शिक्षक के रूप में मान्यता देती हैं, यद्यपि इस विषय में मतैक्य नहीं दृष्टिगत होता है। कनिष्क ने जब मगध पर विजय प्राप्त की, अश्वघोष के वैदुष्य से प्रभावित होकर वह उन्हें भी पेशावर ले गये। अतएव पेशावर जाने के पूर्व ही अश्वघोष को बौद्ध धर्म एवं बौद्ध-दर्शन में पूर्ण ख्याति प्राप्त थी और यही बात अधिक तर्कसंगत प्रतीत होती है। अश्वघोष ने पाटलिपुत्र में लगभग दस वर्ष तक निवास किया तथा वहीं पर उन्होंने विविध विषयों-बौद्धधर्म, बौद्ध दर्शन, यवन दर्शन आदि का गहन अध्ययन किया और मगध के प्रमुख महासांघिक विद्वानों में अपना गौरव एवं वर्चस्व कायम रखा।[2]

सम्राट कनिष्क भगवान् बुद्ध के परम भक्त थे तथा उनको बौद्ध-धर्म में पूर्ण निष्ठा थी। विजय अभियान के प्रसङ्ग में कनिष्क ने भारत के पश्चिमी भाग पर विजय प्राप्त करते हुये, पूर्व की ओर प्रस्थान किया और मगध राज्य पर आक्रमण कर दिया। मगध-नरेश ने कनिष्क के प्रबल प्रभाव को देखते हुये उनकी अधीनता स्वीकार कर ली और बौद्धधर्म को भी अङ्गीकार कर लिया। साथ ही उन्होंने अश्वघोष सदृश प्रतिभावान् विद्वान को कनिष्क की इच्छानुसार पेशावर ले जाने की अनुमति भी दे दी, जिन्हें प्राप्त कर वह सन्तुष्ट हो गये। पेशावर (पुरुषपुर) पहुँच कर अश्वघोष को अतीव प्रसन्नता उस समय हुई, जब उन्होंने वहाँ विभिन्न संस्कृतियों- तुर्क, पारसीक, यवन, शक आदि का मञ्जुल समन्वय देखा। कनिष्क ने अश्वघोष की अद्वितीय प्रतिभा से प्रभावित होकर उन्हें गुरुपद तथा राज-कवि के विरुद से विभूषित कर दिया।[3]

चीनी परम्परा के अनुसार अश्वघोष को 'कुन्ग-टे-जिन्ह' 'कुन्ग-चान्ग' की महनीय उपाधियों से अलङ्कत किया गया है, जिनका अभिप्राय क्रमशः 'पुष्पादित्य' एवं 'पुण्यश्री' से लिया गया है।[4] 'जब कि तिब्बती इतिहासकार तारानाथ द्वारा अश्वघोष को अन्यान्य नव विशेषणों- काल, दुदर्श, दुर्दर्शकाल, मातृचेट, पितृचेट, शूर, धार्मिक, सुभूति तथा मतचित्र से विभूषित किया है।[5] उपर्युक्त चीनी एवं तिब्बती परम्पराओं के संदिग्ध तथा भ्रमात्मक विचारों से प्रभावित कर्म सदृश विद्वान् ने भी अश्वघोष को ऐतिहासिक व्यक्तित्व न मानते हुये, उन्हें शिव (काल) का स्वरूप स्वीकार किया।[6] 'सि०यू०को' के अनुसार

१. History of Indian Literature, Pt. II and Literary History of Buddhism.
२. बौद्ध संस्कृतः काव्य समीक्षा, पृ. १३६
३. J.A. Levi. 1893. 5.9.t VIII, p. 449
४. Asvagjpsa (B.C. Law), p. 3.
५. Asvashosa's discourse on the awakening of the faith in the Mahayana Suzuki). p. 21; Geshichte des Buddhismus, p. 90.
६. 'Der Buddhismus und seine Geschichte in Indien', Leipzig, 1884, Pt. II. p. 464

अश्वघोष एक बौद्ध विहार में निवास करते थे और बुद्धोपदेश दिया करते थे। उनके उपदेश इतने प्रभावपूर्ण होते थे, जिसे श्रवण कर श्रोता समाज भाव-विह्वल एवं अश्रुपूरित हो जाया करता था।[1] अश्वघोष बहुमुखी प्रतिभासम्पन्न व्यक्तित्व थे। उनका त्रिपिटकों पर गहन अध्ययन था, जिस पर वह पाण्डित्यपूर्ण व्याख्यान दिया करते थे और अपने वक्तव्य के समर्थन में पञ्चविद्याओं- आन्वीक्षिकी, त्रयी, वार्ता, दण्डनीति तथा आत्मविद्या के उद्धरण प्रमाण हेतु प्रस्तुत करते थे।[2] इत्सिंग ने अश्वघोष को अतीत काल का एक महान् शिक्षक माना है तथा यह स्पष्ट रूप से कहा है कि उनके समय में अश्वघोष की रचनायें अतीव श्रद्धा के साथ पढ़ी जाती थी।[3]

तिब्बती इतिहासकार तारानाथ ने अनेक अश्वघोषों की उद्भावना की है। उन्होंने यह माना है कि बड़ा, छोटा तथा शूर ये तीन अश्वघोष हुये हैं। बील महोदय के अनुसार प्रथम अश्वघोष वह थे, जिन्होंने महाकाव्य बुद्धचरित की रचना की थी।[4] 'महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र' पर लिखित नागार्जुन की व्याख्या के अनुसार ऐसा विदित होता है कि विभिन्न समय में छः अश्वघोष विद्यमान थे। नागार्जुन ने स्वयं अपने को अश्वघोष का शिष्य स्वीकार किया है।[5] चीनी एवं तिब्बती परम्परायें, समन्वित रूप से अश्वघोष-द्वय की उद्भावना करती है, जिनमें से प्रथम बोधिसत्त्व अश्वघोष वह हैं जिन्हें आर्यदेव ने बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया था और द्वितीय अश्वघोष वह हैं, जिनको पूर्वोक्त अथवा उनके शिष्य पुण्ययशस् से शिक्षा प्राप्त हुई थी।[6] अश्वघोष से सम्बद्ध चीनी एवं तिब्बती परम्पराओं द्वारा उद्भावित विविध विचारों में से किसे स्वीकृत एवं किसे अस्वीकृति प्रदान की जाय, यह एक विषम समस्या उठ खड़ी होती है जिसका समाधान यथार्थ एवं पुष्ट प्रमाणों के अभाव में दुष्कर है। तथापि इन विचार-वीथियों से कुछ तथ्य प्रकाश में अवश्य आते हैं, जिसे अस्वीकार नहीं किया जा सकता है। दृष्टान्त के रूप में तिब्बत परम्परा की अश्वघोष से सम्बन्धित यह मान्यता- 'ऐसा कोई प्रश्न नहीं था, जिसका उन्होंने समाधान न दिया हो'; ऐसा कोई दोष नहीं था, जिसका उनमें अभाव न हो, उन्होंने अपने विपक्षियों (विरोधियों) को उसी प्रकार ध्वस्त कर दिया, जैसे प्रचण्ड वातावली वृक्षों को समूल उखड़ फेंकती है,[7] सर्वथा निराधार हो, ऐसा नहीं कहा जा सकता, क्योंकि अश्वघोष की बहुमुखी प्रतिभा तथा

१. Buddhist Records of the Westren World (Beal), I, p. 57,
२. Ibid, II. p. 100-101
३. History of Sanskrit Literature, p. 55
४. PO-Sho-Hing-Tsan-King (Beal), Intro., p. xxxi.
५. Asvaghosa's Discourse on the Awakening of the Faith (Suuki), Trans lation, p.6.
६. Ibid.
७. Indian Literature, Pt. II, p. 257, Literary History of Buddihsm, p. 29

उनके प्रभावी व्यक्तित्व को ध्यान में रखते हुए यह अयथार्थ प्रतीत होता और कनिष्क से उनका सान्निध्य भी असत्य है।[1]

अश्वघोष बौद्धों के सर्वास्तिवादी परम्परा के भिक्षु थे तथा उनके विचार थे - महायानान्तर्गत योगाचार के विचार। किन्तु यह ध्यातव्य है कि उपर्युक्त वक्तव्य 'महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र' पर आधृत है, जिसको कतिपय विद्वान अश्वघोष की रचना मानने के पक्ष में नहीं हैं, जब कि अन्य विविध विद्वान उसे अश्वघोष की कृति स्वीकार करते हैं। अतः वैमत्य के कारण कुछ विचारकों को अश्वघोषद्वय को उद्भावना करनी पड़ी है। इनमें से प्रथम अश्वघोष द्वारा महाकाव्य बुद्धचरित एवं सौन्दरानन्द की रचना की गई है जब कि द्वितीय (अश्वघोष) ने महायान श्रद्धोत्पाद-शास्त्र का प्रणयन किया है।[2] द्वितीय मत के समर्थकों का तर्क यह है कि 'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' में विवेचित विज्ञानवाद तथा शून्यवाद अधिक उन्नतावस्था में है। अतएव शून्यवाद के प्रथम प्रतिपादक नागार्जुन (द्वि.श.ई.) एवं विज्ञानवाद के विद्वान् वसुबन्धु तथा असंग (च.श.ई.) से पूर्व का स्वीकार नहीं किया जा सकता है। किन्तु यथार्थ यह है कि जिन्होंने 'अष्टसाहस्रिका प्रज्ञापारमिता' का परिशीलन किया है एवं जिन्हें यह ज्ञात है कि यह रचना प्र.श.ई. पूर्व की है, उन्हें इस बात की स्वीकृति में कोई आपत्ति नहीं होगी कि महायानश्रद्धोत्पादसूत्र अश्वघोष की ही रचना है। इस प्रसङ्ग में दो परम्परायें उपस्थित हो जाती हैं, जिनमें से प्रथम के समर्थक ताकाकुसु, विण्टरनित्ज, बलदेव उपाध्याय, राहुल सांकृत्यायन आदि हैं जिन्हें यह मान्य नहीं है कि महायान-श्रद्धोत्पाद-शास्त्र अवश्घोष कृत है।[3] द्वितीय परम्परा के परिपोषक इस ग्रन्थ के आंग्ल-भाषान्तरकार जापानी विद्वान टी० सुजुकी, कीथ, चाउ-सिंयाग-क्वांग आदि हैं।[4] इन्होंने चीनी परम्परा का अनुसरण करते हुए उक्त ग्रन्थ के अश्वघोष-कृत स्वीकार किया है। हुएन्त्सांग की जीवनी के द्वारा इस मान्यता को समर्थन मिलता है। अतएव, द्वितीय पक्ष का समर्थन हीमुझे उचित प्रतीत होता है, जिसकी पुष्टि अश्वघोष की रचनाओं के परिशीलन से भलीभाँति हो जाती है। वस्तुतः अश्वघोष को नागार्जुन से प्राचीन मानना ही उचित प्रतीत होता है, जिसका समय द्वितीय शती है, जिस पर अन्यत्र विशेष विचार किया गया है। अतः अश्वघोष को इनसे पूर्ववर्ती, कनिष्क-काल (ई० की प्रथम शती) में रखना समुचित है।[5]

१. बौद्ध संस्कृत काव्य समीक्षा, पृ० १३८

२. The Original and Developd Doctrine of IndianBuddhism (R. Kumar), pp. 30, 65; Indian Philosophy (S. Radhakrishnan), p. 624.

३. History of Indian Literature, Pt. II, p. 362; Hinyan and Mahayanam (R. Kumar), pp. 41, 180, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० १७३

४. चीनी बौद्धधर्म का इतिहास, पृ०६५८, संस्कृत कविदर्शन (भोलाशंकर व्यास), पृ० ४१, History of Sansktir Literature, p. 56

५. बौद्धसंस्कृत काव्य समीक्षा, पृ० १३६, २८८-२९२

समय निर्धारण-

जिस प्रकार अश्वघोष एक ही थे अथवा अनेक, इस सम्बन्ध में मतैक्य नहीं दृष्टिगत होता, उसी प्रकार उनके समय-निर्धारण के सन्दर्भ में भी अनेक मत मिलते हैं, तथापि चीनी एवं तिब्बती परम्पराओं तथा ऐतिहासिक साक्ष्यों के आधार पर उनके समय से सम्बन्धित नियत विचार सम्भाव्य है, जो संक्षिप्त रूप में अधोलिखित है-

(क) अश्वघोष, नागार्जुन के पूर्ववर्ती थे, जिनका समय द्वितीय शतक प्रमाणित है। इसका ज्वलन्त साक्ष्य नागार्जुन के प्रशिष्य द्वारा उत्कीर्ण 'जगय्यपेट' नामक स्तूप का अभिलेख है, जिसका समय ई० का तृतीय शतक है। (ख) चीनी परम्परा अश्वघोष को कनिष्क का राजकवि एवं गुरु मानती है जो कनिष्क से आक्रान्त मगधाधिप की अधीनता तथा दो शर्त की स्वीकृति से समर्थित है। (ग) कनिष्क द्वारा कश्मीर में आयोजित चतुर्थ बौद्ध संगीति, जिसका उद्देश्य वैभाषिक सम्प्रदाय के 'विभाषा' नामक भाष्य-ग्रन्थ का प्रणयन था, के अध्यक्ष पद पर अश्वघोष ही प्रतिष्ठित थे। (घ) डॉ० लूडर्स द्वारा मध्येशिया से प्राप्त अश्वघोष कृत 'सारिपुत्र प्रकरण' की पाण्डुलिपि (कनिष्क काल की) से भी उनका समय प्रमाणित है। (ङ) अश्वघोष का प्रादुर्भाव कालिदास के पूर्व हुआ था जो दोनों महाकवियों की शैलियों की तुलना से प्रमाणित है। कालिदास की शैली अश्वघोष की अपेक्षा अधिक परिमार्जित है। महाकवि कालिदास के समय के सम्बन्ध में वैमत्य के होते हुये भी, उनकी स्थिति, जो गुप्तकाल में मानी गई है, वह अन्य उद्भावनाओं से अधिक बलवती है। (च) मातृचेट की रचनाओं विशेष रूप से 'शतपद्यशतिका' पर अश्वघोष का प्रभाव स्पष्ट परिलक्षित है जो उनके पूर्ववती होने का प्रमाण है। यद्यपि दोनों काव्यकार कनिष्ककालीन थे तथापि मातृचेट बुद्ध परवर्ती कालीन थे। (छ) पाश्चात्य विचारकों में सिल्वाँलेवी ने अनेक चीनी सूत्रों के आधार पर अश्वघोष को कनिष्क कालीन स्वीकार किया और इसी का समर्थन टी० सुजुकी, एस० बील, ए०बी० कीथ, विण्टरनित्ज आदि ने भी किया है। (ज) प्राच्य विद्वानों में, म० म० हरप्रसाद शास्त्री, एम. कृष्णाचारी, एस० दासगुप्त, आचार्य बलदेव उपाध्याय, प्रो० सूर्यकान्त शास्त्री, आचार्य नरेन्द्र देव, डा० भरत सिंह उपाध्याय, सूर्यनारायण चौधरी, प्रो० भोलाशंकर व्यास आदि द्वारा भी अश्वघोष को कनिष्क कालीन (ई० की प्रथम शती) स्वीकार किया गया है। अश्वघोष के काल-विषयक विचारों के इस प्रसङ्ग में यह भी ध्यातव्य है कि कनिष्क के समय के सन्दर्भ में विद्वानों में मतभेद है। सरजान मार्शल (तक्षशिला से प्राप्त एम मुद्रा के आधार पर) तथा उनके कुछ समर्थक विद्वान् कनिष्क को द्वितीय शती ई० का मानते हैं,[1] जबकि फ्लीट अट्ठावन ई० पूर्व से लेकर

---

1. A Guide to Taxila, IInd Ed. 192 (Calcutta), pp. 17, 22, JRAS (1914), p 973; (1915), p. 191.

डी०आर० भण्डारकर २७८ ई०पू० तक स्वीकार करते हैं। कतिपय विचारक, उनके शासनकाल ७८ ई०पू० मानते हैं।[1] कनिष्क के शक सम्वत् की प्रारम्भिक अवस्था का यही काल था। इस विचारधारा का समर्थन करने वालों में रैप्सन तथा रायचौधरी का स्थान प्रमुख है। इन अन्तिम विचारकों द्वारा मान्य तिथि ही उचित प्रतीत होती है। ऐसा नहीं मानकर कनिष्क के शसन-काल का प्रारम्भ यदि द्वितीय शतक स्वीकार किया जाय, तब तो रुद्रदामन (१३०-१५० ई०) का आधार है समाप्त हो जायेगा और उसके स्वतन्त्रशासन, जिसका विस्तार सिंध घाटी से आरम्भ कर सम्पूर्ण पश्चिमी भारत तक था, का कनिष्क के साम्राज्य के विस्तार का सामञ्जस्य नहीं बैठता। ऐसा होना तभी सम्भव हो सकेगा, जब कि यह मान लिया जाय कि कनिष्क के मृत्यूपरान्त उसके उत्तराधिकारियों की दुर्बलता के कारण पश्चिमी क्षत्रपों ने स्वतन्त्रता प्राप्त कर ली, जिसे उन्होंने कनिष्क-काल से ही खो दिया।[2]

उपरि विवेचित अश्वघोष के काल तथा उनके अनेकत्व से सम्बद्ध विविध मतों एवं विचारों के समीक्षण के अनन्तर निष्कर्ष रूप में यही कथन समुचित प्रतीत होता है कि वह (अश्वघोष) वाल्मीकि के परवर्ती तथा भास एवं कालिदास के पूर्ववर्ती काल में प्रादुर्भाव हुये और उन्हें ५० ई० से ७०० ई०पू० के मध्य रखा जा सकता है, क्योंकि वह बौद्धधर्म के परक-पोषक कुषाणवंशीय कनिष्क के समकालीन तथ उनके आध्यात्मिक उपदेष्टा थे।

प्रणेतृत्व-

अश्वघोष, बौद्ध वाङ्मय के एक महनीय विद्या-मनीषी व्यक्तित्व थे, जिनसे प्रभावित विविध परम्पराओं ने उनके प्रति श्रद्धाभिव्यक्ति के निमित्त तथा उनको महत्ता के द्योतनार्थ उनके साथ अनेक रचनाओं का सम्बन्ध, वैसे ही स्थापित कर दिया है जैसे महाकवि कालिदास की महत्ताभिव्यक्ति हेतु संस्कृत साहित्य के विद्वद्वर्ग ने अनेक कृतियों का सम्बन्ध उनसे जोड़ दिया है। इसे यथार्थ की अपेक्षा अर्थवाद ही कहना पड़ेगा। हाँ, यह यथार्थ अवश्य है कि महान् विभूतियों के साथ सम्बन्ध होने से, तत्तद् कृतियों के महत्ता भी बढ़ी है। चीनी, तिब्बती आदि विभिन्न परम्पराओं द्वारा अश्वघोष से सम्बद्ध एवं उन्हें समर्पित विविध कृतियों की संख्या मात्र का यहाँ निर्देश ही सम्भाव्य है।[3] टी० सुजुकी ने चीनी त्रिपिटक में विद्यमान इनकी अष्ट रचनाओं का उल्लेख किया है, जिनका अनुवाद उन्होंने स्वयं किया है।[4] नञ्जियो सूची के अनुसार षड् कृतियाँ अश्वघोष के नाम से उल्लिखित है[5],

---

१. तथा २, द्रष्टव्य, बौ०सं० काव्य समीक्षा, पृ० १४१-१४२

३. बौद्ध संस्कृत काव्य समीक्षा, पृ० १४३-१४५

४. Asvasghosa's Discourse in The Awakening of Faith in The Mahayana, p. 37.

५. Nanjio's Catalogue, No. 1080.

जब कि एफ० डब्ल्यू० टामस ने कवीन्द्र-समुच्चय की भूमिका में पञ्च कृतियों की ही गणना की है। इसके अतिरिक्त तिब्बती परम्परा द्वारा तिब्बती भाषा में एकादश कृतियाँ अश्वघोष के नाम से इत्सिंग द्वारा सम्बद्ध की गई हैं। इस प्रकार विभिन्न सूचियों में वैमत्य के होते हुये भी अनेक रचनाओं के सम्बन्ध में ऐक्यमत्य है। चीनी परम्परा में प्रचलित एवं मान्य, अश्वघोष की कृतियों में अधोलिखित एकादश का विद्वानों का समर्थन प्राप्त है, जिनका संक्षिप्त परिचय यहाँ प्रसङ्गिक है।'

(१) महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र-

इसका अपर अभिधान 'महायानश्रद्धोत्पाद-संग्रह' भी है। इस ग्रन्थ के प्रणेतृत्व के विषय में मतैक्य नहीं है। फिर भी ऊपर यह स्वीकार किया गया है कि यह अश्वघोष द्वारा ही रचित है। यह ग्रन्थ सम्प्रति परमार्थकृत चीनी रूपान्तर के रूप में ही सुरक्षित है जिसके दो आंग्ल-अनुवाद हो चुके हैं। प्रथम के अनुवादक टी० सुजुकी एवं द्वितीय अनुवाद रिचर्ड्ज् द्वारा सम्पन्न किया गया। इसका सर्वप्रथम अनुवाद ५३४ ई० तथा द्वितीय ७७० ई० में चीनी भाषा में हुआ।

इस ग्रन्थ का प्रतिपाद्य विषय विज्ञानवाद तथा शून्यवाद है। सर्वप्रथम शून्यवाद का दर्शन इसी में होता है और यही नागार्जुन की शून्यवादी विचाराधारा का आधार भी है। परमार्थ का स्पष्टीकरण तत्कालीन समाज में प्रचलित बौद्ध-धर्मियों की भ्रान्तियों का निराकरण और हीनयानियों में विद्यमान त्रुटियों का दूरीकरण आदि इस ग्रन्थ के उद्देश्य हैं।

सूत्रालङ्कार-

गद्य-पद्यमिश्रित शैली में जातक एवं अवदानों के आधार पर उपनिबद्ध, यह एक कथाकाव्य है, जिसमें पवित्र कथाओं का संकलन हुआ है। यह भी अधुना संस्कृत (मूल) में उपलब्ध न होकर, कुमारजीवकृत चीनी रूपान्तर (४०५ ई०) के रूप में प्राप्त है, जिसके आधार पर यह अश्वघोषकृत स्वीकृत है। इत्सिंग ने अपने यात्रा विवरण में इसी कथन का समर्थन किया है। परन्तु लूडर्स ने अपने अन्वेषण के प्रसङ्ग में मध्यएशिया से प्राप्त 'कल्पनामण्डितिका' की खण्डित प्रति के साथ सादृश्य के कारण इसे कुमारलात की कृति मान लिया था, जब कि यह अश्वघोषकृत है और इसी की अनुकृति (कुमारलातकृत) 'कल्पनामण्डितिका' है, यह प्रमाणित हो चुका है।

यह रचना बुद्धरचित की परवर्ती है, जिसमें उसके बुद्धचरित के अनेक उद्धरण मिलते हैं।[२] इसमें यत्र-तत्र वाल्मीकि रामायण एवं महाभारत के भी दृष्टान्त उद्धृत हैं। इस ग्रन्थ में बुद्ध-भक्ति से समवेत अनेक कथायें प्राप्त होती हैं। यह एक काव्यमयी सरस

१. बौ० सं० का० समीक्षा, पृ० १४६-१६४।
२. सूत्रालङ्कार, फ्रेन्च अनुवाद पृ. १६२-२२।

रचना है, जो साहित्यिक वैशिष्ट्य के साथ ही भारतीय इतिहास एवं संस्कृति की दृष्टि से भी महत्त्वपूर्ण हैं। इसकी शैली प्रभावमयी है, जिसमें वैदिक (सनातन) एवं जैन धार्मिक दृष्टिकोणों के विरोध की सामर्थ्य विद्यमान है तथा इसमें सांख्य एवं वैशेषिक दर्शनों के विचारधाराओं के निराकरण की भी क्षमता दृष्टिगत होती है।

वज्रसूची-

इसके अन्य अभिधान, वज्रच्छेदिका, वज्रसूचिकोपनिषद् आदि हैं। जैसा कि इसके शीर्षक से स्पष्ट है कि यह वज्रसदृश कठोर हीरक सूचिका की भांति उन्हें चुभती है, जिनके मानस में वर्ण- व्यवस्थाजनित पारस्परिक भेद विद्यमान है और जो जाति-प्रथा के प्रबल समर्थक तथा ऊँच-नीच के भेद-भाव के परिपोषक हैं। यह लघुकाय ग्रंथ अत्यन्त प्रभावमयी शैली में रचित है जो बुद्धिमत्ता एवं युक्तिपूर्वक वैदिक (ब्राह्मण) धर्म में प्रचलित वर्णव्यवस्था तथा जातिभेद के कारण मानव के मध्य विद्यमान भेद-बुद्धिकी विचारधारा का खण्डन तर्क पद्धति से करने में समर्थ है। इसकी विचारधारा समत्व बुद्धि की भित्ति पर आधृत है, जो समुचित इसलिये ज्ञात होती है कि सभी दृष्टियों से, जीवन-मरण, सुख-दुःख, हानि-लाभ के सम्बन्ध में जब सभी मानवीय दृष्टि समान है तो फिर उनके अधिकार में भेद क्यों? समानाधिकार (इक्वालिटी) एवं प्रकृति से प्राप्त स्वातन्त्र्य (लिबर्टी) से उन्हें वञ्चित रखना कहाँ की बुद्धिमत्ता है? अतएव इस जगत् में समग्र प्राणिवर्ग समानाधिकार (मौलिक अधिकार) के अधिकारी हैं और यह उन्हें अवश्य प्राप्त होना चाहिये। यही सच्ची मानवता के लिये समुचित एवं सार्वभौम सिद्धान्त है, जो लोक में परिदृश्यमान पारस्परिक भेद की खाई को पाट सकता है और सच्चे लोकतन्त्र के लिये आदर्श है। वज्रसूची में प्रतिपादित समत्वबुद्धि का सिद्धान्त उन सभी व्यक्तियों एवं राष्ट्रों के लिए आदर्श सिद्ध हो सकता है जो सच्ची लोकतन्त्र पद्धति में आस्था रखते हैं। विश्व के सबसे बड़े लोकतन्त्र राष्ट्र वर्तमान भारत के लिये यह आदर्श मार्ग का निर्देशक बन सकता है। इस प्रकार समत्वबुद्धि की स्थापना तथा भेदबुद्धि के अपनयन हेतु कठोर कुठार सदृश यह ग्रन्थ किसके कण्ठ का हार नहीं बन सकती?[1]

इसके रचनाकार के विषय में भी विद्वानों में मतभेद है, किन्तु इसे अश्वघोष न मानना अनुचित एवं इसके प्रति अन्याय इसलिये होगा। इसकी पंक्तियाँ स्वयं ही ग्रन्थकार के लिये प्रमाण हैं, यथा-कृतिरियं सिद्धाचार्याश्वघोषपादानामिति।

---

१. वज्रसूची, सम्पादित एवं अनूदित, रा०प्र० द्विवेदी, अमर भारती प्रकाशन, वाराणसी, १९३५ ।

स्तुतिग्रन्थ-

गण्डीस्तोत्र गाथा-

अश्वघोष विरचित यह कृति २१ स्रग्धरा छन्दों में निबद्ध एक स्तोत्र है, जो ग्रन्थकार की गीति-काव्य रचना-सामर्थ्य का आदर्श प्रस्तुत करती है। इसमें बुद्ध एवं संघ की स्तुति सरस शैली में की गई है। कीथ के अनुसार यह रचना अश्वघोष की संगीत-सामर्थ्य का प्रकाशन करने वाली कृति है। इसमें लघु लगुड से दीर्घ काष्ठ-फलक पर प्रहार से समुत्पन्न शब्दों द्वारा धार्मिक संदेशों को जन-मानस तक पहुँचाने का सद्प्रयास किया गया है।[1] यह अन्य नामों से भी अभिहित की गयी है। नञ्जियो[2] ने इसे 'घण्टिका-संस्कृत-स्तोत्र' एवं 'घण्टी-सूत्र' भी कहा है, जब कि टामस ने चीनी भाषा में 'Kien-ch-ui-fan-tsan' के अभिधान से अभिहित किया है।[2] बौद्ध-स्तोत्र-संग्रह पृ० १३०-१३४ में यह 'बुद्धगण्डी-स्तवः' के नाम से (संस्कृत में) प्रकाशित है।[3] परन्तु यह 'गण्डी-स्तोत्र-गाथा' के नाम से अधिक प्रचलित है। चीनी प्रतिलिपि के आधार पर इसे संस्कृत रूप प्रदान किया गया तथा इसकी रूसी भाषा में व्याख्या विद्यमान है। तिब्बती तञ्जुर में यह रचना एक अनुवाद के रूप में मिलती है।

यद्यपि इसके प्रणेतृत्व के विषय में भी विद्वानों में मतैक्य नहीं है, तथापि यह अश्वघोष कृत है, जिसका प्रबल प्रमाण स्वयं ग्रन्थ की अन्तिम पंक्ति है। इसका समर्थन विण्टरनित्ज तथा बी०सी०ला[4] की कृतियों से भी होता है और प्रकृत पंक्तियों के लेखक द्वारा भी यही समर्थित है। अतः अश्वघोष की भाषा-शैली के साथ इसका साम्य है।[5]

महाकाव्य-

बुद्धचरित अश्वघोष का प्रथम महाकाव्य है जो २८ सर्गों में उपनिबद्ध है। किन्तु संस्कृत भाषा में केवल १७ सर्ग तक ही प्रकाशित है, जिनमें से प्रथम सर्ग के प्रारम्भिक कुछ अंश खण्डित हैं और अन्तिम चार सर्ग बौद्ध विद्वान् अमृतानन्द द्वारा रचित हैं। सम्पूर्ण २८ सर्ग चीनी एवं तिब्बती भाषान्तरों में ही उपलब्ध हैं। धर्मरस (भारतीय बौद्ध विद्वान्) ने सम्पूर्ण महाकाव्य का चीनी अनुवाद ४१४-४२१ ई० के मध्य सम्पन्न किया था। सूर्यनारायण चौधरी द्वारा इसका हिन्दी अनुवाद[6] दो भागों में किया है, जिनमें से प्रथम भाग

---

१. History of Sanskrit Literature, p. 56

२. सूचीग्रंथ, क्रम संख्या १०८१ ।

३. A Von. Stael Holsbin Edition, JRAS, 1914, pp. 752-753.

४. Aswaghosa, p. 10

५. बौद्ध संस्कृत काव्य समीक्षा, पृ० १५०-१५१ ।

६. संस्कृत भवन, कटेतिया, पूर्णिया (बिहार) प्रकाशन।

(१४ सर्ग तक) संस्कृत मूल सहित १९५५ ई० तथा द्वितीय भाग मात्र हिन्दी १९५६ ई० में प्रकाशित हुआ, जो जानस्टन कृत आंग्ल अनुवाद पर आधृत है।[1] इस महाकाव्य के अन्य अनुवाद एस० बील (आंग्लभाषा में), सी० कैप्पेलर तथा आर० स्मिथ (जर्मन भाषा में) तथा सी० फारमिची द्वारा (इटली भाषा में) सम्पन्न हुये हैं। अन्य पत्र-पत्रिकाओं के माध्यम से भी विद्वानों द्वारा इसका अध्ययन किया गया है।[2]

संक्षिप्त वर्ण्यविषय-

बुद्धचरित के अट्ठाईस सर्गों में से प्रथम में बुद्ध-प्रादुर्भाव, द्वितीय में अन्तःपुर विहार, तृतीय में संवेगोत्पत्ति, चतुर्थ में स्त्री-निवारण, पञ्चम में अभिनिष्क्रमण के वृत्तान्त की रसमयी शैली में विवेचित हैं। षष्ठ एवं सप्तम में क्रमशः छन्दक-विसर्जन तथा तपोवन-प्रवेश वर्णित है। बुद्ध-वियुक्त अन्तःपुर का करुण क्रन्दन अष्टम सर्ग में अङ्कित है। नवम सर्ग का विषय कुमार सिद्धार्थ के अन्वेषण का प्रयास है। उनके मगध-गमन एवं बिम्बसारागमन का विवरण दशम सर्ग का प्रतिपाद्य विषय है। एकादश सर्ग में काम-निन्दा, द्वादश सर्ग में गौतम का शान्ति-प्राप्त्यर्थ महर्षि अराड के समीप अभिगमन एवं तथागत का मार विजय त्रयोदश सर्ग में वर्णित है। बुद्धत्वाप्ति का उल्लेख चतुर्दश सर्ग के उपलब्ध अंश में विद्यमान है। द्वितीय भाग बुद्धचरित, जो मात्र हिन्दी भाषा में उपलब्ध है, के पञ्चदश सर्ग में धर्म चक्र-प्रवर्तन तथा षोडश एवं सप्तदश सर्गों में क्रमशः बुद्ध के शिष्यों, महाशिष्यों का [illegible] और उनकी प्रवज्या वर्णित है। अनार्थपिण्डक की दीक्षा का विवेचन अष्टादश सर्ग में हुआ है। शुद्धोदन (पिता) एवं बुद्ध (पुत्र) के समागम की सुन्दर समीक्षा ऊनविंशति सर्ग में हुई है। यह प्रकरण 'रत्नकूट' (४९ सूत्र-रत्न-राशि), जो तिब्बती तञ्जुर तथा चीनी त्रिपिटक में विद्यमान है, में 'पितापुत्र-समागम' शीर्षक के अन्तर्गत प्राप्त होता है। शान्तिदेव विरचित 'शिक्षा समुच्चय' में भी इसके कतिपय अंश उपलब्ध होते हैं। एकविंशति, द्वाविंशति तथा त्रिविंशति सर्गों में क्रमशः जेतवरन-स्वीकरण, प्रव्रज्या-स्तोत्र एवं आयुष्य-स्थिरीकरण का उल्लेख हुआ है। लिच्छवियों के ऊपर की गई अनुकम्पा चतुर्दश सर्ग में वर्णित है। पञ्चविंशति में बुद्ध का निर्वाण-मार्ग की ओर उन्मुखीकरण तथा षड्विंशति सर्ग में महापरिनिर्वाण का विवेचन हुआ है। निर्वाण की संस्तुति सप्तविंशति एवं अष्टविंशति सर्ग में धातु-विभाजन वर्णित है। यहीं पर अशोक कालीन सुगत-धर्म तथा संघ की अवस्था का विवेचन और ग्रन्थ-प्रणयन-प्रयोजन के उल्लेख के साथ बुद्धचरित की परिसमाप्ति हो जाती है।

---

१. पंजाब विश्वविद्यालय प्रकाशन, १९३६।

२. द्रष्टव्य, बौद्ध संस्कृत काव्य-समीक्षा, पृ० १५२।

सौन्दरनन्द-

महाकवि अश्वघोष का यह द्वितीय महाकाव्य है, जो अष्टदश सर्गों में निष्णात है। इस ग्रन्थ के सम्पादन एवं प्रकाशन अनेक विद्वानों द्वारा समय-समय पर होते रहे हैं। सौभाग्यवश यह ग्रन्थ अपने मूल रूप में उपलब्ध है। इसके उल्लेखनीय प्रकाशन एवं संस्करण हैं- हरप्रसाद शास्त्री द्वारा, १६१०, कलकत्ता, इ० एच० जान्सटन द्वारा ऑक्सफोर्ड वि०वि० प्रकाशन, १६२८ आदि। हिन्दी में-अनुवाद सहित सूर्यनारायण चौधरी द्वारा, पूर्णिया, बिहार, १६५६ में इसका प्रकाशन हुआ है। इसके अतिरिक्त अनेक पत्र-पत्रिकाओं (पाश्चात्य एवं प्राच्य) में भी इसके अंशविशेष के आधार पर कार्य[1] हुये हैं।

इस महाकाव्य में बुद्ध के विमातृजानुज 'नन्द' एवं उनकी पत्नी 'सुन्दरी' का वृत्तान्त वर्णित है। सर्वसुख सुविधाओं से समन्वित नन्द अपनी परम सुन्दरी पत्नी 'सुन्दरी' के प्रेम में अतीव आसक्त एवं आकण्ठ निमग्न, उसी प्रकार जैसे चक्रवात मिथुन परस्पर आसक्त होते हैं। संसारिकता की मोह-बेड़ियों से उनके मुक्त होने की कोई आशा नहीं थी, किन्तु भगवान् बुद्ध के अमूल्य उपदेशों के अमोघ प्रभाव से उसने भी मोह-पाश से मुक्त होकर, प्रव्रज्या ग्रहण कर ली। काव्यकार ने नन्द एवं सुन्दरी के अगाध प्रेम को आधार-भित्ति पर अपने महाकाव्य के भव्य-भवन का शिलान्यास किया है। भव-विषय-भोगों की माधुरी में मस्त नन्द को सांसारिक प्रपञ्चों से पृथक् कर सुगत ने उनके जीवन को मंगलमय बनाया और उसे बौद्ध-धर्म में दीक्षित कर उसका उद्धार करा दिया, यही सौन्दरनन्द का संक्षिप्त कथानक है।

सौन्दरनन्द सर्गानुसार संक्षिप्त वृत्तान्त-

इस महाकाव्य के प्रतिपाद्य का विवरण इस प्रकार है-सौन्दरनन्द के प्रथम तीन सर्गों में क्रमशः कपिलवस्तु-वर्णन, महाराज शुद्धोदन के राज्य विवेचन तथा तथागत-स्वरूप-निरूपण, उनकी बुद्धत्व-प्राप्ति और उनकी शाक्य-नगरी कपिलवस्तु-गमन संक्षिप्त किन्तु कमनीय चित्रण हुआ है। चतुर्थ सर्ग में नन्द एवं सुन्दरी का विवाह, उनकी पारस्परिक अत्यासशक्ति तथा भिक्षाटन-निमित्त नन्द-द्वार पर पधारे, बुद्ध का रिक्त हाथों वापस लौट जाने के वृत्तान्त वर्णित हैं। पञ्चम सर्ग में सुन्दर का क्षमार्थ बुद्ध के निकट जाना, अनिच्छुक होते हुये भी उन्हें राजकीय सुखभोगों, मूल्यवान वस्त्रों, अलंकरणों आदि से विरहित कराकर तथागत अपनी धार्मिक शिक्षाओं से अवगत कराते हुये बौद्ध-धर्म में दीक्षित कर, भिक्षा पात्र पकड़ा देते हैं, जब कि सुन्दरी के विशेषक सूखने से पूर्व ही नन्द को वापस जाना था। वह विवश होकर अश्रुधारा प्रवाहित करने लगते हैं। उनकी करुणामयी दशा का चित्रण करते हुए अश्वघोष ने उन्हें सरोवर में वर्षा-वारि से सराबोर वक्रनाल पद्म

१. विशेष विवरण हेतु द्रष्टव्य, वही, पृ० १५४।

सदृश वर्णित किया है। पति से वियुक्ता भार्या सुन्दरी की कारुणिक अवस्था एवं मार्मिक रुदन का विवेचन षष्ठ सर्ग में हुआ है। नवोढा भार्या में अत्यन्त आसक्त, दुर्बल हृदय, मन्द बुद्धि होने पर भी नन्द के घर से भागने की उनकी चेष्टाओं का वर्णन सप्तम सर्ग का विषय है। अष्टम सर्ग में 'स्त्री-विघ्न' तथा नवम में 'अभिमान-निन्दा', जो एक सह-धर्मी श्रमण की शिक्षाओं एवं उपदेशों के माध्यम से की गई है, वर्णित है। स्वर्ग-दर्शन का वृत्तान्त दशम सर्ग तथा एकादश में, बुद्ध को जब नन्द की दुबलताओं का ज्ञान होता है, वह अपनी योग-विद्या की सामर्थ्य से उन्हें आकाश में ले जाते हैं, जहाँ उन्हें स्वर्ग एवं मर्त्यलोक की स्वरूपता एवं कुरूपता को यथार्थता से अवगत कराते हुये, तपोनिष्ठ एवं साधक के लिये कुछ भी असुलभ नहीं, इसका ज्ञान करा कर तपस्या एवं साधना के लिये प्रोत्साहित कराते हैं।[1] 'विवेक' शीर्षक है द्वादश सर्ग का, जिसमें नन्द स्वर्गीय अपसराओं हेतु तपस्या करते हैं, इससे उनकी घोर निन्दा होती है, यह ज्ञात कर उनके नेत्रों से भ्रम का पर्दा उठ जाता है, उनमें ज्ञानोदय होता है और वह आसक्ति से विरत होकर बुद्धत्वप्राप्ति के प्रति अग्रसर होते हुये बुद्ध की शरण लेते हैं। 'शील-स्वरूप एवं इन्द्रिय-संयमन'[2] का विवेचन त्रयोदश सर्ग में, 'आदि-प्रस्थान' चतुर्दश में, 'वितर्क प्रहाण' पञ्चदश में तथा' आर्य सत्य-व्याख्यान'[3] षोडश सर्ग में प्रतिपादित है। सप्तदश सर्ग में 'अमृतत्व प्राप्ति' वर्णित है और अन्तिम सर्ग, अष्टादश में परमशान्ति निमित्त घोर पश्चात्ताप, मार-विजय, नन्द की विगत मोह की दशा तथा अनेक शान्त, प्रकृतिस्थ, विनिर्मुक्त, समाधिस्थ स्वरूप का चित्रण हुआ है।[4] इस प्रकार तथागत के उपाय कौशल्य एवं उपदेशों से प्रभावित नन्द अर्हत्व को प्राप्त कर लेते हैं। कृतकृत्य होकर बुद्ध-दर्शन-हेतु जब वह उनके निकट जाते हैं, उन्होंने पुनः उपदेश देते हुये कहा है- वही व्यक्ति इस जगत् में उत्तमोत्तम माना जाता है, जो परम नैष्ठिक धर्म को प्राप्त कर सतत अन्य लोगों को शान्ति का उपदेश देता है। अतएव मोह-रात्रि में भटकते हुये तसमावृत प्राणियों के मध्य धर्म-प्रदीप को प्रज्ज्वलित करना चाहिये, ताकि भव-प्रपञ्चों से प्रपञ्चित जीव वैराग्य की और उन्मुख हो।[5] प्रियवधू सुन्दरी भी तुम्हारा अनुसरण करती हुई, सांसारिक प्रपञ्चों में सराबोर अन्य सुन्दरियों को भी वैराग्य के सुपथ पर अग्रसर होने के लिये प्रोत्साहित करेगी। अपने इस महाकाव्य के प्रमुख उद्देश्य को बतलाते हुये अश्वघोष द्वारा इसका समापन किया गया है।

---

१. वही, १०/५९-६३

२. वही, सर्ग १३

३. वही, सर्ग १६

४. सौन्दनन्द, १८/६१

५. वही, १८/५६-५७

अश्वघोष के दोनों महाकाव्य लक्षण, लक्ष्य एवं प्रस्तुति की दृष्टि से सफल रच
हैं। महाकवि के बहुत-आयामी व्यक्तित्व के प्रकाशन में उनकी ये कृतियाँ सर्वथा समर्थ
काव्यकार की व्यक्तित्व की छाप उसकी रचनाओं में स्पष्ट रूप से दृष्टिगत होती है। दो
प्रशंसनीय महाकाव्य हैं और स्वदेश मात्र में ही नहीं, प्रत्युत उन्होंने अपनी कीर्ति-पता
को वैदेशिक वसुन्धरा में भी फहराया है। विदेशी पर्यटकों द्वारा इनकी मुक्तकण्ठ से संस्तु
की गई है। चीनी पर्यटक इत्सिंग ने बुद्धचरित की प्रशंसा करते हुये कहा है-'भारतवर्ष के
पञ्चमहाभागों तथा दक्षिणी समुद्र के निकटवर्ती देशों, जावा, सुमात्रा आदि द्वीपों में प्राय
सर्वत्र ही इस महाकाव्य का पाठ एवं संगायन हुआ करता था।'[1] महाकवि ने अत्यन्त कौशल
के साथ अल्प शब्दों में अधिक अर्थ एवं भाव भर दिया है, जिसे पढ़कर अध्येता वर्ग
भाव-विभोर हो उठता है। उसे काव्यास्वादन में रञ्चमात्र भी अरुचि उत्पन्न नहीं होती है
और यही एक कवि का काव्य कौशल का उल्लेखनीय वैशिष्ट्य है। इसके अतिरिक्त श्लाघ्य
बौद्ध सिद्धान्तों की सूत्र-शैली में संयोजना, इस कृति की अपनी विशेषता है। साथ ही,
प्रतिपाद्य-विषय का विवेचन सुव्यवस्थित तथा सुन्दर बन पड़ा है। विविध स्थलों को छोड़कर
पाणिनीय नियमों का अनुवर्तन प्रायः सर्वत्र हुआ है। चमत्कारी एवं विस्मयबोधका वृ त्तान्तों
के विवेचन से काव्यकार निज को संयमित रखा है।

सौन्दरनन्द में महाकवि को नन्द-दम्पति की मूक एवं करुण वेदना के अङ्कन
में विशेष सफलता प्राप्त हुई है। इसी प्रकार बौद्ध धर्म की मूलभत देशनाओं तथा सिद्धान्तों
को, ललित भाषा एवं शैली में, चित्रण में भी कवि का कौशल विशेष रूप से झलकता है।
बुद्धचरित की अपेक्षा, यह महाकाव्य यद्यपि लघु काव्य है, तथापि भाव-प्रकाशन में, मार
एवं धर्म के घोर द्वन्द्व के अङ्कन में और बौद्ध-धर्म के आचारपरक उपदेशों के प्रभावी
एवं मर्मस्पर्शी विवेचन में भी निश्चय ही उससे आगे है। इन्हीं विशेषताओं के आधार पर
कतिपय समीक्षक बुद्धचरित को महाकवि की प्रारम्भिक रचना स्वीकार करते हैं।[2]
सौन्दरनन्द में अश्वघोष का काव्य-कौशल अधिक निखरा हुआ दृष्टिगत होता है।
विषय-वैशिष्ट्य के कारण भी काव्यकार को इसमें धार्मिक-सिद्धान्तों के साङ्गोपाङ्ग
विवेचन एवं कोमल भावों की अभिव्यक्ति का सुन्दर अवसर प्राप्त हुआ है। यह महाकाव्य
कमनीय काव्य-भावना के चित्रण एवं विषय-गाम्भीर्य के सरल तथा सरस चित्रण में
बुद्धचरि तकी समता में अपेक्षाकृत आकर्षक और सफल कहा जा सकता है।

बुद्धचरित एवं सौन्दरनन्द, दोनों ही महाकाव्यों में शब्दों, विचारों, भावों, चित्रणों
आदि में कुछ स्थलों पर अधिक समता दृष्टिगत होती है, जहाँ प्रायः समान शब्दों में ही

---

१. J-tsing records, Takakusu's Translation. p. 39.

२. A.B. Keith, History of Sanskrit Literature, p. 56.

समान भाव दोनों में चित्रित हुये हैं।' सम्भवतः यह प्रवृत्ति प्राचीन बौद्धदर्शन शास्त्रों में परिदृश्यमान बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय, लोकानुकम्पाय सदृश प्रयोगों का प्रभाव हो।

अश्वघोषकृत दृश्य काव्य-

महाकाव्यकार तथा दर्शनविद् के विरुद से विभूषित अश्वघोष दृश्यकाव्यकार के रूप में भी प्रख्यात थे। उनकी अन्य रचनाओं की भाँति उनके द्वारा रचित अभिनेय कृतियाँ भी भारतीय सीमा को पार कर विदेशों में पहुँच गई, जहाँ उन्हें ससम्मान स्वीकार किया गया। उन्हें उत्सुकतापूर्वक वहाँ के रङ्गमञ्च पर अभिनीत किया गया। इस प्रसंग में महापण्डित राहुल सांकृत्यान के विचार उद्धरणीय हैं- 'जिस तरह अश्वघोष के संस्कृत-प्राकृत, संगीत एवं काव्य, साकेत तथा कोशल की सीमा पार कर गये, उनके नाटक भी उससे अधिक दूर तक फैल गये, उज्जयिनी, दशपुर, पाटलिपुत्र, भरुकचछ, सुप्पारक सदृश महानगरों में, जहाँ कि यवनों की संख्या तथा उनकी नाट्यशालायें विद्यमान थीं, उनके नाटक रङ्गमञ्च पर शीघ्र ही आरूढ़ हो गये, फिर समस्त सामन्तों एवं व्यापारियों में ही प्रचलित एवं प्रिय हो गये।'[२]

अश्वघोष के समय तक, जैसा कि अनेक विवरणों से परिज्ञात होता है, यूनानी नाट्य-रचनाओं का भारतीय भूमि पर पूर्ण आधित्पय स्थापित हो गया था, जिसके कारण तत्कालीन नाट्य-मण्डलियों पर यूनानी प्रभाव दृष्टिगत होता है। पात्रों के वस्त्राभूषणों पर भी उनकी छाप स्पष्ट रूप से अवलोकित होती है। अश्वघोष की कृतियों को प्रेरणा एवं प्रोत्साहन भी प्राप्त हुआ।

उर्वशी-वियोग -

महापण्डित राहुल ने इसे अश्वघोष की प्रथम संस्कृत नाट्य-रचना स्वीकार की है। उनके विचर से 'उर्वशी-वियोग' एक सुन्दर एवं सफल रचना है, जिसके सम्बन्ध में उन्होंने 'वोल्गा से गङ्गा' में लिखा है-'वह बहुत अच्छे एवं कलापूर्ण रूप से अभिनीत हुआ और अनेक बार रङ्गमञ्च पर उपस्थित किया गयां उसकी अभिनय-कला से प्रभावित साकेत को सम्भ्रांत-समाज उसे अनेक बार देखा तथा प्रशंसित कियां साकेतवासियों को उक्त उत्कृष्ट अभिनय-कला की कल्पना तक नहीं थी। अन्तिम यवनिका-पात के अवसर पर नाटककार द्वारा 'मैंने सब कुछ यवन-रङ्ग-मञ्च से लिया है,' यह स्वीकार किया गया है।' किन्तु अश्वघोष की अभिनेय कृतियाँ इतनी स्वभूमिज थीं कि द्रष्टा-वर्ग को उनमें विदेशी प्रभाव की गन्ध भी न आ सकी। राहुलजी की मान्यतानुसार इस नाटक के

---

१. बौद्धसंस्कृत-काव्य समीक्षा (लेखक की रचना), पृ० १५७-१५८।

२. बोल्गा से गंगा (१९४३ ई०), पृ० १९२-१९३।

आधार पर ही अश्वशेष को प्रथम नाटककार स्वीकार किया गया है।[1]

राष्ट्रपाल –

इस नाटक को भी महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अश्वघोष कृत माना है। सिल्वाँ लेवी महोदय द्वारा भी अश्वघोष-विरचित एक गेय नाटक का उल्लेख किया गया है और उनका संकेत 'राष्ट्रपाल' की तरफ है।

शारिपुत्र-प्रकरण-

लूडर्स महोदय ने संस्कृत के अनेक विलुप्त ग्रन्थों का पता, अपने अन्वेषण-अभियान के प्रसङ्ग में मध्येशिया, तुर्फान नामक स्थान से प्राप्त किया है। उन्हें अत्यन्त प्राचीन काल के ताडपत्र पर लिखित तीन रूपकों के अवशेष (खण्डित प्रति के रूप में) प्राप्त हुये है।। इनमें से प्रथम के अन्तिम वाक्य के आधार पर इसके रचनाकार तथा प्रकरण की अंक-संख्या का अनुमान किया गया है।[2] इसके प्रणेता सुवार्णाक्षी-पुत्र (अश्वघोष) हैं और इसमें अङ्कों की अनुमानित संख्या नव है, जब कि प्रकरण दस अङ्कों का होता है।[3] इसमें उन वृत्तान्तों का का विवरण दिया गया है, जब कि बुद्ध ने मौद्गल्यायन तथ शारिपुत्र को बौद्ध-धर्म में दीक्षित किया था। इसका अन्य अभिधान 'शारद्वतीपुत्र-प्रकरण' भी है। इसके उल्लेखनीय प्रमुख पात्र–राजकुमार सोमदत्त, विदूषक, दास दासी, गणिका, आदि, मृच्छकटिक के विदूषक, विट, वेश्या, गणिका, चोर, जुआरी, शराबी आदि निम्नकोटिक पात्रों की भाँति वर्णित हैं। ए० बी० कीथ महोदय ने इसे गणिका-रूपक (Hetaera-drama) माना है। इस शैली में रचित रूपकों के विकसित तथा प्रौढ़ स्वरूप के दर्शन हेतु मृच्छकटिकम् में होते हैं।

'शारिपुत्र-प्रकरण' का कथानक प्रमुख रूप से शारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन को बुद्ध द्वारा बौद्ध-धर्म में दीक्षित करना है। इस प्रकरण के प्रारम्भ में शारिपुत्र, अश्वजित् से मिलने के अनन्तर, जब विदूषक से भेंट करते हैं, वह उनसे बुद्ध सदृश क्षत्रिय से उपदेश एवं दीक्षा ग्रहण करने के अधिकार पर प्रश्न चिन्ह लगा देते हैं, क्योंकि वह एक द्विज

---

१. 'वोल्गा से गंगा' महापण्डित राहुल सांकृत्यायन की साहित्यिक कृति है-यह कहानियों की एक शृङ्खला है, जिसके ऐतिहासिक सन्दर्भ सीमित ही हैं और उन्हें महापण्डित राहुल सांकृत्यायन ने अपनी कल्पना से विस्तार दिया है। इस कृति का ऐतिहासिक सन्दर्भ के रूप में उपयोग सावधानीपूर्वक और सीमित रूप में ही किया जाना चाहिए, विशेषतः अश्वघोष के जीवनवृत्त और भारतीय नाट्य तथा संस्कृति पर यूनानी प्रभाव के सन्दर्भ में–सम्पादक।

२. वही

३. SBA 1911, p. 388

(ब्राह्मण) है। किन्तु शारिपुत्र, विदूषक के प्रश्न को निराधार यह बतलाते हुये कहते हैं कि 'जिस प्रकार कहीं के जल से भी ताप शान्त हो जाता है, उसी प्रकार निम्न वर्ग के वैद्य द्वारा दी गई औषधि भी रुग्ण की व्याधि का निवारण एवं संताप का शमन करती है।' तदुपरान्त मौद्गल्यायन शारिपुत्र से मिलता है और उसकी प्रसन्नता का कारण पूछता है। वह भी बुद्ध के महान् व्यक्तित्व से अभिभूत है। दोनों बुद्ध के समीप जाते हैं तथा उनके शिष्यत्व को प्राप्त कर अनुग्रहीत होते हैं। वह उनके सम्मुख भावी ज्ञान आदि विषयों हेतु भविष्यवाणी करते हैं। इसके अनन्तर बुद्ध एवं शारिपुत्र के मध्य होने वाली दार्शनिक चर्चा के साथ प्रकरण की परिसमाप्ति हो जाती है। बुद्ध द्वारा शिष्यद्वय की प्रशंसा की जाती है। प्रकरणान्त में भरत-वाक्य के पूर्व 'अतः परमपि प्रियमस्ति', इस वचन का अभाव है। भरत वाक्य का उच्चारण बुद्ध द्वारा, न कि नायक द्वारा कराया गया है। ऐसा व्यवहार, न्यायसम्मत इसलिये है कि त्रैलोक्यदर्शी भगवान् बुद्ध की उपस्थिति में किसी अन्य पात्र (अथवा नायक) द्वारा भरत-वाक्य का उच्चारण उचित प्रतीत नहीं होता है।

यह प्रकरण नाट्यशास्त्रीय नियमों के अनुसार रचित है। प्रकरण की कथा-वस्तु सामान्य जीवन पर आधृत (लोकसंश्रज्ञयी), कविकल्पनाप्रसूत है। प्रमुख (शारिपुत्र एवं मौद्गल्यायन) धीर-प्रशान्त श्रेणी के विप्र हैं। नायिका का चित्रण एक आदर्श स्त्री के रूप में हुआ। इसकी भाषा संस्कृत तथा प्राकृत, यथोचित प्रयुक्त हैं। उच्च श्रेणी के पात्र संस्कृत तथा निम्नकोटिक पात्र प्राकृत का प्रयोग करते हैं। इसका प्रमुख 'रस' शृङ्गार है, जिसमें करुण एवं हास्य के पुट अधिक हैं। यह दृश्य-रचना रङ्ग-मञ्च के लिये सर्वथा योग्य नहीं कहा जा सकता है।

नाट्यावशेषद्वय-

लूडर्स को, हस्तलेख-गुच्छक, जहाँ से शारिपुत्र प्राप्त हुआ, के अन्य दो खण्डित नाट्यावशेष भी उपलब्ध हुये हैं। पर्याप्त सामग्री के अभाव में इनके विषय में कुछ अधिक कह पाना सम्भव नहीं है, परन्तु यह अश्वघोष-प्रणीत है, ऐसा अनुमान किया गया है, क्योंकि रचना-विधान, भाषा-शैली तथा अलंकार प्रयोग प्रायः सभी इनकी अन्य कृतियों के साथ पूर्ण साम्य रखते हैं। इस सम्बन्ध में यह उद्धरण यहाँ प्रासङ्गिक है-

'खे वर्षत्यम्बुधरं ज्वलति च युगपत् संययाम्बुद इव' - प्रथम रूपक

तथा सौन्दरनन्द का नीचे उद्धृत पद्य-

सुगपज्ज्वलन् ज्वलनवच्च जलमवसृजंश्चमेघवत्।
तप्तकनकसदृशप्रभया स बभौ प्रदीप्त इव सं यया घनः।। ३/२४

प्रथम रूपकावशेष -

यह एक विशेष प्रकार की नाट्य-रचना है, जिसे प्रतीक नाटक, छाया नाटक (Allegorical play) आदि के रूप में ख्याति प्राप्त है। इसके प्रमुख पात्रों में कीर्ति, धृति, बुद्धि आदि चित्रित हैं। ये ही पात्र सर्वप्रथम रङ्गमञ्च पर वार्तालाप करते हुये उपस्थित होते हैं। तदनन्तर भगवान् बुद्ध का आगमन होता है। इस नाटक के प्रायः समस्त पात्र संस्कृत भाषा का व्यवहार करते हुये दृष्टिगत होते हैं। बद्धि द्वारा कीर्ति से कही गई यह शिक्षाप्रद उक्ति ध्यातव्य है - **'नित्यं स सुप्त इव यस्य न बुद्धिरस्ति'**।

यह नाट्य-विधा अश्वघोष से पूर्व सम्भवतः अन्य किसी नाटककार द्वारा रचित नहीं हुई है। अतएव इन्हें प्रथम प्रतीक नाटककार कह सकते हैं। अधिक अन्तराल के अनन्तर इस प्रकार के नाटक लिखने का श्रेय श्रीकृष्ण मिश्र (एकादश शती) को दिया जा सकता है, जिन्होंने 'प्रबोध चन्द्रोदय'[1] सदृश प्रतीक रूपक की रचना की है। तदपुरान्त इस प्रकार की नाट्य-रचना की अनेक कृतियाँ दृष्टिगत होती है। यथा- मोहमुद्गर (यशपाल कृत, द्वादशी शती), संकल्पसूर्योदयम् (वेंकटनाथ विरचित चतुर्दश शती), अमृतोदयम् (गोकुलनाथ कृत), भावना पुरुषोत्तमम् (रत्नखेट श्रीनिवास दीक्षित कृत), चैतन्य चन्द्रोदयम् (कर्णपूर विरचित), जीवानन्दन एवं विद्यापरिणयनम् (आनन्दराय मखिन् कृत), धर्म विजयान्तकम् (भूदेव शुक्ल विरचित) आदि अनेक उल्लेखनीय हैं। इनमें से वेंकटनाथ, गोकुलनाथ, आनन्द राय माखी की रचनाओं का मेरे निर्देशन में शोधकार्य हो चुके हैं। केशव मिश्र तथा कर्णपूर पर शोधकार्य हो चुके हैं।

द्वितीय रूपकावशेष -

यद्यपि खण्डित रूप में उपलब्ध इसके अभिधानादि से सम्बन्धित पर्याप्त जानकारी का अभाव है, तथापि अनुमान के आधार पर यह अश्वघोष-विरचित 'शारिपुत्र प्रकरण' के समान एक गणिकारूपक (हेटेरा ड्रामा) है। इसकी घटनायें एक प्राचीन उद्यान तथा गणिका-गृह में घटित होती हैं। इसके प्रमुख पात्रों में 'मगधवती' नामक वेश्या, 'कौमुदगन्ध' नामक विदूषक, 'सोमदत्त' नामक नायक, जिसका प्रेमाख्यान प्रकृत नाट्य-रचना का प्रतिपाद्य विषय हे। अन्य पात्रों में शारिपुत्र, मौद्गल्यायन, एक दासी, एक विट (दुष्ट विट) तथा धनञ्जय नामक एक राजकुमार उल्लेखनीय हैं। दासी, दुष्ट एवं वेश्या की भाषा प्राकृत तथा शेष समस्त पात्र संस्कृत का प्रयोग करते हैं। इसमें गाड़ी (प्रवहण) पर सवार होते हुये पात्रों का चित्रण हुआ है। इसका स्पष्ट प्रभाव दरिद्र चारुदत्त (भास-रचित) तथा मृच्छकटिक (शूद्रक-विरचित) के ऊपर परिलक्षित होता है।

---

१. पञ्चवटीवर्णन (अरण्यकाण्ड, रामचरित मानस) गो० तुलसीदास, विशालगीता (केशवदास रचित) के ऊपर प्रबोध-चन्द्रोदय की छाप स्पष्ट परिलक्षित होती है।

बहुमुखी प्रतिभा सम्पन्न व्यक्तित्व –

अश्वघोष बहुमुखी प्रतिभा से आढ्य विशेष व्यक्तित्त्व थे। उनकी कृतियाँ ज्वलन्त साक्ष्य प्रस्तुत करती हैं, जिनमें उनका बहुमुखी व्यक्तित्व स्पष्ट झलकता हुआ अवलोकित होता है। उनके स्पष्ट स्वरूप का प्रकाशन प्रायः उनकी सभी रचनायें करती हैं। 'Style is the man himself' (स्टाइल इज़ दि मैन हिमसेल्फ) का प्रख्यात कथन अश्वघोष में पूर्ण रूप से चरितार्थ होता है। लेखक विशेष की रचनायें, उसके स्वरूप एवं व्यक्तित्व का प्रकाशन बहुधा करती हैं, वह चाहे प्रत्यक्ष रूप से हो अथवा परोक्ष रूप से। विषयि-प्रधान (Subjective) रचनायें, निज प्रणेता का स्वरूप प्रत्यक्ष रूप से प्रकाश में लाती हैं, जब कि विषय-प्रधान (Objective) कृतियाँ परोक्ष रूप से (विविध दृष्टिकोणों के माध्यम से) लेखक का व्यक्तित्व अथवा स्वरूप-प्रकाशन करती हैं। अश्वघोष की रचनाओं के समीक्षण से उनकी धार्मिक दृष्टि, उनका हितोपदेश स्वरूप, उनकी भक्ति-भावना, उनका दार्शनिक दृष्टिक, उनके साहित्यिक विचार आदि अभिव्यक्त होते हैं।

(क) धार्मिक दृष्टि –

यद्यपि ये सर्वविदित है कि अश्वघोष बौद्ध-धर्म के अनुयायी एवं उसके परम समर्थक थे, तथापि वह बौद्ध-धर्म के किस सम्प्रदाय के विशेष अनुमोदक थे, इस विषय में विद्वानों में मतैक्य नहीं है, जबकि इसका स्पष्टीकरण उनके व्यक्तित्व एवं स्वरूप की जानकारी हेतु आवश्यक है।

जापानी विद्वान अश्वघोष को अवतंसक सूत्र-सम्प्रदाय के प्रथम आचार्य मानते हैं, जो महायान विचारधारा के साथ सादृश्य रखता है। सुखवती सम्प्रदाय भी महायान से ही सम्बन्धित है। अतएव अनेक विचारक उसी के साथ उनका सम्बन्ध स्थापित करते हैं। इसी का समर्थन 'महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र' भी करता है। कतिपय बौद्ध विद्वान् अश्वघोष का सम्बन्ध 'योगाचार' सम्प्रदाय के साथ स्वीकार करते हैं। इसका प्रमुख कारण सौन्दरनन्द में अनेकशः प्रयुक्त योगाचार[1] शब्द है, जिसका वास्तविक अभिप्राय योगाचार-सम्प्रदाय न होकर योगाभ्यास है। पालित्रिपिटक में भी यह शब्द 'योगाभ्यास' के अर्थ में प्रयुक्त हुआ है। दासगुप्त एवं डे[2] महाशयद्वय ने अश्वघोष को बाहुश्रुतिक (महासांघिक)- सम्प्रदाय के साथ जोड़नेका प्रयत्न किया हे।[3] जानूस्टन भी इसी विचारधारा के समर्थक हैं।[4] किन्तु

---

१. योगाचारं स्तथाहारं शरीराय प्रयच्छति। सौन्दरनन्द, १४/१६, १५/६८

२. History of Indian Literature, Pt. II, p. 264, Footnote I and History of Classical Sanskrit Literature, Pt. I, p. 79 Footnote 2.

३. वही, भाग १, पृ० ६६ ।

४. बुद्धचरित, भाग २ (भूमिका) पृ० ३१ ।

महापण्डित राहुल सांकृत्यायन[१] के नूतन शोध के अनुसार अश्वघोष सर्वास्तिवादी आचार्य हैं। अन्तिम मत ही (अन्य मतों की अपेक्षा) समीचीन है, क्योंकि बौद्ध-शास्त्रों के ऊपर विभाषा (नाम की व्याख्या) के निमित्त कनिष्क- काल के आयोजित (निर्दिष्ट) बौद्ध-संगीति के समायोजक अश्वघोष ही थे। इसके अतिरिक्त महायानी प्रवृत्तियों का उल्लेख सर्वप्रथम अश्वघोष की कृतियों में ही हुआ है और उनके (प्रमुख वैशिष्ट्य) बुद्ध-भक्ति का निर्देश प्रथमतः उन्हीं के ग्रन्थों में हुआ है। बुद्ध के लिये 'लोकाधिपति' सदृश विशेषणों के प्रयोगों द्वारा उन्होंने (अश्वघोष ने) अपनी महायानी विचारधारा से अवगत भी करा दिया है।[२]

अश्वघोष को सम्प्रदाय विशेष की परिधि में आबद्ध करना, उनके साथ न्याय नहीं होगा, क्योंकि वह बहुश्रुत विद्वान् विचारक थे और उनका दृष्टिकोण उदार था। जो विद्वान् हीनयान तथा महायान के द्वन्द्व में निज को फाँस देते हैं, वह उचित नहीं है। क्योंकि यदि सूक्ष्म दृष्टि से विचार किया जाय तो यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि दोनों (हीनयान एवं महायान) सम्प्रदायों के मध्य कोई आधारभूत भेदक तत्त्व उपस्थित नहीं किया जा सकता है। कारण यह है कि तथागत जीवनदर्श तथा उनकी शिक्षायें ही दोनों के आधार हैं। उन्हीं को लक्ष्य कर सुगत-धर्म को प्रसारित, प्रोत्साहित एवं उनके जीवन मूल्यों को लोक समक्ष उपस्थापित करना अभिप्रेत है। व्यक्ति-विशेष ही अपनी आध्यात्मिक विचार-धाराओं के कारण हीनयानी अथवा महायानी कहला सकता है। प्रसिद्ध चीनी पर्यटक के अश्वघोष सम्बद्ध विचार प्रस्तुत करना प्रासङ्गिक होगा, जिन्होंने अश्वघोष की संस्तुति करते हुये लिखा है- 'वह एक बहुश्रुत व्यक्तित्व थे एवं उनकी आध्यात्मिक शक्ति की गति यानत्रय- प्रत्येक बुद्धयान, बोधिसत्त्वयान (महायान के रूप में ख्यात) तथा श्रावक-यान तक विस्तृत थी।'[३] वस्तुतः अश्वघोष, जिनका अन्तस् अतीव उदार था और जिसमें बौद्ध भिक्षु थे। उनका यह वैशिष्ट्य उनकी कृतियों में पूर्णरूपेण परिलक्षित होता है तथा हीनयान एवं महायान दोनों ही सम्प्रदायों का उनमें समन्वय दिखता है। अतएव, उन्हें एक समन्वयवादी विचारधारा का आचार्य मानना समचित है।

(ख) भक्ति-भावना-

अश्वघोष की बौद्ध-धर्म के प्रति अटूट आस्था थी। भगवान् बुद्ध में उनकी अतुल निष्ठा तथा उनके हृदय में सुगत-भक्ति भावना की अपूर्व तरलता भी विद्यमान थी। वह इतने मात्र से संतुष्ट नहीं थे कि बुद्ध एक धर्म-प्रतिष्ठापक मात्र तथा धर्म-प्रचारक थे, प्रत्युत् वह बुद्ध के लोकरक्षक एवं लोकोद्धारक स्वरूप के परमोपासक थे। अश्वघोष की

---

१. दर्शन-दिग्दर्शन, पृ० ५६६

२. बुद्धचरित, १६/८५

३. On Yuan Chwang (Watters). Pt. II. p. 102

दृष्टि में भगवान् तथागत जगत्त्राता तथा वह लोक-मंगल को लोकोत्तर क्षमता से संबलित थे। वह सर्वेश के महनीय गुणों तथा दिव्य लक्षणों से मण्डित थे। ऐसे भगवान् बुद्ध में किसकी निष्ठा, किसका समर्पणभाव नहीं होगा? अतएव अश्वघोष के अन्तस् में बुद्ध-भक्ति-भावना की अजस्र धारा निरन्तर प्रवाहित होती रहती थी।

उन्होंने अपनी रचनाओं में अनेक स्थलों एवं अवसरों पर बुद्ध के 'स्वयम्भू', 'जगत्पति', 'लोकाधिपति प्रभु', परमकारुणिक आदि विभिन्न विशेषणों से जो विभूषित किया है, वह अश्वघोष की भक्ति भावना के ही प्रकाशक हैं।[1] विविध भक्त कवियों की भाँति, इस महाकवि ने भी अपने आराध्य देव बुद्ध के सम्मुख अपने दैन्य-भाव के प्रति कृतज्ञता का प्रकाशन करते हुये, जो उद्गार व्यक्त किया है, वह अधोलिखित पंक्तियों में द्रष्टव्य है-

यो दृष्टिशल्यों हृदयावगाढः प्रभो भृशं मामतुदत्सुतीक्ष्णः।

त्वद्वाक्यसंदंशमुखेन मे यः समुद्धृतः शल्यहृतेव शल्यः।। सौ. १८/७

हे प्रभो, मेरे अन्तस् में कुदृष्टि-रूपी जो तीक्ष्ण शल्य चुभा हुआ था, जिससे मैं घोर पीड़ा की अनुभूति कर रहा था, आपने अपने वाक्यरूपी संदंश (संडसी) द्वारा खींच कर उसे बाहर उसी प्रकार निकाल दिया, जैसे शल्योद्धारक (चिकित्सक) यंत्र के माध्यम से शल्यापनयन कर देता है। बुद्ध के कुशल वचन तो वस्तुतः उस महाभिषक् की महौषधि सदृश है[2] जिनसे कंदर्प के प्राणघातक विष का दूरीकरण स्वयं हो जाता है। ऐसे प्रभु की अमृतोपम वाणी का आस्वादन किस के लिये प्रिय नहीं है? इसी प्रकार के अनेक दृष्टान्त परवर्ती भक्त कवि शान्तिदेव की रचनाओं से प्राप्त होते हैं, जिनमें भक्ति-भाव-भरित हृदय के श्रावक उद्गार द्रष्टव्य है।[3] अश्वघोष की बुद्धि-भक्ति एवं शरणागति की अभिव्यक्ति उनके दोनों ही महाकाव्यों में परिलक्षित होती है। इस प्रकार की भक्ति-भावना का बीज सर्वप्रथम इस महाकवि में ही अङ्कुरित दीखता है।

(ग) वैदिक धर्म के प्रति आस्था-

महाकवि अश्वघोष, यथा उपरिनिर्दिष्ट है, एक समन्वयवादी धर्माचार्य थे और उनका किसी भी धर्म के प्रति द्वेष-भाव नहीं था। यद्यपि वह बौद्ध धर्म के प्रति अधिक समर्पित थे, उन्होंने बौद्धधर्म में दीक्षा भी ग्रहण की थी और भगवान् बुद्ध के प्रति उनमें अटूट श्रद्धा और समादर-भाव भी विद्यमान था, तथापि उनके मानस में वैदिक धर्म (हिन्दू धर्म) के प्रति जो पूर्व मोह, तथा श्रद्धा का भाव विद्यमान था, वह उनसे पृथक् न हो सका।

---

१. बुद्धचरित, १६/६४-७५, सौन्दरनन्द १८/१२, ६१।

२. सौन्दनन्द, १८/७ ।

३. शिक्षा-समुच्चय तथ बोधिचर्यावतारः।

अतएव, उनकी कृतियों में उक्त धर्म की अमिट छाप प्रायः सर्वत्र परिलक्षित होती है कुछ विचारकों की तो ऐसी मान्यता है कि जब अश्वघोष बौद्ध-धर्म में दीक्षित हो गये, उन्हें हीनयान सम्प्रदाय में वाञ्छित प्रतिष्ठा प्राप्त न हो सकी। सम्भवतः इसका कारण उन विचारकों की दृष्टि में वैदिक-धर्म का मोह ही था। यह ध्यातव्य है कि अश्वघोष ने यदि एक ओर स्वतन्त्र विचारक होने के कारण बौद्ध-धर्म के महत्त्व को स्वीकार किया तो दूसरी तरफ वह वैदिक-धर्म तथा पौराणिक साहित्य के प्रति अत्यधिक जागरूक भी थे।[1] इसीलिये उनमें वैदिक-धर्म एवं बौद्धधर्म का विलक्षण सामञ्जस्य होता है। यह इस महाकवि की उदारता तथा सहिष्णुता का ही परिणाम है।

इस महाकवि के प्रति ऐसा कथन कि 'प्रथमतः वह वैदिक-धर्म तथा पौराणिक साहित्य के विद्वान् हैं, तदनन्तर बौद्ध संस्कृत साहित्य के मर्मज्ञ पण्डित' अनुचित नहीं होगा। उनकी रचनाओं के अध्ययन से ऐसा प्रतिभाषित होता है कि उनमें पौराणिक ज्ञान का अक्षय-भण्डार विद्यमान था। 'बुद्धचरित' तथा 'सौन्दरनन्द' दोनों ही महाकाव्यों में अश्वघोष ने अपने वक्तव्य के स्पष्टीकरण तथा साक्ष्य-हेतु विविध पौराणिक वृत्तान्तों एवं आख्यानों का उल्लेख किया है। महाकवि के पौराणिक ज्ञान के प्रकाशक वे स्थल दर्शनीय हैं जब राज-शास्त्र आदि के विवेचन के प्रसङ्ग में उन्होंने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि कोई आवश्यक नहीं है कि जो कार्य पूर्वजों द्वारा सम्पन्न न किया जा सका हो, वह उनकी संततियाँ पूर्ण न कर सकें। इसी बात को स्पष्ट करने के लिये उन्होंने भृगु एवं अङ्गिरा सदृश महर्षियों का दृष्टान्त प्रस्तुत करते हुये कहा है कि जिस राज-शास्त्र का प्रणयन उक्त मुनिद्वय न कर सके, उसे उनकी सन्तानें शुक्र, बृहस्पति आदि ने सम्पादन किया-

यद्राजशास्त्रं भृगुरङ्गिरा वा न चक्रतुर्वंशकरावृषी नौ।
तयोः सुतौ सौम्य ससर्जतुस्तत्कालेन शुक्रश्च बृहस्पतिश्च।। बु.च. १/४१

इसी प्रकार सारस्वत द्वारा नष्ट वेदों का उद्धार किया गया, जिसे उनके पूर्व पुरुषों ने नहीं किया, जो कार्य वसिष्ठ द्वारा न सम्पन्न हो सका, उसे व्यास ने पूरा किया। वाल्मीकि ने उस ग्रन्थरत्न की रचना कर दी, जिसे महर्षि च्यवन करने में समर्थ न हो सके थे और जिस चिकित्सा-विद्या की सम्पन्नता में महर्षि अत्रि सफल न हो सके, उनके परवर्ती दत्तात्रेय द्वारा वह सहजतया सम्पन्न कर दिया गया-

सारस्वतश्चापि जगाद नष्टं वेदं पुनर्यद्ददृशुर्न पूर्वे।
व्यासस्तथेनं बहुधा चकार न यं वसिष्ठः कृतवान् नशक्तः।।

---

1. History of Sanskrit Literature (Dasgupta), p. 72.

वाल्मीकिरादौ च समार्ज पद्यं जग्रन्थ यन्न च्यवनो महर्षिः।

चिकित्सितं यच्च चकार नात्रिः पश्चात्तदात्रेयश्च ऋषिर्जगाद।। वही, १/४२-४३

अन्य अनेक पौराणिक वृत्तान्तों को सोदाहरण प्रस्तुत करते हुये महाकवि अश्वघोष ने पुराणसम्बद्ध अपने ज्ञान से अध्येता समाज को अवगत कराया है, जो उनके दोनों महाकाव्यों में अवलोकित किये जा सकते है।[1]

अश्वघोष ने अनेक स्थलों पर पुराणों में प्रख्यात उमा-महेश्वर, सीता-राम, इन्द्रादि सुरगण तथा स्वर्गादि सम्बन्धित उल्लेख किये हैं। श्री रामचन्द्र ने व्यथित महाराज की आज्ञा शिरोधार्य कर जिस प्रकार रथारूढ़ होकर वन गमन करते हैं तथा रिक्त रथ को सारथी अयोध्या लाता है जिसे देखकर समग्र प्रजा करुण क्रनदन करती है, ठीक उसी भाँति तपश्चरण हेतु बुद्ध के वन में प्रवेश-पश्चात् छन्दक एवं कन्थक को रिक्त हाथ वापस देखकर समस्त पुरजन निरन्तर अश्रुधारा प्रवाहित करते हुये दृष्टिगत होते हैं। इसी द्रावक वृत्तान्त का चित्रण महाकवि ने अधोलिखित पंक्तियों में किया है-

निशाम्य च स्रस्तशरीरगामिनौ विनागतौ शाक्यकुलर्षभेण तौ।

मुमोच काव्यं पथि नागरो जनः पुरा रथे दाशरथेरिवागते।। बु० च० ८/८

बुद्धचरित में ही एक स्थल पर अश्वघेष ने बुद्ध के मार-विजय के वृत्तान्त विवेचनप्रसङ्ग में उमा-शंकर से सम्बद्ध शिव-विजय का उल्लेख किया है-

शैलेन्द्रपुत्री प्रति येन विद्धो देवोऽपि शम्भुश्चलितो बभूव।

न चिन्तयत्येव तमेव बाणं किं स्यादचित्तो न शरः स एषः।। -वही १३/१६

यह शाक्य-कुमार उस मार-वाण की चिन्ता तक नहीं करता है, सि बाण (काम-वाण) से विद्ध भगवान् महेश्वर 'शैलेन्द्र-सुता' (पार्वती) के प्रति चंचलायमान हो उठे थे। क्या यह बाण ही कोई (वह न होकर) अन्य है? अथवा क्या इस शाक्य-सुत में चित्त (हृदय) का अभाव है?

उपर्युक्त विवेचनों से यह स्पष्ट है कि अश्वघोष की वैदिक धर्म एवं पौराणिक आख्यानों की प्रचुर अभिज्ञता[2] तथा इनके हृदय में उनके प्रति समादर भाव विद्यमान था। इस संदर्भ में अश्वघोष की वज्रसूची विशेष रूप से द्रष्टव्य है।[3] बहुश्रुत महाकवि अश्वघोष को राजधर्म (राजशास्त्र) का भी पूर्ण ज्ञान था। दोनों ही महाकाव्यों से उनकी राज-धर्म विषयिणी अभिज्ञता प्रकाशित होती है। बुद्धचरित के द्वारा शाक्य महाराज शुद्धोदन, उनके

१. बु० च० ४/७२-८०; सौ० ७/२६-५४ ।
२.
३.

पूर्वजों, उनकी शाक्य नगरी कपिलवस्तु, उनको राजशाही शान-शौकत, उनके वैभवादि का भी जो विवेचन किया गया है, वह महाकवि अश्वघोष के तद्विषयक ज्ञान का द्योतक है[1]। यथा-

इक्ष्वाकुवंशार्णवसम्प्रसूतः प्रेमाकरश्चन्द्र इव प्रजानानाम्।
शाक्येषु शाकल्यगुणाधिवासः शुद्धोदनाख्यो नृपतिर्बभूव।। बु० च० १/१

इक्ष्वाकु वंश नियचयतः विशाल अर्णव सदृश है, जहाँ शाक्यों में प्रेमाकर चन्द्र के समान शुद्धोदन नामक राजा उत्पन्न हुये, जो समग्र उदात्त गुणों के आकर तथ प्रजा में प्रेमाकर के समान प्रिय थे। सौन्दरनन्द में, जिन ऋषि, महर्षि एवं राजर्षियों का चित्रण हुआ है, वे सभी न केवल राजशास्त्र प्रत्युत समस्त शास्त्रों के महनीय साधक थे। महाराज शुद्धोदन के राज्य-शासन में प्रजा 'देवैरभिप्रार्थ्यमनल्पभोगम्' द्वारा सन्तुष्ट एवं सर्वसुख सम्पन्न थी।[2] तत्कालीन परस्पर विरोधी राजाओं को सद्धर्म शिक्षण के छाप परिलक्षित होती है जिसके वह अधिकारिक विद्वान थे। महाकवि की दार्शनिक दृष्टि का उन्नत स्वरूप बुद्धचरित में देखने को मिलता है, जहाँ बुद्ध के द्वारा उपदिष्ट सिद्धान्तों की चर्चा सविस्तार हुई है। प्रथमतः कवि ने सांख्य-दर्शन का चित्रण पूर्वपक्ष के रूप में किया है, जिसके साथ भगवान सुगत की प्रवृत्ति का मेल नहीं दीखता है। जब बुद्ध महामुनि 'अराड' के समक्ष शान्ति एवं परमार्थ-सम्बद्ध प्रश्न प्रस्तुत करते हैं, उनका उत्तर निम्नोद्धृत पंक्तियों में देखिये-

तत्र तु प्रकृतिं नाम विद्धि प्रकृतिकोविद।
पञ्चभूतान्यहंकारं बुद्धिमव्यक्तमेव च।। बुद्ध च० १२/१८

हे प्रकृति कोविद! पञ्च-महाभूत, अहंकार तथा अव्यक्त को प्रकृति-स्वरूप समझिये। इसके अतिरिक्त महर्षि आराड आगे कहते हैं कि आप (सुगत) क्षेत्रज्ञ हैं, अतः संज्ञावान् (चेतनवान्) आप इस क्षेत्र के स्वरूप को पूर्णरूप से जानते हैं। आत्म-चिन्तक वर्ग आत्मा को क्षेत्रज्ञ कहता है।

परन्तु महाकवि प्रकृत विचार से असहमत हैं। प्रकृति (क्षेत्र) के ज्ञाता आत्मा को अशरीर क्षेत्रज्ञ कहा जाना उन्हें मान्य नहीं है। उन्होंने यह शंका उपस्थत करते हुए प्रश्न किया है कि शरीर-रहित क्षेत्रज्ञ 'ज्ञ' है अथवा 'अज्ञ'? यदि उसे 'ज्ञ' मान लिया जाय, तो 'ज्ञेय' शेष रह जाता है एवं 'ज्ञेय' के शेष रह जाने पर वह मुक्त कहाँ? यदि उसे 'अज्ञ' मान लिया जाय, तो फिर आत्म-कल्पना की आवश्यकता ही कहाँ रह जाती? कारण यह

१.
२.

कि आत्मा की अनुपस्थिति में भी अज्ञान का (अस्तित्व) काष्ठ अथवा दीवार की भाँति सिद्ध होता है।'

बौद्ध-दर्शन को मान्य 'दुःखवाद' का सिद्धान्त एक महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य है, जिसके अनुसार समग्र संसार दुःख से परिपूर्ण है। जन्म, जीवन तथा मरण प्रायः सभी दुःख से अभिभूत हैं। बौद्ध दार्शनिकों की यह मान्यता दर्शन-जगत् में अतीव प्रसिद्ध है, जिसे अश्वघोष ने सौन्दरनन्द में सम्यक् प्रदर्शित किया है और अपनी सहज एवं सरल शैली में लौकिक दृष्टान्तों के माध्यम से स्पष्ट किया है-

आकाशयोनिः पवनो यथा हि, यथ शमीगर्भशयो हुताशः।
आपो यथान्तर्वसुधाशयाश्च दुःखं तथा चित्तशरीरयोनिः।।
अपां द्रवत्वं कठिनत्वमुर्व्या वायोश्चलत्वं ध्रुवमौष्ण्यमग्नेः।
यथा स्वभावो हि तथा स्वभावो दुःखं शरीरस्य च चेतसश्च।।

– सौ. ६/११-१२

वायु जिस प्रकार सदैव आकाश में निवास करता है, अग्नि सदा शमी-गर्भ में विद्यमान रहती है और जल यहीं के अन्तः पटल में निरन्तर विहित है, वैसे ही दुःख चित्त तथा शरीर में सतत व्याप्त रहता है। पवन आदि का आकाशादि के साथ जो सम्बन्ध है, वही सम्बन्ध दुःख का शरीर तथा चित्त के साथ है। जब तक चित्त एवं शरीर का सद्भाव है, तब तक मर्त्य को दुःख से मुक्ति कहाँ? अतएव हमें दुःख को चित्त तथा शरीर के सहज धर्म के रूप में स्वीकार करना पड़ेगा, क्योंकि दुःख का जीवन से इतना निकट सम्बन्ध है, जिसे पृथक् करके नहीं देखा जा सकता। जल का धर्म जैसे द्रवत्व, भूमि का कठिनत्व, पवन का चंचलत्व एवं अग्नि का धर्म उष्णत्व है, उसी प्रकार इस जगत् में चित्त तथा शरीर का सहज धर्म दुःखत्व है। इस तरह बौद्ध दर्शन द्वारा यह प्रमाणित कर दिया गया है कि दुःख शरीर का स्वभाव है और एक की सत्ता अन्य पर निर्भर है। इन दोनों को एक दूसरे से अलग करना असम्भव सा है। अतः शरीर का जब तक स्वभाव है, रुग्णता, जरा, तृष्णा, क्षुधा, ऊष्मा-शैत्य वर्षादिजनित दुःख अवश्यम्भावी है। उसी प्रकार रूपाश्रित एवं अनुबन्धयुक्त चित्त में अरति, क्रोध, भय, शोक, ईर्ष्यादि जनित दुःख होते ही हैं और होते ही रहेंगे। महाकवि ने अपने इस वक्तव्य को स्पष्ट करते हुए सौन्दरनन्द के इन शब्दों में अभिव्यक्त किया है-

काये सति व्याधिजरादिदुःखं क्षुत्तर्षवर्षोष्णहिमादि चैव।
रूपाश्रिते चेतसि सानुबन्धे शोकारतिक्रोधभयादि दुःखम्।। सौ० १६/१३

---

१. बुद्धचरित, १२/८०-८१।

यह कथन यथार्थ भी है अर्थात् दुःख का साम्राज्य सर्वव्यापी है और रहेगा भी, जब तक जीवन है। इसलिये 'शरीरं व्याधिमन्दिरम्' सदृश वचन कहे गये हैं, जो प्रायः सर्वविदित है। यह ध्यातव्य है कि सभी दुःखों के मूल में अनिद्याजनित तृष्णा (लोभ) विद्यमान है, जिसकी निन्दा अश्वघोष द्वारा की गई है।[1]

निर्वाण (मोक्ष), दर्शन-जगत् का बहु-चर्चित विषय है। सम्भवतः विरला ही कोई ऐसा दार्शनिक होगा, जिसने इस विषय पर अपनी लेखनी न चलायी हो। इस विषय की सम्यक् समीक्षा स्वाभाविक भी है, क्योंकि जीवन का अन्तिम लक्ष्य तो यही है। बौद्ध दार्शनिकों ने इसे 'निर्वाण' शब्द से अभिहित किया है, जिसका अभिप्राय उनके अनुसार शान्त हुआ (बुझा हुआ) हैं अश्वघोष द्वारा इसकी सरल एवं सदृष्टान्त व्याख्या अधोलिखित पंक्तियों में की गयी है-

दीपो यथा निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरिक्षम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं न काञ्चित्स्नेहक्षयात्केवलमेति शान्तिम्।।
एवं कृती निर्वृतिमभ्युपेतो नैवावनिं गच्छति नान्तरक्षिम्।
दिशं न काञ्चिद्विदिशं च काचित्क्लेशक्षयात्केवलमेति शान्तिम्।।

- सौ. १६/२८-२९

शान्ति को प्राप्त (बुझा हुआ) दीपक जिस प्रकार न पृथ्वी पर रहता है, न अन्तरिक्ष में जाता है अथवा न तो किसी दिशा और न तो किसी विदिशा में जाता है प्रत्युत स्नेह (तैल) की समाप्ति के अनन्तर वह शान्तिमात्र को प्राप्त करता है। इसी प्रकार की दशा आत्मा की भी है अर्थात् निर्वृत्त हुआ आत्मा निर्वाण की अवस्था में न तो इस धरा पर स्थित रहता है, न तो आकाश में गमन करता है; न तो वह किसी दिशा अथवा विदिशा में ही जाता है, बल्कि क्लेशों (दोषों) के नष्ट हो जाने पर केवल शान्ति (निर्वाण) को प्राप्त हो जाता है, जो नैयायिकों की मुक्तावस्था (शिलात्व-मुक्ति) से भिन्न है। इस लौकिक (दीपक के) दृष्टान्त को प्रस्तुत कर महाकवि ने बड़ी ही कुशलता से अलौकिक निर्वाण (मोक्ष) की दशा का सुन्दर चित्रण कर दिया है।

क्षणिकवाद (क्षणभङ्गुरवाद), बौद्ध दार्शनिक जगत् का मान्य सिद्धान्त है, जिसका अभिप्राय है- 'यत्सत् तत् क्षणिकम्;' 'प्रतिक्षणम् परिणामिनः सर्वे भावाः', आदि अर्थात् जो सत् है वह क्षणिक है; संसार के सभी भाव प्रतिक्षण (निरन्तर) परिणामी (पर्यवसानोन्मुख) हैं। पर अनात्मवादी हैं बौद्ध विचारक। वे आत्मा को चेतना का एक प्रवाहमात्र मानते हैं। उन्होंने सांसारिक समस्त पदार्थों को क्षणिकता से आबद्ध स्वीकार किया है, उसी भाँति आत्मा भी क्षणिक है, ऐसी उनकी मान्यता है। अपने इस सिद्धान्त के समर्थन हेतु उन्होंने

१. बुद्धचरित सर्ग ७, ६, ९ तथा सौन्दरनन्द, सर्ग ८।

'नदी-प्रवाह-न्याय' एवं 'दीप-मालिका न्याय' को दृष्टान्त के रूप में प्रस्तुत किया है। स्रोतस्विनी का जल-प्रवाह, जो एक जल-प्रवाह-पुञ्ज के रूप में दृष्टिगत होता है, वह प्रवाह की तति मात्र है। सतत प्रवाहित होने के कारण, इसे हम एक जल-प्रवाह मान लेते हैं। किन्तु वस्तु-स्थिति ऐसा नहीं है, क्योंकि प्रवाह-तति, जो एक बार प्रवाहित हो गयी, पुनः वापस नहीं आती है।[1] इसी प्रकार दीप-ज्योति, जो एक प्रकाश-पुञ्ज सदृश परिलक्षित होती है, वह प्रतिपल परिवर्तित होती रहती है। उसे एक ज्योतिमात्र नहीं मान लेना चाहिये। अतः वह अनेक ज्योतियों का संघात है। उसमें जो ऐक्य (एक ज्योति) की भ्रान्ति होती है, उसमें प्रमुख कारण उसका निरन्तर तत्सदृश बने रहना है। यही स्थिति जीवन की भी है, जो चैतन्य की प्रवाहमयता के अतिरिक्त अन्य कुछ भी नहीं है। उसका निरन्तर परिवर्तनशीलता ही दुःख है। दीपक को जलन-क्षणों में, निज जलन की अनुभूति होती रहती है। उसका शान्ति तभी प्राप्त हो सकती है, जब जलन से उसे मुक्ति मिल जाय। मनुष्य को भी शान्ति-लाभ तभी हो सकेगा, जब कि चैतन्य-प्रवाह की प्रवहणशीलता का पर्यवसान हो जाय तथा आत्मा की क्षणिकता का अन्त हो जाय। इस वक्तव्य को अन्य प्रकार से भी व्यकत कर सकते हैं- मानव को परम शान्ति तभी मिल सकती है, जब उसे जन्म एवं मृत्यु के संचाल्यमान चक्र से छुटकारा मिल जाय अथवा 'पुनरपि जननं पुनरपि मरणं' सदा के लिये अवकाशप्राप्त हो जाय। ऐसी अवस्था में आत्मा का कीं अन्यत्र शमन नहीं होता, न तो उसे अन्य रूप धारण करना होता है और न तो उसे प्रस्तरीय क्लेशाभाव की दशा ही प्राप्त होती है; वस्तुतः वह स्वतः शान्त हो जाता है। परन्तु बौद्ध दार्शनज्ञों की दृष्टि में उक्त शान्ति भी अभावात्मक (Negative) न होकर भावात्मक (Positive) है। इसी मान्यता के आधार पर आचार्य नागार्जुन ने निज मान्य सिद्धान्त 'शून्यवाद' (माध्यमिक) की स्थापना की है, जिसके अनुसार 'शून्य' कभी भी निषेधात्मक नहीं है। उन्होंने इसका तात्पर्य परमार्थ (तथता) से लिया है, जो 'चतुष्कोटिविनिर्मुक्त सत्य' के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। वस्तुतः शून्य अनिर्वचनीय है। यही 'परमतत्त्व' है। इसे ही निर्वाणपद भी कहा जाता है। साधक यहाँ पहुँच कर परमपद की प्राप्ति करते हैं। इसके परे अन्य कोई गन्तव्य पद नहीं है। वैदिक धर्मानुमोदित मोक्ष के दो भेद परिगणित हैं। प्रथम है 'सदेह' मुक्ति जो इस जीवन काल में ही प्राप्त हो जाती है और द्वितीय है 'विदेह' मुक्ति जो इस जीवन के अनन्तर आप्तव्य है। बौद्ध दार्शनिकों ने ऐसा कोई लौकिक विभाजन 'निर्वाण' के सन्दर्भ में नहीं किया है; तथापि हम बोधिसत्त्व को प्रथम श्रेणी के अन्तर्गत तथा द्वितीय को अर्हत्त्व की श्रेणी में रख सकते हैं। बोधिसत्त्वाप्त व्यक्ति पदार्थ जीवन धारण करता है और सर्वजन कल्याण में सदा लीन रहता है, जब कि अर्हत्त्वा को प्राप्त कर व्यक्ति संसार से परे हो जाता है। उसे इहलोक से कोई लेन-देन का सम्बन्ध नहीं होता है।

१.

आर्य सत्य-

भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट-विचारधारा के अन्तर्गत आर्य सत्य, प्रतीत्य-समुत्पाद, शील, समाधि, प्रज्ञा (शून्यता ज्ञान) आदि विशेष महत्त्वपूर्ण प्रतिपाद्य हैं, जो जागतिक क्लेशों के दूरीकरण और निर्वाण-पद की अवाप्ति में साधक हैं। अश्वघोष की रचनाओं में इनका भी उल्लेख पदे-पदे हुआ है।[1]

आर्य सत्यों की संख्या चार है जो इस प्रकार है, (क) सर्वं दुःखम्। संसार दुःखमय है,[2] (ख) दुःखसमुदयः (दुःख का कारण है), (ग) दुःखनिरोधः (दुःख का निरोध सम्भव है) एवं (घ) दुःखनिरोध-गामिनी प्रतिपदा (दुःख नाश के उपाय भी हैं)। इन चार आर्य सत्यों से लोक को पूर्ण अवगत कराने हेतु ही बुद्ध ने तत्त्वज्ञान हो जाने पर भी शरीर को धारण किया। उन्होंने स्वयं दुःखों से व्याकुल होकर, उनके विनाशार्थ उन्हें अन्वेषित किया, क्योंकि जगतः जञ्जाल में फँसे हुये दुःखित लोक को यह समझाना आवश्यक था कि उसका (दुःख का) कारण क्या है और उनसे छुटकारा पाने के उपाय क्या हैं? इसी प्रसङ्ग में आर्यसत्यों की भूमिका अहम् है।

प्रतीत्य समुत्पाद-

यह बौद्ध-दार्शनिक जगत् का विशिष्ट सिद्धान्त है, जिसका उपदेश भगवान् तथागत ने लोक-मंगल हेतु 'मार-'विजय'[3] के अनन्तर दिया था। यह कारण-कार्यभाव पर आधृत हैं अतः बिना किसी कारण के संसार में कोई कार्य नहीं होता है। आर्य सत्यों के विवेचन से यह स्पष्ट है कि जिन दुःखों से संसार दुःखी है, उनके कारण हैं और उनसे मुक्ति के उपाय भी हैं जिनसे उनका नाश होगा और तदनन्तर तत्त्वज्ञानपूर्वक मुक्ति-प्राप्त होगी। प्रतीत्यसमुत्पाद का अभिप्राय है- {प्रति + (गत्यर्थक) इ + ल्यप् = प्रतीत्य : समुत्पाद (सम् + उत् + पद् + घञ उत्पाद = उत्पत्ति, आविर्भाव) - पदार्थ विशेषज्ञ के प्रति-पश्चात्, अन्य पदार्थ की उत्पत्ति।} प्रायः एक पदार्थ की अवाप्ति के अनन्तर ही अन्य पदार्थ का आविर्भाव अर्थात् एक करण के आधार पर, एक कार्य उत्पन्न होता है। इसके द्वारा यह नियम अभिव्यक्त है कि अमुक वस्तु (पदार्थ) के होने पर अमुक वस्तु हुआ करती है।' यही है कार्य-कारण परम्परा, 'प्रत्ययाकार-निदान' हेतु-फल-परम्परा अथवा 'सापेक्ष कारणतावाद का सिद्धान्त'। इस जगत् का ऐसा कोई वृत्तान्त (कार्य) नहीं, जिसका कोई

---

१. बुद्ध चरित, सर्ग २५; सौ० सर्ग १३, १६।
२. को नु हासो किमानन्दो निच्चं पज्जलिते सति। धम्मपद, १४६; तथा दुःखमेव सर्वं विवेकिनः। - गो० सूत्र०, २/१५
३. बु० च० सर्ग १४।

कारण (हेतु) न हो। इसी कार्य-कारण की परम्परा के अन्तर्गत समस्त संसार आबद्ध है। वस्तुतः यह अविद्या का ही एक स्वरूप है, जो पुनः कारण हो कर एक अन्य कार्य उत्पन्न करता है। इस प्रकार 'हेतु-प्रत्यय-वशात्' समस्त धर्मों (कार्यों) का प्रादुर्भाव होता है, जिसके द्वारा द्वादशाङ्ग (द्वादश निदान) इस प्रकार हैं- (१) अविद्या से संस्कार, (२) संस्कार से विज्ञान, (३) विज्ञान से नामरूप, (४) नामरूप से षडायतन, (५) षडायतन से स्पर्श), (६) स्पर्श से वेदना, (७) वेदना से तृष्णा, (८) तृष्णा से उपादान, (९) उपादान से भव, (१०) भव से जाति, (११) जाति से जरा, (१२) जरा से मृत्यु का प्रादुर्भाव होता है, जो क्रमशः पूर्वजन्मगत मोहादिजन्य जीवन की क्लेशावस्था, पूर्वजन्म कर्मावस्था[२], वर्तमान जीवन से सम्बद्ध जीव की गर्भगत चेतनावस्था, गर्भगत भ्रूण की मानसिक एवं शारीरिक दशा[३], इन्द्रियों के उद्भव काल से प्रारम्भ कर विषय तथा विज्ञान के संक्रमण काल पर्यन्त की अवस्था, इन्द्रिय प्रयोग द्वारा बाह्य जगत् के अवगमन का प्रयास, अन्तर्जगत के सुख, दुःखादि ज्ञान का उद्योग-वेदना के सद्भाव होने पर भी वासनादि रागप्ति का अध्यवसाय[४], प्रबलासक्ति-तृष्णाधिक्य, पुनर्भवजनक कर्मानुष्ठान[५], मृत्युपरान्त जन्म एवं प्रतिसंधिकालगत पञ्चस्कन्ध, प्रादुर्भूत पञ्चस्कन्ध परिपाक एवं उनका प्रणाश आदि से सम्बन्धित है।

प्रतीत्य समुत्पाद के द्वादशाङ्गों के उक्त विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि ये सभी बुद्ध के चार आर्यसत्य[६] से ही अभिव्यक्त होते हैं। इनमें से कतिपय भूतपूर्व कारण हैं तथा वर्तमान काल में कार्यरूप में अवस्थित हैं, जब कि कुछ अन्य वर्तमान समय से कारण रूप में विद्यमान हैं तथा कुछ ऐसे हैं, जो भविष्य में कार्य होने के लिये उद्यत हैं। इन द्वादशाङ्गों में से प्रथम एवं द्वितीय (अविद्या तथा संस्कार), द्वितीय आर्य सत्य से सम्बन्धित है, तथा पूर्वजन्म से सम्बन्ध रखने वाले वर्तमानजन्म के कारण हैं एवं ये दुःखसमुदयस्वरूप हैं। जाति एवं जरा-मरण, ये वर्तमान जीवन में रहकर, भविष्य जीवन के कारण हैं और बीच वाले, वर्तमान जीवन में कारण तथा कार्य दोनों रूपों में विद्यमान हैं। कार्य एवं कारणों को, इन्ही परम्परा के अन्तर्गत 'संसार चक्र' अथवा 'भवचक्र' से संचाल्यमान बना रहता है। दुःखों का नाश तब तक नहीं होता, जब तक जीव की मुक्ति इस भव-चक्र से नहीं हो जाती। अतः दुःख का निरोध अतीव आवश्यक है। बुद्ध की

---

१. अस्मिन् सति इदं भवति, अस्योत्पादादिमुत्पद्यते इत इदं प्रतित्पद्यार्थः प्रतीत्यसमुत्पादः।
-माध्यमिक कारिका वृत्ति-१, पृ० ६; बु० च०, सर्ग १४; सौ., सर्ग १६।
२. द्रष्टव्य, माध्यमिककारिका वृत्ति, पृ० ५६३, शाङ्करभाष्य (टीका-गोविन्दानन्द) २/२/१९
३. ब्रह्मसूत्र (भामती) २/२/१९
४. वही
५. माध्यमिका० वृ०, पृ० ५६५ तथा अभिधर्मकोश, ३/३४
६. सौ० सर्ग १६

शिक्षाओं के अनुसार इस जगत् में दुःख ही नहीं, प्रत्यत् कुछ भी नित्य नहीं है। अतएव दुःख-विनाश के लिये उपाय है, जिसके द्वारा दुःख-नाश के उपरान्त जीव वाञ्छित परम पद की प्राप्ति कर सकता है और सदा के लिये उसे मुक्ति मिल जाती है।[1] इस विषय की चर्चा महापरिनिर्वाण सुत्त में भी हुई है।[2]

इस प्रतीत्यसमुत्पाद के सिद्धान्त को सम्बोधि में अधिगत-धर्म तथा धर्म-दर्शन सदृश विशिष्ट कहा गया है। प्रायः सभी सम्प्रदाय इसे सद्धर्म का आधार मानते हुये, इसकी तथ्यता को स्वीकार करते हैं। यह सिद्धान्त सभी दुःखों की मूल अविद्या के स्वरूप का प्रकाशन, तदुपरान्त परमार्थ का उन्नयन करता है।[3]

यहाँ यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि किसी भी धर्म-सम्प्रदाय में साधक के लिये साधना के बिना साध्य की सिद्धि सम्भव नहीं है। बौद्ध-धर्मी का साध्य 'निर्वाण पद' (मोक्ष) कठोर साधना, तपश्चर्या के अनन्तर ही सम्भाव्य है। इसीलिये भगवान् बुद्ध ने शील सदाचरण पर विशेष बल दिया है, जो जीव को परम लक्ष्य तक पहुँचाने का प्रशस्त पथ है। उन्हें इस बात का पूर्ण विश्वास था कि कायिक, वाचिक तथा मानसिक साधना के अभाव में दुःखों से छुटकारा नहीं हो सकता है। अतएव लक्ष्य-प्राप्ति हेतु प्रत्येक साधक के लिये सम्यक् दृष्टि (आर्य सत्यों का ज्ञान); सम्यक् संकल्प (राग, द्वेषादि जागतिक विषयों के परित्याग-निमित्त दृढ़ संकल्प); सम्यक् वाक् (मिथ्या, अनुचित वाणी का परित्याग); सम्यक् कर्मान्त (हिंसा, वासनाजनित इच्छा का सद्कर्म हेतु निराकरण); सम्यक् आजीव (न्योचित वृत्ति, जीविका); सम्यक् व्यायाम (बुरे कर्मों से विरति तथा सत्कर्म हेतु सावधान एवं सजग अवस्था); सम्यक् स्मृति (लोभादि अपनयन द्वारा चित्त शुद्धि); सम्यक् समाधि (चित्त की एकाग्रता), इन अष्ट सदाचरणों का पुण्य भावपूर्वक परिपालन सभी के लिये आवश्यक है। इससे अन्तःकरण की शुद्धि तथा ज्ञान का उदय और निर्वाण पद प्राप्त होता है। बुद्ध-चरित-नायक भगवान बुद्ध एवं सौन्दरनन्द के नायक नन्द उपर्युक्त सदाचरणों के ज्वलन्त दृष्टान्त हैं, जिन्हें कठोर साधना के द्वारा जीवन का परम-लक्ष्य प्राप्त हुआ। अश्वघोष द्वारा इन साधनाओं का उल्लेख दोनों ही महाकाव्यों में यत्र-तत्र किया गया है।[4]

अश्वघोष को एक समन्वयवादी आचार्य (पूर्व पृष्ठों में) कहा गया है क्योंकि उन्होंने विविध विचार-धाराओं में समन्वय का भाव स्थापित करने का प्रयास किया है। धार्मिक एवं दार्शनिक सम्प्रदायों की शायद ही कोई ऐसी बात हो जो इनकी लेखनी से अछूती हो। यह बात अलग है कि उनकी विशेष आस्था बौद्ध-विचारों में अधिक रही है। बौद्ध-धर्म के

१. वही, १२/२३; १४/२७; १५/१५, ५०
२. म० सु०, २/४६ ।
३. बौद्ध संस्कृत काव्य समीक्षा (लेखक की), पृ०
४. बु० च०, सर्ग १४; सौ. सर्ग १०, १८ ।

प्रमुख सम्प्रदाय-हीनयान एवं महायान दोनों का ही विशेष उद्देश्य बुद्ध के उपदेशों, उनकी शिक्षाओं, उनकी आध्यात्मिक विचारधाराओं को जन-जन तक पहुँचाता रहा है। बुद्धत्त्व की प्राप्ति के पथ में साधक की साधना के क्रम में विविध भूमियों (तपश्चरण के सोपानों) को पार करना पड़ता है, जिनका उल्लेख हीनयान तथा महायानी, दोनों सम्प्रदायों ने किया है। हीनयान सम्मत चार भूमियाँ- स्रोतापन्न, सकृतागामी, अनागामी एवं अर्हत्त्व परिगणित है। किन्तु महायान में दस भूमियाँ उल्लिखित हैं- (१) मुदिता- करुणा एवं कल्याणभाव का अभ्युदय इसका वैशिष्ट्य है। (२) विमला- इसकी विशेषता कायिक, वाचिक, मानसिक शुद्धि एवं शील पारमिता का अभ्यास है। (३) प्रभाकरी- स्वभाव का निर्मलीकरण एवं धर्मपारमिता की इसमें विशेष भूमिका होती है। (४) अर्चिष्मती-यह अष्टांगिक मार्ग एवं वीर्यपारमिता से विशेषरूप से सम्बद्ध है। (५) दुर्जया-इसमें समत्वभाव का उदय तथा ध्यान पारमिता का अभ्यास होता है। (६) अभिमुक्ति-इसके अन्तर्गत साधक में असाधारण दया-दृष्टि उदित होती है और वह 'प्रज्ञापारमिता' में विशेष अभ्यस्त होता है। (७) दुरंगमा-यह भूमि बोधसत्त्व एवं सर्वज्ञत्व का मार्ग प्रशस्त करती है। (८) अचरणा- इसमें साधक सबसे परे होकर, समग्र संसार को तुच्छ समझता है। (९) साधमती- यह सर्वकल्याण एवं सर्वोपदेश की भूमि है। (१०) यह साधना पथ की अन्तिम भूमि है, जिसमें साधक समाधिष्ठभाव तथा बुद्धत्व को प्राप्त कर भव-चक्र से परे हो जाता है। इस प्रकार की साधना की भूमियों का उल्लेख अश्वघोष द्वारा भी किया गया है।[1]

भगवान् बुद्ध द्वारा उपदिष्ट आर्यसत्य प्रतीत्यसमुत्पाद, आर्य अष्टाङ्गिक-मार्ग आदि विचार, कुछ परिवर्तित रूप में, आस्तिक दर्शन, जैनदर्शन (श्रमण परम्परा), ईसाई धर्म आदि में भी यत्र-तत्र दृष्टिगत होते हैं। पातञ्जल योगसूत्र में निर्दिष्ट-यम, नियम, आसन, प्राणायाम, प्रत्याहार, धारणा, ध्यान एवं समाधि की तुलना बौद्ध अष्टाङ्गिक मार्ग के साथ की जा सकती है। जैन सम्प्रदाय में उत्कृष्ट-धर्म के प्रसङ्ग में निर्दिष्ट क्षमा, मृदुता, सारल्य, शौच, सत्य, संयम, तप, त्याग, औदासीन्य, ब्रह्मचर्य, ये सभी वैशिष्ट्य सुगत-निर्दिष्ट अष्टाङ्गिक मार्ग से भिन्न नहीं कहे जा सकते हैं। इसी के समान ईसाई धर्म में उपदिष्ट दश आज्ञायें (टेन कमाण्डस्) भी मानी जा सकती हैं। बुद्ध की देशनाओं का उद्देश्य था, कायिक, वाचिक, मानसिक साधना द्वारा साधक, अष्टाङ्गिक मार्गों को सीधे और 'निर्वाण' प्राप्त करे। प्रज्ञा, शील, समाधि के ही ये समन्वित स्वरूप है। उपरिवर्णित चार आर्यसत्यों की ही भाँति न्यायशास्त्र (न्यायदर्शन) में अध्यात्म-विद्या के चार (ज्ञान, अवगम, शिक्षा, विज्ञान) तत्त्वों, चिकित्सा विज्ञान के चतुर्व्यूह (रोग, रोगहेतु, आरोग्य, भैषज्य) और सांख्य-शास्त्र के चार (जगत्, जगत-हेतु, मोक्ष एवं मोक्षोपाय) तत्त्वों का उल्लेख मिलता है।[2]

१.

२. बौ० सं० का० समीक्षा, पृ० ५८-६०।

(ङ) हितोपदेश-

साहित्यकार सदा ही सद् उपदेश देकर अध्येता वर्ग को मंगलोन्मुख करता है। साहित्य का अभिप्राय है, 'जो हित सहित हो'। 'शिवेतरक्षतये' उसका विशेष प्रयोजन है, अर्थात् 'शिव' से इतर (अमंगल) का अपनयनकर कल्याण-सम्पादन साहित्यकार का अभीप्सित है। स्तुतिकाव्य इसके ज्वलन्त साक्ष्य है, जिनमें वर्णित विविध देव-देवियों की स्तुतियों के द्वारा भक्तगण अमंगल का निवारण तथा मंगल का समपादन करते हैं। यही नहीं, प्रत्युत् अनेक ऐसे काव्य के दृष्टान्त परिलक्षित होते हैं, जिन्हें समरभूमि में कविगण अपने संरक्षण की मंगल-कामना हेतु प्रस्तुत करते हैं और सैनिकों को प्रोत्साहित करते हैं। इसके अतिरिक्त साहित्यकारों ने अपनी कृतियों में सुभाषित एवं सूक्तियों का व्यवहार किया है, जिनसे अध्येता समाज का मार्ग-दर्शन होता है तथा उन्हें पथ्य कर उपदेश प्राप्त होता है।

महाकवि अश्वघोष में भी एक सदुपदेशक काव्यकार का वैशिष्ट्य विद्यमान था। उनकी विभिन्न कृतियाँ इस प्रसङ्ग में सबल प्रमाण हैं। वज्रसूची में उद्धृत विविध उद्धरण अश्वघोष के अभिप्रेत को स्पष्ट करने में सक्षम हैं। आज वर्ण, जाति, प्रान्त, मण्डल आदि के आधार पर समाज में जो विवाद व्याप्त है, उसके सन्दर्भ में महाकवि ने यह स्पष्ट रूप से कहा है कि जब सभी वर्ण ब्रह्मा[1] की ही संतानें हैं, तो भेद क्यों माने जाये? क्या किसी के लिये यह वक्तव्य उचित होता कि मुख से प्रादुर्भूत ब्राह्मण वर्ण, पद से उत्पन्न शूद्र वर्ण से उच्च है और शूद्र निम्न श्रेणी का व्यक्ति है? कदापि नहीं। यदि बात ऐसी होती तो क्या महाभारत का यह वचन व्यर्थ है-

कामक्रोधभयं लोभः शोकश्चिन्ता क्षुधा श्रमः।
सर्वेषां नः प्रभवति कस्माद्वर्णो विभिद्यते।।
स्वेदमूत्रपुरीषाणि श्लेष्मा पित्तं सुशोणितम्।
तनुः क्षरति सर्वेषां कस्माद्वर्णो विभज्यते।। शा० प० १८८/७-८

इसी प्रकार यदि ब्रह्मा को निज सृष्टि में भेद-बुद्धि मान्य होती, तो सभी के लिये उष्मा, पवन, जल आदि समान रूप से क्यों प्रदान करते? अतएव समत्व का यह भाव महाकवि को मान्य और इसीलिये उन्होंने उक्त उद्धरणों के माध्यम से यह स्पष्ट करने का प्रयत्न किया है कि विविध वादों (जातिवाद, वर्णवाद, प्रान्तवाद, भाई-भतीजावाद आदि) के विवाद से दूर रहना चाहिये। यदि इस प्रकार के सद्भाव सभी में प्रविष्ट कर जायें, तो

---

१. मुखतो ब्राह्मणो जातो बाहुभ्याम् क्षत्रियस्तथा।
उरुभ्यां वैश्यं सञ्जातः पद्भ्यां शूद्रक एव च।। ब्र० सू, पृ० २८

समस्त विवाद स्वयं शान्त हो जायेंगे। किन्तु दुर्भाग्य की बात है तो कि भारत ही क्या, विश्व के लिये है और वह है आतंकवाद का प्राबल्य।

अश्वघोष विरक्त भाव के व्यक्तित्व थे। उनमें अभ्युदय में बाधक तत्त्वों के प्रति सद्भाव नहीं था। कञ्चन एवं कामिनी कल्याण मार्ग के सुविदित बाधक तत्त्व हैं। इनके कुप्रभाव के कुपरिणामों से समस्त मानवता सुपरिचित हैं। वाल्मीकि रामायण तथा महाभारत इसके सबल साक्ष्य हैं। अतएव अश्वघोष ने उक्त बाधकों के प्रति अनासक्त रहने के लिये उनकी भर्त्सना की है। सौन्दरनन्द का यह वक्तव्य उद्धरणीय है-

यथोल्का हस्तस्था दहति पवनप्रेरितशिखा,
यथा पादाक्रान्तो दशति भुजगः क्रोधरभसः।
यथा हन्ति व्याघ्रः शिशुरपि गृहीता गृहगतः,
तथा स्त्रीसंसर्गो बहुविधमनर्थाय भवति।। ८/६

इसका अभिप्राय यह है कि जिस प्रकार हाथ में रखा हुआ मशाल वायु से प्रज्ज्वलित होकर हाथ (धारण करने वाले के) को ही जलाता है, पादाघात से आघातित सर्प क्रुद्ध होकर व्यक्ति को डँसता (काटता) है, और गृह में पोषित व्याघ्र-शिशु पालक का ही वध कर डालता है, उसी प्रकार सुन्दरियों का संसर्ग अन्यान्य अनर्थों का मूल है, जिससे दूर रहना ही श्रेयष्कर है।

इसी प्रकार शान्त के बाधक ईर्ष्या, द्वेष, मद, लोभ, काम, क्रोधादि शत्रुओं से अलग रहने का हितोपदेश महाकवि ने अपनी रचनाओं में (विविध प्रसङ्गों में) दिया है। अपने प्रभुत्व, सांसारिक ऐश्वर्य, शारीरिक सौन्दर्य आदि के कारण प्रायः मनुष्य अहंकार के चंगुल में फँसकर अन्य किसी का ध्यान नहीं रखते, उन्हें हेय समझने लगते हैं और इस यथार्थ को भूल जाते हैं कि उक्त सभी विनाशशील हैं, नश्वर हैं। मिट्टी निर्मित घट भी, यदि सावधानी से रखा जाय, तो वह बहुत दिनों तक सुरक्षित रह सकता है, जब कि शरीरादि सुख किसी भी समय प्रवञ्चित कर सकते हैं तथा मनुष्य को कभी भी धोखा दे सकते हैं। इसके अनेक दृष्टान्त सौन्दरनन्द में अश्वघोष ने प्रस्तुत किये हैं।[1]

सदाचरण, आत्यन्तिक मानसिक शुद्धि, परिमित भोजन, अल्प निद्रा, इन्द्रिय-संयमन, योगाभ्यास आदि के ऊपर महाकवि ने विशेष बल दिया है, जो मानव को सुख, सौख्य, आरोग्यादि प्रदान करते हैं।[2] निरन्तर अभ्यास एवं सतत उद्योग तो मानवाभ्युदय के मूल-मन्त्र हैं, जिसके प्रति जागरूक रहने का कवि ने आदेश दिया है।[3] यद्यपि उक्त सत्

---

१. सौ० १/११
२. वही, १६/६४-६५
३. वही, १६/६६

शिक्षाओं के उल्लेख उनके दोनों महाकाव्यों में उपलब्ध होते हैं, तथापि सौन्दरनन्द में महाकवि का स्वर अधिक उच्च दृष्टिगत होता है। किन्तु उक्त प्रसङ्गों की दृष्टि से बुद्धचरित भी पीछे नहीं है।[1]

(च) व्याकरणविद् -

वेदाङ्गों में व्याकरण एवं शिक्षा का प्रमुख स्थान है। संस्कृत ऐसी भाषा है कि जिसमें व्याकरण तथा उक्ति सम्बन्धिनी त्रुटियाँ कथमपि स्वीकार्य नहीं है। अश्वघोष का व्याकरण-ज्ञान भी प्रशंसनीय था, यद्यपि अधिकांश बौद्ध रचनायें संस्कृत-व्याकरण की कसौटी पर खरी नहीं उतरती हैं, तथापि यह महाकवि अपवाद-स्वरूप हैं, जिनकी रचनाओं में व्याकरण के परिनिष्ठित प्रयोग अनेक स्थलों पर परिलक्षित होते हैं। उन्होंने व्याकरण के अप्रचलित प्रयोगों को भी बड़े ही कौशल के साथ व्यवहृत किया है। दृष्टान्त के रूप में उनके कतिपय प्रयोग प्रसङ्ग प्राप्त होने के कारण उद्धरणीय हैं-

बभूव स हि संवेगः श्रेयसस्तस्य वृद्धये।
धातुरेधिरिवाख्याते पठितोऽक्षरचिन्तकैः।। सौ० १२/८

काम में आकण्ठ निमग्न सुन्दर को विवेकपूर्वक वैराग्य के प्रति आकर्षित करने हेतु नाना प्रकार के उपाय कौशल्य से उसे शिक्षा देते हुये बुद्ध द्वारा स्वर्ग, नरक, सहित संसार की अनिश्चितता के प्रसङ्ग में मोक्ष को ही स्थिर एवं सर्वोपरि बतलाते हुए यह वचन उसके प्रति कथित है, जिसमें अलंकार के माध्यम से व्याकरण सम्बन्धी नियम की समीक्षा कुशलतापूर्वक की गई है। उनमें (नन्द में) उत्पन्न संवेग कल्याण-वृद्धि हेतु हुआ जिस प्रकार शब्द-शास्त्रियों के अनुसार 'एधि' की धातु-रूप में वृद्धि होती है। नन्द की मानसिक चंचलता निरन्तर बनी रही और उसके मानस में किसी भी काल में किसी प्रकार से भी धैर्य स्थापित वैसे ही न हो सका, जिस प्रकार 'अस्ति' (निपात) का व्यवहार भूत, वर्तमान तथा भविष्यत् इन तीनों कालों में विधिसम्मत माना गया है, यद्यपि पाणिनीय व्याकरण में इसका उल्लेख नहीं हुआ है। महाकवि का अधोलिखित उद्धरण भी दर्शनीय है, जिसमें एक ही पद्य में 'लिट्' लकार के द्वादश रूपों का प्रयोग हुआ है-

रुरोद मम्लौ विरुराव जग्नौ बभ्राम तस्थौ विललाप दध्यौ।
चकार शेषं विचकार-माल्यं चकर्त वक्त्रं विचकर्ष वस्त्रम्।। सौ० ६/३४

नन्द से वियुक्त सुन्दरी ने अतीव व्याकुल होकर कभी रुदन किया, कभी वृन्त से पृथक् पुष्प सा कुम्हला गई, चिल्ला पड़ी, यत्र-तत्र भटकने लगी, कभी निश्चेष्ट होकर खड़ी हो गई, कभी विलाप करने लगी, कभी चिन्ताक्रान्त हो गई, क्रोधाभिभूत हो गई,

---

१. बु० च० २/५१, सौ० २/५, ८, तुलनीय श्रीमद्भगवद्गीता, १२/२-३ ।

पुष्पमालिका को छिन्न-भिन्न कर दिया। निज दाँतों से अधरोष्ठ को काट डाला और वस्त्रों को विदीर्ण कर अपनी मानसिक स्थिति को प्रकाशित किया। उधर नन्द की मानसिकता का यथार्थ यह है कि वह उत्तम पद-प्राप्ति हेतु तपोरत होकर भी सुन्दरी के लिये व्याकुल हो जाता है, उसके दर्शनानन्द के लिये साधना से अलग होकर पुनः महल में लौट जाना चाहता है। इस प्रसङ्ग को महाकवि ने एक ही श्लोक में अनेक सन्नत रूपों का व्यवहार कर अपने व्याकरण-अभिज्ञता का परिचय दिया है।[1] इसके अतिरिक्त अश्वघोष द्वारा भूतकाल का बोध कराने हेतु सौन्दरनन्द में 'लङ्', 'लुङ्', एवं 'लिट्' के प्रयोग में कोई भेद नहीं माना गया है तथा उनका क्रमशः ३८, १२३ तथा ४६० बार व्यवहर किया गया है। यत्र-तत्र कारक, क्रिय, विभति एवं समास के प्रयोगों में शब्दशास्त्रियों से अपनी भिन्नता प्रदर्शित की है। सम्भव है पूर्ववर्ती वाल्मीकि, व्यास तथ बौद्ध रचनाओं के प्रभाव का परिणाम हो, अथवा इसमें पाठ-भेद भी हेतु हो। अश्वघोष ने संज्ञाओं के विलक्षण प्रयोग द्वारा भी अपने कुशल वैयाकरण स्वरूप से परिचित कराया है।[2] 'वर्ण', 'प्रकोष्ठ' का प्रयोग उल्लेखनीय है। अलङ्कार लिये छन्दों के प्रयोग-प्रसङ्ग में 'यमक' के विविध रूप, 'उद्गता' सदृश अप्रचलित छन्द वस्तुतः विलक्षण प्रयोग दृष्टिगत होता है।

(छ) कुशल कलाविद् एवं काव्य-समीक्षा-

संस्कृत साहित्य में काव्य से सम्बद्ध द्विविध धारायें प्रख्यात हैं, जिनमें से प्रथम के परियोजक हैं कालिदास तथा द्वितीय के समर्थक हैं कालिदासोत्तर काव्यकार-भारवि, माघ, श्रीहर्ष आदि। कालिदास रसवादी कवि होने के कारण काव्य में रस की प्रधानता स्वीकार करते हैं, जब कि उनके परवर्ती कविगण काव्य के सौन्दर्याधायक तत्त्व अलंकार को अधिक महत्त्व देते हैं और वे अलङ्कारवादी अथवा कलावादी माने जाते है। अश्वघोष इन दोनों काव्य-परम्पराओं से अलग हैं। उन्हें एक धर्मोपदेशक होने के कारण यदि उपदेशवादी कवि कहा जाय तो कोई अनुचित नहीं होगा अथवा उनको समन्वयवादी (पूर्वोक्त) काव्यकार मान लिया जाय तो भी अनौचित्य नहीं।

महाकवि कालिदास काव्य का साध्य रस को स्वीकार करते हैं, जबकि अश्वघोष उस काव्य-रस को साधन मानते हैं। कालिदास की रचनायें, प्रमुखतः स्वान्तः सुखाय रचित हैं जबकि अश्वघोष ने सोद्देश्य काव्य-रचना की है, जिसका लक्ष्य सुगतसम्मत शान्तोपलब्धि है। बौद्ध-धर्म अथवा सुगतोपदिष्ट सिद्धान्त, मानव को निर्वाणोन्मुख करने में समर्थ है, अतएव अश्वघोष ने लोक-हित, काव्य-साधन के माध्यम से मोक्षपरक विचारों को निज

---

१. श्रुत्वा ततः सद् व्रतमुत्सिसृक्षुं भार्यां वहिक्षुं पवनं विविक्षुं।
नन्दं निरानन्दमपेतधैर्यमभ्युज्जिहीर्षुर्मुनिराजुहाव।। वही, १०/१

२. सौ० २/५३; ६/२७, १७/५६

कृतियों में उपन्यस्त किया है। काव्य की सरसता तथा उसके माधुर्य को दृष्टि में रखते हुये अश्वघोष ने काव्य-व्याज से बुद्धोपदेशों को प्रसारित एवं प्रचारित किया है। पथ्यकर औषधियाँ प्रायः कटु एवं तिक्त होती हैं, जिन्हें हृदयङ्गत करने के लिये मधुर-मधु (शहद) के साथ मिश्रण करना पड़ता है, ताकि वे ग्राह्य अथवा पेय बन जाय। इसी प्रकार शुष्क दार्शनिक सिद्धान्तों को सरस काव्य-मधु के साथ सरलतया ग्रहण किया जा सकता है और अश्वघोष ने भी यही किया है। उन्होंने सवयं इस तथ्य को स्पष्ट शब्दों में अभिव्यक्त करते हुये कहा है- 'पातुं तिक्तमिवौषधं मधुयुतं हृद्यं कथं स्यादिति' और उनका यह भी उद्घोष है कि उन्होंने काव्य की रचना 'व्युपशान्तये, न रतये मोक्षार्थगर्भा कृतिः' अर्थात् मोक्षमार्ग से संवलित उनकी रचनायें शान्ति-प्रदान हेतु रचित हैं।[1] उनको यह भलीभाँति ज्ञात हो गया है कि यह जगत् मोक्ष-धर्म से विमुख तथा विषयानन्द में लिप्त है, जिनका उद्धार आवश्यक है। विषयासक्त लोक किस प्रकार मोक्षधर्म का अनुवर्तन कर अपना उद्धार कर सकता है, उसका सुन्दर लक्ष्य बुद्ध के विमातृज 'सुन्दर' ही हैं, जिनकी तुलना मोहग्रस्त अर्जुन से कर सकते हैं जिन्हें श्रीकृष्ण ने निज उपदेशों से मोह-मुक्त किया।[2] तदुपरान्त वह महाभारत में सम्मिलित हुये। यदि अश्वघोष की रचनाओं की तुलना पाश्चात्य काव्यकारों से करना चाहें, तो दान्ते, मिल्टन आदि के साथ कर सकते हैं और प्रकृत-प्रसङ्ग में प्राच्य-जगत् के शीर्ष संस्कृत महाकवि कालिदास एवं हिन्दी के मलिक मुहम्मद जायसी भी इस संदर्भ में उल्लेखनीय हैं। किन्तु इस संदर्भ में यह तथ्य भी ध्यातव्य है कि उक्त कलाकारों से उनकी शैली का अधिक सादृश्य नहीं है। कालिदास की इस मान्यता 'किमिव हि मधुराणां मण्डनं नाकृतिनाम्'[3] से अश्वघोष भी सहमत हैं। इन्हें भी कला-प्रदर्शन एवं अलंकारप्रियता अधिक काम्य नहीं है। यह यद्यपि एक उपदेशवादी कलाकार हैं, तथापि इनकी कृतियाँ कोरी नीति-रचनायें नहीं कही जा सकती हैं और यह उस दयनीय परिणति से परे हैं, जो उपदेशप्रिय काव्यकारों की प्रायः देखी जाती है, क्योंकि धर्मोपदेशक एवं दर्शनविद् होने पर भी एक सहृदयक कवि भी थे और यही कारण है कि इनकी कृतियों की सरसता तथा मधुरिमा पर्याप्त विद्यमान है।[4] आंग्ल-साहित्य के प्रख्यात समालोचक 'मैथ्यू अर्नाल्ड' की काव्य में 'उदात्तत्त्व' की यह मान्यता उद्धरणीय है- 'काव्य में जीवन की उन उदात्त दृष्टि होनी चाहिये, जो नैतिक मर्यादाओं की पृष्ठभूमि पर प्रतिष्ठापित हो, तथा जिसमें जीवन की उदात्तता विद्यमान हो।' यदि इस वक्तव्य को ध्यान में रखकर अश्वघोष की रचनाओं का समीक्षण किया जाय तो उनमें उदात्तता का दर्शन तो हो सकता है, भले ही आंशिक ही सही,

---

१. वही १८/६३-६४

२. वही, २/५; तुलनीय - श्रीमद्भगवद्गीता, २/२-३ ।

३. अभिज्ञानशाकुन्तलम् १/२७ ।

४. बौ० सं० का० समीक्षा, पृ० १७३-१७४ ।।

किन्तु कालिदास की काव्यमयी व्यापक जीवन-दृष्टि अवलोकित नहीं होती है। सम्भवतः इसका कारण उनकी बौद्ध-धर्मिता की दृष्टि ही रही है, जो उनकी काव्यमयी विशद दृष्टि में बाधक बनी है।

अश्वघोष, यथा विगत पृष्ठों में वर्णित किया जा चुका है, एक बहुमुखी प्रतिभा संवलित व्यक्तित्व थे। उनमें दर्शन, धर्म एवं साहित्य का विलक्षण समन्वय दृष्टिगत होता है। उनके दार्शनिक एवं धार्मिक व्यक्तित्व से उनके कवि-स्वरूप को अलग कर पाना सम्भव नहीं है।

'महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र' एवं 'वज्रसूची' दोनों दार्शनिक विचारधाराओं से समन्वत रचनायें हैं जिनमें से प्रथम का विशेष प्रतिपाद्य माध्यमिकों का दार्शनिक सिद्धान्त 'शून्यवाद' वर्णित है, जहाँ 'तथता' (परमार्थ सत्य) का स्पष्ट स्वरूप अभिव्यक्त है। साथ ही इसके द्वारा बौद्धधर्मियों में प्रचलित भ्रान्तियों का निराकरण तथा हीनयानियों में व्याप्त त्रुटियों का दूरीकरण भी किया गया है। यहाँ महाकवि के व्यक्तित्व के उस पक्ष का दर्शन होता है, जो अतीव गम्भीर तत्त्वचिन्तक तथा सबल सिद्धान्त संजीवक है। प्रकृष्ट दार्शनिक नागार्जुन की 'शून्यता' पर अश्वघोष की 'तथता' की अमिट छाप एवं प्रभाव परिलक्षित होता है।[1] 'विज्ञानवाद' का अतीव सूक्ष्म, तर्कपूर्ण एवं गंभीर विवेचन 'वज्रसूची' में हुआ है। परिदृश्यमान जगत् विज्ञान के विकार के अतिरिक्त अन्य कुछ नहीं है। उस विज्ञान को अश्वघोष द्वारा 'भूततथता' के अभिधान से अभिव्यक्त किया गया है। इसमें उपनिषदों में विवेचित आत्मवाद की समता, अश्वघोष सम्मत 'भूततथता' से की जा सकती है। यहाँ आस्तिक एवं नास्तिक दार्शनिकों की विचारधाराओं का समन्वय दृष्टिगत होता है। अश्वघोष की तर्कमयी प्रतिभा को देखकर ऐसा प्रतीत होता है कि उन्होंने प्रथमतः उपनिषद्-धेनुओं से तत्त्व-दुग्ध के दोहन द्वारा उसे परिपुष्ट किया है, तदनन्तर बौद्ध दार्शनिक जगत् में पदार्पण किया है, जिससे विज्ञानवादियों के लिये एक नूतन मार्ग प्रशस्त हो गया है।

अपने पूर्ववर्ती आदर्श काव्य-धाराओं (वाल्मीकि एवं व्यास की) से अश्वघोष प्रभावित हैं। अतएव उक्त महाकवियों को सरल एवं सरस काव्य-शैली की पूर्ण छाप उन पर अवलोकित होती है। अश्वघोष ने आदि कवि की भाँति ही अनुष्टुप् का प्रयोग किया है, जब कि कालिदस में उसका व्यवहार अपेक्षाकृत अल्प हुआ है। इन्होंने अपनी रचनाओं के लिये काव्य-सामग्री प्रायः अवदानों से गृहीत है, जिसमें यत्र-तत्र अपेक्षित संशोधन द्वारा उसे अपने काव्यानुरूप बना लिया है। दृष्टान्त हेतु अवदानों में वर्णित बन्दरी का वृत्तान्त लिया जा सकता है, जो नाक-कान विहीन प्रदर्शित की गई है, जब कि बुद्ध द्वारा नन्द को प्रदर्शित (सौन्दरनन्द की) बन्दरी केवल कानी मात्र है। अश्वघोष के दोनों महाकाव्यों के

---

१. वही, पृ० १४६

कथा-प्रवाह में दार्शनक-विवेचन के अतिरिक्त अन्यत्र कहीं कोई अवरोध अवलोकित नहीं होता है, जब कि कालिदासोत्तर प्रमुख महाकाव्यों (किरात, शिशुपाल वध एवं नैषधीयचरित) में चमत्कारी एवं शृङ्गारी वर्णनों द्वारा कथा-प्रवाह में अवरोध तथा शैथिल्य उत्पन्न हो गया है। कालिदास एवं उनके उत्तरवर्ती महाकवियों की कथा-वस्तु-संविधान की दृष्टि से यदि समीक्षा की जाय, तो यह तथ्य स्पष्ट हो जायेगा कि कालिदास का वस्तु-विधान अन्य की अपेक्षा, अधिक माधुर्यमय, सरस, स्वाभविक तथा प्रवाहपूर्ण है। अश्वघोष में एक ओर, यदि दर्शन-सेतु द्वारा कथा-सरित् स्रोत कुछ अवरुद्धता दृष्टिगत होता है, तो दूसरी ओर भारवि, माघ एवं श्रीहर्ष वर्ण्य-विषय से अलग होकर मनोरम चित्रों, पुष्पित पुण्डरीकों एवं गुञ्जरित भ्रमरों के आकर्षक दृश्यों के दर्शन में इस प्रकार उलझे हुये प्रतीत होते हैं कि कई सर्गों तक कथा-स्रोत सूख सा जाता है। अन्य महाकाव्यों में, यदि कोई उक्त दोष से मुक्त है, तो वह है भट्टिकाव्य, यद्यपि व्याकरण के सिद्धान्तों की समीक्षा तथा अलङ्कारों के संयोजन-प्रसङ्ग में कथा-स्रोत वहाँ भी कुछ शिथिल एवं गतिहीन परिलक्षित होता है। महाकवि अश्वघोष का वैशिष्ट्य इस बात में निहित है कि विशिष्ट दार्शनिक दृश्यों के अतिरिक्त इन्होंने कथा-स्रोत में प्रायः अवरोध नहीं आने दिया है।

इस परिपाक की दृष्टि से विचार करने पर यह स्पष्ट हो जाता है कि अश्वघोष शान्त-रस के शान्त कलाकार हैं। उनके दोनों महाकाव्यों में तो शान्त रस की सुन्दर योजना दृष्टिगत होती ही है, उनकी अभिनेय कृतियाँ, रूपकों में भी अङ्गी रस के रूप में शान्त का ही परिपाक हुआ है। जहाँ तक अन्य रसों, शृङ्गारादि के सन्निवेशन का प्रश्न है, इन्होंने यथावसर उनका भी मनोरम चित्रण प्रस्तुत किया है। एक विरक्त बौद्ध काव्यकार की रचना होते हुये भी, इनके दोनों महाकाव्यों में शृङ्गार से परिपूर्ण चित्रण की मनोहारी छटा लक्षित होती है, किन्तु बुद्ध सदृश विरक्त नायक का अन्तस् उसमें अधिक रम न सका, यद्यपि महाकवि ने शृङ्गार की प्रेरणा स्रोत नारी के सौन्दर्य-चित्रण[1] में अपनी विरक्त दृष्टि का सहारा लिया हो, ऐसी बात नहीं है। उन्होंने प्रथमतः तो नारी के सौन्दर्य का अवलोकन सरस दृष्टि से किया है। तदनन्तर शान्त-रस के प्रसङ्गों में वही नारी का स्वरूप उन्हें जर्जर भण्ड सदृश मलिन तथा कलुषित दृष्टिगत होता है। किन्तु यथार्थ यह है कि महाकवि ने शान्त-रस के लिये शृङ्गार-रस की बलि कहीं भी नहीं चढ़ने दी है और यह उनकी उदारता, साथ ही कुशलता का द्योतक है। इनके शृङ्गारिक चित्रण यद्यपि रस-पेशल तथा हृदयावर्जक हैं, तथापि माघ एवं श्रीहर्ष सदृश उनमें विलासिता तथा कामुकता नहीं है। इनके शृङ्गार संवलित रङ्गीन चित्र, महाकवि कालिदास[2] के ही श्रेणी के प्रतीत होते हैं, जिनमें रस-सिक्तता का साम्राज्य तो दिखता है, किन्तु उनमें कौत्स्य रञ्च भी नहीं है। कतिपय दृष्टान्त पाठक हेतु प्रस्तुत है-

१. बु० च. सर्ग ३, ४, ५; सौ० सर्ग ४, १०।

मुहुर्मुहुर्मद्व्याजस्रस्तनीलांशुकापरा।
आलक्ष्य रसना रेजे स्फुरद्विद्युदिव क्षपा।। बु० च० ४/३३

तथा सौन्दर्यनन्द का स्वारस्यपूर्ण यह शृङ्गारिक दृश्य भी द्रष्टव्य है-

सा तं स्तनोद्वर्तितहारयष्टिरुत्थापयामास निपीड्य दोर्भ्याम्।
कथं कृतोऽसीति जहास चोच्चैर्मुखेन साचीकृतकुण्डलेन।। ४/६

काव्यकारों ने नारी-सौन्दर्य का चित्रण शृङ्गार-रस के उद्दीपन प्रसङ्ग में हेतु प्रायः विभाव पक्ष में किया है और महाकवि अश्वघोष द्वारा उत सरणी ही अपनायी गई है। सौन्दरनन्द की अप्सराओं तथा हिमाद्रि की घाटी में विचरती हुई किन्नरी-सुन्दरियों के अनूपम स्वरूप का जो हृदयहारी अङ्कन हुआ है, उसमें अश्वघोष ने, यद्यपि अलङ्कृत शैली में अप्रस्तुत विधान का संयोजन किया है, तथापि वह दुरवगाह्य नहीं, अपितु स्वाभाविक है।[१] महाकवि द्वारा करुण-रस का अतीव द्रावक वर्णन सिद्धार्थ के वनगमन के प्रसङ्ग में उस समय किया है, जब छन्दक एवं कन्थक उन्हें वन में छोड़कर रिक्त रथ के साथ राजधानी में वापस चले आते हैं।[२] उस समय माता, पिता, यशोधरा राजपरिवार सहित समग्र पुरवासी मानो करुणा के सागर में डूबते तथा करुण क्रन्दन करते हुये दृष्टिगत होते हैं। इसके अतिरिक्त उत्प्रेक्षा, रूपकादि अलंकारों के माध्यम से अश्वघोष ने करुण-रस के अन्य अनेक दृष्टान्त प्रस्तुत किये हैं। अन्तःपुर का करुणाप्लावित अलंकृत यह चित्रण द्रष्टव्य है-

इमाश्च विक्षिप्त विटङ्कबाहवः प्रसक्तपारावतदीर्घनिस्वनाः।
विनाकृतास्तेन सहावरोधनैर्भृशं रुदन्तीव विमानपङ्क्तयः।।

-बु० च० ८/३७

इसी प्रकार की करुणासिक्त सौन्दरनन्द की अधोङ्कित पंक्तियां हैं :-

सा चक्रवाकीव भृशं चुकूज श्येनाग्रपक्षक्षतचक्रवाकी।
विस्पर्धमानेव विमानसंस्थैः पारावतैः कूजनलोलकण्ठैः।। ६/३०

उपर्युक्त उद्धरणों द्वारा भाव-पक्ष प्रधान काव्यकार अश्वघोष ने सहज अलंकृत शैली में, जो करुण-धारा प्रवाहित की है, वह निश्चय ही यदि एक ओर इनकी काव्य-कला प्रावीण्य का प्रकाशन करती है, तो दूसरी ओर सहृदय-समाज के लिये अत्यन्त द्रावक एवं

---

१. कुमारसम्भव, सर्ग ८; रघुवंश, सर्ग १६।
२. बु० च०, ३/१६; सौ० १०/३८।
३. वही, ८/२४-२५।

मर्मस्पर्शी भी है। तो भी इस महाकवि में कालिदास की वह मार्मिकता दृष्टिगत नहीं होती, जिसकी अभिव्यञ्जना रति-विलाप, अज-विलाप, सीता-संदेश, शकुन्तला की विरहावस्था आदि द्वारा कराई गई है।[1]

इस करुण-रस के प्रसङ्ग में 'कारुण्यं भवभूतिरेव[2] तनुते' को चरितार्थ करने वाले महाकवि भवभूति भी ध्यातव्य हैं, जिनका करुण-रस पत्थर-हृदय को भी द्रवीभूत करने वाला है और अश्वघोष एवं कालिदास से भी अधिक भावुकता-संवलित प्रतीत होता है। परन्तु कतिपय दोषदर्शियों द्वारा इसमें भी भावभूमि का एक दोष ही दिखता है, क्योंकि इनका करुण-रस पराकाष्ठा पर पहुँच गया है। साथ ही उनकी दृष्टि कुछ कुण्ठित सी प्रतीत होती है। उन्हें महाकवि कालिदास की अभिव्यञ्जनामयी शैली में भी कुछहद तक उक्त बात ही दृष्टिगत होती है। अश्वघोष[3] द्वारा भी अपने करुण-चित्रणमें अभिव्यञ्जनामयी शैली ही अपनायी गई है, किन्तु उनमें उक्त बातें परिलक्षित नहीं होती हैं।

कतिपय समालोचक अश्वघोष के ऊपर यह दोष गढ़ते हुये दृष्टिगत होते हैं कि उनमें महाकाव्यों के लिये आवश्यक युद्धप्रसङ्ग तथा वीर-रस का अभाव परिलक्षित होता है, परन्तु उनकी ऐसी मान्यता निराधार है; क्योंकि 'मार-विजय' का वृत्तान्त उक्त दोष के निराकरण हेतु पर्याप्त है। महाकवि द्वारा दोनों महाकाव्यों में वीर-रस के सुन्दर दृष्टान्त सहज अलंकृत शैली में प्रस्तुत किये गये हैं।[4] परन्तु ऐसे प्रसङ्गों में वीर एवं शान्त, दोनों रसों की युगपद अभिव्यञ्जना साम्य-विवक्षा को दृष्टि में रख कर की गई है। नन्द एवं सिद्धार्थ द्वारा किस प्रकार मार की सेना को पराजित किया गया है, इसका चित्रण रूपकालंकार के माध्यम से बड़े ही कौशल के साथ किया गया है जो वस्तुतः ध्यातव्य है-

ततः स बोध्यङ्गशितात्तशस्त्रः सम्यक् प्रधानोत्तमवाहनस्थः।
मार्गाङ्गमातङ्गतवतां बलेन शनैः शनैः क्लेशचमूं जगाहे।। सौ० १७/२४

नन्द ने मार-सैन्य को अपनी उस सेना द्वारा पादाक्रान्त कर दिया, जिसमें सप्तबोध्यङ्ग रूपी तीक्ष्ण शस्त्र हैं, सम्यक् उद्योग रूपी उत्तम वाहन हैं और आर्य-अष्टाङ्गिक मार्ग के अष्ट अङ्गरूप मातङ्गी सेना है, जिसके द्वारा समर भूमि में शत्रु वर्ग (मार) के क्लेश-सैन्य का संहार किया गया है।

वीरसाप्लावित मार-सेना तथा सिद्धार्थ-सेना के मध्य हुये रोमाञ्चकारी चित्रण को देखकर प्रकृति की दशा कैसी होती है, इसे बुद्धचरित के इस पद्य में देखिये-

१. कु० सं०, सर्ग ७; रघु० सर्ग ८, १२; शाकुन्तल, अङ्क ७।
२. उत्तररामचरित, १/२८, ३६; ३/३२
३. सौ० ४/६; १८/१०
४. बु० च० सर्ग १३; सौ० सर्ग १७ ।

प्रकीर्णकेशाः शिखिनोऽर्धमुण्डा रक्ताम्बरा व्याकुलवेष्टनाश्च।
प्रहृष्टवक्त्रा भृकुटीमुखाश्च तेजोहराश्चैव मनोहराश्च।। १३/२४

तथा उक्त भयावह युद्ध का अवलोकन कर न केवल अन्तरिक्ष मात्र, अपितु पृथ्वी भी प्रकम्पित हो गई समस्त दिशायें घोर रव सहित प्रज्ज्वलित हो उठीं। यह दृश्य भी द्रष्टव्य है-

तं प्रेक्ष्य मारस्य च पूर्वरात्रे शाक्यर्षभस्यैव च युद्धकालम्।
नद्याश्चकाशे पृथिवी चकम्पे प्रजज्ज्वलुश्चैवदिशः सशब्दाः।। १३/३८

प्रकृति-चित्रण भी महाकावय-लक्षण में आवश्यक प्रतिपाद्य माना गया है, जिसे सभी काव्यकारों ने अपनी रचनाओं में किया है। साहित्य जगत् में प्रकृति-चित्रण प्रायः दो रूपों (आलम्बन एवं उद्दीपन) में हुये हैं। इसके अतिरिक्त कुछ कवियों ने प्रकृति के सौम्य रूप का चित्रण किया है तो कुछ ने उसके भयावह स्वरूप का अङ्कन किया है। कालिदास प्रकृति के सजीव एवं सौम्य के काव्यकार हैं, तो बाण, भवभूति सदृश कविगण उसके भयावह रूप के चित्रण में अभिरुचि रखते हैं। अश्वघोष की प्रकृति महाकवि कालिदास सदृश चित्रित हुई है किन्तु उन्होंने प्रकृति-चित्रण में अधिक रुचि नहीं दिखलाई है और सामान्य रूप से चलती-फिरती विधा से वह उसका चित्रण करते हुये अन्य विषय पर चले गये हैं। उनके दोनों महाकाव्यों में अनेक ऐसे अवसर आये हैं जहाँ प्रकृति की सुन्दर झाँकी प्रस्तुत की जा सकती थी, किन्तु वह उन स्थलों पर भी कालिदास सदृश जम नहीं सके हैं।[1] उनके प्रकृति-चित्रण का एक उदाहरण द्रष्टव्य है जो इस प्रकार है-

दरीचरीणागतिसुन्दरीणां मनोहरश्रोणिकुचोदरीणाम्।
वृन्दानि रेजुर्दिशि किन्नरीणां पुष्पोत्कचानामिव वल्लरीणाम्।।
– सौ० १०/१३

कन्दराओं में निवास करने वाली कमनीय किन्नरियाँ, जिनके उदर, नितम्ब, पयोधरादि हृदयावर्जक थे, इस प्रकार चतुर्दिक सुशोभित हुईं, जैसे मानो पुष्पों से परिपूरित एवं सम्वलित वल्लरियाँ सुशोभित हो रही हैं।

सहज एवं शोभन-अलङ्कारों से सुसज्जित प्रकृति-चित्रण करने वाले पद्यों में यह महाकवि अप्रस्तुत विधान में ही अधिक रमते हुये प्रतीत होते है।।[2] इनके प्रकृति-चित्रण में कालिदास द्वारा प्रस्तुत हिमाद्रि-चित्रण सदृश स्वाभाविक तथा प्रभावोत्पादकता दृष्टिगत

---

१. बु० च० सर्ग २, ७ तथा सौ० सर्ग ७, १० ।
२. सौ. १०/५, १४

नहीं होती है, जैसा कि पूर्व पंक्तियों में भी कहा जा चुका है। अश्वघोष द्वारा सौन्दरनन्द में जो प्राकृतिक-चित्रण किया गया है, वह प्रिया-वियोग की अनुभूति करने वाले नन्द के लिए उद्दीपन का ही कार्य करता हुआ परिलक्षित होता है।[1] उपर्युक्त विवरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि वाल्मीकि अथवा कालिदास की भाँति अश्वघोष को प्रकृति के प्रति मोह नहीं था। ऐसा परिज्ञात होता है कि वह एक बौद्ध-काव्यकार के लिये प्रकृति भी विकृति स्वरूप प्रतीत हो रही हे। वाल्मीकि एवं कालिदास के प्राकृतिक चित्रणों में जो भेद विद्यमान हैं, उसका बीज अश्वघोष में परिलक्षित अवश्य होता है। महर्षि वाल्मीकि ने प्रकृति को विशुद्ध लावण्य की दृष्टि से अवलोकित किया है और उनका प्राकृतिक-चित्रण उद्दीपन की अपेक्षा, आलम्बन रूप में अधिक हुआ है, जब कि कालिदास की प्रकृति मानस-प्रकृति से अधिक प्रभावित है। अतः वह मानव की सहगामिनी होने के कारण उसके सुख-दुःख में सहभागिनी रूप में चित्रित है और इस प्रकार वह विशेष मानसोद्दीपक प्रतीत होती है; किन्तु यत्र-तत्र उसमें अपवाद विद्यमान न हो, ऐसा नहीं कह सकते। अश्वघोष के प्रकृति-चित्रण तथा कालिदास के प्रकृति-चित्रण में पर्याप्त साम्य परिलक्षित होता है। सौन्दरनन्द का प्रकृति-चित्रण उक्त बात की ही पुष्टि करता है। परन्तु, यह तथ्य स्वीकार करना चाहिये कि अश्वघोष न तो कालिदास सदृश विविध प्रकृति-दृश्यों को प्रस्तुत कर सकते हैं ओर न तो प्रकृति-चित्रों के बिम्ब ही उपन्यस्त कर सकते हैं। यदि सौन्दरनन्द एवं कुमारसम्भव की तुलना प्रकृति-चित्रण से की जाय, तो यह स्पष्ट हो जायेगा कि जो कौशल कालिदास में विद्यमान है, वह अश्वघोष में नहीं है।

अश्वघोष की कलात्मक मान्यता के सन्दर्भ में विचार करने पर यह बात साफ हो जाती है कि उनकी दृष्टि वर्ण्य-विषय की अपेक्षा वर्णन-विधि पर कम है। काव्य में अलंकार तथा छन्दों-विधान की विनियोजना-विधि पर उनका ध्यान अधिक नहीं है। वह इस बात के भी आग्रही नहीं हैं कि स्थान विशेष पर ही अलंकार अथवा छन्दविशेष का व्यवहार किया जाय, यथा कालिदास आदि कतिपय काव्यकारों को अभिप्रेत है। महर्षि वाल्मीकि को अनुष्टुप्, कालिदास को मन्दाक्रान्ता, कालिदासोत्तर कलाप्रधान महाकवियों को वंशस्थ के प्रति अधिक झुकाव है। किन्तु इनका किसी के प्रति विशेष आग्रह न होते हुये भी इनकी कृतियों में अलंकारों एवं छन्दों का समावेश स्वाभाविक रूप से हुआ है, जिनमें कृत्रिमता का अभाव है। परन्तु उनमें कुछ ऐसे भी स्थल परिलक्षित होते हैं, जहाँ दार्शनिक तथा धार्मिक उद्देश्यों के कारण वर्ण्य विषय एवं वर्णन-विधि के मध्य विलक्षण पार्थक्य दृष्टिगत होता है जो विषय-भेद के कारण स्वाभाविक है। महाकवि ने अपनी काव्य-कृतियों के विषय में यह स्पष्ट उल्लेख कर दिया है कि वे विद्वान् साहित्यमर्मज्ञों के लिये ही नहीं, प्रत्युत् जन-सामान्य के हित हेतु रचित हैं। अतएव इनके काव्य-प्रयोजन के स्पष्टीकरणोपरान्त इनको कृतियों की

१. वही, सर्ग ७।

कलात्मक समीक्षा समुचित नहीं होगी। औचित्य तो यह प्रतीत होता है कि इनकी रचनाओं का समीक्षण कला-पक्ष के कलाकार की दृष्टि न किया जाय। कारण यह है कि बौद्ध धार्मिक एवं दार्शनिक उपस्थापना के निमित्त काव्य-सृष्टि करने वाले व्यक्तित्व का समीक्षण साहित्य-कला की दृष्टि से न्यायोचित नहीं होगा। तो भी यह निर्विवाद तथ्य है कि अश्वघोष एक कुशल कलाकार हैं, तथा उनकी रचनायें सहृदय एवं साहित्यिक समाज के सम्मुख कलात्मक-झलक अवश्य प्रदर्शित करती है और उनमें कुछ ऐसी विशेषतायें विद्यमान हैं, जो सहृदय कला-पारखियों के मानस को आवर्जित किये बिना नहीं रह सकती हैं। इस प्रकार अश्वघोष के काव्य-कृतियों का रस-विहीन अथवा उनकी काव्यशैली को शुष्क या कृत्रिम कहना उचित नहीं है। इनकी अभिव्यञ्जना-पद्धति सहज एवं सरस है। तथापि अश्वघोष को प्रथम श्रेणी के महाकवि कालिदास के समक्ष नहीं रख सकते हैं। यहाँ इनके विषय में यह यथार्थ वक्तव्य प्रासङ्गिक है कि यह 'कला के लिये कला' के सिद्धान्त का अनुसरण करने के पक्ष में नहीं हैं और इनकी रचनायें पाण्डित्य प्रदर्शन हेतु अलंकारों के भार से बोझिल नहीं है। तो भी उनमें साधर्म्य-मूलक प्रायः सभीअलंकारों के दर्शन अवश्य हो जाते हैं। कतिपय आधनिक आलोचकों के इस उक्ति 'कलाकार, कलाकार नहीं रह जाता जब वह एक उपदेष्टा का बाना धारण कर लेता है' को मिथ्या साबित कर दिया है। इस प्रसङ्ग में सौन्दरनन्द की पंक्तियाँ प्रमाण हैं, जिनमें कुशल कलाकार की लेखनी द्वारा व्यवहृत उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपकादि अनेक अलंकार उल्लेखनीय हैं। पूर्व पृष्ठों में महाकवि की अलंकार-योजना के कुछसुन्दर दृष्टान्त अन्य प्रसङ्गों में उद्धृत किये गये हैं। इनकी सहज अलंकृति के साक्ष्य-स्वरूप नीचेद्धृत उपमा का सुन्दर उदाहरण दर्शनीय है-

तं गौरवं बुद्धगतं चकर्ष भर्यानुरागः पुनराचकर्ष।
सोऽनिश्चयन्नापि ययौ न तस्थौ तरंस्तरङ्गेष्विव राजहंसः।।

– सौ० ४/४२

भगवान् बुद्ध नन्द को काम-कीचड़ से पृथक कर सद्धर्म में दीक्षित करना चाहते थे, उसी प्रसङ्ग में कथित प्रकृत पक्ष द्वारा नन्द की मानसिकता को प्रकाशित करते हुये प्रकृत दृष्टान्त प्रस्तुत किया गया है। बुद्ध का गौरव नन्द को एक ओर से तो आगे को आकर्षित कर रहा था तथा दूसरी ओर से प्राणप्रिया 'सुन्दरी' का प्रेम उसे पीछे की तरफ आकृष्ट कर रहा था, वह क्या करे और क्या न करे, इस अनिश्चय के कारण उसकी दशा, उस राजहंस की तरह हो गई थी, जो तरङ्गों पर तैरता हुआ न तो आगे बढ़ पाता है और न तो उन पर ठहर ही पाता था। सुन्दर उपमा से सुशोभित इस पद्य में नन्द की मानसिक अवस्था एवं उसके विषम अन्तर्द्वन्द्व का चित्रोपम वर्णन प्रस्तुत किया गया है, जो निश्चयतः अनोखा है। कालिदास अपनी उपमाओं के लिए प्रख्यात है। वस्तुतः उनकी

उपमाओं की समता अन्य किसी महाकवि के साथ सम्भव नहीं है। अतएव 'उपमा कालिदासस्य' की संस्तुति केवल उन्हीं के लिये संस्कृत जगत् में व्यवहृत है। किन्तु अश्वघोष के साथ उनकी समता कुछ हद तक की जा सकती है, क्योंकि इस महाकवि की[1] उपमायें भी कम महत्त्व की नहीं हैं। अश्वघोषकी उपर्युक्त उपमा की समता, महाकवि कालिदास की अधोलिखित उपमा के साथ की जा सकती है-

तं वीक्ष्य वेपथुमती सरसाङ्गयष्टि-
र्निक्षेपणाय पदमुद्धृतमुद्वहन्ती।
मार्गाचलव्यतिकराकुलितेव सिन्धुः -
शैलाधिराजतनया न ययौ न तस्थौ।। कुमरसम्भव, ३/८५

ब्रह्मचारी वेशधारी शिव तपोरत पार्वती से प्रिय शिव की निन्दा करते हैं और जब वह असह्य हो जाती है, तो पार्वती वहाँ से उठकर अन्यत्र जाने के लिये ज्यों ही उद्यत होती हैं, शिव अपने यथार्थ रूप में प्रकट होकर उन्हें जाने से रोक देते हैं, वह साक्षात् शिव को सहसा अपने सम्मुख उपस्थित देखकर प्रकम्पित हो उठती हैं। उनका शरीर स्वेद बिन्दुओं से परिपूर्ण हो जाता है और वह आगे बढ़ने में असमर्थ तथा पीछे मुड़ने में भी निज को असहाय पाती हैं। उनकी दशा उस सरित्-धारा सी हो जाती है जा अपने समक्ष पर्वत के उपस्थित हो जाने से न तो आगे बढ़ पाती है और न तो पीछे जा पाती है। उपरि उद्धृत अश्वघोष की एवं कालिदास की प्रकृत दोनों उपमा ही महत्त्वपूर्ण हैं, किन्तु दोनों की तुलना करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि कालिदास की अपेक्षा अश्वघोष की उपमा कुछ अधिक उपयुक्त प्रतीत होती है। पार्वती की उक्त स्थिति को ठोस आधार (धरा) पर होती है, जब कि राजहंस की उक्त दशा जलोर्मियों के ऊपर तैरने से होती है। अचल-तनया की उक्त मानसिक स्थिति निज अभिप्सित लक्ष्य की प्राप्ति के समय होती है, जब कि नन्द की दशा दोनों वाञ्छितों के अन्तर्द्वन्द्व के कारण होती है जो विशेष आकर्षक है। अश्वघोष द्वारा व्यवहृत कुछ रूपकालङ्कार के सुनदर उदाहरण भी यहाँ द्रष्टव्य हैं-

दुःखार्णवाद् व्याधिविकीर्णफेनाज्जरातरङ्गान् मरणोग्रवेगात्।
उत्तारदिष्यत्ययमुह्यमानमार्तं जगज्ज्ञानमहाप्लवेण।। बुद्ध च०

महाराज शुद्धोदन अपने नवजात राजकुमार सिद्धार्थ के भविष्य को ज्ञात करने हेतु राज दरबार में पधारे हुये महर्षि असित से जब अनेक प्रश्न करते हैं, जिनका उत्तर देते हुये वह बतलाते हैं-

---

१. सौ० ४/३१; ६/३१; बु० च० ८/७२।

यह कुमार व्याधिरूपी फेन से परित्याग, जरा रूपी तरङ्ग से संयुक्त, मृत्यु रूपी तीव्र वेग वाले दुःखार्णव में सतत प्रवहनशील एवं पीड़ित जगत् की ज्ञानरूपी विशाल नौका के द्वारा उद्धार करायेगा। साथ ही, उन्होंने (महर्षि ने) अपने उत्तर को आगे बढ़ाते हुये कहा-

प्राज्ञम्बुवेगां स्थिरशीलवप्रां समाधिशीतां व्रतचक्रवाकाम्।
अस्योत्तमां धर्मनदीप्रवृत्तां तृष्णार्दितः पास्यति जीवलोकः।।

- बु० च० १/७०-७१

यह शिशु तृष्णा-रूपी प्यास से आकुल संसार के समस्त जीवधारियों के लिये ऐसी सरिता को प्रवाहित कर उनकी तृष्णा शान्त करेगा, जिसका 'प्रज्ञा' ही जल-प्रवाह है; सुस्थिर 'शील' तट है; जिसमें 'समाधि' रूपी शैत्य विद्यमान है और जो 'व्रत' रूप चक्रवाक (पक्षी-विशेष) से परिव्याप्त है। इन कतिपय अर्थालङ्कारों के अतिरिक्त शब्दालङ्कार में अनुप्रास, यमक के अनेक उपयुक्त दृष्टान्त अश्वघोष की कृतियों में परिदृश्यमान हैं।[1] कतिपय अनुपास-दृष्टान्त इस प्रकार है-

चलत्कदम्बे हिमवन्तितम्बे तरोः प्रलम्बे-चमरोललम्बे।
कोत्तुं विलग्नं न शशाक बालं कुलोद्गतां प्रीतिभिवार्यवृत्तः।।

- सौ० १०/१७

तथा-

दरीचरीणामतिसुन्दरीणां मनोहरश्रोणिकुचोदरीणाम्।
वृन्दानि रेजुर्दिशि किन्नराणां पुष्पोत्कचानामिव वल्लरीणाम्।।

- वही, १०/१३

इसमें ताल-लय समन्वित शब्द-साम्य संयुक्त, अनुप्रासमयी काव्य-चातुरी, कवि की कुशलता को प्रकाशित करती है, जो वस्तुतः कमनीय-काव्यसृष्टि का उदाहरण है। 'वर्णानां पुनः श्रुतिः' का अन्वर्थक, सार्थक एवं अर्थभिन्न यमक युक्त यह पद्य भी अल्पाकर्षक नहीं है-

मलपङ्कधरा दिगम्बरा प्रकृतिस्थैर्नखदन्तरोर्मिभिः।
यदि सा तव सुन्दरी भवेन्नियतं तेऽद्य न सुन्दरी भवेत्।।

- सौ० ८/५१

---

१. सौ०, १/३ ५६; ६/१३, ४६; १०/५६-५७ तथा १६/२८-२६।

इस प्रकार विविध अलङ्कारों के सहज स्वरूप एवं उनके प्रयोग अश्वघोष की कृतियों में दर्शनीय हैं।

अश्वघोष एवं कालिदास का साम्य अलङ्कार के सन्दर्भ में चन्द दृष्टान्तों के माध्यम से दर्शाया गया है। इसके अतिरिक्त अनेक अन्य संस्कृत एवं पालि साहित्यमर्मज्ञों के साथ भी अश्वघोष की रचनाओं का साम्य प्रस्तुत किया जा सकता है, जिनसे यह स्वयं प्रमाणित हुये हैं अथवा जिन्हें उन्होंने प्रमाणित किया है। आर्षकाव्यों (रामायण एवं महाभारत) के अतिरिक्त उपनिषदों में श्वेताश्वर, छान्दोग्योपनिषद् के साथ संस्कृत जगत् की अन्य कृतियों में अर्थशास्त्र, प्रतिज्ञायौगन्धरायण, नैषधीयचरित, हर्षचरित, श्रीमद्भगवद्गीता, बौद्ध संस्कृत रचनाओं में ललितविस्तर, दिव्यावदान; पालि रचनाओं में जातकनिदान-कथा, थेरीगाथा, धम्मसंगणि, धम्मपद, मज्झिमनिकाय आदि रचनायें विशेष रूप से दृष्टिगत होती हैं। इस विषय पर विशद चर्चा अन्यत्र की गई है, जो द्रष्टव्य है।[1]

पात्र-चरितचित्रण-

चरित चित्रण, काव्य-कृतियों के समीक्षण का द्वितीय महत्त्वपूर्ण अंग माना गया है।[2] यहाँ अश्वघोष की वर्णन-कला पर प्रकाश डालने के अनन्तर, उनकी चित्रण-विधा पर कुछ विचार करना आवश्यक है, जिनमें वह एक सफल काव्यकार के रूप में प्रख्यात हैं। समीक्षकों की दृष्टि में उनकी चित्रण शैली अनूठी है। उनकी कृतियों के समीक्षण से यह तथ्य स्पष्ट हो जाता है कि किस प्रकार कथाकार ने सहज एवं सरल किन्तु प्रभावी वर्णनों द्वारा उन्होंने निज चित्रण-कला-चातुरी का प्रदर्शन करते हुये न केवल माननीय, अपितु अन्य जंगम तथा स्थावरों को भी आदर्श चरित के रूप में चित्रित किया है। उनका 'कपिलवस्तु' का ही नहीं, प्रत्युत् हिमाद्रि का चित्रण भी आकर्षक एवं प्रभावपूर्ण है। यह ध्यातव्य है कि उनके दोनों महाकाव्यों में इस प्रसङ्ग में कुछ भेद परिलक्षित होता है। बुद्धचरित में चित्रण-कला, वर्णन की अनुगामिनी है, जब कि सौन्दरनन्द में वर्णन ही स्वयं चित्रण-कला के आश्रित है।

शिष्यों द्वारा भगवान् बुद्ध के जीवन का दिग्दर्शन बौद्धधर्म् के ऐतिहासिक ढाँचे (विनयों) में कराया गया है। पालि-साहित्य के प्रमुख विनय-ग्रन्थ, महावग्ग एवं चुल्लवग्ग, दोनों ऐतिहासिक वृत्तान्तों का विवेचन बुद्धत्वाप्ति से प्रारम्भ होकर द्वितीय बौद्ध-संगीति से समाप्त होता है। बुद्ध के प्रारम्भिक जीवन (शाक्य राजकुमार सिद्धार्थ का जीवन) एवम्

१. बौ० सं० का० समीक्षा, पृ० २२१-२३१।

२. प्राच्य-समालोचक कथावस्तु, नेता एवं रस, इन तीन अङ्गों को समीक्षण का आधार मानते हैं जब कि पाश्चात्य समीक्षक कथा-वस्त, चरित-चित्रण, कथोपकथन, देशकाल, शैली, उद्देश्य तथा अभिनेयता-इन सात तत्त्वों को समीक्षा में स्वीकार करते हैं। किन्तु इन सभी का अन्तर्भाव उक्त तीन अङ्गों के अन्तर्गत ही हो जाता है।

उनका समाधिष्ठ जीवन-वृत्त, नितान्त अछूता है। अन्य सम्प्रदाय के विनय-ग्रन्थों में जहाँ प्रारम्भिक जीवन का मन्द विकास अवलोकित होता है, उनमें 'पालिमहावग्ग सुत्तान्त' प्रमुख है।[1] इसके अन्तर्गत 'पातिमोक्ख-उद्देश' का व्यवहार, उच्च नैतिक सिद्धान्तों, जो धम्मपद में विद्यमान है, के प्रकाशनार्थ हुआ।[2] महापदान-सुत्तान्त में बौद्धमास्तिष्क की उन्नतोन्मुख परम्परा की ओर स्पष्ट संकेत है, जिसके द्वारा सम्यक् आचरण की धर्म-संहिता की अपेक्षा बौद्ध-धर्म के आध्यात्मिकता तथा नैतिक क्षेत्र और शास्ता के जीवन के महत्त्व पर अधिक प्रकाश पड़ता है। बौद्ध-सम्प्रदायों एवं उनकी विचार-धाराओं के सफल विकास पर एक रोचक दृष्टि डाली जा सकती है कि किस प्रकार बुद्ध के जीवन-वृत्तान्त द्वारा धार्मिक संस्थाओं का महत्त्व शनैः शनैः बढ़ा है। बुद्धत्व से प्रारम्भ कर सिद्धार्थ के जनमंच-पर्यन्त एक मन्द गति वर्तमान थी, जिससे धीरे-धीरे विस्तार होते हुये क्रमशः प्रणिधान में बोधिसत्त्व के जीवनारम्भ अथवा सुमेधा के बुद्ध होने की मानसिक दृढ़ता का पता चलता है। इसके प्रतिकूल 'बुद्धचरित' में सिद्धार्थ के जन्म से इतिहास का प्रारम्भ होकर, अशोक द्वारा बुद्ध के अवशेष के पुनर्विभाजन एवं उनके देवालय-प्रस्थापन से समाप्त होता है। इस महाकाव्य में प्रथम बौद्ध-संगीति का उल्लेख हुआ है।

महाकवि के द्वितीय महाकाव्य 'सौन्दरनन्द' के सम्बन्ध में बात नितान्त भिन्न है। नन्द का वृत्तान्त, जो इसका प्रमुख लक्ष्य है, द्वारा भगवान बुद्ध के महनीय जीवन की अनेक कथाओं से एक वृत्तान्त, उनका देवताओं तथा मनुष्यों के शिक्षक-स्वरूप वर्णित है। यही बात 'शारिपुत्र' की कथा के लिये भी सत्य है, जो अश्वघोष की नाट्य-कृति 'शारिपुत्र-प्रकरण' का प्रधान उद्देश्य है। इस प्रकार नन्द की कथा, बुद्ध के जीवन ढाँचे के प्रारम्भिक रूप के अनुरूप है। परन्तु यहाँ बौद्ध कवि के मानव एव मानवेतर वस्तुओं के आदर्श स्वरूप के काव्यगद्य चित्रण-कार्य में स्वच्छन्द लेखनी का सहारा लिया है। 'शारिपुत्र-प्रकरण' की नाट्य-कला-वही है जो चरित-चित्रण की कला है।

पात्रों के चरित-चित्रण की दो प्रमुख विधायें प्रचलित हैं, जिनमें से प्रथम है प्रतिनिधि पात्र (रिप्रजेन्टेटिव करेक्टर) तथा द्वितीय है व्यक्ति पात्र (इनडीविजुवल करेक्टर)। प्रतिनिधि पात्रों के चित्रण ही अधिक हुये हैं तथा व्यक्ति पात्र के चित्रण नगण्य से कहे जायेंगे। इस प्रसङ्ग में यह विशेष रूप से ध्यातव्य है कि वर्णनप्रधान श्रव्य काव्य की अपेक्षा दृश्य-काव्यों में चरित-चित्रण करने के अवसर अधिक होते हैं, जहाँ पात्रों की रङ्गमञ्चीय उपस्थिति के कारण पात्र-चित्रण में सौविध्य एवं सौकर्य्य होता है।

महर्षि कपिल, जिनके नाम पर 'कपिलवस्तु' की स्थापना हुई, उनका वास-स्थान

---

१. दीघनिकाय, भाग २, पृ० १-५४ ।
२. वही (पातिमोक्खदेशना), पृ० ४६ ।

हिमाचल में था। वह गौतम कुलोत्पन्न, धर्मपरायण, सचरित्र एवं महान् तपस्वी थे। उन्होंने काश्यप सदृश सन्यास का आचरण कर सर्वोत्तम योग्यता एवं ज्ञान प्राप्त किया था। वह महामुनि वशिष्ठ की भाँति अपने अन्तेवासियों को शिक्षा देने क कारण अधिक प्रसिद्ध थे। धर्म ही उनका सर्वोत्तम धन था। शाक्य-जाति की सांस्कृतिक परम्परा के गौरव-वृद्धि में महर्षि कपिल की अहम् भूमिका रही। वह शाक्य-राजकुमार के गुरु थे। उनका आश्रम वस्तुतः महान् तपोभूमि थी, जहाँ तपस्वीगण ज्ञान-वृद्धि एवं धार्मिक क्रियाओं की सम्पन्नता हेतु जाया करते थे। उनके आश्रम की प्राकृतिक शोभा मनोहारी थी, जिसका सजीव चित्रण अश्वघोष ने किया है।[1]

शाक्य राज्य-शुद्धोदन –

यह शाक्य-वंश के महान् वंशज थे जिन्हें शाक्य राज-शासन परम्परागत उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुआ था। अतुल ऐश्वर्य तथा महनीय राज-सत्ता और सर्वसुख-सौख्य से संवलित होकर भी उन्होंने कभी किसी की उपेक्षा अथवा तिरस्कार नहीं किया। वह सौन्दर्यशाली, शक्तिशाली, अजेय शासक तथा दृढ़प्रतिज्ञ थे। वह सरलता, दयालुता, निरभिमानिता, सहनशीलता, उदारता एवं सत्यता के प्रतिमूर्ति स्वरूप थे। उन्होंने सद्धर्मपूवक राज्य-शासन एवं प्रजापालन किया, जिसके फलस्वरूप उनके राज्य में कहीं अथवा किसी प्रकार की कमी नहीं थी। उनकी प्रजा सुखी, धार्मिक एवं सदाचार परायणा थी। सिद्धार्थ के जन्म से तो उनके राज्य का अतीव अभ्युदय[2] हुआ।

महारानी माया–

यह देवतुल्य महाराज शुद्धोदन की राजमहिषी 'माया' साक्षात् देवी शची स्वरूपा थी। वह पद्म सदृश सौन्दर्य, वसुन्धरा तुल्य क्षमाशीला, लक्ष्मी स्वरूपा ऐश्वर्यशालिनी तथा सागर-स्वरूपा विशाल हृदया थीं। उनका स्वभाव सरल, शुद्ध,. पवित्र था। उनमें क्रोध, ईर्ष्या, गर्व, द्वेष आदि अवगुणों का सर्वथा अभाव था। वह मायासन्विता होकर भी 'माया' रहित थी। धार्मिक क्रियाओं, व्रतोपवासों से सदा पावन-विग्रहा थीं। ऐसे स्वभाव संचलिता तथा सौभाग्यवती की कुक्षि से भगवान् बुद्ध का अवतरण, उनको देवत्व का द्योतन करता है। उनकी गोद में सोये हुये हंस (बुद्ध) शिशु को देवी पार्वती की गोद में सोये हुये कार्तिकेय के समान महर्षि असित ने देखा, जो समग्र दैवी चिन्हों से सुशोभित थे।

चक्राङ्कपादं स ततो महर्षिर्जालावनद्धाङ्गुलिपाणिपादम्।
सोर्णभ्रुवं वारणबस्तिकोशं सविस्मयं राजसुतं ददर्श।।

– बु० च० १/६०

१. बु० च० सर्ग २१; सौ० सर्ग १।
२. सौ० सर्ग प्रथम, श्लोक १-१८।

सिद्धार्थ की मातृ-ष्वसा भी विविध उदात्त गुणों से अलंकृत थीं, जिन्होंने कुमार 'नन्द' को उत्पन्न किया। महाराज शुद्धोधन अपने (पुत्रद्वय) दोनों कुमारों के मध्य वैसे ही सुशोभित होते थे, जैसे हिमालय एवं पारियात्र पर्वतद्वय के मध्य 'मध्यदेश' सुशोभित होता है। यहाँ ध्यातव्य है कि अश्वघोष के कार्य-क्षेत्र का विस्ता हिमालय तथा पारियात्र के मध्य स्थित मध्यदेश का सीमावर्ती प्रदेश रहा है, जिसके उत्तर दिशा में हिमाचल, विन्ध्य दक्षिण में विन्ध्यपाद तथा पारियात्र पश्चिम दिशा में और पूर्व दिशा में गिरिव्रज[1] है।

सिद्धार्थ-

बुद्ध के जन्मकाल का अभिधान सिद्धार्थ था, अतः उनके प्रादुर्भाव के समय शुद्धोदन के सभी कार्य सिद्ध हुये, प्रजावर्ग को भी सभी सिद्धियाँ प्राप्त हुईं। उनके राज्य की चतुर्दिक् अभिवृद्धि हुई अतएव सर्वार्थसिद्धियों के कारण उनका नाम सर्वार्थसिद्धि पड़ा। उनका जन्म अलौकिक था जिसके पूर्व एवं पश्चात् वहाँ की समस्त क्रियायें लोकोत्तर रूप में होने लगीं। ऐसी ख्याति कि उनका इस भूमण्डल पर अवतरण तुषित-स्वर्गदेवताओं तथा दैवी दूतों की प्रार्थना के प्रतिवचन स्वरूप हुआ था। सिद्धार्थ का अवतरण ही अनोखे रूप में मातृ-गर्भ से न होकर, पार्श्व-भाग से हुआ था, जिस प्रकार 'और्व' का जन्म उरु भाग (जंघे) से हआ, पृथु का हस्त भाग (हाथ) से, मान्धाता (इन्द्र सदृश) का मस्तक से और कक्षीवान् की उत्पत्ति भुजांश-देश (काँख) से हुई थी। साथ ही अनेक कल्पों में अर्जित पुण्य फल स्वरूप पुण्यान्तःकरण एवं मूढावस्था (मूर्च्छित रूप) में न होकर सबोध (जाग्रत) उत्पन्न हुये थे। सद्योजात वह बालसूर्यसदृश अत्यन्त तेज युक्त थे, किन्तु द्रष्टा (देखनेवाले) के नेत्र चकाचौंध से प्रभावित न होकर, चन्द्र सदृश आकर्षक एवं शीतल थे।[2] जन्म के ठीक अनन्तर उन्होंने (सिद्धार्थ ने) सिंह तेज एवं गतियुक्त हो, इस भव्य तथा अर्थकारी वाणी के द्वारा उद्घोषित किया, 'बोधाय जातोऽस्मि जगद्धितार्थमन्त्या भवोत्पत्तिरियं ममेति'-'इस विश्व के कल्याण तथा बोधि-प्रदान हेतु मैंने जन्म ग्रहण किया है'. और साथ ही यह भी कहा कि 'इस जगत् में मेरा ये अन्तिम अवतरण (जन्म) है।' बुद्ध के लोकोत्तर कृत्यों तथा उनके अद्भुत अवतरण के कारण उन्हें विष्णु का अवतार माना गया है और यह कार्य कहानियों तथा वैष्णवों द्वारा भी किया गया है। विष्णु के अनेक अंशावतारों में उन्हें भी परिगणित किया गया है। यहाँ तक कि वैदिक (हिन्दू) धर्मानुयायी भी अपने धार्मिक क्रियाओं के प्रारम्भिक काल में 'बौद्धावतारे...' आदि शब्दों का प्रयोग ससम्मान करते हैं।

एक राजकुमार समस्त वैभव तथा दिव्य सुखों के होते हुये भी सिद्धार्थ का मानस उनमें रम न सका क्योंकि संसार के आर्त प्राणियों के दुःखों के समक्ष उनके लिये अन्य

---

१. बु० च० ७/५४; १३/१८; सौ० २/२६।
२. बु० च० ७/१०-१२।

सब कुछ तुच्छ था। वह स्वभाव से सरल, सहृदय तथा करुणाद्र। चित्त होने के कारण सुख-सौभाग्य से विरत होकर, सन्यास की ओर उन्मुख होते, कठोर तपस्या एवं साधना मार्ग को अपना कर बुद्धत्व प्राप्त करते हैं और जागतिक-प्रपञ्चों में ग्रस्त मानवता का उद्धार करते हैं। यही, उस बौद्ध-धर्म का शंखनाद फूँक कर मर्त्यन्जीवों को अमृतत्त्व का पाठ पढ़ाते हैं, जो न केवल भारत वसुन्धरा तक सीमित है, प्रत्युत् संसार के समस्त भूभागों में 'बहुजनहिताय, बहुजनसुखाय' सिद्ध हुआ जो सिद्धार्थ का आदर्श चरित्र सभी के लिये अनुकरणीय है।

नन्द-विमातृज –

सिद्धार्थानुज 'नन्द' भी एक राजकुमार के स्वरूप एवं सौख्य के संवलित युवराज थे। वह भी सिद्धार्थ के सदृश ही शिष्ट तथा उनके प्रति विश्वस्त और सद्भाव युक्त थे। दोनों ही युवराज महाराज शुद्धोदन के प्रिय राजकुमार थे। किन्तु दोनों के स्वभाव में पर्याप्त पार्थक्य था। उनमें प्रथम (सिद्धार्थ) सांसारिकता से विमुख एवं उससे नितान्त असंतुष्ट थे, जब कि द्वितीय (नन्द) सांसारिक प्रपञ्चों, राजकीय वैभव एवं सुखों से पूर्ण संतुश्ट थे और वह भव-तृष्णा में निमग्न तथा कामोपभोगों में निरन्तर लिप्त थे। साधुता के अंकुर उनमें भी विद्यमान थे, किन्तु वह मस्तिष्क के दुर्बल एवं दृढ़ता का उनमें अभाव था। उनके लिये सवस्व उनकी पत्नी 'सुन्दरी' ही थी और वह दिन-रात उसके साथक काम-कर्दम में निमज्जित थे। फिर भी उनमें एक वैशिष्ट्य यह था कि यह अग्रज बुद्ध की आज्ञाओं का उल्लंघन, अपने विनम्र स्वभाव के कारण कभी नहीं कर सके। वह भिक्षा-पात्र लेकर द्वार पर उपस्थित बुद्ध से मिल न सकने के कारण दुःखी होते हैं और उनसे मिलने के लिये चल देते हैं। बुद्ध उन्हें सन्मार्ग पर चलने तथा सद्धर्म की शिक्षाओं का अनुवर्तन करने का उपदेश देकर अपने उपाय-कौशल से उन्हें भी साधना के मार्ग में, उनके न चाहते हुए भी, लगा कर उनका भी उद्धार कर देते हैं।

यशोधरा –

यह परम सुन्दरी, सती साध्वी सिद्धार्थ की भार्या थी। महनीय गुणों से वह भी विभूषित थी। अपने परम प्रिय आर्यदेव (सिद्धार्थ) के वन-गमन से अत्यन्त अधीर हो जाती तथा करुण विलाप करती हुई छन्दक एवं कन्थक के प्रति, जो उद्गार व्यक्त करती हैं, उससे उनके चरित्र पर पर्याप्त प्रकाश पड़ता है। हे छन्दक! रात्रि में गहन निद्रा की गोद में निमज्जित मुझ विवशा का त्याग कर, मेरे प्राणनाथ कहाँ गये? तुम कन्थक के साथ उन्हें लेकर गये और अब केवल तुमको एवं कन्थक को अकेले वापस देखकर मुझे अनिष्ट की आशंका हो रही है। करुण विलाप करते हुये उन्होंने पुनः कहा- तुमने अनार्य, अस्निग्ध तथा शत्रु सदृश कार्य किया है। तुम एक तरफ तो आँसू बहा रहे हो और दूसरी ओर

स्वामी का अपहरण कर अभद्र कार्य किये हो। जाओ, तुमने अपनी इच्छा पूरी कर ली, आनन्द मनाओ, यतः तुम्हारा अभीष्ट जो पूर्ण हुआ। कन्थक को सम्बोधित कर उन्होंने उससे कहा- तुम्हें भी हमारा अनिष्ट इष्ट था, अन्यथा हमारे सर्वस्व का अपहरण कैसे होता? रात्रि की घोर निद्रा में निर्गम रत्न-चोर की भाँति मेरे अमूल्य रत्न को तुमने लूट लिया। तुम्हारे सदृश व्यक्ति के लिये ऐसा अनर्थ विस्मयावह नहीं है, क्योंकि जो तीखे बाणों के प्रहार को सहन करने की सामर्थ्य रखता है, उसके लिये कोड़े का प्रहार क्या सह्य नहीं है? जो तुमने उसके भय से मेरा सौभाग्य, दुर्भाग्य में बदल डाला। इस प्रकार चक्रवाक से वियुक्त चक्रवाकी की भाँति वह (यशोधरा) बारम्बार भूमि पर गिरती और बिलखती रही तथा नाना प्रकार से प्रलाप करती है।[1] इन समस्त दुःखों को झेलती हुई, उसने जो अन्य उद्‌गार अभिव्यक्त किये, उससे भी उसके उदात्त-चरित्र पर प्रकाश पड़ता है। एक आदर्श आर्य स्त्री के समान उन्होंने अपनी अभिलाषा स्पष्ट करते हुये कहा- मेरी कामना स्वर्ग-सुख की नहीं, जो एक संयातात्मा के लिये दुर्लभ भी नहीं; किन्तु इहलोक एवं परलोक में भी उनसे कदापि वियुक्तन होऊँ, यही मेरी सदा अभिलाषा है।[2]

सुन्दरी-

नन्द की पत्नी सुन्दरी तथ्यतः परम सुन्दरी थी। ऐसा प्रतीत होता है विधाता ने इस जगत् के मर्त्यों को मानो चकित करने के लिये ही विश्व की समग्र सुन्दरताओं को इस अकेली सुन्दरी में एकत्रित कर दिया था।[3] वह सौन्दर्याधायक, तत्त्व आभूषणों का भी आभूषण थी। वस्तुतः वह शोभा एवं स्वरूप के कारण 'सुन्दरी', हठ तथा गर्व के कारण 'मानिनी' और दीप्ति एवं मनस्विता के कारण 'भामिनी' इन विशेषताओं से विभूषत थी। अपने आकर्षक स्वरूप, स्वरूपतानुरूप चेष्टाओं एवं माधुर्यमयी भाव-भंगिमाओं से युक्त वह तत्कालीन सुन्दरियों में सर्वश्रेष्ठ, निश्चयतः विश्वसुन्दरी थी। सौभाग्य से सौन्दर्यानन्द का भी आनन्द 'नन्द' उसका प्राणवल्लभ था। नन्दन-वन विहारिणी देवाङ्गना तुल्य उस 'सुन्दरी' तथा अनुपम सौन्दर्य से सुशोभित कुलालङ्कार 'नन्द' को सृष्टिकर्ता ने सुर-समवाय एवं मर्त्य-वर्ग के मध्य एक दूसरे के लिये सृष्टि की थी। दोनों का पारस्परिक प्रेम अद्वितीय था। वे दोनों परस्पर इतने अनुरक्त थे कि एक की अनुपस्थिति में अन्य वैसे ही विभूषित नहीं होता था, जैसे चन्द्राभाव में रात्रि।[4]

इन अनुरक्ति के अनन्तर, जब उसका प्रिय बुद्ध द्वारा साधना का पथ पकड़कर बौद्ध-धर्म में दीक्षित होकर, 'अमृतत्त्व' की ओर उन्मुख हो जाता, वह अत्यन्त क्षुब्ध,

---

१. बु० च० ८/६१-६६
२. वही, ८/३८-४१
३. सौ० ४/३-६; ७-११; तुलनीय
४.

व्याकुल तथा बार-बार मूर्च्छित होकर पृथ्वी पर गिरती और करुण क्रन्दन करती है, क्योंकि उसे तो भोग-विलास के अतिरिक्त अन्य कुछ दृष्टिगत होता ही नहीं था। अस्तु उसकी करुणावस्था को देखकर जब उम्र में ज्येष्ठ एवं मान्य महिला, पटुवक्ता द्वारा कौशलपूर्वक इन शब्दों में समझाया जाता- 'तुम एक राजर्षि की रानी हो, पति के धर्म की शरण जाने पर वह शोक तुम्हारे लिये शोभा नहीं देता, क्योंकि इक्ष्वाकुवंशीय राजाओं के लिये तपोवन पैतृक सम्पत्ति स्वरूप है जिसका आश्रयण सभी पूर्ववर्तियों ने किया है। अतएव 'निर्वाण' हेतु निकले हुये शाक्य-श्रेष्ठों की रानियों के लिये यह अन्तःपुर ही तपोवन स्वरूप तपोभूमि रहा है।'[1] इसलिये तुम्हें भी यह शोक समुचित नहीं है। उचित होगा, उनके (नन्द के) साथ सभी की कल्याण-कामना करना।

महाकवि अश्वघोष ने अन्य स्त्री-पात्रों-परिचारिकाओं, नृत्याङ्गनाओं, किन्नरियों, दिव्याप्सराओं के चित्रण, उनकी दुःख-सुखानुभूतियों सहित उनकी मानसिक दशाओं का अनुपम एवं सजीव अङ्कन किया है।

इस बौद्ध महाकवि की कृतियों की भाषा, सरल, सरस एवं मृदुल भावों से परिपूर्ण है। पदावलियाँ प्रायः समासों से रहित एवं लालित्यपूर्ण हैं। कतिपय ऐसे भी पद्य हैं जिनमें समस्त पद बिलकुल ही नहीं हैं।[2] इनकी काव्य-शैली श्लेषरहित ललित, मनोहारी एवं रससिक्त है। गूढ़ एवं रहस्यमय बौद्ध-सिद्धान्तों को भी सरलतम ढंग से, सामान्य जन को भी समझाने में अश्वघोष सफल हैं। इन्हें कालिदास सदृश वैदर्भी प्रिय है तथा प्रसाद गुण से इनकी रचनायें परिपूर्ण है। इनकी रचनायें, यथा पूर्व पंक्तियों में कहा जा चुका है अंकार, समास, ओज आदि के भार से कहीं भी बोझित नहीं दिखती है। इनकी छन्द-योजना[3] के अन्तर्गत अनुष्टुप् सदृश प्रचलित सामान्य एवं सरल छन्दही परिलक्षित होते हैं, तथापि इन्होंने कुछ ऐसे छन्दों- सुवदना, उद्गता आदि का प्रयोग किया जो महाकवि कालिदास में नहीं अवलोकित होते हैं। इनकी रचनाओं में व्यवहृत सूक्तियाँ- 'सुखं हि ध र्मस्य वदन्ति मूलम्'; 'सर्वेषु भूतेषु दया हि धर्मः'; 'कलिवियोगो नियतः प्रजानाम्'; 'वयः प्रकर्ष प्रतिको मनोरथः'; 'दुर्लभं शान्तमजरं परं तद्गतं पदम्'; 'न कामभोगा हि भवन्ति तृप्तये'; 'दुर्लभं तु प्रियहितं स्वादु पथ्यमिवौषधम्' आदि आकर्षक, लोकोपकारी तथा शिक्षाप्रद हैं। अश्वघोष की कृतियों में कुछ ऐसे पदों का प्रयोग भी दृष्टिगत होते हैं, जिनका परवर्ती रचनाओं में सर्वथा अभाव है। यथा-तर्ष, पुष्पवर्षम्, प्रविद्धादि। महाकवि अश्वघोष आर्षकाव्यों के अनन्तर सूखती हुई साहित्य-सरिता के मध्य एक सेतु स्वरूप कहे जा सकते हैं। उन्होंने परवर्ती काव्यकारों को विभिन्न काव्य-विद्याओं की रचना हेतु आदर्श प्रस्तुत

१. वही, ६/७-१९; २४-२५ आदि।
२. सौ० १३/३२; १५/३६, ३७।
३. प्रयुक्त छन्द सूची के लिये द्रष्टव्य - बौ० सं० का० समीक्षा, पृ० १८९-१९०।

किया है। वह एक दार्शनिक व्यक्तित्व होते हुये भी महाकाव्यकार, नाट्यकार, कथाकार एवं स्तोत्रकार के यशस्वी व्यक्तित्व से समलंकृत हैं। वह एक सद्धर्मोपदेशक के रूप में सदा स्मरणीय हैं। गीतोपदेश से संतृप्त एवं कृतकृत्य अर्जुन द्वारा साभार कहे गये ये वचन शिक्ष्यवर्ग सहित सभी के लिये ध्यातव्य है-

नष्टो मोहः स्मृतिर्लब्धा त्वत्प्रसादान्मयाच्युत।

स्थितोऽस्मिं गतसंदेहः करिष्ये वचनं तव।। गीता, १८/७३

इसी प्रकार बुद्धोपदेश के सर्वथा संतष्ट नन्द के कृतातापूर्ण वचन के साथ प्रकृत प्रसङ्ग से लेखनी को विराम देना उचित प्रतीत होता है।

इत्यर्हतः परममारुणिकस्य शास्तु -

मूर्ध्नावचश्च चरणौ च समं गृहीत्वा।

स्वस्थः प्रशान्तहृदयो विनिवृत्तकार्यः,

पार्श्वान्मुनेः प्रतिययौ विमदः करीव।। सौ० १८/६१

जिस बुद्ध को लक्ष्य कर अश्वघोष सदृश काव्यकारों ने अपनी रचनाओं का प्रणयन किया, उसे नमस् करना यहाँ आवश्यक है-

'ऊँ नमो तस्स भगवतो अरहंतो सम्मा संबुद्धस्स।'

• • • •

शूद्रक : मृच्छकटिक

– राधावल्लभ त्रिपाठी

संस्कृत साहित्य में शूद्रक का उल्लेख अनेक प्राचीन रचनाकारों ने किया है। राजशेखर के उल्लेख के अनुसार रामिल और सोमिल (सोमिल्ल) नामक कवियों ने राजा शूद्रक के जीवन को विषय बनाकर 'शूद्रककथा' नामक काव्य की रचना की थी-

तौ शूद्रककथाकारौ रम्यौ रामिलसौमिलौ।
काव्यं ययोर्द्वयोरासीदर्धनारीश्वरोपमम्।।

शूद्रक का एक महत्त्वपूर्ण उल्लेख बाण ने अपने 'हर्षचरित' के षष्ठ उच्छ्वास के अन्त में किया है-

'उत्सारकरुचिं च रहसि ससविचवमेव दूरीचकार
चकोरनार्थं शूद्रकदूतश्चन्द्रकेतुं जीवितात्'।

इसके अनुसार राजा शूद्रक के दूत ने किसी चकोरनाथ चन्द्रकेतु का उसके सचिव के साथ वध कर दिया था। अवन्तिसुन्दरी कथासार तथा क्षेमेन्द्र की 'बृहत्कथामञ्जरी' में भी शूद्रकचरित वर्णित है। 'स्कन्दपुराण' में शूद्रक को 'आन्ध्रभृत्य' कहा गया है। इन सब उल्लेखों तथा वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि के एक शिलालेख के आधार पर श्री चन्द्रबली पाण्डेय का निष्कर्ष है कि वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि ही राजा शूद्रक तथा मृच्छकटिक नाटक का कर्ता था। उनके अनुसार नाटककार भास तथा कामसूत्रकार वात्स्यायन भी इसी पुलुमावि या राजा शूद्रक के समकालिक थे तथा 'पद्मप्राभृतकम्' भाण की रचना भी इसी ने की थी, क्योंकि 'वासिष्ठीपुत्र' का उल्लेख इस भाण में मिलता है।[1]

प्रो० स्टेन कोनो आभीर वंश के राजा शिवदत्त (२४८ ई० के आसपास) को मृच्छकटिककार शूद्रक से अभिन्न मानते हैं। श्री पिशेल "त्रयोदण्डिप्रबन्धाश्च त्रिषु लोकेषु विश्रुताः" की उक्ति को प्रमाण मान कर दण्डी को ही मृच्छकटिक का कर्ता बताते हैं। सिल्वाँ लेव्ही आदि पंडितों का मत है कि किसी अन्य कवि ने, जो अपना नाम देना नहीं चाहता था, अपने से पूर्ववर्ती प्रसिद्ध राजा शूद्रक का नाम देकर मृच्छकटिक की रचना की। डा० कीथ तो शूद्रक को एक काल्पनिक व्यक्ति तक कह डालते हैं। कान्तानाथ शास्त्री तैलंग भी शूद्रक को मृच्छकटिककार नहीं मानते।

---

१. चन्द्रबली पाण्डेय, शूद्रक पृ. १-३८

राजा विक्रमादित्य की भांति शूद्रक भी ईसा के बाद की शतियों में एक किंवदन्ती बन चुके थे। उनका जीवनचरित अनेक कवियों ने लिखा। शूद्रकचरित आख्यायिका उन पर लिखी गयी और रामिल तथा सोमिल ने मिल कर शूद्रककथा लिखी। पंचशिख ने प्राकृत में भी शूद्रककथा नामक काव्य का प्रणयन किया था, 'विक्रान्तशूद्रक' नाटक में तो शूद्रक नायक के रूप में चित्रित किये ही गये थे। बाण, दण्डी, कथासरित्सागर, बृहत्कथामञ्जरी और राजतरङ्गिणी में शूद्रक उल्लिखित हैं, और दण्डी की 'अवन्तिसुन्दरीकथा' तो शूद्रक को मृच्छकटिक के आर्यक और प्रकरणनायक चारुदत्त को उनके सहायक बन्धुदत्त के रूप में सूचित करती है।

ऐसी स्थिति में सम्राट् शूद्रक का काल ईसापूर्व की शताब्दियों में ही माना जाना चाहिये। मृच्छकटिक नाटक में चित्रित सामाजिक, राजनीतिक स्थिति भी इसी को प्रमाणित करती है। बौद्ध भिक्षुओं के ससम्मान उल्लेख तथा बौद्ध विहार को एक घटना का केन्द्र बनाया जाना सूचित करता है कि जिस समय मूलतः मृच्छकटिक लिख गया था, उस समय बौद्धधर्म प्रकर्ष पर था। नवम अङ्क में अधिकरिणक के संवाद 'अङ्गारकविरुद्धस्य प्रक्षीणस्य बृहस्पतेः' में मंगल को बृहस्पति का शत्रु बताया है। यह सिद्धान्त वराहमिहिर के पहले का है। वैशिक कला के प्रचुर उल्लेख भी इस रचना को कामसूत्रकार वात्स्यायन के निकट सूचित करते हैं। मृच्छकटिक के अपाणिनीय प्रयोग भी शूद्रक की प्राचीनता को ही सिद्ध करते हैं।

काव्यशास्त्र के आचार्यों में शूद्रक का सर्वप्रथम सोद्धरण उल्लेख करने वाले आचार्य वामन (आठवीं शती) हैं। उन्होंने शूद्रक का नामोल्लेख किया है और मृच्छकटिक के दो उद्धरण कवि का नामनिर्देश न करते हुए अपने ग्रन्थ 'काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति' में उद्धृत किये हैं, जिनमें से एक चारुदत्तप्रकरण में भी मिलता है।[1]

यदि चन्द्रबली पाण्डेय की उपस्थापना को उक्त उल्लेखों से जोड़कर देखा जाय, तो शूद्रक का विक्रमादित्य तथा कालिदास के कुछ पूर्व दूसरी शती ई०पू० में माना जा सकता है।

आचार्य बलदेव उपाध्याय आदि पण्डित पुराणों के उल्लेख के आधार पर आन्ध्रभृत्य राजा शिमुक (२४० ई०पू०) को ही शूद्रक मानते हैं, तदनुसार भी शूद्रक का समय कालिदास के आसपास या उनसे कुछ पूर्व सिद्ध होता है।[2] स्कन्दपुराण के अनुसार शूद्रक का समय विक्रमादित्य से २७ वर्ष पूर्व है।[3]

---

१. द्र., काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, ३/२/४ तथा ४/३/२घ और ५//३

२. पं. बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास (१९५६), पृ. ४५९

३. वही, पृ. ४५८

प्रोफेसर वार्डर ने शूद्रक तथा मृच्छकटिक के कर्तृत्व को लेकर पुनः स्टेन कोनो द्वारा प्रदर्शित दिशा से छानबीन की है। वे शूद्रक का सम्बन्ध आभीरवंशीय राजाओं से मानते हैं। सातवाहन राजाओं तथा वाकाटकों के बीच ६७ वर्ष तक आभीर वंश का शासन विन्ध्यक्षेत्र के आसपास रहा। इन्हीं आभीर राजाओं में से किसी ने उज्जयिनी से सातवाहनों को विस्थापित किया तथा बाद में शकों को भी अपने अधीन बनाया। वार्डर के अनुसार राजा शूद्रक इन्हीं आभीर राजाओं में से एक है।[1] संभवतः वे इस आभीर राज्य के संस्थापक ईश्वरषेण के उत्तराधिकारी हैं। इस हिसाब से उनका समय २०० ई. के आसपास ठहरता है। स्कन्दपुराण ने राजा शूद्रक का समय ३२६० कलिवर्ष बताया है (१८८ ई०), जो इस गणना से मेल खाता है। वार्डर अज्ञातकर्तृक 'वीणावासवदत्तम्' नाटक का लेखक भी मृच्छकटिककार शूद्रक को ही बताते हैं तथा वीणावासवदत्तम् का रचनाकाल २०० ई० के आसपास रखते हैं। पर शूद्रक को इतना परवर्ती मानना समीचीन नहीं है।

मृच्छकटिकम् की प्रस्तावना से शूद्रक-चरित पर प्रकाश-

शूद्रक के विषय में कदाचित् सर्वाधिक प्रामाणिक जानकारी स्वयं मृच्छकटिक नाटक की प्रस्तावना से ही मिलती है। इस प्रस्तावना में सूत्रधार शूद्रक को एक प्राचीन यशस्वी राजा के रूप में प्रख्यापित करता है। तदनुसार वे जाति के 'द्विज' (क्षत्रिय?) थे और संग्रामप्रेमी और परमवीर थे। देखने में वे बड़े ही सुन्दर थे और सुकवि होने के साथ-साथ महापण्डित भी थे। वे ऋग्वेद, सामवेद, गणित, वैशिक (वेश्याओं के विषय में ज्ञान), अग्निवेशकृत चौसठ कलाओं, नाट्यकला और हस्तिविद्या में पारंगत थे। शङ्कर की उन पर कृपा थी। बल उनमें इतना था कि हाथियों से भिड़ जाते थे। चरित्र उनका बड़ा सात्त्विक था। उन्होंने अश्वमेध यज्ञ भी किया था और अनन्त में अपने पुत्र को राजपाट सौंप कर पूरे एक सौ वर्ष और दस दिन की आयु पूरी कर अग्नि में प्रवेश कर अपने प्राणों का विसर्जन कर दिया था।[2]

प्रस्तावना के पाँचवें पद्य में 'क्षितिपालः किल शूद्रको बभूव' (ऐसा वह राजा शूद्रक हुआ था) तथा 'चकार सर्वं किल शूद्रको नृपः' (यह मृच्छकटिक रूपक वह ही लिख गया

---

१. इण्डियन काव्य लिटरेचर, भाग-३, पृ. ३-५

२. द्विरदेन्द्रगतिश्चकोरनेत्रः परिपूर्णेन्दुमुखः सविग्रहश्च।
द्विजमुख्यतमः कविर्बभूव प्रथितः शूद्रक इत्यगाधसत्त्वः।।
ऋग्वेदं सामवेदं गणितमथ कलां वैशिकीं हस्तिशिक्षां
ज्ञात्वा शर्वप्रसादाद् व्यपगततिमिरे चक्षुषी चोपलभ्य।
राजानं वीक्ष्य पुत्रं परमसमुदयेनाश्वमेधेन चेष्ट्वा
लब्ध्वा चायुः शताब्दं दशदिनसहितं शूद्रकोऽग्निं प्रविष्टः।। (मृच्छकटिक, प्रस्तावना, पद्य-३, ५)

है)-इन वाक्यखण्डों से तो यही लगता है कि सूत्रधार मृच्छकटिक को शूद्रक नाम के काफी पहले के किसी कवि की रचना के रूप में प्रस्तुत कर रहा है।

यदि संस्कृत साहित्य की प्राचीन परम्परा शूद्र को एक सुविश्रुत यशस्वी महाकवि और सम्राट् के रूप में जानती है, तो आधुनिक विद्वान् उनके विषय में इन छिटपुट उल्लेखों के आधार पर मात्र अटकलें ही लगाते रहे हैं। ऐसी स्थिति में शूद्रक की पहेली कैसे सुलझे? स्टेन कोनो तथा वार्डर का यह मन्तव्य भी संभावनापूर्ण तो लगता है कि शूद्रक आभीरवंशीय कोई राजा थे। कोनो ने तो उन्हें ईश्वरषेण के पिता शिवदत्त से अभिन्न ही मान लिया है।

आभीरवंशी राजाओं के द्वारा सातवाहनों का अंत करने के अनन्तर विन्ध्यक्षेत्र से उज्जयिनी में अपने आपको स्थापित करने के तथ्य से ऐतिहासिक शूद्रक की रचना के साथ आंतरिक संगीत प्रतीत होती है। वहाँ भी तो गोपाल दारक उज्जयिनी का शासन बनता है राजा को विस्थापित करके। दूसरी ओर बाण अपनी कादम्बरी में राजा शूद्रक को विदिशा का राजा बताते हैं, पर चन्द्रापीड के रूप में उसके पूर्वजनम के द्वारा वे उसे उज्जयिनी में भी प्रतिष्ठापित करते हैं। इन उल्लेखों से शूद्रक का विन्ध्यक्षेत्र या दशार्णदेश के आसपास का शासक होना और कालान्तर में उज्जयिनी पर उसका अधिकार होना सिद्ध होता है। यह कहना अवश्य कठिन है कि आभीरवंशी शिवदत्त स्वयं शूद्रक हैं या उसके पुत्र ईश्वरषेण का उत्तराधिकारी।

पर यदि शूद्रक कथा रचयिता सौमिल कालिदास के द्वारा उल्लिखित सौमिल्ल से अभिन्न हैं, तब तो शूद्रक का समय कालिदास से पहले चला जाता है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि कई शताब्दियों तक साहित्यकारों और आचार्यों की परम्परा जिस आदरभाव से शूद्रक का एक कलामर्मज्ञ, कवि और कवियों तथा विद्वानों के आश्रयदाता के रूप में स्मरण करती आयी है, उसे देखते हुए शूद्रक के अस्तित्व से इंकार करना भी असमीचीन है और उसके मृच्छकटिक के कर्तृत्व से भी।

दरिद्रचारुदत्त और मृच्छकटिक

भासकृत (?) 'दरिद्रचारुदत्त प्रकरण' के श्री टी. गणिपति शास्त्री द्वारा प्रकाशित चार अङ्कों से मृच्छकटिक के कर्तृत्व की समस्या में एक पेंच और आ जुड़ा है। कुछ विद्वानों ने तो यह मान लिया कि भास और शूद्रक एक ही व्यक्ति है। चन्द्रबली पाण्डेय के मत का उल्लेख पहले किया ही गया है, वे शूद्रक को भास का समकालिक मानते हैं। मृच्छकटिक के प्रथम चार अङ्कों तथा दरिद्रचारुदत्त के प्राप्त चार अङ्कों में आद्यन्त साम्य है, प्रस्तावना से लगा कर सारे पात्र वही के वही, संवाद भी कुछ भाष के परिवर्तन के साथ वही के वही। कुछ विद्वानों ने यह मत भी व्यक्त किया कि चाक्यारों ने मृच्छकटिक को अपने रङ्गमञ्च के अनुकूल बनाने के लिये उसका सरल नाट्यालेख दरिद्रचारुदत्त के रूप

मे तैयार कर लिया, जिसमें से मृच्छकटिक की राजनीतिक क्रान्ति की सारी पृष्ठभूमि तो निकाल दी गयी, केवल चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रणय की कथा ही रखी गयी। दरिद्रचारुदत्त मूल आलेख या मृच्छकटिक और इस नाटक के कर्ता भास है। या शूद्रक- इन प्रश्नों का समाधान टेढ़ी खीर है। इतना अवश्य स्पष्ट लगता है कि मृच्छकटिक की भाषा चारुदत्तप्रकरण की तुलना में अधिक परिष्कृत और मौलिक है। दरिद्रचारुदत्त केवल चार ही अङ्कों का रूपक था-यह भी सत्य प्रतीत नहीं होता, क्योंकि भोज ने 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में दरिद्रचारुदत्त से जो पद्य उद्धृत किया है, वह प्रसंग को देखते हुए इस प्रकरण के आठवें अङ्क का होना चाहिये। इसी प्रकार सागरनन्दी के नाटकलक्षणरत्नकोश में क्षोभजनक अनिमित्तिदर्शन की व्याख्या में चारुदत्त का यह संवाद उद्धृत किया है-

शुष्कद्रुमगतो रौति आदित्याभिमुखसंस्थितः।
कथयत्यनिमित्तं मे वायसो ज्ञानपण्डितः।।

प्रसंग तो मृच्छकटिक के नवम अङ्क का है, जहाँ नायक अधिकरणमण्डप में प्रवेश करते हुए अपशकुन देखता है। पर यह पद्य मृच्छकटिक में नहीं है। मृच्छकटिक के मूल संवादों से मिलान करने पर प्रतीत होता है कि उपरिलिखित पद्य चारुदत्त के इन संवादों का सरलीकृत रूप है-

रूक्षस्वरं वाशति वायसोऽयममात्यंभृत्या मुहुराह्वयन्ति।
सव्यं च नेत्रं स्फुरति प्रसह्य मामनिमित्तानि हि खेदयन्ति।। १०

तथा-

शुष्कवृक्षस्थितो ध्वाङ्क्ष आदित्याभिमुखस्तथा।
मयि चोदयते वामं चक्षुर्घोरमसंशयम्।। ११

ऐसा प्रतीत होता है कि मृच्छकटिक की भाँति दरिद्रचारुदत्त का आलेख भी पूरे दस अङ्कों का ही रहा होगा, उज्जयिनी की राजनीतिक क्रान्ति से जुड़ा आर्यक का प्रसङ्ग अवश्य इसमें से निकाल दिया गया है, दूसरे अङ्क में द्यूतकर, संवाहक, माधुर और दर्दुरक के बीच घटित सारे वृत्तान्त और इनसे अभिनीत अतिशय रोचक दृश्य को भी दरिद्रचारुदत्तकार ने हटा दिया है, क्योंकि इस पूरे दृश्य की परिणति दर्दुरक के द्वारा आर्यक के साथ क्रान्ति में सम्मिलित होने की घोषणा में होती है। दरिद्रचारुदत्त पूरे कथानक को चारुदत्त और वसन्तसेना की प्रणयकथा पर और अधिक केंद्रित करता हुआ जान पड़ता है। पर उक्त द्यूतकर आदि का दृश्य और क्रान्ति की योजना मूल नाटक में बाद में जोड़ा गया क्षेपक हो- यह तो नहीं कहा जा सकता। अतएव दरिद्रचारुदत्त को ही मूल नाटक का संक्षेपीकरण और सरलीकरण मानना अधिक उचित है।

निष्कर्ष :

तब क्या मृच्छकटिक ही मूल नाटक है? इस प्रश्न का सकारात्मक उत्तर देने पर कई प्रतिप्रश्न उठ खड़े होते हैं। प्रस्तावना में सूत्रधार द्वारा इस प्रकरण को अतीत के किसी प्रसिद्ध शूद्रक राजा का रचा हुआ बताना इस संभावना की ओर इंगित करता है कि इस सूत्रधार को जो पुराना नाट्यालेख मिला है, उसे कालक्रम में संपादित परिवर्धित किया गया होगा। इस दृष्टि से मृच्छकटिक के प्रथम अङ्क में दरिद्र्यवर्णन के तृतीय अङ्क में स्त्रीनिन्दा के तथा पञ्चम अङ्क में वर्षावर्णन के बहुसंख्य पद्य जिनमें से अनेक तो स्फुट पूर्वप्रचलित सुभाषित जान पड़ते हैं, मूल नाटक का हिस्सा नहीं लगते। तब यह माना अधिक समीचीन प्रतीत होता है कि शूद्रक ने अपने राजनीतिक जीवन के अनुभवों की पृष्ठभूमि के रूप में गूंथते हुए चारुदत्त और वसन्तसेना के प्रेम की कथा को लेकर एक नाटक बहुत पहले लिखा था, वह अपनी अद्वितीय कथानक परिकल्पना और रोचकता के कारण इतना लोकप्रिय हुआ कि बार-बार खेला जाता रहा और उसकी विभिन्न रङ्गमञ्चीय प्रस्तुतियों में देश, काल तथा प्रेक्षकों की रुचि के अनुकूल परिवर्धन होता रहा। मृच्छकटिक का विशाल कलेवर अहनुमन्नाटक की भांति उसके एक परिवर्धनशील नाट्यालेख होने का प्रत्यय ही देता है। मूल नाटक तो शूद्रक का ही था, पर मृच्छकटिक का वर्तमान रूप उसका एक परिवर्धित संस्करण हो सकता है, और भास या किसी अन्य नाटककार के द्वारा निर्मित दरिद्रचारुदत्त भी उसी का एक अन्य संस्करण है। मूल नाटक कालिदास (प्रथम शती ई०पू०) के भी पहले का हो सकता है, पर उसका मृच्छकटिक के रूप में उपलब्ध परिष्कृत संस्करण कालिदासोत्तरयुग का है, और दरिद्रचारुदत्त तो निश्चित रूप से मूल आलेख नहीं है।

उपर्युक्त विवेचन से निम्नलिखित निष्कर्ष सामने आते हैं-

(१) शूद्रक विक्रमादित्य (५७ ई०पू०) से कुछ पहले हुए। ये महान् शूरवीर राजा और सुकवि थे। इन्होंने मूलतः मृच्छकटिक प्रकरण की रचना की।

(२) शूद्रक के नाटक की लोकप्रियता के कारण इसमें विभिन्न मञ्चीय प्रस्तुतियों के अनुसार शोधन, परिवर्धन या परिवर्तन हुआ। इस प्रक्रिया में इसके दो रूप प्रचलित हुए, जिनमें एक मृच्छकटिक है दूसरा दरिद्रचारुदत्त। दोनों में शूद्रक की मूल कृति ही आद्यन्त दसों अङ्कों तक संस्करणकारों द्वारा अपनी आवश्यकता के अनुसार प्रस्तुत की गयी।

मृच्छकटिक और दरिद्रचारुदत्त के वर्तमान आलेख तैयार करने वालों ने अलग-अलग शूद्रक की मूल रचना को अपने ढंग से रूपान्तरित किया हो- यह भी संभव है। दरिद्रचारुदत्त में सरलीकरण तथा संक्षेपीकरण पर जोर अधिक है, मृच्छकटिक में

लोकप्रिय प्रसंगों के जनरुचि के अनुसार परिवर्धन और पल्लवन पर। दरिद्रचारुदत्त में चार अङ्कों में कुल ५५ ही श्लोक हैं, जब कि मृच्छकटिक के चार पहले के अङ्कों की कुल पद्य संख्या १२६ है। ऐसा लगता है कि दो भिन्न-भिन्न रङ्गमञ्चीय परम्पराओं के लिये ये दोनों नाट्यालेख तैयार किये गये।

कथावस्तु

नाट्यशास्त्र की दृश्टि से मृच्छकटिक एक संकीर्ण कोटि का प्रकरण है। इसकी कथा दस अङ्कों में पल्लवित है। चारुदत्त सार्थवाह इसका नायक और गणिका वसन्तसेना नायिका है। उज्जयिनी के राजा पालक को गोपालदारक आर्यक द्वारा सत्ताच्युत करने की घटना भी पताका के रूप में आधिकारिक वृत्त के साथ-साथ आगे बढ़ती है।

पहला अङ्क उज्जयिनी नगरी के एक मुहल्ले में संध्या के समय आरम्भ होता है। विदूषक चारुदत्त के लिये उसके मित्र जूर्णवृद्ध के द्वारा भेजा गया शाल लेकर आता है। चारुदत्त उससे चौराहे पर मातृबलि अर्पित करने के लिये आने को कहता है। विदूषक आनाकानी करता है, क्योंकि नगर में सांझ के बाद निकलना सुरक्षित नहीं है। चारुदत्त उसके साथ दासी रदनिका को भेजता है। विदूषक चारुदत्त के घर से बाहर आता है और इसी समय उज्जयिनी की सड़क का एक दृश्य उपस्थित हो जाता है, जिसमें शकार (खलनायक) विट के साथ गणिका वसन्तसेना का पीछा कर रहा है। शकार के कथन से वसन्तसेना को पता चल जाता है कि वह इस समय चारुदत्त के घर के निकट है। वह इस दुष्ट शकार से अपनी रक्षा के लिये चारुदत्त के घर में अभी-अभी खोले गये द्वार से जा घुसती है, और इधर शकार उस द्वार से बाहर आयी रदनिका को वसन्तसेना समझ कर पकड़ लेता है।

मैत्रेय (विदूषक) अप्रतिम साहस के साथ शकार को डपटता है। इधर वसन्तसेना और चारुदत्त जो एक दूसरे से पहले से परिचित हैं, इस विचित्र घटनाप्रसंग के द्वारा पहली बार एक दूसरे के इतने निकट और सम्मुख हैं। वसन्तसेना चारुदत्त के घर अपना अलङ्कार उतार कर निक्षेप के रूप में रख देती है और चारुदत्त उसे उसके घर पहुँचवाने की व्यवस्था करता है।

दूसरे अङ्क में वसन्तसेना का अपनी दासी मदनिका के साथ नर्मालाप चल ही रहा है कि यहाँ भी सड़क पर होने वाला एक दृश्य खुल जाता है, जिसमें पाटलिपुत्र से आये संवाहक का द्यूतकार और मथुर जुए में हारा पैसा न चुकाने के लिये पीछा कर रहे हैं। अन्ततः संवाहक को वसन्तसेना के आगे जाकर ही शरण मिलती है और वसन्तसेना तो यह सूचना पाकर पुलकित हो जाती है कि संवाहक चारुदत्त के यहाँ सेवक रहा है। वह जुआरियों को अपनी ओर से अलङ्कार देकर उसे बचा लेती है। संवाहक ग्लानि से

भरकर बौद्ध धर्म में दीक्षा ले लेता हे। इसी समय वसन्तसेना के प्रासाद से एक हाथी छूट कर भाग निकलता है और बौद्ध भिक्षु बने संवाहक को कुचलना ही चाहता है कि वसन्तसेना का एक चेट कर्णपूरक उसे बचा लेता है। मार्ग से निकलता हुआ चारुदत्त अपना प्रावारक कर्णपूरक को पुरस्कार में दे डालता है।

तीसरे अङ्क में वसन्तसेना की दासी मदनिका को दासत्व से मुक्त कराने के लिये उसका प्रेमी शर्विलक चारुदत्त के घर चोरी के प्रयोजन से रात में सेंध लगाता हे। चारुदत्त और विदूषक दोनों निद्रालीन हैं। विदूषक के पास वसन्तसेना के गहनों की पेटी है, जिसे वह स्वप्न में बड़बड़ाता हुआ चारुदत्त को सौंपना चाहता है और चोर शर्विलक उसी उसके हाथ से ले लेता है। चौथे अङ्क में शर्विलक गहने लेकर मदनिका के पास पहुँचना है, वसन्तसेना इन दोनों का वार्तालाप सुन रही है। मदनिका अपनी स्वामिनी के गहने पहचान लेती है और शर्विलक को चारुदत्त के घर चोरी करने के लिये डपटती है। उसके कहने पर शर्विलक स्वयं को चारुदत्त का दूत बता कर गहनों की पेटी चारुदत्त की ओर से लौटाने के लिये उपस्थित हो जाता है। वसन्तसेना मदनिका तथा शर्विलक दोनों से ठिठोली करती हुई मदनिका को दासत्व से मुक्त कर अपनी उदारता का परिचय देती है। इधर चारुदत्त जब देखता है कि उसके घर में सेंध लगायी गयी है और वसन्तसेना की धरोहर चोरी चली गयी है, तो वह अपने को अपमानजनक स्थिति में पाकर अनुताप करता है। उसकी साध्वी पत्नी उसे इस स्थिति से उबारने के लिये अपनी बहुमूल्य रत्नावली गहनों के बदले में वसन्तसेना को देने के लिये विदूषक को सौंप देती है।

पाँचवां अङ्क तथा छठां अङ्क अब तक हुई घटनाओं को एक संकटमय कौतुकवर्धक तथा रोमांचक परिणति पर ले जाते हैं। वसन्तसेना चारुदत्त से मिलने के लिये दुर्दिन में अभिसार करती है। रात्रि में वह चारुदत्त के घर ही ठहर जाती है। अगले दिन प्रातः चारुदत्त उसे पुष्पकरण्डक नामक उद्यान में मिलने के लिये कहता है और वसन्तसेना स्वयं सड़क पर खड़ी शकार की गाड़ी को अपनी गाड़ी समझ कर उसमें बैठ जाती है, जब कि उसे लाने के लिये भेजी गयी चारुदत्त की गाड़ी में जेल से भाग निकला आर्यक चुपचाप जा चढ़ता हे। राजसेवक राह में जाती गाड़ियों की जांच कर रहे हैं, चन्दनक नामक सेवक गाड़ी में आर्यक को पहचान लेता है, पर राजभक्ति का विचार छोड़कर विद्रोही का साथ देता है, जिस पर उसका शेष राजसेवकों से युद्ध होने लगता है। पर आर्यक चारुदत्त की गाड़ी में पुष्पकरण्डक उद्यान पहुँच जाता है, चारुदत्त उसे अभय देता है।

आठवें अङ्क में गलत गाड़ी में बैठी वसन्तसेना उद्यान पहुँच कर शकार को अपने सामने देख कर हतप्रभ हो जाती है। शकार उससे प्रणय निवेदन करता है, वसन्तसेना के झिड़कने पर गला घोट कर उसे मार डालने का प्रयास करता है और उसे मृत समझ कर अपनी शौर्य का बखान करता हुआ चला जाता है। बौद्ध भिक्षु संवाहक

संयोग से वहाँ आता है और सूखे पत्तों से ढकें मूर्च्छित वसन्तसेना को देख बौद्ध विहार में ले जाता है। नवम अङ्क में शकार अधिकरणिक के आगे चारुदत्त पर वसन्तसेना की हत्या करने का अभियोग लगाता है। इसी समय विदूषक वसन्तसेना के गहनों की पेटी लेकर वहाँ आ पहुँचता है, जिससे यह मान लिया जाता है कि इन्हीं गहनों के कारण चारुदत्त ने वसन्तसेना की हत्या की है। दसवें अङ्क में चारुदत्त को फाँसी पर चढ़ाने के लिये ले जाया जा रहा है। चाण्डाल उसे सूली पर चढ़ाने को होते हैं, तभी संवाहक वसन्तसेना को लेकर वहाँ पहुँच जाता है। इसी बीच राज्य में क्रान्ति हो जाती है और दुराचारी राजा पालक को हटा कर आर्यक सिंहासनाधिरूढ हो जाता है। शकार को चारुदत्त पर झूठा अभियोग लगाने तथा स्वयं वसन्तसेना ही की हत्या का प्रयास करने के लिये फाँसी का दण्ड दिया जाने को है, पर चारुदत्त उसे क्षमा कर के बचा लेता है। वसन्तसेना और चारुदत्त के विवाह के साथ प्रकरण समाप्त होता है।

संविधान

कथावस्तु के संविधान की दृष्टि से मृच्छकटिक जैसा प्रकरण संस्कृत में दूसरा नहीं है, नाटकों में अवश्य ही मुद्राराक्षस की कथा-संघटना उतनी ही कसी हुई, कल्पनाप्रवण और सुशृंखल है जितनी इस प्रकरण की। घटनाचक्र की गत्यात्मकता और अन्विति में यह रूपक बेजोड़ ही है। नाट्यविडम्बना का आद्यन्त जैसा मार्मिक प्रयोग मृच्छकटिक में किया गया है, वैसा भी अन्य किसी रूपक में नहीं मिलता। पहले अङ्क में ही शकार और विट के द्वारा पीछा की जाती वसन्तसेना के आतंक और भय के बीच साहसा चारुदत्त से उसका मिलन कथा के विचित्र विवर्तन का पहला पड़ाव बन जाता है। उसके पश्चात् वसन्तसेना द्वारा जो अलङ्कार सुरक्षा के लिये चारुदत्त को सौंपे गये थे, वे ही शर्विलक के द्वारा चुरा लिये जाने पर परम दारुण व्यथा देने वाले बन जाते हैं। शर्विलक को ही क्या पता है कि अनिच्छापूर्वक स्वप्नाविष्ट विदूषक के आग्रह करने के कारण दरिद्र सार्थवाह के घर से जो अलङ्करमञ्जूषा वह ले आया है, वह तो वास्तव में वसन्तसेना की है, जिसके दासत्व से वह अपनी प्रिया मदनिका को ये ही अलङ्कार निष्क्रय मे देकर मुक्त कराना चाहता है। वसन्तसेना वे अलङ्कार भी ले लेती है और चारुदत्त के द्वारा प्रेषित अपनी धूता की रत्नमालिका भी, क्योंकि इनके बहाने उसे प्रिय से मिलने का फिर अवसर मिल जाता है। मृच्छकटिक (मिट्टी की गाड़ी) का दृश्य तो संस्कृत नाट्यसाहित्य में भास के स्वप्नवासवदत्त में विहित स्वप्नदृश्य की तरह ही कल्पनाशीलता, आकस्मिकता, मनुष्य के हृदय का रागावेश और संपूर्ण कथासंविधान को एक झटके से भिन्न धरातल पर पहुँचा देने की क्षमता के कारण अप्रतिम ही है। चारुदत्त का पुत्र पड़ोसी के बच्चे को सोने की गाड़ी के खिलौने से खेलता देख स्वयं की मिट्टी की गाड़ी के स्थान पर सोने की गाड़ी से खेलना चाहता है। वसन्तसेना उसे देखकर वात्सल्य से भर उठती है और अपने सारे गहने उतार कर उसकी

मिट्टी की गाड़ी में भर देती है। इसके ठीक बाद वह शकार की उस गाड़ी में भ्रमवश बैठ जाती है, जो उसे काल के मुख तक ले जाने वाली है। इधर उसके द्वारा बच्चे की खिलौने की गाड़ी में अर्पित कर दिये अलङ्कार ही चारुदत्त के प्राणदण्ड के कारण बन जाते हैं। जिस भिक्षु की वसन्तसेना ने जुआरियों से रक्षा की थी, वह एक दिन उसे मूर्छित और अर्धमृत अवस्था से उबार कर जीवन दान ही नहीं देता, वह अपने पूर्वस्वामी चारुदत्त को भी ठीक उस क्षण पर वधस्थल तक पहुँच कर बचा लेता है, जब चारुदत्त को फाँसी लगायी जाने वही वाली है। कदाचित् भास के प्रतिज्ञायौगन्धरायण को छोड़कर संस्कृत में यही ऐसा निराला रूपक है, जिसमें प्रणयकथा की सारी सुकुमारता और रागात्मकता के साथ-साथ नगर में होने वाली राजनीतिक गतिविधियों और राजा के विरुद्ध किये गये सफल विद्रोह के कथानक को नाटककार ने इस निपुणता से संश्लिष्ट कर दिया है कि वसन्तसेना और चारुदत्त के रोमांचक प्रेमाख्यान की कल्पना भी दर्दुरक, आर्यक, शर्विलक आदि के द्वारा की गयी क्रान्ति के बिना नहीं की जा सकती। दुर्दरक और शर्विलक के कथनों से तो यह लगने लगता है जैसे आज का कोई प्रतिभाशली रचनाकार हमारे समय में हो रही सर्वहारा की क्रान्ति का बीजवपन कर रहा है। दर्दुरक तो स्वयं कंगाल है, पर वह प्रधान सभिक माथुर के द्वारा संवाहक को सताया जाता हुआ नहीं देख पाता और सभिक से भिड़ जाता हे। द्यूतकर दृश्य के अंत में यह कहता है कि प्रधान सभिक से रार मोल ले कर मैंने संकट में अपना गला फँसा ही लिया है, अब अपने मित्र शर्विलक के कहे के अनुसार राजा पालक को राजसिंहासन से हटा कर आर्यक को राजपद पर प्रतिष्ठित करने का प्रयास में सहायता करूँगा। शर्विलक विवश होकर ही चोरी करता है, क्योंकि प्रेयसी मदनिका को दासत्व से मुक्ति दिला कर उसे ब्याह रचाने का और कोई उपाय नहीं है। यह भी कैस सुख-दुःख भरा विचित्र संयोग है कि जिस दिन प्रेयसी मदनिका को वह ब्याह कर लाया, उसी दिन आर्यक भी कारागार से छूट के बाहर निकल भागा। अब यह समाचार सुनकर शर्विलक के लिये नववधू के साथ प्रणयक्रीड़ा करने का अवसर और अवकाश ही कहाँ बचा? उसे मदनिका का रेभिल के घर छोड़ कर क्रान्तियज्ञ में अपनी आहुति देने तुरन्त पहुँचना पड़ गया। मदनिका भी कैसी थी कि उसने उपालम्भ का एक शब्द न कहा, बल्कि आँखों में आँसू भर कर इतना ही बोली- 'तत्परं नयतु मामार्यपुत्रः समीपं गुरुजनानाम्।' शर्विलक भी इसे रेभिल के घर छोड़ कर संग्राम के लिये निकल पड़ा। यही रेभिल चारुदत्त का भी मित्र है, जिसके घर वह संगीत सुनने के लिये आया-जाया करता है। इस तरह शूद्रक ने सम्बन्धों का ऐसा जटिल ताना-बाना अपने नाटक में बुना है कि शर्विलक और मदनिका के प्रेम की कल्पना बिना शर्विलक की सामाजिक भूमिका और राजनीतिक गतिविधि के नहीं हो सकती, न चारुदत्त और वसन्तसेना का प्रेम ही शर्विलक, दर्दुरक, रेभिल और आर्यक की भूमिकाओं के बिना पराकाष्ठा तक पहुँच सकता है।

वस्तुतः नायक चारुदत्त आरम्भ से ही पालक के विरुद्ध नगर के न्यायप्रेमी और सचेत लोगों की गुपचुप योजना में सम्मिलित है, या उनके साथ सहानुभूति तो अवश्य ही रखता है। राजा के अनाचार और उससे आतंकित प्रजा का उसे बोध है। अधिकरण-दृश्य में वह कहता है-

'नाहमपरीक्ष्यकारी दुराचारः पालक इव चाण्डालः।'

अतएव यह स्वाभाविक है कि शूद्रक ने प्रणय के सुकुमार-वृत्त के साथ-साथ विप्लव के जिस परुष कथानक को पृष्ठभूमि मं अपनी रचना में उपस्थित किया है, उसके सिद्धान्त और दर्शन का प्रवक्ता चारुदत्त ही हो। दर्दुरक, शर्विलक, आर्यक, रेभिल आदि विप्लव में सम्मिलित हो सकते हैं, पर उसके औचित्य और परिणति को तो चारुदत्त ही एक द्रष्टा की भाँति घोषित करता है-

ईदृशे व्यवहाराग्नौ मन्त्रिभिः परिपातिताः।
स्थाने खलु महीपाला गच्छन्ति कृपणां दशाम्।।

तथा-

ईदृशैः श्वेतकरकीयैः राज्ञः शासनदूषकैः।
अपापानां सहस्राणि हन्यन्ते च हतानि च।। (६/४०, ४१)

राज्य में हो रहे स्याह-सफेद और दुराचार पर यह टिप्पणी तथा राजा के पतन की भविष्यवाणी का संकेत नाटककार ने चारुदत्त के मुख से साभिप्राय ही कराना है।

कुल मिलाकर मृच्छकटिक के कथा-संविधान में द्वन्द्व का सातत्य दो स्तरों पर स्पष्ट है। एक ओर चारुदत्त तथ वसन्तसेना के बीच के सुकुमार-सम्बन्ध-तन्तुओं को नष्ट कर देने को उद्यत अविवेकी शकार के साथ इन दोनों का द्वन्द्व है, तो इसके साथ ही और इससे सर्वथा अनुषक्त पालक, शकार आदि के कुशासन को समाप्त करने के लिये संघर्ष कर रहे लोगों को सत्ता के द्वन्द्व है। अलग-अलग दिशाओं से उपक्रान्त इन दोनों प्रकार के द्वन्द्वों का मृच्छकटिक में गंगा-यमुना की धराओं की भांति संगम हो गया है। फिर तो चारुदत्त का संकट और संघर्ष पालक और शकार के प्रतिपक्ष को छोड़कर शेष सारे पात्रों का, बल्कि उज्जयिनी की सारी जनता का संघर्ष बन जाता है, और आर्यक का संघर्ष भी शर्विलक, दर्दुरक आदि तक सीमित रह कर मदनिका, विट और चाण्डाल आदि पात्रों तक को अपना सहभागी बना लेता है। सामान्य जन के द्वन्द्व की यह कथासृष्टि भी मृच्छकटिक का वैलक्षण्य है।

चरित्रसृष्टि

पात्रपरिशीलन की दृष्टि से मृच्छकटिक की तुलना का दूसरा रूपक संस्कृत में नहीं दिखायी देता। जितनी बड़ी संख्या में इस महानाटक में पात्रों का अवतरण कराया गया है, उतना ही ध्यान नाटककार ने उनमें से हर एक पात्र के चरित्र की रेखाओं को सुस्पष्ट रूप में अंकित करने का भी रखा है। भारतीय समाज के मध्यवर्ग और निम्नवर्ग के लोगों का आलोड-विलोडन-मय एक महान् जनसागर मृच्छकटिककार ने उपस्थित किया है, जो जितना ही चमत्कारपूर्ण और विस्मयजनक है, उतना ही सजीव भी। मृच्छकटिक के प्रत्येक पात्र का अपना एक व्यक्तित्व है। शूद्रक की चरित्रसृष्टि में उनकी मनुष्य के प्रति गहरी आस्था और अनुराग का भाव जिस सर्जनात्मक रूप में व्यक्त हुआ है, वह भी हमारे नाट्यसाहित्य में अनुपम ही है। अपनी उदारता, महानुभावता, दानशीलता, साधुप्रकृति और गुणग्राहिता के द्वारा चारुदत्त दर्शकों का ही नहीं, नाटक की संरचना के भीतर भी विभिन्न कथा-संविधानों में प्रत्येक पात्र का मन जीत लेता है। अपना सर्वस्व दान देकर निरीह बन चुके इस ब्राह्मण को शूद्रक ने अद्‌भुत गरिमामय रूप दे दिया है, जो पूरे प्रकरण में अपनी सर्वातिशायिता के कारण नायकत्व को सर्वथा चरितार्थ भी करता है। वसन्तसेना का चरित्र भी संस्कृत नाट्यसाहित्य में अपने ढंग का अकेला ही है, जो नाम से गणिका और आचरण तथा हृदय की निश्छलता में कुलवधू है, और नाटककार उसे अन्त में कुलवधू के पद पर प्रतिष्ठित कराता भी है। इसके समकक्ष एक सचमुच की कुलवधू धूता का चरित्र भी खड़ा किया गया है; जो घर के भीतर के प्रकोष्ठों में रहते हुए भी दर्शकों के मनःकोष्ठों में घर कर लेती है। पति की अपमान से उबारने के लिये जब वह अपनी बहुमूल्य रत्नमाला देने के प्रस्ताव के साथ विदूषक को बुलाती है, तो चारुदत्त को ही अश्रुप्लावित नहीं कर देती, दर्शकों को भी करुणा और प्रशंसा के भाव से भर देती हे।

मृच्छकटिक में संवाहक, दर्दुरक, द्यूतकर, माथुर, शर्विलक, विट, स्थावरक, चाण्डालद्वय, चन्दनक, वीरक आदि कई चरित्र ऐसे हैं, जो मनुष्य चरित्र के तरह-तरह के रूप ही हमारे सामने प्रस्तुत नहीं करते, वे यह भी सिद्ध करते हैं कि नाटककार को मानवीय गरिमा को उसकी परिपूर्णता के साथ प्रस्तुत करने की कितनी चिन्ता है। स्थावरक चेट जिस प्रकार अपने निकृष्ट स्वामी शकार को वसन्तसेना की हत्या करने से रोकता है, जिन शब्दों में उसकी भर्त्सना करता है, तथा शकार के द्वारा बन्दी बना कर भवन के ऊपर के कक्ष में बन्द कर दिये जाने पर भी चारुदत्त को फाँसी से बचाने के लिये जिस प्रकार प्राणपण से उद्योग करता है, वह हमारे मन को झकझोर जाता है।

दर्दुरक के रूप में तो शूद्रक ने ऐसे कंगाल व्यक्ति को उपस्थित किया है, जो अपनी शूरता, प्रत्युत्पन्नमति, अन्याय के विरोध और साहस में बेजोड़ हैं कहाँ तो वह माथुर

ने अपने आपको छिपाने के लिये अपना उत्तरीय ओढ़ कर मुँह ढकना चाहता है और पाता है कि -

अयं पटः सूत्रदरिद्रतां गतो ह्ययं पटश्छिद्रशतैरलङ्कृतः।
अयं पटः प्रावरितुं न शक्यते ह्ययं पटः संवृत एव शोभते।। (२/१०)

(कपड़ा एकदम झिलगा हो गया है, और यह कपड़ा सौ-सौ छिद्रों से सजा हुआ है। यह कपड़ा लपेटे जाने के योग्य न रहा, और यह कपड़ा ढका हुआ ही अच्छा लगता है।)

तब तो वह सोचता है कि माथुर बिचारा मेरा बिगाड़ ही क्या लेगा, क्योंकि मैं तो

पादेनैकेन गगने द्वितीयेन च भूतले।
तिष्ठाम्युल्लम्बितस्तावद्यावत्तिष्ठति भास्करः।। (२/११)

एक पांव से आकाश में और दूसरे से धरती पर रख कर दिन भर यों ही लटका रहता हूँ।

संवाहक को माथुर से बचाने के लिये इसी दर्दुरक का यह कथन-

दुर्वर्णोऽसि विनष्टोऽसि दशस्वर्णस्य कारणात्।
पञ्चेन्द्रियसमायुक्तो नरो व्यापाद्यते त्वया।। (२/१३)

(तू कैसा नीच और पतित है कि सोने की मात्र दस मोहरों के कारण पाँच इन्द्रियों वाले एक मनुष्य को मार रहा है?)

दर्दुरक के स्वर में नाटककार द्वारा यह मनुष्यता का उद्घोष है, मनुष्य की अवमानना करने वाली सारी मदगर्वित शक्तियों का प्रत्याख्यान भी है।

मनुष्य के राग और करुणा के घनीभूत समवाय के द्वारा शूद्रक ने अपने विभिन्न चरित्रों के उपस्थापन में ऐसे आकर्षक रंग भर दिये हैं, जो हृदय को स्थायी रूप से रंजित कर देते हैं। उनकी चरित्रदृष्टि मनुष्य को अत्यन्त गिरी हुई स्थित में भी गरिमारहित नहीं देखना चाहती। शर्विलक ब्राह्मण है, उसे अपने ब्राह्मण और चतुर्वेदी प्रतिष्ठित कुल का होने का गर्व है, पर वही मदनिका के प्रेम के फेर में पड़ कर संपत्तिरहित होने के कारण चोरी का दुस्साहस करता है। जैसे ही उसे पता चलता है कि वह चोरी के लिये जिस विशाल तथा सम्पन्न प्रतीत होने वाले घर में सेंध लगाकर घुस आया है, वह तो एक 'तुल्यावस्थ कुलपुत्रजन' का घर है, तो वह चोरी का विचार छोड़कर वापस होने लगता है। स्वप्नाविष्ट विदूषक के द्वारा 'गौब्राह्मणकाम्यायाः' शपथ दिलाने पर वह उसके हाथ से सुवर्णभाण्ड ले तो लेता है, पर इस अकार्य को करने की ग्लानि उसे कचोटती है।

कुल मिलाकर शूद्रक गहरी करुणा और संवेदना के साथ अपने चरित्रों को प्रस्तुत करते हैं, राजनीतिक वात्याचक्र की पृष्ठभूमि में रखकर भी उनका नाटक संवेदनहीन नहीं हो पाया। मुद्राराक्षस की चरित्रसृष्टि में जहाँ एक प्रकार की निर्ममता का अनुभव होता है, शूद्रक की चरित्रसृष्टि में मनुष्य के हृदय की कोमलता का उतना ही गहरा अनुभव होता है। इसके साथ ही शूद्रक मनुष्य को एक अपार सम्भावना के रूप में भी देखते हैं। वह कब क्य कर बैठेगा- क्या कहा जा सकता है? कब किस नीच व्यक्ति के भीतर का भी देव जाग उठे और उससे अप्रत्याशित कुछ करवा ले। चरित्रसृष्टि का यह वैविध्य और वैपुल्य मृच्छकटिक में ही मिलता है, जिसे विभिन्न कथा-प्रसंगों में पात्रों की अप्रत्याशित प्रतिक्रियाओं के द्वारा शूद्रक सामने लाते हैं। चारुदत्त के घर सेंध लगी है और सेंध को देख कर चारुदत्त उसकी बनावट की सफाई और कलात्मकता की प्रशंसा करने लग जाता है। जब पता चलता है कि वह दुःखी भी होता है कि चोर घर से खाली हाथ ही चला गया होगा, घर में था ही क्या जिसे वह चुराता। जब पता चलता है कि स्वर्णभाण्ड चोरी हुआ है, तो वह प्रसन्न हो उठता है, पर जब विदूषक स्मरण दिलाता है कि वह स्वणभाण्ड धरोहर था, तो आकस्मिक आघात से मूर्च्छित हो कर गिर जाता है। कुछ ही क्षणों में चारुदत्त की एक घटना पर ये बहुरंगी प्रतिक्रियाएं उसके चरित्र की दुर्लभ विशेषताओं को उजागर कर जाती है।

इसी गहरी करुणादृष्टि और मनुष्य के प्रति आस्था के भाव से शूद्रक ने नायक की फाँसी पर ले जाने वाले चाण्डालों का चरित्र भी उपस्थित किया है।

केवल शकार का ही चरित्र ऐसा है, जो आदि से अन्त तक हमारे मन में कोई करुणा नहीं जगाता। पृष्ठभूमि में स्थापित पालक के चरित्र के साथ-साथ वह नाटक के शेष सारे पात्रों से द्वन्द्व में अवस्थित हैं पर शकार भी जितना ही क्रूर, धूर्त तथा मूर्ख है, उतना ही वह हमारी इस दुनिया का एक मनुष्य है, उसके जैसे व्यक्ति तब से लेकर आज तक बराबर हमारे बीच रहे हैं। वस्तुतः मृच्छकटिक के सारे ही पात्र हमारे आसपास की दुनिया के हैं।

रस

मृच्छकटिक के रसबोध का वैशिष्ट्य उसमें विभिन्न रसों की सम्श्लवात्मकता का सातत्य है। भवभूति का कथन – 'मिश्रीकृतक्रमो रसो वर्तते' – इस कृति पर पूरी तरह चरितार्थ होता है। यद्यपि शृङ्गार यहाँ अंगी है और हास्य का उसमें अत्यन्त कुशल पुट शूद्रक ने बराबर दिया है, पर इन दोनों रसों के साथ-साथ बहुसंख्य व्यभिचारी भावों का सम्मर्द तथा वीर, भयानक, रौद्र, करुण और अद्भुत का लगातार ऐसा सम्भेद नाटककार करता चला गया है, जिससे आस्वाद की अछूती धरती यहाँ बन गयी है। पहले अङ्क में

ही चारुदत्त का अपने दारिद्र्य पर विषाद और निर्वेद मन को छू लेता है। उसके साथ ही उसके घर के सामने के राजमार्ग पर आरम्भ होता है शकार का उपद्रव, जिसमें शकार की उक्तियों में हास्य है, तो उसके साथ वसन्तसेना का आतंक, भय, ग्लानि भी है, विट का सौन्दर्यबोध भी है और उसी के बीच हम अनुभव करते हैं वसन्तसेना के हृदय में चुपचाप पहले चारुदत्त के लिए गहरे अनुराग को भी। दूसरे अङ्क में संवाहक का भय भयानक रस की सृष्टि करता है, द्यूतकर और माथुर का क्रोध रौद्र रस का अवतरण करता है और दर्दुरक का औदात्त्य तथा साहस वीर रस का समुज्ज्वल परिपाक करता है। इस सब के साथ फिर वसन्तसेना का परिपक्व होता प्रेम और चारुदत्त के प्रेम का एकनिष्ठ समर्पण प्रसंगवश पुनः मर्मस्पर्शी रूप में सामने आ जाता हैं आगे के सभी अङ्कों में ये स्थितियाँ बराबर साथ-साथ चलती हैं। शर्विलक के द्वारा अर्धरात्रि में चारुदत्त के घर चोरी के लिये सेंध लगाने का दृश्य जितना ही कौतूहल से भरा हुआ है, उतना ही कारुणिक भी है। व्यंग्य या उत्प्रास और विडम्बनाओं के पैने प्रयोगों ने भी मृच्छकटिक के रसपरिपाक को अद्भुत समृद्धि दी है। जुआरियों का दृश्य उस समय के देश-काल को साकार कर देता है, तो अधिकरणिक या न्यायालय के दृश्य में न्याय तथ व्यवस्था की अक्षमता का बोध गहरी टस देता है। वस्तुः अपने समय के यथार्थ को मृच्छकटिककार ने जिस जीवन्त और प्रामाणिक अनुभव के साथ प्रस्तुत किया है, वह इस कृति के विशिष्ट आस्वाद का कारण है।

रङ्गमञ्च –

अभिनय तथा मञ्चीय प्रस्तुतीकरण की दृष्टि से मृच्छकटिक का वर्तमान रूप भारतीय नाट्ययात्रा के लिए महत्त्वपूर्ण पड़ाव का प्रतिनिधि है। सभी अङ्कों में एक विस्तीर्ण अभिनेयक्षेत्र तथा बड़े दृश्यालेख की अपेक्षा है। रत्नावली नाटिका की भाँति यह राजप्रसाद के किसी कक्ष में सीमित स्थल पर अभिनीत नहीं हो सकता। लगभग सभी अङ्कों को अलग-अलग स्थलों पर अभिनय दृश्यों में बाँट दिया गया है, कहीं-कहीं दो-दो तीन-तीन दृश्य एक साथ चले हैं, जिनके स्थान विप्रकृष्ट हैं। नाटक में दूर स्थान तक एक अङ्क में पात्रों का गमन न दिखाया जाय- भरत के इस विधान का भी मृच्छकटिक उल्लंघन करता है।

दूसीर ओर आङ्गिक और वाचिक दोनों का व्यापक स्तर पर ऐसा समवेत प्रयोग संस्कृत के कदाचित् अन्य किसी नाटक में नहीं मिलता, जैसा मृच्छकटिक में। यही इस नाटक की लोकप्रियता का रहस्य भी प्रतीत होता है। ईसा के पश्चात् की शताब्दियों में इस देश में विशेषतः दक्षिण भारत में, विकसित होती नाट्यप्रयोग शैली की बानगी भी मृच्छकटिक का वर्तमान आलेख देता हुआ लगता है। पात्र संवाद बोल कर अपने संवादों की व्याख्या आङ्गिक के द्वारा दर्शकों को समझाते हुए लगते हैं। संवाहक का पीछा जब

माथुर और द्यूतकर कर रहे हैं, तो उसके संवादों के पश्चात् उसके छिपने के लिये नाटककार ने रङ्गनिर्देश दिया है-

'इति बहुविधं नाट्यं कृत्वा तथा स्थितः'

संवाद के पश्चात् अभिनटन की शैली का संकेत नहीं है।

प्रकरण की बनावट के अनुरूप मृच्छकटिककार ने लोकनाट्य की शैलियों को भी इस नाटक में समाहित कर लिया है। चौथे अङ्क में जहाँ विदूषक वसन्तसेना के प्रासाद का लम्बा वर्णन करता है, भाण की शैली का विनियोग किया गया है। मृच्छकटिक का पद्यबाहुल्य भी लोकनाट्यशैली की ओर झुकाव का सूचक है।

इसके सथ ही मृच्छकटिक का रङ्गमञ्च वस्तुतः पौरुष का रङ्गमञ्च होते हुए भी लालित्य सौकुमार्य और मार्दव को जिस तरह साथ लेकर चलता है, उसने इसे एक दुर्लभ और विलक्षण नाट्यकृति बना दिया है। आरभटी और कैशिकी-दोनों वृत्तियाँ इस तरह गलबाहीं कर के अन्य किसी नाटक में आगे नहीं बढ़तीं। दोनों वृत्तियों का अर्धनारीश्वरवत् सहभाव इस प्रकरण में पहले अङ्क से लेकर अन्त तक बना रहा है।

भाषा-शैली

मृच्छकटिक की संवादयोजना में नाटकीयता तथा रङ्गमञ्चोपयोगी भाषा की गहरी पकड़ मिलती है। कहीं ऐसे जटिल तनावपूर्ण स्थल मृच्छकटिक में हैं, जहाँ नाटककार ने अद्भुत संयम और नाटकीय शब्द की परख का परिचय देते हुए नपे-तुले छोटे-छोटे वाक्यों में विराट् अनुभवों को पुंजीभूत कर लिया है। तृतीय अङ्क में शर्विलक के चोरी कर के चले जाने के पश्चात् विदूषक घर में बनी सेंध देखता है और चारुदत्त से कहता है कि तुम मुझे सदा मूर्ख ही कहते आये हो, मैंने कितनी समझदारी की कि रात को तुम्हारे हाथ में स्वर्णभाण्ड सौंप दिया। उसके बाद के संवाद हैं-

चारुदत्त : अलं परिहासेन।

विदूषक : भो, यथा नाममाहं मूर्खस्तत् किं परिहासस्यापि देशकालं न जानामि?

चारुदत्त : कस्यां वेलायाम्?

विदूषक : भोः यदा त्वं मया भणितोऽसि-शीतस्तेऽग्रहस्तः।

चारुदत्त : कदाचिदेवमपि स्यात्। (सर्वतो निरूप्य सहर्षम्) -वयस्य, दिष्ट्या प्रियं ते निवेदयामि।

विदूषक : किं नापहृतम्?

चारुदत्त : हृतम्।

विदूषक : तथापि किं प्रियम्?

चारुदत्त : यदसौ कृतार्थो गतः।

विदूषक : न्यासः खलु सः।

चारुदत्त : कथं न्यासः ? (मोहमुपगतः)

विदूषक का यह कहना कि ठीक है मैं मूर्ख सही, पर क्या ठिठोली कब करना चाहिये यह भी नहीं जानता - इस प्रसंग में कारुण्य और विडम्बना का मर्मस्पर्शी बोध देता है। चारुदत्त का कथन- चलो खाली हाथ तो नहीं गया चोर-उसके चरित्र की सारी बनावट और ऊँचाई को एक साथ साकार कर देता है, और फिर विदूषक के स्मरण दिलाने पर कि वह स्वर्णभण्डतो धरोहर थी, उसका-क्या धरोहर?-कहकर मूर्च्छित होना सारे घटनाक्रम की नायक के परिप्रेक्ष्य से एक व्याख्या बन जाता है।

मृच्छकटिक की भाषा की एक विशेषता उसमें बोलचाल की शैली और मुहावरों के सटीक प्रयोग में भी है। चतुर्भाणी के चार रूपकों को छोड़कर आम लोगों की बोली की ऐसी बानगी, भाषा का देशज रूप और उसका चुलबुलापन और कहीं संस्कृत में देखने को शायद न मिले।

चोरी कर के आये शर्विलक से मदनिका कहती है- शविल्लक स्त्रीकल्यवर्तस्य कारणेनोभयमपि संशये विनिक्षितम्-तुमने स्त्रीरूपी कल्यवर्त (कलेवे) के लिये अपना देह और चरित्र दोनों सन्देह में डाल दिया। 'स्त्रीकल्यवर्त' का महावरा पुरुषप्रधान निम्नवर्गीय समाज की बोली से उठाया गया लगता है, पर शूद्रक ने इसका प्रयोग एक नारी के मुख से ही करवा कर अद्‌भुत व्यंग्य और सौन्दर्य इसमें भर दिया है, जिसमें मदनिका का यह आशय भी ध्वनित हो उठा है कि तुम तो उन लोगों में से नहीं हो जो स्त्री को तुच्छ कलेवा भर समझते हैं।

वास्तव में शूद्रक की भाषा में लोकजीवन का अनुभव इतना सम्पृक्त है कि उनकी भाषा की सहजता और मुहावरों की समृद्धि देखते ही बनती है। वसन्तसेना के प्रासाद में आठवें प्रकोष्ठ में विदूषक उसकी माता को देख कर पूछता है- भोदि, एसा उण का फुल्लपावारहपाउदा उवाणहजुअलणिक्खित्ततेल्लचिक्कणेहि पादेहि उच्चासणे उवविट्ठा चिट्ठदि? और फिर बूढ़ी स्त्री का परिचय जानने पर वह कहता है-अहो से कवट्टडाइणीए पोट्टवित्थारो - यहाँ पर फुल्लपावारह (फूल कढा शाल), कवट्टडाइणी (कपर्दडाकिनी) जैसे शब्द लोकजीवन के अनुभव और उसमें प्रचलित भाषा की समझ से ही आ सकते हैं।

पात्रानुसार भाषा के बदलते हुए रंग मृच्छकटिक में देखते ही बनते हैं। चारुदत्त की भाषा आद्यन्त परिष्कृत और प्रौढ़ है। विदूषक को उसके आगे नाटककार ने कई स्थलों पर बड़ी कुशलता से आम लोगों की भाषा-शैली का बड़ा सधा हुआ प्रयोग करते हुए प्रस्तुत किया है। पाँचवें अङ्क में वसन्तसेना को अलङ्कारभाण्ड के बदले बहुमूल्य रत्नावली देकर लौटा हुआ विदूषक चारुदत्त को गणिकासंसर्ग में उलझने से रोकने के लिये जो बातें कहता है, उनमें लोक जीवन का रसगन्ध समाया हुआ है-

'ता अहं बह्मणो भविअ दाणिं भवंतं सीसेण पडिव विण्णवेमि णिवत्ती अदु अप्पा इमादो बहुपच्चवाआदी गणिआपसंगादो। गणिआ नाम पदुअंतरप्पविट्ठा विअ लेट्ठआ दुक्खेण उण निकरीअदि। अपि अ भो बअस्स, गणिआ, हत्थी, काअत्थओ, भिक्खु, चाटो रासहो अ अहं एदे निवसंति तहिं दुट्ठा विअ ण जाअंति।'

(.....तो हे मित्र, मैं ब्राह्मण हो कर मत्था तुम्हारे आगे टेक कर विनती करता हूँ- इस गणिका के झगड़े-झंझट से दूर ही रहो। जूते में फंसी कंकड़ी की तरह होती है गणिका, एक बार आ घुसी तो सरलता से निकलती नहीं बाहर। हे मित्र, गणिका, हाथी, कायस्थ, भिक्षु, धूर्त और गदहा-ये जहाँ रहते हैं, वहाँ से तो दुष्ट लोक भी दूर ही रहते हैं।)

प्राकृत भाषाओं के प्रयोग की दृष्टि से भी मृच्छकटिक संस्कृत नाट्यसाहित्य में एक अनूठी ही कृति है। नाट्यशास्त्र में विभिन्न पात्रों के लिये अलग-अलग प्रकार की प्राकृत प्रयोग के जो निर्देश हैं, उनका पालन हम इसमें पाते हैं। मृच्छकटिक के टीकाकार पृथ्वीधर ने इसमें शौरसेनी, अवन्तिका, प्राच्या, मागधी, शकारी, चाण्डाली तथा ढक्की - इन प्राकृत भाषाओं का प्रयोग निरूपित किया है। इनमें शौरसेनी मागधी, प्राच्या तथा आवन्तिका तो भाषाएं हैं, शकारी, चाण्डाली और ढक्की विभाषाएं। पात्रानुसार प्राकृतों का प्रयोग पृथ्वीधर के अनुसार इस प्रकार हुआ है-

वसन्तसेना, मदनिका, धूता, कर्णपूरक आदि - शौरसेनी।

संवाहक, स्थावरक तथा अन्य चेट-मागधी।

विदूषक - प्राच्या।

चदनक तथ वीरक - आवन्ती या आवन्तिका।

शकार - शाकारी।

चाण्डाल, द्यूतकर माथुर-ढक्की।

इनमें से ढक्की का निर्देश भरत के नाट्यशास्त्र से नहीं है। इसी प्रकार शाकारी जा मागधी की विभाषा या उपबोली मानी गयी है, मृच्छकटिककार द्वारा उद्भावित भाषा प्रतीत होती है। वस्तुः जिस प्रकार का एक बेढब, दुष्ट, धूर्त और मूर्ख पात्र शकार के रूप में शूद्रक ने गढ़ा है, उन्होंने वैसी भाषा की सृष्टि भी उसके लिये की है। इस भाषा में शकारबाहुल्य का बनावटीपन कहीं प्रतीत नहीं होता, बल्कि नाटककार ने एक विशिष्ट संवाद-शैली और कल्पनाप्रवणता के द्वारा शकार के संवादों में भाषा का एक-एक निराला रूप सामने रख दिया है, जो शैली और संवादों की बनावट की दृष्टि से अप्रतिम ही है। शकार के कतिपय संवाद द्रष्टव्य हैं-

एशा णाणकमूशिकामकशिका मच्छाशिका लाशिका
णिण्णाशा कुलणाशिका अवशिका कामस्स मंजूशिका।
एशा वेशबहू शुवेशणिलआ वारांगना वेशिआ
एशे शे दशणामके मयि कले अज्जाबि मं नेत्थदि।।

तथा- **यदिच्छसे लंबदशाविशानलं पावालअं शुत्तदशेहिं जुत्तम्।**
मंशं च खादुं तह तुट्ठि कादुं चुहू चुहू चुक्कु चुहू चुहुत्ति।।

शकार के सारे कथनों में विचित्र मिश्रीकृतक्रम रहता है, पाण्डित्य और मूर्खता, अधिकार और विनय, दर्प और दैन्य, धूर्तता और पुरोभागिता- ये सब उसके चरित्र में जिस प्रकार गड्डमगड्ड हैं, उसी प्रकार नाटककार ने उसके संवादों की भाषायी संरचना परिकल्पित की है।

पाण्डित्य -

लोक जीवन के अनुभवों तथ व्युत्पत्ति की दृष्टि से भी मृच्छकटिक का रचनाकार अपनी सानी नहीं रखता। अपने शास्त्रीय ज्ञान का प्रदर्शन उसने नहीं किया है, पर प्रसंगानुसार अपने विभिन्न विषयों के गहरे और सूक्ष्म अध्ययन का विनियोग अवश्य नाटक में किया है। भाव रेभिल के घर से रात्रि में संगीत सुनकर लौटते हुए चारुदत्त की गायन पर प्रतिक्रिया न केवल संगीतशास्त्र के ज्ञान की निर्दुष्टता तथा परिपक्वता के साथ प्रस्तुत करती है, चारुदत्त की रसिकता और नाटककार की सहृदयता की भी यह परिचायक है। कला की अनुभूति का यहाँ शूद्रक ने सटीक प्रस्तीकरण किया है-

तं तस्य स्वरसङ्क्रमं मृदुगिरः श्लिष्टं च तन्त्रीस्वनं
वर्णानामपि मूर्च्छनान्तरगतं तारं विरामे मृदुम्।
हेलासंयमितं पुनश्च ललितं रागद्विरुच्चारितं
यत्सत्यं विरतेऽपि गीतसमये गच्छामि शृण्वन्निव।। (३/५)

कामसूत्र का तो साङ्गोपाङ्ग परिशीलन मृच्छकटिक में परोक्ष रूप से नाटककार ने अनुस्यूत कर दिया है। चतुर्थ अङ्क में वसन्तसेना के भवन के विशद वर्णन में नागरकवृत्त का अनुशीलन अन्तर्गर्भित कर दिया गया है। तृतीय अङ्क में शर्विलक के संवादों में चौर्यशास्त्र का जो बारीक तकनीकी ज्ञान व्यक्त है, वह भी अन्यत्र दुर्लभ है। चोरों की शब्दावली और सूक्ष्म क्रियाओं का प्रस्तुतीकरण देख कर लगता है जैसे नाटककार ने उनका प्रत्यक्ष अनुभव किया हो।

काव्यसौन्दर्य

शूद्रक विलक्षण कल्पना के धनी और अभिव्यक्ति की दुर्लभ क्षमता से संपन्न कवि हैं, यद्यपि मृच्छकटिक में नाटकीय संविधान और वस्तुविन्यास पर ध्यान अधिक होने से अपनी कवित्वशक्ति को प्रकट करने का पूरा अवसर उन्हें नहीं मिला। मृच्छकटिक के पद्यों में अनेक ऐसे हैं, जो अन्यत्र प्रचलित सुभाषित रहे होंगे, या भर्तृहरिशतक अथवा मनुस्मृति, पञ्चतन्त्र जैसे ग्रन्थों से भी कतिपय पद्य यहाँ जोड़ लिये गये हैं चाक्यारों, अभिनेताओं आदि के द्वारा इस नाटक की अतिशय लोकप्रियता के कारण इसके ऐसे प्रसंगों में प्रक्षिप्त पद्य जहाँ-तहाँ से जोड़ कर इसका कलेवर बढ़ाया जाता रहा होगा। संस्कृत साहित्य की अनेक प्राचीन उत्कृष्ट तथा लोकप्रिय कृतियों के साथ ऐसा हुआ है। इन प्रक्षिप्त प्रतीत होने वाले पद्यों को छोड़कर मृच्छकटिक के ऐसे काव्यात्मक अंशों का आकलन किया जाये, जो मूल नाटक के ही अंश रहे होंगे, तो एक अतिशय बलशाली, ऊर्जस्वी समृद्ध काव्यधारा से हम साक्षात्कार करते हैं। अपने बिम्बविधान की प्रत्यग्रता तथा उत्प्रेक्षाओं की उर्वरता में शूद्रक बेजोड़ हैं। उत्प्रेक्षा के उदाहरण में उनका यह पद्य, जो अन्धेरे में वसन्तसेना का पीछा करते हुए विट के द्वारा प्रथम अङ्क में कहा गया है, उत्प्रेक्षा के उदाहरण में मम्मट आदि के द्वारा उद्धृत किया जाता है-

लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नमः।
असत्पुरुषसेवेव दृष्टिर्विफलतां गता।। (१/३४)

अंधेरा देह को लीप सा रहा है, आकाश काजल सा बरसा रहा है, और नीच व्यक्ति की सेवा की तरह दृष्टि असफल हो गयी है।

यहाँ प्रथम पंक्ति में उत्प्रेक्षा का चमत्कार है, तो दूसरी में उपमा की नवीनता आकर्षित करती है।

दृश्य, क्रिया या अनुभव को बड़े सहज रूप में सूक्ष्मता के साथ साकार करने की क्षमता भी शूद्रक की अनोखी ही है। इसी के ठीक पहले विट कहता है-

आलोकविशाला में सहसा तिमिरप्रवेशविच्छिन्ना।
उन्मीलितापि दृष्टिनिर्मीलितेवान्धकारेण।। (१/३३)

प्रकाश में विस्तारित पर अचानक इस अंधेरे में बीच से काट दी गयी सी मेरी दृष्टि खुली होकर भी अंधेरे के द्वारा बन्द सी कर दी गयी है।

इसी प्रकार रेभिल के घर से गायन सुनकर लौटने के पश्चात् निद्रालु चारुदत्त की उक्ति में (३/८) ललाट से रेंग कर नयनों तक आती निद्रा के लिये अदृश्यरूप चपल जरा (वृद्धावस्था) से उपमा, जितना ही मौलिक है, प्रस्तुत दृश्य के पर्यावरण के उतनी ही अनुकूल भी है।

पाँचवे अङ्क में ५२ पद्य हैं, जिनमें से अधिकांश वर्षा-वर्णन के हैं। यह कहना कठिन है कि ये सारे ही पद्य मूल नाटककार द्वारा लिखे गये हैं, अथवा इस प्रसंग की रोचकता को देखते हुए वर्षावर्णन के कुछ सुन्दर पद्य सूत्रधारों या परवर्ती संस्करणकारों ने बाद में भी जोड़े हैं। पर अधिकांश पद्यों में शूद्रक की निजी शैली और नवीन कल्पनाशक्ति की छाप स्पष्ट है। चारुदत्त वसन्तसेना के द्वारा निक्षिप्त अलङ्कारभाण्ड की चोरी हो जाने से विवादग्रस्त है। ऐसी स्थिति में उसे वर्षा की धाराएं भी सुहाती नहीं हैं-

अमूर्हि भित्वा जलदान्तराणि पङ्कान्तराणीव मृणालसूच्यः।
पतन्ति चन्द्रव्यसनाद् विमुक्ता दिवोऽश्रुधारा इव वारिधारा।। (५/४४)

कीचड़ को छेद कर निकली मृणाल की नोकों से ये जल की धाराएं बादलों के उदर चीर कर बाहर आ रही हैं, लगता है चन्द्रमा को विपत् में पड़ा देखकर आकाश आँसू बरसा रहा है।

अनेक स्थलों पर शूद्रक के अप्रस्तुत विधान की नूतनता वामन के समाधि गुण को चरितार्थ करती है। इस दृष्टि से कालिदास, बाण या बिल्हण जैसे इने-गिने कवियों के उत्कृष्ट कल्पनायुक्त काव्यांशों के समकक्ष उनकी रचना लगती है। चारुदत्त के शब्दों में ही चन्द्रमा का वर्णन है :

असौ हि दत्वा तिमिरावकाशमस्तं व्रजत्युन्नतकोटिरिन्दुः।
जलावगाढस्य वनद्विपस्य तीक्ष्णं विषाणाग्रमिवावशिष्टम्।। (३/६)

जल में डुबकी मारे हुए जंगली हाथी के एक दांत की सतह से ऊपर निकली कोर जैसा, अंधेरे को फैलने के लिये जगह देता हुआ यह चन्द्रमा जिसका ऊपर का भाग ही दिख रहा है, अस्ताचल की ओर जा रहा है।

वस्तुतः शूद्रक की कविता एक सूक्ष्मदर्शी महाकवि के द्वारा शब्द, स्पर्श, रूप, रस और गन्ध का एक विराट् समृद्ध जगत् हमारे सामने उन्मीलित करती है। उनके जीवन के व्यापक अनुभव, संवेदनशीलता तथा कलाममज्ञता ने इस काव्यसमृद्धि को अछूते आयाम दिये हैं। इन्द्रधनुष के वर्णन में आकार की जमुहाई का बिम्ब (५/५१) एक विलक्षण

प्रतिभाशाली कवि ही उन्मीलित कर सकता है, और वर्षा की धाराओं के अलग-अलग स्थलों पर गिरने की ध्वनि का यह विवेक भी वही स्पष्ट कर सकता है-

तालीषु तारं विटपेषु मन्द्रं शिलासु रूक्षं सलिलेषु चण्डम्।
संगीतवीणा इव ताड्यमानास्तालानुसारेण पतन्ति धाराः।। (५/५२)

पारम्परिक समीक्षा में मृच्छकटिक-

नाट्यशास्त्र के आचार्यों की परम्परा में प्रकरण के रूप में मृच्छकटिक पर पर्याप्त विवेचन हुआ है। दशरूपकावलोकाकार धनिक ने इसे संकीर्ण प्रकरण का उदाहरण बताया है। भोजने अपने शृङ्गारप्रकाश (द्वितीय भाग, पृ. ४६६) में भेद नामक उपाय के उदाहरण में शकार की ऊपर उद्धृत उक्ति (८/२३) को प्रस्तुत किया है तथा विट और शकार के इस स्थल पर संवाद के भी कई उद्धरण दिये गये हैं। इसी प्रकार नालिका के उदाहरण में भी भोज ने (शृ०प्र०, भाग-२, पृ. ४६५) मृच्छकटिक के पहले अङ्क का वह मार्मिक और रोचक प्रसंग उदाहृत किया है, जिसमें अंधेरे में खड़ी वसन्तसेना को चारुदत्त भ्रमवश अपनी दासी रदनिका समझ लेता है। सागरनन्दी ने नाटयलक्षणरतनकोश में शिल्पकाङ्गों के अनेक उदाहरण मृच्छकटिक से दिये हैं। सन्ध्यङ्गों के तो अनेकानेक उदाहरण आचार्य मृच्छकटिक से देते ही आये हैं। नाट्यदर्पणकार रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने इस प्रकरण में पताका (आर्यकवृत्तान्त) की प्रभविष्णुता को सराहा है। (ना०द०, पृ० ४३)। रामचन्द्र-गुणचन्द्र यह भी कहते हैं कि मृच्छकटिक उन रूपकों में से हैं, जिनमें दैवायत्तफल होते हुए भी कर्म में प्रवृत्ति का उपदेश तथा सामाजिकों की बुद्धि का संस्कार होता है (ना०द०, पृ० ४५)। इन आचार्यों ने अपने ग्रन्थ (ना०द०) में भय, विरोध, समय, उद्वेग आदि सन्ध्यङ्गों के उदाहण भी मृच्छकटिक से दिये हैं। इसके साथ ही रामचन्द्र-गुणचन्द्र ने उन आचार्यों के मत का हवाला भी दियाहै, जो मृच्छकटिक को धूर्तसंकुल होने के कारण संकीर्ण प्रहसन मानते हैं। शूद्रक ने मालतीमाधव की भाँति अपने प्रकरण में कैशिकीवृत्ति का बाहुल्य नहीं होने दिया, इसके लिये भी नाट्यदर्पणकार ने इस रूपक को सराहा है (पृ० १०६)।

साहित्यदर्पणकार विश्वनाथ ने प्रकरण की नायक की दृष्टि से तीन कोटियाँ बनायीं हैं- विप्रनायक वाला, अमात्य नायक वाला तथा वणिक् नायक वाला। उन्होंने मृच्छकटिक को प्रथम कोटि में रखा है (सा०द० ६/२५३ तथा वृत्ति)। नायिका की दृष्टि से भी विश्वनाथ प्रकरण तीन प्रकार का मानते हैं, जिसमें से मृच्छकटिक दो नायिकाओं (कुलजा तथा गणिका) से युक्त तृतीय कोटि का प्रकरण है (वही, ६/२५४, तथा वृत्ति)।

• • • •

चतुर्भाणी

– राधावल्लभ त्रिपाठी

संस्कृत नाटयसाहित्य में भास के नाटकों के श्री टी० गणपति शास्त्री द्वारा पुनराविष्कार का जो महत्व है, लगभग वही महत्व चतुर्भाणी के चार भाणों की हमारे समय में पुनरुपलब्धि का हैं। इन भाणों से संस्कृत रूपक का जो एक और विशिष्ठ पक्ष सामने आया और उससे निश्चय ही ही विश्वनाट्यसाहित्य को एक और सम्पन्न गरिमापूर्ण आयाम मिला।

चतुर्भाणी के चार कृतियाँ हैं- शूद्रककृत पद्यप्राभृतकम्, वररूचिकृत उभयाभिसारिका, ईश्वरदत्तकृत धूर्तविट संवाद तथा श्यामिलककृत पादताडितकम्-"इति शूद्रकविरचितः पद्यप्राभृतकं नाम भाणः", "इति श्रीमद्वरुचिमुनिकृतिरूभयाभिसारिका नाम भाणः", "इति श्रीईश्वरदत्तस्य कृतिः धूर्तविटसंवादो नाम भाणः" और "इति कवेरूदीच्यस्य विश्वेश्वरदत्पुत्रस्यार्यश्यामिलकस्य कृतिः पादताडितकं नाम भाणः"-इन पुष्पिकाओं और निम्नलिखित पारम्परिक श्लोक से इन चारों भाणों के कर्ताओं का नामनिर्धारण किया गया है-

वररुचिरीश्वरदत्तः श्यामिलकः शूद्रकश्चत्वारः।
एते भणान् बभणुः का शक्तिः कालिदासस्य।।

यह श्लोक पद्यप्राभृतकम् की पाण्डुलिपि के अन्त में पाया गया है।

संस्करण तथा अनुवाद

चतुर्भाणी के चारों भाणों को सर्वप्रथम श्री रामकृष्ण कवि ने १९२२ ई० में त्रिचूर के श्री नारायण नम्बूदरिपाद से प्राप्त एक मात्र पाण्डुलिपि के आधार प्रकाशित किया। चारों भाणों का हिन्दी अनुवाद डा० मोतीचन्द्र ने किया, जो उनके तथा डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल के संयुक्त सम्पादकत्व में विस्तृत भूमिका आदि के साथ प्रकाशित हुआ।[1] इस बीच चतुर्भाणी के भाणों की अन्य अनेक मातृकाएँ प्राप्त हुई और हालैण्ड के विद्वान् श्री जे० आर० ए० लेमान ने इनका उपयोग करते हुए पद्यप्राभृतकम् का एक संशोधित संस्करण १९५६ ई० में प्रकाशित किया। इस भाण का अंग्रेजी अनुवाद भी उन्होंने इस संस्करण के परिशिष्ट में प्रकाशित किया।

---

१. हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर बम्बई, १९५९, "शृगांरहाट" नाम से प्रकाशित । (यहाँ पृष्ठ संख्याएं तथा सन्दर्भ इसी संस्करण से दिये गये हैं।)

कालनिर्णय

"शृंगारहाट" के सम्पादकों ने चतुर्भाणी के सभी रूपकों का रचनाकाल गुप्तयुग में चौथी-पाँचवीं शती के आसपास सम्भावित माना हैं। चतुर्भाणी के प्रथम सम्पादक श्री रामकृष्ण कवि और श्री रामनाथ शास्त्री का मत है कि चतुर्भाणकर्ताओं का देशकाल एक मानना भावुक कल्पना मात्र है, जब कि शृंगारहाट के सम्पादकद्वय इनके कालनिर्णय में अन्तः साक्ष्यों की अन्विति का प्रमाण उपस्थापित करते हैं।

यदि चतुर्भाणी के कर्ताओं मे वररुचि और शूद्रक को वैयाकरण वररुचि तथा मृच्छकटिककार शूद्रक से क्रमशः अभिन्न माना जाय, तो उभयाभिसारिका और पद्यप्राभृतकम् का रचनाकाल ईसापूर्व ठहरता है। वार्त्तिककार कात्यायन या वररूचि ही "उभयसारिका" के कर्ता हैं, इसके पक्ष में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं-

(१) चतुर्भाणी के कर्ताओं मे पादताडितककार श्यामिलक ने वररूचि का एक प्रेरक-कवि के रूप में सगौरव उल्लेख करते हुए बताया है कि उनके समय के गुप्त और महेश्वरदत्त-ये दो कवि वररुचि के काव्य का अनुसरण करते हुए अपनी प्रतिभा का विकास कर रहे थे।[1] पादताडितकम् के विट को ये दोनों कवि वैशिक में ही मिलते हैं, ऐसी स्थिति में उभयाभिसारिकाकार वररूचि ही उनके प्रेरणास्त्रोत हों- यह मानना उचित है। अतएव श्यामिलक स्वयं भी उभयाभिसारिकाकार वररूचि से प्रेरित और परिचित हैं, यह कहा जा सकता है।

(२) परंपरा वररुचि को कवि के रूप में सम्मानित करती आयी है और वार्तिककार वररूचि के द्वारा 'कण्ठाभरण' तथा 'चारुमति'- ये दो काव्य रचे जाने की मान्यता भी परंपरागत है। संभव है उभयाभिसारिका भाण वार्तिककार वररुचि ने ही लिखा हो। चतुर्भाणी के प्रथम सम्पादकद्वय का भी यही मत है।

अन्तः साक्ष्य से हम चारों भाणों के रचनाकाल की पूर्वसीमा का अनुमान कर सकते हैं। 'धूर्तविटसंवाद' में कामशास्त्र का विस्तृत निरूपण है पर कामसूत्रकार वात्स्यायन का कहीं उल्लेख नहीं है। इसके विपरीत पद्यप्राभृतककार तो वात्स्यायन से भी प्राचीन कामसूत्र के आचार्य दत्तक से परिचित हैं, "कामसूत्र" के स्थान पर वे दत्तकसूत्र का उल्लेख करते हैं-

वेश्याङ्गणं प्रविष्टो मोहाद् भिक्षुर्यदृच्छया वापि।
न भ्राजते प्रयुक्तो दत्तकसूत्रेष्विवालंकारः।। (पद्य २४)

---

१. गुप्तममहेश्वरदत्तौ सुहृदावेकासनस्थितावेतौ।
उपगतकाव्यप्रतिभौ वररुचिकाव्यानुसारेण।। (शृंगारहाट, पृ० २५५, पद्य १४२)

इसके साथ ही बौद्ध भिक्षु का जो वर्णन इस भाण में है, वह उसी काल में संभव था, जब बौद्ध धर्म का वर्चस्व प्रबल रहा होगा । यह स्थिति ईसापूर्व की शताब्दियों की ही हो सकती है। पद्मप्राभृतक का विट बौद्धविहारों में होने वाले पाखंड और व्यभिचार पर खेद भी प्रकट करता है, तथा यह भी कहता है कि इतना सब होने पर भी बुद्धशासन तो सर्वत्र पूजित ही है।[1]

श्री वार्डर तो "उभयाभिसारिका" को प्राचीनतम संस्कृत रूपकों में एक मानते हैं।[2]

शृंगारहाट के सम्पादकों ने चतुर्भाणी का रचनाकाल गुप्तयुग की परिधि में लाने के लिये विटजीवन या वैशिक से जुड़ी शब्दावली की समानता तथा सांस्कृतिक स्थितियों का इन चारों भाणों में एक जैसे चित्रण को प्रमाण माना है। पर शुंगकाल से लेकर पाँचवी शती ई० तक उक्त शब्दावली तथा चित्रित सामाजिक स्थितियाँ न्यूनाधिक वैसी ही चली आयी हों- यह मानने से इन्कार नहीं किया जा सकता। डॉ० मोतीचन्द्र ने चतुर्भाणी की रचना गुप्तकाल में किये जाने के पक्ष में प्रमाण दिये हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि पादताडितकम् चतुर्भाणी में सबसे परवर्ती है। इसके साथ ही चारों भाणों की संरचना और काव्यचेतना में सूक्ष्म अन्तर इतना व्यापक है कि इनका एक रचनाकाल मानना उचित नहीं है। इसके विपरीत पद्मप्राभृतकम् भाण में अन्तर्निहित कविचेतना और उसके पात्रों का उपस्थापन उसके मृच्छकटिककार शूद्रक की कृति होने की सम्भावना को दृढ़ बनाते हैं। श्री रामकृष्ण कवि तथा रामनाथ शास्त्री तो पद्यप्राभृतक के कर्ता शूद्रक तथा मृच्छकटिक, वत्सराजचरित, बालचरित, अविमारकम् और कामदत्ता प्रकरण के लेखक शूद्रक को अभिन्न मानते हैं।

संस्कृत साहित्य में प्राप्त उल्लेखों से इन भाणों की मात्र उत्तर सीमा ही निर्धारित हो पाती है। "पादताडितकम्" का उल्लेख अभिनवगुप्त, कुन्तक तथा क्षेमेन्द्र ने किया है। अतः यह दसवीं शती के पहले का हैं। "उभयसारिका- का उल्लेख एकादश शतक के हेमचन्द्र करते हैं। पादताडितकम् के रचनाकाल के विषय में पूर्वसीमा निर्धारण के लिये निम्नलिखित तथ्य अवधेय हैं-

(१) इस भाग में शकों और हूणों का उल्लेख तथा मौर्य राजकुमार चन्द्रोदय का एक पात्र के रूप में परोक्षतया निरूपण।

---

१. अहो सारिष्टता बुद्धशासनस्य यदेवंविधैरपि वृथामुण्डैरसद्भिक्षुभिरूपहन्यमानं प्रत्यहमभिपूज्यत एव। (पृ० ३२)

२. इण्डियन काव्य लिटरेचर, भाग-३, पृ० ३४६।

(२) टी० बरो के अनुसार इस भाण का भित्तिस्थल सार्वभौमनगर चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा शासित पश्चिमी भारत का एक नगर माना जाना चाहिये। शकों और हूणों का उल्लेख होने से श्यामिलक पाँचवी शती में हुए।

(३) इस भाण में भद्रायुध का उल्लेख है, और उसे कास्रुष-मलद तथा बाह्लीकों का स्वामी बताया गया है। महाप्रतीहार भद्रायुध द्वारा चन्द्रगुप्त द्वितीय के लिये मालव, शक और अपरांत की विजय में सहयोग दिया गया था। "पादताडितकम्" में शककुमार जयन्तक (पृ० २३६) और जयनन्दक (पृ० २६०) का भी उल्लेख है, जिससे अनुमान होता है कि शकों की पराजय के पश्चात् भी शकसान्त या शकराजकुमार कथित सार्वभौनगर (उज्जयिनी?) में विद्यमान थे। सेनापति सेनिक के पुत्र भटिट्मवर्मा को भी पादताडितमकम् में पात्र के रूप में उपस्थित कराया गया है। विट के साथ हुए उसके संवाद से अनुमान होता है कि उसका पिता सेनिक चन्द्रगुप्त द्वितीय के द्वारा ही पराजित किया गया होगा।

(४) पादताडितकम् मे कोङ्कणाधिपति इन्द्रस्वामी (इन्द्रदत्त) उल्लिखित है (पृ० १८६,१६१)। टी० बरो ने पश्चिम भारत के त्रैकूटकों के एक सिक्के के आधार पर इस इन्द्रस्वामी का समय पाँचवीं शती कूता है।

इन प्रमाणों के आधार पर पादताडितकम् का रचनाकाल पाँचवीं शती (श्री बरो के मत से ४१० ई० से ४१५ इ० के मध्य)।

शेष तीन भाणों का समय इतना सुनिश्चित नहीं किया जा सकता, यद्यपि ऐतिहासिक पात्र उनमें भी उल्लिखित हैं? "पद्मप्राभृतकम्" मौर्य राजकुमार चन्द्रोदय का परिचय देता है, जिस पर कुमुदवती गणिका अनुरक्त है। डॉ मोतीचन्द्र द्वारा इस मौर्य चन्द्रोदय का सम्बन्ध छठीं-सातवीं के कोंकण के मौर्य राजकुमारों की परम्परा से जोड़ने का प्रयास अटकलबाजी अधिक लगता है। पद्मप्राभृतकम् से महेन्द्र से उपमा (पृ० ४८) तथा "उभयाभिसारिका" में कुसुमपुरपुरन्दर का उल्लेख डॉ० मोतीचन्द्र की दृष्टि में कुमारगुप्त का संकेत देते हैं। वस्तुतः डॉ० मोतीचन्द्र का संरम्भ शेष तीनों भाणों को भी गुप्तकाल में स्थापित करने के लिये हैं, जबकि शेष भाणों के और प्राचीन होने की सम्भावना के लिये पुष्कल आधार है। पद्मप्राभृतकम् में उज्जयिनी तथा उभयाभिसारिका में कुसुमपुर का वर्णन इन नगरों के विक्रमादित्य (संवत् प्रर्वतक) तथा मौर्यकाल से सम्बन्धित करता प्रतीत होता है। "पद्मप्राभृतकम्" में "प्रस्तावना" के स्थान पर "स्थापना" शब्द का प्रयोग, "उभयाभिसारिका" में "किन्तु खलु मयि विज्ञापनव्यग्रे शब्द इस श्रूयते" आदि वाक्य, धूर्तविटसंवाद में "इमामपि महीं पातु राजा सागरमेखलाम्" का भरतवाक्य, इन भाणों के भास के साथ नैकट्य के सूचक हैं। पद्यप्राभृतकम् में "देवानां प्रियः" आदरार्थक सम्बोधन है, जब पाद ताडितककार के द्वारा इसके प्रयोग में उपहास की छौंक लगती है।

उभयाभिसारिका के कर्ता वररुचि कहे गये हैं, तो वार्तिककार वररुचि के देशकाल का साक्ष्य भी यह भाण देता है। गुप्तकाल में पाटलिपुत्र का यह उत्कर्ष और समृद्धि नहीं हो सकती थी, जो उभयाभिसारिका के कुसुमपुर नगर में चित्रित है।

उपर्युक्त प्रमाणों आधार पर "पद्मप्राभृतकम्" तथा "उभयाभिसारिका" की रचनाकाल ईसापूर्व की दूसरी और तीसरी शतीं मानना ही उचित है।

चतुर्भाणी की विषयवस्तु

भाण के लक्षण के अनुसार इन सभी भाणों में विट ही एक पात्र है जो आद्यंत रंगमंच पर उपस्थित रहता हुआ. आकाशभाषित में विभिन्न पात्रों का संवाद करता है।

इस शैली का सर्वोत्तम रूप में हमें "पद्मप्राभृतकम्" और "उभयाभिसारिका" में मिलता है, जहाँ कई पात्रों के अंतरंग जीवन की रेखाएँ बड़ी बारीकी से उकेरी गयी हैं। इन दोनों भाणों में एक के बाद एक वेशवाट की रूपाजीवाओं और उनसे मिलने वाले पुरुषों को विट संबोधित करता है। वे पात्र जीते-जागते साकार होते हुए लगते हैं।

"पद्मप्राभृतकम्" का आंरभ वसन्त की सुषमा के वर्णन से होता है, फिर विट शश प्रवेश करता है, जो बताता है कि उनका मित्र चौरशास्त्रधुरन्धर धूर्तसम्राट् कर्णीसुत मूलदेव इन दिनों देवसेना के प्रेम में दीवाना है, जब कि सकृत्कृतप्रणया देवदत्ता इधर उसके लिये आकुल है। देवसेना और देवदत्ता दोनों बहनें हैं। देवसेना के बीमार होने का समाचार पाकर कर्णीसुत ने विट शश को उसका हालचाल पूछने के लिये भेजा है। शश वैशिक की ओर बढ़ रहा है कि मार्ग में उसकी भेंट कात्यायनगोत्रीय शारद्वतीपुत्र सारस्वतभद्र नामक कवि से हो जाती हैं कविराज इस समय खड़िया हाथ में लिये दीवाल पर काव्य लिखने के लिए सन्नद्ध रचना की मुद्रा में हैं। विट कहता है- तुम पुराने काव्यरूपी जूते गाँठने वाले मोची हो, गायों के बावले ग्वाले की तरह इसी तरह नवपदसन्धान में लगे रहो। फिर दीवाल पर लिखे सारस्वतभद्र के सद्योरचित वसन्तविषयक पद्य को पढ़ कर उसकी सराहना करता हुआ वह आगे चल देता है कि पीठ पीछे दर्दुरक की हँसी सुनायी देवी है। उसके साथ ठिठोली कर विट विपुलामात्य से बतरस में कुछ समय बिताता है, जिसमें कर्णीसुत के विपुला के साथ प्रणय का प्रसंग भी खुल पड़ता है। विपुला द्वारा मनाने को आये कर्णीसुत को ही दुत्कार देने की बात सुन विपुलामात्य मानिनी को उलाहना देने चल देता है। फिर विट की मुठभेड़ हो जाती है- वैयाकरण दन्दशूक के पुत्र दत्तकलशि से। वह वाद में पिटा हुआ भरा बैठा है, विट के छेड़ते ही मन्दिर के घंटे सी उसकी जिह्वा टनटनाने लगती है। एक ओर उसकी चहेती नूपुरसेना की पुत्री रशनावतिका उसके कर्कश भाषण से खिन्न है, तो दत्तकलशि महाराज इधर कातन्त्र वैयाकरणों से तंग आ गये हैं। हवन करते समय प्रिया रशनावती ने छू दिया, तो उससे इनका झगड़ा अलग हो गया।

दत्तकलशि से पीछा छुड़ा कर आगे बढ़ते ही विट की भेंट धर्मासनिक के पुत्र पवित्रक से हो गयी। विट ने उसके छूआछूत के ढोंग का मजाक उड़ाया और वारुणिका के साथ उसके संबन्धों की चर्चा उघाड़ डाली। फिर उज्जयिनी की पुष्पवीथी में मुड़ते ही वह मृदङ्गवादक वासुलक से टकरा गया, जो गायक आर्य नागदत्त के घर से निकल कर आ रहा था। वासुलक की वेश्याएँ हँसी में भावजरद्गव (बूढ़ा बैल) कहती थीं। खिजाब और लेप लगाये भावजरद्गाव की तुलना विट जीर्णशीर्ण मकान से करता है जिस पर किसी तरह पलस्तर चढ़ाया हो। फिर द्यूतसभा के चबूतरे के पास जाके छिपा हुआ शैशिलक उसे दिख जाता है। छिपने का कारण उसका मालतिका के साथ जोर जबरदस्ती करना है, जिसे बौद्धभिक्षुणी ने उसके पास भेजा था।

यों घूमघाम कर विट वैशिक पहुँचता है तो उसे वेश्या के घर से निकलता हुआ मैली चादर ओढ़े संविघलक नामक भिक्षु मिलता है। विट उसकी जम कर हँसी उड़ता है और कलई खोल कर रख देता है। फिर उसे फलों के गहनों से सजी वनराजिका मिलती है जो माँ की अवज्ञा कर अपने प्रेमी के घर जा रही है। अनन्तर विट ताम्बूलसेना के घर के आगे से निकलता हैं। ताम्बूलसेना के दिन में भी अपने प्रेमी इरिम के साथ प्रणयलीला में प्रसक्त होने पर वह दोनों पर फब्ती कसता है। उसके आगे भांडीरसेना की पुत्री कुमुद्वती प्रिय के आने की आशा में कौओं को बलि खिलाती हुई दिख जाती है विट उसके निष्कपट दृढ़ अनुराग के आगे करुणा द्रवित होकर बिना उससे कुछ कहे आगे बढ़ जाता है। फिर कन्दुककीड़ा करती किशोरी प्रियङ्गुयष्टिका तथा प्रणयकलहकुपिता शोणदासी से बतकाव करता हुआ विट देवदत्ता के घर पहुँचता है। वहाँ रुग्ण देवसेना भी उसे मिल जाती है। देवसेना ने कुमुद्वतीप्रकरण में अभिनीयमान अपनी भूमिका अपनी एक सखी को सौंप दी है और स्वय मूलदेव के प्रेम में बावरी हो रही है। विट देवदत्ता और देवसेना दोनों के साथ कर्णीसुत मूलदेव का मिलन कराने की योजना समझा कर देवसेना से मूलदेव के लिये मृदित लीलाकमल का उपहार ले कर विदा होता है।

"उभयाभिसारिका" का प्रारंभ भी वसन्तवर्णन से होता है। विट आकर बताता है कि कुबेरदत्त ने मदनाराधन के लिये नारायण के मन्दिर में गणिका मदनसेना का संगीतक रख लिया और उसके नृत्य की वहाँ प्रशंसा भी कर डाली, जिससे उसकी प्रेमिका नारायणदत्ता जलभुन गयी है और उससे रूठ कर बैठी है। अब विट का काम है दोनों में सुलह कराना। नारायणदत्ता से मिलने वह निकला ही है कि उसकी भेंट महामात्यपुत्र नागदत्त के घर से आती अनंगदत्ता से हो जाती है। नागदत्त कंगाल हो चुका है और माँ चारणदासी अनंगदत्ता को उससे मिलने से रोकती रहती है, पर प्रेमातुरा अनंगदत्ता को वैशिकशासन की परवाह नहीं। विट वचन देता है कि वह चारणदासी को मनायेगा। अनंगदत्ता को असीस कर आगे बढ़ता ही है कि विष्णुदत्ता की पुत्री माधवसेना अपने

परिजनों से निरपेक्ष उसे सामने से आती मिल जाती है। वह माता के द्वारा बलपूर्वक अनचाहे प्रेमी धनी समुद्रदत्त के घर भेजे जाने से दुःखी थी। विट उसे भी ढाढ़स बँधा कर विष्णुदत्ता को समझाने का वचन देता है। इसके पश्चात् सन्यासिनी विलासकौण्डनी से उसकी रोचक झड़प होती है। फिर विट का वार्तालाप धनलोलुप वृद्धा चारणदासी तथा राजश्याल की प्रणयविप्रलब्धा सुकुमारिका से होती है। सार्थवाहपुत्र धनमित्र से हुई भेंट से वेश्याओं द्वारा उसे लूट लिये जाने का दुःखद वृत्त खुलता है। फिर पुरन्दरविजय नामक सङ्गीतकमें भाग लेने वाली कोकिलकण्ठी प्रियङ्गुसेना के गीत ओर उसकी प्रतिस्पर्धिनी देवदत्ता की चर्चा है। अन्त में मानग्रन्थि के डीली होने पर प्रेमी कुबेरदत्त से मिलने के लिये नारायणदत्ता का तथा उससे मिलने को कुबेरदत्त का निकल पड़ना और दोनों की वीणाचार्य विश्ववासुदत्त के यहाँ भेंट के सुखद वृत्त की सूचना के साथ विट विदा लेता है।

"धूर्तविटसंवाद" का आरम्भ वर्षावर्णन से होता है। किसी तरह वर्षा का प्रकोप कम हुआ है, तो विट देविलक घर से बाहर निकला है। निर्धन होने से द्यूतसभा में जाने का विकल्प छोड़ कर वैशिक में पहुँचना ही उसे वरेण्य लग रहा है। पाटलिपुत्र के ऐश्वर्य और सौन्दर्य को सराहता हुआ वह आगे बढ़ता है, तो कृष्णिलक से सामना हो जाता है। कृष्णिलक की वेश में जाने के लिये पिता से तकरार होती रहती है और वे उसे सुधारने के लिये उसका ब्याह रचा देना चाह रहे हैं। कृष्णिलक है कि लुक-छिप कर यहाँ चला ही आता है।

कुसुमपुर के राजमार्ग से होकर विट वेश में पहुँचता है और वारुणिका और बन्धुमतिका के मादक सौन्दर्य को निहार कर प्रसन्न होता हुआ इनसे दो बातें करता है। फिर रामदासी और कुज्जरक के प्रणयकलह का किस्सा खुल जाता है। अन्त में विट अपना सब खोकर निःस्व बने विश्वलक से मिलता है, जो सुनन्दा के साथ रहता है। विश्वलक कामशास्त्र के विषय में अपनी शंकाएँ विट के आगे रखता है, जिन पर विस्तृत और विशद चर्चा शेष भाण में की गयी है।

"पद्मप्राभृतकम्" का आरम्भ कामदेव स्तुति तथा कवि श्यामिलक के काव्यरचना संरम्भ के वर्णन से होता है। फिर धूर्तों के सरदार श्यामिलक के द्वारा घंटा बजा कर विटसभा के आयोजन की सूचना देने का वृत्तान्त बता कर सूत्रधार विदा लेता है। कामिनियों के द्वारा प्रणयी जनों पर चरणप्रहार का गुणगान करता हुआ विट जाता है। सौराष्ट्र की मुख्य वेश्या मदनसेना द्वारा तौंडिकोकि विष्णुनाग ब्राह्मण के मस्तक पर पाँव रख देने का प्रसंग खुलता है। दद्रुणमाधव इस बात पर गौरव का अनुभव करने के बजाय स्वयं को व्यथित और अपमानित अनुभव करने वाले विष्णुनाग को फटकारता है। विष्णुनाग पर इस फटकार का प्रभाव नहीं होता। वह ब्राह्मणों की सभा में वेश्या की लात माथे पर लगने

के पाप का प्रायश्चित्त पूछने जाता है तो वे उस पर हँसते हुए इसके लिये उसे विट सभा में जाने को कहते हैं।

विटसभा में सम्मिलित होने के निमित्त से हमारा विट आगे चले पड़ता है तो मार्ग में उसकी भेंट वाल्हीकपुत्र वाष्प, वैद्य हरिश्चन्द्र, भट्टिटमधवर्मा, पिञ्छोला बजाती पराक्रमिका, महा प्रतीहार भद्रायुध, दाशेरकाधिपति के पुत्र गुप्तकुल के दूत, शूरसेना, उत्कोच खा-खा कर मोटे हुए उपगुप्त, पताकावेश्याओं द्वारा अभियुक्त सूर्यनाग आदि कई विचित्र चरित्रों से होती है, जिनके साथ जुड़े पचड़ों और प्रसंगों को विट खोलता है। फिर विटसभा में विष्णुनाग के लिये कौन सा विट क्या प्रायश्चित्त बताता है- इसका हास्य और विनोद से भरपूर विवरण दिया गया हैं विटराज भट्टिट जीमूत, जिनके घर यह विटसभा हो रही है, सबके अन्त में व्यववस्था देते हुए कहते हैं कि मदनसेना को मेरे मस्तक पर पाँव रखते हुए विष्णुनाग देखे- यही इसका प्रायश्चित्त है। इस सर्वमान्य सर्वप्रंशसित प्रायश्चिन्तविधान के साथ सुखपूर्वक भाण सम्पन्न होता है।

शैली-

इन भाणों क शैली की विशेषता आकाशभाषित के द्वारा पर्दे के पीछे की दुनिया को बिना पर्दा उठाये सजीव और साकार बना देने में है। आकाशभाषित का ऐसा रचनात्मक यथार्थपरक और प्रभविष्णु प्रयोग विश्व के नाट्यसाहित्य में अन्यत्र नहीं मिलेगा। विट अपनी जिन्दादिली, चुभते हुए सटीक गद्य और चटख रंगों से भरे शब्दचित्रों के द्वारा रंगमंच पर अपने आसपास के शून्य को अशून्य से भर देता है। आकाशभाषित के द्वारा जिन पात्रों के संवादों की अनुकृति विट प्रस्तुत करता है, उनमें हमारी बोलचाल की भाषा के बदलते हुए रंग तथा तत्-तत्-पात्र के स्वभाव की झाँकी देखते ही बनती है। विट केवल समाज के विभिन्न वर्ग के अलग-अलग लोगों से साक्षात्कार और वार्तालाप ही नहीं करता, वह एक-एक व्यक्ति या दर्शकों के आगे कच्चा चिट्ठा जिस नाटकीय विनोदपूर्ण शैली में खोलता है, वह हृदय में उतरती चली जाती है। चतुर्भाणीकारों की शब्दावली में यहाँ विट रंगमंच पर अपने वर्णनमात्र से "महान् मनुष्यकान्तार" (पृ० २१) या सुहृत्पत्तन (मित्रों का जमावड़ा, पृ० १७८) को उपस्थित कर देता है।

यथार्थ और यथार्थदृष्टि

जीवन के यथार्थ का जो रूप चतुर्भाणी में मिलता है, वह वास्तव में संस्कृत नाट्यसाहित्य में अन्यत्र नहीं है। यहाँ तक कि चतुर्भाणी के पश्चात् रचे गये भाणों में भी ऐसी यथार्थदृष्टि नहीं है। एक ओर चतुर्भाणी के लेखकों ने अत्यन्त साहस के साथ समाज के प्रतिष्ठित वर्ग के सम्भ्रान्त लोगों का भंडाफोड़ किया है, तो दूसरी ओर उन्होंने परवर्ती भाणों या प्रहसनों के लेखकों की भाँति स्त्री की गरिमा को जुगुप्सित ढंग से क्षतविक्षत नहीं

होने दिया है। चतुर्भाणी के यथार्थचित्रण में कहीं उत्प्रास और गहरी विडम्बना का बोध है, तो कहीं करुणा भी है। वैशिक का जो सजीव संसार यहाँ खोला गया है, वह पुस्तकीय ज्ञान पर नहीं, प्रत्यक्ष अनुभवों पर आधारित लगता है। चतुर्भाणी के प्रायः सभी नारीचरित्र नगरों की सम्भ्रान्त गणिकाएँ हैं। यह किंचित् विचित्र और सुखद तो यह है कि चतुर्भाणीकारों ने इन नारी चरित्रों में किसी को भी उपहास का विषय नहीं बनाया है उपहास और उत्प्रास का परिपूर्ण खजाना तो केवल वैशिक में आने वाले पुरुषपात्रों के लिये ही खोला गया है। इस दृष्टि से इन भाणकारों का यथार्थबोध बंगला उपन्यास शरद्चन्द्र के बहुत निकट है। कम से कम गुप्तकाल के पश्चात् के संस्कृत काव्यों-कुट्टनीमतम्, कलाविलास, समयमातृका आदि में गणिका की जो एक पुरुषशोषक, प्रवञ्चनामयी, जघन्य और त्याज्य स्त्री के रूप में रूढ़ छवि मिलती है, उससे तो चतुर्भाणी में चित्रित गणिकावृत्त बहुत भिन्न ही नहीं, वह भारतीय यथार्थ और जीवन का अपेक्षाकृत सच्चा रूप भी सामने रखता है।

यद्यपि चतुर्भाणी में वेश्याओं के कई प्रकार निरूपित हैं, पर मुख्य रूप से उसमें चित्रित गणिका समाज बड़े नगरों की सुसंस्कृत अभिजात गणिकाओं का है, जो कलात्मक रुचि और संगीतक आदि में अपने नृत्य-नाटय-नैपुण्य के कारण भी प्रशंसित हैं। वे प्रेम करती हैं। तो हृदय की पूरी गइराई से, मान करती हैं तो पुरुष को उनके चरणों पर सिर रखना ही होता है। प्रसंगवश यवनीवेश्या[1], नगर के बाहर रहने वाली पताकावेश्याओं[2] या यौवन चुक जाने पर केवल बातचीत से स्वयं का व पुरुषों का मन बहलाने वाली शब्दकामा वेश्याओं[3] का भी उल्लेख इन भाणों में हैं, पर ये इन भाणकारों की मुख्य विषय नहीं है। गणिकाजीवन को यहाँ ग्लानि और जुगुप्सा के भाव से नहीं, उन्मुक्त दृष्टि से स्वीकार किया गया हैं। वेश्याध्यक्ष (द्यूतिक प्रतीहार) के उललेख से (पृ० २२५) से स्पष्ट है कि वैशिक की व्यवस्था कानून के बाहर नहीं, राज्य के विधान से अनुशासित है।

इस पृष्ठभूमि में चतुर्भाणी का यथार्थ उपभोगवादी पुरुषसमाज के प्रति तल्ख व्यंग्य और विडम्बना के भाव से उपजा है। समाज का कोई वर्ग नहीं बचा होगा, जिसको चतुर्भाणीकारों ने पैनी व्यंग्यदृष्टि से नंगा न कर दिया हो। लाट देश के डिण्डियों (गुंडों) पर इन भाणकारों की कटाक्षरेखिकाएँ बड़ी पैनी हैं-

नग्नःस्नाति महाजनेऽम्भसि सदा नेनेक्ति वासः स्वयं
केशानाकुलयत्यधौतरणः शय्यां समाक्रामति।
तत् तद् भक्ष्यति व्रजन्नपि पथा धत्ते पटं पाटितं
छिद्रे चापि सकृत् प्रहृत्य सहसा लाटश्चिरं कत्थते।। (पादताडितकम्, पद्य-४३)

१-३ सभी का उल्लेख "पादताडितकम्" में है। (पृ० २३८, १५४, २१८-२२२)।

लाट देश का डांड्या भीड़ के बीच नंगा होकर पानी में उतर जाता है, स्वयं कपड़े पछारता है, लम्बा झींटा फटकार कर रखता है, बिना पाँव धोये बिस्तर पर जा चढ़ता है, रास्ते पर जाते हुए जो चाहे खाता चलता है, और चिथड़ा पहने रहता हैं दूसरे की विपत् में वह उस पर मार करता है और इसकी शेखी भी बघारता है।

इसके आगे श्यामिलक ने आवारा डांड्या युवकों का चरित्र प्रस्तुत करते हुए कहा है कि वे भित्तियों पर बने चित्रों में अपनी ओर से कुछ जोड़ कर उन चित्रों का सत्यानाश कर डालते हैं, सौधों की पुती दीवारों पर काली स्याही से कूची पोत देते हैं और नुकीली टाँकी लेकर सुंदर भवनों में खरोचें लगाते रहते हैं (वही, पद्य-६३)। आज की शिक्षण संस्थाओं में पढ़ने वाले नवयुवकों का उच्छृंखल चरित्र श्यामिलक के इस वर्णन से कितना समान है।

पादताडितकम् में अधिकरण का संक्षिप्त चित्र भी मृच्छकटिक के अधिकरणदृश्य की याद दिला जाता है। श्यामिलक कहते हैं कि अधिकरण में बैठा प्राड्विवाक ऊँघता रहता है, उसका भाई न्याय माँगने के लिये आये लोगों को डराता धमकाता और पिटवाता है, और प्राड्विवाक उल्टे उन दुःखी लोगों को ही डपटता है। अधिकरण के अधिकारी घूस माँगते हैं, पुस्तपाल और कायस्थ तो हमेशा मुँह फाड़े ही मिलते हैं। काष्ठकमहत्तर (कचहरी के प्यादे) तक बिना घूस वसूले नहीं घुसने देते। श्यामिलक ने उन कवियों को भी नहीं छोड़ा है, जो मद्य के चषक के बदले में पद्य बेचते फिरते हैं-

विक्रीणाति हि काव्यं श्रोत्रियभवनेषु मद्यचषकेण।
यः शिबिकुले प्रसूतो भर्तृस्थाने जरां यातः।
विक्रीणन्ति हि कवयो यद्येवं काव्यं मद्यचषकेण।
काशिषु च कोसलेषु च भर्गेषु च निषादनगरेषु।

(पादताडितकम्, पद्य १३३,१३४)

चतुर्भाणी के इस यथार्थ में शोषकवर्ग की क्रूरता के साथ शोषितों की आह-कराहों की मार्मिक ध्वनियाँ भी मिली हुई हैं। गगांयमुना के मन्दिर में चामरग्राहिणी का कार्य करने वाली पुस्तकवाचिका मदयन्ती की विवशता है कि अपने प्रिय पुस्तकवाचक त्रैविद्यवृद्ध को छोड़ उसे अधिकारी उपगुप्त का पल्ला पकड़ना पड़ा है, वृद्धावस्था में कुटुम्ब पालने का और कोई उपाय भी तो नहीं (पृ० २१२)।

इन भाणों में चित्रित यथार्थबोध आज के विसंगनाट्य (थियेटर आफ एब्सर्ड) की चेतना का भी कहीं-कहीं पूर्वाभास देता है। विट को गणिकाओं के साथ तो सहानुभूति है पर वह अभिजातवर्ग की खूब मखौल उड़ाता है। वस्तुतः घोर ऐहलौकिकता के बची

फक्कड़पन का ऐसा जीवनदर्शन दुर्लभ ही है। पादताडितकम् में एक विट अपने विटत्व का उद्घोष करता हुआ कहता है-

ताते पञ्चत्वं पञ्चरात्रे प्रयाते।
मित्रेष्वार्तेषु व्याकुले बन्धुवर्गे।।
एकं क्रोशन्तं बालमाधाय पुत्रं
दास्या सार्धं पीतवानस्मि मद्यम्।। (१३२ पद्य)

"अपने पिता के स्वर्ग सिधारने के पाँच रात बाद ही जब मेरे मित्र दुःखी थे और नातेदार व्याकुल, मैंने रोते बिलखते बालक को अलग किया और दासी के साथ मद्य पिया।"

इस दृष्टि से चतुर्भाणी का विट समाज और गणिकाएँ समाज सें बहिर्भूत हैं। वे स्वयं अपने डांड्या या "डिण्डी" होने का उद्घोष करते हैं और डिण्डीत्व को परिभाषित करने के लिये महाभारत का यह पद्य प्रमाण में उद्धृत करते हैं-

यस्यामित्रा न बहवो यस्मान्नोद्विजते जनः।
यं समेत्य न निन्दन्ति स पार्थ पुरुषाधमः।। (पादताडितकम्, पद्य ४६)

ये विवाह, दाम्पत्य और कुलवधू के कथित गौरव की तीखे शब्दों में मखौल और भर्त्सना करते हैं,[1] और उनके विरोध और विद्रोह के पीछे वैचारिकता का एक आधार है।

इस पूरे यथार्थबोध के साथ चतुर्भाणी के समाजबहिर्भूत पात्र मानवीय सम्बन्धों की गरिमा और मनुष्य की अर्थवत्ता की सार्थक खोज करते हैं। यह अकल्पनीय वृत्तान्त संस्कृत नाट्यसाहित्य में कदाचित् चतुर्भाणी ने ही विश्वसनीय रूप में प्रस्तुत किया है जहाँ निःस्व, निरीह और निर्धन जन वैशिक में जा रहे हैं और सब ओर से प्रताड़ित, बहिष्कृत दरिद्र लोगों को वार्धक्य में गणिकाएँ अवलम्बन दे रही हैं। ये भाण जिस समाज का चित्र उपस्थित करते हैं, उसके नैतिक मूल्य हमारी उदात्त काव्यधारा के मूल्यबोध से बहुत अलग है। यह कामकेंन्द्रित समाज है, जिसकी संस्कृति उन्मुक्त भोग की है। पर इस समाज के भीतर भाणकारों ने मनुष्य को मरने नहीं दिया है, और उसके भीतर उन्होंने एकनिष्ठ अनन्य प्रेम, आकुल समर्पण, गहन वेदना और अकलुष आत्मत्याग का नवाविष्कार किया है। पद्मप्राभृतकम् में देवदत्ता का गहरे प्रेम से ही नहीं, वैशिक के अर्थलोलुप अनुशासन को प्रेम के लिये तोड़ने वाली कई गणिकाओं से भी हम साक्षात्कार करते हैं। उभयाभिसारिका में अनङ्गदत्ता का चरित्र इसका समुज्ज्वल उदाहरण है (पृ० १२४-२७)।

---

१. धूर्तविटसंवाद, पद्य १३, पृ. ७३-७४

विट जैसे पात्र का ऐसा दुर्लभ प्रस्तुतीकरण जिससे वह हमें अपना-सा लगने लगे, मृच्छकटिक को छोड़कर अन्यत्र नहीं मिलता। चतुर्भाणी ने मृच्छकटिक की तुलना में विट के निजी जीवन में झाँकने का हमें अधिक अवसर दिया हैं अपने अभाव, दारिद्र्य, फक्कड़पन, मस्ती और विसंगति के गहरे बोध के साथ विट एक अद्वितीय चरित्र बन गया है वह इस दुनिया में रहते हुए भी इस दुनिया के बाहर और गृहस्थ होते हुए भी विरागी सा हैं धूर्तविटसंवाद का विट प्रास्ताविक में ही कहता है-

"एक शाटिकामात्रावशिष्टो हि नः प्रच्छदपटः।

अक्षाश्च नामानभिजातेश्वरा इव न सर्वकाल सुलभा भवन्ति।
ततो वेशमेव यास्यामः" (पृ० ६८)

अर्थात् 'मेरे पास एक धोती को छोड़कर दूसरा कपड़ा तक नहीं बचा। जुए के पासे से तो नीचकुल में जन्मे रईसों की भाँति सदा सीधे मुँह नहीं रहते। इसलिये द्यूतसभा में जाने के स्थान पर वेश जाना ही उचित है।

इस विट की घर से निकलते हुए अपनी पत्नी से हुई झड़प भी बड़ी रोचक है। वह द्वार से बाहर निकलते हुए पीछे देखकर कहता है- 'संव्रियतां द्वारम्'- दरवाजा बन्द कर ले। पत्नी कहती है-तेरे घर में तो बाँबी की तरह कितने ही द्वार हैं। विट उसे अधिक तू-तड़ाक करने से मना करता हुआ संकेत देता है कि नगरघटट्क (शुल्क वसूलने वाले अधिकारी) द्वार खुला होने पर बेरोकटोक घुसे चले आयेंगे। विट के चरित्र के सूक्ष्म शब्दचित्र चतुर्भाणी ने ही प्रस्तुत किये हैं और विट क्या है?- इस प्रश्न का विस्तार से उत्तर भी विट के शब्दों में ही दिलाया गया है। घर में कानीकौड़ी न होने पर भी विट शेखी बघारता फिरता है अपने मित्रों के ऊपर विपत् पड़ने पर वह उनके लिए प्राण भी संकट में डाल देता है। अपनी रक्षा भी तलवार उठाकर स्वयं करना जानता हैं, वेश्याएँ मदनातुर उसे खोजती फिरती हैं। वह याचकों को खुले हाथ धन देता है। सुन्दरियों के चरणकमलों से अपने मस्तक को सुपूजित देख कर वह ऐसा प्रसन्न होता है जैसे माथे पर मुकुट धर दिया गया हो। उसका धन पानी की तरह प्यासे लोग हरते रहते हैं (पादताडितकम्, पद्य १५,१६५,१७)।

इसके अतिरिक्त चतुर्भाणी ईसापूर्व के समय से गुप्तयुग तक के नगरों का पर्यावरण, संस्कृत, लोकाचारों और लोकजीवन का भी सजीव चित्र प्रस्तुत करती है। उज्जयिनी और पाटलिपुत्र के गलियों, चौराहों और अलग-अलग प्रकार के बाजारों के विशद विवरण इसमें भाणकारों ने उपस्थित कर दिये हैं। लोकजीवन के चितेरों के रूप में ये भाणकार असाधारण अन्तर्दृष्टि और सूक्ष्म पर्यवेक्षण के साथ लोकचेतना को भी अभिव्यक्त करते हैं। शूद्रक ने अपने पद्मप्राभृतकम् में विरहिणी गणिका के कौवे के साथ

संवाद में तो उस समय के किसी लोकगीत का भावानुवाद-सा प्रस्तुत कर दिया है-

भद्रं ते वलभीगवाक्षतिलक श्राद्धोपहारातिथे
जीवन्त्यां मयि कच्चिदेष्यति स मे नित्यप्रवासी प्रियः।
यद्यागच्छति गच्छ तावदितरद्वाराश्रितं तोरणं
निःशोका हि समेत्य मे प्रियतमं दास्यामि दध्योदनम्।। (पद्य २६)

विरहिणी कुमुद्वती अटारी पर बैठे कौवे का स्वागत और अभिनन्दन करती हुई उससे कह रही है- हे अटारी की गोखे के टीके, श्राद्ध में बलि का उपहार खाने वाले अतिथि, तेरा भला हो। बता, क्या मेरे जीते जी प्रवासी प्रियतम लौट आयेंगे? यदि वे आने को हों तो जा उड़कर दूसरे द्वार के तोरण पर बैठ जा। यदि मैं सुख से अपने प्रिय से मिल गयी, तो तुझे दही भात खिलाऊँगी।

विटों ने अपने नगर का जो वर्णन किया है, उसमें उनका अपने नगर से लगाव झलकता है। पद्मप्राभृतकम् का विट कहता है-"धरती रूपी वधू के जम्बूद्वीप रूपी मुखकपोल पर पत्रलेखा के समान उज्जयिनी की शोभा ही न्यारी है। यहाँ कहीं वेदों का पावन गायन चल रहा है, तो कहीं हाथी, घोड़ों और रथों के घोष हो रहे हैं, कहीं प्रत्यंचाओं की टंकार सुन पड़ रही है, तो कहीं काव्य, नाटक और विद्वानों का शास्त्रार्थ, चारों सागरों से आये रत्नों से दुकानें पटी हुई हैं, गीत,वाद्य जुआ, हँसी ठट्ठा, विटों की गप्पें और सारी कलाएँ यहाँ चल रही हैं। गृहपंक्तियाँ पक्षियों की चहचहाहट से क्षुब्ध और कड़ों, करधनियों की झनझनाहट से गुंजित हैं।" (पृ० ६)।

चतुर्भाणी की भाषा

संस्कृत नाट्यसाहित्य में चतुर्भाणी की भाषा बोलचाल की भाषा के सर्वाधिक निकट प्रतीत होती है। मृच्छकटिक को छोड़कर संस्कृत भाषा का ऐसा सर्वथा सामान्यजनव्यवहार्य रूप अन्यत्र नहीं मिलेगा। चतुर्भाणी के संवादों में, विशेषतः पद्मप्राभृतकम् में लोकप्रचलित मुहावरों, कहावतों आदि का पदे पदे प्रचुर विन्यास संस्कृत भाषा का एक अत्यंत समृद्ध और लोकप्रिय स्वरूप प्रस्तुत करता है। चतुर्भाणी में उस दुर्लभ शब्दसंपदा का अनुपम कोश भी है जो वैशिक से जुड़ी हुई थी और परवर्ती भाणों और प्रहसनों के लिये अपरिचित होती चली गयीं हमारे दैनन्दिन जीवन की भाषा, वाक्यावली और पदावली सहज स्फूर्त रूप में अपनी पूरी क्षमता और समृद्धि के साथ यहाँ व्यवहृत है। डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल तथा मोतीचंद्र ने चतुर्भाणी की विशिष्ट विटजीवनविषयक पदावली और लोकोक्तियों आदि का संग्रह इस विवरण में और जोड़े जा सकते हैं। संस्कृत-वाग्व्यवहार का एक अनुपम शैलीविज्ञान इन भाणों में निर्मित हैं। नयनसंगतक (आँखे लड़ाना), वादविघटित्त (बहस में

पिटा हुआ), अक्षरकोष्ठागार (पंडित), चुम्बितचान्द्रायन, सुरतसत्यलंकार, कर भोग (सरकारी माल हड़पना), गुप्तगत (हराम की कमाई छिपाकर रखने वाला) आदि विशिष्टार्थक शब्दों का प्रयोग हमें यहीं मिलता है। विटों की अपनी गूढ़ भाषा का कृत्रिम रूप भी चतुर्भाणी में ही सुरक्षित है, जहाँ अतिलंघन का अर्थ प्रिया के साथ अवसर होने पर भी संभोग न करना, आर्यघोटक का आर्य वेश में आया हुआ छबीला, आलेख्ययक्ष का पुंस्त्वरहित रईस, क्षेत्रज्ञ का अर्थ स्त्री के देह का स्वाद जानने वाला तथा जङ्घतीर्थ का अर्थ अतिशय कामुक हो जाता है। दिवादीपज्वालन, तीर्थावतारण, प्रत्यभिज्ञान, मदनाग्निहोत्र, सायंप्रातर्होम, योगशास्त्र, कूर्मलीला आदि पदों या मुहावरों का विटजीव में अन्य ही अर्थ रूढ़ हो चुका था।

भाषा की लोकप्रिय व्यंजनाओं, ऐहिक स्वरूप और पैनी मार का जो मीठा आनन्द चतुर्भाणी में है, वह अन्यत्र सुदुर्लभ ही है। इन भाणों ने उस समय की प्रचलित लोकोक्तियों और मुहावरों का भी एक अद्भुत खजाना सँजो रखा है। कुछ उदाहरण दृष्टव्य हैं-

१. **किमिदमाकाशरोमन्थनं क्रियते?** (पृ० १०)
क्यों बिना चारे के जुगाली कर रहे हो,

२. **किमिदं गोपालकुले तक्रविक्रयः क्रियते?** (पृ० २२)
ग्वालों के यहाँ मट्ठा क्यों बेच रहे हो?

३. **किमिदं उष्णस्थलकूर्मलीलया स्थीयते ?** (पृ० २२)
धूप सेंकते कछुए की तरह गरदन बार-बार क्यों मटका रहे हो,

४. **वर्षर्तुज्योत्स्नादर्शनम्** (पृ० ४७)
वर्षा में चाँदनी दिख जाना दुर्लभ संयोग।

५. **गणिकाजनो नाम पैशुन्यप्राभृतैषा जातिः**। (पृ० ५६)
गणिकाओं की तो जात ही चुगलखोरी की सौगात बाँटनेवालों की है।

६. **न वायसोच्छिष्टं तीर्थजलमुपहतं भवति**। (पृ० ३२)
कौवे से झूठा होने पर तीर्थ का जल दूषित नहीं होता।

७. **न सूर्यो दीपेनान्धकारं प्रविशति**। (पृ० ३३)
सूर्य दीपक ले कर अंधकार में प्रवेश नहीं करता।

८. **पायसोपवासमिव क एतत् श्रद्धास्यति ?** (पृ० ३२)
खीर का व्रत रखने जैसी इस बात पर कौन विश्वास करेगा?

९. **अमृदङ्गो नाटकाङ्कः संवृत्तः**। (पृ० ३०)

बिना मृदंग के नाटक का अङ्क समाप्त हो गया।

उपर्युक्त सभी उद्धरण शूद्रक के पद्मप्राभृतकम भाण के हैं। सूक्तियों, वक्रोक्तियों और वचोविन्यासवैदग्धी में यह भाण चतुर्भाणीका मयूरकुकुट है। पर शेष भाणों में भी भाषा की विच्छित्ति तथा अभिव्यक्ति में द्व्यर्थक प्रतीकों, बिम्बों का उपन्यास इसी प्रकार का है। पादताडितकम् में "उदकतैलबिन्दुवृक्ष्या विकसितं यशः" "उपवीणित एष गर्दभः" (भैंस के आगे बीन बजायी), "पुत्रि सर्पिः पिबेति", "विरम सह सङ्ग्रहीतुं बिल्वद्वयमेकहस्तेन", "संहितमिदं तप्तं तप्तेन"-इत्यादि वाक्य वक्रता और भाषागत श्लणता का उत्कृष्ट निदर्शन प्रस्तुत करते हैं। इन सभी भाणों में जीवन की सहज अनुभूतियों से उपजी सूक्तियों की छटा भी इतनी ही मोहक है। ये सूक्तियाँ उन लोगों के द्वारा प्रयुक्त करायी गयी हैं, जिन्होंने शास्त्रज्ञ न होते हुए भी अर्थशास्त्र और कामशास्त्र को अपने जीवन में जिया है। "पादताडितकम्" में अनुभवी विट के ये वचन देखिये-

- अन्यद्धि शास्त्रमन्यथा पुरुषप्रवृत्तिः। (पृ० २००)

- असङ्गृहीतमाणस्य वेशप्रवेशो निरायुधस्य सङ्ग्रामावतरणम्। (पृ० १६७)

(बिना टके के वेश में प्रवेश करने का अर्थ है बिना आयुधके समर में उतरना)

-स्वर्गायतिं न परिहासकथा रुणद्धि। (पृ० १५१)

(स्वर्ग मिलना ही है तो हँसी-ठटठे से उसका मिलना रुक न जायेगा)

- सवर्था सदृशयोगेषु निपुणः खलु प्रजापतिः। (पृ० २३२)

धूर्तविटसंवाद तथा उभयाभिसारिका में वेश्याओं के चरित्र पर छींटाकशी करने वाली उक्तयाँ बडी चुटीली हैं।

वस्तुतः वक्रोक्तियों, लाक्षणिक प्रयोगों तथा विदग्धता से सम्प्लुत ऐसी भाषा फिर संस्कृत नाटयसाहित्य में नहीं मिलती। "पादताडितकम" में मदनसेनिका के लिये कटुवचन कहने वाले विष्णुनाग को ताना दिया गया है-

"अये वैयाकरणखसूचितन्, सुमनसो मुसलेन मा क्षौत्सीः, वल्लकीमुल्मुकेन मा वादीः, वाक्क्षुरेण किसलयक्षीबां मा लौत्सीः मत्तकाशिनीम्।"

डॉ० मोतीचन्द्र ने इन पंक्तियों का अनुवाद इस प्रकार किया है-'अरे टकहिए वैयाकरण, फूलों को मूसल के मत कूट, वीणा को लुआठी से मत बजा, वचन की छुरी से मदभरी गुलाबी वेश्या को मत काट।' (पृ० १५५)

वस्तुतः भाषा के परिष्कार, शब्दसन्धान और दुर्लभ पदावली के प्रयोग ने चतुर्भाणी के संवादों को सर्वत्र एक अनूठी आब से मंडित कर दिया है। "काममतिडिण्डी खल्वयम्,

श्वसुरशब्दावकुण्ठनास्तु वयम्" (पृ० २४१) जैसे वाक्य या इस प्रकार की सूक्तियाँ चतुर्भाणी में पदे पदे पढ़ने सुनने को मिलती हैं-

- लज्जा नाम विलासयौतकं प्रमदाजनस्य। (पृ० ५७)

(लज्जा तो सुन्दरियों के विलास की दहेज है।)

- न वानरो वेष्टनमर्हति, गर्दभो वा वरप्रवहणं वोढुम्। (पृ० १५५)

(बन्दर पगड़ी पहनने के योग्य नहीं होता, न गदहा अच्छी गाड़ी में जोता जाता है)

- शिरोवेदना नाम गणिकाजनस्य लक्षव्याधिर्यौतकम् (पृ० १८०)

(सिर दर्द तो वेश्याओं के लिये लाख बीमारियों की दहेज है।)

- अयं दुर्ललित इव दारकः कुटीप्रदेशं न मुञ्चति वायुः (पृ० ८६)

(दुलार से बिगड़े लड़के की तरह वायु कुटी को छोड़ नहीं रहा)

विदग्ध भणितियों और छैलों की फब्तियों के साथ-साथ सुभाषितों के समावेश ने चतुर्भाणी की भाषा में चार चाँद लगा दिये हैं। जैसे यह सुभाषित-

राजनि विद्वन्मध्ये वा युवतीनां च सङ्गमे प्रथमे।

साध्वसदूषितहृदयः पटुरपि वागातुरी भवति।। (धूर्तविटसंवाद, पृ०६१)

साध्वस (नर्वसनेस) और वागातुरता की स्थितियों की इस व्याख्या का साथ चतुर्भाणी में ही फबता है।

इभ्यपुत्र (रइसजादा, पृ० २४०), अनन्तकथः (मगज़पच्ची करने वाला, पृ० २४८), गोग्लनप्ता (गरियार बैल का नाती, पृ० २४६) जैसे चुटीले शब्द चतुर्भाणी में ही मिलते हैं। चतुर्भाणी की भाषा में "हँसीमजाक, नोंकझोंक, गाली गलौज़, तानाकशी और फूहड़पन का अजीब सम्मिश्रण है।... चतुर्भाणी पढ़ते समय हमें ऐसा भास होता है कि मानो हम आधुनिक बनारस के दलालों, गुंडो और मनचलों की जीवित भाषा सुन रहे हैं।"[1] डॉ० टामस के अनुसार इन भाणों में "अपने ढंग के भारतीय इतिहास और वक्रोक्तियों का ऐसा पुट है जिससे उन्हें बेन जान्सन अथवा मोलिए की स्पर्धा में" रखा जा सकता है।[2] वे यहाँ तक कहते हैं कि "इनकी भाषा तो संस्कृत का मथा हुआ अमृत ही है।"[3]

---

१. शृंगारहाट, भूमिका, डा० मोतीचन्द्र, पृ० १०।

२. वही, पृ० १४।

३. वही।

ईसापूर्व तथा ईसापश्चात् की कुछ शताब्दियों के मध्यवर्गीय और निम्नवर्गीय भारतीय जनजीवन का जो शब्दकोश चतुर्भाणी प्रस्तुत करती है, वह अन्यत्र नहीं मिलता। डिण्डी (गुंडा, धूर्त), धान्त्र (भलामानस), चौक्ष, चाक्रिक, शीफर, क्षणिक, प्रध्यापि (न्यायधीश), सुखप्राश्निक (कुशलक्षेप पूछने भेजा गया व्यक्ति), शौण्डीर्य (सख्ती), कौरुकुची (मुँह बिगाड़ना) आदि शब्द तथा तत्कालीन राजकीय अधिकारियों के लिये प्रचलित पदनाम या सामाजिक जीवन से जुड़े अन्य ऐ सहस्रों शब्द चतुर्भाणी के चतुष्पथ से पदे पदे बीने जा सकते हैं।

काव्यसौन्दर्य

चतुर्भाणी का काव्यसंसार सर्वथा ऐहलौकिक धरातल पर अवस्थित है। कल्पना के स्वर्णिम व्योम में उड़ान भरने के लिये वह कवि को अवकाश नहीं देता। पर सौन्दर्यबोध, भावाभिव्यक्ति, सौकुमार्य और अलंकारों के विन्यास की दृष्टि से इन भाणों में कवित्व का एक अलग ही आकर्षक रंग है। इस दृष्टि से शूद्रक का "पद्मप्राभृतकम्" तो बेजोड़ ही है। उपमा, उत्प्रेक्षा आदि का विन्यास उनकी रचना में सहज और सटीक है। सूक्तियों की मुक्तामाला में इन अलंकारों का जड़ाव देखते ही बनता है।

यथा-

स्वैरालापे स्त्रीवयस्योपचारे कार्यारम्भे लोकवादाश्रये च।
कः संश्लेषः कष्टशब्दाक्षराणां पुष्पापीडे कण्टकानां यथैव।। (पृ० १८)

अथवा-

रत्यर्थिनी रहसि यः सुकुमारचित्तां
कान्तां स्वभावमधुराक्षरलालनीयाम्।
वागर्चिषा स्पृशति कर्णविरेचनेन रक्तां
स वादयति वल्लकिमुल्मुकेन।। (पृ० २०)

यहाँ वाणी रूपी अर्चिः (आग का रूपक) उत्प्रेक्षा से अच्छा सांकर्य प्रस्तुत करता है। 'कर्णरसायन' का प्रयोग तो संस्कृतकाव्य प्रचलित है, पर उसके विपरीत 'कर्णविरेचन' का अच्छा लाक्षणिक प्रयोग शूद्रक ने किया है।

चतुर्भाणी के नाट्यकार अलंकृत भाषा और वक्रोक्तियों के चुलबुलेपन का चमत्कार दिखाने में जितने दक्ष हैं, उतनी ही निपुणता से यथावसर स्वभावोक्ति और अनलंकृत शैली के सहत सौंदर्य से साक्षात्कार कराने में भी। विरहिणी कुमुद्वती का वर्णन शूद्रक ने गहरी संवेदना में डूबकर किया है, उसकी स्वभावोक्ति अन्य किसी अलंकार की अपेक्षा नहीं रखती-'

निभृतवदना शोकग्लाना निरञ्जनलोचना
मलिनवसना स्नेहत्यक्तप्रलम्बघनालका।
शिथिलवया पुष्पोत्क्षेपच्युताङ्गुलिवेष्टना
तरुणयुवतिस्तन्वी भूयस्तनुत्वमुपागता।। (२८)

चारों भाणकार वर्णनकला में दक्ष हैं, और ऋतुचित्रों में कमनीय कल्पनाओं का उनका सन्निवेश मनोहारी है। वर्षावर्णसन में ईश्वरदत्त ने उपमा और उत्प्रेक्षा का बड़ा सटीक प्रयोग किया है-

श्रीमद्वेश्ममृदङ्गवाद्यकुशला धाराः सृजन्त्यम्बुदाः
क्रुद्धस्त्रीभ्रुकुटीतरङ्गकुटिला विद्युल्लता द्योतते।
गाढालिङ्गनहेतवः प्रचलिताः शीताः पयोदानिलाः
कामः कामिमनःसुः मुञ्चति दृढानाकर्णपूर्णानिषून्।। (धूर्तविटसंवाद, पद्य-३)

यहाँ बादलों को मृदङ्गवादनकुशल बताते हुए विद्युल्लता के लिए क्रुद्धस्त्रीभ्रुकुटीतरङ्ग. का उपमान और पयोदानिल की गाढालिङ्गन हेतुत्व की उत्प्रेक्षा रूपक की विषयवस्तु और शृंगारित पर्यावरण के सर्वथा अनुकूल है।

चतुर्भाणी के गद्यबन्ध विशेष आकर्षक हैं और वे दण्डी के दशकुमारचरित के गद्य का आस्वाद देते हैं। वस्तुतः भाण की प्रकृति गद्यकाव्य और उसमें चूर्णक तथा वृत्तगन्धि गद्य के गुम्फन के लिये जितनी अनुकूल है उतनी पद्यात्मक विन्यास के लिये नहीं। विट अपनी गद्यात्मक विशद अभिव्यक्ति से ही प्रेक्षकों को घंटों तक सम्मोहन में बाँधे रखता है। धूर्तविटसंवाद में वेश का यह वर्णन देखिये-

"अहो नु खलु कैलासशिखराकारप्रासादशिखरस्य वेशवधूस्तनतटोपमर्द्यमानगवाक्षस्य सञ्चारितागरुधूपदुर्दिनस्य पुष्पोपहारप्रहसितगृहोपद्वारस्य प्रणादिकाञ्चीतूर्योत्कण्ठकामिजनस्य नूपुरस्वनगद्गदभाषिणः कामकर्मान्तभूतस्य वेशस्य परालक्ष्मीः। इह हि समुद्यतकटाक्षप्रहरणाः स्फुटहसितोन्मीलिनतदशनपङ्क्तयो निभृतभ्रूलतानुवृत्तवचनविन्यासाः पीनपयोधरत्वादनवस्थित-लघुप्रावरणा विभ्रमादप्रावरणाश्च विभ्रमविलसितललितचपलगतयः कामविजयपताका इव इतस्ततः सञ्चरन्ति गणिकापरिचारिकाः। नित्यस्मितालङ्कृतमुखानामविसायविस्मिताक्षीणां स्निग्ध-सुकुमारकुटिलतनुदीर्घकृष्णकेशीनां सुरतप्रपाणामिव तत्र तत्र विचरन्तीनामनिभृतमधुरचेष्टितानां गणिकादारिकाणां दृश्यन्ते विलासनिधयो रूपविशेषाः।" (पृ० ७६)

छन्दोविधान

चतुर्भाणी में आर्या छन्द का प्रचुर प्रयोग मिलता है। इसके अतिरिक्त इन्द्रवज्रा, उपेन्द्रवज्रा, शार्दूलविक्रीडित, स्रग्धरा आदि छन्दों का प्रयोग भी भाणकारों ने किया है। स्रग्धरा का सर्वाधिक प्रयोग "पद्मप्राभृतकम" में मिलता है, जबकि छन्दों के वैविध्य की दृष्टि से "पादताडितकम्" सर्वोपरि है। इस भाण में अन्य अनेक छन्दों के अतिरिक्त एक दुर्लभ महत्त्वपूर्ण छन्दः प्रयोग "दण्डक" का है। भवभूति के "मालतीमाधवम्" के अतिरिक्त दण्डक का संस्कृत नाट्यसाहित्य में अन्यत्र ऐसा हृद्य निरवद्य प्रयोग देखने में नहीं आया। श्यामिलक ने चार दण्डक छन्द एक साथ वेशवाट के चित्रोपम वर्णन में गूँथ दिये हैं। विषयवस्तु के उपस्थापन तथा छन्दोविन्यास की तदनुरूपता का साधारण भूषणभूष्यभाव यहाँ मिलता है।

भाणकारों की व्युत्पत्ति

चतुर्भाणी ने अपने देशकाल के विषय में बड़ी प्रमाणिक और विपुल जानकारी प्रस्तुत की है। इसके साथ ही उसके रचनाकारों का शास्त्रज्ञान भी उतना ही परिपुष्ट है।

सन्यासिनी विलाशकौण्डनी के साथ हुए संवादों में सांख्य और न्याय की पारिभाषित पदावली की विडम्बना की गयी है।[1] उसी प्रकार बौद्धभिक्षु संघिलक (पद्मप्राभृतकम्, पृ० ३१-३२) के साथ हुए संवादों में इसी प्रकार तथागतदर्शन के सन्दर्भ हैं। पर सर्वाधिक विपुल प्रकरण चतुर्भाणी में नाट्यशास्त्र और वैशिक के हैं । धूर्तविटसंवाद में तो वैशिक का विस्तार से अत्यंत विशद निरूपण ही विट के मुख से करा दिया गया है, जो नाटयशास्त्र के अध्याय २३ (वैशिकाध्याय) से गहरा साम्य रखता हैं। संगीतक का कई स्थानों पर चतुर्भाणी में उल्लेख है[2], तथा गणिकाओं द्वारा अभिनीत होने वाले दो संगीतकों मदनविजय[3] तथा पुरन्दरविजय[4] का भी यहाँ उल्लेख है, जो उस समय के लोकप्रिय नृत्यरूपक रहे होंगे। संगीत की सूक्ष्म परख चतुर्भाणी में अनेकत्र प्रयुक्त तद्विषयक पारिभाषिक पदावली से प्रकट ही है। पद्मप्राभृतकम् में ""कुमुद्वतीप्रकरण" ओर उसका पद्यबद्ध संवाद भी उद्धृत है (पद्य ३६) धूर्तविटसंवाद में एक स्थल पर विट ने अभिनय की सूक्ष्म बारीकियाँ और दृष्टि के रसाभिनय पर विशद चर्चा की है। (पृ० १०० तथा पद्य ५२)

---

१. उभयाभिससारिका, पृ० १२६-३२।

२. वही, पृ० १३४।

३. वही, पृ० १२२-२३।

४. वही, पृ० १४१।

द्र०-"काकलीमन्दमधुरेण स्वरेण कैशिकाश्रयमाकूजन्ती" (पृ० ४४)

रससृष्टि

चतुर्भाणी के चारों भाणों में शृंगार और हास्य आद्यन्त ओतप्रोत है, शास्त्र की दृष्टि से रसाभास भी अनेकत्र हुआ है। किन्तु पद्मप्राभृतकम् में विरहिणी गणिकाओं के वर्णन जिस गहरे भावबोध और हृदयसंवाद के साथ प्रस्तुत किये गये हैं, वह रूपकरचना को रसावेश-वैशद्यमय तथा सौन्दर्यनिधानभूत बना देता है। गद्य और पद्य दोनों में विरहिणी नायिका की छवि अत्यंत मार्मिक रूप में शूद्रक अंकित करते हैं। मानिनी शोणदासी का यह चित्र देखिये-

'तत्किमिदानीं निर्मुक्तभूषणतया विविक्तशरीरलावण्या मलिनप्रावारार्धसंवृतशरीरा रक्तचन्दनानुलिप्तललाटसितदुकूलपटिट्कावेष्टितशीर्षार्धनतवदनचन्द्रमण्डलाङ्काधिरूढां वल्लकीमीषत्करुहैरवघट्टयन्ती काकलीमन्दमधुरेण स्वरेण कैशिकाश्रयमाकूजन्ती तिष्ठति।' (पृ० ४५)

कृशा विवर्णा परिपाण्डुनिष्प्रभा प्रभातदोषोपहतेव चन्द्रिका।
वहत्यसाधारणगूढवेदनं मनोमयं तयाधिमदारुणौषधम्।। (पद्य ३७)

"धूर्तविटसंवाद" में निःस्व और असहाय बने विश्वलक और सुनन्दा का एक दूसरे का विवश कातर भाव से जुड़ना शृंगाररसाभास के भीतर कारुण्य का मार्मिक संचार करता है।

वस्तुतः "चतुर्भाणी" में मृच्छकटिक की वसन्तसेना के समान ऐसे अनेक गणिकाचरित्र अंकित हैं जिन पर पद्मप्राभृतकम् में कुमुद्वती के लिये विट की यह टिप्पणी सर्वथा लागू होती है-"प्रत्यादेशः खल्वियं कुलवधूनाम्" (पृ० ४०-इसने तो) (एकनिष्ठ प्रेम से) कुलवधुओं को भी मात दे दी है।

• • • •

भगवदज्जुकीयम् तथा मत्तविलासम्

– राधावल्लभ त्रिपाठी

संस्कृतनाट्यपरम्परा में दो प्रकार के प्रहसन मिलते हैं, एक तो वे जिनमें कथासंविधान या घटनाचक्र की आकस्मिकता के कारण विभ्रान्त पात्रों के चित्रण के द्वारा उत्कृष्ट हास्य की अभिव्यक्ति होती है, दूसरे जिनमें पात्र अपनी धूर्तता तथा व्यक्तित्व की निकृष्टता के कारण हास्यास्पद, अश्लील या फूहड़ चेष्टाएँ और वार्तालाप करते हैं। नाट्यशास्त्र की परम्परा पहली कोटि के प्रहसन को शुद्ध और दूसरी को सङ्कीर्ण के रूप में परिभाषित करती आयी है।

भगवदज्जुकीयम् तथा मत्तविलासम् प्रथम कोटि के प्रहसन हैं। इन दोनों प्रहसनों के पात्रों में धूर्तता या जुगुप्सित आचरण करने की स्वतः प्रवृत्ति कम है, दोनों में हास्य की सृष्टि आकस्मिक और अप्रत्याशित स्थितियों में उनकी चित्रविचित्र प्रतिक्रियाओं के द्वारा अधिक होती है। दोनो प्रहसनों की प्रतीकात्मक और दार्शनिक व्याख्याएँ की जाती रही हैं भगवदज्जुकम् तो उदात्त विचारों और चिन्तन की गम्भीरता को इतने ऊँचे धरातल पर व्यक्त करता है कि इसका अङ्गीरस हास्य के स्थान पर शान्त भी कह जा सकता है।

भगवदज्जुकम्

भगवदज्जुकम् या भगवदज्जुकीयम् प्रहसन को सागरनन्दी ने नाटकलक्षणरत्नकोश में सङ्कीर्ण प्रहसन बताया है। सागरनन्दी का मत विचारणीय है और भगवदज्जुकीयम् को शुद्ध प्रहसन कहना ही अधिक संगत है।

इस प्रहसन की एक संस्कृत टीका मिली है, जिसे श्री ए० अनुजन् ने अपने संस्करण में (त्रिवेन्द्रम् १९२५ ई.) में 'दिङ्मात्रदर्शिनी' नाम देकर प्रकाशित किया है। टीकाकार का नाम अज्ञात है था समय सत्रहतीं शती अनुमानित है। श्री प्रभात शास्त्री ने अपने संस्करण में भ्रान्तिवश इस टीका को अप्रकाशित बताया है।

टीकाकार ने इस प्रहसन को विख्यात, अभिनेय और अतिगंभीर बताया है। उन्होंने आद्यन्त इस प्रहसन में अर्थ के दो स्तर उद्घाटित किये हैं, एक लौकिक या बाह्य स्तर है, दूसरा आध्यात्मिक और प्रतीकात्मक अर्थ। प्रहसन के सारे संवादों में इस प्रकार की द्व्यर्थकता का सन्धान करने वाली यह टीका अपने आप में अद्भुत कार्य है।

रचनाकार तथा रचनाकाल

संस्कृत की प्रहसनपरम्परा में सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण कृति "भगवदज्जुकीयम्" के रचयिता तथा रचनाकाल के विषय में सबसे कम जानकारी प्राप्त है। डॉ० उन्नि के द्वारा

दिये गये सन्दर्भ के अनुसार ६१० ई० के शिलालेख में उल्लिखित होने के कारण इस प्रहसन की रचनाकाल निश्चित रूप से ६१० ई० के पूर्व हो चुकी थी।[1] अनेक विद्वान् "मत्तविलासप्रहसन" को संस्कृत का प्रथम उपलब्ध प्रहसन मानते हैं।[2] भगवदज्जुकीयम् के विषय में अभी तक संस्कृत साहित्य के इतिहासकार प्रायः यही मानते आये हैं कि इसकी रचना १२वीं शती से पूर्व हो चुकी थी।

दक्षिण के एक शिलालेख में "भगवदज्जुकीयम्" तथा "मत्तविलास"-दोनों प्रहसनों के कर्त्ता राजा महेन्द्रविक्रम कहे गये हैं, जब कि "भगवदज्जुकीयम्" की उक्त एकमात्र उपलब्ध टीका तथा दो पाण्डुलिपियों में उसके रचयिता का नाम "बोधायन" दिया गया है। प्रो० उन्नि ने मानमण्डूर शिलालेख (६१० ई०) का जो उद्धरण दिया है, उसमें महेन्द्रविक्रम के साथ भगवदज्जुकीयम् तथा मत्तविलासम् के कर्तृत्व को जोड़ा गया है, पर उद्धरण त्रुटितपाठयुक्त तथा अस्पष्ट है, उससे इतना अनुमान अवश्य होता है कि "भगवदज्जुकीय की गणना पहले की गयी है[3], पर पल्लव राजा महेन्द्रविक्रम को भगवदज्जुकीयम् के कर्तृत्व का श्रेय दिया जाना स्वीकार्य नहीं लगता।

यदि इस प्रहसन के विषय में इसकी टीका तथा पाण्डुलिपियों का साक्ष्य प्रामाणिक माना जाय, तो इसके कर्ता बोधायन हैं, जिन्हें पाण्डुलिपि में "बोधायन मुनि" कहा गया है। यह मानना भी कठिन है कि बोधायनधर्मसूत्र के कर्ता ने यह प्रहसन लिखा होगा। श्री वार्डर का अभिमत है कि भगवदज्जुकीयम् का टीकाकार जिस बोधायन को इस प्रहसन का प्रणेता मानता है, वे वृत्तिकार बोधायन से अभिन्न हैं, जिनका समय तीसरी शताब्दी ई० है।

निष्कर्षतः "भगवदज्जुकीयम्" के रचयिता कोई बोधायन थे, जिनका समय तीसरी शती ई. से ६१० ई० के बीच रहा होगा। प्रो० डे, प्रो० रा० उपाध्याय आदि विद्वानों का भगवदज्जुकीयम् को बहुत परवर्ती मानना निराधार है। संस्कृत प्रहसन की परम्परा तथा नाट्यशास्त्र की लक्षणपरम्परा दोनों की दृष्टि से "भगवदज्जुकीयम्" की प्राचीनता ही सिद्ध होती है। इस सम्बन्ध में निम्नलिखित तथ्य भी परीक्षणीय हैं-

(१) नाट्यशास्त्र के लक्षणों के अनुसार (१८/१०१) प्रहसन में भगवान् (सन्यासी), तापस या विप्र के द्वारा हास्यवाद का प्रवर्तन किया जाता है। "भगवदज्जुकीयम्" में भगवान् या संन्यासी मुख्य पात्र तो हैं, पर उनका स्वयं का चरित्र अत्यन्त महनीय और उदात्त है,

---

१ द्र० - आगे "मत्तविलासप्रहसन" शीर्षक।

२ रा० उपाध्याय, मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ० १४१।

३ मत्तविलासप्रहसन, सम्पादकः एन०पी० उन्नि, भूमिका, पृ० १३।

नाटक के शेष पात्र अवश्य उस चरित्र के आगे हास्यास्पद बन जाते हैं। इस दृष्टि से भगवदज्जुकीयम् हमारी पूरी परम्परा में निराली ही कृति है, मत्तविलाससहित शेष सभी प्रहसनों में कोई भी पात्र ऐसा नहीं होता, जिसकी विडम्बना तथा हास्यास्पद स्थिति का उद्घाटन नाट्यकार न करता हो। इससे यह सिद्ध होता है कि भगवदज्जुकीयम् की रचना नाट्यशास्त्र के लक्षण तथा प्रहसन की कथारूढ़ि के प्रचलन के बहुत पहले हो चुकी थी।

(२) भगवदज्जुकीयम् की प्रस्तावना में विदूषक सूत्रधार के सम्मुख प्रश्न उठाता है कि नाटक, प्रकरण आदि रूपक प्रकारों में कौन सा आप खेलने जा रहे हैं। इन परिगणित रूपक प्रकारों में संल्लाप तथा वार-ये दो रूपक भी उल्लिखत हैं, जो नाट्यशास्त्रीय परम्परा में दशरूपकों में परिगणित नहीं होते। संल्लाप का लक्षण तथा परिगणन कोहल की परम्परा में परवर्ती आचार्यों ने उपरूपक के रूप में किया है, पर 'वार' का लक्षण तथा रूपक या उपरूपक के रूप में निरूपण या नाम अन्यत्र नहीं मिलता। केवल "अभिनवभारती" (नाट्यशास्त्र २५/५० पर) के एक सन्दिग्ध स्थल में 'वार' या 'पार' का उल्लेख प्रतीत होता है, जिसमें "वासवदत्तानाट्यपार" या - वार या - "धारा" इन पाठों में पाठनिर्णय करना कठिन है। यदि 'वार' पाठ माना जाय तो कहा जा सकता है कि वार एक अत्यन्त प्राचीनकाल में प्रचलित रूपकप्रकार था, जिसका ज्ञान सुदूरपरम्परा से अभिनवगुप्त तथा भगवदज्जुकीयम् के रचयिता को था। इस रूपक या उपरूपक की परम्परा बाद में लुप्त हो गयी।

"भगवदज्जुकीयम्" की प्राचीनता के विषय में एक अन्य साधक संकेत श्री वार्डर ने दिया है। "भगवदज्जुकीयम्" में अनेक दार्शनिक मतों का गम्भीर विवेचन है, जिसमें सांख्यमत के निरूपण में प्रहसननायक भगवान् या परिव्राजक आचार्य वार्षगण्य के मत का निरूपण करते हैं, ईश्वरकृष्ण द्वारा प्रवर्तित सांख्य का नहीं। वार्षगण्य का समय दूसरी शती ई.पू. है और ईश्वरकृष्ण उनके बाद के हैं। अतएव भगवदज्जुकीयकार ईश्वरकृष्णकृत सांख्यमत के प्रचलन और प्रसिद्धि के पूर्व हुए-यह मानना उचित है।

वस्तुयोजना

प्रस्तावना के पश्चात् भगवान् या परिव्राजकाचार्य अपने शिष्य शाण्डिल्य को खोजते हुए प्रवेश करते हैं। शाण्डिल्य एक पेटू बटु है जो ब्राह्मणकुल में उत्पन्न होकर उदरपोषण और जिह्वलौल्य के कारण पहले बौद्ध भिक्षु हुआ, फिर इन भगवान् के पास चला आया। इधर भगवान् उसे खोज रहे हैं, दूसरी ओर से शाण्डिल्य मंच पर प्रवेश कर अपने लम्बे एकालाप में चटोरापन ओर बुभुक्षा प्रकट करता हुआ भगवान् को कोसता है। जब दोनों मिलते हैं, तो शाण्डिल्य भिक्षा की चर्चा ही करता है, जब कि भगवान् उसे विद्याध्ययन और साधना में प्रवृत्त करना चाहते हैं। शाण्डिल्य के भिक्षाटन हेतु चलने के आग्रह को टाल कर

भगवान् उसे लेकर नगर के एक उद्यान (अशोक वन) में पहुँचते हैं। दोनों की योग पर चर्चा होती है, जिसे शाण्डिल्य भोग चर्चा की ओर इसी बीच बसन्त सेना नामक एक गणिका चेटी के साथ विहार करने उद्यान में आती है। उसका प्रेमी रामिल भी उससे मिलने वहाँ आने वाला है। समय बिताने के लिये फूल चुनने लगती है, और शाण्डिल्य उसे अतृप्त लालसा से छिप कर निहारता है। भगवान् उसे झिड़कते हैं। उनकी झिड़की का शाण्डिल्य पर कोई प्रभाव नहीं होता। तभी एक यमदूत वहाँ प्रवेश करता है, जिसे यमराज ने वसन्तसेना नामक गणिका के प्राण हरने के लिये भेजा है। वह अपना परिचय और उद्देश्य बताता है, फिर कहता है कि मैं इस गणिका के प्राण लेने के लिये सर्प बन कर उस वृक्ष की शाखा पर जा बैठता हूँ, जहाँ से यह गणिका पुष्पावचय कर रही है।

वसन्तसेना को सर्प काट लेता है। वह पीड़ा का अभिनय करती हुई चेटी से अपनी माता तथा प्रेमी रामिलक तक अपना अंतिम संदेश पहुँचाने के लिये कहती है। शाण्डिल्य उसकी यह स्थिति देख कर रोने-धोने लगता है और ध्यानस्थ भगवान् को पुकारता है। वसन्तसेना मर जाती है। शाण्डिल्य कहता है कि मुझे जीते जी तो इस रमणी से सहवास का सुख न मिल पाया, अब इसके मृत देह से तो लिपट कर रो लूँ। जब भगवान् उसे पुकारते हैं, तो वह भड़क कर उन्हें कई गालियाँ दे डालता है। चेटी शाण्डिल्य से गणिका के देह की देखभाल करने के लिये कह कर उसकी माता को बुलाने दौड़ पड़ती है।

शाण्डिल्य गणिका के मृत देह से लिपट कर विलाप कर रहा है। भगवान् उसे ऐसी मोहाविष्ट स्थिति से छुटकारा दिलाने के लिये एक योजना बनाते हैं और तदनुसार वे योगसिद्धि के द्वारा अपना जीव मृत गणिका के देह में प्रविष्ट करा देते हैं। भगवान् का देह मृत हो जाता है और गणिका जी उठती है। शाण्डिल्य प्रसन्नता से उछल पड़ता है- "अप्रक्षालितपाणिभ्यां मा स्प्राक्षीः" बिना धोये हाथों से मुझे मत छूना। शाण्डिल्य घबरा कर परिव्राजक की ओर जाता है तो उनका देह मृत देखकर रोने लगता है। इधर गणिका के देह में विराजे उसके गुरू उसे बार-बार अध्ययन के लिये पुकार रहे हैं। इसी समय गणिका की माता को ले कर चेटी लौटती है। गणिकामाता देखती है कि उसकी बेटी तो भली चंगी बैठी है, पर उसे अपनी ओर बढ़ते देख गणिका के भीतर से परिव्राजक का स्वर फूटता है - "वृषलवृद्धे, मा स्प्राक्षीः।"

अब तो परिव्राजक को छोड़कर शेष सभी पात्र सम्भ्रम में पड़ जाते हैं। वसन्तसेना का भूत उतारने के लिये विषवैद्य बुलाया जाता है, पर गणिका उसे वैद्यक और सर्पविद्या पर प्रश्न और शास्त्रार्थ करके यों हैरान कर डालती है कि वह घबरा कर भागता बनता है। गणिका का प्रेमी रामिलक अपनी प्रिया को प्रेताविष्ट समझ कर परेशान है।

यह सारा विचित्र घटनासंविधान और भी रोचक मोड़ ले लेता है जब वसन्तसेना का जीव लेकर गया हुआ यमदूत जीव लेकर वापस आता है। यमराज ने उसकी भर्त्सना करके बताया कि वह किसी और वसन्तसेना का जीव ले आया है, जिस वसन्तसेना की आयु पूरी हुई थी, उसका नहीं। उद्यान में आकर वह यह देखकर चकित हो जाता है कि गणिका तो जीवित है और प्रवचन दिये जा रही है। वह वस्तुस्थिति समझ जाता है और परिव्राजक के खेल को आगे बढ़ाने के लिये गणिका का जीव उनके मृत देह में डाल देता है। अब तो परिव्राजक गणिका के सुकुमार स्वर में रामिलक और गणिका माता को पुकार रहे हैं। इधर गणिका परिव्राजक के स्वर में लोगों को डपट रही है। इस सारी विसंगति परम् विस्मित शाण्डिल्य कहता है-"नैव भगवान्, नैव अज्जुका। भगवदज्जुकीयं नामेदं संवृत्तम्।" न भगवान् भगवान् रहे, न अज्जुका अज्जुका (गणिका) रहीं। यह तो भगवदज्जुकीयम् हो गया।

वैद्य गोली लेकर आता है। गणिका (परिव्राजक का जीव) उसके वाक्य में व्याकरण की अशुद्धि बताती है। वैद्य घबरा कर अन्त में "न खल्वस्माकं विषयः। नमो भवत्यै" (यह हमारे बस की बात नहीं, राम, राम!)- कह कर चल देता है। तब यमदूत अपना कर्तव्य पूरा कर लौटता है और गणिका के देह में स्थित परिव्राजक को सम्बोधित करता है - "भगवन् मुच्यतां वृषल्याश्शरीरम्"- भगवन् अब इस वृषली के शरीर का त्याग कीजिये। परिव्राजक अपने देह में लौट आते हैं, परिव्राजक के देह में संक्रान्त गणिका का जीव पुनः गणिकादेह में संक्रान्त करा दिया जाता है, जिससे ये दोनों प्रकृतिस्थ हो कर स्वसदृश आचरण करने लगते हैं। इसके साथ ही प्रहसन समाप्त हो जाता है।

वस्तुवैशिष्ट्य

भगवदज्जुकीयम् में दार्शनिक, सामाजिक तथा मनोवैज्ञानिक अभिप्रायों में द्योतन के लिये परकायप्रवेश के अभिप्राय का मौलिक, कल्पनापूर्ण तथा सर्जनात्मक उपयोग किया गया है। यमदूत की जरा सी चूक से पात्रों के लिये शेक्सपीयर के "कामेडी ऑव एरर्स" नाटक की भाँति एक ऐसी विचित्र उलझन भरी स्थितियों की अटूट शृंखला बनती चली जाती है, और उनके सम्भ्रम तथा किङ्कर्तव्यविमूढ़ता पर प्रेक्षक हास्यरसार्णव में गोते लगाता रहता है। भगवदज्जुकीयम् में हास्य की अपूर्व सृष्टि घटना-व्यापार के आकस्मिक विपरिवर्तन के द्वारा की गयी है, परवर्ती प्रहसनों की भाँति पात्रों की खिल्ली उड़ाकर नहीं। परवर्ती प्रहसनकार अपने पात्रों के द्वारा हास्यास्पद चेष्टाएँ कराते हुए या उनसे फूहड़ संवाद कहलाते हुए उनके प्रति जुगुप्सा का भाव जाग्रत करते हैं। भगवदज्जुकीयम् ने अपने किसी भी पात्र को जुगुप्सा के भाव से नहीं देखा है। वे तो एक असम्भाव्य सी प्रतीत होने वाली स्थिति की रङ्गमञ्च पर सम्भाव्यता के द्वारा मनुष्य के अस्तित्व और व्यक्तित्व की

पहचान को लेकर गम्भीर समस्या भी इस सारी हास्यसृष्टि के भीतर से उठाते हैं क्या देह से मनुष्य के व्यक्तित्व की पहचान हो सकती है? शाण्डिल्य परिव्राजक के व्यक्तित्व से चिढ़ता है, आक्रान्त होता है और गणिका के देह से प्रेम करता है। परिव्राजक का व्यक्तित्व गणिका के देह में और गणिका का व्यक्तित्व परिव्राजक के देह में समाविष्ट होने से उत्पन्न विपर्यास उसे अपनी आसक्ति और जुगुप्सा दोनों का परीक्षण करने को बाध्य करता है।

उसके साथ ही गीताकार की भाँति भगवदज्जुकीयकार भी कहना चाहते हैं कि "स्वे स्वे कर्मण्यभिरतः संसिद्धिं लभते नरः"-यदि सन्यासी गणिका की भाँति और गणिका सन्यासी की भाँति आचरण करने लगे तो बड़ी बेमेल हास्यास्पद स्थिति होगी।

पात्रवैशिष्ट्य

भगवदज्जुकीयम् के प्रमुख पात्र हैं भगवान् या परिव्राजक तथा शाण्डिल्य। शाण्डिल्य का चरित्र भास, शूद्रक या कालिदास के विदूषकों के समकक्ष है। अपनी मूर्खता, भोलेपन ओर पेटूपने के बावजूद वह प्रेक्षकों की सहानुभूति अर्जित कर ले जाता है। इसका कारण प्रथम प्रवेश के साथ ही प्रस्तुत किया गया उसका लम्बा एकालाप है, जिसमें वह दरिद्र परिवार की अपनी पृष्ठभूमि बताते हुए अपने भटकाव की रामकहानी कहता है। विदूषक के चरित्र के साथ उसका वैषम्य उसका स्त्री के प्रति आकर्षण रिरंसा की वृत्ति के कारण है। शाण्डिल्य के द्वन्द्व में परिणतप्रज्ञ परमविवेकसम्पन्न सिद्ध परिव्राजक का चरित्र रखा गया है। शाण्डिल्य की बचकानी या क्षुद्रतापूर्ण बातों को वे निरन्तर सम्पूर्ण प्रहसन में अपने संयम, धैर्य, औदार्य तथा तर्कसंगत प्रतिक्रिया से दूसरी दिशा में मोड़ते चलते हैं। संस्कृत में अन्य ऐसा कोई प्रहसन देखने में नहीं आया, जिसमें हास्य की सृष्टि भी निर्दुष्ट और अव्याहत हो तथा चरित्र की यह गरिमा भी अव्याहत बनी रही हो। परिव्राजक शिष्य को प्रबोध देने के लिये गणिका के देह में प्रवेश करते हैं और इसके पूर्व वे शास्त्र की दृष्टि से अपने इस कृत्य के औचित्य पर विचार भी करते हैं।

अन्य पात्रों में गणिका वसन्तसेना मृच्छकटिक की वसन्तसेना की भाँति नारी की महनीय छवि तो प्रस्तुत नहीं करती, पर परवर्ती प्रहसनों में प्रस्तुत गणिकाचरित्र से उसका आचरण बहुत भिन्न है। रामिलक के प्रति वह एकनिष्ठ प्रेम ही व्यक्त करती है और रामिलक भी अपने संयत व्यवहार तथा उसके प्रति हार्दिक स्नेह के कारण प्रभावित करता है। मृच्छकटिक की भाँति प्रहसनकार बोधायन ने अपने छोटे-छोटे पात्रों को भी व्यक्तित्व दिया है। इसके साथ ही मनुष्य-चरित्र के अन्तर्विरोधों और मानवस्वभाव की बारीकियों के चित्रण में भी वे उतना ही दक्ष हैं, जितने शूद्रक।

भाषाशैली तथा संवाद

शूद्रक की ही भाँति भगवदज्जुकीयकार पात्रानुसार विविध भाषाशैलियाँ अपनाते हैं।

परिव्राजक के संवादों में एक-एक पद गम्भीर और उदात्त भाव से संवलित है, जब कि शाण्डिल्य बोलचाल की भाषा और लोकोक्तियों का उपयोग करता है। वसन्तसेना, चेटी, गणिकामाता, रामिलक तथा वैद्य के संवाद नाटकीय और सारगर्भित हैं, उनमें इन चरित्रों की बनावट भी झलकती है।

यद्यपि प्रहसनकार बोधायन की दृष्टि इस कृति में घटना के अप्रत्याशित विधान के द्वारा विपर्यय का रङ्गमञ्च खड़ा करने पर अधिक केन्द्रित रही है, पर तदनुकूल वातावरण के निर्माण के लिये उन्होंने संक्षिप्त और अवसरोचित वर्णन स्थान-स्थान पर संवादों के द्वारा प्रस्तुत किये हैं। शाण्डिल्य के मुख से उद्यान में खिलते पुष्पों और वसन्तावतार के चित्रण में उन्होंने जहाँ वासन्तिक पुष्प-पादप-सम्पदा की विशद सूची प्रस्तुत कर दी है, वहीं गणिका के द्वारा वसन्तवर्णनपरक गीतियों में शृङ्गारानुकूल पर्यावरण भी रच दिया है।

भगवदज्जुकीयम् की पूरी संवादयोजना और प्रस्तुतिशैली में नाटककार का निःसंग विरागी व्यक्तित्व झलकता है। वे परिव्राजक और शाण्डिल्य के संवादों में पूर्वपक्ष और उत्तरपक्ष के उपस्थापन की शास्त्रीय शैली का उपयोग करते हैं। शाण्डिल्य के एक-एक कथन का सटीक प्रतिवाद परिव्राजक के संवाद हैं। दूसरी ओर रामिलक, वसन्तसेना, चेटी, गणिकामाता और विषवैद्य-इन सभी के संवादों में लोकव्यवहार की विडम्बना है। जिस दृष्टिकोण से बोधायन रामिलक को वसन्तसेना के आगे प्रणयनिवेदन करता दिखाते हैं, उससे रामिलक की सारी अभिव्यक्ति निस्सार प्रतीत होने लगती है, क्योंकि सामने वसन्तसेना का मात्र देह ही है, उसमें जीव वसन्तसेना का नहीं है। यदि रामिलक से शृङ्गारित संवादों की परीक्षा की जाय तो उनमें पात्र की कामपरकदृष्टि और नाटककार की निष्काम दृष्टि दोनों एक साथ गुँथी दिखेंगी, क्योंकि बोधायन रामिलक की अभिव्यक्ति में डूब कर उसके संवादों की रचना नहीं करते, वे एक कामुक व्यक्ति की कथनभंगी की अनुकृति प्रस्तुत करते हैं।

बोधायन ने अपनी कल्पनाशक्ति का विनियोग प्रहसन में वस्तुसंविधान की विलक्षणता के लिये अधिक किया है, पर काव्यसौन्दर्य की उनमें कमी नहीं है। परिव्राजक के मुख से विघ्नाकुल जगत् के लिये मगरमच्छों से भरे महासरोवर की उपमा सटीक है-

अमानकामस्सहितव्यधर्षणः कृशाज्जनाद् भैक्षकृतात्मधारणः।
चरामि दोषव्यसनोत्तरं जगद् ह्रदं बहुग्राहमिवाप्रमादवान्।। (४)

इसी प्रकार प्रहसन के समापन के अवसर पर अस्तंगत सूर्य का 'मूषामुखस्थ तप्तसुवर्णराशि' के उपमान और अन्तरिक्ष के दहनगर्भस्थ होने की उत्प्रेक्षा भी प्रहसन की सांकेतिक अभिप्रायों से युक्त परिणति के अनुरूप है-

अस्तङ्गतो हि दिनकृद् गगनान्तलम्बी मूषामुखस्य इव तप्तसुवर्णराशिः।
यस्य प्रभाभिरनुरञ्जितमेघवृन्दमालक्ष्यते दहनगर्भमिवान्तरिक्षम्।। (३६)

छन्दोविधान-

भगवदज्जुकीयम् में कुल ३७ पद्य हैं, जिनमें सर्वाधिक संख्या (१०) अनुष्टप् की है। प्रहसन का घटनाक्रम वसन्त ऋतु से जुड़ा हुआ है ओर वसन्ततिलका वृत्त का प्रयोग तदनुसार बड़ा प्रासंगिक है। इसी प्रकार यमलोक से धरती और धरती से यमलोक की ओर यमदूत के प्रयाण के वर्णन में उसके मुख से शार्दूलविक्रीडित तथा स्त्रग्धरा छन्दों के प्रयोग में गत्यात्मकता और वेग की त्वरा ध्वनित है।

दार्शनिकता-

भगवदज्जुकीयम् की एक दुर्लभ विशेषता उसमें सहज रूप से विन्यस्त गहरा दार्शनिक चिन्तन है। कदाचित् जयन्तभट्ट की रचना को छोड़कर संस्कृत में अन्य कोई प्रहसन नहीं होगा, जिसमें दर्शनप्रस्थानों और शास्त्रीयविमर्श को इतना अवकाश और महत्त्व मिला हो। जयन्त भट्ट के प्रहसन में दार्शनिक विचारों का समावेश जहाँ नाटकीय गुण, रङ्गमञ्च की अपेक्षाओं और सौन्दर्यानुभूति की क्षति कराते हुए हुआ है, वहीं भगवदज्जुकीयम् में दार्शनिक विचार पात्र के जीवनदर्शन की अभिव्यक्ति बन कर तथा प्रहसन के कथासंविधन की अपेक्षा से जुड़कर आये हैं। सम्भवतः प्रहसनकार श्रीमद्भगवदीता से प्रभावित है। असङ्गता का जो स्वरूप परिव्राजक के मुख से उसने प्रतिपादित करवाया है, उसमें गीता की अनासक्ति योग की अवधारणा सुस्पष्ट प्रतीत होती है-

सुखेषु दुःखेषु च नित्यतुल्यतां भयेषु हर्षेषु च नातिरिक्तताम्।
सुहृत्स्वमित्रेषु च भावतुल्यतां वदन्ति तां तत्त्वविदो असङ्गताम्।। (७)

इसी प्रकार परिव्राजक के इस कथन में भी गीता के द्वितीय अध्याय में श्रीकृष्ण के अर्जुन के प्रति उद्बोधन की किञ्चित् छाया देखी जा सकती है -

अनागतं प्रार्थयतामतिक्रान्तं च शोचताम्।
वर्तमानैरतुष्टानां निर्वाणं नोपपद्यते।। (११)

यों तो परिव्राजक का लगभग प्रत्येक वाक्य ही यहाँ श्रुति या स्मृति का अनुवाद लगता है और हमारे सांस्कृकि मूल्यबोध को भी उत्कृष्ट रूप में प्रस्तुत करता है, पर उसके अनेक संवादों में षड्दर्शनप्रस्थानों का जो अवबोध है, उसमें प्रहसनकार का अपना चिन्तन और मनन झलकता है। शाण्डिल्य जब पूछता है कि "अधीते किं भविस्सदि" (अध्ययन से क्या होगा?), तो भगवान् अध्ययन की उपादेयता पर शास्त्रीय दृष्टि से प्रकाश डालते हैं-

"ज्ञानाद् भवति विज्ञानम्, विज्ञानात् संयमः, संयमात् तपः, तपसो योगप्रवृत्तिः, योगप्रवृत्तेरतीतानागतवर्तमानतत्त्वदर्शनं भवति, एतेभ्योऽष्टगुणमैश्वर्यं लभते।"

यह अध्ययन-प्रयोजन-प्रतिपादन वस्तुतः शाण्डिल्य को श्रुति की ओर प्रवृत्त करने के लिये किया गया है। परिव्राजक की आस्था तो निःसङ्ग योग के प्रति है, जिसका स्वरूप उसने यह बताया है-

ज्ञानमूलं तपःसारं तत्त्वस्थं द्वन्द्वनाशनम्।
मुक्तं द्वेषाच्च रागाच्च योग इत्यभिधीयते।। (१५)

प्रहसन में प्रसंगतः शाक्यसमय या बौद्धों के सिद्धान्त, सांख्य के मूल तत्त्व तथा वेदान्त के आत्मस्वरूप का भी विवेचन है। किसी भी प्रस्थान के प्रति अनास्था का भाव प्रहसनकार ने अपनी ओर से झलकने नहीं दिया है।

रङ्गमञ्च

"भगवदज्जुकीयम्" का रङ्गमञ्च स्थिति-विपर्यय को प्रस्तुत करता है। विपर्यय के अभिप्राय का बहुत सधा हुआ नाटकीय और मंचीय उपयोग प्रहसनकार ने किया है। गणिका का परिव्राजक के जीव से आविष्ट होना और परिव्राजक के देह में गणिका के जीव की उपस्थिति से इस प्रहसन में एक निराली वस्तुविन्यासवक्रता ही नहीं आयी, अभिनय और मंचीय प्रस्तुति के लिये भी बोधायन के इस प्रयोगा में बड़ी सम्भावनाएँ हैं।

विपर्यय के साथ-साथ विडम्बना (हास्यजनक अनुकृति) भी सजगतापूर्वक रामिलक, वैद्य आदि पात्रों के द्वारा करायी गयी है। विपर्यय तथा विडम्बना के साथ-साथ विसंगति का भी एक अन्तर्निहित गहरा बोध भगवदज्जुकीयम् की रंगप्रस्तुति से होता है।

शिष्ट हास्य के साथ तत्त्वदर्शन, विसंगत स्थितियों में सांकेतिकता या प्रतीकात्मकता और रंगमंच पर लोकानुरंजन के साथ जीवनादर्श की अभिव्यक्ति का एक विरल उदाहरण भगवदज्जुकीयम् की मंचीय प्रस्तुति में हम पा सकते हैं।

मत्तविलासप्रहसन

'मत्तविलास' प्रहसन के कर्तृत्व के विषय में 'भगवदज्जुकीयम्' की भाँति विकल्प या विवाद की कोई स्थिति नहीं है, और यह संस्कृत नाट्यसाहित्य का सबसे प्राचीन नहीं तो प्राचीनतम प्रहसनों में एक अवश्य है। इसके रचयिता पल्लवनरेश महेन्द्रविक्रमवर्मन् हैं।

रचनाकाल –

'भगजदज्जुकीयम्' की भाँति इस प्रहसन की भी उत्तर सीमा ६१० ई० है, क्योंकि ६१० ई० के एक शिलालेखों में ये दोनों प्रहसन उल्लिखित हैं।[1] प्रहसनकार महेन्द्रविक्रमवर्मन् कान्यकुब्जनरेश श्रीहर्ष के लगभग समकालिक हैं। इनका ६२० ई० के आसपास काञ्ची में शासन था – यह शिलालेखीय प्रमाणों से सिद्ध है।[2]

संस्करण तथा टीकाएँ और अनुवाद

मत्तविलासप्रहसन का सर्वप्रथम प्रकाशन टी० गणपति शास्त्री ने त्रिवेन्द्रम संस्कृत सीरीज में सन् १९१७ ई० में किया। इस संस्करण का विश्व में प्राच्यविद्याविदों ने सर्वत्र स्वागत किया तथा १९२४ ई० में हर्तेल ने 'मत्तविलास' का जर्मन भाषा में लाइप्ज़िग से अनुवाद प्रकाशित किया। इसके पश्चात् बार्नेट ने इसका अंग्रेजी में अनुवाद प्रकाशित किया (लन्दन १९३०)। मूल प्रहसन हिन्दी अनुसाद सहित चौखम्भा संस्कृत सीरीज में प्रकाशित हुआ तथा डॉ० एन० पी० उन्नि ने अनेक पाण्डुलिपियों के साथ सुसम्पादित कर अंग्रेजी अनुवाद के साथ प्रकाशित किया (त्रिवेन्द्रम, १९७४)।

'मत्तविलास' की कोई सम्पूर्ण टीका प्राप्त नहीं होती। बार्नेट ने इस पर एक अज्ञातकर्तृक टीका का उल्लेख किया है। डॉ० उन्नि ने भी 'मत्तविलासप्रहसनटीका' की एक पाण्डुलिपि का विवरण दिया है, जिसका कुछ अंश मलयालम भाषा में भी है। एक अन्य संक्षिप्त पाण्डुलिपि 'मत्तविलासटिप्पण' की है, जिसमें ४१ पद्य हैं और इनमें केवल मत्तविलास के नान्दी पद्य की व्याख्या है। डॉ० उन्नि ने अपने संस्करणप के परिशिष्ट में इस पूरे टिप्पण को प्रकाशित कर दिया है।

कविपरिचय

पल्लवनरेश महेन्द्रविक्रम के पूर्वज ईसा से दो शती पूर्व बाहर से भारत आये और ईसा के बाद की शताब्दियों में इन्होंने अपने को दक्षिण में स्थापित किया और पल्लववंश की नींव डाली। राजा सिंहविष्णु के समय काञ्ची में पल्लवों का वर्चस्व परम प्रकर्ष पर था। इन्हीं के पुत्र महेन्द्रविक्रम थे, जिनका समय डॉ० उन्नि में ५८० ई० से ६३० ई० के बीच माना है। 'मत्तविलास' की प्रस्तावना में महेन्द्रविक्रम के पिता की "पल्लवकुलधरणिमण्डलकुलपर्वत", "सर्वनयविजितसमस्तसामन्तमण्डल", आखण्डलसदृश,

---

१. मत्तविलासः, सम्पादक डॉ० एन० पी० उन्नि, भूमिका।

२. दासगुप्ता तथा डे, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृ० २५४।

आदि विशेषणों से प्रशंसा की गयी है। राजा महेन्द्रविक्रम के विविध गुणों की तो विस्तार से चर्चा इस प्रस्तावना में है, उन्हें "शत्रुषड्वर्गनिग्रहपर" तथा "परहितपरतन्त्रतयामहाभूतसधर्मा" बताते हुए कहा गया है –

प्रज्ञादानदयानुभावधृतयः कान्तिः कलाकौशलं
सत्यं शौर्यममायता विनय इत्येवम्प्रकारा गुणाः।
अप्राप्तस्थितयः समेत्य शरणं याता यमेकं कलौ
कल्पान्ते जगदादिमादिपुरुषं सर्गप्रभेदा इव।। (म० वि० पद्य-३)

पल्लववंश के विभिन्न शिलालेखों में राजा महेन्द्रविक्रम की विरुदावली और प्रशस्ति विस्तार से निरूपित है। उसे अवनीभाजन, चट्टकारी (चैत्यकारी?), गुणभर, मत्तविलास, नित्यविनीत, पुरुषोत्तम, शत्रुमल्ल, सत्यसन्ध आदि विशेषणों से बखाना गया है।[1] शिलालेखों से यह भी प्रमाणित होता है कि महेन्द्रविक्रम शूरवीर, सुकवि, कवियों का आश्रयदाता तथा सुयोग्य प्रशासक था। शिलालेखों से यह भी प्रमाणित होता है कि उसने 'मत्तविलास' प्रहसन के अतिरिक्त अन्य काव्य भी लिखे थे। अवन्तिसुन्दरीकथासार के एक त्रुटित पाठ वाले पद्य से महेन्द्रविक्रम ने कदाचित् गन्धमादन नामक काव्य की रचना की थी-

शूरः शास्त्रविधेर्ज्ञाता साहसाङ्कः स भूपतिः।
सेव्यं सकललोकस्य विदधे गन्धमादनम्।।

कथावस्तु

प्रस्तावना के पश्चात् सत्यसोम नामक कपाली देवसोमा नामक अपनी संगिनी के साथ प्रवेश करता है। दोनों ने सुरापण में छक कर मदिरा पी है और मदमत्त होकर गिर-गिर पड़ रहे हैं। कपाली नशे में धुत्त होने से अपनी प्रिया सन्यासिनी देवसोमा को सोमदेवा कहने लगता है, देवसोमा भी नशे में गाफिल है, पर वह उसे अपना नाम बिगाड़ने के लिये झिड़कती है। कपाली खेद प्रकट करता हुआ मदिरा त्याग का प्रण करने को उद्यत हो जाता है, पर देवसोमा उससे आग्रह करती है कि वह उसके कारण कापालिक धर्म न छोड़े। सत्यसोम कापालिक धर्म का प्रवर्तक करने वाले महाकपाली शिव की स्तुति करने लगता है। देवसोमा बौद्धमत का उल्लेख करती है, तो वह भड़क कर बौद्धों की निन्दा करता हुआ उनका नाम लेने से अपवित्र हुई अपनी जिह्वा को मदिरापान से पुनः पवित्र करने का प्रस्ताव करता है। दोनों पुनः सुरापण की ओर लौटते हैं पर सुरापण की ओर लौटते हैं पर सुरा की भिक्षा लेने को प्रस्तुत कपाली का ध्यान इस बात की ओर जाता

---

१. उन्नि, 'मत्तविलास' भूमिका, पृ० ११, १२।

है कि उसका कपाल उसके पास नहीं है। वह कपाल खोजने के लिये पहले वाले सुरापण की ओर जाने को होता है, जहाँ से दोनों मदिरा पी कर चले थे, पर देवसोमा कहती है कि भिक्षा में दी जा रही सुरा का त्याग तो अधर्म होगा। तब आपद्धर्म मानकर कपाली गोशृङ्ग में मदिरा ले लेतीं हैं। दोनों पी कर विलुप्त कपाल की खोज में बढ़ते हैं। मार्ग में इनकी भेंट नागसेन नामक भिक्षु से हो जाती है, जो अपने चीवर के भीतर अपना भिक्षापात्र छिपाये विहार लौट रहा है। कपाली समझता है कि नागसेन उसी का कपाल चुरा कर भाग रहा है। तब तो वह देवसोमा के साथ भिक्षु को धर दबोचने को होता है। पर मदमत्त होने के कारण दोनों अपने आपको ही नहीं सँभाल पर रहे, भिक्षु को वश में करने की तो बात ही दूर रही। दोनों सहायता के लिये पुकारते हैं तभी पाशुपत बभ्रुकल्प वहाँ आता है। वह देवसोमा को पहचान लेता है, वह पहले इसी (पाशुपत) की संगिनी रही थी, कपाली उसे बहका कर साथ लाया। पाशुपत के कहने पर भिक्षु नागसेन को अपना भिक्षापात्र बताना पड़ता है। कपाली अभियोग लगाता है कि भिक्षु ने उसका कपाल चुराया ही नहीं, उसका रंग और आकार भी बदल डाला है। नागसेन किसी तरह उससे पीछा छुड़ा कर भागने को होता है, पर पाशुपत के सुझाव पर वे न्याय के लिये अधिकरण की ओर प्रस्थान करते हैं। तभी उन्मत्तक आता है। उसके पास कुत्ते के मुँह से छीना हुआ कपाल है। वह यह कपाल बभ्रुकल्प को देने लगता है। बभ्रुकल्प उसे कपाली को कपाल लौटाने के लिये उकसाता है। बड़ी कठिनाई से ये सब उन्मत्तक से कपाली का कपाल प्राप्त करने में सफल होते हैं।

वस्तुवैशिष्ट्य

मत्तविलास की अन्तर्वस्तु समकालिक धार्मिकों के व्यवहार का विडम्बन और उत्प्रास की शैली में अन्तरंग परीक्षण है। विडम्बन की शैली का सधा हुआ उपयोग आद्यन्त महेन्द्रविक्रम ने यहाँ किया है। कपाली भिक्षा ले रहा है मदिरा की। भिक्षा भी उसे सुरापण की ओर से सादर दी जा रही है। पर भिक्षापात्र (कपाल) नहीं है। भिक्षु नागसेन बुद्ध के वचनों की ऐसा व्याख्या चाहता है जिससे उसे शेष सुख जो सुलभ हैं, उनके साथ सुरा और सुन्दरी का आनन्द भी मिले। नागसेन से भिड़ने के लिये देवसोमा उसे केश पकड़ कर घसीटना चाहती है, और मुंडित भिक्षु के केश न पाकर स्वयं गिर पड़ती है। इस प्रकार विडम्बन के साथ विसंगति का गहरा बोध 'मत्तविलास' का वस्तुवैशिष्ट्य कहा जा सकता है। कुत्ते के द्वारा उच्छिष्ट कपाल की एक उन्मत्त व्यक्ति के पास से पुनः प्राप्ति में अन्त में यह बोध अपने परम प्रकर्ष पर पहुँचता है।

विडम्बना और विसंगति-बोध की अभिव्यक्ति को उत्प्रास (सेटायर) के विलक्षण मिश्रण ने और तीव्र बना दिया है। भिक्षु नागसेन का कपाली और संन्यासिनी के सम्मुख

अवतरण कराते हुए महेन्द्रविक्रम ने उत्प्रास का अच्छा निदर्शन प्रस्तुत किया है। नागसेन कहता है-'उपासक धनदानश्रेष्ठी के सर्वविध आवास महादान की महिमा की क्या प्रशंसा की जाय, जिसमें मुझे अभिमत वर्ण, गन्ध और रस वाला मत्स्य और मांस की प्रचुरता वाला यह पिण्डपात (भिक्षा) मिला।' फिर राजविहार की ओर जाता हुआ वह सोचता है - "अरे परम कारुणिक भगवान् तथागत ने जब भिक्षुओं के लिये प्रासादों में निवास, सुकोमल शय्या वाले पर्य्यंकों पर शयन, पूर्वाह्ण में भोजन, अपराह्ण में रसमय पानक, पाँच प्रकार की सुगन्ध से युक्त ताम्बूल, रेशमी कपड़े इन सबका विधान करके भिक्षुसंघ पर अनुग्रह किया है, तो क्या उन्होंने भिक्षुओं के लिये स्त्रीपरिग्रह और सुरापान का विधान न किया होगा? अथवा वे तो सर्वज्ञ थे, उनकी दृष्टि से यह बात कैसे बची रह सकती थी? अवश्य ही इन दुष्ट वृद्ध भिक्षुओं ने हम तरुण भिक्षुओं के प्रति डाह के कारण पिटकपुस्तकों से स्त्री और सुरापान विषयक विधान मिटा दिये हैं। यदि मुझे वह पिटक का विनष्ट मूल पाठ मिल जाय, तो सम्पूर्ण बुद्धवचन को संसार में प्रकाशित कर मैं जगत् का बड़ा उपकार करूँ।" (पृ० ४६)

सुरामत्त कपाली के द्वारा मदिरा दिये जाने पर भिक्षु नागसेन पीने के लिये ललचा उठता है, पर आसपास देखकर आशंकित होता है कि "महाजन लोग देख लेंगे।" (पृ० ५१)

कुल मिलाकर महेन्द्रविक्रम यही दिखाना चाहते हैं कि धर्मधुरन्धर लोगों ने अपनी प्रज्ञा को छद्म और पाखण्ड के हवाले कर दिया है। कपाली, पाशुपत तथा शाक्यभिक्षु तीनों में शास्त्रज्ञान की कमी नहीं है, यह उनके परस्पर विवाद और संवाद में प्रयुक्त पदावली से स्पष्ट है। पर उस शास्त्र का उपयोग तथा प्रतिफलन जीवन में किस रूप में हुआ है? कपाली खरपट (चौर्यशास्त्र के आचार्य) और तथागत बुद्ध की तुलना करता हुआ बुद्ध को खरपट से भी आके सिद्ध करता है-

वेदान्तेभ्यो गृहीत्वार्थान् यो महाभारतादपि।
विप्राणां मिषतामेव कृतवान् कोशसञ्चयम्।। (१२)

तो इधर नागसेन त्रिपिटक का स्त्रीसंग तथा सुरापान के विधान वाला लुप्त पाठ ढूँढ़ना चाहता है।

यदि चतुर्भाणी में समाज के बहिर्भूत वैशिक समुदाय के पात्र हैं, तो 'मत्तविलास' के भी सारे के सारे पात्र समाज-बहिर्भूत हैं। वे अपने आपको प्रचलित नैतिक मर्यादाओं से परे मान कर चलते हैं। देवसोमा पहले पाशुपत की संगिनी रही है, कपाली ने उसे अपने चीवर के भीतर (रुपया) दिखा कर फुसला लिया। इस प्रकार धार्मिकों का यह समाज

र्चनाविहीन समाज है, जिसके चित्रण के पीछे महेन्द्रविक्रम ने विभिन्न सम्प्रदायों के नैतिक स्खलन को सांकेतिक रूप में व्यक्त किया है।

"भगवदज्जुकीयम्" से साम्य

यही नैतिक स्खलन भगवदज्जुकीयम् की भी विषयवस्तु है। वहाँ शाण्डिल्य के चरित्र में कपाली, पाशुपत और नागसेन तीनों के चरित्र सूक्ष्मतया समाहित हैं। शाण्डिल्य भी स्त्रीलोलुपता, लम्पटता और भोगतृष्णा का उसी प्रकार प्रदर्शन करता है जिस प्रकार ये तीनों। भाषा और अभिव्यक्ति की दृष्टि से भी ये दोनों प्रहसन परस्पर बहुत निकट है। 'मत्तविलास' में शाक्यभिक्षु वे ही शिक्षापदविषयक बुद्धवचन दोहराता है[1], जो 'भगवदज्जुकीयम्' में शाण्डिल्य केमुख से भी कहलाये गये हैं। मत्तविलासकार को भगवदज्जुकीयम् का निश्चय ही ज्ञान रहा होगा।

भाषा, शैली और छन्दोविधान

मत्तविलास की भाषा अत्यन्त सहज तथा रङ्गमञ्चोपयुक्त है। महेन्द्रविक्रम ने बहुत सजग हो कर पात्रानुरूप भाषा का उपयोग किया है। रमणीय कल्पनाओं या मनोरम बिम्बविधान से उन्होंने जानबूझ कर परहेज किया है। यदि वे उपमा का भी प्रयोग करते हैं, तो सौन्दर्यदृष्टि के स्थान पर विडम्बना और उत्प्रास के भाव को ही तीखा बनाने के लिये करते हैं। पाशुपत का देवसोमा और कपाली के लिये यह कथन देखिये –

तां क्षौरिकस्य दासीं मम दयितां चीवरारन्तदर्शितया।
आकर्षति काकण्या बहुशो गां ग्रासमुष्ट्येव।। १४

(उस नापित की दासी को जो मेरी प्रिया थी, इस कपाली ने अपने चीवर के भीतर कौड़ी दिखाकर वैसे ही खींच लिया, जैसे गाय को मुट्ठी भर घास का ग्रास दिखा कर ले जाया जाता है।)

सूत्रधार के अतिरिक्त इस प्रहसन में कुल पाँच ही पात्र हैं–कपाली, देवसोमा, पाशुपत और नागसेन तथा उन्मत्तक। इनमें से कपाली और पाशुपत परिष्कृत संस्कृत बोलते हैं। नागसेन तथा देवसोमा शौरसेनी प्राकृत का तथा उन्मत्तक मागधी का प्रयोग करते हैं।'

मत्तविलास में कुल २३ पद्य हैं, जिनमें नौ विभिन्न छन्दों का उपयोग हुआ है। महेन्द्रविक्रम का विशेष ध्यान पात्रों की भंगिमाओं तथा छवि को सटीक संवादों के द्वारा

---

१. अदिण्णादाना वेरमणं सिक्खापदं। मुसावादा वेरमणं सिक्खापदं। अब्रह्मचर्या वेरमणं सिक्सापदं। अकाल भोअणा वेरमणं सिक्खापदं। अम्हाणं बुद्धधम्मं सरणं गच्छामि। (मत्तविलास, पृ० ८६-८७)

प्रस्तुत करने पर रहा है, पर नाटक के देश-काल और पर्यावरण की पृष्ठभूमि को भी उन्होंने संवादों में सम्यक् निर्मित किया है। कपाली के संवादों में काञ्ची नगरी के बाजारों और सुरापण का वातावरण सजीव हो उठा है।

भगवदज्जुकीयकार के समान महेन्द्रविक्रम में भी विडम्बन और उत्प्रास के भावों के अनुरूप भाषिक संरचना और नाट्यविधान रचने की विलक्षण क्षमता है। विडम्बन शैली का इससे अच्छा सहज उदाहरण और क्या होगा कि पिनापाणि शिव से दीर्घायुष्य का वर सब माँगते हैं, मत्त कपाली उन्हीं शिव को दीर्घायु होने का आशीर्वाद दे डालता है-

पेया सुरा प्रियतमामुखमीक्षणीयं ग्रह्यः स्वभावललितो विकृतश्च वेषः।
येनेदमीदृशमदृश्यत मोक्षवर्त्म दीर्घायुरस्तु भगवान् स पिनाकपाणिः।।

(नद्य-६)

"मत्तविलास" का रङ्गमञ्च

'मत्तविलास' में एक खोये हुए कपाल की खोज को लेकर रोचक, सांकेतिक अभिप्रायों से अन्वित और हास्य तथा करुणरसाभास से युक्त रंगसृष्टि है। केरल के रङ्गमञ्च पर चाक्यारों द्वारा "कूडियाट्टम्" शैली में कई शताब्दियों से इसका अभिनय मन्दिरों में होता आया है। चाक्यारों में इस प्रहसन के प्रमुख पात्र कपाली को शिव भगवान् का रूप या प्रतीक मान कर पूरे प्रहसन की दार्शनिक व्याख्या के साथ प्रस्तुति की परंपरा रही है। कपाली के सारे कार्यकलाप एक अर्थ में शिवलीला के ही विस्तार हैं।

'मत्तविलास' पर केरल के चाक्यारों द्वारा निर्मित कोई अट्टप्रकार जैसा ग्रन्थ प्राप्त न होने से इसकी प्रस्तुति पद्धति का विशद विवरण सुलभ नहीं है। अन्य उल्लेखों से पता चलता है कि चाक्यारों के अभिनय में केवल इसकी प्रस्तावना ही सात दिन तक चलती थी।[1]

दार्शनिकता

चाक्यारों में मत्तविलास की दार्शनिक या साम्प्रदायिक व्याख्या की परम्परा सर्वथा निराधार नहीं है। "भगवदज्जुकीयम्" के साथ इस प्रहसन की जोड़ी का एक सूत्र दोनों में अन्तर्निहित दार्शनिकता भी है। प्रहसन के प्रमुख पात्र के लिये "कपाली" की संज्ञा का प्रयोग इस प्रतीकात्मक व्याख्या की सम्भाव्यता को इंगित करता है (जब कि इस पात्र का वास्तविक नाम सत्यसोम है)। यही नहीं, स्वयं महेन्द्रविक्रम ने नान्दी पद्य में 'कपाली' शब्द का 'शिव' के लिये प्रयोग करके अपनी रचना में अन्तर्निहित अभिप्राय को समझने के लिये एक सूत्र दे दिया है-

१. द्र० - डॉ० उन्नि की भूमिका, पृ० २५।

भाषावेषवपुःक्रियागुणकृतानाश्रित्य भेदान् गतं
भावावेशवशादनेकरसतां त्रैलोक्ययात्रामयम्।
नृत्तं निष्प्रतिबद्धबोधमहिमा यः प्रेक्षकश्च स्वयं
स व्याप्तावनिभाजनं दिशतु वो दिव्यः कपाली यशः।।

प्रहसन का पात्र कपाली अपने कपाल की खोज में व्यग्र सिर धुनता हुआ कहता है- "अस्ति लक्षणमात्रम्। न मुक्तोऽस्मि कपालिसंज्ञायाः" (पृ० ४८) - मैं केवल पारिभाषिक कपाली बन कर रह गया हूँ, क्योंकि सचमुच में कपाल पास न होने पर भी 'कपाली' यह संज्ञा मेरे साथ जुड़ी हुई है।

विडम्बना, उत्प्रास और विसंगति के प्रत्यक्षबोध के साथ दार्शनिक बोध की धारा अन्तर्निहित रूप से मत्तविलास में विद्यमान है-ऐसा मानना युक्तिसंगत होगा।

• • • •

विशाखदत्त

– राधवल्लभ त्रिपाठी

संस्कृत-नाट्यसाहित्य में विशाखदत्त की ख्याति मुद्राराक्षस नाटक के कारण है। केवल इसी एक नाटक के आधार पर उन्हें पारंपरिक तथा आधुनिक समीक्षा में एक स्वर से भारतीय नाट्य परंपरा के ही नहीं, विश्व नाट्यसाहित्य के मूर्धन्य रचनाकारों में से एक माना जाता है।

परिचय –

'मुद्राराक्षस' नाटक की प्रस्तावना में नाटककार का नाम विशाखदत्त है, किसी-किसी पाण्डुलिपि में विशाखदेव पाठ भी प्राप्त होता है। इसी प्रस्तावना में बताया गया है कि विशाखदत्त सामन्त बटेश्वरदत्त के पौत्र और महाराज भास्करदत्त के पुत्र हैं। भास्करदत्त के स्थान पर कुछ पाण्डुलिपियों में 'पृथु' पाठ भी मिलता है। प्रो. रामजी उपाध्याय का अनुमान है कि महाराज पृथु का उपनाम 'भास्करदत्त' रहा होगा। सामन्त बटेश्वरदत्त तथा महाराज पृथु या भास्करदत्त का अभिज्ञान नहीं हो सका है, न विशाखदत्त के देश-काल का ही इदमित्थन्तया निर्णय किया जा सका है।

समय –

विशाखदत्त के समय के विषय में निम्नलिखित तथ्य विचारणीय हैं-

(१) विशाखद त्त ने 'मुद्राराक्षस' के अतिरिक्त 'देवीचन्द्रगुप्तम्' नामक रूपक लिखा था जो पूर्ण रूप में नहीं मिलता। इस रूपक की कथा समुद्रगुप्त के पुत्र रामगुप्त द्वारा अपनी पत्नी ध्रुवस्वामिनी को शक राजा को सौंपने के लिये तैयार होने और रामगुप्त के छोटे भाई चन्द्रगुप्त द्वारा ध्रुवस्वामिनी के स्थान पर स्त्रीवेष में शक राजा के समक्ष पहुँच कर उससे प्रतिशोध लेने की घटना को निरूपित करती है। इससे सहज ही विशाखदत्त के काल की पूर्वसीमा निर्धारित हो जाती है। उन्होंने देवीचन्द्रगुप्तम् की रचना निश्चय ही चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य (३७५-४१३ ई०) के द्वारा शक राजा को परास्त करने की घटना के पश्चात् की थी।

(२) नाटक के भरतवाक्य में नाटककार अपने देशकाल का संदर्भ उठा कर अपनी कामना व्यक्त करता है। मुद्राराक्षस के भरतवाक्य में विशाखदत्त ने भरत की धरती को म्लेच्छों से सतायी जाती हुई बताया है। विशाखदत्त म्लेच्छ किसको कह रहे हैं- यह ध्यातव्य है। मुद्राराक्षस के पहले ही अङ्क में कश्मीर, कुलूत, मलय, सिन्ध तथा फारस

के राजाओं को म्लेच्छ कहा गया है। चाणक्य कहता है- **'म्लेच्छराजलोकस्य मध्यात् प्रधानतमाः पञ्च राजानः परया सुहृत्तया राक्षसमुनवर्तन्ते।'** (पृ.४८) मलयकेतु को भी म्लेच्छ कहा गया है। भारत पर पहला पारसीक आक्रम ५५८ ई०पू० से ५३० ई०पू० के बीच कुरु (Cyrus) द्वारा किया गया था।[1] संभवतः **'म्लेच्छैरुद्विज्यमाना'** कहकर विशाखादत्त उत्तर की ओर से अपने समय से पहले की कतिपय शताब्दियों में बार-बार आक्रान्ताओं की घुसपैठ की ओर संकेत कर रहे हैं, पर दुर्दान्त शकराज की ताज़ी घटना का विशेष सन्दर्भ भी उनकी चेतना में यहाँ है- ऐसा प्रतीत होता है।

(३) इस दृष्टि से मुद्राराक्षस के भरत वाक्य की अन्तिम पंक्ति- 'श्रीमद्बन्धुभूयतश्चरमवतु महीं पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' विशेष साभिप्राय लगने लगती है। विशाखदत्त मुद्राराक्षस की रचना उस समय कर रहे हैं, जब चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य शकराज को परास्त कर सिंहासनारूढ़ हो चुका है। इस पंक्ति के आधार पर अनेक विद्वान विशाखदत्त को गुप्तसम्राट् द्वितीय चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य का समकालीन मानने के पक्ष में हैं। विण्टरनित्ज ने चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य तथा विशाखदत्त की समकालिकता के लिये अन्य आधार जुटाते हुए कहा है कि मुद्राराक्षस कई बातों में भास के 'चारुदत्त' और 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण', शूद्रक के 'मृच्छकटिक' तथा 'तन्त्राख्यायिका' (जो बाद में पञ्चतन्त्र कहलायी) के अधिक निकट हैं, और समय की दृष्टि से उन्हें इन रचनाओं के कुछ बाद का माना जाना चाहिये।

(४) डा० रामजी उपाध्याय ने विशाखदत्त के कालनिर्णय की उक्त संभावना के लिये अन्य प्रमाण यह दिया है- 'विशाखदत्त ने कुछ पात्रों के नाम अपनी ओर से रखे हैं। इन नामों का क्षत्रियों के लिये सेन और ब्राह्मणों के लिये शर्मा शब्दों से युक्त होना तथा वैश्य और शूद्रों के लिये दास और ककारान्त नाम होना तृतीय-चतुर्थ शताब्दी में विशेष प्रचलित नामपद्धति से मेल खाता है, जैसा तत्कालीन साहित्य से प्रमाणित होता है।'[2]

(५) विशाखदत्त के मानस में भारत राष्ट्र की एक भौगोलिक छवि है। उसका यह भौगोलिक स्वरूप गुप्तकाल या उसके आस-पास रचे जा रहे पुराणों में भी निरूपित है, और विशाख ने उसी को चाणक्य की अत्यंत ओजस्वी भाषा में "शिलान्तस्खलित-सुरनदीशीकरासारशीत" शैलेन्द्र से लेकर दक्षिणार्णव तक फैले महादेश के रूप में मूर्त किया है। भरतवाक्य में पुनः 'चिरमवतु महीम्०' कहकर अपने समय के जितस प्रतापी राजा की ओर से वे संकेत कर रहे हैं, वह चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य ही हो सकता है।

---

१. वाजपेयी तथा पाण्डेय, प्राचीनभारत का इतिहास, पृ० ८३।

२. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, भाग-२३, पृ० १६६।

इसलिये इस भरतवाक्य में 'पार्थिवश्चन्द्रगुप्तः' के स्थान पर पार्थिवोऽन्तिवर्मा, पार्थिवो रन्तिवर्मा तथा पार्थिवो दन्तिवर्मा-ये उपलब्ध पाठान्तर अग्राह्य प्रतीत होते है। रन्तिवर्मा नाम का तो इतिहास में कोई राजा सुविदित ही नहीं है। पल्लवनरेश दन्तिवर्मा (७२० ई० लगभग) पर भी भरतवाक्य में वर्णित आसेतुहिमाचल चक्रवर्तित्व लागू नही होता। मौखरिनरेश अवन्तिवर्मा (८५५-८६३ ई०) का पक्ष अवश्य इस दृष्टि से प्रबल लगता है, और कुछ विद्वान् विशाखदत्त को इस राजा का समकालिक मानते भी हैं। इस पक्ष के लिये तर्क यही दिया जाता है कि भरतवाक्य भूतधात्री के म्लेच्छों से उद्वेज्यमाना होने और वर्ण्य राजा के बाहुबल से रक्षित होने की आशंसा प्रकट करता है-यह बात हूणों को परास्त करने के कारण अवन्तिवर्मा पर लागू होती है। पर जैसा ऊपर कहा जा चुका है, विशाखदत्त का म्लेच्छ शब्द से आशय मात्र हूणों से नहीं है। मलयकेतु की सेना में उन्होंने हूणों की उपस्थिति का उल्लेख कण्ठतः कर ही दिया है, और उनके पहले उत्तरपश्चिमी सीमान्त पर हूणों की घुसपैठ का संकेत कालिदास भी कर चुके थे। पर भरतवाक्य में प्रयुक्त 'म्लेच्छ' शब्द अधिक व्यापक अर्थ में भारत पर आक्रमण करने वाली अनेक वैदेशिक शक्तियों को ही द्योतित करता है।

(६) मुद्राराक्षस की प्रस्तावना में सूत्रधार और नटी के संवाद में एक चन्द्रग्रहण का उल्लेख है। याकोबी ने इस चन्द्रग्रहण का काल नवम् शताब्दी परिगणित किया है। पर चन्द्रग्रहण नाटक की प्रस्तावना में श्लेष के द्वारा मात्र चन्द्रगुप्त की ओर इंगित करने का अभिप्राय ही पूरा करता है, उसे एक वास्तविक घटना नहीं कहा जा सकता। फिर नाटक में बुध के योग से चन्द्रग्रहण के निवारण का भी उल्लेख है और वराहमिहिर ने इसका विरोध किया है। इस दृष्टि से तो विशाखदत्त वराहमिहिर (५६० ई० के लगभग) से पूर्ववर्ती ही सिद्ध होते हैं।

इस सब प्रमाणों के आधार पर विशाखदत्त का समय चौथी शताब्दी का उत्तरार्ध और पाँचवीं शताब्दी का पूर्वार्ध माना जा सकता है।

निवास-स्थान

विशाखादत्त के दो नाटकों की रंगभूमि कुसुमपुर (पाटलिपुत्र) है। वे पाटलिपुत्र नगर के सन्निवेश से अच्छी तरह परिचित प्रतीत होते हैं। इसके साथ ही प्रस्तावना में सूत्रधार का निम्नलिखित कथन उन्हें किसी ऐसे स्थान का निवासी प्रमाणित करता है, जहाँ धान की खेती बहुत होती है –

चीयते बालिशस्यापि सत्क्षेत्रपतिता कृषिः।
न शालेः स्तम्बकरिता वप्तुर्गुणमपेक्षते।।

इसी प्रकार पाँचवें अंक के अन्त में गौड देश की स्त्रियों के वेश आदि का जो वर्णन विशाखदत्त ने अपने इस नाटक में प्रस्तुत किया है[1], वह भी उन्हें मगध और गौड देशों से संबद्ध प्रामाणित करता है।

उपलब्ध साक्ष्यों के आधार पर यही संभावना सुकर लगती है कि विशाखदत्त चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य के आश्रित सामन्त थे और उनका निवास स्थान पाटलिपुत्र (वर्तमान पटना) के आसपास मगध या गौड देश में ही कहीं रहा होगा।

रचनाएं

विशाखदत्त ने सम्भवतः चार रूपकों की रचना की थी-राघवानन्द नाटक, अभिसारिकावन्तिकम्, देवीचन्द्रगुप्तम् तथा मुद्राराक्षस। इनमें से तीन का कर्तृत्व निर्विवाद है, राघवानन्द का कर्तृत्व अनुसन्धेय है।

राघवानन्द

यह नाटक रामकथा पर आधारित था। सम्प्रति यह अनुपलब्ध है। इसके कुल तीन पद्य उद्धरणों के रूप में मिलते हैं, जिनमें से एक बहुरूप मिश्र ने दशरूपक की टीका में तथा शेष दो भोज ने उद्धृत किये हैं। उद्धृत पद्यों के साथ प्रबन्ध का नाम तो राघवानन्द बताया गया है, पर इसके कर्ता का नाम सूचित नहीं है। किन्तु भोज द्वारा ही उद्धृत पद्यों में से एक को श्रीधरदास ने 'सदुक्तिकर्णामृत' में विशाखदत्तप्रणीत बताया है, जिसके आधार पर अनुमान होता है कि 'राघवानन्द' नाटक विशाखदत्त ने ही लिखा होगा। श्री वार्डर इस मत का समर्थन करते हैं।[2]

बहुरूप मिश्र द्वारा 'राघवानन्द' से उद्धृत पद्य प्रकरी का उदाहरण है। वस्तुतः यह पद्य महानाटक में मिलता है। स्वयं बहुरूप मिश्र ने उदाहृत पद्य के साथ नाटक का नाम दिया ही नहीं है, अतः वार्डर को इस संबन्ध में भ्रान्ति हुई है, ऐसा प्रतीत होता है।

भोज ने निश्चित रूप से राघवानन्द नामक नाटक का नाम लिया है, पर इसका कर्ता कौन यह नहीं बताया है। लक्षणों के निरूपण में दिष्ट नामक लक्षण के उदाहरण में भोज राघवानन्द का यह पद्य उदाहृत करते हैं-

अङ्के न्यस्योत्तमाङ्गं प्लवगबलपतेः पादमक्षस्य हन्तुः
कृत्वोत्सङ्गे सलीलं त्वचि कनकमृगस्याङ्गशेषं निधाय।

---

१. गौडीनां लोध्रधूलीपरिमलबहलान् धूम्रयन्तः कपोलान्।
क्लिश्नन्तः कृष्णिमानं भ्रमरकुलरुचः कुञ्चितस्यालकस्य।। मुद्रा. ५/३३

२. इण्डियन काव्य लिटरेचर, खण्ड-३, पृ. २५८।

बाणं रक्षःकुलघ्नं प्रगुणितमनुजेनादरात् तीक्ष्णमक्ष्णः
कोणेनावेक्षमाणस्तनुवदने दत्तकर्णोऽयमास्ते।।

(शृ०प्र०, भाग २, पृ० ५३३)

राम सुग्रीव के अंक में अपना मस्तक रखे हुए हैं तथा अपने चरण हनुमान के अंक में रख कर लेटे हैं, वे राक्षसकुल का विनाश करने वाले बाण सजाते हुए लक्ष्मण को निहार रहे हैं। भोज के अतिरिक्त इस पद्य को अभिनवगुप्त तथा अलङ्कारशास्त्री शोभाकर मिश्र ने भी अद्भुत किया है, पर दोनों ने नाटक और नाटककार का नाम नहीं लिया।

राघवानन्द नाटक का दूसरा जो पद्य भोज ने उद्धृत किया है, वह सुप्रसिद्ध है। इसका प्रसंग भी भोज ने (तथा काव्यप्रकाश के टीकाकार माणिक्यचन्द्र ने भी) बता दिया है, जिससे अर्थबोध सर्वथ सुकर ही जाता है। भोज ने यहाँ भी कहा कि यह पद्य राघवानन्द नाटक का है, जब कि अभिनवगुप्त, सागरनन्दी, कुन्तक और मम्मट ने भी इसी पद्य को नाटककार तथा नाटक का नाम-निर्देश किये बिना उद्धृत किया है-

रामोऽयं जगतीह[1] विक्रमगुणैः प्राप्तः प्रसिद्धिं परा-
मस्मद् भाग्यविपर्ययाद् यदिपरं देवो न जानाति तम्।
बन्दीवेषयशांसि गायति मरुद् यस्यैकबाणाहति-
श्रेणीभूतविशालतालविवरोद्गीर्णैः स्वरैः सप्तभिः।।

(शृङ्गारप्रकाश, भाग २, पृ० ५३६)

कुम्भकर्ण रावण को राम से लोहा लेने का विचार त्यगाने के लिये समझाता हुआ कहता है-ये वे ही राम हैं, जो सारे जगत् में अपने पराक्रम के गुण से परम प्रसिद्ध हैं। हमारा भाग्य ही उलटा है कि महाराज उन्हें जान नहीं पा रहे है। उनके एक ही बाण से बींधे गये सात ताड़ वृक्षों के विवरों से होता हुआ पवन बन्दी की भांति उनका यशोगान कर रहा है।

सदुक्तिकर्णामृत के संकलनकार ने इसी पद्य को विशाखदत्तकृत बताकर उद्धृत किया है। भाषा शैली और अभिव्यक्ति की प्रौढ़ता को देखते हुए इस संभावना को नकारा नहीं जा सकता कि यह पद्य विशाखदत्त का है और विशाखदत्त ही राघवानन्द नाटक के रचयिता हैं। फिर भी इस विषय में और अनुसन्धान अपेक्षित है। इसमें तो कोई सन्देह नहीं कि भोज द्वारा उदाहृत राघवानन्द नाटक के दोनों पद्य, जिन्हें आचार्य अभिनवगुप्त ने भी उद्धृत किया है, किसी समर्थ और सिद्धहस्त नाटककार की कृति से ही हैं-और यह नाटककार विशाखदत्त भी हो सकते हैं।

---

१. कुन्तक, अभिनवगुप्त तथा मम्मट ने 'रामोऽसौ भुवनेषु विक्रमगुणैः' पाठ रखा है।

अभिसारिकाञ्चितकम्

विशाखदत्त संस्कृत नाट्यपरम्परा के ऐसे कृती रचनाकार हैं, जिन्होंने अपनी नाट्यरचनाओं के लिये अछूते और संभावनापूर्ण कथानक उठाये और अपने रङ्गमञ्च के प्रतिमान भी कुछ अलग ही निर्मित किये। अभिसारिकाञ्चिकम् रूपक उपलब्ध नहीं होता है। पर यह निश्चित है कि इस नाम से एक रूपक विशाखदत्त ने रचा था और यह उनके दूसरे रूपकों की भांति कुछ अनोखा ही था। यद्यपि इसकी कथा तो विशाखदत्त ने भास के सुप्रसिद्ध नाटक स्वप्नवासवदत्तम् के पात्रों को ही लेकर गढ़ी है, पर इसकी परिकल्पना उनकी अपनी लगती है। वार्डर का यह कहना सही जान पड़ता है कि उदयन-कथा का यह रूप इसके पहले किसी नाट्यकृति में नहीं मिलता।' इस नाटक (?) में अभिसारिका पद्मावती है, अभिसरण की घटना स्वप्नवासवदत्तम् में जिस प्रसंग पर समाप्त होता है, उसके बाद की है-अर्थात् पद्मावती के साथ उदयन का विवाह हो चुका है और वासवदत्ता अपने वास्तवविक रूप में इनके आगे प्रकट हो चुकी है। प्राप्त उल्लेखों से लगता है कि दोनों सपत्नियों में कदाचित् परस्पर ईर्ष्या भाव आ गया है और उदयन का मन भी पद्मावती की ओर से फिर गया है। तभी पता चलता है कि उदयन के वासवदत्ता से उत्पन्न पुत्र की हत्या कर दी गयी है। हत्या का आरोप पद्मावती पर लगाया जाता है, पद्मावती उदयन का सन्देह मिटाने के लिये विन्ध्य के वन में शबरी के वेश में रहती है और इसी वेष में उदयन से मिलती है। उदयन उसे नहीं पहचान पाता और उससे इस शबरी रूप में प्रेम करने लगता है। अन्त में पद्मावती के प्रति उसका सन्देह दूर हो जाता है।'

ऐसा प्रतीत होता है कि उदयनकथा के परवर्ती विकास में लोककथागायकों द्वारा कुल नये प्रसंग जोड़े गये होंगे और विशाखदत्त ने उनसे प्रेरणा ली है। नायक का नायिका के अन्य वेष धारण किये होने पर उससे मिलन, प्रेम और संसर्ग करने का प्रसंग 'पुष्पदूषितक' नामक अप्राप्त के द्वितीय अंक में भी चित्रित है, पर वहाँ कथा के पात्र तथा पूरा सन्दर्भ अलग ही है। विशाखदत्त ने अपनी कल्पनाशीलता से उदयनकथा को एक नया आयाम दिया है।

अभिसारिकाञ्चितकम् की उक्त कथा का आभास भोज तथा अभिनवगुप्त द्वारा इस रूपक के उल्लेख तथा उद्धरण से होता है। भोज के द्वारा दिये गये उद्धरण मात्र से यह अनुमान हो जाता है कि यह रूपक घटनाचक्र के विचित्र विवर्तन और भावनाओं की संकुलता के चित्रण में बेजोड़ ही रहा होगा। अपने बेटे की हत्या का सन्देह पद्मावती पर होने के पश्चात् क्रुद्ध उदयन उससे कहते हैं-

---

१. इण्डियन काव्य लिटरेचर, खण्ड ३, पृ० २५६।

प्रदुष्टोग्रग्राहां सरितमवगाढः श्रमवशा-
दुपालीनः शाखां फलकुसुमलोभाद् विषतरोः।
फणालीढेनार्थी च्युतपरिचयां क्रौर्यनिरतां
विषज्वालागर्भां चिरमुरगकन्यामनुसृतः।।

(शृङ्गारप्रकाश, भाग २, पृ० ५०१)

अभिनवगुप्त ने अभिसारिकाञ्चितक से कोई उद्धरण नहीं दिया, पर नाट्यशास्त्र के बाईसवें अध्याय में काम के स्वयं रूप के निरूपण में इस नाटक को नष्टरागप्रत्यायन के लिये उल्लेखित बताया है, जिसमें नायक उदयन को अपनी ओर से विरक्त पाकर पद्मावती शबरी का वेष बना कर उसे आकर्षित करती है।

अभिसारिकावञ्चितक कौतूहलमय रोमांचक घटनाओं से भरा पञ्चसन्धि और पञ्चावस्थासमन्वित एक उत्कृष्ट नाटक है तथा इसका प्रणय और नष्टरागप्रत्यायन का कथानक भी राजनीतिक कुचक्र के ताने-बाने में गुंथा हुआ था - यह उक्त उल्लेखों के आधार पर कहा जा सकता है।

देवीचन्द्रगुप्तम्

विशाखदत्त की अनुपलब्ध तीन (?) नाट्यकृतियों में देवीचन्द्रगुप्तम् पर सबसे अधिक जानकारी उपलब्ध है। आचार्य परम्परा ने इस नाटक को मुद्राराक्षसवत् समादर दिया था, यह इस नाटक के ऊपर अभिनवगुप्त, भोज, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, सागरनन्दी, राजशेखर आदि आचार्यों द्वारा किये गये विवेचन और उनके द्वारा इससे दिये गये उद्धरणों से प्रमाणित होता हे। अभिनवभारती, काव्यमीमांसा तथा नाटकलक्षणरत्नकोश में इस नाटक का एक-एक उद्धरण दिया गया है तथा 'शृङ्गारप्रकाश' में चार तथा 'नाट्यदर्पण' में इससे सात उद्धरण प्रस्तुत किये गये हैं। डा० व्ही० राघवन् ने इन उद्धरणों को संगृहीत करके सइस नाटक की अङ्कानुसार वस्तुयोजना तथा नाटकीय वैशिष्ट्य का आकलन करने का प्रयास किया है।

वस्तुयोजना-

प्रथम अङ्क में ध्रुवस्वामिनी राजा और अपने पति रामगुप्त के अपने प्रति अपमानजनक व्यवहार से खिन्न है। चन्द्रगुप्त को भी रामगुप्त की कायरतापूर्ण योजना की भनक मिल चुकी है और वह शकराज को मारने का उपाय सोच रहा है। भोज द्वारा 'शृङ्गारप्रकाश' में दिये गये उद्धरण से पताकास्थानक के प्रयोग के द्वारा चन्द्रगुप्त को उपायसिद्धि के सूझ पड़ने का प्रसंग सूचित है। चन्द्रगुप्त की प्रेमिका गणिका माधवसेना के लिए कोई चेटी ध्रुवदेवी के ही वस्त्र ले कर आती है और चन्द्रगुप्त वे वस्त्र ले लेता है।

इस प्रसंग के आगे के संवाद, जो भोज ने उद्धृत किये हैं, बताते हैं कि रामगुप्त ने चन्द्रगुप्त को एक प्रकार से बन्दी बना रखा है, ताकि वह प्रासाद की परिधि से बाहर न निकल सके। भोज ने यह भी सूचना दी है कि माधवसेना के लिये ले जाये जा रहे वस्त्रों को विदूषक आत्रेय के माध्यम से चन्द्रगुप्त ले लेता है और चन्द्रगुप्त के वेष परिवर्तन के लिये नाटककार ने जवनिका का प्रयोग कराया है। द्वितीय अंक में चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी के वेष में ही रामगुप्त से मिलता है और उसे अपनी योजना बताता है। इस नाटक के तीसरे अङ्क से कोई उद्धरण प्राप्त नहीं होता। चौथे अङ्क में संभवतः चन्द्रगुप्त शकराज को मार कर लौट आया है, अतः संभव है तीसरे अङ्क में ध्रुवदेवी के वेष में शकराज से उसका साक्षात्कार चित्रित हो। चौथे अङ्क में चन्द्रगुप्त का माधवसेना से प्रेमालाप चित्रित है और पाँचवें अङ्क में दिये गये उद्धरणों से लगता है कि चन्द्रगुप्त के लिये कोई शत्रु दुरभिसन्धि रच रहा है, जिसके कारण चन्द्रगुप्त उन्मत्त होने का अभिनय करने लगता है। पञ्चम अङ्क के अंतिम पद्य का उद्धरण 'नाट्यदर्पण' में दिया गया है। यह पद्य नैष्क्रामिकी ध्रुवा है, जिसमें यह सूचित किया गया है कि विशेष प्रयोजन की सिद्धि के लिये चन्द्रगुप्त विक्षितावस्था का नाट्य करते हुए राजप्रासाद में प्रवेश कर रहा है। सम्भवतः नाटक का यह अङ्क चन्द्रगुप्त ने राजप्रासाद में पहुंच कर जो किया, उसके चित्रण में ही आरंभ हुआ होगा, पर दुर्भाग्य से 'देवीचन्द्रगुप्तम्' के पाँचवें अङ्क से आगे कोई उद्धरण भी हमें नहीं मिलते, जिससे यह कहना कठिन है कि विशाखदत्त ने कथा का पर्यवसान किस रूप में किया है। चन्द्रगुप्त और ध्रुवस्वामिनी का मिलन विवाह में परिणत हो सका या नहीं, यह जिज्ञासा भी बनी रहती है।

उपलब्ध उद्धरणों से इतना तो स्पष्ट है कि 'देवीचन्द्रगुप्तम्' का कथानक संविधान बहुत कसा हुआ है। कथानक की कुशल संघटना कदाचित् विशाखदत्त ने भास से सीखी है। देवीचन्द्रगुप्तम् में जगह-जगह घटना सहसा नया मोड़ ले लेती है, जो भास के नाटकों की संरचना का स्मरण दिलाता है। पहले ही अङ्क में चन्द्रगुप्त शकराज से जूझने की योजना बना रहा है और उसे संभवतः कोई उपाय नहीं सूझ रहा है कि माधवसेना के लिये ध्रुवदेवी के दिये गये वस्त्र सहसा एक साहसिक योजना की भूमिका बन कर आ जाते हैं। चन्द्रगुप्त का तुरन्त जवनिका के पीछे जाकर वेश बदलना कथाप्रवाह को एकदम दूसरी ओर मोड़ देता है। आकस्मिकता और वैचित्र्य के साथ घटनाओं की अन्विति और तार्किकता बनाये रखने में तो विशाखदत्त अप्रतिम ही हैं।

संवादयोजना-

देवीचन्द्रगुप्त के प्राप्त उद्धरणों से यह भी स्पष्ट होता है कि विशाखदत्त नाटक की भाषा की कितनी जबरदस्त पकड़ रखते हैं। वे संवादों के द्वारा पात्रों के भीतर का और बाहर का विराट् जगत् खोल कर रख देते हैं। कदाचित् भास के अतिरिक्त संवादों के

संयोजन की यह निपुणता इस स्तर पर संस्कृत के अन्य किसी नाटककार में न मिले। विशाखदत्त देवीचन्द्रगुप्तम् के कई संवादों में बहुत सीमित शब्दों में जीवन के एक गहन अनुभव को पकड़ते है। नाटकीय शब्द की उनकी परख बड़ी मार्मिक है। नाट्यदर्पण में सूत्रधार के माध्यम से ध्रुवदेवी के रामगुप्त के प्रति उपालम्भपूर्ण कथन टीस और पीड़ा को जितनी गहराई से व्यंजित करते हैं, उतनी ही सालने वाली है उनके सम्मुख रामगुप्त की हृदहीनता और कापुरुषता-

(अन्यस्त्रीशङ्कया)

राजा- प्रत्यग्रयौवनविभूषितमङ्गमेतद्
रूपश्रियं च तव यौवनयोग्यरूपम्।
सक्तिं च मय्यनुपमामनुरुध्यमानो
देवीं त्यजामि बलवांस्त्वयि मेऽनुरागः।।

ध्रुवदेवी- यदि मत्तिं अवेक्खसि, तदो मं मंदभइणिं परिच्चयसि।

राजा- अपि च, त्यजामि देवीं तृणवत् त्वदन्तरे।

ध्रुवदेवी- अहं पि जीविदं परिच्चयंती अज्जउत्तं पढमयरं यूयेव परिच्चइस्सं।

राजा- त्वया विना राज्यमिदं हि निष्फलम्।

ध्रुवदेवी- ममावि संपदं निष्फलो जीवलोओ सुह- परिच्चयणी ओणी भविस्सदि।

राजा- ऊढेति देवीं प्रति मे दयालुता।

ध्रुवदेवी- इयं अज्जउत्त, ईदिसी दयालुदा। जं अणयरद्धारे जणो अणगुदो एव परिच्चईयदि।

राजा- त्वयि स्थितं स्नेहनिबन्धनं मनः।[1]

इन संवादों से विशाखदत्त के नाटकीय संविधान का वैचित्र्य भी हमारे आगे खुलता है। रामगुप्त चन्द्रगुप्त पर स्नेह रखता है, वह ध्रुवदेवी को छोड़ने को तैयार है, पर चन्द्रगुप्त के प्राण संकट में पड़े-यह उसे स्वीकार नहीं है। स्त्रीवेषधारी चन्द्रगुप्त से किये गये उसके संवादों का एक-एक वाक्य ध्रुवदेवी के मर्म पर चोट करता है। रामगुप्त यहाँ तक कह जाता है 'देवी के शकराज के पास चले जाने पर मैं तुम्हीं से मन बहला लिया करूँगा।' ध्रुवदेवी इस पर चिढ़ कर कहती है-इस निष्करुण को क्या वियोग के दुःख का अनुभव भी होता है।

१. नाट्यदर्पण, पृ० १२५-२६।

नाट्यदर्पण में उद्धृत देवीचन्द्रगुप्तम् के इन विस्तृत संवदों से लगता है कि देवीचन्द्रगुप्त राजनैतिक वात्याचक्र का कारण बिखरते पारिवारिक जीवन का नाटक है। भाई-भाई में और पति-पत्नी में संबन्ध, जो आरंभ में सौहार्दपूर्ण रहे होंगे, टूट जाते हैं। अन्यत्र रामचन्द्र गुणचन्द्र न बाद के संवादों को कुछ पाठभेद से प्रस्तुत किया है-

राजा (चन्द्रगुप्तमाह) - त्वद्दुःखमपनेतुं सा शतांशेनापि न क्षमा।

ध्रुवदेवी (सूत्रधारीमाह) - हंजे, इयं या ईदिसी अज्जउत्तसस्य करुणापराहीणता।

सूत्रधारी - देवि, पडंति चंदमंडलाउ वि चुडुलीउ किं एत्थ करिम्ह?

राजा - त्वय्यारोपितप्रेम्णा त्वदर्थं यशसा सह।
परित्यक्ता मया देवी जनोऽयं जन एव मे।।

ध्रुवदेवी - अहं जीविदं परिच्चयंती पढमयरं य्येव तमं परिचहस्सम्।[1]

संवाद एक ओर स्त्रीवेशधारी चन्द्रगुप्त और रामगुप्त के बीच तथा इन दोनों की बातें सुनती हुई ध्रुवदेवी और सूत्रधारी के बीच है, जो चन्द्रगुप्त को कोई स्त्री ही समझ रही है। असमंजस, विभ्रम, आशंका और आतंक का जो संसार विशाखदत्त ने देवीचन्द्रगुप्त में रचा है, उसके अनुरूप ही नाटकीय स्थिति और संवादयोजना का यहाँ प्रयोग है।

भाषाशैली-

देवीचन्द्रगुप्त के उपलब्ध उद्धरणों में एक महान् नाटक के योग्य समर्थ पदावली का प्रयोग मिलता है। चन्द्रगुप्त ध्रुवदेवी को विडम्बना और अपमान की तारणा झेलते हुए देखता है, और कहता है-

रम्यां चारतिकारिणीं च करुणां शोकेन नीता दशां
तत्कालोपगतेन राहुशिरसा गुप्तेव चान्द्री कला।
पत्युः क्लीबजनोचितेन चरितेनानेन पुंसः सतः
लज्जा कोप-विवाद-भीत्यरतिभिः क्षेत्रीकृता साम्यति।।[2]

यहाँ ध्रुवदेवी की भावशबलताग्रस्त मनोदशा के प्रकाशन के लिये राहुशिर से ग्रसी जाती और छिपायी जाती चन्द्रकला की उपमा तथा पति के क्लीबजनोचित आचरण से जनित लज्जा, क्रोध, विषाद, भय तथा निर्वेद की मिश्रित मनःस्थितियों का उल्लेख जिस शैली में किया गया है, वह नाटक के क्षेत्र में विशाखदत्त की अपनी पहचान रही है।

---

१. नाट्यदर्पण (बड़ौदा सं०), पृ० ६२ पर उद्धृत।

२. वही, पृ० ७६ पर उद्धृत।

विशाखदत्त ने काव्यात्मकता के घटाटोप को नाटक की अपनी संरचना पर हावी नहीं होने दिया है। अन्तर्द्वन्द्व की गहनता और भावसंकुलता की उनमें स्थितियाँ हैं और उनके नाटक का अपना एक आस्वाद है।

मुद्राराक्षस-

मुद्राराक्षस विशाखदत्त का एकमात्र नाटक है, जो हमें पूरा प्राप्त है। संस्कृत नाट्यसाहित्य में उनकी अक्षय कीर्ति का स्तम्भ भी यही है।

कथावस्तु-

नन्दवंश का अंतिम राजा चाणक्य की कूटनीति के कारण तपोवन जा चुका है और पाटलिपुत्र पर चन्द्रगुप्त का शासन है। चाणक्य नन्द के अमात्य राक्षस का हृदयपरिवर्तन कर उसे चन्द्रगुप्त का अमात्य बनाना चाहता है, जब कि राक्षस की पूरी स्वामिभक्ति राजा नन्द के प्रति है और वह चन्द्रगुप्त और चाणक्य को ध्वस्त करने की योजना बना रहा है। चाणक्य उसकी एक-एक योजना को विफल करता हुआ उसे पराजय की ओर ले जाता है। नगर में यह सूचना फैला दी गयी है कि राक्षस ने ही म्लेच्छ राजा पर्वतक को विषकन्या के द्वारा मरवाया था, जब कि वास्तव में चन्द्रगुप्त के आधे राज्य की मांग करने वाले पर्वतक का वध चाणक्य ने ही करवाया था। इधर चाणक्य अपने गुप्तचर भागुरायण के द्वारा मलयकेतु के कान भरवाता हुआ उसे विश्वास दिला देता है कि पाटलिपुत्र में उसका रहना खतरे से खाली नहीं है, क्योंकि चाणक्य ने ही विषकन्याके प्रयोग के द्वारा उसके पिता पर्वतक को मरवाया है। इस पृष्ठभूमि में नाटक का पहला अङ्क आरंभ होता है, जिसमें चाणक्य को गुप्तचर निपुणक सूचना देता है कि पाटलिपुत्र में तीन लोग उसके विरुद्ध हैं- क्षपणक जीवसिद्धि, अमात्य राक्षस का मित्र शकटदास और श्रेष्ठी चन्दनदास, जिसने राक्षस के परिवार को अपने घर में शरण दे रखी है। इसके साथ ही वह राक्षस की अंगूठी भी चाणक्य को सौंपता है, जो राक्षसपत्नी की अंगुली से संभ्रम में गिर गयी थी और श्रेष्ठी चन्दनदास के घर के द्वार से उसे मिली थी। इसी अंगूठी (मुद्रा) के बल पर चाणक्य राक्षस को जीत लेने की कूटनीतिक योजना बनाता है। वह निपुणक को शकटदास से एक लेख लिखने के लिये नियोजित कर देता है, क्षपणक जीवसिद्धि को नगर से निर्वासित करने का आदेश देता है, जो वास्तव में उसका मित्र विष्णु शर्मा है और चन्दनदास को बुला कर धमकाता है, फिर उसके निग्रहण की आज्ञा देता है। इसी समय उसे सूचना मिलती है कि चन्द्रगुप्त पर्वतक का श्राद्ध करना चाहता है और उसमें ब्राह्मणों को आभूषण आदि दान में देना भी चाहता है। चाणक्य चन्द्रगुप्त को संदेश दे कर अपने विश्वास के तीन ब्राह्मणों को पर्वतक के आभूषण दान में प्राप्त करने के लिये भेज देता है। नेपथ्य के कोलाहल से सूचना मिलती है कि शकटदास को वधस्थान से सिद्धार्थक भगा

कर ले गया है। सुन कर मन में चाणक्य प्रसन्न होता है, क्योंकि उसी के संकेत पर उसी के गुप्तचर सिद्धार्थक ने ऐसा किया है।

द्वितीय अङ्क में जीर्णविष नामक सपेरा राक्षस से मिलने आता है। वह वास्तव में राक्षस का चर विराधगुप्त है। इसी समय मलयकेतु का कञ्चुकी जाजलि आ कर मलयकेतु की ओर से राक्षस को उपहार में आभूषण देता है। विराधगुप्त से राक्षस को पाटलिपुत्र में होने वाली घटनाओं की सूचना मिलती है। चन्द्रगुप्त को मारने के लिये राक्षस द्वारा भेजी गयी विषकन्या के द्वारा चन्द्रगुप्त के स्थान पर धोखे से पर्वतक का वध हो गया। चन्द्रगुप्त पर गिराने के लये राक्षस के सहयोगी सूत्रधार दारुवर्मा ने जो तोरण बनाया था, वह संभ्रम में उसने पर्वतक के छोटे भाई वैरोचक पर गिरा दिया और चाणक्य की सतर्कता के कारण चन्द्रगुप्त बाल-बाल बच गया। दारुवर्मा को तुरंत मार डाला गया। राक्षस के दूसरे सहयोगी वैद्य अभयदत्त ने चन्द्रगुप्त को औषध के छल से विष दे दिया, पर चाणक्य को जिस पात्र में वह रखा है, उसका रंग बदलता देख कर सन्देह हुआ और उसने कहने पर वह औषध वैद्य अभयदत्त को ही पिला दी गयी, जिससे वह वहीं मर गया। राक्षस के अन्य गुप्तचर भी उनके अपने प्रमाद तथा चाणक्य की सतर्कता के कारण समाप्त कर दिये गये। इसके साथ ही विराधगुप्त राक्षस को चन्दनदास के निग्रह और शकटदास को सूली पर चढ़ाये जाने की सूचना भी देता है।

पर ठीक इसी समय सिद्धार्थक शकटदास को ले कर वहाँ आ पहुँचता है। राक्षस अपने प्राणवत् प्रिय मित्र को जीवित देख कर हर्षविह्वल हो जाता है, सिद्धार्थक को उसका जीवनरक्षक मान कर मलयकेतु के दिये आभूषण अपने देह से उतार कर उसे दे डालता है। सिद्धार्थक प्रस्ताव रखता है कि वे आभूषण मुद्रा से मुद्रित कर के सुरक्षित रख लिये जायें, आवश्यकता होने पर वह ले लेगा और यह कह कर वह राक्षस की ही अंगूठी निकाल कर बताता है।

तृतीय अङ्क में चन्द्रगुप्त की ओर से पाटलिपुत्र में कौमुदी-महोत्सव मनाये जाने का आदेश प्रसारित किया जाता है, जिसे चाणक्य रुकवा देता है। इस पर चन्द्रगुप्त और चाणक्य में कृतक कलह हो जाता है। चन्द्रगुप्त चाणक्य को अमात्यपद से मुक्त कर देने की घोषणा कर डालता है। चौथे अङ्क में इस कृतक कलह को वास्तविक समझ कर राक्षस का गुप्तचर करभक इसी सूचना राक्षस को देता है, और इन दोनों के वार्तालाप को प्रसंगवश वहाँ आये हुए मलयकेतु और भागुरायण छिप कर सुनते हैं। मलयकेतु के मन में भागुरायण चाणक्य की प्रेरणा से पहले ही राक्षस के प्रति संदेह के बीज बो चुका है। मलयकेतु उसकी बातों पर विश्वास करता हुआ जब उससे पूछता है कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त में परस्पर कलह से राक्षस को भला क्या लाभ है, तो भागुरायण उसे समझाता

है कि राक्षस का वैर चाणक्य से है, चन्द्रगुप्त से नहीं। अतः चाणक्य अमात्यपद त्याग कर चला जाता है और चन्द्रगुप्त राक्षस को मंत्री बनाने के लिये राजी हो जाता है, तो राक्षस उससे युद्ध त्याग कर सहर्ष उसका मंत्री बनने को तैयार हो जायेगा। मलयकेतु जब राक्षस को अपने आगे भी चन्द्रगुप्त के सचिव व्यसन का समाचार सहर्ष बताते सुनता है, तो उसका संदेह पक्का होने लगता है। चौथे अङ्क की घटनाओं की तार्किक और सनसनीखेज परिणति पाँचवे अङ्क में होती है। गहनों की पेटी और शकटदास के हाथ से छल से लिख गया हुआ पत्र लेकर जानबूझ कर सिद्धार्थक मलयकेतु के शिविर से निकलता है और अपने आप को पकड़वा देता है। मारे पीटे जाने पर वह नाटक करता हुआ बताता है कि पत्र तथा गहनों की पेटी राक्षस द्वारा चन्द्रगुप्त के लिये प्रेषित हैं। इसके पूर्व क्षपणक जीवसिद्धि और भागुरायण के वार्तालाप से मलयकेतु को यह विश्वास हो जाता है कि उसके पिता का हत्यारा चाणक्य नहीं, राक्षस ही है। अब तो मलयकेतु राक्षस को जली-कटी सुनाता है और शकटदास के लिखे पत्र कोस सत्य मानकर अपने ही सहायक राजाओं का वध करवा देता है, जिनके राक्षस और चन्द्रगुप्त से मिले होने की सूचना कथित पत्र में दी गयी है। चाणक्य की राजनीतिक चातुरी के आगे पूरी तरह परास्त और हताश राक्षस अपने मित्र चन्दनदास की प्राणरक्षा के लिये अकेला पाटलिपुत्र पहुँचता है। चाणक्य चन्दनदास को फाँसी पर चढ़ाये जाने का पूरा नाटक रचवा कर उससे अंतिम क्षण में राक्षस के आगे आत्मसमर्पण के अतिरिक्त अन्य कोई उपाय नहीं रहने देता।

कथावस्तु की संरचना की दृष्टि से निर्विवाद रूप से मुद्राराक्षस समग्र संस्कृत नाट्यसाहित्य में एक बेजोड़ कृति है। घटनाओं की परस्पर अन्विति, क्रम और उनकी तार्किक परिणतियों का जितना ध्यान विशाखदत्त ने रखा है, वैसा अन्यत्र दुर्लभ है। नाट्यशास्त्र के आचार्यों द्वारा निर्दिष्ट 'गोपुच्छाग्रवत्' कथावस्तु के विन्यास में विशाखदत्त ने बड़ी दक्षता का परिचय दिया है। वस्तुतः मुद्राराक्षस के नाट्यफलक पर घटनाओं का एक विशाल जाल फैला दिया गया है और नाटक के अंत में उसका एक भी तंतु उलझाये बिना कुशलता से उसे समेट लिया गया है।

कथावस्तु के स्रोत-

चाणक्य के द्वारा नन्दों के नाश तथा चन्द्रगुप्त को सम्राट् बनाने की कथा पौराणिक परम्परा में बहुशः कही गयी है। विष्णुपुराण, श्रीमद्भागवत आदि में यह कथा आयी है। कामन्दक ने चाणक्य के द्वारा नन्दों के विनाश के लिये अनुष्ठित अभिचार का भी वर्णन किया है। संभव है कि विशाखदत्त को पुराणों की वाचिक परंपरा अथवा जिस राजवंश में वे हुए उसकी आनुवंशिकता में सुरक्षित कथा-परंपरा से चाणक्यचरित की कथा मिली हो। दशरूपक (१/६८) पर अवलोक में धनिक ने कहा है-'बृहत्कथामूलं मुद्राराक्षसम्।'

इसके साथ ही धनिक ने बृहत्कथा से चाणक्यचरितविषयक प्रासंगिक पद्य भी सूचित किये हैं (जो उन्होंने संभव है, क्षेमेन्द्र और सोमदेव के रूपान्तरों से भी प्राचीन किसी अन्य बृहत्कथा-रूपांतर से लिये हों)। धनिक का यह मत युक्तियुक्त प्रतीत होता है। बृहत्कथा ने संस्कृत के अनेक महाकवियों को प्रेरित और प्रभावित किया है, और मुद्राराक्षस के कथानक के लिये विशाखदत्त गुणाढ्य की इस महान् कृति के ऋणी हों-यह असंभव नहीं कहा जा सकता।

कथावस्तु का नाट्यशास्त्रीय विश्लेषण-

विशाखदत्त नाट्यशास्त्र के इतिवृत्तविषयक विवेचन से सम्यक् परिचित हैं। नाट्यशास्त्र के विधानों के अनुसार पंच सन्धियों, पंच अवस्थाओं और अर्थप्रकृतियों के विन्यास का उन्होंने मुद्राराक्षस में ध्यान रखा है, पर उनका वैशिष्ट्य यही है कि केवल शास्त्रस्थितिसम्पादनेच्छा से उन्होंने सन्धिसन्ध्यङ्गसंघटना नहीं की है। आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियताप्ति और फलागम ये पाँचों अवस्थाएं नायक चाणक्य के कर्तृत्व के कारण परस्पर गूँथ कर मुद्राराक्षस में आ गयी है। विशाखदत्त ने इनके क्रम का निर्वाह भी किया है और अभिनवगुप्त के 'नात्र क्रमं प्रति भरोऽस्माकम्' - इस वचन के अनुसार क्रमविपर्यय को भी नाट्यसंरचना के अपने विशिष्ट प्रयोजन से साभिप्राय और रचनात्मक बना दिया है। राक्षस के आत्मसमर्पण और मौर्यकुल की राजलक्ष्मी के स्थैर्य के लिये चाणक्य का उपक्रम प्रथम अङ्क में सूचित है, जिसमें आरम्भ नामक अवस्था तथा बीज नामक अर्थप्रकृति है। चाणक्य का भागुरायण और जीवसिद्धि का भेदनीति के अंतर्गत उपयोग, शकटदास से कूटलेख लिखना और चन्दनदास को धमकाना-ये सब यत्न अवस्था के अन्तर्गत कहे जा सकते हैं। राक्षस की अंगूठी मिलने पर उसका कथन-"ननु वक्तव्यं राक्षस एवास्मदङ्गुलिप्रणयी संवृत्त इति"- बीज नामक अर्थप्रकृति का सुस्पष्ट उद्घोष है। पर एक दृष्टि से चाणक्य के प्रबल आत्मविश्वास को देखते हुए इसी में प्राप्त्याशा और नियताप्ति के लक्षण भी अंशतः घटित हो जाते हैं। प्राप्त्याशा की परिपक्व स्थिति द्वितीय, तृतीय और चतुर्थ अङ्कों में है, और पंचम अङ्क से नियताप्ति की अवस्था आ जाती है। मुद्राराक्षस में पताका और प्रकरी का सुस्पष्ट स्वरूप खोज पाना कठिन है। कुछ विद्वानों ने द्वितीय अङ्क में राक्षस और विराधगुप्त के वार्तालाप को प्रासङ्गिक इतिवृत्त मान कर पताका बता दिया है। वस्तुतः चाणक्य की अपनी 'सेनाशतेभ्योऽधिका' बुद्धि पर इतना विश्वास है कि उसे किसी सहायक की आवश्यकता ही नहीं है। ऐसी स्थिति में उसके साथ न तो कसी पताका नायक की कल्पना की जा सकती है, न सानुबन्ध पताका जैसे किसी प्रासङ्गिक इतिवृत्त की। इसी प्रकार मुद्राराक्षस का पूरा संविधान इतना कसा हुआ और घटनाविन्यास एक कार्य की ओर समन्वित रूप में इस प्रकार प्रवृत्त है कि इसमें किसी

प्रदेशवर्ती छोटे से इतिवृत्त की या प्रकरी की उपस्थिति भी प्रतीत नहीं होती। ढुंढिराज तथा अन्य टीकाकारों ने राक्षस और करभक के तृतीयाङ्गत संवाद को ही प्रकरी कहा है।

मुद्राराक्षस में मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण सन्धियों की अवतारणा सुसम्बद्ध रूप में है, और नाटक दाशरूपककार धनञ्जय और धनिक के यथासंख्य के सिद्धान्त को नकारता हुआ प्रतीत होता है, जिसके अनुसार पंच अर्थप्रकृतियाँ और पंच अवस्थाओं का क्रमिक संयोग ही क्रमशः पाँच सन्धियों का जनक माना गया है।

मुद्राराक्षस के वस्तुविधान पर अर्थशास्त्र का प्रभाव-

शृङ्गारी कवि कालिदास ने जिस प्रकार अनेक अभिप्राय कामसूत्र से लिये गये हैं, उसी प्रकार अर्थ या राजनीति को विषय बनाकर उतनी ही प्रौढ़ रचना प्रस्तुत करने वाले महाकवि विशाखदत्त भी अपने संविधान की अनेक परिकल्पनाओं के लिये कौटिल्य के अर्थशास्त्र के ऋणी हैं। ऐसा लगता है कि राजवंश से संबद्ध होने के कारण विशाखदत्त ने अर्थशास्त्र का गहन अध्ययन किया था और राजनीति का व्यावहारिक ज्ञान तो उन्हें था ही, अतएव मुद्राराक्षस के कथानक की योजना में अनेक तत्त्व अर्थशास्त्र-प्रोक्त कौटिल्य के सिद्धान्तों के अनुरूप हैं-यह स्वाभाविक ही है। शत्रुपक्ष में फूट डालना, षाड्गुण्य, विषप्रयोग, चर-व्यवस्था तथा कूटलेख की परिकल्पनाएं अर्थशास्त्र तथा राजनीति के परिचय के कारण ही विशाखदत्त उपस्थापित कर सके। प्रो० रामजी उपाध्याय ने विस्तार से कौटिल्यकृत अर्थशास्त्र से तेरह उद्धरण प्रस्तुत करते हुए उनके निरूपित विधानों की व्याप्ति विशाखदत्त की वस्तुयोजना में प्रतिपादित की है।[1] निश्चय ही कौटिल्य के अर्थशास्त्र में ऐसे अनेक स्थल हैं, जो विशाखदत्त के लिये प्रेरणासूत्र रहे होंगे। उदाहरणार्थ-

कार्तान्तिकव्यञ्जनो वा महामात्रं राजलक्षणसम्पन्नं क्रमाभिनीतं ब्रूयात्।....

ममान्तिकाय पत्रलेख्यमाभरण चेदं परिव्राजकाहृतमिति। - अर्थशास्त्र १२/२

ज्योतिषी के वेष में कोई व्यक्ति मन्त्री से कहे कि आप राजा के लक्षणों से युक्त हैं। (गुप्तचर नायिका से कहे) - 'मेरे पास परिव्राजिका से राजा ने यह लेख और आभरणोपहार भेजा है।'

विशाखदत्त ने परिवर्तित रूप में कौटिल्य के संकेत का उपयोग किया है। चाणक्य का मित्र इन्द्र शर्मा क्षपणक जीवसिद्धि के वेष में राक्षस से मिलता है और उसे युद्ध के लिये मुहूर्त पर अपना मन्तव्य बताता है। आभरणों के दान और उपहार की घटना को

---

१. डॉ. रामजी उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, भाग-२, पृ. २०६-२१२

तो विशाखदत्त ने अपनी विलक्षण कल्पनाशक्ति के द्वारा विडम्बना की गहरी अनुभूति और घटनाक्रम के विपर्यास के लिये उपयोग किया। इसी प्रकार-

यन्त्रमोक्षणेन गूढभित्तिं शिलां वा पातयेत्। कवाटमवपतितं वा भित्तिप्रणिहितमेकदेशबन्धं वा परिघं मोचयेत्। (अर्थशास्त्र १२/५)

कौटिल्य ने शत्रुनाश के उपाय बताते हुए कहा है कि यन्त्र को हटा कर गूढ़ भित्ति या शिला को उसके मस्तक पर गिरा दे, या भित्ति में लगे परिघ को उसके ऊपर गिरा दे।

मुद्राराक्षस में राक्षस के सहयोगी सूत्रधार दारुवर्मा द्वारा चन्द्रगुप्त की हत्या के लिये पूरी योजना ठीक इसी निर्देश के आधार पर बनायी गयी है। इसी प्रकार राक्षस ने चन्द्रगुप्त के वध के लिये गूढभित्ति में अपने प्रणिधियों को छिपवाया था, उसका भी स्पष्ट सूत्र अर्थशास्त्रकार ने दिया है-

प्रमत्तं भूमिगृहसुरुङ्गारूढभित्तिप्रविष्टा तीक्ष्णा हन्युः। गूढप्रणिहिता वा रसेन।

भागुरायण की सारी कार्यपद्धति जो मुद्राराक्षस की कथानक संघटना में केन्द्रित महत्त्व रखती है अर्थशास्त्र में निरूपित कूटनीति और भेद के उपायों का व्यावहारिक प्रदर्शन है (द्र० अर्थशास्त्र १३/२)।

चरित्रचित्रण-

मुद्राराक्षस की चरित्रचित्रण-कला का वैशिष्ट्य पात्रों का द्वन्द्वात्मक रूप में प्रस्तुतीकरण है। जिस प्रकार कथानक में दो पक्षों के द्वन्द्व का तनाव निरन्तर कौतूहल जाग्रत किये रहता है, उसी प्रकार चरित्रों के उपस्थापन में भी विशाखदत्त ने बड़ी बारीकी से दोनों पक्षों के विभिन्न पात्रों के व्यक्तित्व की रेखाएं इस प्रकार उकेरी हैं कि उनमें पारस्परिक तारतम्य और वैशिष्ट्य झलकने लगता है।

चाणक्य की मूर्ति विशाखदत्त ने सर्वाधिक नैपुण्य से गढ़ी है। वह पूरे नाटक में एक अव्याहत, दुर्निवार शक्तिकेन्द्र के रूप में सर्वत्र छाया हुआ है। उसका व्यक्तित्व फौलादी है, साहस और विवेक का वह जीवन्त रूप है। विशाखदत्त ने जिस कुशलता से उसे प्रस्तुत किया है, उसके कारण बारीकी से अध्ययन करने पर लगने लगता है कि चाणक्य ने संभ्रम, आवेग और क्रोध का एक कवच ओढ़ रखा है। इस दृष्टि से चाणक्य पूरे नाटक का सूत्रधार बन जाता है और वह स्वयं भी नाटक करता हुआ लगने लगता है, क्योंकि उसके अनेक आत्मालाप, कोपाटोपसमन्वित संवाद नाटक के अंत में पहुँच कर अभिनय जैसे लगने लगते हैं। कदाचित् मुद्राराक्षस ही ऐसा नाटक है जिसमें एक पात्र नाटक के भीतर एक अपना नाटक रचता हुआ चला जाय और नाटककार अपने तथा उसके नाटक का भी एक साथ निर्वाह करा दे।

चाणक्य ऊपर से बड़ा निर्मम और कठोर दिखता है और पहले अङ्क से लगा कर अंतिम दृश्य के पहले तक वह लगातार इसी रूप में हमारे सामने आता है। फिर भी नाटककार पूरी प्रामाणिकता से दर्शकों को यह अनुभव देने में सफल हुआ है कि चाणक्य भीतर से कितना मृदु और करुणामय है। अपने शिष्यों- चन्द्रगुप्त और शार्ङ्गरव तक के ऊपर चाणक्य का वात्सल्य भाव बड़ा मोहक है। एक कूटनीतिज्ञ के रूप में वह जितना ही जागरूक, चतुर और धूर्त है, उतना ही एक मनुष्य के रूप में सौहार्दमय और संवेदनशील भी है। अपने शत्रु राक्षस के चारित्रिक गुणों को हृदय से उसकी सराहना, राक्षस के मित्र चन्दनदास को कड़ी फटकार बताते हुए भी भीतर ही भीतर मुग्धभाव से उसकी प्रशंसा, और अन्त में राक्षस को अमात्यपद सौंपते हुए कहे गये उसके शब्द–ये सब एक उदार और महामनीषी की छवि हमारे सामने उपस्थित करते हैं।

राक्षस चाणक्य का प्रतिद्वन्द्वी है, जिसे अंत में चाणक्य की कूटनीतिक सफलता के सामने ही नहीं, उसकी चरित्रिक ऊँचाई के सामने भी समर्पण करना पड़ता है। विशाखदत्त ने इन दोनों प्रतिद्वन्द्वियों को परस्पर विपरीत गुणों के आघात के साथ भी प्रस्तुत किया है और उनमें साम्य की रेखाएं भी खींची हैं। चाणक्य जितना ही निष्ठुर लगता है राक्षस उतना ही कोमल और भावुक। चाणक्य प्रतिक्षण सजग रहता है, राक्षक चूक करता चलता है। चाणक्य की स्मृति जाग्रत है, राक्षस विस्मरणशील है। राक्षस अतीत में जीता है, चाणक्य के सामने वर्तमान और भविष्य है। दोनों ही राजनीति के मंजे हुए खिलाड़ी हैं, और विशाखदत्त दोनों चरित्रों की इस खूबी से प्रस्तुति करते हैं कि असफल होने पर चाणक्य ही राक्षस हो सकता था और राक्षस का परिष्कृत उदात्त और गरिमामय रूप ही चाणक्य बन सकता है – यह कहा जा सकता है।

इसी प्रकार चरित्र की द्वन्द्वात्मक प्रस्तुति चन्द्रगुप्त और मलयकेतु के उपस्थापन में भी है। दोनों ही सचिवायत्त शासक हैं। पर चन्द्रगुप्त अपने गुरु आचार्य चाणक्य के प्रति पूरी तरह श्रद्धाभाव से समर्पित है, चाणक्य का आदेश उसके लिये अमिट लकीर है, चाणक्य के कहने से वे अपने ही इस गुरु से बनावटी झगड़ा करने को भी तैयार हो जाता है और इस बनावटी झगड़े में भी गुरु के प्रति कहे गये कुछ कठोर शब्दों पर वह पछताता है। चाणक्य और चन्द्रगुप्त के बीच जितनी गहरी पारस्परिक समझ है, राक्षस और मलयकेतु के बीच उतनी ही गहरी खाई है। दोनों में स्वार्थवश ही कुछ सम्बन्ध बन पाता है, जब कि चाणक्य और चन्द्रगुप्त के सम्बन्ध व्यक्तिगत स्वार्थों पर टिके हुए नहीं हैं। मलयकेतु जितना ही अविवेकी और जल्दबाज है, चन्द्रगुप्त उतना ही विवेकसम्पन्न और सोचसमझ कर काम करने वाला है।

चाणक्य और चन्द्रगुप्त के गुप्तचरों तथा राक्षस के गुप्तचरों के बीच में भी विशाखदत्त ने इस प्रकार की तारतमिक अन्तर निरूपित किया है। राक्षस के गुप्तचर उसके

ऊपर दया करने लगते हैं, जब कि चाणक्य के गुप्तचर चाणक्य की दुर्दमनीय प्रज्ञा और जागरूकता से भयाक्रांत हैं।

मृच्छकटिककार की भांति विशाखदत्त ने भी अपने छोटे से छोटे पात्रों को व्यक्तित्व दिया है और उनकी निजी विशेषताओं को उजागर किया है। उनके अप्रधान पात्रों में भी अनेक ऐसे हैं, जो अपने दुर्लभ चारित्रिक गुणों के दर्शकों का मन जीत लेते हैं। जिस प्रकार शाकुन्तल की कल्पना अनसूया और प्रियंवदा के बिना नहीं की जा सकती, उसी प्रकार मुद्राराक्षस का सारा कथाप्रसंग भी शाङ्र्गरव जैसे गुरु के प्रति सर्वथा समर्पित शिष्य और चन्द्रगुप्त जैसे तपःपूत श्रेष्ठी के बिना परिकल्पित और अवगत नहीं हो सकता। भागुरायण की तीक्ष्ण बुद्धि, सपेरे के रूप में विराधगुप्त की वाक्पटुता, निपुणक की चंचलता और सिद्धार्थक की कार्यकुशलता-ये सब हमारे चि त्त पर अपनी एक अलग छाप छोड़ती है।

संक्षेप में चरित्रचित्रणकला में द्वन्द्वात्मकता के साथ चरित्रों की पारम्परिक पूरकता विशाखदत्त का अपना वैशिष्ट्य कहा जा सकता है।

रस-

मुद्राराक्षस को अङ्गीरस वीर है। रौद्र, भयानक और करुणका अङ्ग के रूप में इसमें अच्छा परिपाक हुआ है। चाण्क्य की कमी बुझती और फिर दहक उठती क्रोधवह्नि नाटक में रौद्र रस को बीच-बीच में दीप्त करती चलती है। चाणक्य स्वयं अपने स्वभाव को विश्लेषण करते हुए उसमें क्रोध की इस सहज उपस्थिति को स्वीकार करता है-

श्यामीकृत्याननेन्दूनरियुवतिदिशं सन्ततैः शोकधूमैः
कामं मन्त्रिद्रुमेभ्यो नयपवनहतं मोहभस्म प्रकीर्य।
दग्ध्वा सम्भ्रान्तशत्रून्द्विजगणरहितान् नन्दवंशप्ररोहान्
दाह्याभावान्न खेदाज्ज्वलन इव वने शाम्यति क्रोधवह्निः।। - १/११

तथापि क्रोध के स्थान पर सतत जागरूक विवेक से युक्त उत्साह की इस नाटक में चाणक्य के माध्यम से निरंतर प्रवहमान धारा के रूप में वीररस का परिपाक हृदयंगम होता चलता है। विशाखदत्त का यह वीररस भी कुछ निराला ही है, क्योंकि इसे वस्तुतः धर्मवीर, दयावीर, दानवीर और युद्धवीर की किसी एक कोटि में ऐकान्तिकतया नहीं रखा जा सकता। युद्ध तो मुद्राराक्षस में न होता है, न उसका वर्णन ही किया गया है, युद्ध की तैयारी का आभास अवश्य चतुर्थ अङ्क में होता है, और पाँचवे अङ्क में यह आभास भी हेत्वाभास में बदल जाता है। धर्म, दया और दान का मुद्राराक्षस की वीररससृष्टि में अपना स्थान तो है, पर इनमें से किसी एक का प्राधान्य पूर्णतः नहीं है। कदाचित् विशाखदत्त की मौलिक अभिनव वीररससृष्टि को ध्यान में रखते हुए नीतिवीर का एक नवीन प्रकार

वीररस की सैद्धान्तिक परिकल्पना में मान लेना चाहिये। चाणक्य की उक्तियों में इसका पर्याप्त निदर्शन है।

नामान्येष लिखामि ध्रुवमहमधुना चित्रगुप्तः प्रमार्ष्टु। - १/२०

(इन पाँच राजाओं के नमा मैंने लिख दिये, चित्रगुप्त की शक्ति यदि हो, तो मिटायें।) यह आत्मविश्वास इस नीतिवीर का अनुभाव है।

एका केवलमर्थसाधनविधौ सेनाशतेभ्योऽधिका
नन्दोन्मूलनदृष्टवीर्यमहिमा बुद्धिस्तु मा गान्मम।। १/२५

(पुरुषार्थसिद्ध के लिये सैकड़ों सेनाओं से भी बढ़ कर मेरी बुद्धि जिसका पराक्रम नन्दों के उन्मूलन में देखा गया है, बनी रहे बस।) यह मति नीतिवीर का संचारी भाव कहाजा सकता है।

रौद्र और अद्भुत रसों ने मुद्राराक्षस के वीररसोद्रेक को तीव्रता और दीप्ति दी है। चाणक्य की सभी उक्तियों में अन्तर्निहित उत्साह और विवेक के साथ क्रोध और आवेग का उद्दाम प्रवाह भी है, और अपने प्रज्ञाप्रकर्ष से शेष सभी पात्रों को तो वह विस्मित, भयाक्रान्त या आतंकित किये ही रहता है। सप्तम अङ्क में चन्दनदास, कुटुम्बिनी और श्रेष्ठिपुत्र के बीच का संवाद करुण रस की मार्मिक अभिव्यक्ति करता हुआ समस्त अकरुण राजनीति के बीच कुमार भाव संसार रच जाता है। विशाखदत्त की शिष्ट हास्य की परख बड़ी गहरी है। पहले अङ्क में निपुणक और दूसरे अङ्क में जीर्णविष के रूप में विराधगुप्त के संवाद दर्शकों को गुदगुदाते हैं, और अपनी मीठी चुटकियों से तनाव और संघर्ष के बोझिल वातावरण को हल्का बनाते हैं।

व्यभिचारी भावों के सम्मर्द या भावशबलता की स्थितियों का उक्त नाटकीय तनाव के साथ विशाखदत्त ने बड़ा प्रभावशाली चित्रण किया है। राक्षस की उक्तियों में शोक, निर्वेद, ग्लानि, असूया, श्रम, शङ्का, धृति आदि का गहन सम्लव उन्होंने उपस्थित किया है, तो कौटिल्य की उक्तियों में उत्साह, धृति, मति, स्मृति, हर्ष, आवेग, गर्व प्रबोध, अमर्ष को समर्थ अभिव्यक्ति मिली है। राक्षस के आलस्य, दैन्य, चिन्ता, मोह, व्रीडा और विषाद के द्वन्द्व में चाणक्य के भीतर को उत्साह सम्पन्न चित्तवृत्तियाँ हमें एक गहरे नाट्यानुभव से जाती हैं।

भाषा-शैली तथा संवादयोजना-

जैसा देवीचन्द्रगुप्त के विवेचन में कहा गया है, विशाखदत्त की नाटक की भाषा पर पकड़ बड़ी मजबूत है। वे स्वयं सुकवि हो कर भी काव्यात्मकता के अतिरेक से बच गये हैं और रङ्गमञ्च के उपयुक्त भाषा और संवादशैली का सधा हुआ प्रयोग करते हैं।

संवादों में उक्ति-प्रत्युक्ति, एक-एक शब्द से व्यक्त नाटकीय पर्यावरण और पात्र का अनुभवसंसार तथा भाषा का तीखापन प्रभावित करने वाले गुण हैं। प्रस्तावना में ही उद्घात्यक तथ प्रयोगातिशय- इन दोनों प्रस्तावना- प्रकारों का कुशल प्रयोग कर के उन्होंने भाषा के नाटकीय विन्यास से हमारा साक्षात्कार कराया है। थोड़े शब्दों या लघुवाक्यों में बहुत कुछ संकेतित करने की उनकी क्षमता भी अनके स्थलों पर देखते ही बनती है। पहले ही अङ्क में गुप्तचर निपुणक तथा शिष्य शार्ङ्गरव के संवादों में हम यह पैनापन देखते हैं, और उनके मनोरंजक विवाद का चाण्क्य के एक वाक्य से सहसा पटाक्षेप एक सजग संवादकार ही इस प्रकार करा सकता है।

शिष्य : मूर्ख, किमिदमसम्बद्धमभिधीयते।

चर : हंहो, ब्राह्मण, सुसंबद्धं ज्जेव्व एवं भवे।

शिष्य : यदि किं स्यात्?

चर : णदि सुणितुं जाणन्तं लहे।

चाणक्य : भद्र, विश्रब्धं प्रविश, लप्स्यसे श्रोतारं ज्ञातारं वा।

विशाखदत्त लाक्षणिक संवादों के विलक्षण शिल्पी हैं। एक छोट से वाक्य में सारे घटनाक्रम और उसके दूरगामी प्रभावों का निचोड़ उपस्थित करा देते हैं। इस दृष्टि से चाणक्य और राक्षस के संवादों के कई वाक्य मुद्राराक्षस की कथायात्रा में आगे बढ़ाते हुए लौट-लोट कर हमारी स्मृति में कौंधते हैं। जैसे चाणक्य का यह वाक्य, जो राक्षस की अंगूठी अकस्मात् मिल जाने पर वह कहता है-

"ननु वक्तव्यं राक्षस एवास्मदङ्गुलिप्रणयी संवृत्तः।"

हिन्दी में मुहावरेदार भाष में इसे कहें तो कहा जासकता है- "कहना चाहिये कि अब तो राक्षस ही हमारी मुट्ठी में आ गया।" एक राक्षस ही मेरा अङ्गुलिप्रणयी बन गया- यह कहने में जो बात है, वह इसमें नहीं आ पाती।

वस्तुतः विशाखदत्त के संवाद पात्र की अपनी प्रकृति और प्रवृत्ति की प्रतिच्छवि लेकर उपस्थित होते हैं। चाणक्य के कथनों में-

तन्मयाप्यस्मिन् वस्तुनि शयानेन न स्थीयते। -(मैं भी इस मामले में सो नहीं रहा हूँ)।

कायस्थ इति लघ्वी मात्रा। तथापि न शक्यं प्राकृतमपि रिपुमुपेक्षितम्। (कायस्थ विचारे की क्या विसात? पर फिर भी मामूली से शत्रु की भी उपेक्षा करना ठीक नहीं।)

इत्यादि वाक्यावलियाँ उसके भीतर चलने वाली अधेड़बुन का सजीव अनुभव कराती है।

पताकास्थानकों के सटीक प्रयोग ने भी विशाखदत्त को संवादयोजना में चमत्कार ला दिया है। ये पताकास्थानक नाट्यविडम्बना, भावी घटनाओं के सङ्केत और दर्शकों के कौतुक के निर्वाह के लिये बड़े उपयुक्त हैं। उदाहरण के लिये-

चाणक्य : (चिन्तां नाटयित्वा आत्मगतम)-अपि नाम दुरात्मा राक्षसो गृह्येत।

सिद्धार्थ : अज्ज गहीदो।

चाणक्य : (सहर्षमात्मगतम्)- हन्त गृहीतो राक्षसः। (प्रकाशम्) भद्र, कोऽयं गृहीतः।

सिद्धार्थ : गहीदो अज्ज संदेसो।

पहले और दूसरे अङ्कों में क्रमशः चाणक्य और राक्षस की चिन्ताधारा में आत्मगत संवादों के बीच "जयतु जयतु" की ध्वनि अपने सांकेतिक अभिप्रायों के साथ नाटक में गत्यात्मकता और कौतुक का आधान करती है और साथ ही विशाखदत्त की पताकास्थानकों की व्युत्पत्ति का भी परिचय देती हैं।

विशाखदत्त अत्यंत सरल और लघुपदमय भाषा का जितना अभिप्रायगर्भित प्रयोग करते हैं, उतना ही इच्छा प्रयोग वे दीर्घसमासों वाली गौडीरीति विशिष्ट भाषा का भी। अलङ्कारों की अपृथग्यत्ननिर्वत्यता उनका बड़ा गुण है। पात्रों के सघन भावावेग की अभिव्यक्ति हो या सुकुमार कल्पनाओं की, सर्वत्र रूप से वस्तु का समवाय विशखदत्त बनाये रखते हैं। चाणक्य की उक्ति उदाहरणीय है-

नन्दकुलकालभुजंगीं कोपानलबहललोलधूमलताम्।
अद्यापि बध्यमानां वध्यः को नेच्छति शिखां मे?

नन्दकुल की कालभुजंगी, क्रोधाग्नि की सघन धूमरेखा, मेरी इस बांधी जाती शिख को कौन वध्य बांधी जाती नहीं देखना चाहेगा? - यहां रूपक-युगल कथ्य के साथ पूरी तरह समंजस होकर आया है और काव्य-सौन्दर्य की दृष्टि से सर्वथा सटीक होते हुए भी वह चाणक्य के अभिप्राय से अलग छिटक कर प्रेक्षकों का ध्यान अपनी ओर नहीं खीचता। जहाँ आवश्यक है, वहाँ कथ्य के औचित्य और अभिव्यक्ति की प्राञ्जलता की दृष्टि से विशाखदत्त कई अलङ्कारों की संसृष्टि या सांकर्य भी कर सकते हैं या उनकी शृंखला भी बना सकते हैं। पर उनके काव्यालंकार सर्वत्र नाटक के पर्यावरण और उसकी अन्तर्वस्तु के अनुभव को गहरा ही बनाते हैं। यह अङ्क में श्मशान के वर्णन में उन्होंने मालोपसा, अमूर्त उपमान तथा उत्प्रेक्षा का सुदीर्घ प्रतान रच दिया है, पर इसके द्वारा उन्होंने राक्षस को गहन विषादग्रस्त मनःस्थिति और रङ्गमञ्च पर उसकी प्रतिच्छवि को लेकर निर्मित पर्यावरण का अनुभव निर्मित किया है।

विशाखदत्त गौडी, वैदर्भी और पाञ्चाली-तीनों रीतियों का प्रयोग समान दक्षता से इसी प्रकार नाटक के कथ्य और परिवेश के अनुरूप कर लेते हैं। नाट्यवृत्तियों की दृष्टि से सात्त्वती और आरभटी का भारती वृत्ति के प्राधान्य के साथ उन्होंने आद्यन्त निर्वाह किया है।

विशाखदत्त की व्युत्पत्ति-

विशाखदत्त ने भाषाशैली औरकल्पना के अतिरिक्त चमत्कार दिखाने के आग्रह से अपने आप का बचाये रखा है, उसी प्रकार अपने सर्वतोमुख पाण्डित्य का भी उन्होंने नाटक की वस्तु के अनुसार ही उपयोग किया है, उसका प्रदर्शन नहीं किया। मुद्राराक्षस ५/१० में उन्होंने न्यायदर्शन की अनुमानप्रमाणगत (पक्षसिद्ध, सपक्षसिद्ध, विपक्षव्यावृत्ति आदि) शब्दावली का राक्षस के राजनीतिक असमंजस में उठ खड़ी हुई हेत्वाभास की स्थिति में प्रकट करने के लिये सटीक उपयोग किया है।* अर्थशास्त्र के तो (षाड्गुण्य, द्रव्य, अद्रव्य, सचिवायत्तसिद्धि, उपाय, अन्तःकोष, बाह्यकोष आदि) पारिभाषिक शब्दों का पदे पदे मुद्राराक्षस में प्रयोग हैं। नाट्यशास्त्र का विशाखदत्त ने बड़ी गहराई से अध्ययन किया था- यह मुद्राराक्षस ४/२ में भरत के द्वारा प्रतिपादित इतिवृत्तसंरचना की पारिभाषिक पदावली के उनके प्रयोग से ही स्पष्ट है तथा मुद्राराक्षस के इतिवृत्त की योजना से भी।

इसके साथ ही अपने समय की सामाजिक, राजनीतिक, वैज्ञानिक और तकनीकी उन्नति तथा शास्त्रीय चिन्तन की प्रगति से भी विशाख का गहरा परिचय है। तोरण इस प्रकार बनाया जाय कि उसकी 'कनकशृङ्खलावलम्बिनी कनकदण्डिका' यथेच्छ कभी भी सूत्रधार किसी के मस्तक पर गिरा सके-इस वास्तुशास्त्र की तकनीक से वे परिचित लगते हैं। पाटलिपुत्र नगर के वातावरण का उन्होंने अनेक स्थलों पर आंखों देखा-सा चित्र खींचा है।

विशाखदत्त का रङ्गमञ्च-

रङ्गमञ्च की दृष्टि से मुद्राराक्षस संस्कृत के सर्वाधिक सफल रूपकों में से है और विशाखदत्त के अन्य रूपक- अभिसारिकावञ्चितकम्, देवीचन्द्रगुप्तम् तथ राघवानन्दम्(?) भी प्राप्त उद्धरणों के आधार पर उतने ही प्रयोगक्षम कहे जा सकते हैं, जितना मुद्राराक्षस। विशाखदत्त के सामने रङ्गमञ्च का एक विशिष्ट स्वरूप है, जो कालिदास के रङ्गमञ्च से कुछ भिन्न है। उनकी कृतियों में कैशिकी वृत्ति प्रायः नहीं है और भारती वृत्ति की प्रधानता है। भवभूति के मालतीमाधव की टीका में एक प्राचीन टीकाकार ने बताया है कि मालतीमाधव में वाचिक रस है। विशाखदत्त के रूपकों में भी आङ्गिक, सात्त्विक और

---

* इसी प्रकार ३/१० में ऐंद्रिय बोध की प्रक्रिया परिभाषित की गयी है।

आहार्य की अपेक्षा वाचिक रस सर्वातिशायी लगता है, जिसका निरूपण प्राचीन आचार्य मातृगुप्त ने किया है। विशाखदत्त के संवादों में इसीलिये अद्भुत गत्यात्मकता और ओजस् है, जो संस्कृत के अन्य किसी नाटक में इस स्तर का नहीं मिलता। कालिदास की अपेक्षा भास विशाखदत्त के रङ्गमञ्च के लिये प्रेरक लगते हैं, और वार्डर का कथन सत्य प्रतीत होता है कि विशाखदत्त की नाट्यसंरचना और शृङ्गारकल्पना उनके समय के आसपास लिखे गये कृत्यारावण, राघवजानकी जैसे रूपकों के अधिक निकट है। जिस आवेग, ऊर्जा और घनीभूत सक्रियता के साथ विशाखदत्त की नाट्यसंरचना परिकल्पित है, उसमें सात्त्वती और आरभटी वृत्तियों का सहकार अपेक्षित है, पर ये वृत्तियाँ मायेन्द्रजालबहुल तथा बहुपुस्तनेपथ्यमय जिस रङ्गमञ्च की मांग करती है, वह भी विशाख का रङ्गमञ्च नहीं है।

विशाखदत्त कदाचित् कालिदासोत्तर संस्कृत रङ्गपरम्परा के उस नवोत्थान का प्रतिनिधित्व करते हैं, जिसमें वाचिक का विशिष्ट स्वरूप विशिष्ट अभिनय शैली की मांग करता हे। उनके नाटकों के लम्बे-लम्बे संवाद और एकालाप (Soliloquy) तथा भाषा की स्फीति को इस दृष्टि से समझा जाना चाहिये।

मूल्यांकन-

विशाखदत्त कालजयी प्रतिभा के नाटकाकर हैं, जिन्होंने अपनी राह स्वयं बनायी है। नाट्यशास्त्र के समस्त विधि विधानों को उन्होंने आत्मसात् किया है, और उनका सर्जनात्मक उपयोग भी किया है, पर वे नाट्यशास्त्र की सीमाओं का इसी सर्जनात्मक प्रतिभा से अतिक्रमण भी कर जाते हैं। इसीलिये उनके तीन रूपकों-अभिसारिकावञ्चितकम्, देवीचन्द्रगुप्तम् तथा मुद्राराक्षस के विषय में यह प्रश्न बना रहता है कि भरत के लक्षणों के अनुसार उन्हें नाटक कहा जायेगा या प्रकरण? विशाख ने नाटक के औदात्य तथा गरिमा के साथ वस्तुतः प्रकरण की लोकोन्मुखता का दुर्लभ समवाय उपस्थित कर दिया है। इसी प्रकार यह निर्णय करना भी कठिन है कि शास्त्रीय स्थिति में मुद्राराक्षस का नायक चन्द्रगुप्त है या चाणक्य? हम यह भी कह सकते हैं कि चाणक्य के रूप में विशाखदत्त ने 'महानायक' की एक अभूतपूर्व छवि प्रस्तुत कर दी है। कदाचित् इस अभूतपूर्वता और लक्षणातिक्रमणसामर्थ्य का ही परिणाम है कि न तो पारंपरिक पाण्डित्य विशाखदत्त के साथ पूरा न्याय कर पाया, न आधुनिक समीक्षा ही। विशाखदत्त की प्रतिभा में साहस भरपूर है, जिसके कारण वे लगभग वर्जित या अछूते कथानक उठाते हैं। विशाख का यह साहस ही मल्लिनाथ जैसे यशस्वी टीकाकार पण्डित को दुस्साहस लगा होगा, तभी उन्होंने 'एकावली' की अपनी टीका में मुद्राराक्षस को "कुकाव्य" घोषित कर डाला। आधुनिक समीक्षकों में डा० सुशीलकुमार डे का आरोप है कि मुद्राराक्षस में औदात्य का अभाव है, वह हमारी नैतिक भावना को तुष्टि नहीं दे पाता, सारा घटनाचक्र इसमें एक व्यक्ति की अपनी आकांक्षा के कारण घूमता

है। दूसरी ओर डा० राम जी उपाध्याय गांधीवादी दृष्टि से मुद्राराक्षस के संविधान पर प्रश्नचिह्न लगाते हुए कहते हैं कि इसमें उत्तम साध्य की प्राप्ति भले ही हो, पर उसके लिये साधनों की शुद्धता का ध्यान नहीं रखा गया।

वास्तविकता यह है कि मुद्राराक्षस में राक्षस की लड़ाई तो संकीर्ण स्वामिभक्ति और वैयक्तिक आग्रह से प्रेरित है, जब कि चाणक्य की सारी रणनीति समग्र राष्ट्र के अभ्युदय के लिये निःस्वार्थभाव से प्रेरित है। इसीलिए विशाख ने 'नव नन्दों को धरती का हृदयशल्य' कहा है (१/१३), नान्दी में ही उस शाठ्य की वन्दना की है, जो सबको बचा सके और भरतवाक्य में फिर वराह की भांति धरती का उद्धार करने वाले व्यक्तित्व की आशंसा की है।

• • • •

महाकवि भवभूति

– प्रो. मिथिला प्रसाद त्रिपाठी

संस्कृतवाङ्मय की सुदीर्घ परमपरा में भवभूति एक ऐसा नाम है जो हठात् अपनी रचनाधर्मिता से आकृष्ट कर लेता है। वाल्मीकि, अश्वघोष, भास एवं कालिदास के साहित्यावदान का आकर्षण संस्कृत मनीषियों के लिए हृदयावर्जक है। वाल्मीकि तो अद्यप्रभृति जनमनरंजक बने ही हैं वे तो इहलोक परलोक की सोपान परम्परा निर्माण करते दिखते हैं। कालिदास की कविता तो उन्हें कविकुलगुरु के पद तक पहुँचा देती है। एक आदि कवि या आर्षकवि है जो दूसरा कविताकामिनी का विलास बना है। नाट्य परम्परा में रामचरित का आकलन सर्वप्रथम भास ने प्रतिमानाटक के रूप में किया था वाल्मीकि की रामकथा इतनी लोकप्रिय हुई कि उसके मानक को विच्छिन्न कर पाना संभव नहीं था, फिर भी दृश्यकाव्यत्व में भास ने प्रथम प्रयास कर दिया। लोक में जन-जन में रमते राम को निश्चित कथायामों से पृथक् कर देना कहाँ संभव था, परन्तु कालप्रियानाथ की यात्रा या मेला में आने वाले जनसमुदाय को मनोरंजक किंवा रामलीला परम्परा में मनोरंजन करने के स्वभाव वाले जनसमूह को रामकथापरक नाटक की रचना कर देना भवभूति का ही लोकोपकार भी था और साहित्य सेवा भी थी। उनके अयोध्यावासी राम वज्र से भी कठोर थे पर वनवासी राम कुसुम से भी कोमल थे उन्हें राम के इस लोकोत्तर चरित्र को लोकव्यापी और लोकमंगल के रूप में प्रस्तुत करने के लिए दो रूपकों में बांटना पड़ा, राम के लिए महावीर होना जितना महत्वपूर्ण है, उनका अन्तस् उतना ही करुणवीर बना रहता है। साक्षात् करुणा की मूर्ति जानकी जो राम का जीवन थी, हृदय थी, नयनचन्द्रिका थी और सदा सहगामिनी अनुगामिनी रहती थी, उसे सगर्भावस्था में पुनः वन जाना पड़ा इस बार रामरहित थी परन्तु रामांश सहित थी। ये सीता धरती की बिटिया थी इनकी रक्षा तो नदियाँ भी करती हैं। गंगा रामपूर्वजों द्वारा लायी गयी थी उनके ही पूर्वजों का उद्धार करने के लिए, लोक का उद्धार करने के लिए, धरती की करुण और संवेदना के शीतल संस्पर्श एवं पुनरुज्जीवन कर देती थी। कोई तमसा हो या वासन्ती सभी धरणिजा के लिए समर्पित है। रामायण सीता का समग्र चरित है, चरितनिकष है, यह उत्तररामचरित के बिना कैसे।

भवभूति बाणभट्ट जैसे अपने लिए मुखर नहीं है तो कालिदास आदि जैसे मौन भी नहीं है। महावीरचरित में अधिक, मालतीमाधव के कुछ कम तथा उत्तररामचरित में संकेत मात्र से वे अपना परिचय देते हुए तृप्त नहीं होते। उन्हीं के शब्दों में द्रष्टव्य है-

"अस्ति दक्षिणापथे पद्मपुरं नाम नगरम्। तत्रा केचित् तैत्तिरीयाः काश्यपाश्चरणगुरवः पङ्क्तिपावनाः पञ्चाग्नयो धृतव्रताः सोमपीथिन उदुम्बरनामानो ब्रह्मवादिनः प्रतिवसन्ति तदामुष्यायणस्य तत्र भवतो वाजपेययाजिनो महाकवेः पञ्चमः सुगृहीतनाम्नो भट्टगोपालस्य पौत्रः पवित्रकीर्तेर्नीलकण्ठस्यात्मसंभवः श्रीकण्ठपदलाञ्छनः पदवाक्यप्रमाणज्ञो भवभूतिर्नाम जतुकर्णीपुत्रः कविर्मित्रधेयमस्माकमिति भवन्तो विदाङ्कुर्वन्तु।

श्रेष्ठः परहंसानां महर्षीणां यथाङ्गिराः।
यथार्थनामा भगवान् यस्य ज्ञाननिधिर्गुरुः।।[1]

दक्षिण भारत के पद्मपुर नामक नगर में भवभूति रहते थे। इनका गोत्र काश्यप या कश्यप था। इनका उपनाम उदुम्बर था। ये कृष्णयजुर्वेद की तैत्तिरीय शाखा के अध्येता थे। इनके ब्रह्मवादी कुल की पाँच विशेषताएं उल्लिखित हैं-

(१) चरणगुरवः = वैदिकशाखा विशेष के अनुयायी।

(२) पङ्क्तिपावनाः[2] = दस पीढ़ियों से निरन्तर वेदाध्ययन की परम्परा वाले वैदिक ब्राह्मणों के वंश की पंक्तिपावन कहे जाते हैं।

(३) पञ्चाग्नयः = आह्वनीय, गार्हपत्य, दक्षिण, सभ्य तथा आवसथ्य नाम की श्रौत एवं स्मार्त अग्नियों का आधान करने वाले।

(४) धृतव्रताः = वैदिक आचार विचार का पालन करने वाले! चान्द्रायण आदि व्रतों को करने वाले पूर्वज रहे हैं।

(५) सोमपीथिनः = सोमपान करने वाले। सोमयज्ञ किया करते थे। उन्हें 'उदुम्बर' नाम से भी जाना जाता था। ये ब्रह्मवादी, श्रोत्रिय, वेदज्ञ ओर षडङ्ग वेद के अध्येता थे। इष्ट (यज्ञ) और पूर्त (कूप तड़ादि का धर्मार्थ निर्माण) भी करते थे।

इनकी पाँच पीढ़ी पहले 'महाकवि' हुए। इसके बाद की दो पीढ़ियों का उल्लेख सूत्रधार ने नहीं किया है। परन्तु भवभूति के पिता पवित्रकीर्ति वाले श्री नीलकण्ठ एवं सुगृहीत नामधेय श्री भट्टगोपाल इनके पितामह थे। इनकी मां जतुकर्णी तथा गुरु परमहंसों में श्रेष्ठ ज्ञाननिधि थे।

---

१. महावीरचरित् प्रस्तावना पृष्ठ ४-६, चौखम्बा विद्याभवन, १९६८

२. अग्रयाः सर्वेषु वेदेषु सर्वप्रवचनेषु च।
श्रोत्रियान्वयजाश्चैव विज्ञेयाः पंक्तिपावनाः।। मनु १/१८४
पंक्तिपावनाः पंक्तौ भोजनादिगोष्ठयां पावना अग्रभोजितनः पवित्रा वेत्यर्थः।।
यजुषां पारगो यस्तु साम्नां यश्चापि पारगः।
अथर्वाङ्गिरसोऽध्येता ब्राह्मणः पङ्क्तिपावनः।। 'जगद्धार-पृष्ठ ६, निर्णयसागर से १९३६

इसी प्रकार मालतीमाधव में भी स्वयं भवभूति ने परिचय लिखा है। इस परिचय में भवभूति ने अपने पूर्वपुरुष महाकवि तथा माता जतुकर्णी का उल्लेख नहीं किया है। परन्तु इसमें अपने पूर्वजों के लिए "ते श्रोत्रियास्तत्त्वविनिश्चयायः भूरिश्रुतं शाश्वतमाद्रियन्ते। इष्टाय पूर्ताय च कर्मणोऽर्थान्दारानपत्याय तपोऽर्थमायुः।"[1] पंक्तियां भी मिलती हैं इससे इनके पूर्वजों की बहुश्रुतता, श्रुतिनिष्ठता, तत्त्वविनिश्चयदृढ़ता, इष्टापूर्त कर्म में संलग्नता, भोगविमुखता तपोनिष्ठता भी प्रकट हो जाती है। वंशपरम्परा के लिए विवाह और तपस्या के लिए जीवन धारण करते थे।

इस परिचय में उन्होंने एक पद्य भी लिखा है-

"ये नाम केचिदिह नः प्रथयन्त्यवज्ञां
जानन्ति ते किमपि तान् प्रति नैष यत्नः।
उत्पत्स्यते मम तु कोऽपि समानधर्मा
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।।"[2]

इस पद्य से ऐसा लगता है कि इनकी पूर्व रचना के लिए तत्कालीन विद्वानों ने अनुकूल प्रतिक्रिया नहीं दी थी। उत्तररामचरितम् में कवि ने अपना परिचय संक्षेप में ही दिया है। प्रतीत होता है कि लोक में उनकी कृतियों की अनुदार आलोचना हो रही थी परन्तु वे इसकी परवाह नहीं कर रहे थे-

सर्वथा व्यवहर्तव्यं कुतोह्यवचनीयता।
यथा स्त्रीणां तथा वाचां साधुत्वे दुर्जनो जनः।।[3]

मालतीमाधव में अपने परिचय में "कविनिसर्गसौहृदेभरतेषु वर्तमानः" लिखकर भरतों से मित्रता और उनके लिए नाट्य रचना में प्रवृत्त होना भी अनुमान योग्य है। वे अपने लिए 'श्रीकण्ठपदलाञ्छनः' के साथ "पदवाक्यप्रमाणज्ञः" भी लिख रहे है। उन्हें 'श्रीकण्ठ' नाम से जाना जाता था तथा वे व्याकरण, न्याय और मीमांसा में पारंगत विद्वान् भी थे। इस प्रकार उनके नाम के विषय में कुछ पण्डित श्रीकण्ठ नाम के पक्ष में हैं और दूसरे भवभूति के पक्षपाती हैं। एक को पितृनाम तथा दूसरे को उपनाम सुनने की परम्परा मिलती है।

वीरराघव ने 'भावप्रद्योतिनी' टीका में स्पष्ट किया है कि उनका पितृदत्त नाम श्रीकण्ठ था और उपनाम 'भवभूति' था। महावीरचरितम् की टीका में वीर राघव ने

---

१. मालतीमाधवम्-प्रस्तावना
२. मालतीमाधवम्-प्रस्तावना
३. उत्तररामचरितम्-१/५

"श्रीकण्ठपदं लाञ्छनं नाम यस्य सः।... पितृकृतनामेदम्... साम्बा पुनातु भवभूतिपवित्रमूर्तिः" इति श्लोक रचनसन्तुष्टेन राज्ञा भवभूतिरिति ख्यापितः" लिखा है। उत्तररामचरितम् की टीका में लिखते हैं-"श्रीकण्ठ इति पदं शब्दः लाञ्छनं यस्य स तथोक्तः... पैतृकं नामधेयमिदम्...भवभूतिरिति प्रतिद्धनामवान्। एतत्कृत 'साम्बा। पुनातु भवभूतिपूवत्रमूर्तिः' इति श्लोकश्रवणसन्तुष्टो राजा भवभूतिरित्येनं ख्यापयामासेति कथात्रानुसन्धेया वे आगे इसमें और भी जोड़ते हैं कि "ईश्वर एवमिदंरूपेणगत्य भूतिं दत्तवानिति वदन्ति। एवं च भवाद् भगवतो भूतिर्यस्येति भवभूतिरित्यन्वर्थ-इत्याहुः। यह उत्तरराचरितम् की भवभूति तलस्पर्शिनी टीका में वीरराघव का अभिमत है।

जगद्धर ने भी "नाम्ना श्रीकण्ठः! प्रसिद्ध्या भवभूतिरित्यर्थः।" यह जगद्धर ने मालतीमाधव की टीका में कहा है। टीकाकार त्रिपुरारि ने भी इसी मालतीमाधव की टीका में कहा- "श्रीकण्ठपदं लाञ्छनं यस्य सः। भवभूतिरिति व्यवहारे तस्येदः नामान्तरम्"।

उत्तररामचरितम् के टीकाकार घनश्याम ने कहा है कि-श्रीकण्ठ इति पदं नाम लाञ्छनं व्यवहारः यस्य श्रीकण्ठरण्य इत्यर्थः। श्रीकण्ठस्य पदे पादामेव लाजूः विरुदं यस्येति वार्थः। शिवपादाब्दजनित इति यावत्... भवात् शिवात् भूतिः भस्म सम्पत् यस्य ईश्वरेणैव जातु द्विजरूपेण विभूतिर्दत्ता तदा प्रभृति भवभूतिरिति प्रसिद्धो जात इति च पदारविन्दो विदन्ति।

रामचन्द्र बुधेन्द्र भी कहते हैं कि भवभूति की अलौकिक कवित्वशक्ति को देखकर उन्हें 'श्रीकण्ठ' के रूप में विशेषण मिला था।

"लोकातिगकविशक्तिदर्शनाद् वाग्देवी नित्यकालमस्य कण्ठे वसतीति मत्वा तदानीन्तनैः भवभूतेः श्रीकण्ठ इति विशेषणं परिकल्पितम्"।

अनन्तपण्डित ने आर्यासप्तशती (१/३९) की टीका में एक पद्य उद्धृत किया है-

तपस्वी कां गतोऽवस्थामिति स्मेराननाविव।
गिरिजाया कुचौ वन्दे भवभूतिसिताननौ।।

सदुक्तिकर्णामृत में श्रीधरदास ने एक पद्य उद्धृत किया है-

कां तपस्वी गातोऽवस्थामिति स्मेराविवस्तनौ।
वन्दे गौरीघनाश्लेषभवभूतिसिताननौ।।

उक्त दोनों पद्यों से यही स्पष्ट होता है कि इन पद्यों की रचना करने से ही कवि को भवभूति के नाम से जाना गया।

जीवानन्द विद्यासागर ने सुखबोधिनी नाम के उत्तररामचरित की टीका में भी स्पष्ट

किया है-श्रीः सरस्वती कण्ठे यस्य तथाविधानुपूर्व्यवच्छिन्नं पदमुपाधिर्लाञ्छन परिचायकं चिह्नमित्यर्थः, यस्य स तथोक्तः श्रीकण्ठोपाधिक इत्यर्थः।.... भवस्य हरस्य भूतिः ऐश्वर्यमिव भूतिः ज्ञानसम्पत् यस्य तथादि भवभूतिरित्यन्वर्थनामा इति भावः अथवाऽस्य कवेः "साम्बा पुनातु भवभूति पदिममूर्तिः" "तपस्वी कां गतोऽस्थाम्" इत्यादिकं वा महोदारं श्लोकमाकर्ण्य यन्त्रत्वेन राज्ञा भवभूतिरिति नावैषः सततं समाहूतः आसीत् इति साविद्यं प्रचरति।

डॉ. वेल्वल्कर ने मूल नाम श्रीकण्ठ और उपनाम... भवभूति माना है। यही वीर राघव, जगद्धर और त्रिपुरारि, घनश्याम अनन्तपण्डित और श्रीधरदास ने भी माना है।

ज्ञातव्य है कि भवभूति के तीनों नाटकों में भवभूति के साथ नाम या नामा का प्रयोग मिलता है और श्रीकण्ठ के साथ 'पदलाञ्छन' का प्रयोग किया गया है। सभी लक्षणग्रन्थों एवं सूक्तिग्रन्थों में भी नाम तो भवभूति ही मिलता है। इन सबसे कवि का मुख्य नाम भवभूति और उपनाम श्रीकण्ठ मानना ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

प्राचीन संस्कृत ग्रन्थ "दिव्यावदान" के ३३वें अध्याय वेद के विभागवर्णन में यजुर्वेद की ६ शाखाएं और १०१ प्रशाखाएं उल्लिखित हैं। इन शाखाओं में एक जातुकर्ण शाखा भी है। ऐसा अनुमेय है कि भवभूति के मामा जातुकर्ण शाखा के थे इसी से उनकी मां का नाम जातुकर्णी रहा होगा। परन्तु भवभूति के अतिरिक्त कोई नाम परवर्ती रचनाकारों ने नहीं लिखा है। राजशेखर का पद्य देखें-

बभूव बल्मीकभवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठतः
स्थितः पुनर्यो भवभूति रेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः।[1]

कल्हण का पद्य द्रष्टव्य है-

कविर्वाक्पतिराज श्रीभवभूत्यादि सेवितः।
जितो ययौ यशोवर्मा तद्गुणस्तुतिवन्दिताम्।।[2]

गोवर्धनाचार्य का पद्य देखें-

भवभूतेः सम्बन्धाद् भूधरभूरेव भारती भाति।
एतत्कृतकारुण्ये किमन्यथा रोदिति ग्रावा।।[3]

भवभूति के समकालीन वाक्पतिराज ने भी इन्हें भवभूति ही कहा है-

---

१. बालरामायण १/१६
२. राजतरङ्गिनी ४/१४४
३. आर्यासप्तशती १/३३

भवभूतिजलधिनिर्गतकाव्यामृतरसकणा इव स्फुरन्ति।
यस्य विशेषा अद्यापि विकटेषु कथानिवेशेषु।।[2]

इस प्रकार उनका नाम भवभूति ही होना निश्चित होता हैं। परवर्ती किसी संस्कृत अन्य के रचनाकारों ने श्रीकण्ठ नाम नहीं लिखा है, यह तो इनका उपनाम ही था। यद्यपि श्रीकण्ठ एवं भवभूति दोनों नाम होने के लिए विद्वानों ने अपने-अपने तर्क प्रस्तुत किया है, परन्तु टीकाकारों ने जहाँ-तहाँ अपना मत प्रकट किया है। परवर्ती विद्वानों ने इन्हें भवभूति के नाम से ही सम्बोधित किया है जाना भी है और माना भी है। ये ही भवभूति संस्कृत साहित्य के अध्येताओं और सर्जकों के लिए मान्य से हैं। अस्तु अनावश्यक तर्कों से दूर रहते हुए कवि का नाम 'भवभूति' ही मान लेना समीचीन होगा।

भवभूति और उम्बेक-

मीमांसक उम्बेक और महाकवि भवभूति दोनों एक है या नहीं इसके विषय में अद्यावधि दोनों पक्ष विद्वानों में समादृत हैं। इसकी सर्वप्रथम सूचना शंकर पाण्डुरंग पण्डित ने दी जिसका आधार श्री एम.वी. लेले से प्राप्त मालतीमाधव की ५०० वर्ष पुरानी एक पाण्डुलिपि है। इसके तीसरे अङ्क की पुष्पिका में "इति श्री भट्टकुमारिलशिष्यकृते मालमतीमाधवे तृतीयोऽङ्कः" लिखा मिलता है और छठे अङ्क की पुष्पिका में "इति श्री कुमारिलस्वामिप्रसादप्राप्तवाग्वैभवश्रीमदुम्बेकाचार्यविरचिते मालतीमाधवे षष्ठोऽङ्कः"। परन्तु दसवें अङ्क की पुष्पिका में "इति श्रीमद्भवभूतिविरचिते मालतीमाधवे दशमोऽङ्कः' इन्हीं तीनों उल्लेखों से शंकर पाण्डुरङ्ग पण्डित ने यह स्थापित करने का प्रयास किया कि भवभूति महान् मीमांसक कुमारिलभट्ट के शिष्य ही थे तथा उनका एक नाम उम्बेक भी था। दोनों एक ही के दो नाम हैं।

म०म० कुप्पुस्वामी शास्त्री, म०म० गंगानाथ झा, म.म. पी०वी० काणे ने भवभूति और उम्बेक को एक ही माना है। परन्तु प्रो. वी. वी. मिराशी और डॉ० कुन्हनराजा ने ऐसा नहीं माना है। डॉ. आर.जी. भण्डारकर भी दोनों को एक नहीं मानते हैं। इस विषय में तर्क इस प्रकार हैं-

(१) श्री एस. पी. पण्डित को "मालतीमाधव" की प्राप्त पाण्डुलिपि के अतिरिक्त किसी भी अन्य प्रति में उम्बेक का उल्लेख नहीं मिलता है।

(२) भवभूति की रचनाओं में उनके मीमांसक होने का स्पष्ट प्रमाण नहीं मिलता है। परन्तु उम्बेक के गुरु कुमारिलभट्ट तो प्रसिद्ध मीमांसक थे। पदवाक्यप्रमाण अवश्य लिखा है। इसमें वाक्य मीमांसा का ही बोधक है।

---

१. गउडवहो गाथा ७६६

२. भवभूति-अमृताभारती, भारतीय ज्ञानपीठ, २००० पृष्ठ ४४ में उद्धृत।

(३) भवभूति ने अपने गुरु का नाम कुमारिल नहीं लिखा है। वे उन्हें केवल 'ज्ञाननिधि' ही कह सके हैं।

(४) यद् वेदाध्ययनम् (मा०म० १/८) से वेदाध्ययन जो कि मीमांसा बोधक है। उत्तररामचरितम् (१/३९-४०) में अर्थवाद शब्द मीमांसा का पारिभाषिक है, महावीरचरितम् (१/३९-४०) में "अम्बुनि मज्जयन्यलाबूनि ग्रावाणः प्लवन्ते" वाक्य भी मीमांसा का ज्ञान प्रकट करता है। यह कथन महाभारत (सभापर्व ६६/११) और पूर्वमीमांसा सूत्र-(१/१/५) शबरभाष्य में भी प्रकारान्तर से उपलब्ध है।

(५) भवभूति ने इतने महान् गुरु का नाम नहीं लिखा जिसके लिए पी.वी. काणे का मत है कि भवभूति (उम्बेक) पूर्व में मीमांसक ही थे। कुमारिल के शिष्य ही थे, परन्तु बाद में वेदान्ती हो गए थे, जब नाटक लिख रहे थे। प्रौढ़ा आत्रेयी वेदान्तविद्या पढ़ने वाल्मीकि के पास गयी थी। वहां अगस्त्य आदि ब्रह्मवेत्ता ऋषि (उ.राम. २/३) रहते थे।

(६) उम्बेक ने कुमारिल के 'श्लोकवार्तिक' एवं मण्डन मिश्र के 'भावना विवेक' के अनेक अंशों पर अपने विचार प्रकट किया है, अस्तु उम्बेक दोनों के परवर्ती हुए। कुमारिल का समय ७७५ ई. के आसपास था। कमलशील ने उम्बेक का सर्वप्रथम उल्लेख किया है। कमलशील शान्तरक्षित का शिष्य था। कमलशील का समय ८०० से ८२५ ई. के मध्य था, इस प्रकार उम्बेक को ७७५-८०० ई. मध्य होना चाहिए, परन्तु राजतरंगिणी (४/१४४) एवं अन्य उल्लेखों से भवभूति का समय आठवी शती ई. का आरंभ निश्चित होता है, इस प्रकार दोनों एक नहीं हो सकते है।

कुछ बिन्दु दोनों के एकत्व के पक्ष में हैं-

(१) कुमारिल के श्लोकवार्तिक की तात्पर्य टीका में मा.मा. (१/६) का पद्य 'ये नाम केचिदिह.' उद्धृत है, जो टीका उम्बेक ने लिखी है। यह पुनरावृत्ति भवभूति की रचनाओं में प्रायः मिलती है।

(२) चित्सुखाचार्य ने 'तत्त्वप्रदीपिका' में दोनों के एक होने का उद्धरण प्रस्तुत किया है-

"तस्माच्छास्त्रं शब्दविज्ञानादसंनिकृष्टे बुद्धिरिति लक्षणलक्षणम्। तथा आप्तवाक्यं शब्दप्रमाणमिति नैयायिकानामपि।

आप्तोदीरितवाक्येषु मालतीमाधवादिषु।
व्यभिचारान्तधुक्तमाप्तत्वस्यानिरुक्तितः।।

स्वकपोलकल्पितमालतीमाधवादिवाक्येषु प्रामाण्यादतिव्याप्तिः। न हि पुरा आप्त एव सन् नाटकनाटकादिप्रबन्धविरचनमात्रेणानाप्तो भवति भवभूतिः। उक्तं चैतदुम्बेकेन यदाप्तोऽपि कस्मैचिदुपदिशति न त्वयाननुभूतार्थविषयं वाक्यं प्रयोक्तव्यम्। यथा अंगुल्यग्रे हस्तयूथशतमास्ते इति। तत्रार्थव्यभिचारः स्फुटः।"

यहां 'भवभूति' के तत्काल बाद 'उम्बक' का प्रयोग करते हुए ऐक्य को पुष्ट किया है। "नयनप्रसादिनी" टीका में प्रत्यग्रूपभगवान् ने "भवभूतिरुम्बेकः। एतदेव ग्रन्थान्तरस्थेन तद्वचनेन सम्मतयति" लिखते हुए ऐक्य को ही पुष्ट किया है।

यदि यह तर्क दिया जाय कि भवभूति का मीमांसा का कोई गन्थ नहीं है, अस्तु वह उम्बेक नहीं हो सकते, तब तो वे तांत्रिक भी नहीं हो पाएंगे, क्योंकि उनकी तन्त्रशास्त्र पर कोई रचना नहीं है, परन्तु अभिनवगुप्त ने तन्त्रालोक में दीक्षाभिषेक के बिना प्रातिभज्ञान न होने की बात का खण्डन कर भवभूति को शास्त्रज्ञ एवं तत्त्वदर्शी माना है-

असदेतदिति प्राहुर्मुनयस्तत्त्वदर्शिनः।
श्रीरामानन्दकल्याणभवभूतिपुरोगमाः।।
तत्राहि त्रीशिकाशास्त्रविवृतौ तेऽभ्यधुर्बुधाः।

इस प्रकार भवभूति के मीमांसा और तन्त्रशास्त्र में ग्रंथ लिखने का अनुमान कर सकते हैं।

(३) डॉ. पी. वी. काणे ने भवभूति के उम्बेक नाम को द्राविड़ माना है। उत्तररामचरित के टीकाकार घनश्याम (१७०० ई.) ने भी इन्हें द्राविड़ ही माना है। दूसरे अंक में वासन्ती को जब यह ज्ञात होता है कि अश्वमेधीय यज्ञ के अश्व के रक्षकों में प्रमुख लक्ष्मणसूनु चन्द्रकेतु है तब वह 'हन्त मातर्जीवामि' (२.७-८) कह उठती है जो द्राविड़ स्त्रियों की स्वभावोक्ति है। यथा-

"मातर्जीवामीति द्राविडस्त्रीस्वभावोक्तिः। एवं वदता कविना निजं द्राविडत्वं प्रकटितमित्यूह्यम्।।" इसी प्रकार 'अकुंकुम' (६/३७) प्रयोग को भी द्राविड़ प्रयोग माना है। मालतीमाधव (३/१२-१३) में लवङ्गिका ने प्रणयक्रीड़ा में कलहाभिनय करने वाली केरलीय सुन्दरियों के लाल कपोलो का भी वर्णन किया है। इससे भवभूति को केरल में मीमांसा का अध्ययन करने और ग्रन्थ लिखने तथा उम्बेक के नाम से प्रसिद्ध होने का अनुमान किया गया है।

उक्त सभी तर्क केवल अनुमेय ही हैं, क्योंकि उम्बेक ने कहीं भी भवभूति का और भवभूति ने कहीं भी उम्बेक का उल्लेख नहीं किया है। दोनों पृथक् थे, एक महाकवि था तो दूसरा मीमांसक। उम्बेक भवभूति से ५०-७५ वर्ष बाद हुआ था। एक दो उक्तियों

से द्राविड़ मानना भी असंगत है। दूसरे प्रदेश की शैली को कवि के लिए जानना संभव था। दक्षिण भारत की यात्रा उन्होंने की थी ऐसा वर्णनों से ज्ञात होता है। उम्बेक द्वारा भवभूति का पद्य समान रुचि का प्रदर्शन हेतु उद्धृत किया गया होगा। श्लोकमात्र को उद्धृत करना ऐक्य का कारण नहीं हो सकता है। तत्त्वप्रदीपिका में एक ही उदाहरण में भवभूति के बाद उम्बेक का उल्लेख ऐक्य का नहीं पार्थक्य का बोधक है।

इससे यही निष्कर्ष हुआ कि भवभूति और उम्बेक दोनों एक नहीं थे।

भवभूति से भिन्न मण्डन, सुरेश्वर और विश्वरूप-

याज्ञवल्क्य स्मृति पर विश्वरूप की बालक्रीडा नाम की टीका है और उस पर 'विभावना' नामक एक व्याख्या है जिसमें विश्वरूप को प्रणाम करते हुए एक पद्य मिलता है-

यत्प्रसादादयं लोको धर्ममार्गस्थितिः सुखी।

भवभूतिसुरेशाख्यं विश्वरूपं प्रणम्य तम्।।[1]

शङ्करदिग्विजय (७-११६) में विद्यारण्य ने मण्डन और उम्बेक को एक माना है, इसी में विश्वरूप और मण्डन को भी एक माना गया है।[2] आनन्दगिरिकृत शंकरदिग्विजय (पृष्ठ २२६-३७) में मण्डन को कुमारिलभट्ट का जीजा कहा गया है। इसमें और इन दोनों को समकालीन माना गया है, परन्तु शंकरदिग्विजय (७-१२०) में कुमारिल की मृत्यु के बाद मण्डन और शंकराचार्य का शास्त्रार्थ हुआ था।

डॉ० पी० वी० काणे ने धर्मशास्त्र का इतिहास भाग ५ में इनका खण्डन किया है।

(१) विश्वरूप ने ही सन्यास दीक्षा के बाद अपना नाम सुरेश्वर रखा था।

(२) मण्डन और उम्बेक दोनों अलग-अलग थे, विश्वरूप भी अलग ही थे। भवभूति भी पृथक् ही थे।

इस प्रकार भवभूति न मण्डन थे, न ही विश्वरूप थे और न ही सुरेश्वर ही थे।

भवभूति का स्थान-

तीनों नाटकों में भवभूति ने दक्षिणापथ में पद्मपुर नाम का अपना नगर बताया है। दक्षिणापथ अर्थात् दक्षिणगामी मार्ग में पद्मपुर नगर था। जगद्धर ने 'विदर्भेषु' पाठकों को प्रक्षिप्त माना है। डॉ. वासुदेव विष्णु मिराशी ने विदर्भ (बरार) के भण्डारा जिले में आमगाँव के पास पद्मपुर गाँव ढूंढ़ लिया है, परन्तु पद्मपुर नामक गाँव न ही नगर था। मालतीमाधव की टीका में जगद्धर ने "पद्मनगर पद्मावती नाम प्रसिद्धौ।" लिखते हुए

---

१. त्रिवेन्द्रम-संस्कृत सीरीज, वालक्रीडा की टीका में गणपति शास्त्री द्वारा उद्धृत।

२. शंकरदिग्विजय- ८/३२-६३

पद्मपुर को पद्मनगर माना और पद्मावती कहा है। मालतीमाधव में पद्मावती का वर्णन विस्तार से मिलता है। चौथे अंक में मकरन्द से बात करता हुआ माधव कहता है-

तदुत्तिष्ठ। वरदासिन्धुसंभेदमवग्राह्य नगरीमेव प्रविशावः।

(उत्थाय परिक्रामतः)

मकरन्द- **अयमसौ महानद्योर्व्यतिकरः।**

नवें अंक में पद्मावती का वर्णन द्रष्टव्य है-

सौदामिनी- **पद्मावती विमलवारिविशालसिन्धु-**
पारा सरित्परिकरच्छलतो विभाति।
उत्तुङ्गसौधसुरमन्दिरगोपुराट्ट
संघट्टपाटितविमुक्तमिवान्तरिक्षम्।।१।।

अपि च- **सैषा विभति लवणा वलितोर्मिपंक्ति-**
रभ्रागमे जनपदप्रमदाय यस्याः।
गोगर्भिणीप्रियनवोलपमालभारि
सेव्योपकण्ठविपिनावलयो विभान्ते।।२।।

(अन्यतो विलोक्य) स एष भगवत्याः सिन्धोर्दारितरसातस्तटप्रपातः।

यत्रत्य एष तुमुलध्वनिरम्बुगर्भ
गम्भीरनूतनघनस्तनितप्रचण्डः।।
पर्यन्तभूधरनिकुञ्जविजृम्भणेन
हेरम्बकण्ठरासितप्रतिमानमेति।।

एताश्चन्दनाश्वकर्णसरलपाटलाप्रायतरुगहनाः परिणतमालूरसुखभयोऽरण्यगिरिभूमयः स्मारयन्ति तरुणकदम्बजम्बूवनावबद्धान्धकारगुरुगिरिनिकुञ्जगुञ्जद्गम्भीरगद्गदोद्गारघोर घोषणगोदारीरीमुखरितविशालमेखलाभुवोदक्षिणारण्यभूधरान्। अयं च मधुमतीसिन्धुसंभेदपावनी भगवान् भवानीपतिरपौरुषेयप्रतिष्ठः सुवर्णबिन्दुरित्याख्यायते (प्रणम्य)

जय देव भुवनभावन जय भगवन्नखिलवरदानिगमनिधे।
जय रुचिरचन्द्रशेखर जय मदनान्तक जयादिगुरो।।४।।

उक्त विस्तृत उल्लेख से पद्मावती के विषय में निम्न जानकारियां मिलती हैं-

(१) सिन्धु और पारा नदी के घिरी हुई पद्मावती नगरी है।

(२) सिन्धु नदी विशाल है और पर्वतों को काटती हुई बहती है।

(३) ये पर्वतीयवन गोदावरी के दण्डकारण्यवर्ती वनों को स्मरण कराते हैं।

(४) इसके पास मधुमती और सिन्धु नदियों का संगम है।

(५) इस संगम पर ही अनादिकालीन शिवमन्दिर है, जो सुवर्णबिन्दु कहा जाता है।

(६) सौदामिनी ने इन्हीं शिव की वन्दना की है।[1] (माधव १/४)

(७) माधव और मकरन्द ने सिन्धु और पारा (वरदा) के संगम में स्नान कर नगर प्रवेश किया था।

(८) समीप में ही छोटी नदी लवणा है जो बरसात में बहुत बढ़ जाती है।

(९) यहां की पहाड़ी में चन्दन अश्वकर्ण, चीड़ (सरल) पाटला (लाललोध) के पेड़ अधिक हैं। खूब कदम्ब और जामुन है। पके बेल महकते हैं।

उक्त वर्णन जैसा वर्णन भवभूति ने अपने तीनों नाटकों में किसी नगर का वर्णन नहीं किया है।

जनरल कनिंघम ने इस पद्मावती की नरवर (Narwar) से (ग्वालियर) पहचान की है। पुरातत्त्व के विद्वान् श्री गर्दे (GARDE) ने खुदाई के बाद पद्मावती को वर्तमान पवाया या पदमपवाया माना है। यह पारा (पार्वती) और सिन्धु के संगम के समीप ही है। यह स्थान ग्वालियर के दक्षिणपूर्व में ४० मील या ६५ कि.मी. दूरी पर है तथा नरवर से उत्तरपूर्व में हैं।

डॉ. पी. वी. काणे ने उत्तररामचरित की भूमिका में डॉ. मिराशी के मतों का खण्डन करते हुए लिखा है-

(१) आमगांव के समीप पदमपुर वाकाटक नरेशों की राजधानी नहीं थी।

(२) विदर्भ के चांदा और भण्डारा जिले छः पद्मपुर गाँवों में एक में खुदाई हुई है अन्य में नहीं। सातवां गाँव भी पद्मपुर हो सकता है अस्तु अभी इसे भवभूति के जन्मस्थान से नहीं जोड़ा जा सकता है।

(३) काणे ने पद्मावती को पद्मपुर तो नहीं माना है परन्तु वे यह भी निश्चित नहीं करते कि कहाँ जन्म हुआ। उनको लगता है कि यह गोदावरी, दण्डकवन आदि के आसपास ही होना चाहिए।

---

१. मालतीमाधव अंक ९, पद्य-१ से ४ तक।

उक्त विवेचन से यही प्रकट होता है कि यदि "दक्षिणापथ" को आधार मान कर कर ही चांदा या भण्डारा को माना जाता है, तो पद्मावती को उनकी सूक्ष्म वर्णनप्रियता से पद्मपुर मान लेने में कोई आपत्ति नहीं होनी चाहिए। एक बात अवश्य है कि गोदावरी, दण्डकारण्ड का भी व्यापक वर्णन उन्होंने किया है, जो रामकथा के वर्णन के प्रसङ्ग में अनिवार्य था, परन्तु मालतीमाधव में ऐसी अनिवार्यता न होने पर भी सुन्दर वर्णन किया जो उन्हें पद्मावती का होना या पद्मपुर से ऐक्य को ही सिद्ध करता है।

भवभूति के नाटकों का मञ्चन किसी रङ्गशाला या राजप्रसाद में न होकर कालप्रियानाथ की यात्राओं में हुआ था, इसका उन्होंने उल्लेख किया है-

(१) अद्य खलु भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रा यामार्यमिश्रान् विज्ञापयामि।। (उत्तररामचरितम्-प्रस्तावना)

(२) भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्रायामार्थमिश्राः समादिशन्ति। (महावीर. प्रस्तावना)

(३) संनिपतिश्च भगवतः कालप्रियानाथस्य यात्राप्रसंगेन नानादिगन्तवास्तव्यो जनः।। (मालतीमाधवप्रस्तावना)

उक्त उल्लेखों से यही ज्ञात होता है कि तीनों नाटक लोकरंजन हेतु मेलों या यात्राओं में खेले गए थे।

(क) नाटकों का अभिनय स्थल कालप्रियानाथ के मंदिर प्राङ्गण से हुआ था।

(ख) यह तीर्थस्थान था और यहां के मेले या यात्रा में जनसम्मर्द आता था।

(ग) मालतीमाधव की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि कालप्रियानाथ की यात्रा में दूर-दूर से लोग आते थे और उनके मनोविनोद के लिए भवभूति ने यथादिवा नाटक की रचना की थी।

"आदिष्टोऽस्मि विद्वत्परिषदा यथा-अद्य त्वयाऽपूर्ववस्तुप्रयोगेः वयं विनोदयितव्या इति।"

यह 'कालाप्रियानाथ' टीकाकारों की दृष्टि में इस प्रकार है-

(१) त्रिपुरारि ने अपनी टीका में इसका अर्थ शिव अर्थात् महाकाल किया है। कालप्रियानाथस्य महाकालस्य शंभोः (मालती प्रस्ता. की त्रिपुरारिकृता टीका)

(२) वीरराघव ने भी शिव अर्थ ही किया है। वे इसे संज्ञा शब्दना. कर "ड्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम् (६/३/६३) सूत्र से प्रिया को प्रिय भी होता है, परन्तु दोनों स्थिति में अर्थ शिव ही होता है।

(३) जगद्धर ने भी कालप्रियानाथ को देवता का नाम ही कहा है। यात्रा के उल्लेख से सूचना मिलती है कि उसमें नृत्य आदि भी होते थे।

कालप्रियनाथस्य तद्देशे देवभेदस्य। यात्राप्रसङ्गे इति कालसूचनम्। (मालती. प्रस्तावना जगद्धरकृत टीका)

(४) वीरराघव ने भी यात्रा को उत्सव माना है।

कालप्रियानाथस्य कालप्रियानामिकाम्बिकापतेः। 'कालप्रियानाथस्य' इति ह्रस्वान्तप्रियशब्दयुक्तः पाठः प्रचुरो दृश्यते। तत्राप्यर्थः पूर्ववत्। क्षेत्रविशेषस्येश्वरमूर्तिविशेषसंज्ञाभूते कालप्रियानाथशब्देड्यापोः संज्ञाछन्दसोर्बहुलम्" इति वैकल्पिक ह्रस्वप्रवृत्तिः। यात्रायामामुत्सवे। (महावीर. प्रस्तावना तथा उत्तर. वीरराघवकृत टीका)

अगर भवभूति के उल्लेख को ही प्रमाण मान लें तो यह कालप्रियानाथ पदमपावाया (उबरा-ग्वालियर) ही है क्योंकि सौदामिनी ने "मधुमती सिन्धु संभेदपावनो भगवान् भवानीपतिरपौरुषेय प्रतिष्ठः सुवर्णबिन्दुरिति" कह कर इसकी पवित्रता और शिवमंदिर की स्वयं प्रतिष्ठा और सुवर्णबिन्दु नाम बता दिया है। इसकी वन्दना भी वही की गयी है। अस्तु कहा जा सकता है कि-

(१) कालप्रियानाथ न तो महाकाल है (उज्जयिनी) न ही विश्वनाथ है (वाराणसी) आगे न सूर्यमन्दिर (कालपी) है, बल्कि यह सुवर्णबिन्दु ही है।

(२) भवभूति ने वर्णन क्रम मं इसकी वन्दना भी कर दी है, ये प्राचीन और अपौरुषेय प्रतिष्ठ भी है।

(३) प्राचीन ग्रन्थों में वर्णित है, इन्हें अखिल वरद और 'निगमनिधि' कहा है।

(४) संभवतः शिवरात्रि में मेला लगता रहा होगा और यह पद्मावती के समीप भी था।

उत्तररामचरितम् के टीकाकार श्री रामचन्द्र बुधेन्द्र ने भी पद्मनगर में ही कालप्रियानाथ का होना कहा है-

कालप्रियानाथनाम पद्मनगरे प्रतिष्ठितो देवमूर्तिविशेषः। तस्य यात्रायामुत्सवे नाटकमिदं भगवतः कालप्रियानाथस्य पुरतः प्रथममभिनीतमासीत्।[1]

डॉ० काणे भी उत्तररामचरित की भूमिका में कालाप्रियतिनाथ को पद्मपुर में ही होना मानते हैं। ये इनका स्थान उज्जैन मानने के पक्ष में हैं।

---

१. उत्तर० रामचन्द्रबुधेन्द्रकृत टीका।

भवभूति ने कहीं भी उज्जयिनी एवं महाकाल की चर्चा नहीं की है, जिससे टीकाकारों एवं विद्वानों का यह मत कल्पनातीत है। मिराशी कालपी के सूर्य मन्दिर को कालप्रियानाथ मानते हैं परन्तु इसका पर्याप्त खण्डन काणे ने किया है।[1] यह कालपी ही कालप्रिय तो है परन्तु कालप्रियनाथ को सूर्य किसी ने नहीं माना है। कालपी कन्नौज से ७५ मील दक्षिण में है। यह यमुना के किनारे स्थित है।

मालतीमाधव की रचना करते समय ऐसा लगता है भवभूति को अपने स्थान का निर्देश करना अभीष्ट था, अस्तु उन्होंने पद्मपुर या पद्मपुरी या पवाया का विशद वर्णन किया है। भौगोलिक स्थिति का भी उल्लेख किया है। प्रकृति के परिवर्तन से अन्य उपलक्षण न भी रह गये हों, परन्तु पार्वती (पारा) लवणा (नून) एवं सिन्धु (सिन्ध) नदी आज भी पद्मपवाया को ही पद्मपुर या पद्मपुरी सिद्ध कराने में कोई भी विघ्न उपस्थित नहीं करती है। प्राकृतिक प्रमाणों की अनदेखी करते हुए अन्याविध तर्कों के आश्रय में अन्य स्थानों के भवभूति से जोड़ लेना प्रतीत नहीं होता है।

इनकी रचनाओं के विषय में भी अन्यान्य मतों की उपस्थापना विद्वानों ने करने का प्रयास किया है परन्तु सर्वमान्य रचनाएं तीन ही हैं जिनका क्रम भी निश्चित है-

(१) महावीरचरितम् (२) मालतीमाधवम् (३) उत्तररामचरितम्

यहाँ पर सर्वप्रथम उत्तररामचरितम् का विवेचन किया गया है, जो इनकी सर्वश्रेष्ठ रचना है, इसकी पूरक रचना जो पहली रचना है महावीरचरितम् का वर्णन किया है। अन्त में मालतीमाधव का विवेचन किया गया है। इनका विवेचन साङ्गोपाङ्ग एवं सम्पूर्ण नहीं है, परन्तु एक दृष्टि प्रस्तुत करने का प्रयास किया गया है।

उत्तररामचरितम्-

उत्तररामचरितम् भवभूति की प्रतिभा का चरम और परम निकष है। भवभूति का मानस श्रीराम के लोकोत्तरचरित्र को लोकरञ्जन के लिए उड़ेल कर रख देता है। उनकी पदवाक्यप्रमाणज्ञता, उनका चरितानुराग, उनका निजी चिन्तन सबका मणिकाञ्चन संयोग लोकहित के लिए 'उत्तररामचरितम्' बनकर रंगमंच में अभिनीत होता है। वे प्रायः सीता में अपने को समाहित करते हैं और राम में स्वयं को डुबा कर कभी मूर्च्छित और कभी स्फूर्त भी करते रहते हैं, वर्णन के समय उनकी लेखनी रुकती नहीं, बंधती नहीं, बल्कि बहती रहती है, भावों को प्रसारित करती रहती है।

भवभूति अपने पात्रों से समरस होते रहते हैं और उनके अन्तस् में उठने वाले अन्तर्द्वन्द्वों को चित्रित करने में कभी भी कार्पण्य नहीं प्रकट करते हैं। वे सीता के मन को

---

१. यो गाधिपुरस्य दक्षिणः स कालप्रियस्योत्तर इति। (काव्यमीमांसा १७ अध्याय)

पढ़ते हैं, राम के मन को समझते हैं, जनक के मन को बूझते हैं और लव कुश तथा चन्द्रकेतु के मन को भी बिम्बित कर देते हैं। स्त्री नायक, शिशु या किसी भी पात्र में परकाय प्रवेश कर लेना और उदारता पूर्वक उनका अन्तस् समाज के सामने रच देना भवभूति की निजी विशेषता है। वे राम के विषय में जानते हैं कि वे आश्वास, स्नेह और भक्ति के आयतन है, वे यह भी जानते हैं कि उन्हें देखने पर विरोध भी विश्रान्त हो जाता है, परन्तु वे अपने राम के लोक में उतार लाते हैं, जनता के लिए परिवार को त्याग देते हैं, पत्नी को त्याग देते जो 'गेहलक्ष्मी' थी, जो आंखों की अमृतवर्तिका थी। यही भवभूति के राम उन्हें महाकवि मानते हैं, तड़पते हैं इनके राम, पर खुलकर रो भी नहीं पाते हैं- "स्वयं कृत्वा त्यागं विलपनविनोदोऽप्यसुलभः"।

उत्तररामचरित में वर्णित प्रेम वासनामूलक नहीं है वह स्नेहसार है, प्रेम का सत्त्वोद्रक सा है जो आध्यात्मिक ही है यह वाह्य कारणों पर आश्रित न होकर आन्तरिक कारणों से उद्भूत होता है। इसका उपलक्षण श्रीराम का छठे अंक में कहा गया वचन है।

रामः-तत्किमयमेकपद एव मे दुःखविश्रामं ददात्युपस्नेहयति च कुतोऽपि निमित्तादन्तरात्मानम्। अथवा स्नेहश्च निमित्तसव्यवेसव्यपेक्षश्च इति विप्रतिषिद्धमेतत्।

व्यतिषजति पदार्थान्तरः कोऽपि हेतु
र्न खलु बहिरुपाधीन् प्रीतयः संश्रयन्ते।
विकसति हि पतङ्गस्योदये पुण्डरीकं
द्रवति च हिमरश्मावुद्गते चन्द्रकान्तः।। (उत्तर. ६/१२)

यद्यपि करुणरस को ही रस मानना उत्तररामचरितम् में भवभूति का अभिमत है। परन्तु पूर्वस्मृति के रूप में शृंगार के भी अनूठे क्षेत्र सदा स्मरणीय हैं, उसमें कभी भी कामचेष्टाएं नहीं दिखती हैं। वे प्रेम क सात्त्विक वर्णनों में सर्वश्रेष्ठ कवि हैं।

किमपि किमपि मन्दं मन्दमासात्तियोगा-
दविरलितकपोलं जल्पतोरःक्रमेण।
अशिथिलपरिरम्भव्यापृतैकैकदोष्णो-
रविदितगतयामा रात्रिरेव व्यरंसीत्।। (उ त्तर. १/२७)

सीताविरह में इनका करुण रस पुटपाक सा तपाता है, चित्त का विकार तोड़ तोड़कर फैलाता रहता है। रामायण के पात्रों और कथानकों को लेकर भवभूति ने ऐसा रूपक रच दिया कि सबको कहना पड़ता है कि "उत्तरे रामचरिते भवभूतिर्विशिष्यते" अनेकत्र यह भी बताते हैं कि वे एक पदवाक्यप्रमाणज्ञ है, कहीं वे अपने को दार्शनिक तो

कहीं वैयाकरण और कहीं वैदिक भी बन जाते हैं। परन्तु वह सब लोक के लिए नियोजित हो जाता है।

भवभूति ने अपनी नाटकीयता का परिचय देते हुए प्रथम, तृतीय एवं सातवें अङ्क में क्रमशः चित्रवीथी अङ्क, छाया अङ्क और गर्भाङ्क का प्रयोग किया है, जो अद्वितीय है।

पहले अङ्क में चित्रवीथी चित्रकार अर्जुन के द्वारा सजायी गयी है। इसकी सूचना लक्ष्मण ने राम को दी है। उनके द्वारा सीता का मनोविनोदन करना कहा गया, परन्तु कहां तक के चित्र है यह पूछने पर अग्निशुद्धि तक राम को बताया गया, तभी उनका अन्तस् मुखरित हो उठता है-

रामः - **शान्तं पापम् (ससान्त्ववचनम्)**

उत्पत्तिपरिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः।

तीर्थोदकञ्च च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिमर्हतः।। (१/१३)

दिव्यास्त्रों की वन्दना के समय श्री राम ने सीता को उनकी वन्दना के लिए कहा और साथ ही 'सर्वथेदानीं त्वत्प्रसूतिमुपस्थास्यन्ति' कह दिया जिसमें उनकी दिव्यता सूचित होने लगती है।

इसी प्रकार गंगादर्शन के समय गंगामहिमा वर्णन के साथ कह देते हैं क "सा त्वमम्व स्नुषायामरुन्धतीव सीतायां शिवानुध्यानपरा भव"

इसी में पताकास्थानक का भी सन्निवेश कर दिया गया है। राम ने सोती हुई सीता को देखकर कहा-

इयं गेहे लक्ष्मीरियममृतवर्तिर्नयनयो-

रसावस्याः स्पर्शो वपुषि बहुलश्चन्दनरसः।

अयं बाहुः कण्ठे शिगीरमसृणो मौक्तिकसरः

किमस्या न प्रेयो यदि परमसह्यस्तु विरहः।। (१/३८)

यह समाप्त होते ही प्रतीहारी का प्रवेश होता है और वह कहता है "देव उपस्थितः"।

इस प्रसङ्ग में दर्शकों को यही समझ में आता है कि परम असहनीय विरह आ गया है, परन्तु श्री राम को यह ज्ञात हो जाता है उनके प्रश्न की सूचना मिली है कि गुप्तचर दुर्मुख उपस्थित हुआ है।

भवभूति ने छाया अङ्क की प्रस्तुति इसीलिए की है, क्योंकि इसमें राम के अन्तस् में विद्यमान दुःख को उन्मुक्त प्रकट करने का अवसर मिलता है; इसके साथ ही वे स्वयं को अपने राजधर्म को और इस लोक को उलाहना भी दे पाते हैं। इसमें सीता को राम को देख पा रही हैं परन्तु राम सीता को नहीं देख पाते हैं। इससे सीता का अपमानदग्ध हृदय राम करुण दशा को समझ पाता है और द्रवित होकर राम की ओर उन्मुख हो पाता है। बारह वर्षों के अपमान से कहीं अधिक श्रीराम को आंखों से ओझल कर पाने में उन्हें (सीता को) दुःख मिलता है।

इसी प्रकार सातवें अङ्क में भवभूति ने 'गर्भाङ्क' का विनियोजन किया हैं उसमें अद्भुत एवं करुण रस का अद्भुत संयोजन कौशल का संविधान हुआ है। अलग-अलग बिखरे हुए कथासूत्रों को एकत्र करने का यहाँ प्रसंग उपस्थित किया गया है और पूर्ववर्ती घटनाओं की तर्कपूर्ण संगति और परिणति दिखाई गयी है। इससे अयोध्या की प्रजा को बड़ी दृढ़ता से उनके ऊपर की ग्लानि का भी बोध हो जाता है और उसका यह प्रभाव होता है कि सीता को धरती में समाने की जरूरत नहीं पड़ती है। ऐसा लगा कि अयोध्या के लोग ही धरती में गड़े जा रहे हैं। चौथे अंक में जनक का स्वागत कथन भी भवभूति के नाट्य गौरव को प्रतिष्ठित करता है। बालकों के स्वभाव का वर्णन भी अत्यन्त कौतुकपूर्ण एवं आकर्षक लगता है।

सूक्ष्म परिहास की श्लाघनीय योजना भी भवभूति की विशेषता है।[1] चित्रवीथी दर्शन में सीता को चित्र दिखाते समय उर्मिला का चित्र छोड़ देते हैं परन्तु सीता ने कह दिया कि "वत्स! अयम् अपरा का"। यह सुन लक्ष्मण का लज्जित हो जाना अत्यन्त शिष्ट भारतीय परिहास का अवसर है।

(२) चौथे अंक में ही अरुन्धती, जनक और कौशल्या के साथ लव बात कर रहे हैं और घबराये हुए वटु जन आ जाते हैं और लव को बताते हैं कि जनपदों में 'अश्व' नाम से सुना गया प्राणी हमने देखा है तब लव ने कहा कि 'पशुशास्त्र' में अश्व पढ़ा है और युद्धशास्त्र में भी पढ़ा गया है उसका स्वरूप पूंछने पर वटुओं ने कहा-

पश्चान्पुच्छं वहति विपुलं तच्च धूनोत्यजस्रं
दीर्घग्रीवः स भवति खुरास्तस्य चत्वार एव।
शष्पाण्यत्ति प्रकिरति शकृत्पिण्डकानाम्रमात्रान्
किं व्याख्यानैर्व्रजति स पुनर्दूरमेह्येहि यामः।। (उ. ४/२६)

1.

बटुओं के आग्रह पर लव जाने के लिए शिष्टाचारपूर्वक बड़ों के समान कहता है- लवः (सकौतुकोपरोधविनयम्) आर्याः, पश्यत। एभिर्नीतोऽस्ति। (इति त्वरितं परिक्रामति)

घोड़ा देखने की उत्सुकता, साथियों का अनुरोध और सयाने के प्रति विनम्रता से कहता है आर्यगण! देखिए। ये मुझे खींचे ले जा रहे हैं। आगे भी लव ने कथ मूर्खों तुमने अश्वमेधकाण्ड नहीं पढ़ा है क्या?

लवः-ननु मूर्खाः, पठितमेव हि युष्माभिरपि तत्काण्डम्। किं न पश्यथ प्रत्येकं शतसंख्याः कवचिनो दण्डिनो निषङ्गिणश्च रक्षितारः।

(३) चौथे अङ्क में वसिष्ठ के आने पर दण्डायन एवं सौधातकि का संवाद पर्याप्त व्यंग्य की सूचना देता है। दण्डायन ने बताया कि शृष्यशृंग के आश्रम से वसिष्ठ जी अरुन्धती और दशरथ की भार्याओं को लेकर आश्रम में आए हैं तब सौधातकि कहता है कि मुझे लगता है कि कोई सिंह की तरह है यह है। तब दण्डायन ने कहा कि ऐसा क्यों कह रहे हो, तब वह कहता है कि उनके आने से ही बेचारी कपिला कल्याणी दो वर्ष की बछिया मड़मड़ करती हुयी मारी गयी। तब दण्डायन ने कहा कि मांसयुक्त मधुपर्क के लिए श्रोत्रिय अतिथि के लिए सद्गृहस्थ बछिया या बड़ा बैल पकाते हैं।

"सौधातकिः- मया पुनर्ज्ञातं कोऽपि व्याघ्र इव एष इति।

दण्डायनः - आः किमुक्तं भवति।

सौधातकिः - येन परापतितेनैव सा वराकी कपिला कल्याणि बलात्कृत्य मडमडायिता।।

दण्डायन- समांसो मधुपर्क इत्याम्नायं बहुमन्यमानाः श्रोत्रियाभ्यागताय वत्सतरीं महोक्षं वा पचन्ति गृहमेधिनः। तं हि धर्मं धर्मसूत्रकाराः समामनान्ति"

आगे भी वह कहता है कि तुम हार गये। क्योंकि वसिष्ठ के आने पर तो बछियामारी गयी, परन्तु जनक और वाल्मीकि के लिए दही और मधु से ही मधुपर्क किया गया और बछिया छोड़ दी गयी। तब दण्डायन समझाता है कि जनक ने मांस छोड़ दिया है। वे वानप्रस्थी हैं।

"सौधातकिः-येनागतेषु वसिष्ठमिश्रेषु वत्सतरी विशंसिता। अथैद प्रत्यागतस्य राजर्षेर्जनकस्य भगवता वाल्मीकिना दधिमधुभ्यामेव निवर्तितो मधुपर्कः। वत्सतरी पुनर्विसर्जिता।

दण्डायनः- अनिवृत्तमांसानामेवं कल्पं व्याहरन्ति केचित्। निवृत्तमांसस्तु तत्र भवान् जनकः।।"

इसमें सौधातकि लोकभाषा में बात करता है, वह लोक का प्रतिनिधि है। दण्डायन संस्कृत में बात कर रहा है। लोक हिंसा को प्रशस्त नहीं मानता है, वह तो वसिष्ठ को भी सिंह कहता है क्योंकि वह हिंसक एवं मांसभक्षी होता है।

यह प्रसङ्ग भवभूति ने जान बूझकर उपस्थित किया है, भले वे मांसभक्षी रहे हों, परन्तु राजपुरोहित वसिष्ठ के लिए यह प्रसङ्ग दृश्यकाव्य में वर्णन करना क्यों उचित समझा। यह तत्कालीन समाज का भी चित्र नहीं है और न ही तत्कालीन दृश्यका निरूपण ही है। संभवतः राजधर्म के लोकरंजक पक्ष की शिक्षा देने वाले वसिष्ठ पर चोट करना भी लक्ष्य रहा होगा।

(४) नाटक का अन्त हो रहा है। लक्ष्मण सीता को राम के मिलने पर प्रणाम करने के समय कहत हैं "अयं निर्लज्जो लक्ष्मणो प्रणमति" परन्तु सीता कहती है कि "वत्स! ईदृशस्त्वं चिरंजीवी भव।"

यह उ त्तर सीता का विनोदवाक्य ही नहीं है, अपितु मधुर उलाहना भी है। इस प्रकार सूक्ष्म हास-परिहास, आरोप और सहज वर्णन बिना विदूषक के ही भवभूति ने प्रस्तुत कर दिया है।

भवभूति की यही विशेषता है कि प्रायः संघर्षों से जीने के स्वभाव वाले हैं, अन्तर्द्वन्द्व एवं अन्तर्विरोध में भी वे सुखी और गंभीर बने रहते हैं उन्हें विदूषक की आवश्यकता नहीं होती है। जब चाहते है व्यंग्यविनोद कर लेते हैं, कभी हास परिहास में भी ध्यान देते हैं और प्रायः गांभीर्य मण्डित ही रहते हैं। श्रीराम के गंभीर चरित के निरूपण में उन्हें आत्मीय सुख मिलता है और लोक की परवाह बिना किए रुलाते हैं, करुणार्णव में डूबा है और बता देते हैं कि कोई समानधर्मा कभी पैदा होगा, जो सच्चे अर्थों में भवभूति की पहचान कर पाएगा।

उत्तररामचरित में न आकाशभाषित है न ही जनान्तिक। अपवारित का प्रयोग पहले और चौथे अंक में एक एक बार किया गया है। स्वगतकथन सभी अंकों में है। 'कर्णे' का प्रयोग प्रथम अंक में दो बार हुआ है। एक बार दूसरे अंक में भी प्रयोग है। इनके प्रयोग में नाटकीयता में चमत्कार हुआ है।

भवभूति ने अपनी रचना में कभी कथा परिवर्तन से, कभी अन्विति विनियोजन में कभी पात्रों की संकल्पना में तो कभी पात्रों के स्वभाव की प्रस्तुति में नवीनता लाने का प्रयास किया है।

(१) अनावश्यक विस्तार-

भवभूति ने अपने नाटकों में अनावश्यक या अत्यधिक विस्तारपूर्वक वर्णन किया है। उ.रा.च. के दूसरे, चौथे और पांचवे अंकों में बहुत से अंश पृथक् कर देने से भी नाटक की हानि नहीं होती है। उत्तररामचरितम् में महावीरचरितम् एवं मालतीमाधवम् के अनेक वर्णनात्मक पद्यों की पुनरावृत्ति भी संगत नहीं लगती।

(२) अप्रचलित प्रयोग-

भवभूति के नाटकों में समासबहुलपदावली, दीर्घवाक्यरचना, अप्रचलित शब्दप्रयोगशीलता से नाटकीयता शिथिल एवं भावबोध सबाध हो गया है। मौकुलि, प्रचलाकी, कौशिक, कुकूल, डाकर, कर्कन्धू आदि शब्दों का प्रयोग कोशग्रन्थों में ही अधिक मिलता है।

(३) अनुचित प्रयोग-

श्री राम एक धीरोदात्त नायक है परन्तु वे सीता के लिए फूट फूट कर रोते बिलखते हैं, जो उनकी मर्यादा के प्रतिकूलता है। लव ने नाटक के नायक की आलोचना की है, छठे अंक में कुश ने भी वाल्मीकि रामायण के सीता राम का प्रेमवर्णन, लव का शृंगार संकेत भी अमर्यादित ही लगता है। राजर्षि जनक की स्थितप्रज्ञता छूट सी गयी, वे तो श्रीराम को शाप को देने हु तत्पर हो जाते हैं।

करुण का बार बार विवरण रस परिपाक में बाधा बन जाता है राम का बार-बार मूर्च्छित होना और सीता के स्पर्श से चेतना आना सब बनावटी और अधिक सा लगता है।

(४) अन्वितिभङ्ग-

बारह वर्ष की कालावधि में अभिषेक, जामातृयज्ञ, सीतात्याग, शम्बूकवध, वासन्ती प्रसंग, अश्वमेध,. युद्ध, वाल्मीकि आश्रम में पुनर्मिलन सबको इकट्ठा करने से कार्य अन्विति का भङ्ग होता है।

इस प्रकार भवभूति के इस महत्वपूर्ण नाटक में भी विसंगतियां मिल ही जाती हैं। प्रयोग सौष्ठव के स्थान पर पाण्डित्य प्रदर्शन एवं वर्णन स्वातंत्र्य में उलझे हुए हैं।

भवभूति के अध्येताओं ने नाट्यशास्त्रीय अध्ययन के आलोक में उत्तररामचरितम् में करुणरस की स्थिति का अपने अपने ढंग से निरूपण किया है। वस्तुतः रामकथा के अन्तस् में ही करुणा है। 'मा निषाद प्रतिष्ठां' यह श्लोक भी करुणा से ही फूट पड़ा था। राम का समग्र जीवन करुणा से समन्वित है। उत्तररामचरितम् में भवभूति ने ऐसे राम का चरित्र गढ़ा है जो व्यक्ति भी है राजा भी है। वे ऊपर से तो सुखी दिखते है परन्तु भीतर से वे करुणा से सराबोर है।

नाटकारंभ में ही सूत्रधार एवं नट की बातचीत होती है। सूत्रधार "यथा स्त्रीणां तथा साधुत्वे दुर्जनो जनः" कहता हुआ दोष और 'दुर्जन जन' का कथन कर देता है तथा नट भी प्रकारान्तर से "अति दुर्जन इति वक्तव्यम्" ही नहीं कहता है, अपितु आगे भी जोड़ता है-

देव्यामपि हि वैदेह्यां सापवादो यतो जनः।

रक्षोगृहस्थितमूलमाग्निशुद्धो त्वनिश्चयः।। (१/६)

इस प्रकार दुर्जन प्रयोग से उत्तररामचरितम् का श्रीगणेश कर दिया गया। अभिषेक के बाद शृंगी ऋषि के यज्ञ में सभी माताएं गुरु वसिष्ठ एवं अरुन्धती के निमन्त्रण में चले गए हैं और जनक भी चले गए है। अब केवल राम बचे हैं और सीता को जनक के जाने से दुःख है, वे थकी भी है, अतः श्रीराम अन्तःपुर चले जाते हैं। श्रीराम ने सीता को समझाया "ते हि गुरवो न शक्नुवन्ति विहातु मस्मान्" परन्तु वे कहती हैं 'किन्तु सन्तापकारिणो बन्धुजनविप्रयोगा भवन्ति'। ये दोनों वाक्य मानो उत्तररामचरितम् का सूत्रोपदेश कर रहे हैं। यहीं 'राम' को 'भद्र' लगाने के कारण भी शंका होती है। अष्टावक्रने यज्ञ से आकर सन्देश दिया जिसमें दोहद पूर्ति का निर्देश भी दिया था। वसिष्ठ ने सीता को 'वीरप्रसविनी' का आशीष दिया है और राम को 'प्रजानुरञ्जन' का उपदेश दिया है। यही उनके मुख से निकल गया-

स्नेहं दया च सौख्यं च यदि या जानकीमपि।

आराधनाय लोकस्य मुञ्चतो नास्ति मे व्यथा।। (उ.च. १/१२)

यहीं पर लक्ष्मण ने चित्रदर्शन हेतु रामसीता को बुलाया। राम ने चित्र कहाँ तक अंकित है? पूछा और लक्ष्मण ने अग्निपरीक्षापर्यन्त कहा, तब श्रीराम ने कहा-

उत्पत्ति परिपूतायाः किमस्याः पावनान्तरैः।

तीर्थोदकञ्च वह्निश्च नान्यतः शुद्धिवर्हतः।। उ.च. १/११)

यह सारे संवाद श्रीराम के अन्तस् की करुणा को ही व्यक्त कर रहे हैं। राम का "देवि देवयजनसंभवे, प्रसीद। समं ते जीवितावधिः प्रवादः" कथन भी उसी पीड़ा का द्योतित करता है। चित्रदर्शन में पम्पासरोवर देखते ही राम का रोना सूचित हुआ है वे लक्ष्मण को कहते भी हैं कि 'रुको' "प्रत्यावृत्तः पुनरिव स मे जानकी विप्रयोगः"। राम की छाती में ही श्रान्त एवं सोती हुई सीता के विरह को असह्य कहते ही दुर्मुख का आना उसी स्नेह को वियोग में बदल देता है। करुण साक्षात् उपस्थित हो जाती है। यह दुर्मुख भी सीतानिर्वासन का वृत्त जानकर बहुत दुःखी हो जाता है। रोता हुआ दुर्मुख कान में लोकापवाद सुनाता है तब राम मूर्च्छित हो जाते हैं।

रामः-अहह। अतितीव्रोऽयं वाग्वज्रः। (इति मूर्च्छित)

दुर्मुख आश्वस्त करता है, परन्तु श्रीराम का करुण रस यहीं से शुरु हो जाता है। पागल कुत्ते के विष के समान फैलने वाले इस वृत्त को सुनकर वे करुणा से भर जाते हैं फिर भी लोकाराधन को ही श्रेष्ठ माना। व्यक्ति राम ने अनेक करुणाभरित बाते कही

परन्तु सीता के लिए भी वे निजी बात कह रहे थे।

त्वया जगन्ति पुण्यानि त्वय्यपुण्या जनोक्तयः।

नाथवन्तस्त्वया लोकास्त्वनाथा दिपतस्यसे।। (उ.च. १/४३)

राजा राम सीता त्याग की बात कह दी एष नूतनो राजा रामः समाज्ञापयति। (कर्णे) एवमेवम्।

यह सुनकर दुर्मुख को भी दुःख होता है। वे विलखते है ओ कभी "हा कष्टमृ, बीभत्सकर्मा नृशंसोऽस्मि संवृत्तः" कहते हैं कभी छल से, पाली हुई चिड़िया को कसाई के हाथ देने की बात करते हैं, वे अपने को पातकी कहते हैं। वे सीता के बिना अपने को अशरण ही मानते हैं- हन्त! हन्त! सम्प्रति विपर्यस्तो जीवलोकः। अद्यावसितं जीवितप्रयोजनं रामस्य। शून्यमधुना जीर्णारण्यं जगत्। असारः संसारः। कष्टप्रायं शरीरम्। अशरणोऽस्म। किं करोमि। का गतिः। अथवा-

दुःखसंवेदनायैव रामे चैतन्यमागतम्।

मर्मोपघातिभिः प्राणैर्वज्रकीलायितं हृदि।। १/४७

अन्त में वे सीता के चरणों को शिर में रखकर कहते हैं, यह तुम्हारे चरणों का अन्तिम स्पर्श हैं और रो पड़ते हैं।

चित्रदर्शन के समय वन दर्शन की इच्छा सीता ने की थी और लक्ष्मण रथ लेकर आते है उसी में बैठा भी लेते है।

श्रीराम का करुण भाव उनकी धीरोदात्तता को चूरचूर कर डालता है। नदियां करुणापूरित होती हैं, वन में झंकृति हो जाती है, पर्वत व्याकुल हो जाते है। सर्व सहा धरित्री क्षुब्ध हो जाते है, परमहंस जनक का भाव स्खलित हो जाता है। श्रीराम की आत्मग्लानि, वासन्ती का कठोर एवं दृढ़ उपालम्भ, जनक का उन्माद, घर के दो बालकों का परस्पर युद्ध। अपना पुत्र द्वारा ही समीक्षाबोध, सब कुछ भवभूति के करुण को परिपुट करने में सहायक है। ये विषय अनुचित रहे भी हों, तो करुणा के सहायक होने से उचित लगने लगते हैं। यह करुण दैवकृत नहीं है, जहां निरूपायता और असहायता बनी रहती है। यहाँ तो पति राम ने राजा राम बनकर स्वयं निर्णय लिया है। इसमें न तो गुरूसिष्ठ की राय है न ही कौशल्या है न तो अरुन्धती का नाम है। यह सब स्वयं राजाराम का लोकाराधन है जिसमें स्नेह, दया, सुख, किंवा जानकी भी बलि दे दिए गए हैं। ऐसा लगता है भवभूति ने बारहवर्षीय यज्ञ में सबको भेजकर राम को अकेले सब कुछ सहने और भोगने का अवसर मिल गया हो। राजा राम निर्णय सुना देते हैं, पर व्यक्ति राम, पति राम रोते हैं, विलखते हैं, तपड़ते हैं, मूर्च्छित होते हैं और वज्र का भी हृदय फाड़ देते हैं, पत्थर को भी रुला देते हैं।

'अपि ग्रावारोदित्यपि दलति वज्रस्य हृदयम्।'

दूरसे अङ्क में जनस्थान की देवता वासन्ती और निममान्तविद्या पढ़ने वाल्मीकि आश्रम से अगस्त्याश्रम में आने वाली आत्रेयी का संवाद है। यहाँ भी गोदावरी को देखकर आत्रेयी सीता का स्मरण करती हैं और वासन्ती को सारा समाचार ज्ञात हो जाता है और आत्रेयी ने कहा कि यज्ञ से वापस आने पर अरुन्धती ने सीताविहीन अयोध्या में प्रवेश करने से मना कर दिया। कौशल्यादि ने भी समर्थन किया और सब वाल्मीकि के आश्रम चली गयी। स्वर्णमयी सीता के साथ राम का अश्वमेघ करना भी आत्रेयी ने वासन्ती का बताया इसी ने यज्ञाश्व को चन्द्रकेतु के साथ छोड़ना, शम्बूकवधप्रसङ्ग भी बताया।

वासन्ती को सुख मिला कि राम पुनः दण्डकारण्य आएंगे। यहाँ भी एकाकी की करुण फूट पड़ती है। तलवार चलाते समय अपने दाहिने हाथ को राम ने कहा-

रे हस्त दक्षिण मृतस्य शिशोर्द्विजस्य
जीवातवे विसृज शूद्रमुनौ कृपाणम्।
रामस्य बाहुरसि निर्भरगर्भखिन्न-
सीताविदवासनपटो करुणा कुतस्ते।। (उ.च. २/१०)

दण्डकारण्य है, ऐसा जानकर श्रीराम पुनः रो देते हैं और सीता के स्नेह को याद करते हैं-

त्वया सह निवत्स्यामि वनेषु मधुगन्धिषु।
इतीवारमतेवासौ स्नेहस्तस्याः स तादृशः।। (उ.च. २/१८)

पञ्चवटी देखकर राम पुनः शोकोद्विग्न हो जाते है।।

तीसरा अंक मुरला और तमसा दो नदियों के संवाद से आरंभ होता है। मुरला ने तमसा को लोपामुद्रा के द्वारा गोदावरी को सन्देश भेजा है जो इस प्रकार है कि

अनिर्भिन्नो गभीरत्वादन्तर्गूढ़धनव्यथः।
पुटपाकप्रतीकाशो रामस्य करुणो रसः।। ३/१

यह भी राम की करुणा की तीव्रता का ही विवेचन है। आग्रह है कि राम की दुःखमग्नदशा में अपनी सीकरमिश्रित वायु से उन्हें श्रमापनोदन करती रहे। तमसा ने यह भी सूचित किया कि जब प्रसववेदना की असहनीयता से सीता व्याकुल हुई, तो स्वयं गंगा में कूद पड़ती है। वहीं दो बालक होते हैं जिन्हें गंगा और पृथ्वी ने रसातल ले जाकर रक्षा की।

सीता देवी प्राप्तप्रसववदेनमतिदुःखसंवेगादात्मानं गङ्गाप्रवाहे निक्षिप्तवती.... तदैव तत्र दारकद्वयं च प्रसूता भगवतीभ्यां पृथ्वीभागीरथीभ्यामभ्युपपन्ना रसातलं च नीता। (उ.च. तीसरा अंक)

मुरत्वा ने 'पुनरस्य शोकमात्रद्वितीयस्य पञ्चवटीप्रवेशो महाननर्थ इति' कहकर दण्डकारण्ड में शम्बूकवध के निमित्त आने वाले राम को सीता ही आश्वस्त कर सकेगी। तमसा ही बताती है कि गंगा ने सीता को लव कुश की बारहवीं वर्षगांठ में सूर्योपासना हेतु कहा और उनके प्रभाव से वनदेवता भी नहीं देख सकेंगी और सुरक्षा हेतु तमसा ही साथ में रहेगी। गोदावरी की दह या अगाध सरोवर से सीता निकलती है, जिन्हें विरहव्यथा की मूर्ति कहा गया है-

परिपाण्डुदुर्बलकपोलसमुन्दरं
दधती विलोलकबरीकमाननम्।
करुणस्य मूर्तिरथवा शरीरिणी
विरहव्यथेव वनमेति जानकी।। (उ.च. ३/४)

सीता पुष्प चयन करने में लगी है और कोई हाथी-हथिनी जल क्रीडा करने लगा, बड़ा हाथी आकर उसे मारने लगा। सीता के मुख से अकस्मात् निकलता है "आर्यपुत्र त्रायस्व त्रायस्व" इसके नेपथ्य से ही आवाज आती है, जो राम की है, सीता तमसा का आलिंगन करके मूर्च्छित हो जाती है, फिर से नेपथ्य से ध्वनि आती है-

अनेन पञ्चवटी दर्शनेन-

"अन्तर्लीनस्य दुःखाग्नेरद्योद्दामं ज्वलिष्यतः।
उत्पीड इव धूमस्य मोहः प्रागावृणेति माम्।। (उ.च. ३/६)

हा प्रिये जानकि।

यह नाटकीयता का उत्तम निदर्शन है कि सीता को कोई देख नहीं पाता है परन्तु वे देख रही है। मूर्च्छित राम को उनका स्पर्श संजीवन औषधि रस सा है पर राम नहीं देख पाते है। सीता कहती हैं कि उनके हृदय को मैं और मेरे हृदय को वे ही जानते है। वहाँ के हस्तिशावक, मयूर, मृगो देखकर राम पुनः रोने लगते है।। वासन्ती के साथ संवाद में राम ने कहा कि "लोको न मृष्यतीति"। अर्थात् सीता का घर रहना लोगों को सहन नही है। वासन्ती के पूछने पर "किमभवद् विपिने हरिणीदृशः, कथय नाथ कथं बत मन्यसे" राम ने कहा 'क्रव्यादिभरङ्गलतिका नियतं विलुप्ता" कहा। 'हा प्रिये जानकि क्वासि" राम ने कहा। श्रीराम विलखते रोते हैं, तब सीता ने कहा कि "हा धिक् हाधिक् अन्य इवार्यपुत्रः

प्रमुक्तकण्ठं प्ररुदितो भवति।" यही नहीं तमसा काभी यही मत है कि रोना ही ठीक है। "पूरोत्पीडितशोकस्य परीवाहः प्रतिक्रिया शोकक्षोमे च हृदये प्रलापैरेव धार्यते।।

इदं विश्वं पाल्यं विविधवदिभियुक्तेन मनसा
प्रियाशोको जीवं कुसुममिवधर्मो ग्लपयति।
स्वयं कृत्वा त्यागं विलपनविनोदोऽप्यसुलभः
तदद्याप्युच्छ्वासो भवति ननु लाभो हि रुदितम्। (उ.च. ३/३०)

यह राम स्वयं इतने दुःखी है कि भाग्य की उलाहना देते लगते हैं कि हृदय शोक के आवेग से फट रहा है, परन्तु दो टुकड़ों में विदीर्ण नहीं हो रहा है, शरीर व्याकुल होकर मूर्च्छाग्रस्त तो होता है, परन्तु चेतनारहित नहीं होता अन्तस् का ताप शरीर को जलाता तो है, परन्तु भस्मीभूत नहीं करता है, भाग्य मर्मस्थल को बेधता तो है परन्तु जीवन नहीं नष्ट करता है।

रामः- कष्टं भो कष्टम्।

दलति हृदयं शोकोद्वेगात् द्विधा तु न भिद्यते
वहति विकलः कायो मोहं न मुञ्चति चेतनाम्।
ज्वलयति तनूमन्तर्दाहः करोति न भस्मसात्
प्रहरति विधिर्मर्मच्छेदी न कृन्तति जीवितम्।। (उ.च. ३/३१)

ये राम मानव है, पति है, दाम्पत्य के आदर्श हैं, राजा होकर उन्होंने नागरिकों और ग्रामीणों के कहने पर सीता को छोड़ दिया है वे ही राजा के भगवान् होते हैं और उस समय दुःखी भी नहीं हुए। अब वे राम असहाय हैं रोते हैं ओर सभी को खुश रहने का कहते हुए व्यङ्ग्य कर रहे हैं।

न किल भवतां देव्याः स्थाने गृहेऽभिमतं ततः
तृणमिव वने शून्ये त्यक्ता न चाप्यनुशोचिता।
चिरपरिचितास्ते ते भावास्तथा द्रवयन्ति मा-
मिदमशरणैरद्यास्माभिः प्रसीदत रुद्यते।। (उ.च. ३/३२)

बार-बार राम को सीता की याद आती है वे सोचते हैं कि सीता के बिना बारह वर्ष तो बीत गए उसका नाम भी मिटने लगा है परन्तु मैं अभी भी जीवित हूँ। वे वासन्ती के सामने रोते, विलखते हैं, फूट पड़ते हैं और मर्मस्थानों को काटने वाली हृदय में धंसी हुई शोकरूपी लौह कील के समान, विषभरे दांतों के समान सीता शोक को कहते हैं, यह दृश्य पूरे सहृदयों को तन्मयीभाव एवं साधरणीकरण में डुबाता है, रुलाता है और करुणरस की सीमा को समझाता भी है-

रामः-अयि वासन्ति, मया खलु,

यथा तिरश्चीनमलातशल्यं प्रत्युप्तमन्तः सविषश्च हन्त

तथैव तीव्रो हृदि शोकशङ्कुर्मर्माणि कृन्तन्नापि किं न सोढः।। (उ.च. ३/३४)

यह गाढ़ दाम्पत्य स्नेह राम और सीता दोनों में हृदय की अगाध गहराइयों तक धंस गया है दोनों वियोगार्णव में डूब से गए हैं उन्हें एक दूसरे के अतिरिक्त कुछ भी समझना समझाना कठिन लगता है। दोनों एक दूसरे की याद कर करके मूर्च्छित हो जाते हैं राम को वासन्ती और सीता को तमसा आश्वस्त करती है। सीता को राम सुनते तो हैं, परन्तु देख नहीं पाते हैं। वैसे हैं वे रोते हैं और कहते हैं-

रामः-अयि चण्डि जानकि! इतस्ततो दृश्यस इव नानुकम्पसे

हा हा देवि! स्फुटित हृदयं ध्वंसते देहबन्धः

शून्यं मन्ये जगदविरतज्वा लमन्तर्ज्वलामि।

सीदन्नन्धे तमसि विधुरो मज्जतीवान्तरात्मा

विष्वङ्मोहः स्थगयति कथं मन्दभाग्यः करोति।। (उ.च. ३/३८)

(इति मूर्च्छति)

क्रोध करने वाली सीते तुम इधर उधर दिखती सी हो पर कृपा नहीं कर रही हो! हाय सीते मेरा हृदय फट रहा है, शरीर की संधि (जोड़) ढीले पर गए हैं। संसार सूना सा हो गया है। मैं भीतर ही लपटों से जला जा रहा हूँ, दुःखी और व्याकुल मेरी अन्तरात्मा घोर अन्धकार में लगता है, डूबती जा रही है, मुझे चारों ओर से मूर्च्छा घेर रही है, मैं मन्दभागी/अभागा अब क्या करूँ। कह कर मूर्च्छित हो जाते हैं।

राम की मूर्च्छा सीता के स्पर्श से टूटती है ओर वे पुनः सीता के लिए तरसते हैं, तड़पते हैं और विलापते भी हैं, वासन्ती समझाती है, वे सह नहीं पाते हैं। सीता मन में उन दृश्यों को याद करती है, प्रलाप करती है, और कभी राम के 'निरवधिरयं तु प्रविलयः' सुनकर सीता 'हा हतास्मि' कहती है। राम 'तत्र प्रिये क्वासि मे' कह तड़पते रहते हैं, वासन्ती से आज्ञा लेकर वे जाने लगते हैं और सीता तमसा से लिपट कर मूर्च्छित हो जाती है। राम तो स्वर्णप्रतिमा को देखकर भी रोते हैं 'तत्रापि तावद् वाष्पदिग्धं चक्षुर्विनोदयामि।' सीता की मूर्ति पर ही इतना अनुराग देख उन्हें सन्तोष मिलता है अन्तः तमसा के मुंह से निकल पड़ता है-

एको रसः करुण एव निमित्तभेदाद्
भिन्नः पृथक् पृथगिवाश्रयते विवर्तान्।
आवर्तबुदबुद्तरङ्गमयान् विकारा-
नम्भो यथ सलिलमेव तु तत्समस्तम्।। (उ.. ३/४७)

चौथे अंक में दुःखी जनक का प्रसंग है, कौशल्या दुःखी है, अरुन्धती दुःखी है, सर्वत्र करुण का ही साम्राज्य है। यहाँ कौशल्या भी मूर्च्छित होती है, जनक में सीता निर्वासन के वृत्त से दुःखी है, करुणामग्न है। लव का प्रवेशहोता है और परिप्रसङ्ग में सीता निर्वासन की बात सुनते ही तीनों पुनः दुःखाकुल हो जाते हैं।

जनक बेटी सीता के निर्वासन की बात सुनते हैं। क्रोध से जलने लगते हैं और कहते हैं कि समय आ गया है कि क्रोध के प्रज्ज्वलित होने का। चाप से था शाप की अग्नि से सब कुछ भस्म कर दूँ। इस पर अरुन्धती और कौसल्या जनक का रोष शान्त करने के लिये कहती हैं कि राम तो पुत्रवत् हैं और नागरिकों में अधिकतर ब्राह्मण, स्त्री, बूढ़े, बालक एवं विकलांग हैं। अतः जनक चाप एवं शाप दोनों से विरत हो जाते हैं। यहां ज्ञानी, वैरागी जनक भी विवेक खो देते हैं जिसका कारण केवल सीता के प्रति कारुण्यभाव है। इस पञ्चम अङ्क में लव एवं चन्द्रकेतु का संवाद तथा अश्वमेघ के अश्व का प्रसंग है। छठे अंक में कुश का प्रसंग और श्रीराम का सम्मुखीकरण है। परिचय में ही रामसीता विषयक स्नेह के पद्य लवकुश सुना देते हैं जिसे सुनते ही श्रीराम पुनः स्मृतिकारुण्य में डूबने लगते हैं, जीना उठे ठीक नहीं लगता, कहने लगते है-

"तथाप्येष प्राणः स्फुरति न तु पापो विरमति" (६/३३ उ.च.)

चित्रकूट का पद्य भी लव ने सुनाया और राम करुणा से भर जाते हैं- निश्चेष्ट होकर शोक पूर्वक कहने लगते हैं कि पत्नी के न रहने पर सारा संसार जीर्णशीर्ण वन जैसा लगता है और हृदय तुषाग्नि में अपने को जलाने लगता है।

चिरं ध्यात्वा ध्यात्वा निहित इव निर्माय पुरतः
प्रवासे चाश्वासं न खलु न करोति प्रियजनः।
जगज्जीर्णारण्यं भवति च कलत्रे ह्युपरते
कुकूलानां राशौ तदनु हृदयं पच्यत इव।। (उ.च. ६/३८)

नेपथ्य में जनक के होने की सूचना से उन्हें लगा कि मैं हजारों टुकड़ों से क्यों नहीं टूट गया अथव राम के लिए क्या दुष्कर नहीं है?

धीर्ये किं सहस्रधाऽहमथवा रामेण किं दुष्करम्।। (उ.च. ६/४४)

सातवें अङ्क में अप्सराओं से रामायण का अभिनय कराया गया जिसमें सीता और राम का मिलन तथा सीता की पवित्रता सिद्ध की गयी है। इस नाटक में राम बार-बार करुणार्णव में गोता लगाते दिखते हैं। कुलदेवता गंगा और मां पृथ्वी ने सीता पर कृपा की। जब धरती ने सीता को राम से कोई सम्बन्ध नहीं करने को कहा, तब भागीरथी ने पृथ्वी को कहा कि आप तो संसार रूप हैं, रघुवंशियों का सारी प्रजा को प्रसन्न रखना ही धर्म है, अस्तु, वह राम क्या करता।

घोरं लोके विततमयशो या च वह्नौ विशुद्धिः
लङ्काद्वीपे कथमिव जनस्तामिह श्रद्दधातु।
इक्ष्वाकूणां कुलधनमिदं यत्समाराधमीयः
कृत्स्नो लोकस्तदिह विषमे किं स वत्सः करोतु।। (उ.च. ७/६)

इसमें भी अनेक करुण संवलित प्रसंग प्रकट किए गए हैं। इस प्रकार करुण के समय में डूबे हुए राम का अन्तस् संवेदनाओं की सम-सामयिक तरंगो से उद्वेलित सा होता रहता है परन्तु धीरोदात्त होकर भी, सीता विरह से झुलसे हुए होकर भी वे विलखते हैं, विलपते हैं, तड़पते हैं, रोते हैं, टूटते हैं पर अपनी सीता के लिए ही।

सम्पूर्ण नाटक का संविधानक करुणा विगलित है। पंचवटी के शम्बूक का वध कर राम वाल्मीकि आश्रम में आते हैं, वे राजा की जगह मनुष्य हो बात करते हैं, जब कुश से बात करते करते रामायण का श्लोक पढ़वाते हैं- कुश ने कहा-

प्रिया तु सीता रामस्य दाराः पितृकृता इति।
गुणै रूपगुणैश्चापि प्रीतिर्भूयोऽप्यवर्धत।। (उ.च. ६/३१)

यह सुन राम करुणा में डूबते उतराते है। फिर लव ने भी एक श्लोक पढ़ दिया-

त्वदर्थमिह विन्यस्तः शिलापट्टोऽयमग्रतः।
यस्यायमभितः पुष्पैः प्रवृष्ट इव केशरः।। (उ.च. ६/३६)

अपरिचित बच्चों से भवभूति ने ये पद्य पढ़वा दिया, राम की करुणा और बढ़ती जाती है। सातवे अंक के राम राजा नहीं पारिवारिक सदस्य हैं, कभी वे चकित होते हैं, कभी लजाते हैं, कभी दुःखी होते हैं, तो कभी अनुतप्त हो जाते हैं। बारह वर्ष में राम का मिलना बच्चों से बातचीत करा सकता था।

राम ने गृहस्थ की पराधीनता तथा वन में 'तदपि च पराधीनमिव मिलन कहा है। वन जीवन में व्यक्ति की निष्ठा का मूल्य है, स्वाधीनता हैं सीता और राम को वन ही सर्वप्रिय है, दोनों के शुद्ध एवं पवित्र प्रेम का साक्षी वन ही तो है, जगत् की आत्मा और

उसकी अमृता कला का साहचर्य वन के ही भाग्य में है। अनन्त प्रसङ्ग, अनगिनत क्षण, असंख्य संवाद वन से जुड़े है।। इसमें साक्षी वनदेवता, वनराजि, नदियां, पर्वत, वन्य पशु एवं पक्षी सभी ही वन में पहुंचते ही "वज्रादपि कठोर" राम 'मृदूनि कुसुमादपि' हो जाते हैं। उनका चिर विस्मृत सख्य, स्नेह और वात्सल्य सब जाग जाता है। राम का दुःख अपूर्व है उसे बांटने के लिए गंगा, गोदावरी, तमसा, मुरला, वनदेवता, वासन्ती, सभी तत्पर है, ऐसा लगता है ये सब अयोध्या के जनपदों और नागरिकों के अकरुण आचरण से पृथक् मानवीय संवेदनाओं के मूर्तिमान् प्रतीक हैं और भवभूति इसी के पक्षपाती हैं। ऐसा लगता है स्नेह, दया वैराग्य, और धर्मपत्नी को लोकाराधन के लिए त्याग देना भवभूति को ठीक नहीं लगता। वे रघुवंश के लोकाराधन की रक्षा तो करते हैं परन्तु तिल तिल घुटते रहते हैं। लोगों की वाहवाही के लिए व्यक्ति राम और राजा राम का द्वन्द्व चित्रित करने में भवभूति सिद्धहस्त हैं। न तो वे निराशावादी है, न ही दुःखवादी है, न ही भोगवादी हैं, परन्तु वे करुणावादी है, इसके बिना मनुष्य मनुष्य ही कहां बन पाता है।

राम के पूर्व कालीन वियोग के सन्दर्भों को चित्रवीथी में आ गया है, भवभूति यहीं सीता को वनविहार की इच्छा प्रकट करना बताते है, शिरोड वगाहा, पूतजला गंगा में नहाना चाहती है, यहीं पर वे भ्रान्त होकर राम की बातें की तकिया लगाकर सो जाती है। यह सुख अनिर्वचनीय था। मूर्च्छा या दिव्य स्वप्न या जागरण, नशा है या विकार वे कुछ समझ नहीं पाते है। सीतापवाद के वे अलर्कविष (कुत्ते के काटने का विष) कहते जो बादलों के देखकर उमड़ता है। सीता से विरह का दुःख वर्षा के बादलों को देखकर उमड़ आया.। शङ्का जीवन को काला कर देती है। सब में भरोसा जगाने के लिए राम ने अग्निपरीक्षा भी ली। ये न तो अग्निपरीक्षा ही चाहते थे और न ही निर्वासन पर उन्हें अच्छा लगता है। वे स्वयं का ही दोषी मानते हैं-

अपूर्वकर्मचाण्डालमयि मुग्धे विमुञ्च माम्।
श्रितासि चन्दनभ्रान्त्या दुर्विपाकं विषद्रुमम्।। (उ.च. १/४६)

राम अपने गुरुजनों और मित्रों के लिए कहते हैं कि मैंने सबको धोखा दे दिया है, मेरे सीतानिर्वासन कार्य में न किसी की सहमति है और न ही उसकी कोई संभावना ही हे। मैं तो आसन्नप्रसवा गृह लक्ष्मी जो पूर्ण विश्वास से मेरी ही छाती में पड़ी सो रही थी उसे क्रव्यादों की इच्छा पर राक्षसों की बलि के लिए घोर जंगल में फेंक रहा हूँ। इस आवेग के क्षण में लवणासुर का प्रसंग नाटकी की दृष्टि से सर्वथा उचित है। समाचार सुनते ही वे राजा बनकर रोते हुए चले जाते हैं।

दूसरे अङ्क में शम्बूक ने वन के सरल, पवित्र एवं कोमल जीव का जब वर्णन किया तब राम का जो घाव ऊपर से सूखता दिखता था वह नया हो गया ऐसा लगा है दूर से फैलने वाला जहर शीघ्र ही फैलने लगा है।

विरादूवेगारम्भे प्रसृत इव तीव्रो विषरसः
कुतश्चित्संवेगात् प्रचता इव शल्यस्य शकलः।
व्रणो रूढग्रन्थिः स्फुटित इव हृन्मर्मणि पुनः
पुरा भूतः शोकः विकलयति मां नूतन इव।। उ.च. २२

राम ने दण्डकारण्य का दर्शन किया उन्हें लगा कि उनका जीवन अब नीरस हा गया है, जहाँ रस वर्षा थी वहाँ रेत ही रेत हो गया, जहाँ छाया थी वह खाली पन है, जहाँ रमणीयता थी वही अब संसार की झंझटें आ गयी हैं, दुनियां परायी सी हो गयी है, केवल पहाड़ ही यथा स्थान है। इस अंक का नाटकीय प्रयोग यही लगता है कि वन का परुष एवं कोमल पक्ष उनके जीवन के वर्तमान और अतीत का व्यंजक है। तीसरे अङ्क की नाटकीयता भी विचित्र है तमसा और सीता दिखती नहीं है, सुनी जाती हैं, अनुभव की जाती है परन्तु राम और वासन्ती प्रत्यक्ष है, राम बार-बार तीन बार मूर्च्छित होते रहते हैं, सीता का स्पर्श उन्हे सचेत कर देता है। जब-जब यह मोहावस्था होती है अन्य प्रसंगों में राम को आकृष्ट कर नाटक को आगे बढ़ा दिया जाता है, परन्तु फिर करुणा संवलित प्रसंगों में राम ओर सीता डूब से जाते हैं। चौथे अंक में वाल्मीकि का आश्रम जनक के आवेश, कौशल्या का जनक के सम्मुख आने का संकोच, राम का गुरुजनों के सामने उपस्थित होने का नैतिक भय, अयोध्यावासियों के प्रवाद को सच मानने की ग्लानि सबको एक साथ समाहित कर देना चाहता है। ज्ञान और धैर्य के सेतु को करुणा की सरिता ने ढहा दिया और जनक क्षोभ और क्रोध से घुमड़ने लगते हैं। भोली सीता के साथ हुआ अकरुण व्यवहार मर्मान्तक है। जनक के सामने कौशल्या नहीं आ रही थी, अरुन्धती के समझाने पर जनक उनसे सीधा बात नहीं करते कञ्चुकी से पूछा प्रजापालक राम की मां सकुशल तो है, वह सफाई देने लगा। वे क्रोध में भर गए, कहा अग्नि कौन है मेरी सन्तान को शुद्ध करने वाला। अरुन्धती ने कहा कि अग्नि शुद्ध सीता कहना ही सीता का अपमान है। कौशल्या मूर्च्छित हो गयी। इसी प्रसंग में दृश्य बदल जाता है, लव आते हैं। तीनों को सीताराम याद आ जाते हैं पर वे जानते नहीं कि सीता सपुत्रा है। लव ने रामायण अधूरा ही सुनाया। जनक शापातुर होते हैं, परन्तु संभल जाते हैं। अन्य बच्चे लव को खींच ले गए घोड़ा दिखाने। यहीं पर जब लव ने सीता त्याग तक रामायण का पढ़ना सुनाया तो कौशल्या का दुःख और जनक का क्रोध उमड़ आता है। जनक तो धनुष चढ़ाकर शापोन्मुख होने लगते है। और कौशल्या काँप उठती है अरुन्धती के समझने पर जनक शान्त होते हैं। यह अन्तर्द्वन्द्व बताकर भवभूति ने कौतुक पैदा कर दिया है लव को प्रकट करते हुए। पाँचवे अङ्क में यही निरन्तर रघुवंशी बालकों के शौर्य में बदलती है अश्वघोष के घोड़े के कारण। चन्द्रकेतु सीतानिर्वासन से टूटे हुए राम का वर्णन किया पर लव ने आलोचना कर दी जिससे युद्धारंभ हो जाता है। सुमन्त जृम्भकास्त्र के प्रयोग से लव पर

संदेह करने लगते हैं। छठा अंक तो राम, लव, चन्द्रकेतु, कुश, जनक, अरुन्धती, वसिष्ठ और माताएं मिलती हैं परन्तु सूचना पर राम कहते हैं कि मेरे करुणा व्यर्थ है मैं तो रघु और जनक दोनों कुल के मंगल के लिए निष्करुण बना था। सातवां अंक गर्भाङ्क है, यह नाटक में नाटक है। यहां ओर भी करुणा भरी है। लोक मंगल के लिए एवं लोकरंजन के लिए दोनों का त्याग हृदयविदारक भी है, हृदयावर्जक भी है।

भवभूति के उत्तररामचरितम् का अंगीरस तो करुण है परन्तु यथास्थान हास्य, वीर, भयानक, रौद्र और अद्भुत का विनियोग भी किया गया है। वाल्मीकि के क्रौञ्चवध से भवभूति बहुत प्रभावित है और करुणा की संवेदना के मुखरित होने की उद्भावना ही शोक को श्लोक में बदल देती है। भवभूति ने उत्तरजीवन को नाटकीयता देने में वज्रनय कठोर अनुशासनप्रिय राम को जनता के लिए राष्ट्र के लिए सीता का निर्वासन करना पड़ता है। वे इसका निर्णय स्वयं लेते हैं और स्वयं सब अनुभव भी करते हैं, ये सब सीता के सगोत्री से है, क्योंकि वे धरती पुत्री है। वन में आकर श्री राम ने कभी गोदावरी, कभी वासन्ती, कभी तमसा, कभी हस्ति शावक, कभी मयूर, कभी जटायु तो कभी वन प्रान्त को शिलाएं पर्वत एवं वनस्पतियों को देखा और अधीर हो जाते हैं, रोते विलखते हैं, चेतना में संवेदना भर लेते हैं, मूर्च्छित होते हैं और सचेत होने पर कह देते हैं- 'दुःखसेवदनायव रामे चैतन्यमागतम्।' यह सब कुछ उसी सीता के लिए रचा गया है जिसका स्पर्श पाकर वे पुनः रोमाञ्चित होते हैं, जागते हैं और बोधमय होने लगते हैं।

ऐसा प्रतीत होता है कि भवभूति को कृत्रिम नागर जीवन के प्रति वितृष्णा भरी है, वह छिपे हुए यातना भरे जीवन के प्रति आक्रोश प्रकट करते हैं तथा मनुष्य के अन्तस् में सधी, बिंधी प्रीति को सहजता से उन्मीलित करते हैं। दुराव से भरा हुआ लोक व्यक्ति निष्ठा को महत्त्व देने में कृपण बना रहता है। एक व्यक्ति दूसरे के लिए कितने गहरे प्रेम को संजो कर रखता है, यह भवभूति ने समझा है, वे कभी कभी वैदिक भाषा की लोकोत्तर छटा को भी उतार देते हैं कभी दीर्घसमासों और कभी तो संवादमयी शैली चित्रित कर देते हैं। कभी तो सरल भाषा "त्वं जीवितं त्वमसि मे हृदयम्" में लिखते हुए संस्कृत को लोक मे उतार लाते हैं। दाम्पत्य का अगाध प्रेम मेघदूत के सन्देश में प्रकट हुआ है, परन्तु वह भी प्रकृति की गोद में ही पला बढ़ा है। यहाँ भवभूति ने भी इसकी चरमावस्था सहज सरल वनवासी जीवन में ही गुंफित किया है। मनुष्य को मनुष्यता की शिक्षा देवों से नहीं, ऋषियों से भी नहीं, अपितु मनुष्य से ही द्रवीभूत होकर पैदा हुई श्लोक बनी, फूट पड़ी और बह निकली। राम का सीता निर्वासन रूपी दारुण कर्म स्नेहात्मक तन्तु से आन्तरिक तन्तुओं के खिले हुए भावों का अन्तर्गूढघनव्यथ से हिला देने में झकझोरने में पर्याप्त था। भारतीय चिन्तन में मानवीय स्नेह और ममता का यही मूल्य है और यह भवभूति को ही ज्ञात था यही उनकी नाटकीयता, कवित्व पटुता का परम औ चरम भी था।

जहां भवभूति ने कठिन शब्दावली का प्रयोग किया है वहां तो विद्वान् शब्दों के सहारे अर्थ और भावों को पकड़ भी लेते हैं परन्तु जहां सरलता और संप्रेषणशील शब्दावली प्रयुक्त है वहां भाव या रस में डूबा हुआ सहृदय गंभीरता की भावाभिव्यंजना से स्वयं को पृथक् नही करना चाहता। दो दो अर्थों वाले संकेत, नाटकीय जोड़-तोड़, गर्भाङ्क और छाया अङ्क की योजना, दो दो भूमिकाओं की संवेदन योजना सब भवभूति की अनूठ कल्पनाएं और प्रयोगपारव उन्हें अन्य नाटककारों से विशेष स्थान देती है। इनकी नाटकीवत का यह दृष्टिकोण रामकथा के सन्दर्भ में अन्य किसी संस्कृत नाटककार में दिखाई नहीं देता। उनके नेता और उनकी कथावस्तु वशवर्ती है। करुणरस के लिए कथा मुड़ती रहती है, पात्र उसी के अनुसार अभिनय करते जाते है। वाल्मीकि के करुण के प्रति आक्रोश को रामायण में बदल दिया। उसी करुणा को पकड़कर भवभूति ने यह नाटक रच दिया। ये राम के लोकोत्तरचरित का निरूपण ही नहीं करती है, वे तो राजा राम से मानवीय मूल्यों का उद्घोष करते दिखते हैं। मानवीय मल्यों को राम ने स्वयं दुःख में उतरकर जिया और आचरण से ही उनकी व्याख्या करते रहे। विश्वास की रक्षा करते हुए मानव मूल्य की रक्षा की। निष्कपट जीवन और विश्वासमय जीवन का रमणीय चित्र संस्कृत साहित्य में भवभूति जैसा किसी ने नहीं किया है। आत्मीयता के चित्र की सोदाहरण व्याख्या में भवभूति अद्वितीय हैं-

अद्वैतं सुखदुःखयोरनुगतं सर्वास्ववस्यासु यद्
विश्रामो हृदयस्य यत्र जरसा यस्मिन्नहार्यो रसः।
कालेनावरणात्यात्परिणते यत्प्रेमसारे स्थितं
भद्रं तस्य सुमानुषस्य कथमप्येकं हि तत्प्रार्थ्यते।। - उ.च. १/३६
अकिंचिदपि कुर्वाणः सौख्यैर्दुःखान्यपोहति।
तत्तस्य किमपि द्रव्यं यो हि यस्य प्रियो जनः।। - उ.च.६/५

यह आत्मीयता का उद्रेक ही स्नेह का सार है। यह ऐसा सारतत्त्व है जिसे सारा रस उद्वेलित है, परस्पर के दुराव, उपचार क तलछट में हटा गए और जब भी अपघात होता है तभी मानवीय करुणा प्रकट होती है। इसी करुणा के प्रवाह में ज्ञान, वैराग्य, राग द्वेष, क्रोध आदि सभी बह जाते हैं, इसी से मानवीय चित्र का क्षालन हो जाता है। भवभूति इसी से अन्त में भरतवाक्य में कह भी देते हैं-

पाप्मभ्यश्च पुनाति वर्धयति च श्रेयांसि सेयं कथा।
माङ्गल्या च मनोहरा च जगतो मातेव मेगङ्गेव च।।

महावीरचरितम्

महावीरचरित की प्रधान घटनाएं संवाद क माध्यम से रामायण कथा का निरूपण करती हैं। रामायण की कथा को नाटकीय प्रभाव के लिए परिवर्तन कर दिया गया है। रावण राम का विरोध ही नहीं करता उन्हें नष्ट करने हेतु भी षडयन्त्र में लगा रहता है। यही अभिप्राय प्रस्तावना में प्रकट होता है। विश्वामित्र के आश्रम में राम और लक्ष्मण जनक कन्याएं सीता एवं उर्मिला को देखते हैं और अनुरक्त हो जाते है। रावण दूत द्वारा सीता की मांग करता है। यहीं राम ने राक्षसी ताड़का को परास्त कर दिया। विश्वामित्र ने राम को दिव्यास्त्र प्रदान कर दिया। शिव का धनुष भी मंगाया जिसे मोड़ने पर सीता मिलेगी। धनुष तोड़ा गया तो रावण का दूत क्रोध में आकर चला जाता है। दूसरे अङ्क में रावण का मित्र माल्यवान् शूर्पणखा से मिलकर अपमान का बदला लेने के लिए षडयंत्र रचता है। परशुराम का मिला जिससे उपाय सूझता है। परशुराम को शिवधनुष तोड़ने के बदले के लिए रावण उकसाता है। तब परशुराम स्वभवानुसार मिथिला पहुंच जाते हैं। राम को अपमानित कर द्वन्द्व युद्ध के लिए आह्वान करते हैं। तीसरा अंक आक्षेप प्रत्याक्षेप से प्रारम्भ होता है। वसिष्ठ, विश्वामित्र, शतानन्द, जनक और दशरथ में श्रीराम और परशुराम के संघर्ष को बचाने का निष्फल प्रयास किया है। चौथे अंक में यह ज्ञात हुआ कि परशुराम हार गए हैं और विजयी राम की वन्दना की है। माल्यवन्त दशरथ की मुंह लगी पत्नी कैकेयी की दासी मन्थरा का वेष धारण कर शूर्पणखा को उस परिवार की एकता भंग करने का दायित्व देता है। जब राम अपनी ससुराल मिथिला में रहते हैं तभी कल्पित मंथरा कैकेयी का पत्र लेकर आती है जिसमें दशरथ के दो वरदानों का उल्लेख है, जो कि भरत को युवराज बनाने और राम को वनगमन करने का है। भरत और उनके मामा युधाजित् ने दशरथ को रामराज्याभिषेक यथाशीघ्र करने को कहते हैं वे भी तैयार थे परन्तु राम ने कैकेयी की मांग का निवेदन कर स्वयं सीता व लक्ष्मण के साथ वन जाने का भी आग्रह करते हैं। भरत को रुकने का आदेश मिलता है और वे राम का प्रतिनिधि स्वयं को मानते हैं। पांचवे अंक में वृद्ध गीध जटायु और संपाति का संवाद मिलता है जिससे यह सूचना मिलती है कि राम ने राक्षसों का संहार कर दिया है। संपाति चिन्तित हो जाता है और जटायु को राम की रक्षा हेतु आदेशित करता है। जटायु तत्पर रहता है, पर रावण द्वारा चोरी की गयी सीता की रक्षा में रावण के द्वारा मारा जाता है। शोकनिमग्न राम और लक्ष्मण वन में भटकते हैं और वन में एक तपस्वी की रक्षा करते हैं। इसी से सूचना मिलती है कि लंका से निर्वासित रावण का भाई विभीषण ऋष्यमूक पर राम से मिलना चाहता है, वहीं पर स्वर्गमार्ग से जाती हुई सीता ने अपने आभूषण भी गिराया है। माल्यवन्त द्वारा प्रेरित हुआ वात उसे नहीं मिलने देता है। राम ने अपने शत्रु वाली का वध किया और मरता हुआ वह सुग्रीव को सीतान्वेषण में राम की सहायता करने को कहता है इस अंग

योजना में असफल निराश हताश माल्यवन्त दिखता है। उसे पता चला कि हनुमान् ने लंका जला दी है। रावण सीता पर मुग्ध रहता है उसे मन्दोदरी ने भावी शत्रु के विषय में निष्फल अग्रिम चेतावनी दे देती है। अविश्वासी रावण अशिष्ट भी हो जाता है। अंगद रावण के पास सीता के लौटाने और लक्ष्मण को प्रणाम करने की शर्तें लेकर आते हैं, परन्तु रावण ने अस्वीकार कर दिया तथा दूत का वध करना चाहता है जो कि बच निकलता है। उसके बार रावण युद्ध के लिए गया है जिसका सविस्तार निरूपण इन्द्र और चित्ररथ करते हैं क्योंकि वे देवरूप हैं और आकाश से उसका प्रेषण कर सकते हैं। वीरत्व के चमत्कारिक कार्य रावण द्वारा किए जाते हैं परन्तु हनुमान् ने राम को और उनकी सेना को अमृत से पुनः जीवित कर दिया। अन्ततः रावण अपने वीर पुत्र मेघनाद के पास ही गिर पड़ता है। सातवें अंक से अधिष्ठाता देवताओं द्वारा प्रतिनिहित लंका और अलका आपस में संवेदनाएं प्रकट करती है। ज्ञात होता है कि सीता ने अग्नि परीक्षा द्वारा अपना पातिव्रत्य प्रमाणिता कर दिया है, और श्रीराम की सेना को विजय मिल चुकी है। वे आकाश मार्ग से उत्तर की ओर यात्रा करते हैं वहाँ उनका स्वागत दशरथ की विधवाओं और राम के भाइयों द्वारा अभिननदन कियाजाता है। विश्वामित्र ने राम का अभिषेक किया है।

महावीरचरित में भवभूति का कथावस्तु को अन्विति देने का प्रयत्न प्रशंसनीय है जो कि सफल नहीं कहा जा सकता है। इनकी महत्वपूर्ण त्रुटि यही है कि व्यापार के स्थान पर लम्बी वक्तृताओं से घटनाएं चित्रित हुई हैं। माल्यवंत ओर शूर्पणखा, जटायु और संपाति, इन्द्र और चित्ररथ तथा अलका और लंका के बीच हुए संवादों में नाटकीयता सर्वथा अभाव है। लौटते समय विमान से देखे गए साहसिक कार्यों के स्थानों का शब्दचित्र स्थानों की संकल्पना में असमर्थ है। परस्पर चुनौती देते हुए राम और परशुराम का दो अंकों तक वर्णित संवाद खेदजनक है। इसमें व्यापार भी सबाध हो जाता है तथा नाटककार की काव्यशास्त्रीय प्रतिभा की न्यूनता भी स्पष्ट हो जाती है। राम के प्रतिनिधि रूप में भरत का कार्य तथा वाली सुग्रीव का दृश्य दोनों प्रभावोत्पादक हैं। कुमंत्रणा से प्रेरित वालि राम का विरोधी हो गया है और शत्रु के रूप में उत्कट अभिरुचि प्रकटित होती है। संघ निरोध और विश्वासघात का सर्वथा लोप सा दिखता है। चरित्र चित्रण में निरंतर शिथिलता है। राम और सीता दोनों नीरसता से भरे हुए हैं उनके गुण कहीं भी दृश्यमान नहीं हो रहे हैं। सामान्यतया से ऊपर न ही रावण उठ पाया है और न ही माल्यवंत। यह रामकथा की अवधि १४ वर्षों की है। रामायणी कथा पर ही यह नाटक गुंफित हुआ है 'सा च रामाश्रया कथा' (१/४) से यही प्रकट हुआ है। भवभूति को राम के प्रति विशेष आकर्षण दिखता है-

प्राचेतसो मुनिवृष प्रथमः कवीनां
यत् पावनं रघुपतेः प्रणिनाय वृत्तम्।
भक्तस्य तस्य समरंसत मेऽपि वाचः
सत् सुप्रसन्नमनसः कृतिनो भजन्ताम्।। - म.च. १/७

नाटकीयता की दृष्टि से भवभूति ने प्रचलित रामकथा में कुछ परिवर्तन कर दिया है। रामायण की कथा में सीताराम विवाह तो मिथिला में ही सम्पन्न होता है परन्तु भवभूति ने उसे विश्वामित्र के आश्रम में ही पहले तो राम-सीता का और लक्ष्मण उर्मिला का मिलन कराया बाद में धनुर्भङ्ग एवं स्वयंवर की योजना कर दी है ताड़का, सुबाहु एवं मारीच के वध के प्रसङ्ग ने सीता उर्मिला में क्रमशः राम एवं लक्ष्मण के प्रति प्रीति को प्रगाढ़ कर दिया है। भवभूति का रावण स्वयंवर में नहीं आता अपितु पुरोहित सर्वमान्य को भेजकर सीता विवाह का प्रस्ताव करता है। जो कि उसके उद्दाम दर्प का सूचक है। यह सर्वत्र रावण को अपने सामने घटित दृश्यों को रावण तक पहुंचाना है जैसे कई राक्षसों का वध, राम विवाह, कुमारों का जृम्भकास्त्र की प्राप्ति, रावण के प्रस्ताव की अवज्ञा आदि। इन्हीं से रावण और राम के युद्ध का वीज वपन हो जाता है। इसी प्रकार माल्यवान् से परमशैव परशुराम को राष्ट्रहित में उत्तेजित कराया गया। वही रावण के हित में बदले की भावना से षडयन्त्र रचता रहता है परशुराम की कथा तीन अंकों तक चली है, रोषमूर्ति पशुराम को जन, शतानन्द, दशरथ, विश्वामित्र सबने रोषपूर्ण वचन कहे हें परन्तु विश्वामित्र के मुख से शतानन्द के लिए भवभूति ने सन्देश भी दिया है-

न तस्य राष्ट्रं व्यथते न रिष्यति न जर्यति।
त्वं विद्वान् ब्राह्मणो यस्य राष्ट्रगोपः पुरोहितः।। ३/१८

यह माल्यवान् पराशुराम की योजना में असफल हो जाता है तब शूर्पणखा को मन्थरा के शरीर में प्रवेश करा देता है और वनवास की योजना से कैकेयी के अपयशको बचा लेता है। परन्तु विदेह नगर में ही राज्याभिषेक का प्रस्तावन, वनगमन, स्थान समय और कार्य की दृष्टि से उचित नहीं लगता है। इन्होंने बालिवध के आक्षेप का भी परिहार करना चाहा है।

यही माल्यवान् रावण की मित्रता की सौगन्ध दिलाकर वाली के रामवध के लिए उत्तेजित करता है। मैत्री धर्म के कारण वालि के चरित्र की कवि ने उत्कर्ष प्रदान किया है और वही वालिवध से राम मुक्त रहते हैं। वालि सुग्रीव युद्ध का भी परिहार हो जाता है तथा मरते समय राम का वालि ने स्वयं सुग्रीव को सौंप दिया है।

ये परिवर्तन सुचिन्तित एवं सुनियोजित है। काव्यशैली की नाटकीयता में ढालने के लिए भवभूति के ये प्रयास है। राम के लोकोत्तर चरित और वीररस की संसिद्धि के लिए भवभूति के प्रयास है।

महावीरचरितम् में भवभूति ने रामकथा को अपने ढंग से प्रस्तुत करना चाहा है और अन्यान्य अश्रुतपूर्व एवं अप्रचलित प्रयोग भी किया है। सारी घटना के मूल में राम-रावण संघर्ष ही है, इसी के लिए आदि से अन्त तक नाटक की समस्त घटनाएं प्रत्यक्ष रूप में जुड़ी हुई है। लंकापति रावण के पक्ष का सञ्चालन राजनीति विशेषज्ञ, स्वामिभक्त एवं परम चतुर उनका प्रधान अमात्य माल्यवान् करता रहता है और राम के पक्ष का सञ्चालन महामुनि कौशिक विश्वामित्र करते हैं। इन्हीं दोनों पक्षों के घात प्रतिघात में महावीरचरितम् नाटक मिल जाता है। भवभूति ने स्वच्छन्दतापूर्वक रामकथा में विविध परिवर्तन किया और नाटकीयता को पूरा करने के लए नायक के चरित्र को सुधारने हेतु घटनाओं के स्थान क्रम सब बदल दिया है जैसे- विश्वामित्र के आश्रम में ही अहल्योद्धा ताडकावध, शिवधनुष भङ्ग की घटनाएं कर दी गयीं। कुछ घटनाओं को नए कारण गढ़ दिए। परशुराम के रोष में माल्यवान् की प्रेरण को हेतु बना दिया। कबन्ध दिव्यपुरुष ते बना परन्तु सुग्रीव मैत्री के स्थान पर माल्यवान् के कारण वालि द्वारा आक्रमण की सूचना देता है। शबर-तापसी श्रमणा को कबन्ध ने पकड़ लिया, विभीषण ने श्रमणार्थ हाथ पत्र भेजा और शरण की यांचना कर दी। किष्किन्धा के पास ही राम एवं राक्षसों का युद्ध होना भी ऐसी ही घटना है।

ये सब परिवर्तन करने पर भवभूति का उद्देश्य भले ही परमोदात्त रहा हो और विशुद्ध नाटकीय दृष्टि से उन्हें अपने कार्य में भले ही सफलता मिली हो, परन्तु न तो नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से और न ही संवेदनशील सहृदयों को प्रख्यात कथावस्तु में मनमानी करने की दृष्टि से यह उचित है। विदग्धों की कटु समालोचना भी भवभूमि को सहनीय। उसमें प्रतिनायक रावण के प्रत अक्षम्य उपेक्षा भी है। द्वन्द्व या संघर्ष के प्रभावी बनाने के लिए प्रतिनायक का भी वंश, श्रुत, वीर्य अैर रक्षण कथन अपेक्षित है।

महावीरचरित के छठे अङ्क के छोटै दृश्य को छोड़कर सारे नाटक में प्रतिनायक कभी मञ्च में नहीं आता। इसका व्यक्तित्व इतना कमजोर दिखाया गया है कि शौर्य एवं पाण्डित्य की उसमें कोई भी संभावना नहीं दिखती है। यही बात वाली के चरित्र की भी हुई है। लङ्कापति के दर्प का भञ्जन करने वाला और माल्यवान् का आशातन्तु बाली माल्यवान् को पांचवे अङ्क में वचन देने के बाद अपनी क्रिया के विषय में अत्यन्त अनिश्चित है और उसकी निरीह मृत्यु छठे अङ्क में हो जाती है।

वस्तु का गठन भी सामान्य नहीं है। पहले अङ्क में क्रिया व्यापार अत्यन्त तीव्रता

से आगे बढ़ता है परन्त दो अङ्कों में उसकी गति शिथिल हो जाती है। दूसरे अङ्क में नाटककार ने राम और परुशराम को परस्पर सामने कर दिया है। उनका विवाद जब चरम पर पहुंचता है तब उसे रोक दिया गया, इसी से तीसरे अङ्क में अनावश्यक रूप से क्रम से जनक, वसिष्ठ, शतानन्द और विश्वामित्र को परशुराम से वाक् युद्ध में उलझाया गया है। यही अकस्मात् राम का प्रवेश होता है तथा दोनों के वाग् युद्ध में लगते है। पांचवे अङ्क में ऋष्यमूकपर्वत से पम्पासरोवर तक की भूमि का वर्णन उनकी प्रादेशिक ममता को प्रकट करती है, यह नाटक की दृष्टि से विषयान्तर है।

रामचरित भवभूति के समय तक बहुत लोकप्रिय था कालप्रियानाथ के मेले में लोकरंजन के लिए बनाए उनके नाटक में इतना परिवर्तन कथारसिकों को स्वीकार नहीं ही हुआ होगा, तभी उन्हें लिखना पड़ गया कि-

उत्पस्यते हि मम कोऽपि समानधर्मा।
कालो ह्ययं निरवधिर्विपुला च पृथ्वी।।

ऐसा लगता है कि भवभूति को यह सदा ध्यान था कि उन्होंने प्रचलित परम्पराओं का उल्लंघन किया है जो कि सामाजिकों को संभवतः पसन्द नहीं रहा होगा। वे यह भी जानते थे कि महावीरचरितम् में रावण और परशुराम की संगति का उल्लेख और परशुराम से अन्य ऋषियों का विवाद और पारम्परिक ही है। इसी आकांक्षा को उन्होंने प्रकट कर दिया है।

केवल प्रथम अंक में ही जनान्तिक मिलता है। चौथे और पांचवे अंक में एक-एक बार अपवारित का प्रयोग किया गया है। सभी अंकों में स्वगतकथन मिलते है। स्वगत भाषण पहले अंक में बहुत है। दूसरे अंक में परशुराम का स्वगत लम्बा है। 'कर्णे' का प्रयोग चौथे और पांचवे अंक में हुआ है। आकाशभाषित पहले और अन्तिम अंकों में है।

भवभूति एक ऐसे कवि हैं जिनके साहित्य में जितना सुन्दर वर्णन पक्ष मिलता है उससे भी बढ़कर हृदय पक्ष प्राप्त होता है। महावीरचरित में साद्यन्त हृदय की सूक्ष्म से सूक्ष्म भावनाएं भी बड़ी मार्मिकता से प्रस्तुत हुई है। सीता ने परशुराम के ललकारने पर जाने के लिए तैयार राम के पीछे चलने के लिए, वे राम को रोकना चाहती हैं, उनके अन्तर्मन में विचारों की आंधी चलती रहती है, जिसे भवभूति खोजते हैं और लिख दिया है-

आतङ्कश्रमसाध्वसव्यतिकरोत्कम्पः कथं सह्य।
मङ्गैर्मुग्धमधूकपुष्परुचिभिलावण्यभारैरयम्।। म.च.४/१४

इसमें स्पष्ट ओर सरसव्यञ्जन का विवेचन द्रष्टव्य है। यही पर श्रीराम की मनोदशा का अप्रतिम चित्रण है। एक तरफ सीता से जुड़े रहने दूसरी ओर परशुराम से मिलने का मनोरम छायांकन-

उत्सिक्तस्य तपः पराक्रमनिधेरस्यागमादेकतः
सत्सङ्गप्रियता च वीररभसोन्मादश्च मां कर्षतः।
वैदेहीपरिरम्भ एष च मुहुश्चैतन्यमामीलय
न्नानन्दी हरिचन्दनेन्दुशिशिरस्निग्धो रुणद्ध्यन्यतः।। म.च. २/२२

इस मनोदशा का इससे सुन्दर चित्र अन्यत्र दुर्लभ रहा है।

वनवास जाने को तैयार राम को भरत से मिलने की इच्छा है। परन्तु अपने वियोग से दुःखी भरत को कैसे देख सकेगें इस भावना का वर्णन देखें-

अपरिष्वज्य भरतं नास्ति मे गच्छतो धृतिः।
अस्मत्प्रवास दुःखार्तं न त्वेनं द्रष्टुमुत्सहे।। म.च. ४/४३

मालती माधव मं नेत्र व्यापार का सूक्ष्म विवेचन अद्भुत है-

'अलसवलितमुग्धालिग्धनिष्पन्दम्।।

एक ही दृष्टिपात में अमृत भी और विष भी कैसे हो सकता है, यह मनोभवज्ञान की पराकाष्ठा प्रकट की है-

दिग्धोऽमृतेन च विषेण च पक्ष्मलाक्ष्याः।
गाढं निखात इव मे हृदये कटाक्षः।।

कवित्व का वैशिष्ट्य यही है कि घटनाओं में पात्रों को सात्म्य कराते हुए उनके अन्तर्मन की बात को वर्णन कर देना उत्कृष्टता का निरूपक है। भवभूति हर दृष्टि से पूरी तरह सफल कवि रहे हैं।

मालती माधव

भवभूति ने मालतीमाधव नामक प्रकरण की रचना की है। उसमें दस अंक हैं। पद्मावती के राजा का मंत्री भूरिवसु है। उसकी मालती नामक एक कन्या है। विदर्भ के राजा का मंत्री देवरात भूरिवसु का मित्र है। भूरिवसु ने कामन्दकी को अपनी कन्या के विवाह की व्यवस्था हेतु कहा था जो कि भिक्षुणी हो चुकी है। देवरात ने अपने पुत्र माधव को पद्मावती भेज दिया, उसे लगा कि भूरिवसु को याद होगा कि दोनों ने परस्पर संततियों के विवाह का प्रस्ताव रख था। इधर राजा का नर्मसुहृद् नन्दन है जो मालती से विवाह करने को तत्पर है। अब कामन्दकी युवक युवती के मिलन तथा विवाह के लिए लग जाती है। नायक का मित्र मकरन्द और नायिका की सखी मदयंतिका है, जो नन्दन की ही बहन है। ये दोनों नायक-नायिका में पूर्वराग पैदा कर चुके हैं। यहीं दूसरा अङ्क पूरा हो जाता है। तीसरे अंक में दोनों प्रेमी शिवमन्दिर में मिलते हैं और वहीं एक बाघ निकलकर भागने लगता है। मदयंतिका प्राणों के संकट से पीड़ित है। मकरंद ने उसे बचाया है, परन्तु घायल

भी हो गया है। अब दोनों में आसक्ति पैदा हो जाती है चौथे अंक में सूचना मिलती है कि राजा मालती का नन्दन से विवाह करने हेतु संकल्पित हैं। माधव को लगा कि कामन्दकी के द्वारा विवाह असंभव है। वह महामांसविक्रय से श्मशान पिशाचों की सहायता लेना चाहता है और पांचवे अङ्क में ऐसा करने लगता है। उसे पास के मंदिर में क्रन्दन सुनायी पड़ा ओर वह दौड़ पड़ा। वह देखता है कि कापालिक अघोरघण्ट और उसी की शिष्या कपालकुण्डला दोनों मिलकर मालती की बलि चामुण्डा देवी को देने जा रहे थे। उसी समय माधव वहाँ पहुँचता है और अघोरघण्ट को मारकर मालती को बचा लेता है। छठे अंक में कपालकुंडला प्रतिशोध लेने हेतु प्रतिज्ञा करती है। नन्दन के साथ मालती का विवाह होने वाला है परन्तु विवाह पूर्व पूजा हेतु मन्दिर जाते हुए कूट उपायों से मकरन्द मालती का स्थान ले लेता है और मालती माधव दोनों भाग जाते हैं। दुल्हन के रूप में मकरन्द विदा होता है। सातवें अंक में पता चलता है कि नन्दन को उसकी वधू ने बहुत अपमानित कर दिया है, मदयंतिका अपनी भाभी की निन्दा करने या डांट फटकार करने आती है परन्तु अपने प्रेमी मकरन्द के साथ भाग जाती है। आठवे अंक में यह ज्ञात होता है कि माधव मदयन्तिका और मकरन्द दोनों भगोड़ों की मदद कर रहा है। परन्तु माधव ने वीरता से शत्रुओं को छिन्नभिन्न किया, जिससे राजा प्रसन्न हो जाता है और उसे क्षमा भी कर देता है। इस आपाधापी में कपालकुण्डला आई और मालती को गायब कर देती है। नवे अंक में माधव अपने मित्रों के साथ मालती को खोजता ही रहता है। कामन्दकी की शिष्या सौदामिनी ने सौभाग्य से कपालकुण्डला के चंगुल से मालती को बचा लिया। दसवें अंक में प्रेमियों के लौटने से शोक नष्ट हो जाता है और राजा भी विवाह का अनुमोदन कर देता है।

मालतीमाधव की कथावस्तु तथा इससे सम्बद्ध मुख्य घटनाएं कथासरित्सागर के तेहरवें लम्बक की मदिरावती की कथा तथा सत्रहवें लम्बक की मदनमञ्जरी की कथा में मिलती हुई है। पहली घटना में मालती और माधव का मिलन है। यह मदनोत्सव के प्रसङ्ग में मदनोद्यान में सम्पन्न होता है। यह प्रसङ्ग नाटककार ने मञ्च पर नहीं दिखाया है सामाजिकों को इसकी जानकारी पहले है। अंक में माधवा एवं मकरन्द के संवाद से होती है। पहले अंक और उसके विष्कम्भक, दूसरे अंक और उसके प्रवेशक के मध्य घनिष्ठ संबंध हैं। ये घटनाएं एक दिवसीय और समकालिक भी हैं। विष्कम्भ में मदनोत्सव के दोपहर को कामन्दकी से अवलोकिता ने कहा–

माधवोऽपि कौतूहलमुत्पाद्य मया प्रवृत्तमदनमहोत्सवं मदनोद्यानं प्रभातेऽनुप्रेषितः।।

जब मकरन्द को यह ज्ञात हुआ कि माधव मदननोद्यान में है, तो वह मार्ग में लौट रहा था। तेज धूप के कारण दोनों मार्ग के एक उद्यान में बैठ जाते हैं तब बकुलमाला का प्रसङ्ग माधव ने मकरन्द को बताया जो कि मदनोद्यान में उसी दिन घटित हुआ था। द्वितीय

अंक का प्रवेशक प्रायः इसक ठीक बाद का दृश्य है। कामन्दकी ने मकरन्द से मदनोद्यान का सारा समाचार जान लिया है। अवलोकिता के साथ वह मालती से भेंट करने के लिए उसकी संगीतशाला के परिसर में रहता है। मालती जो मदनोत्सव के विभावक पर चढ़कर आयी थी वह लवङ्किा के मिलने के लिए व्यग्र है। वह लवंगिका केसर कुसुम चुन कर लाती है।

दोनों सखियों का वार्तालाप दूसरे अङ्क में है। लवङ्गिका तो मदनोद्यान से लौटते समय मन्दारिका के घर भी होकर आई है वहाँ उसे माधव द्वार अङ्कित मालती का प्रतिच्छादक मिलता है। यही कामन्दकी और अवलोकिता दोनों मालती से भी मिलती है। तीसरे अंक की घटनाएं कृष्ण चतुर्दशी को ही शंकरपुर में घटती है परन्तु यहां मास का उल्लेख नहीं हुआ है। मालती और माधव विरहातुर हैं, अस्तु, दूसरे अंक से तीसरे अंक में समय अधिक बीत गया है। यह बात प्रवेशक में बुद्धरक्षिता और अवलोकिता की बातों से भी ज्ञात होती है। अंक में कामन्दकी और लवङ्गिका के बातों से भी यही सूचना मिलती है। आगे कामदशाओं का भी चित्रण है। तीसरा और चौथा अंक जुड़े ही हैं। अब पांचवा अंक आरम्भ हाता है यहां शुद्ध विष्काम्भक सहित सर्वत्र घटनाएं पद्मावती नगरी की श्मशान भूमि में ही हो रही है। इसके समीप का कराला देवी का आयतन भी घटना स्थल है। ये घटनाएं चौथे अंक वाले दिन की रात में होती है। आगे के अंकों में का तो निर्देश नहीं है। छठे अंक के शुद्ध विष्कम्भक में नेपथ्य से सूचना दी गयी है कि नन्दन मालती को विवाहित करने बरात के साथ अमात्य भूरिवसु के यहाँ आ रहा है। सूचना मिलती है कि कामन्दकी के आदेश से मालती नगर देवता की पूजा हेतु मन्दिर में जा रही है। छठा अंक यही घटित होता है। छठे सातवें के बीच मालती वेषधारी मकरन्द का विवाह नन्दन से हो चुकने की कथा है। वधू भी नन्दन के घर आ गयी है इसमें ३-४ दिन और लगे होंगे। सातवें अंक का स्थान नन्दन का शयन कक्ष है और समय सुहागरात की दुर्घटना के बाद दूसरे पहर का आरंभ है। मकरन्द के साथ मदयन्तिका का जाना इसी मध्यरात्रि में होता है। आठवां अंक सातवें अंक के पूर्व सायंकाल का है और सातवां अंक रात्रिकालीन है। स्थान नगरदेवता के पीछे उद्यानवाट का है परन्तु आठवें अंक की शेष घटनाएं तो रात की हैं नवें दसवें अंक की घटनाएं पद्मावती नगरी के पास के अरण्य की हैं और अगले दिन की हैं। डॉ. मिराशी ने अनुमान किया है कि मालती का विवाह ज्येष्ठमास की कृष्ण चतुर्थी को हुआ और अष्टमी को नन्दन भवन में गृहप्रवेश हुआ। सौदामिनी की कृपा से मालती की रक्षा, मकरन्द और माधव का आश्वासन, कामन्दकी आदि स्त्रियों की साहसक्रिया का प्रति संहार तथा भूरिवसु का अग्नि प्रवेश से निवर्तन अगले दिन ज्येष्ठ कृष्ण नवमी की घटनाएं हैं। इस प्रकार यह प्रकरण चैत्रशुक्ल त्रयोदशी से ज्येष्ठ कृष्ण नवमी तक सम्पन्न हुआ है। यह मिराशी का अनुमानमात्र है।

इस प्रकरण में कामन्दकी का निर्देश ही साद्यन्त दिखता है। अपने कौमार्य समय में ही कामन्दकी के सहपाठियों ने 'इतरेतरापत्य सम्बन्ध' का पुण्य संकल्प कर लिया था इसकी पूर्ति असंभव थी, परन्तु यह कामन्दकी को सौंपा गया है। दोनों मंत्रियों के परस्पर दृढ़ सौहार्द से अनुबंधित जन्म से ही गोद में खिलायी हुई मालती के सहज स्नेह से प्रेरित तथा कलासम्पन्न व स्फुरित गुणयुति सुन्दर माधव का कल्याण करने में वह समर्पित थी। चीर चीवर परिच्छदा, पिण्डपातमात्रप्राणप्रवृत्ति वाली भगवती कामन्दकी निसृष्टार्थ दूतीकल्प है। वे बौद्ध परिव्राजिका थीं परन्तु कामतन्त्र से परिचित है अभीष्ट साधना के लिए नए नए व्यापारों को प्रकट करने में वे कुशल हैं। योजनाओं की सफलता के लिए बहुत अनुशासित अनुरक्त एवं दस शिष्यों का समूह भी उनके पास है वे इसकी हर पल सहायता भी करती रहती है।

कामन्दकी से यह प्रकरण सुश्लिष्ट हो गया है और इनके प्रभाव से अमात्य भूरिवसु, नायक माधव, नायिका मालती सभी का चरित्र दब सा गया है वह पूर्ण रूप से अविकसित हो रहा है। सारी घटनाएं कामन्दकी के सूत्रों से ही सञ्चालित हो रही है। इसके सूत्र संचालन में भी कई त्रुटियां आ गयी हैं। वह आठवे अंक में राजा के क्रोध और मकरंद इत्यादि पर सैनिकों द्वारा किए गए आक्रमण को सोच तक नहीं सकी है। इसी अंक में जब कपालकुण्डल के द्वारा मालती द्वारा अपहरण कर लिया गया तो वह किंकर्तव्यविमूढ़ सी हो गयी थी। कामन्दकी के मन में जैसी प्रतिबद्धता अधिकारिक कथावस्तु के प्रति है वैसी प्रासङ्गिकता कथा के प्रति नहीं है। इसका दोष यह हुआ कि नायक नायिका (माधव मालती) के चरित्र की अपेक्षा मकरन्द और मदयन्तिका का चरित्र अधिक सुस्पष्ट और प्रभावशाली बन सका है।

इस प्रकरण की कथावस्तु में जिस प्रकार कामन्दकी प्रभावी है उसी प्रकार भवभूति के मन पर कालिदास प्रभावी है। मालती माधव में बकुलमाला का नाटकीय तत्व (Dramatic motive) और नवे अंक में नायक माधव की उन्मादस्थिति में कालिदास के अभिज्ञानशाकुन्तल के "अङ्कुलीयक रूप प्रत्यभिज्ञान" और विक्रमोर्वशीयम् के वियोगी पुरूरवा के उन्माद वर्णन का पूर्णतः प्रभाव पड़ा है। इसके पहले भी बकुलमाला के वाह्य तत्व का प्रयोग भवभूति ने कुशलतापूर्वक ही किया है। बकुलमाला ने न केवल नायक तथा नायिका की प्रीति को बढ़ाने में मदद की है अपितु आगे भी वह नायिका से नायक की और नायक से नायिका को हस्तान्तरित हो जाती है। अन्ततः वह माधव के हाथों पड़कर उसके प्राण बचा लेती है। यहां का वर्णन शाकुन्तला से अधिक प्रभावशाली हो गया है परन्तु माधव की उन्मादावस्था का अरुचिकर वर्णन का यहां औचित्य अज्ञात है। आठवें अंक में समाप्त हो चली कथा को दो अंकों तक अनावश्यक रूप से बढ़ाया गया है।

कभी-कभी इसकी कथावस्तु दैवी या यादृच्छिक घटनाओं पर निर्भर करती है। दुष्ट शार्दूल से मदयंतिका को बचाने के लिए मकरन्द का आना, अघोरघण्ट से मालती को बचाने के लिए माधव का आ जाना, मकरन्दओं माधव की रक्षा के लिए सौदामिनी का आ जाना ऐसी ही घटनाएं है। ये घटनाएं जीवन में तो घटती ही रहती हैं परन्तु काव्य संसार में इनका होना ठीक नहीं होता। आठवें अंक में भी जो राजा मंत्री कन्या से प्रवञ्चित होने पर इतना क्रुद्ध हो जाता है कि उसने अपने अपहर्ताओं को दण्डित करने या बन्दी बनाने का आदेश दे देता है वह ऐसा बदल जाय कि उन्हें न केवल क्षमा कर रहा बल्कि भूरिवसु और नन्दन के जमाता बनाने के लिए भी मना लेता है, अस्वाभविक एवं आकस्मिक लगता है। इन कमियों के बाद भी मालतीमाधव का वस्तुग्रथन पात्रविन्यास महावीरचरितम् से अधिक वैदग्ध्यपूर्ण है। भवभूति ने भी अपनी इस रचना को महाद्भुत विचित्र रमणीक तथा उज्ज्वल माना है। कामन्दकी का कथन द्रष्टव्य है-

"अस्ति वा कुतश्चिदेवं भूतं महाद्भुतं विचित्ररमणीयोज्ज्वलप्रकरणम्"

मालतीमाधव के छठे अङ्क में नगरदेवता के मन्दिर में लवङ्गिका के स्थान पर स्थित माधव का मालती द्वारा धोखे से आलिङ्गन करना अत्यन्त नाटकीय चमत्कार प्रकट करता है। सातवे अंक में नई वधू मालती के वेश में मकरन्द का नन्दन यहां प्रवेश नन्दन का अनुनयविनय करना मालती (मकरन्द) द्वारा उसको अपमानित करना तथा मदयन्तिका के द्वारा शय्या में पड़े मकरन्द को मालती समझकर उसी की उपस्थिति में उसके प्रति अपने उत्कट प्रेम का अपेक्षा की सखियों के सामने बिना सङ्कोच के सविस्तार अभिव्यक्ति नाटकीय चमत्कार का ही निदर्शन है।

मालतीमाधव में जनान्तिक का आठ बार प्रयोग हुआ है। दूसरे अंक में चार बार तीसरे में एक बाद चौथे में दो बार और दसवें में एक बार प्रयोग हुआ है। अपवास्ति का भी आठ बार प्रयोग हुआ है। दूसरे, चौथे और छठे अंकों में दो दो बार पांचवे और आठवें अंकों में एक-एक बार प्रयोग हुआ है। चौथे अंक में माधव ने लम्बा अपवारित भाषण दिया हे। स्वागत कथन पांचवे और सातवें को छोड़कर सभी अंकों में है। इस प्रकरण में आकाशभाषित एवं 'कर्णे' नहीं है।

भवभूति ने स्पष्टता पूर्वक रङ्गनिर्देश करते हुए अपने नाट्यकौशल का भी परिचय दिया है। मालतीमाधव के दूसरे अङ्क में लवङ्गिका और मालती अकेले कुछ बातें कर रही थी, माधव का चित्रपट भी मालती लिए है, प्रतीहारी ने कामन्दकी के आने की सूचना दी और दोनों ने प्रवेश कराने का कह दिया। यहां कवि ने रङ्ग निर्देश में 'प्रतीहारी निष्क्रान्ता' तो कहता ही है साथ ही 'मालती चित्रं प्रच्छाद्य भी निर्देश कर देता है। चौथे अंक में यह जानकर कि मालती को प्रसन्न हुए राजा ने नन्दन को दे दिया है सभी कामन्दकी, मदयन्तिका, बुद्धरक्षिता और लवङ्का सभी ने अपनी बाते रख दी। यहां

माधव भी कुछ नहीं कहता और मालती भी चुप रहती है। भवभूति ने रङ्गनिर्देश दिया है- "मालतीमाधवौ वैवर्ण्यं नाटयतः।" छठे अङ्क में नगरदेवता के मंदिर में मालती ने लवङ्किा के स्थान पर माधव का आलिङ्गन कर लिया और तब माधव, लवङ्किा और मकरन्द ने अपने विचार प्रकट कर दिया, मालती अब असहज हो जाती हैं यहीं कामन्दकी आ जाती है और भवभूति का रङ्ग निर्देश है कामन्दकी ने कहा-"पुत्रि कातरे कि मेतत्" तब "मालती कम्पमाना कामन्दकी मालिङ्गति"। यह निःशब्द अभिनय है। कातनदरि इाश्वासन जाक दकजर ाि परन्तु विश्व करने हेतु रंग निर्देश है-"तस्याश्चिबुकमुन्नमय्य"। यहाँ कांपती मालती का कामदेव से लिपटना और उसका टोड़ी उठाना पूरी तरह स्वाभाविक है। आठवें अङ्क में अवलोकित ने मालती से परिहास कर दिया तब वह उसकी ओर देखने लगती है- मालती साह यसिव तां पश्यति" यह रङ्क निर्देश भी स्वाभाविक है। इसी प्रकार माधव न पूछा कि 'प्रिये! सत्यमवलोकिता वदति' तब 'मालती मूर्धानं चालयति' रंक निर्देश हुआ है। दशम अंक में करने से बची मालती होश में आती है, कामन्दकी की ओर सके हर्षित जाती है 'सहर्षवास्यम्' मालमती भी 'कथं भाग्वती' कहा तब कामन्दकी के पैरों पर गिर पड़ी (इति पादयोः पतति') आशीर्वाद देने के पहले (उत्थायालिङ्ग्य मूर्ध्न्याघ्राय) आदि अनेक रङ्गनिर्देश प्राप्त होते हैं।

महावीर चरित के प्रथम अंक में ताटका का परिचय देते हुए वध का निर्देश दिया तब वात्सल्याभिनय को 'रामं चिबुक देशे स्पृशन्' से निर्देश हुआ है। इसी अङ्क में आगे राम के द्वारा धनुभंग सीता प्रसन्न हो गयी परन्तु परिणाम की कल्पना कर लज्जित हो जाती हे, प्रसन्नता में उर्मिला ने बधाई की जगह आलिंगन कर लिया। "हृष्टा लज्जितां सीतामालिङ्ग्य" से निर्देश प्रकट है। कुशध्वज के आनन्दातिरेक को "सहर्षोन्माद इव" से निर्देश किया जाता है वे कहते हैं-

एह्येहि वत्स रघुननदन रामभद्र, चुम्बामि मूर्धनि चिराय परिष्वजे त्वाम्।
आरोप्य वा हृदि दिवातिशमुद्वहामि वन्देऽथवा चरणपुष्पुरकद्वयं ते।।

- म.च. १/५५

चौथा अङ्क भी दशरथ के विरह को रङ्गनिर्देशों से अभिनीत कराता है।

दशरथः - (उच्छ्वस्य) सत्स रामचन्द्र न गन्तव्यं न गन्तव्यम्।.....
....(सोन्मादमिव) भो! वच विशामीदानीं मन्दभागधेयः।।

यहाँ दोनों रङ्गनिर्देश यथोचित हैं। उन्मादावस्था में ही दशरथ को मञ्च से परे ले जाया गया "इति विप्लवो भरतजनकाभ्यां नीयमानो निष्क्रान्तः"।

उत्तररामचरितम् में भी रङ्गनिर्देश के अनेक स्थल हैं। पहले अंक में ही सीता राम की गोदी में सो गयी, वे सोचते हैं कि इनका त्याग करना है। कहां तो सीता का प्रेम, विश्वास और पवित्रता और कहां राम का निर्दय निर्णय। वे स्वयं को पातकी, अस्पृश्य

मानते हैं और सीता से पृथक होना चाहते हैं। यहीं रङ्ग निर्देश है- "इति सीतायाः शिरः स्वैरमुन्नमय्य बाहुमाकर्षन्" यहाँ स्वैरम् का प्रयोग सूक्ष्मचिन्तन का परिचय देता है। चौथे अंक में लव ने अरुन्धती से जनक और कौशल्या के विषय में पूछा और उत्तर में कौशल्या और जनक नाम सुनकर चूँकि रामायण का कथाभाग उसे ज्ञात था अतः उनकी ओर देखता रह गया जिसमें सम्मान था, खेद था, और कौतूहल भी था- (सबहुमानखेदकौतुकं पश्यति) रंग निर्देश की स्पष्टता द्रष्टव्य है। इसी अङ्क में वाल्मीकि आश्रम में लव को वटुओं ने अदृष्ट पूर्व अश्व का वर्णन किया और लव को भी दिखाना चाहते हैं 'किं वारव्यातैर्व्रजातं स पुनर्दूरमेह्येहि यामः" यह कहते हुए रंग निर्देश है- "इत्यजिने हस्तयोश्चाकर्षन्ति' जो कि यथा समय और यथाभिनय हुआ है। इस अङ्क का अंतिम रंगनिर्देश है- "इति यथोचितं परिक्रम्य निष्क्रान्ताः सर्वे"। यथोचितं से जिसे जिधर जाना है व्यक्त कर दिया है। छठे अंक में 'अद्यास्तमेतु भुवनेष्वधिराजशब्दः क्षत्रस्य शस्त्राशीखिन शममद्य यान्तु" की घोषणा करने वाला कुश जब मंच में प्रवेश करता है तब रंग निर्देश है- "साकूत हर्षधैर्यं धनुरास्फालयन्"। सातवे अङ्क के गर्भनाटकः आरंभ प्रस्तावना के अन्त में 'ततः प्रविशत्सुत्सङ्गितैकैकदारकाभ्यां पृथिवीगङ्गाभ्यामवलम्बिता सीता" का रंङ्ग निर्देश है जो साम्प्रतिक भी है स्पष्ट भी है और सार्थक भी है।

इस प्रकार भवभूति अपनी वर्णनभङ्गिमा, अभिनय श्रेष्ठता और रङ्गीय कौशल के भी संस्कृत जगत में सदा ही समादृत एवं श्लाघ्य रहेंगे।

••••••

महाकवि श्रीहर्षवर्धन

- डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी

हर्षदेवो महाराजो नाट्यकर्ताऽभवत्कविः।
विदुषामर्चको वाग्मी शृङ्गारैकरसप्रियः।।
युद्धदानदयावीरः कीर्तिकान्तः प्रजाहितः।
कवीन्द्रेषु सदा ख्यातः ख्यातो धर्मगुणाश्रयः।।

जीवन परिचय -

भारतीय इतिहास और संस्कृत वाङ्मय का अनुशीलन करने से ज्ञात होता है कि हर्ष अथवा श्रीहर्ष के नाम से अनेक व्यक्ति शासन या विद्वान कवि के रूप में प्रसिद्ध थे।[1] द्वितीय शताब्दी में वर्तमान श्रीहर्ष विक्रमादित्य, स्थाण्वीश्वर कान्यकुब्जनरेश श्रीहर्ष, भोजराज के पितामह धारानरेश श्रीहर्ष, ग्यारहवीं शताब्दी में हुए कश्मीरनरेश श्रीहर्ष, नैषधीयचरित के प्रणेता श्रीहर्ष तथा काव्यप्रकाशदीपिका के कर्ता गोविन्दठक्कुर के अनुज श्रीहर्ष। तथ्यों का अनुशीलन करने से यह ज्ञात होता है कि श्रीहर्ष विक्रमादित्य, भोजराज के पितामह श्रीहर्ष और कश्मीरनरेश श्रीहर्ष मात्र शासक थे, कवि नहीं। इसी प्रकार नैषधयीयचरित के कर्ता श्रीहर्ष और गोविन्दठक्कुर के अनुज श्रीहर्ष मात्र कवि और विद्वान् थे, राजा नहीं। इस प्रकार महाराज श्रीहर्ष (हर्षदेव अथवा हर्षवर्धन) ही राजा तथा कवि, दोनों ही रूपों में प्रमाणित होते हैं। उत्तर भारत के प्रसिद्ध सम्राट् स्थाण्वीश्वर अथवा कावयकुब्जरनरेश हर्षवर्धन ही रत्नावली आदि रूपकत्रय के प्रणेता के रूप में प्रमाणित होते हैं।

श्रीहर्षवर्धन पुष्यभूति वंश के महान शासक थे। बाणभट्ट विरचित 'हर्षचरित' के अनुसार पुष्यभूति नामक राजपुत्र ने श्रीकण्ठ जनपद (वर्तमान पूर्वी पंजाब) नामक राज्य की स्थापना की थी। उसी के नाम पर इस वंश का नाम 'पुष्यभूति वंश' पड़ा। पुष्यभूमि शिव का परम उपासक था।

बौद्धग्रन्थ 'मञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार श्रीकण्ठ जनपद के पुष्यभूतिवंश के शासक वैश्य वर्ण के थे। उनका आदि पुरुष विष्णु नामक राजा था। प्रारम्भ में इस वंश के पुरुष मन्त्री हुआ करते थे और बाद में वे राजा बने इस वंश का प्रथम उल्लेखनीय राजा आदित्यवर्धन हुआ जो स्थाण्वीश्वर (थानेश्वर का निवासी) था। चीनी यात्री हेनसांग

---

१. डॉ. प्रभुनाथ द्विवेदी, महाकवि हर्षवर्धन, प्रकाशक- ग्रन्थम्, कानपुर, १९८५, पृ० १-२।

के अनुसार भी इस वंश के राजा वैश्यवर्ण के थे। अतः हर्षवर्धन भी वैश्यवर्ण के थे।[1]

'मञ्जुश्रीमूलकल्प' के अनुसार आदित्यवर्धन के पुत्र प्रभाकरवर्धन हुए और उनके दो पुत्र राज्यवर्धन और हर्षवर्धन हुए।

महाराज हर्षवर्धन ने अपने दानपत्रों में पूर्वजों का सादर उल्लेख किया है। बांसखेड़ा अभिलेख (६२८ ई०) मधुबन अभिलेख (६३१ ई०) के अनुसार उनके पूर्वजों की नामावली इस प्रकार है-

नरवर्धन - रुक्मिणी देवी (पत्नी)
|
राज्यवर्धन (प्रथम) - अप्सरी देवी (पत्नी)
|
आदित्यवर्धन- महासेनागुप्ता देवी (पत्नी)
|
प्रभाकरवर्धन - यशोमती देवी (पत्नी)

राज्यवर्धन (द्वितीय) हर्षवर्धन

इस प्रकार हर्षवर्धन के पिता महाराज प्रभाकरवर्धन थे और माता महारानी यशोमती देवी थीं। राज्यवर्धन उनके बड़े भाई थे जो उनसे वयस् में प्रायः चार वर्ष बड़े थे। हर्षवर्धन की एक बहिन भी थी जिसका नाम राज्यश्री था और वह उनसे तीन वर्ष छोटी थी।[2]

प्रभाकरवर्धन के पूर्वपुरुष सामन्त कोटि के थे किन्तु प्रभाकरवर्धन ने अपने शौर्य और पराक्रम से अपने राज्य का भरपूर विस्तार किया। उसने उत्तरी प्राप्त से हूणों का मूलोचछेद करके 'हूण-हरिण-केसरी' की उपाधि धारण की और सम्राट के रूप में 'प्रतापशील' नाम से विख्यात हुआ।

---

१. प्रो. भगवती प्रसाद पांथरी, हर्षवर्धन और उनका युग, पृ० ३-६
२. प्रो. भगवती प्रसाद पांथरी, हर्षवर्धन ओर उनका युग, पृ० ६
(प्रभाकरवर्धन ने राज्यश्री का विवाह कान्यकुब्जेश्वर मौखरी राजा ग्रहवर्मा से कर दिया था। प्रभाकरवर्धन की मृत्यु के पश्चात् मालवराज ने ग्रहवर्मा की हत्या करके राज्यश्री को कैद कर लिया। राज्यवर्धन ने मालवराज को परास्त कर इसका बदला लिया, किन्तु गौडाधिपति शशाङ्क ने धोखे से राज्यवर्धन को मार डाला। राज्यश्री किसी प्रकार कैद से भाग कर विन्ध्याटवी में चली गयी। हर्षवर्धन ने उसका उद्धार किया। बाद में राज्यश्री बौद्ध धर्म में दीक्षित हो गयी।)

हर्षवर्धन का बचपन अत्यन्त सुखपूर्वक व्यतीत हुआ। प्रायः १५ वर्ष की आयु तक वह सर्वथा निश्चिन्त था। मामा का पुत्र 'भाण्डि' और दादी महासेन गुप्त के भतीजे 'कुमारगुप्त' तथा 'माधवगुप्त' उसके बालसखा थे। वह अपनी बहिन 'राज्यश्री' से अत्यन्त स्नेह करता था।

प्रभाकरवर्धन के शासनकाल के अन्तिम दिनों में हूणों ने पश्चिमोत्तर प्रान्त में पुनः उत्पात मचाया। राजा ने उनका दमन करने के लिए राज्यवर्धन के नेतृत्व में अपनी सेना भेजी। राज्यवर्धन उस समय अट्ठारह वर्ष की वयस् पार कर रहा था। उत्साही हर्षवर्धन भी अपने साथी सैनिकों के साथ कुछ दूर तक बड़े भाई का अनुगमन करता रहा और फिर आखेट के बीच में ही रुक गया। इस बीच उसे प्रभाकरवर्धन की गम्भीर अस्वस्थता का सन्देश मिला। वह तत्काल लौटकर पिता के पास आया और उनकी चिन्ताजनक स्थिति को देखकर भाई राज्यवर्धन को तत्काल वापस बुलाने के लिए दूत भेजे। राज्यवर्धन के लौटने से पूर्व ही पिता का देहान्त हो गया और महारानी यशोमती देवी ने महाराज के प्राण निकलने से पूर्व ही सती होकर प्राण त्याग दिये।

माता-पिता के देहावसान के बाद तो हर्षवर्धन पर विपत्तियों का पहाड़ टूट पड़ा। बहनोई गृहवर्मा मालवराज द्वारा मारा गया और बहिन राज्यश्री कैद में डाल दी गयी। मालवराज से बदला चुकाने भाई राज्यवर्धन को विश्वासघात करके गौडनरेश शशाङ्क ने मार डाला। हर्षवर्धन एकदम हताश अकेला रह गया। किन्तु उसके मन्त्रियों और सेनापति ने उसे ढाँढस बँधाया तथा शत्रुओं को रौंद डालने हेतु उत्साहित किया। उस समय हर्षवर्धन की आयु पन्द्रह वर्ष थी। वह स्थाण्वीश्वर राज्य का एकमात्र उत्तराधिकारी था। शोकविह्वल हर्ष को अपनी छोटी बहन राजश्री की भी चिन्ता थी और मालवराज तथा गौडनरेश से कान्यकुब्ज का उद्धार भी करना था। वृद्ध सेनापति सिंहनाद ने राजकुमार को बहुविध उपदेश देकर, अनुनय विनय कर कर्तव्य की प्रेरणा दी तथा राजपद ग्रहण कराया।

शासनसूत्र सम्हालने के तत्काल बाद दिग्विजय के लिए प्रस्थान किया। हर्ष के भय से शशाङ्क कान्यकुब्ज छोड़कर गौडदेश भाग बया। हर्ष ने भाण्डि से राज्यश्री का वृत्तान्त जानकर उसकी प्राणरक्षा के लिए विन्ध्याटवी की ओर प्रस्थान किया। बौद्ध आचार्य दिवाकरमित्र के आश्रम में एक भिक्षु से सूचना पाकर तत्काल उस स्थान पर पहुँचा जहाँ राज्यश्री चितारोहण की तैयारी कर रही थी। बहिन को समझा कर उसे ऐसा दुःसाहस करने से रोका। दिवाकर मित्र ने उसे अभी भिक्षुणी बनने से मना किया तथा हर्ष ने भी कहा कि मेरे उद्देश्यों को पूरा हो जाने दो हम दोनों साथ ही कषाय गहण करेंगे।

हर्ष का बहनोई ग्रहवर्मा निःसन्तान दिवंगत हुआ था और राज्यश्री की शासन करने में कोई रुचि न थी। अतः हर्ष ने कान्यकुब्ज का शासन भी सम्भाला। वहाँ की शासन

व्यवस्था को प्रजारञ्जन के अनुरूप करके वह अपने विजय अभियान पर निकल पड़ा। हर्षवर्धन ने प्रतिज्ञा की कि जब तक वह अपने शत्रुओं को पराभूत नहीं कर देगा और आसपास के राज्यों को नहीं जीत लेगा, तब तक दाहिने हाथ से भोजन नहीं करेगा।[1]

हेनसांग के अनुसार, हर्ष ने अपने राज्याभिषेक के पश्चात् छः वर्षों के भीतर ही उत्तरभारत के अनेक राज्यों को अपने अधीन कर लिया। आसाम के राजा भास्करवर्मा ने हर्ष से भीत होकर मैत्री सन्धि कर ली। इस प्रकार नेपाल से आसाम तक उसके राज्य का विस्तार हो गया। उधर गुजरात प्रान्त में वलभी के राजा ध्रुवसेन या ध्रुवभट्ट को हराकर वलभी समेत सौराष्ट्र और आनन्दपुर पर भी विजय प्राप्त कर ली। दक्षिणापथ की ओर उन्मुख होने पर चालुक्यनरेश पुलकेशी द्वितीय से नर्मदा के तट पर उसकी गहरी मुठभेड़ हुई और हर्षवर्धन को वापस लौटना पड़ा। इस तरह दक्षिणविजय का अभियान अधूरा रह गया। एहोल शिलालेख (६३४-३५ ई०) में हर्ष की इस पराजय का उल्लेख हुआ। इस पराजय के पश्चात् हर्ष ने राज्यविस्तार का मोह छोड़ दिया और विजित प्रदेशों की शासन व्यवस्था को सुचारू और सुदृढ़ बना कर अपना शेष जीवन शान्तिपूर्वक व्यतीत करने लगा। हर्षवर्धन पुष्यभूति वंश का अन्तिम शासक था, क्योंकि कहीं भी हर्ष के विवाह का उल्लेख नहीं मिलता और न ही उसकी किसी सन्तान का। हर्ष का शासनकाल उपलब्धियों से भरा हुआ था। चालुक्य अभिलेखों में उसे 'सकलोत्तरापथेश्वर' कहा गया हे। बाणभट्ट ने उसे 'परमेश्वर', 'महाराधिराज' और 'सकलराज चक्रचूडामणि' आदि उपाधियों से विभूषित कियाहै।

अपने जीवन के उत्तरार्ध में श्रीहर्षवर्धन, अपनी बहिन राज्यश्री को दिये गये वचन का पालन करते हुए चीनी बौद्ध यात्री हेनसांग के प्रभाव से बौद्धधर्म की ओर उन्मुख हो गये। प्रयाग में प्रति पाँच वर्ष पर वह दान महोत्सव का आयोजन करता था और अपना सर्वस्व दान दे देता था। वह प्रायः सत्तावन वर्ष की आयु तक जीवित रहा और उसके दिवंगत होते ही उत्तराधिकारी के अभाव में उसका विशाल साम्राज्य एकदम से छिन्न-भिन्न हो गया।

हर्षवर्धन के बड़े भाई राज्यवर्धन स्त्रीलाभ के लोभ में ही मारे गये थे और हर्षवर्धन के भी विवाह का कहीं कोई उल्लेख नहीं मिलता। बाणभट्ट ने हर्षचरित में उनके अविवाहित रहने का ही सङ्केत दिया है।[2] किन्तु हेनसांग के विवरण और अन्य ऐतिहासिक स्रोतों से यह ज्ञात होता है कि हर्ष ने अपनी कन्या का विवाह वलभी के राजा ध्रुवेसन (या ध्रुवभट्ट) से किया था। इस प्रकार ध्रुवसेन उसका दामाद था जिसके साथ मिलकर उसने

---

१. प्रो. भगवती प्रसाद पांथरी, हर्षवर्धन और उनका युग, पृ० ३१।

१. हर्षचरित, द्वितीय उच्छ्वास- 'गृहीतब्रह्मचर्यमालिङ्गितं' और 'स्त्रीपर इव सरस्वत्या'।

सौराष्ट्र और आनन्दपुर को अपने अधीन किया था। अब यदि हर्ष अविवाहित रहे तो यह कन्या उनकी कैसे हुई जिसका विवाह उन्होंने ध्रुवसेन के साथ किया था। किसी अन्य की कन्या का पालन पोषण करने और उसका विवाह करने का कोई उल्लेख हर्ष से सम्बद्ध इतिहास या रचनाओं में नहीं मिलता।[1]

यह भी ध्यातव्य है कि हर्ष ने शृङ्गाररसप्रधान दो नाटिकाओं की रचना की है और निवृत्तिमार्गपरक उनके नाटक नागानन्द के भी प्रारम्भिक तीन अङ्क शृङ्गाररस से युक्त हैं। एक अविवाहित व्यक्ति शृङ्गारसम्पृक्त ललित रचनायें करे, यह कुछ अटपटा सा लगता है। यदि हर्ष अविवाहित होते तो उनकी रचनाओं का प्रकार कुछ अन्य ही रहा होता।

श्रीहर्षवर्धन का शासन प्रबन्ध –

महाराज हर्षवर्धन के शासनप्रबन्ध के सम्बन्ध में बाणभट्टकृत 'हर्षचरित' और चीनी बौद्ध यात्री हेनसांग के यात्रा विवरण से पर्याप्त जानकारी मिलती है। हेनसांग के अनुसार प्रशासन की ईमानदारी, राज्य की सुव्यवस्था और प्रजाव्यवहार का नियमन होने समाज में अपराधीवर्ग प्रायः नहीं के बराबर था। 'यथापराधदण्डानां' के न्याय से हर्ष को दण्डव्यवस्था भी राज्य में अपराधों की कमी के लिए पर्याप्त थी। राज्य की सुव्यवस्था के लिए उसे 'भुक्ति' (प्रान्त), 'विषय' (जिला) और 'पथक' (तहसील) में बांटा गया था। 'ग्राम' शासन की सबसे छोटी इकाई था। प्रान्तीय शासकों की नियुक्ति स्वयं सम्राट् श्रीहर्ष करते थे और विषयपति की नियुक्ति सम्राट् के परामर्श से प्रान्तीय शासक करते थे। शासन के अन्य अधिकारियों के अतिरिक्त विषयपति समय-समय पर श्रेष्ठी, सार्थवाह, प्रथम कुलिक और प्रथम कायस्थ की समिति से भी सलाह लेता था। सम्राट्, शासन, सेना और न्याय का सर्वोच्च अधिकारी था। सम्राट् किसी भी मायने मे निरंकुश न था। हर्ष राजपद को दैवप्रदत्त अधिकार नहीं मानते थे। उन्होंने स्वयं कहा था- "यद्यपि मैं राजपद के योग्य नहीं हूँ, किन्तु प्रजा मुझे इस पद पर आसीन करना चाहती है।"[2]

प्रजा के सुख-दुःख का ज्ञान करने के लिए हर्ष स्वयं राज्य में भ्रमण करते रहते थे। बाह्य शत्रुओं और आन्तरिक अपराधियों का पता लगाने के लिए विश्वस्त गुप्तचरों की नियुक्ति की गयी थी। सम्राट् हर्ष की दिनचर्या तीन भागों में विभक्त थी। प्रथम भाग में वह राजा शासन सम्बन्धी कार्य करते थे और शेष दो भागों में धर्म कर्म करते थे। उसका हृदय बहुत निर्मल और स्वभाव दयालु था। वह स्वयम् उच्च आदर्शों का पालन करता था

---

१. बाणभट्ट ने हर्षचरित में हर्ष के चचेरे भाई श्रीकृष्ण का उल्लेख किया किन्तु आगे एतत्सम्बन्धी कोई प्रमाण या उल्लेख नहीं मिलता।

२. प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी, हर्षवर्धन और उनका युग, पृ० ५६ ।

और अपने अधीनस्थों तथा प्रजा से भी ऐसी ही अपेक्षा रखता था। आदर्श आचरण करने वाले उसके 'सुहृद्' बन जाते थे। स्वयं बाणभट्ट इसके उदाहरण हैं। बाणभट्ट की निन्दा सुनकर उसे अपनी सभा में बुलवाया किन्तु 'महानयं भुजङ्गः' कहकर उनसे मुँह फेर लिया। बाद में बाण के निष्कपट आत्मपरिचय देने और धीरे-धीरे उसके स्वभाव और व्यवहार से परिचित होने पर उसे अपना अभिन्न सुहृद् बना लिया।

हेनसांग ने हर्ष के शासन की सुव्यवस्था की प्रशंसा करते हुए लिखा है कि शासन उदार था, अतः राजकीय आवश्यकतायें कम थीं। प्रजा की उन्नति, समृद्धि, सुरक्षा और शान्ति, सम्राट् श्रीहर्ष का प्रमुख लक्ष्य था। इस प्रकार हम देखते हैं कि श्रीहर्षवर्धन ने अपने पराक्रम से राज्य का विस्तार कर एक विशाल साम्राज्य की स्थापना की और अपने शासन कौशल तथा राजनीतिपटुता से प्रजा को सुखी रखते हुए भारतवर्ष के प्रमुख सम्राटों में अपना स्थान सुरक्षित कर अक्षय कीर्ति का भाजन बना।

श्रीहर्ष की धार्मिक भावना –

हर्षधर्मन के पूर्वज सूर्य और शिव के उपासक थे। हर्षचरित के अनुसार, इस वंश के महान् प्रवर्तक पुष्यभूति भगवान् शिव के उपासक अनन्य भक्त थे।[1] हर्षवर्धन के बांसखेड़ा और मधुवन से प्राप्त अभिलेखों में राज्यवर्धन (प्रथम), आदित्यवर्धन और प्रभाकरवर्धन को परमादित्य भक्त कहा गया है। हर्षचरित में भी प्रभाकरवर्धन को सूर्य का परम भक्त और उपासक बताया गया है, जो प्रतिदिन प्रातःकाल पूर्वाभिमुखी होकर रक्तकमलों के स्तबक से सूर्य की अर्चना करता था।[2] सोनपतमुहर में श्रीहर्ष के अग्रज राज्यवर्धन (द्वितीय) को भी परमादित्यभक्त कहा गया है।[3] किन्तु श्रीहर्ष के दोनों अभिलेखां में इन्हें 'परम सौगत' अर्थात् भगवान् बुद्ध का अनन्य समर्थक लिखा गया है। इससे प्रतीत होता है कि राज्यवर्धन प्रारम्भ में अपनी कुल की धार्मिक परम्परा का पालक था, किन्तु बाद में बौद्ध धर्म की ओर आकृष्ट हो गया।

हर्षचरित और अभिलेखों से ज्ञात होता है कि हर्षवर्धन भी अपने पूर्वजों के समान सूर्य और शिव का उपासक रहा तथा ब्राह्मणधर्म का अनुयायी रहा। बांसखेड़ा और मधुवन के अभिलेखों में इनके लिए 'परममाहेश्वर' का प्रयोग किया गया है। प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाओं में आरम्भ में शिव-पार्वती की स्तुति की गयी है। यद्यपि नागानन्द के

१. हर्षचरितम्, तृतीयोच्छ्वास-'यतस्तस्य केनचिदुपदिष्टा सहजैव शैशवादारभ्यान्यदेवताविमुखो भगवति भक्ति सुलभे भुवनभूति भूतभावने भवच्छिदि भवे भूयसी भक्तिरभवत्।'

२. वही, चतुर्थोच्छ्वास-निसर्गत एव च स नृपतिरादित्यभक्तो बभूव। प्रतिदिनमुदये दिनकृतः स्नातः सितदुकूलधारी धवलकर्पटप्रावृतशिराः प्राङ्मुखः क्षितौ जानुभ्यां स्थित्वा कुङ्कुमपङ्कानुलिप्ते मण्डलके पवित्रपारागपात्रानिहितेन स्वहृदयेनेव सूर्यानुरक्तेन रक्तकमलषण्डेनार्चां ददौ।।'

३. प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी, हर्षवर्धन और उनका युग, पृ० ७८।

आरम्भ में हर्ष ने बुद्ध की ही स्तुति की है किन्तु नाटक में गौरी (पार्वती) प्रति अनन्य भक्ति प्रदर्शित की है। सिद्धाश्रम के प्रति भी सम्मान प्रकट किया गया है। हर्षचरित के अनुसार, गौडनरेश शशाङ्क के विरुद्ध अभियान प्रारम्भ करने से पूर्व हर्ष ने भगवान् 'नीललोहित' की पूजा की थी।[1] सोनपत से प्राप्त हर्ष की मुहर पर 'नन्दी' अङ्कित है। हर्षचरित में प्राग्ज्योतिषेश्वर कुमारराज की शिवभक्ति का अनुमोदन हर्ष ने खुले दिल से किया है।[2]

इस प्रकार, स्पष्ट है कि हर्षवर्धन मूलतः सूर्य और शिव के भक्त और वैदिक-धर्मानुयायी थे। हेनसांग के विवरण से ज्ञात होता है कि बौद्धधर्म स्वीकार कर लेने पर भी वे पूर्णतः सूर्य और शिव के तथा कुलदेवताओं की उपासना करते रहे।

यद्यपि हर्षवर्धन ने बौद्धधर्म बहुत बाद में स्वीकार किया (सम्भवतः युद्धों से विरत होने के पश्चात् ६४३ ई० में) किन्तु वे पहले से ही इस धर्म से प्रभावित थे। बौद्ध आचार्य दिवाकरमित्र के सम्पर्क में वे अपनी बहिन राज्यश्री की प्राणरक्षा के समय में आये। राज्यश्री को उन्होंने कषाय ग्रहण का वचन भी दिया था। बौद्धधर्म में ले आने का बहुत कुछ श्रेय यात्री हेनसांग को है। 'लाइफ' के अनुसार, हेनसाग ने महायान सम्प्रदाय पर एक प्रौढ़ शास्त्रीय ग्रन्थ की रचना की। उसकी सारगर्भित व्याख्या उसने हर्ष और राज्यश्री को सुनायी। फिर तो दोनों ने महायान सम्प्रदाय को अङ्गीकार कर लिया। साथ ही अपने राज्य में बौद्धधर्म का प्रचार करने का भी निश्चय किया। उसने हेनसांग की अध्यक्षता में कन्नौज में महायान पर १९ दिनों चली एक महासभा का आयोजन किया, जिसमें हर्ष समेत १८ देशों के राजा, हर्ष की प्रजा, तीस हजार बौद्धाचार्य, तीन हजार ब्राह्मण और निर्ग्रन्थ तथा नालन्दा के एक हजार आचार्य अपने शिष्यों के साथ सम्मिलित हुए। इस महासभा का विस्तृत विवरण 'लाइफ' और 'रेकर्ड्स' में उपलब्ध है।

कन्नौज में आयोजित इस महायान महासभा के पश्चात् उसी वर्ष (६४३ ई०) हर्षवर्धन ने प्रयाग में दान महोत्सव का भी आयोजन किया, जिसे उसने अपने जीवनपर्यन्त हर पाँच वर्ष बाद निरन्तर आयोजित करना जारी रखा। इस महोत्सव में उस वर्ष हेनसांग भी हर्ष के साथ सम्मिलित हुआ। प्राप्त साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि यह दानमहोत्सव हर्षवर्धन द्वारा सर्वप्रथम ६१२-१३ ई० में आयोजित किया गया था। 'रेकर्ड्स' के विवरण के अनुसार 'शीलादित्य' (श्रीहर्षवर्धन) अपने पूर्वजों की भाँति प्रयाग के संगम क्षेत्र में दानमहोत्सव आयोजित कर अपना सर्वस्व दान कर दिया करता था। अतः यह उत्सव मूलतः वैदिक धर्मोत्सव था, न कि बौद्धधर्मोत्सव। हर्ष ने इसमें सूर्य और शिव के साथ बुद्ध की पूजा भी सम्मिलित कर ली।

---

१. हर्षचरित, सप्तमोच्छ्वास - 'विरचय्य परमया भक्त्या भगवतो नीललोहितस्यार्चाम्..।'

२. वही, सप्तमोच्छ्वास - 'स्वयं बाहुशाली मयि च समालम्बितशरासने सुदृदि हरादृते कमन्यं नमस्यति।'

बौद्ध धर्म स्वीकार कर लेने पर भी हर्ष सभी धर्मों का आदर करता था। उसने अपने राज्य में प्राणिहिंसा का कठोर निषेध कर दिया था और जन-कल्याण के लिए सदैव सचेष्ट रहता था। सम्राट् हर्षवर्धन के ही शब्दों में- **"मनसा वाचा कर्तव्यं प्राणिहितं हर्षेणैतत्समाख्यातधर्म्मार्जनमनुत्तमम्।"**[1] अर्थत् मन, वचन, कर्म से प्राणिमात्र का कल्याण करना ही हर्ष धर्मार्जन का सर्वोत्तम उपाय मानता है।

श्रीहर्षवर्धन का विद्यानुराग –

भारतवर्ष के प्राचीन राजाओं शूद्रक, विक्रमादित्य, समुद्रगुप्त, भोजराज आदि के समान ही दिग्विजयी सम्राट् हर्षवर्धन भी योद्धा और कुशल प्रशासक होने के साथ-साथ अत्यन्त विद्यानुरागी, सरस्वती समर्थक, कुशल कवि एवं नाटककार, विद्या का संरक्षक और विद्वानों का समादरकर्ता आश्रयदाता था। शस्त्र और लेखनी, दोनों ही उसके हाथों की शोभा बढ़ाते थे। हर्ष स्वयं एक विद्वान् और कवि थे। काव्यप्रेमी और ग्रन्थकार होने होने के साथ ही हर्ष राजकुलोचित सङ्गीत और ललितकलाओं के प्रेमी तथा गुणज्ञ ज्ञाता थे।[2]

विद्यानुरागी हर्ष ने (हेनसांग के अनुसार) व्यय के आधार पर राजकीय भूमि को चार भागों में विभक्त करवाया था। एक भाग की आय से पण्डितों, विद्वानों और कवियों के भरण पोषण की व्यवस्था की जाती थी, तथा उन्हें पुरस्कृत किया जाता था। हर्ष की सभा में महाकवि बाण, मयूर और दिवाकर के अतिरिक्त 'हरिदत्त' नामक एक अन्य कवि भी विराजमान रहते थे।

विद्यानुरागी हर्ष के शासन में विद्वानों को जो सम्मान प्राप्त हुआ, उससे विद्या के प्रसार को अत्यधिक प्रोत्साहन मिला। हेनसांग के अनुसार, चूंकि विद्या और प्रतिभा का राज्य बहुत आदर करता था, अतः जनसाधारण में भी विद्वानों का बहुत सम्मान था। लोगों में ज्ञानार्जन की प्रवृत्ति इस कदरबढ़ी हुई थी कि निर्धन विद्यार्थी भी भोजन वस्त्र की चिन्ता न कर अध्ययन के लिए विद्वान् आचार्यों और दूरस्थ गुरुकुलों में जाते थे। प्रजा में ज्ञान-विज्ञान के प्रति जिज्ञासा सदैव बनी रहती थी। नालन्दा विश्वविद्यालय, जिसे सम्राट् हर्ष का पूर्ण संरक्षण प्राप्त था, दस हजार विद्यार्थियों और एक हजार दस आचार्यों से भरापूरा था। सम्राट् ने वहाँ की व्यवस्था के लिए एक सौ गाँव की मालगुजारी जागीर में दे रखी थी और वहाँ के आचार्यों-स्नातकों की बड़ी प्रतिष्ठा करता था।

हर्षवर्धन का अनुभाव (व्यक्तित्व) –

सम्राट् हर्षवर्धन की जीवनशैली और शासनपद्धति से प्रतीत हाता है कि उसने

---

१. बांसखेड़ा अभिलेख की पंक्ति १४ और मधुवन अभिलेख की पंक्ति १७ ।
२. हर्षचरित - 'सर्वविद्यासंगतिकगृहमिव सरस्वत्याः कन्यान्तःपुरमिव कलानाम्।'

सम्राट् अशोक को अपना आदर्श चुन रखा था। सम्राट अशोक की ही तरह हर्ष ने भी अपने जीवन के उत्तरकाल में बौद्धधर्म स्वीकार करके उसके प्रचार-प्रसार हेतु भरपूर प्रयत्न किया। उसने प्राणिमात्र की हिंसा का निषेध किया। ह्वेनसांग और दिवाकरमित्र के सम्पर्क से हर्ष बौद्धधर्म से जुड़ा अवश्य किन्तु अपने पूर्व संस्कारवश वैदिक धर्म और सूर्य-शिव आदि देवताओं की उपासना से अलग भी नहीं हुआ। हर्ष स्वयं कवि और विद्वान् तो था ही, वह कवियों और विद्वानों का समादरकर्त्ता भी था। उसके राज्याश्रय में अनेक कवि और विद्वान् निश्चिन्त होकर सरस्वती का भण्डार भर रहे थे। हर्ष शस्त्र और शास्त्र दोनों का कुशल प्रयोक्ता था। वह अपने माता-पिता और बड़े भाई के प्रति अत्यन्त श्रद्धावान् था और उनसे वियुक्त होकर शोकाकुल हो गया। वह आयु और अनुभव में अपने से वृद्ध मन्त्रियों, सेनापति आदि का भी बहुत आदर करता था और उनकी बातें ध्यानपूर्वक सुनकर उनका पालन भी करता था। यही कारण है कि राज्यवर्धन की मृत्यु के पश्चात् अत्यन्त विचलित हर्ष को जब उसके सेनापति ने कर्तव्यबोध कराया तो उसने उसके प्रेरणाप्रद वचनों का पूरा सम्मान किया। वीरता के साथ धीरता से मण्डित, लोक और शास्त्र के पण्डित श्रीहर्षवर्धन योद्धा, कुशलप्रशासक, प्रजावत्सल, उदार दानी, विद्वत्समर्चक, धर्मबुद्धि और सुहृज्जनों के प्रेमी मित्र के रूप में अत्यन्त प्रभावशाली थे। कुमारावस्थ में दुदैव के प्रहार का दृढ़ता और साहसपूर्वक सामना करते हुए उन्होंने अपने व्यक्तित्व को खरे सोने की तरह ढाला। निःसन्देह सम्राट हर्षवर्धन भारत की महान् विभूतियों में अग्रगण्य हैं।

श्रीहर्षवर्धन का स्थितिकाल –

संस्कृत साहित्य के अन्य अनेक कवियों की तरह श्रीहर्षवर्धन का स्थितिकाल विवादास्पद नहीं है। यद्यपि हर्ष ने अपनी कृतियों में अपना कोई परिचय नहीं दिया है, तथापि उपलब्ध बाह्य प्रमाणों से उनके सम्बन्ध में पूर्ण जानकारी प्राप्त होती है। वे एक इतिहासप्रसिद्ध सम्राट् थे, जिन्होंने प्रायः समस्त उत्तरभारत का अपने शासन के अधीन कर लिया था। ऐसे महान् शासन के स्थितिकाल के सम्बन्ध में न कोई सन्देह है और न ही विवाद। सब कुछ हस्तामलकवत् स्पष्ट है।

आचार्य आनन्दवर्धन ने 'ध्वन्यालोक' में 'रत्नावली' से उद्धरण दिया है। आनन्दवर्धन, कश्मीरनरेश अवन्ति वर्मा (८५५-८४ ई०) के समकालिक थे। दामोदरगुप्त ने अपने 'कुट्टनीमतम्' में रत्नावली का उल्लेख किया है। दामोदरगुप्त, कश्मीरनरेश जयापीड (७७९-८१३) के सभाकवि एवं मन्त्री थे। इससे सिद्ध है कि दामोदरगुप्त के समय तक रत्नावली पर्याप्त प्रसिद्ध हो चुकी थी। अतः श्रीहर्षवर्धन का स्थितिकाल किसी भी तरह आठवीं शताब्दी ई० के बाद नहीं है।

चालुक्यनरेश पुलकेशी द्वितीय ने नर्मदा तट पर हर्ष को पराजय का स्वाद चखाया था। इसका स्पष्ट उल्लेख उसके ऐहोल शिलालेख के तेईसवें पद्य में प्राप्त होता है।[1] इस शिलालेख का निर्माण काल शकाब्द ५५६ अर्थात् ६३४-३५ ई० है।[2] इस प्रकार श्री हर्षवर्धन, पुलकेशी द्वितीय के समकालिक थे। पुलकेशी द्वितीय का शासनकाल ६११ से ६४२ ई० तक था।[3]

हर्षवर्धन के दो दानपत्र (अभिलेख) प्राप्त हुए हैं। पहला बांसखेड़ा में और दूसरा मधुवन में। बांसखेड़ा से प्राप्त दानपत्र पर उसकी निर्माण तिथि कार्तिक बदी १ हर्ष संवत् २२ अङ्कित है। हर्ष ने अपने राज्याधिरोहण के समय अपने नाम से 'हर्षसंवत्' का प्रवर्तन किया था। इसी प्रकार, मधुवन ताम्रपत्र पर तिथि मार्गशीर्ष बदी ६५ हर्षसंवत् २५ अङ्कित है। इन दोनों दानपत्रों का लेखनकाल क्रमशः ६२८ ई० और ६३१ ई० है। इन दोनों पर हर्षवर्धन का अलङ्कृत हस्ताक्षर अंकित है। इससे सिद्ध है कि ये दोनों दानपत्र हर्ष ने अपने शासनकाल में लिखवाये थे। अतः सातवीं ई० शताब्दी के पूर्वार्द्ध में हर्ष द्वारा शासन किया जाना प्रमाणित होता है।

हर्षवर्धन का जन्म ५९० ई० के लगभग हुआ था।[4] अक्टूबर, ६०६ ई० में वह स्थाण्वीश्वर (थानेसर) के राजसिंहासन पर आसीन हुआ। शासन सूत्र सम्भालने के तुरनत बाद वह अपने शत्रुओं को पराभूत करने तथा राज्य का विस्तार करने में लग गया। इस प्रकार उसने अपने शासन के प्रारम्भिक छः वर्ष निरन्तर युद्ध में ही व्यतीत किये। तत्पश्चात् प्रायः ३० वर्षों तक सुख-शान्तिपूर्वक अपने विस्तृत राज्य का शासन करता रहा। ६४७-४८ ई० में उसके शासन का अन्त हो गया। अतः निश्चित ही उसका देहावसान ६४७ ई० के अन्त अथवा ६४८ ई० के प्रारम्भ में हो गया।[5] इस प्रकार श्रीहर्षवर्धन प्रायः ५७ वर्ष तक जीवित रहा।

---

१. अपरिमितविभूतिस्फीतसामन्तसेनामुकुटमणिमयूखाक्रान्तपादारविन्दः।
युधि पतितगजेन्द्रानीकबीभत्सभूतो भयविगलितहर्षो येन चाकारि हर्षः।।

२. प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी, हर्षवर्धन और उनका युग, पृ० १५६।
पञ्चाशत्सु कलौ काले ऽष्टसपञ्चशतासु च।
समासु समतीतासु शकानामपि भूभुजाम्।।

३. वही, पृ० १२७।

४. वही, पृ० ६।

५. वही, पृ० ६०। वहीं फुटनोट २-
इतिहासकार वी० स्मिथ हर्षवर्धन की मृत्यु ६४६ ई० के अन्त में अथवा ६४७ के प्रारम्भ में मानते हैं। श्री पणिक्कर का मानना है कि हर्ष का निधन ६४७ ई० में हुआ। 'लाइफ' के अनुसार, हर्ष की मृत्यु ६५५-५६ ई० में हुई थी।

उपर्युक्त विवरण के आधार पर श्रीहर्षवर्धन का जन्म ५९० ई० में हुआ और उसकी मृत्यु ६४७ ई० के अन्त या ६४८ ई० के आरम्भ में हुई। उसका शासन काल ६०६ ई० से ६४७ ई० तक रहा। इतिहासकारों के अनुसार वह प्रायः १७ वर्षों की आयु में राजसिंहासन पर आसीन हुआ था ओर ५७ वर्ष की आयु में उसकी मृत्यु के साथ ही उसका शासन भी समाप्त हो गया। वह पुष्यभूति वंश का अन्तिम शासक था।

श्रीहर्षवर्धन की कृतियाँ

संस्कृत-साहित्य में श्री हर्षवर्धन की ख्याति मुख्यतः इनके द्वारा रचित तीन रूपकों के कारण ही है। ये रूपक हैं- प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द। इन तीनों में से पहले दो रूपक तो नाटिका हैं। इन नाटिकाओं की विषयवस्तु वत्सराज उदयन का लोकहारी प्रणय-आख्यान है। तीसरा रूपक एक नाटक है, जिसमें बोधिसत्त्व जीमूतवाहन का पितृप्रेम, प्रणयवृत्तान्त और दयाभावना चित्रित है।

उपर्युक्त तीन रचनाओं के अतिरिक्त हर्षवर्धन द्वारा विरचित दो स्तोत्र भी हैं। इन स्तोत्रों का विषय बौद्धधर्म से सम्बद्ध है। ये स्तोत्र हर्ष के जीनकाल की उत्तरवर्ती रचनायें हैं। प्रथम स्तोत्र का नाम - 'सुप्रभातस्तोत्र' है। इसमें कुल २४ पद्य हैं जिनमें से अधिकांश मालिनी छन्द में निबद्ध हैं। इन पद्यों द्वारा अवलोकितेश्वर बुद्ध की स्तुति की गयी है। इसकी पुष्पिका में श्रीहर्ष नाम आया है। द्वितीय स्तोत्र का नाम 'अष्टमहाश्रीचैत्यसंस्कृतस्तोत्र' है और इसमें कुल ५ पद्य हैं। इस स्तोत्र में आठ बौद्ध-चैत्यों की प्रशंसा की गयी है। वर्तमान समय में यह स्तोत्र मूलरूप में उपलब्ध नहीं है, किन्तु इसका चीनी भाषा में अनुवाद सुरक्षित है। चीनी बौद्धयात्री ह्वेनसांग के अनुसार यह एक भारतीय राजा द्वारा रचित है। चीनी भाषा में इस राजा को 'शील का सूर्य' कहा गया है जो वस्तुतः 'शीलादित्य' का अनुवाद है। ध्यातव्य है कि बौद्धसाहित्य में हर्षवर्धन को 'शीलादित्य' कहा गया है। अतः ये दोनों स्तोत्र सम्राट्-कवि हर्षवर्धन की ही रचनायें हैं।

महाराज श्रीहर्षवर्धन के दो दानपत्र (ताम्राभिलेख) भी प्राप्त हुए हैं। ये ताम्रपत्र क्रमशः बांसखेड़ा और मधुवन नामक स्थानों से पाये गये हैं। इन अभिलेखों की शैली साहित्यिक है और इन पर सम्राट हर्षवर्धन का विभ्रमयुत (सजावटी अक्षरों में) हस्ताक्षर भी उत्कीर्ण है।

ऐसी भी प्रसिद्धि है कि हर्ष ने व्याकरणविषयक एक ग्रन्थ भी लिखा है, किन्तु यह ग्रन्थ अभी तक अप्राप्त है।

संस्कृत के सुभाषित ग्रन्थों में हर्ष के नाम से अनेक पद्य प्राप्त होते है। उनमें से एक श्लोक है-

अशठमलोलमजिह्मं त्यागिनमनुरागिणं विशेषज्ञम्।
यदि नाश्रयति नरं श्रीः श्रीरेव हि वञ्चिता तत्र।।[1]

किन्तु यह पद्य और अन्य भी, हर्षवर्धन की किसी भी रचना में प्राप्त नहीं होते। हो सकता है उनकी कुछ अन्य भी साहित्यिक कृतियाँ रही हों, या ये उनकी फुटकर रचनायें हों।

तीनों रूपकों में परस्पर साम्य तथा उनका एककर्तृत्व -

किसी कवि या रचनाकार की अनेक कृतियों में वस्तु और पात्रों की भिन्नता रहते हुए भी भाषा-शैली और भावों की समानता प्रायः परिलक्षित होती है। महाकवि श्रीहर्षवर्धन की नाट्यकृतियों में भी इस प्रकार का साम्य पर्याप्तरूपेण पाया जाता है। इस प्रकार, भाषा-शैली और भावों का अन्तःसाक्ष्य उन कृतियों के एककर्तृत्व का निर्धारण करने में महत्त्वपूर्ण सहायक होता है।

प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द का अध्ययन करने से इस प्रकार की समानतायें प्रचुर मात्रा में मिलती हैं। ऐसे स्थलों का अवलोकन करने से हमें सर्वप्रथम तीनों ही रूपकों की प्रस्तावनाओं में सूत्रधार की एकवाक्यता अक्षरशः समान प्रतीत होती है-

(नान्द्यन्ते)

सूत्रधारः- अलमतिविस्तरेण। अद्याहं वसन्तोत्सवे सबहुमानमाहूय नानादिग्देशागतेन राज्ञः श्रीहर्षदेवस्यपादपओपजीविना राजसमूहेनोक्तो यथा-

.....(परिक्रम्यावलोक्य च)

अये, आवर्जितानि सकलसामाजिकानां मनांसीति मे निश्चयः। कुतः -

श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी।
लोके हारि च वत्सराजचरितं नाट्ये च दक्षा वयम्।
वस्त्वेकैकमपीह वाञ्छितफलप्राप्तेः पदं किं पुन-
र्मद्भागोपचयादपं समुदितः सर्वो गुणानां गणः।।

प्रस्तावना के उपयुक्त अंश प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाओं में अक्षरशः समान हैं, किन्तु नागानन्द में 'वसन्तोत्सवे' के स्थान पर 'इन्द्रोत्सवे' और 'वत्सराजचरितं' क स्थन पर 'बोधिसत्त्वचरितं' का प्रयोग हुआ है। शेष अंश इसमें भी अक्षरशः एकरूप है। इन तीनों रूपकों के नाम वाले स्थानों में स्वाभाविक रूप से भिन्नता है। यथा- 'प्रियदर्शिका नाम नाटिका', 'रत्नावली नाम नाटिका' और 'नागानन्दं नाम नाटकम्'। तीनों

१. डॉ. रमाशङ्कर त्रिपाठी, रत्नावली नाटिका, प्रस्तावना, पृ० १२।

रूपकों के प्रस्तावना के उद्धृत समान अंश में ग्रथित वस्तु और उल्लेख के आधार पर इन तीनों का एककर्तृत्व प्रमाणित होता है। अर्थात्, महाराज हर्षवर्धन ही इन तीनों नाट्यकृतियों के कर्ता हैं, जिनका अभिनय कुशल पात्रों द्वारा हर्ष के अनुजीवी राजाओं-सामन्तों के आग्रह पर वसन्तोत्सव और इन्द्रोत्सव के अवसर पर किया गया था।

प्रियदर्शिका और रत्नावली में समानता -

इन दोनों नाटिकाओं में वस्तु, भाव और शैली की पर्याप्त समानता पायी जाती है। दोनों का इतिवृत्त उदयन की प्रणयकथा से सम्बद्ध है। दोनों ही चार अङ्कों में निबद्ध शृङ्गाररस प्रधान नाटिकायें हैं। दोनों नाटिकायें, नाट्यशास्त्र के अनुसार नाटिका की विशेषताओं से युक्त हैं। दोनों में घटनायें और वर्णनशैली भी प्रायः स मान है। दोनों में ही वसन्तक नामक राजा का मित्र विदूषक है। और उसकी भूमिका भी दोनों में समान है दोनों ही नाटिकाओं में वह महारानी वासवदत्ता द्वारा बन्धन में डाला जाता है और अन्ततः उपहार भी प्राप्त करता है।

प्रियदर्शिका के तृतीय अङ्क का आरम्भ, रत्नावली के द्वितीय अङ्क के समान है। प्रियदर्शिका के प्रथम अङ्क की लड़ाई का वर्णन, रत्नावली के चतुर्थ अङ्क के वर्णन की ही तरह है। इन दोनों नाटिकाओं के भावों और वाक्यों की समानता भी द्रष्टव्य है-

(क) 'अयं खलु स महाराजो यस्याहं तातेन दत्ता' - प्रियदर्शिका, द्वि० अङ्क।
'अयं स राजा उदयनो यस्याहं तातेन दत्ता' - रत्नावली, प्र० अङ्क।

(ख) 'कथमकृत्वैव प्रसादं गता देवी' - प्रिय० तृतीय०।
'कथमकृत्वैव प्रसादं गता देवी' - रत्ना०, तृतीय०।

(ग) स्वेदापदेशादविरतममृतं स्पन्दते व्यक्तमेतत्' -प्रिय०, तृतीय।
'कृतोऽन्यथा स्रवत्येष स्वदच्छद्मामृतद्रवः' -रत्ना०, द्वितीय।

(घ) 'कोपस्ते प्रकटप्रयत्नविधृतोऽप्येष स्फुटं लक्ष्यते' - प्रिय०, द्वितीय।
'कोपश्च प्रकटीकृतो दयितया मुक्तश्च न प्रश्रयः' -रत्ना०, द्वितीय।

(ङ) इस प्रकार के अन्य भी अनेक स्थल हैं। दोनों ही नाटिकाओं के भरतवाक्य भी प्रायः एक समान हैं।

(च) दोनों ही नाटकाओं में सूर्य और उसके प्रभाव का वर्णन किया गया है।

इसमें सन्देह नहीं कि दोनों नाटिकायें एक ही कवि की रचना है। प्रतीत होता है कि प्रियदर्शिका में अपने कविकर्म से सन्तुष्ट न होकर कवि ने उसी इतिवृत्त को अपनाते हुए उससे भी उत्कृष्ट नाटिका की रचना करने के दृढ़संकल्प से रत्नावली का प्रणयन किया।

प्रियदर्शिका और नागानन्द में समानता -

यद्यपि विषय और प्रबन्ध की दृष्टि से प्रियदर्शिका और नागानन्द असमान रचनायें हैं, तथापि भावगत और वाक्यगत समानता दोनों ही नाट्यकृतियों में प्राप्त होती है। यहाँ कतिपय स्थल द्रष्टव्य हैं-

(क) 'अयं कथं नभोमध्यमध्यास्ते भगवान् सहस्रदीधितिः'-प्रियदर्शिका, प्र० अङ्क।
'अये मध्यमध्यास्ते नभस्तलस्य भगवान् सहस्रदीधितिः'-नागानन्द, प्र० अङ्क।

(ख) 'निर्दोषदर्शना कन्यका खल्वियम'-प्रिय०, द्वि० अङ्क।
'कन्यका हि निर्दोषदर्शना भवन्ति'-नगा०, प्रथम अङ्क।

(ग) 'रुमण्वन्, इत आस्यताम्। अपि कुशली भवान्'-प्रिय०, प्रथम।
'मित्रावसो, इत आस्यताम्। अपि कुशली सिद्धराजो विश्वावसुः'-नागा०, तृतीय।

(घ) 'तावदहं त्वरितं दीर्घिकायां स्नात्वा देव्याः सकाशं गमिष्यामि'-प्रिय०, द्वितीय।
'तद्यावदहमति इह दीर्घिकायां स्नास्यामि। प्रेक्षे प्रियवयस्यम्'-नागा०, तृतीय।

(ङ) 'भो वयस्य, पूर्णास्ते मनोरथाः' -प्रिय०, द्वितीय।
'ही ही भो सम्पूर्णा मनोरथाः प्रियवयस्यस्य' -नागा०, द्वितीय।

ऐसे समान स्थल अनेक हैं। प्रियदर्शिका के श्लोक ३,३ और ३, १० क्रमशः नागानन्द १.१५ ओर ४.१ में किञ्चित्परिवर्तन के साथ यथावत् प्रयुक्त हैं।

प्रियदर्शिका में नायिका के प्रथम दर्शन के समय नायक, विदूषक के साथ है और विदूषक ही नायिका को देखता है। ठीक यही स्थिति नागानन्द में भी है।

रत्नावली और नागानन्द में समानता -

यद्यपि रत्नावली और नागानन्द भी विषय तथा प्रबन्ध की दृष्टि से भिन्न कोटि की रचनायें हैं तथापि दोनों में अनक समानताएँ हैं-

(क) दोनों रूपकों के प्रथम अङ्क के आरम्भ में नायक द्वारा विदूषक से व्यक्त किये गये भावों में समानता है। 'राज्यं निर्जितशत्रु....।' (रत्नावली, १.६) तथा 'न्याय्ये वर्त्मनि योजिताः प्रकृतयः' (नागानन्द, १.८)।

(ख) 'भोः, पदशब्द इव श्रूयते' - रत्ना०, द्वितीय०।
'भर्तृदारिके, पदशब्द इव ब्रूये' -नागा०, द्वितीय०।

इस प्रकार की अनेक समानतायें दोनों नाट्यग्रन्थों में प्राप्त हैं। दोनों के ही तृतीय अङ्क में सूर्यास्त का वर्णन किया गया है। दोनों में शीतल मण्डप (कदलीगह एवं

चन्दनलतामण्डप) की योजना है। दोनों ही रूपकों में लतागृह में फलक पर चित्र बनाया दिखाया गया हे रत्नावली में नायिका, नायक का चित्र बनाती है और नागानन्द में नायक, नायिका का चित्र बनाता हे। रत्नावली मं सागरिका अपना प्रेम असफल मानकर माध्वीलता का फन्दा बनाकर उसे आत्महत्या की चेष्टा करती है। विदूषक देखकर चिल्लाता है और नायक वत्सराज दौड़कर सागरिका को बचाता है। इसी प्रकार नागानन्द में भी निराश मलयवती भी माधवीलता का फन्दा बनाकर आत्महत्या करने की चेष्टा करती है ओर देखकर चेटी के शोर मचाने पर नायक जीमूतवाहन आकर उसे बचाता है।

श्रीहर्षवर्धन ही इन तीनों रूपकों के कर्ता –

संस्कृत साहत्य के विद्वानों एवं समीक्षकों में इस सम्बन्ध में ऐकमत्य नहीं है कि प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द एक ही व्यक्ति की रचनाएं हैं और वह व्यक्ति है महाराज श्रीहर्षवर्धन। यह विवाद बहुत पहले से चला आ रहा है कि स्वयं सम्राट् हर्ष ने इन तीनों रूपकों की रचना की है अथवा उनके आश्रित किसी कवि की, जिसने प्रचुर धन प्राप्त कर इन तीनों को श्रीहर्षवर्धन को समर्पित कर दिया और हर्ष बड़ी चतुराई से उन्हें अपने नाम से प्रचारित कर दिया। सम्भवतः इस प्रकार की कानाफूसी हर्ष के समय में ही आरम्भ हो गयी थी और हर्ष को यह ज्ञात भी हो गया था कि कुछ ईर्ष्यालु इस प्रकार का दुष्प्रचार कर रहे हैं। इस सम्भावना का सङ्केत स्वयं श्री हर्षवर्धन ने प्रियदर्शिका और रत्नावली के भरतवाक्य में किया है-

'निःशेषं यान्तु शान्तिं पिशुनजनगिरो दुर्जया[1]' वज्रलेपाः'।।

यहाँ 'पिशुनजनगिरः' उक्त कानाफूसी का ही सङ्केत करता है।

१. हर्ष के द्वारा राज्यशासन सम्हालने के बाद से उसे नाना प्रकार की दुःखद घटनाओं का सामना करना पड़ा। शत्रुओं से बदला लेने और राज्य का विस्तार करने के बाद भी उसे बाह्य और आन्तरिक शत्रुओं पर सदैव सतर्क दृष्टि रखनी पड़ती थी। फिर इतने सुविस्तृत राज्य का शसन और प्रजापालन करने में ही वह इतना व्यस्त रहता था क सतत अभ्यास से निपुणता प्राप्त करके निर्माण किये जाने वाले इस प्रकार के तीन-तीन रूपकों का प्रणयन वह कैसे कर सकता था?

२. आचार्य मम्मटने अपने गन्थ 'काव्यप्रकाश' में काव्यप्रयोजन का निर्देश करने वाली कारिका- 'काव्यं यशसेऽर्थकृते.....।।' (१/२) की वृत्ति में 'अर्थकृते' को स्पष्ट करने के लिए लिखा है- 'श्रीहर्षदेर्धावकादीनामिव धनम्' (पाठान्तर- श्रीहर्षा बाणादीनामिव धनम्)। इस अंश की टीकाकारों ने ऐसी व्याख्या कर दी कि रत्नावली आदि के कर्ता

---

१. प्रियदर्शिका में 'दुर्जयाः' के स्थान पर 'दुःसहाः' पाठ है।

धावक या बाण को अपनी कृतियां हर्ष के नाम कर देने से प्रचुर धन की प्राप्ति हुई। काव्यप्रकाश के टीकाकार नागेश ने अपनी 'उद्योत' नामक टीका में लिखा है- 'धावकः कविः। स हि हर्षनाम्ना रत्नावलीं कृत्वा बहु धनं लब्धवानिति प्रसिद्धम्।' इसी प्रकार, परमानन्द नामक एक अन्य टीकाकार ने भी लिखा- 'धावकनामा कविः स्वकृतिं रत्नावलीनामनाटिकां विक्रीय श्रीहर्षनाम्नो राज्ञः सकाशाद् बहुधनमवापेति पुरा वृत्तम्।'

पाश्चात्य विद्वान् हॉल ने 'वासवदत्ता' की प्रस्तावना में लिखा है कि रत्नावली का श्लोक- 'द्वीपाद्.....।।' हर्षचरित के पञ्चम उच्छ्वास में मिलता है। चूँकि एक प्रसिद्ध कवि दूसरे कवि के भाव या श्लोकों की चोरी नहीं करता, अतः हर्षचरित के लेखक बाण रत्नावली के भी रचयिता हैं। डॉ० वुलर भी रत्नावली को बाण की कृति मानते हैं।[1]

उपर्युक्त उल्लेखों के आधार पर अनेक विद्वान् इन तीनों रूपकों का कर्ता श्रीहर्षवर्धन को नहीं मानते।

३. बाणभट्ट सम्राट श्रीहर्षवर्धन के समकालिक और उनकी सभा को अलङ्कृत करने वाले महान् कवि थे। उन्होंने अपने आश्रयदाता श्रीहर्ष के जीवन को आधार बनाकर 'हर्षचरित' नामक आख्यायिका की रचना की है। इसमें उन्होंने हर्ष की सभी विशेषताओं का वर्णन किया है। अपने समकालिक तथ पूर्वकालिक कवियों का भी उल्लेख किया है। किन्तु इस रूप में अपने आश्रयदाता की चर्चा नहीं की है। यदि हर्ष कवि रहे होते और उन्होंने इन सुन्दर नाट्यकृतियों की रचना की होती, तो अवश्य ही इस रूप में उनकी प्रशंसा करते। अतः श्रीहर्षवर्धन का रत्नावली आदि रूपकत्रय का कर्ता होना सन्दिग्ध ही लगता है।

अब क्रमशः इन तीनों पर विचार किया जाता है।[2]

इनमें से प्रथम आपत्ति पर विचार करते समय यह ध्यान रखना आवश्यक है कि भारत का इतिहास ऐसे अनेक राजाओं के वृत्तान्त से भरा है जो वीर योद्धा और कुशल प्रशासक होने के साथ ही विद्वान् लेखक, कवि और साहित्य प्रेमी थे। वे न केवल अन्य कवियों को पुरस्कृत करके प्रोत्साहित करते थे अपितु स्वयं भी उच्चकोटि की रचनायें करते थे। शूद्रक, विक्रमादित्य, हाल, समुद्रगुप्त, भोजराज आदि अनेक अनेक सम्राट् इस रूप में प्रसिद्ध हैं। वे भी युद्ध करते थे, व्यवहार देखते थे और राज्य का शासन करते थे तथा साथ ही 'काव्यशास्त्रविनोद' भी करते थे। उनकी रचनाओं को लेकर कोई इस तरह का आक्षेप नहीं लगाया जाता फिर हर्षवर्धन ही आक्षेप के पात्र क्यों? महाराज हर्ष का सम्पूर्ण शासनकाल चालीस (४०) वर्षों का रहा। ऐतिहासिक प्रमाणों और हेनसांग के विवरण क

---

१. डॉ० अमरनाथ पाण्डेय, बाणभट्ट का साहित्यिक अनुशीलन, पृ० ४०।
२. इस सम्बन्ध में विस्तृत विमर्श मेरी पुस्तक 'महाकवि हर्षवर्धन' (पृ० २६-४२) में द्रष्टव्य है।

अनुसार अपने शासन के प्रारम्भिक छः वर्षों तक हर्ष (शीलादित्य) ने निरन्तर युद्ध किया और उसके पश्चात् तीस (३०) वर्षों तक शान्तिपूर्वक शासन किया।[1] हर्षवर्धन का शासनकाल ६०६ ई० से ६४७ ई० तक था। उनकी सभा में बड़े-बड़े विद्वान् और महान् कवि थे। अतः यह कैसे कहा जा सकता है कि काव्य रचना के योग्य परिवेश या वातावरण हर्ष को सुलभ न था। रत्नावली आदि रूपकों के अन्तःसाक्ष्य[2] से भी सङ्केत मिलता है कि हर्ष ने सारे शत्रुओं को जीतकर अपने अधीन कर लिया था, प्रजा के समस्त कष्टों का निवारण कर दिया था, उनके सारे सचिव योग्य थे और अपने दायित्वों का निर्वाह अच्छी तरह कर रहे थे। राजा राज्यकार्य उनको सौंप कर निश्चिन्त था। अतः निश्चय ही हर्ष ने अपने शासन के उत्तरकाल में प्रजानुरञ्जक, धर्मसञ्चय और सरस्वती-आराधन में अपना समय व्यतीत किया। वह प्रायः सुखपूर्वक राज्य में पर्यटन करता था। प्रयाग की धर्मयात्रा का विशाल दानमहोत्सव का आयोजन करता था। ऐसे सुकाल में हर्ष ने प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द की रचना की।

मात्र इस आधार पर कि हर्षवर्धन एक विशाल राज्य के शासक थे और उन्होंने बहुत से युद्ध किये, इसलिये इन रूपकों के कर्ता नहीं हो सकते- कहना नितान्त असमीचीन है। इतिहास साक्षी है कि विगत शताब्दियों और वर्तमान काल में भी विश्व के महान् शासकों तथा राजनेताओं ने अपने राज्यकार्यों, राजनीतिक और सार्वजनिक कार्यों में अत्यन्त व्यस्त रहते हुए भी विविध विषयों पर यथारुचि साहित्यसर्जना की है। क्या यह भी असत्य है अथवा क्या उन्होंने धन देकर दूसरों से ग्रन्थ लिखवाये? यदि नहीं, तो क्या हर्ष को अपने सत्तावन वर्ष के जीवन में इतना भी समय नहीं मिला कि वे तीन लघुरूपकों की रचना कर पाते जब कि रत्नावली तो प्रियदर्शिका की एक चारुतर अनुकृति है।

अतएव इस प्रकार का आक्षेप और संशय असङ्गत है।

अब चूँकि द्वितीय आक्षेप का क्षेत्र विस्तृत है, अतः उस पर विचार करने से पूर्व तृतीय आक्षेप पर विचार कर लेना उचित होगा।

जो सज्जन यह कहते हैं कि बाण ने हर्ष का उल्लेख कवि के रूप में नहीं किया है, वे सर्वथा असत्य कहते हैं और उन्होंने 'हर्षचरित' का सम्यक् अध्ययन नहीं किया है। यद्यपि बाण ने हर्ष की रचनाओं का उल्लेख नहीं किया है किन्तु 'हर्षचरित' में अपने आश्रयदाता श्रीहर्षदेव के कवित्व का स्पष्टतः उल्लेख किया है। हर्ष काव्य और कथाओं के अनास्वादित रसामृत को बहाने वाले हैं- 'काव्यकथास्वपीतममृतमुद्वमन्तम्...।' अन्यत्र भी

---

१. प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी, हर्षवर्धन और उनका युग, पृ० ६०।

२. राज्यं निर्जितशत्रु योग्यसचिवे न्यस्तः समस्तो भरः।
सम्यक्पालनलालिताः प्रशमिता शेषोपसर्गाः प्रजाः।। इत्यादि। रत्नावली, १.६

उन्होंने लिखा है- 'अपि चास्य.... कवित्वस्य वाचः.... न पर्याप्तो विषयः।' ध्यातव्य है बाणभट्ट ने कुछ गिने चुने अपने पूर्ववर्ती कवियों का उल्लेख किया है न कि उन सभी कवियों का जो उनके समय में थे या उनसे पहले थे। उन्होंने कहीं भी धावक या मयूर जैसे सामान्य कवियों का स्मरण नहीं किया है। इसलिए ऐसा नहीं कहा जा सकता कि बाण ने जिन कवियों का उनकी रचनाओं का उल्लेख नहीं किया वे कवि हुए ही न थे अथवा उनकी कोई रचना ही न थी। यद्यपि श्रीहर्ष, बाण के आश्रयदाता थे और बाण उनका अतीव सम्मान भी करते थे किन्तु भासकालिदासादि कवियों की श्रेणी में हर्ष को लाकर खड़ा कर देना शायद बाण को उचित न प्रतीत हुआ हो।

इसका दूसरा भी पक्ष हो सकता है। जैसा कि हम जानते हैं, हर्षचरित में महाराज हर्षवर्धन के पूरे जीवन का वर्णन नहीं है। 'राज्यश्री' की प्राप्ति तक ही हर्ष का चरित वर्णित है। सम्भव है क हर्ष के जीवन के उत्तरभाग में लिखे गये इन तीनों रूपकों की चर्चा अब आती जब हर्ष के पूरी जीवन का चित्रण बाण करते। अथवा, हर्षचरित की रचना होने तक महाराज हर्षवर्धन द्वारा इन रूपकों की रचना ही न हुई हो।

अब हम इस प्रकरण में द्वितीय क्रम पर उल्लिखित आक्षेप पर विचार करते हैं जिसके मूल में काव्यप्रकाश १, २ कारिका की वृत्तिका अंश-'हर्षादिर्धावकादीनामिव धनम्' हैं। यदि आचार्य मम्मट द्वारा उक्त कारिका पर की गयी वृत्ति का गम्भीरतापूर्वक मनन किया जाय तो यह निष्कर्ष निकलता है कि मम्मट का यह अभिप्राय कतई नहीं है कि धावक (या बाण) ने धन लेकर अपनी रचना (रत्नावली आदि) महाराज हर्ष के नाम कर दी। यह तो कुछ टीकाकारों की अपनी कल्पना है जिसने संस्कृत साहित्य जगत् में एक अनावश्यक विवाद की नींव डाल दी।

हॉल महाशय ने जिस श्लोक के आधार पर रत्नावली और हर्षचरित का एक कर्तृत्व सिद्ध करना चाहा है, वह एक नहीं है।[1] यद्यपि दोनों श्लोक 'द्वीप' पद से प्रारम्भ होते हैं किन्तु दोनों ही श्लोक भिन्न हैं। रत्नावली में वह श्लोक इस प्रकार है-

द्वीपादन्यस्मादपि मध्यादपि जलनिधेर्दिशोऽप्यन्तात्।
आनीय झटिति घटयति विधिरप्यभिमतमभिमुखीभूतः।। (१.६)

---

१. हॉल महाशय के अनुसार तो अभिज्ञानशाकुन्तल और नीतिशतक दोनों या तो कालिदास या फिर भर्तृहरि की रचना होनी चाहिए क्योंकि 'भवन्ति नम्रास्तरवः....।।' श्लोक अभिज्ञान० (५.१२) और नीतिशतक (७०) में समान रूप से मिलता है। इसी प्रकार 'नवं शरावं सलिलस्य पूर्ण....।।' श्लोक भास के 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' (४.२) और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' (१०.३) में समान रूप से पाया जाता है। और तो और, रामायण और महाभरत में एक-दो श्लोक को कौन कहे, अध्याय के अध्याय पूरी तरह एक समान मिलते हैं। अतः हॉल महाशय का यह मत विचारणीय नहीं है।

हर्षचरित का श्लोक है-

द्वीपोपगीतगुणमपि समुपार्जितरत्नराशिसारमपि।
पोतं पवन इव विधिः पुरुषमकाण्डे निपातयति।। (षष्ठ उच्छ्वास)

अतः इस असंगत आधार पर बाण को रत्नावली का कर्ता नहीं माना जा सकता।

कॉवेल ने हॉल के मत को मानते हुए भी रत्नावली और नागानन्द को अलग-अलग कवियों की रचना माना है। मैक्डॉनेल का मत है कि प्रियदर्शिका और रत्नावली एक कवि की रचना है किन्तु नागानन्द किसी बौद्ध कवि की रचना है। मैक्डॉनेल की यह मान्यता तो उचित है किन्तु उनके प्रतिपादन का आशय भ्रान्त है। वस्तुतः नागानन्द की रचना हर्ष ने तब की जब उन्होंने बौद्ध धर्म स्वीकार कर लिया था। अतः ये तीनों रूपक हर्षवर्धन की ही रचनायें हैं।

रमेशदत्त महाशय और दुर्गाप्रसाद पण्डित रत्नावली को बाणकृत ही मानते हैं। ये दोनों भी हॉल महोदय के मत से प्रभावित हैं। काव्यप्रकाश के अधिकांश संस्करणों में 'धावक' पाठ मिलता है और कुछ में 'बाण'। 'धावक' नामक कवि नितान्त अज्ञात और अप्रसिद्ध है। कुछ लोक 'धावक' का अर्थ 'धोबी' लेते हुए उसे 'भास' बतलाते हैं कि भास धोबी जाति के थे। श्रीनारायण शास्त्री ने अनेक युक्तियां देकर और खींचतान कर प्रियदर्शिका रत्नावली को धावक भास (घटखर्पर) द्वारा निर्मित सिद्ध करने का प्रयास किया है।[1] किन्तु श्रीनारायण शास्त्री के तर्क बहुत थोथे हैं और संस्कृत साहित्य के इतिहास में तनित भी पैठ रखने वाला सामान्य संस्कृतज्ञ भी सरलता उनका खण्डन कर देगा।[2]

'बाण' पाठ मान लेने पर भी रत्नावली आदि का कर्ता बाण नहीं हो सकते। बाण हर्ष के अत्यन्त आदरभाजन और कृपापात्र थे। वे हर्ष के प्रेम, विश्वास और द्रविण के प्रियपात्र थे। बाण ने स्वयं हर्षचरित में इसका उल्लेख किया है-

'यावदस्य स्वयमेव गृहीतस्वभावः पृथिवीपतिः प्रसादवानभूत्। आविशच्च पुनरपि नरपतिभवनम्। स्वल्पैरेव चाहोभिः परमप्रीतेन प्रसादजन्मनो मानस्य प्रेम्णो विस्रम्भस्य द्रविणस्य नर्मणः प्रभावस्य च परां कोटिमनयत नरेन्द्रणेति।' अभिनन्द द्वारा 'रामचरित' के-

हालेनोत्तमपूजया कविवृषः श्रीपालितो लालितः
ख्यातिं कामपि कालिदासकृतयो नीताः शकारातिना।
श्रीहर्षो वितनार गद्यकवये बाणाय वाणीफलं
सद्यः सत्क्रिययाभिनन्दमपि च श्रीहारवर्षोऽग्रहीत्।।

१, २. डॉ. प्रभुनाथ द्विवेदी, महाकवि हर्षवर्धन, पृ० ३५-३८।

भर्तृहरि की रचना होनी चाहिए क्योंकि 'भवन्ति नम्रास्तरवः...।।' श्लोक अभिज्ञान० (५.१२) और नीतिशतक (७०) में समान रूप से मिलता है। इसी प्रकार 'नवं शरावं सलिलस्य पूर्ण.....।।' श्लोक भास 'प्रतिज्ञायौगन्धरायण' (४.२) और कौटिल्य के 'अर्थशास्त्र' (१०.३) में समान रूप से पाया जाता है। और तो और, रामायण और महाभारत में एक-दो श्लोक को कौन कहे, अध्याय के अध्याय पूरी तरह एक समान मिलते हैं। अतः हॉल महाशय का यह मत विचारणीय नहीं है।

श्लोक से तथा प्राप्त रुय्यककृत व्यक्तिविवेव्याख्यान' में प्राप्त-

हेम्नो भारशतानि वा मदमुचां वृन्दानि वा दन्तिनां
श्रीहर्षेण यदर्पितानि गुणिने बाणाय कुत्राद्य तत्।
या वाणेन तु तस्य सूक्तिनिकरैरुट्टङ्किताः कीर्तय-
स्तत्कल्पप्रलयेऽपि यान्ति न मनाङ्मन्ये परिम्लानताम्।।

श्लोक से प्रकट होता है कि श्रीहर्ष ने बाण की प्रतिभा और काव्य कौशल से प्रसन्न होकर उन्हें प्रचुर धन-सम्पत्ति प्रदान की थी।

महाकवि बाणभट्ट अत्यन्त स्वाभिमानी थे। वे कुछ स्वर्णमुद्राओं पर अपनी रचना का विक्रय नहीं कर सकते थे। उन्होंने (कादम्बरी में) लक्ष्मी की बहुत निन्दा की है। उनके स्वाभिमान का परिचय हमें 'हर्षचरित' में व्यक्त उनके विचारों से प्राप्त होता है। 'सत्स्वपि पितृपितामहोपात्तेषु ब्राह्मणजनोचितेषु विभवेषु' से प्रकट होता है कि बाण के पास पैतृक वैभव की कमी न थी। अतः बाण के स्वाभिमान और समृद्धि को ध्यान में रखकर हम कैसे कह सकते हैं कि बाण ने धन के लोभ में रत्नावली की रचना की और से बेचकर धन प्राप्त किया।

जो लोग कहते हैं कि बाण ने धनप्राप्ति के लिए श्रीहर्ष के नाम से रत्नावली की रचना की, उनसे पूछा जाना चाहिए कि बाण ने हर्षचरित या कादम्बरी बेचकर धन क्यों नहीं प्राप्त किया? ये दोनां तो उत्कृष्ट गद्यकाव्य हैं, इनके विक्रय से रत्नावली आदि की अपेक्षा बहुत अधिक धनलाभ हो सकता था। महाकवि भारवि से जुड़ी किंवदन्ती के अतिरिक्त काव्यविक्रय का कोई उदाहरण प्राचीन भारत में नहीं मिलता। काव्यवस्तु या भाव की चोरी का उल्लेख तो मिलता है किन्तु काव्यविक्रय का नहीं।[२] बाण के व्यक्तित्व को

---

१. पं० आर० वी० कृष्णमाचार्य के अनुसार यह श्लोक 'सारसमुच्चय' नामक ग्रन्थ में भी प्राप्त है। द्रष्टव्य-पं. आर० वी० कृष्णमाचार्य द्वारा सम्पादित 'प्रियदर्शिका', भूमिका, पृ० १८।

२. 'साहित्यपाथोदधिमन्थनोत्थं कर्णामृतं रक्षत हे कवीन्द्राः।
यदस्य दैत्या इव लुण्ठनाय काव्यार्थचोराः प्रगुणीभवन्ति।। -बिल्हण, विक्रमाङ्कदेवचरित।
स्वयं बाण ने भी हर्षचरित में लिखा है-
अन्यवर्णपरावृत्या बन्धा चिह्ननिगूहनैः। अनाख्यातः सतां मध्ये कविश्चौरो विभाव्यते।।'

देखते हुए उस पर यह आक्षेप लगाना नितान्त अनुचित है। फिर हम विचार करें कि क्या रत्नावली आदि बाण ने लिखी होगी। कादम्बरी, हर्षचरित की तुलना में वे रूपक अत्यन्त सामान्य कोटि के हैं। प्रियदर्शिका और रत्नावली पर तो महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' की छाया साफ-साफ दिखाई पड़ती है। 'बाणोच्छिष्टं जगत्सर्वम्' जैसे अर्थगम्भीर आभाणक से मण्डित बाण जैसा काव्यपण्डित ऐसी विडम्बित (जूठन खाने जैसी) रचनायें करेगा? यदि बाण ने बेमन से भी इन रूपकों की रचना की होती, तो इनमें कहीं न कहीं बाण की साहित्यसाधना और काव्यप्रतिभ संकेतित होती। लेकिन इनमें बाण के पाण्डित्य और कवित्व की जोड़ के लायक ऐसा कुछ भी नहीं दिखायी देता। क्या बाण अपना 'स्वत्व' सर्वथा खोकर, भुलाकर इन नाटिकाओं की रचना कर सकते हैं? मेरी दृष्टि में तो कदापि नहीं। इन सारे विवेचनों का आशय ही है कि बाण ने धन के लिए हर्ष के नाम से इन रूपकों की रचना नहीं की। काव्यप्रकाश में मम्मट का अभिप्राय मात्र इतना ही है कि हर्ष ने उनके पाण्डित्य और कवित्व से सन्तुष्ट और प्रसन्न होकर पुरस्कारस्वरूप उन्हें प्रचुर धन प्रदान किया।[1]

कुछ लोगों की यह मान्यता है कि भले ही रत्नावली धावक, भास या बाण की रचना न हो किन्तु वह हर्ष की भी रचना नहीं है। अवश्य ही किसी अन्य कवि ने हर्ष के नाम से इसका निर्माण किया है क्योंकि अपना नाम न देते हुए उसने अधोलिखित श्लोक में इस बात का सङ्केत कर ही दिया है कि रत्नावली का निर्माण करने के साथ ही वह उसके हाथ से निकल गयी –

प्राप्ता कथमपि दैवात्कण्ठमनीतैव सा प्रकटरागा।
रत्नावलीव कान्ता मम हस्ताद् भ्रंशिता।। (रत्नावली,२.१९)

प्रियदर्शिका और नागानन्द में ऐसा कोई पद्य नहीं मिलता। रत्नावली नाटिका के ही सन्दर्भ में यदि खींचतान कर उक्त आशय निकाला भी जाय तो सर्वप्रथम यह प्रश्न

---

१. **श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।**
श्रीहर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञा सम्पूजितः कनककोटिशतेन बाणः।।

(सोड्ढलकृत अवन्तिसुन्दरी कथा)

बाणभट्ट ने स्वयं अपने आश्रयदाता श्रीहर्ष की दानशीलता की प्रशंसा की है। हर्षचरित के प्रारम्भ में उन्होंने हर्ष को मनोरथसिद्धि का 'श्रीपर्वत' कहा है-

'जयति ज्वलत्प्रतापज्वलनप्राकारकृज्जगद्रक्षः।
सकलप्रणयिमनोरथसिद्धिश्रीपर्वतो हर्षः।।' (हर्ष०, १.२१)

श्रीहर्ष के लिए यह कोई अनोखी बात नहीं है। विद्वानों को सपर्या करने वाली सात्यिानुरागी नृपतियों की दानशीलता की अत्यन्त गौरवशाली परम्परा विख्यात है। 'प्रत्यक्षरं लक्षं ददौ' आज भी गूँज रहा है और आज भी विद्वान् साहित्यकार अपनी श्रेष्ठ कृतियों के लिए लाखों-करोड़ों के पुरस्कार पा रहे हैं।

उठेगा कि क्या कवि को संयोगवशात् कहीं से रत्नावली नाटका मिल गयी थी? (प्राप्ताकथमपि दैवात्) जैसी कि हनुमन्नाटक के सम्बन्ध में किंवदन्ती है। इससे तो यही लगेगा कि मुफ्त में मिली हुई इस नाटिका को उसने हर्ष को दकर अच्छी ठगी की, खूब धन वसूला। फिर तो समस्या और गम्भीर हो जायगी और कभी भी यह पता नहीं लग सकेगा कि रत्नावली का वास्तविक रचनाकार कौन है? अतः इस प्रकार की व्यर्थ कल्पना न करना ही श्रेयस्कर है।

इस विवाद के हेतु और काव्यप्रकाश के मूल पंक्ति-'श्रीहर्षदेर्धावका (बाणा) दीनामिव धनम्' का पुनरालोकन करें और देखें कि तथाकथित टीकाकारों ने इसके निहितार्थ के साथ कितना न्याय किया है? उक्त कथन का विश्लेषण करें, तो पाते हैं कि आचार्य मम्मट ने दाता हर्ष और ग्रहीता धावक या बाण-दोनों के साथ 'आदि' पद (आदेः, आदीनाम्) का प्रयोग किया है। कारण स्पष्ट है। केवल हर्ष ने ही धावक या बाण को काव्य के लिए धन नहीं दिया, अपितु अनेक आश्रयदाता नृपतियों ने कवियों को प्रचुर धन दिया है और यह परम्परा भारत में अति प्राचीनकाल से चल रही है। अब आचार्य मम्मट कितने दाताओं और ग्रहीताओं का नामपूर्वक परिगणन करते? अतः 'आदि' पदका प्रयोग कर ऐसे सभी का उल्लेख कर दिया। आश्चर्य उन मनमानी अर्थ करने वाले टीकाकारों की बुद्धि पर होता है कि उन्होंने 'आदि' पद की कोई उपयोगिता ही नहीं समझी। अब यदि इन टीकाकारों की मानें तो प्राचीन भारत में जितने भी दाताओं ने कवियों के काव्य से प्रसन्न होकर पुरस्कार दिये, उन कवियों ने उन पुरस्कारों के प्राप्त धन के बदले अपने काव्य उन-उन दाताओं के नाम कर दिये। तब तो इन टीकाकारों को 'आदित्यादेर्मयूरादीनामिवानर्थ-निवारणम्' - का अर्थ करना चाहिए था कि सूर्य ने मयूर से धन लेकर उनके अनर्थ (कुष्ठ रोग) का निवारण किया। यदि नहीं, तो फिर हर्ष और धावक या बाण के विषय में ही ऐसा अनर्थ (दुराग्रह) क्यों? निष्कर्षतः कतिपय टीकाकारों को इस प्रकार की व्याख्या ग्राह्य नहीं।'

निश्चय ही इस प्रकार की अफवाह उक्त टीकाकारों द्वारा ऐसा लिखे जाने पर सत्रहवीं शताब्दी ई० के बाद ही फैली। इसके पूर्व ऐसा प्रवाद अस्तित्व में था ही नहीं। न वम शताब्दी के दामोदरगुप्त ने अपने 'कुट्टनीमतम्' और क्षेमेन्द्र ने 'औचित्यविचारचर्चा' में रत्नावली को श्रीहर्ष की रचना बतलाते हुए उससे उदाहरण दिये हैं। 'कविकण्ठाभरण' और सूर्यशतक की भावबोधिनी टीका में भी रत्नावली को हर्ष की रचना बतलाते हुए उससे उदाहरण दिये गये है। प्रसिद्ध चीनी यात्री इत्सिंग ने (सातवीं शताब्दी) भी 'नागानन्द' को श्रीहर्ष की कृति बतलाते हुए लिखा है कि राजा ने इसका अभिनय भी कराया था। अतएव

---

१. काव्यप्रकाश के टीकाकारों ने अपनी टीकाओं में अनेकत्र भ्रामक अर्थ (बातें) लिखे हैं। द्रष्टव्य- डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी, महाकवि हर्षवर्धन, पृ० ४०-४१।

अन्ततः हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि प्रियदर्शिका, रत्नावली और नागानन्द- ये तीनों ही नाट्यकृतियाँ एक ही कवि महाराज हर्षवर्धन के द्वारा निर्मित है।

श्रीहर्षवर्धन के रूपकों का कथानक

प्रियदर्शिका (नाटिका)

प्रियदर्शिका चार अङ्कों की एक नाटिका है। इसमें प्रियदर्शिका ओर वत्सराज उदयन की प्रणयकथा निबद्ध है। कथानक संक्षेपतः इस प्रकार है-

प्रथम अङ्क -

नाटिका का आरम्भ पार्वती-शिव की स्तुतिविषयक दो श्लोकों के नान्दी पाठ से होता हे। विष्कम्भक में कञ्चुकी द्वारा सूचित किया जाता है कि वङ्गदेश के राजा दृढवर्मा अपनी पुत्री प्रियदर्शिका का विवाह वत्सराज से करना चाहते हैं किन्तु कलिङ्गराज चाहता है कि प्रियदर्शिका उसे मिल जाय। यह पता लगने पर कि वत्सराज प्रद्योत के बन्धन में है, कलिङ्गराज दृढवर्मा पर आक्रमण कर उसे पराजित कर देता है किन्तु कञ्चुकी अपने स्वामी की इच्छापूर्ति के लिए किसी तरह प्रियदर्शिका को लेकर वत्सराज के यहाँ पहुँचाने हेतु चल पड़ता है। मार्ग में विन्ध्यकेतु के यहाँ शरण लेता है। इस बीच वत्सराज के सेनापति द्वारा विन्ध्यकेतु मारा जाता है और वह कन्या प्रियदर्शिका वत्सराज उदयन के अन्तःपुर में पहुँचा दी जाती है।

प्रथम अङ्क में राजा उदयन अपने मित्र विदूषक से प्रद्योत के कारागार में पड़ने से मिले अपने लाभों का वर्णन करता है। तत्पश्चात् सेनापति विजयसेन और मन्त्री रुमण्वान् आते हैं और विन्ध्यकेतु के वध और विजय का वृत्तान्त बतलाते हैं। उसके अन्तःपुर से प्राप्त कन्या को राजा के आदेश से महारानी वासवदत्ता के संरक्षण में रख दिया जाता है।

द्वितीय अङ्क -

इस अङ्क के आरम्भ में विदूषक, महारानी के व्रत का उल्लेख करता हुआ कहता है कि उसे वापी में स्नान करके स्वस्तिवाचन के लिए जाता है। इस महाराज उदयन भी उधर ही आते दिखाई पड़ते हैं। विदूषक उनसे मिलता है। विदूषक अपनी प्रसन्नता और महाराज अपनी वेदना का कारण एक दूसरे को बतलाते हैं। वे दोनों वापी पर पहुँच कर आरण्यका (प्रियदर्शिका) को कमलपुष्पों का चयन करते हुए देखते हैं और फिर झाड़ी में छिपकर चेटी इन्दीवरका का परस्पर वार्तालाप सुनते हैं। इससे राजा को विदित हो जाता है कि आरण्यका कौन है। राजा उसे सस्पृह देखता हुआ उसके सौन्दर्य का वर्णन करता है। राजकन्या होकर भी आज्ञापालिका बनी प्रियदर्शिका कमलपुष्पों का चयन करते हुए भौरों

से बाधा का अभिनय करती हुई शेफालिका पुष्प लेने गयी इन्दीवरिका को पुकारती है। विदूषक द्वारा अवसर का लाभ उठाने की प्रेरणा प्राप्त कर राजा आरण्यका के पास जाकर सहसा उसका आलिंगन करता है एक पुरुष को अपने साथ देखकर वह डर जाती है किन्तु विदूषक द्वारा राजा का परिचय दिये जाने पर प्रसन्न और सलज्ज होती है।

इस बीच आरण्यका की पुकार सुनकर इन्दीवरिका के आने का आभास पाकर राजा और विदूषक समीपवर्ती कदलीगृह में छिप जाते हैं। इन्दीवरिका, आरण्यका को आश्वस्त करती हुई अपने साथ लिवा कर चली जाती है। दोनों के जाने पर राजा खेद प्रकट करता है और विदूषक उसे फटकारता है। सन्ध्या का समय हो चला।

तृतीय अङ्क-

आरम्भ में परिचारिका मनोरमा, महारानी के उस आदेशका उल्लेख करती है जिसमें सांस्कृत्यायनी द्वारा वासवदत्ता और उदयन के प्रेम और विवाह के विषय में लिखे गये रूपक के अवशिष्ट अंश का अभिनय करता है। आरण्यका (प्रियदर्शिका) वासवदत्ताऔर मनोरमा राजा की भूमिका कर रही। मनोरमा आरयका को ढूँढ़ती हुई वापी की ओर जाती है और कदलीगृह में प्रवेश करती हुई आरण्यका के स्वागत वचनों को सुनकर जान लेती है कि यह महाराज के प्रेम में व्याकुल है। वह सहसा पहुँचकर अपनी इस प्रिय सखी को आश्वस्त करती है। इधर विदूषक भी राजा के कामसन्ताप को देखकर आरण्यका को ढूँढ़ते हुए दिखायी पड़ता है। मनोरमा उसे अपनी योजना बताती है।

नाट्यशाला में वासवदत्ता की भूमिका में आरण्यका और उदयनकी भूमिका में मनोरमा के स्थान पर स्वयं राजा ही अभिनय करते है। विदूषक के प्रसाद से रानी वासवदत्ता यह रहस्य जान जाती है और विदूषक तथा आरण्यका को बन्धन में डाल देती है। राजा दोनों को छुड़ाने के लिए रानी को प्रसन्न करने का उपाय सोचता है।

चतुर्थ अङ्क -

रङ्गमञ्च पर मनोरमा दिखायी देती है और उसकी बातों से पता चलता है कि निराश आरण्यका को उसने आत्महत्या करने से बचा लिया है। इधर विदूषक और राजा आरण्यका को महारानी के बन्धन से मुक्त करने हेतु उन्हें प्रसन्न करने के लिए जाते हैं। महारानी सांकृत्यायनी के साथ बैठी अपनी माँ के उस पत्र को पढ़कर दुःखी है कि उसके मौसा दृढवर्मा को कलिङ्गराज की कैद में पड़े हुए एक वर्ष से अधिक हो गया। वासवदत्ता के दुःख का कारण जानकर महाराज अपने द्वारा किये गये प्रयत्न को बताते हैं तभी कलिङ्गराज का वध कर सेनापति विजयसेन, मुक्त कराये गये दृढ़वर्मा और कञ्चुकी के साथ आ जाते हैं। महारानी प्रसन्न हो जाती है और इस प्रसन्नता का लाभ उठाकर विदूषक आरण्यका को बन्धनमुक्त करा लेता है। आरण्यका मदिरा के व्याज से विषपान से मूर्च्छित

दशा में लाई जाती है। कञ्चुकी उसे तत्क्षण पहचान कर सारी बातें बताता है। मौसी की पुत्री प्रियदर्शिका (आरयका) उसकी बहिन है, यह जानकर महारानी महाराज से उसकी प्राणरक्षा हेतु विनय करती है। विषविद्या के ज्ञाता महाराज प्रियदर्शिका की प्राणरक्षा करते हैं ओर महारानी उसे महाराज को सौंप देती है।

'प्रियदर्शिका' की कथा का मूलस्त्रोत -

'प्रियदर्शिका' की कथा का मूलस्त्रोत गुणाढ्यकृत 'बृहत्कथा' को मानना चाहिए। श्रीहर्षवर्धन ने वहीं से 'बन्धुमती' का आख्यान लेकर महाकवि कालिदास के 'मालविकाग्निमित्रम्' से प्रेरणा प्राप्त कर इस नाटिका का निर्माण किया। सोमदेवकृत 'कथासरित्सागर' में संक्षेपतः बन्धुमती का आख्यान आया है (कथासरि० १, ६, ६७-७३) जो मूलतः बृहत्कथा से ही सम्बद्ध हैं

रत्नावली (नाटिका) -

'रत्नावली' भी महाराज हर्षवर्धन द्वारा विरचित चार अङ्कों की नाटिका है।

प्रथम अङ्क -

रत्नावली सिंघल देश की राजकुमारी थी। सिंहासनाधिपति ने अपनी मन्त्री वसुभूति और कौशाम्बी के महाराज उदयन के कञ्चुकी बाभ्रव्य के साथ, अपनी कन्या रत्नावली को महाराज उदयन से विवाह हेतु प्रेषित किया। उन्होंने उसे बहुमूल्य रत्नों की एक माला पहना दी थी। दुर्दैववशात् सागर में जलपोत मग्न हो जाने से वे परस्पर वियुक्त हो गये। एक काष्ठ फलक के आश्रय से रत्नावली भारत तटभूमि पर आ लगी। उस रत्नमाला को पहचान कर कौशाम्बी के व्यापारी ने इस कन्या को वत्सराज के मन्त्री यौगन्धरायण तक पहुँचाया। यौगन्धरायण ने उसे 'सागरिका' (सागर से मिलने के कारण) नाम देकर महारानी वासवदत्ता की सेवा में भेज दिया कि अन्तःपुर में सहज इसे देखकर महाराज आकृष्ट होंगे। रानी ने सागरिका के रूप लावण्य को देखा और महाराज की दृष्टि में न पड़े - इस बात का ध्यान रखते लगी।

नाटिका का आरम्भ नान्दी पाठ से होता है जिसमें पार्वती, शिव और विष्णु की स्तुति की गयी है। सूत्रधार पारम्परिक रूप से प्रस्तावना उपस्थापित करता है और इसके बाद वत्सराज का मन्त्री यौगन्धरायण आकर पूर्वोक्त 'भूमिका' से प्रेक्षकों को परिचित कराता है। राजा द्वारा वसन्तोत्सव के अवलोकन हेतु आगमन की सङ्केत ध्वनि नेपथ्य से आते ही दो गन्धरायण अन्य कार्य की चिन्ता हेतु निकल जाता है।

राजप्रासाद से अपने मित्र विदूषक के साथ मदनोत्सव का अवलोकन करते हुए महाराज से आकर सेविका निवेदन करती है कि अभी महारानी मकरन्दोद्यान में कामदेव

का पूजन करेगी, अतः महाराज वहाँ पधारें। उदयन, विदूषक के साथ वहाँ पहुँचते हैं। इससे पूर्व पूजा सामग्री लेकर वहाँ आयी हुई सागरिका को महारानी सागरिका की देखभाल के लिए वापस भेज देती है। चूँकि सागरिका, उस सारिका का सुसङ्गता को सौंप कर आयी थी, अतः मदनपूजा देखने के लिए बीच में छिपकर रुक जाती है और स्वयं भी कामदेव को अर्पित करने के फूल चुनने लगती है। इस बीच वासवदत्ता कामदेव की पूजा सम्पन्न करके अपने पतिदेव महाराज उदयन की समर्चा करने लगती है। फूल चुनने के पश्चात् जब सागरिका (रत्नावली) नन्दनोद्यान के अशोक वृक्ष की ओर देखती है तो विस्मित हो जाती है कि उसके पिता के अन्तःपुर में इस अवसर पर चित्रलिखित कामदेव की पूजा होती है और यहाँ तो साक्षात् शरीधारी अनङ्ग (कामदेव) पूजा ग्रहण कर रहे हैं। वह वहीं से कामदेव के लिए पुष्पाञ्जलि अर्पित करती है किन्तु वैतालिकों द्वारा स्तुतिगान आरम्भ करने पर उसे ज्ञात होता है कि जिसे वह मन्मथदेव समझ रही थी, वह तो महाराज उदयन हैं जिनको मेरे पिताजी मुझे सौंपा है। वह महाराज को साभिलाष देखती है। तभी महारानी वहाँ से प्रस्थान करती है और सागरिका शीघ्रता से अन्तःपुर की ओर चली जाती है।

द्वितीय अङ्क –

सारिका समेत हाथ में पिंजरा लिये सुसंगता निपुणिका से सागरिका के बारे में पूछती है और उसके बताने पर कदलीगृह में जाकर देखती है कि सागरिमा महाराज उदयन का चित्र बना रही है। चित्र पूरा होने पर जब वह मुँह ऊपर करती है तो सुसंगता को देखकर लज्जित होती है। सुसंगता उस चित्र के बगल में सागरिका को चित्रित कर देती है ओर कहती है कि कामदेव के बगल में रति का चित्र बना दिया। सागरिका सुसङ्गता से अपना पूरा हाल बता देती है जिसे सारिका सुनती रहती है। इसी बीच अश्वशाला से बन्धन छुड़ा कर भागा हुआ एक बन्दर उधर की ओर जाता है और दोनों सखियाँ आत्मरक्षा के लिए भाग कर तमालवीथी में छिप जाती हैं। बन्दर आकर पिंजरे का द्वार खोल देता है और सारिका उड़कर बकुल वृक्ष पर जा बैठती है और सुनी हुई बातें दुहराने लगती है। राजा और विदूषक विदूषक धर से गुजरते हैं और विदूषक 'वृक्ष पर भूत बैठा है' – कहता है। राजा उसे आश्वस्त कर आवाज को ध्यान से सुनता है तथा विदूषक की मूर्खता से सारिका उड़ जाती है। उसका पीछा करते हुए दोनों कदलीगृह तक पहुँचते हैं और सारिका के हाथ न आने पर कदलीगृह में विश्राम हेतु प्रवेश करते हैं। वहाँ उन्हें खुला पिंजरा, चित्रफलक और कमलदल आदि दिखायी पड़ते हैं। राजा सभी बात समझ जाते हैं। तभी सागरिका और सुसंगता चित्रफलक लेने कदलीगृह में जाते हैं और वहाँ राजा तथा विदूषक को देखकर सुसंगता उन पर महारानी का धौंस जमाने लगती है। दोनों के अनुनय करने पर बड़ी चतुराई से सागरिका को राजा से मिला देती है। तभी विदूषक के कुछ कहने में वासवदत्ता नाम आ जाने से भय के कारण राजा से सागरिका का हाथ छूट जाता है

और दोनों चले जाते हैं। राजा को पश्चात्ताप होता है। उधर मन्त्र के प्रभाव से असमय में नवमालिका पर फूल आने की बात सुनकर महारानी आती हैं और उधर से विदूषक के साथ राजा भी पहुँचते हैं। विदूषक हर्ष में दोनों हाथ फैलाकर नाचने लगता है और उसकी कांख में से वस्त्रावृत्त चित्रफलक नीचे गिर पड़ता है। महारानी उसे देखकर कुपित हो वहाँ से चली जाती हैं।

तृतीय अङ्क -

'आरजा रात, वसन्तक और सुसंगता की योजना से सागरिका, वासवदत्ता के वेश में महाराज से माधवीलतामण्डप में मिलेगी' -यह रहस्य अपनी दासियों से जानकर महारानी स्वयं माधवीलतामण्डप में सागरिका के पहुँचने से पूर्व ही पहुँच जाती है। विदूषक के साथ गये महाराज उसे सागरिका समझते हुए उसी नाम से सम्बोधित कर नाना प्रकार से प्रेमालाप करते हैं और प्रणय याचना करते हैं। इस पर महारानी क्रुद्ध होकर जब फटकारती है, तो दोनों अनुनय-विनय करने लगते हैं। महारानी के जाने पर राजा पश्चात्ताप करता है कि कहीं महारानी प्राणत्याग ही न कर दे। इधर वासवदत्ता के वेश में आई हुई सागरिका हताश होकर प्राण त्याग हेतु गले में लतापाश डालने लगती है तभी विदूषक उसे देखकर चिल्ला पड़ता है। महाराज उसे बचाने के लिए दौड़ते हैं। वहाँ लतापाश हटाकर जब सागरिका को पहचान लेते हैं, तब उसे सान्त्वना देते हुए प्रणय निवेदन करने लगते हैं। पश्चात्तापवश राजा के प्रसादन हेतु लौटी हुई महारानी यह सुन-देखकर अत्यन्त क्रुद्ध हो जाती है और सागरिका तथा विदूषक को बांध कर अन्तःपुर में ले जाती है।

चतुर्थ अङ्क -

सागरिका ने अपने जीवन से निराश होकर अपनी रत्नमाला किसी ब्राह्मणको देने के लिए सुसंगता को सौंप दी और सुसंगता ने उसे विदूषक ब्राह्मण को दे दिया। महारानी ने सागरिका को उज्जयिनी भेज दिये जाने का प्रचार कराकर अन्तःपुर में छिपा दिया। रत्नमाला धारण कर विदूषक राजा के पास गया और सागरिका की दुर्दशा सुनकर दोनों व्यथित होते हैं। इसी बीच रुमण्वान् का भांजा विजयवर्मा आता है और विन्ध्यदुर्ग में स्थित कोसलराज पर विजय की विस्तार से सूचना देता है। उसके जाने पर उज्जयिनी से आए हुए एक ऐन्द्रजालिक का चमत्कार भरा खेल महाराज महारानी के साथ बैठकर देख रहे होते हैं कि सिंहलेश्वर के अमात्य वसुभूति और कञ्चुकी बाभ्रव्य के आने की सूचना मिलती है। वासवदत्ता के आग्रह पर ऐन्द्रजालिक को विदा करके उन दोनों को बुलाया जाता है। जाते-जाते ऐन्द्रजालिक अपना एक खेल अवश्य दिखाने का आग्रह करता है। वसुभूति विदूषक के गले में पड़ी हुई माला को पहचान जाता है। वसुभूति अपने स्वामी और स्वामिपुत्री रत्नावली का हाल बताता है कि अन्तःपुर में आग लगने की सूचना पाकर

महारानी घबड़ा जाती है और महाराज से प्रार्थना करती है कि वहाँ बन्धन में पड़ी सागरिका को बचा लें। महाराज आग की लपटों में प्रविष्ट होकर सागरिका को बचाते हैं और इसी बीच आग गायब हो जाती है। कहीं कुछ भी क्षति नहीं और महाराज भी आग से अस्पृष्ट लगते है। विदूषक इसे ऐन्द्रजातिक का खेल बताता है। वसुभूति सागरिका की पहचान रत्नावली के रूप में करते हैं। वासवदत्ता उसे मामा की पुत्री जानकर गले लगाती। तभी यौगन्धरायण आकर सारा रहस्य प्रकट करते हैं। वासवद त्ता, रत्नावली को वस्त्रालङ्कार सज्जित कर महाराज उदयन को समर्पित कर देती हैं।

रत्नावली की कथा का मूलस्रोत-

रत्नावली की कथा का मूलस्रोत भी बृहत्कथा ही है। वत्सराज उदयन के मन्त्री यौगन्धरायण महाराज की विलासिता और पड़ोसी मगधराज की बढ़ती हुई शक्ति से कुछ चिन्तित हैं। यौगन्धरायण ने दोनों की ओर मित्रता स्थापित करने के उद्देश्य से मगधराज की कन्या से उदयन का विवाह कराने का निश्चय किया। यौगन्धरायण के प्रस्ताव को मगधनरेश ने इसलिए स्वीकार नहीं किया कि वत्सराज वासवदत्ता से अतिप्रगाढ़ प्रेम करते हैं। तब एक योजना बनाकर यौगन्धरायण वत्सराज को सीमावर्ती ग्राम लावाणक में अन्तःपुर समेत ले गया। एक दिन राजा के आखेट पर चले जाने के बाद यौगन्धरायण ने महारानी से परामर्श किया उन्हें वसन्तक समेत लेकर मगधराज की राजधानी चला गया और इधर लावाणक ग्राम के अन्तःपुर में आग लगवाकर वासवदत्ता और वसन्तक के जलकर मर जाने का प्रचार किया। वसन्तसेना को ब्राह्मणी और वसन्तक को पुत्र बनाकर वह पद्मावती के संरक्षण में दोनों को एक बहाने से रखकर लावाणक लौट आया। वत्सराज को सान्त्वना दी। उधर मगधराज को जब यह अग्निकाण्ड ज्ञात हुआ, तो उन्होंने यौगन्धरायण के पास अपनी कन्या के विवाह की स्वीकृति भेज दी। सात दिन के अन्दर वत्सराज के साथ उसका विवाह हो गया और साथ में 'अवन्तिका' नाम से ब्राह्मणी बनी वासवदत्ता और वसन्तक भी आ गये। इस प्रकार यौगन्धरायण ने दोनों राज्यों में मैत्री सम्बन्ध स्थापित कर दिया। श्रीहर्षवर्धन ने इस आख्यान में अनेक मौलिक परिवर्तन करके रत्नावली की रचना की है।

नागानन्द (नाटक) की कथा -

नागानन्द महाराजा हर्षवर्धन की तृतीय और अन्तिम नाट्यकृति है। इस नाटक को देखने से ही प्रतीत होता है कि श्रीहर्षवर्धन ने इसकी रचना बौद्धधर्म से प्रभावित होने के बाद की है। इस नाटक में कुल पाँच अङ्क हैं।

प्रथम अङ्क -

नान्दी पाठ (मङ्गलाचरण) में भगवान बुद्ध की स्तुति की गयी हैं सूत्रधार की

सूचना के अनुसार इस नाटक का अभिनय महाराज हर्षवर्धन की सेवा में आए हुए राजाओं के आग्रह पर इन्द्रोत्सव के अवसर पर किया गया। इसमें लोकविश्रुत बोधिसत्त्व (जीमूतवाहन) का मनोहर चरित निबद्ध है।

वृद्ध हो जाने के कारण जीमूतवाहन के पिता-माता ने राज्य का भार उसके कन्धे पर पर डालकर तपोवन का आश्रय लिया है। विद्याधर राजकुमार जीमूतवाहन को राज्य करने की अपेक्षा माता पिता के चरणों में रहकर उनकी सेवा करने में अधिक सुख मिलता है। अतः जीमूतवाहन उन्हीं के पास है और वर्तमान आश्रम में कुश-कन्द-मूलादि की कमी पड़ने से आश्रम हेतु अन्य तपोवन ढूँढ़ने अपने मित्र विदूषक के साथ जाता है। इस उपक्रम में वह गौरी के मन्दिर में वीणा बजाकर देवी की उपासना करती हुई मलयवती को देखता है। परस्परावलोकन से दोनों में अनुराग उत्पन्न होता है। बुलावा आ जाने पर मलयवती अपनी चेटी के साथ आश्रम में चली जाती है और विदूषक के साथ जीमूतवाहन भी चला जाता है।

द्वितीय अङ्क -

दो चेटियों की बातों से ज्ञात होता है कि मलयवती मदनज्वर से पीड़ित है और उसका भाई मित्रावसु उसके विवाह का प्रस्ताव लेकर जीमूतवाहन के पास गया है। मलयवती शिशिरोपचार के लिए चन्दनलता गृह में जाती है, किन्तु विदूषक के साथ जीमूतवाहन के आने की आहट पाकर वहाँ से निकल कर पास में ही छिपकर दोनों की बातें सुनती है। इसी बीच जीमूतवाहन को खोजा हुआ मित्रावसु वहाँ आता है। अपनी बहिन के विवाह का प्रस्ताव रखने पर जीमूतवाहन उसे अपनी प्रेमिका के मिश्र कन्या जानकर अस्वीकार कर देता है। मित्रावसु के लौट जाने पर निराश मलयवती लतापाश से आत्महत्या की चेष्टा करती है किन्तु चेटी के चिल्लाने पर जीमूतवाहन उसे बचा लेता है। तभी ज्ञात होता है कि जीमूतवाहन के माता-पिता ने मित्रावसु का प्रस्ताव स्वीकार कर लिया है और आज ही मलयवती के साथ जीमूतवाहन का विवाह होगा।

तृतीय अङ्क -

शेखरक नामक मदमत्त विट अपनी प्रिया नवमालिका की खोज करता है जो रात में मलयवती-जीमूतवाहन के विवाह कार्य में लगी हुई थी। इसी बीच जीमूतवाहन को खोजता हुआ विदूषक कुसुमाकरीधाम में आता है। उसने भैरों से बचने के लिए लाल साड़ी ओढ़ रखी है। उसे इस वेष में अपनी प्रिया समझ कर विट पकड़ लेता है और इस बीच वहाँ आई नवमालिका शेखरक को किसी अन्य स्त्री से प्रेम करता हुआ देखकर क्रुद्ध होती है किन्तु विदूषक का रहस्य खुल जाने पर उसका क्रोध शान्त हो जाता है। चेट और नवमालिका मिलकर विदूषक को परेशान करते हैं, किन्तु जामाता का मित्र जानकर छोड़

देते हैं। विदूषक कुसुमाकरीधाम में जीमूतवाहन और मलयवती के साथ हो लेता है। वहाँ परस्पर मनोविनोद होता है। इसी बीच मित्रावसु आता है और बताता है कि उद्दण्ड मतंग ने जीमूतवाहन के राज्य पर अधिकार कर लिया है। यदि जीमूतवाहन उसे आज्ञ दे तो वह उसे कुचल डाले। जीमूतवाहन, 'राज्य के लिए नरसंहार उचित नहीं' - कहकर उसे अनुमति नहीं देता जब उसका साला मित्रावसु क्रुद्ध हो जाता है। जीमूतवाहन के समझाने पर शान्त होता है।

चतुर्थ अङ्क -

मलयवती की माँ विवाह के पश्चात् दस दिन तक पहने जाने वाले लाल जोड़े को मलयवती और जीमूतवाहन के लिए भेजती है। उधर जीमूतवाहन अपने साले मित्रावसु के साथ ज्वारभाटा देखने के लिए समुद्रतट पर विचरण करते हैं। ज्वारभाटा आने पर वे मलय पर्वत पर चढ़ जाते हैं। इसी बीच मित्रावसु अपने पिता के बुलाने पर वापस चला जाता है और ज्वारभाटा समाप्त होने पर जीमूतवाहन नीचे उतरता है तो एक स्त्री के विलाप की ध्वनि सुनाई पड़ती है। पास जाकर पूछने पर ज्ञात होता है कि नागराज वासुकि के समझझैते के मुताबिक आप शंखचूड नामक नाग की बारी है गरुड़ का आहार बनन की। शंखचूड उसका अकेला पुत्र है। तब जीमूतवाहन स्वयं को प्रस्तुत करता है किन्तु शंखचूड मना कर देता है और अपनी माँ को वापस भेज कर स्वयं दक्षिण गोकर्ण का दर्शन करने चला जाता है। इसी बीच कञ्चुकी उसे लालवस्त्रों का जोड़ा दे जाता है और जीमूतवाहन उसे ओढ़कर वध्यशिला पर बैठ जाता है। गरुड वेगपूर्व आकर उसे खाने हेतु मलय शिखर पर उठा ले जाता है।

पञ्चम अङ्क -

जीमूतवाहन के वापस न लौटने पर मित्रावसु चिन्तित है। उधर पर्याप्त मात्रा में खाकर जब गरुड विरत होता है, तब जीमूतवाहन उससे और खाने का आग्रह करता है क्योंकि उसके शरीर के मांस तथा रक्त बचा हुआ है। गरुड़ उसके धैर्य की प्रशंसा करता है, तभी शंखचूड पहुँच कर सही बात गरुड को बताता है। वह जीमूतवाहन के माता पिता और पत्नी को आश्वासन देकर उनकी प्राण रक्षा भी करता है। शंखचूड से वास्तविकता जानकर गरुड बहुत दुःखी हुआ और प्रायश्चित्त में आत्महत्या करने को उद्यत हुआ। जीमूतवाहन ने उसे अहिंसा का उपदेश दिया, जिससे उसने निश्चय किया कि अब वह प्राणिहिंसा कभी नहीं करेगा।

उस समय वहाँ पहुँचे हुए अपने माता-पिता को प्रणाम करके जीमूतवाहन ने प्राण त्याग कर दिया। सभी ने साथ ही चितारोहण का निश्चय किया। गरुड उसे जीवित करने के लिए अमृत लाने उड़ गया। मलयवती ने गौरी से अपना वरदान असत्य न होने देने

की प्रार्थना की। गौरी ने प्रकट होकर जीमूतवाहन को जीवित कर दिया और उसने जीमूतवाहन को 'चक्रवर्ती' का पद प्रदान किया, इसी समय गरुड ने आकाश से अमृत की वर्षा की जिससे कि पूर्व में मरे हुए सभी नाग भी जीवित हो गये।

नागानन्द की कथा का मूलस्रोत –

इसका भी मूलस्रोत बृहत्कथा ही है। सोमदेव के कथा सरित्सागर में जीमूतवाहन का आख्यान उपलब्ध है।

श्रीहर्षवर्धन ने उक्त आख्यान में अनेक मौलिक परिवर्तन कर उसे नाटकीय दृष्टि से उपयोगी बनाकर नागानन्द की रचना की है। इसके अतिरिक्त गौरीमन्दर में मलयवती के वीणावादन का दृश्य कादम्बरी के महाश्वेतावृत्तान्त से प्रभावित है तथा रत्नावली नाटिका के समान यहाँ भी नायिका लतापाश से आत्महत्या की चेष्टा करती है। नायक यहाँ भी नायिका की प्राणरक्ष करता है।

नाट्यकृतियों की समीक्षा –

महाराज श्री हर्षवर्धन द्वारा विरचित तीनों नाट्यकृतियों में प्रियदर्शिका और रत्नावली- ये दोनों 'नाटिका' हैं और नागानन्द एक 'नाटक' है। नाटिका की गणना 'सङ्कीर्ण रूपक' के रूप मे की जाती है। 'नाटक' और 'प्रकरण' नामक दो रूपकों के सङ्करण से 'नाटिका' बनती हे। आचार्य भरत ने 'नाट्यशास्त्र' में 'नाटिका' के सम्बन्ध में कहा है-

अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः।
प्रख्यातस्वितरो वा नाटीसंज्ञाश्रिते काव्ये।। (१८.५७)

आगे नाटिका की विशेषता बताते हुए आचार्यभरत लिखते हैं-

बहुनृत्तगीतापाठ्या रतिसम्भोगात्मिका चैव।
नायक-देवी-दूती-सपरिजा नाटिका ज्ञेया।। (१८.५९-६०)

आचार्य धनञ्जय ने दशरूपक में नाटिका का लक्षण दिया है-

लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये।
तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः।।
प्रख्यातो धीरललितः शृङ्गारोऽङ्गी सलक्षणः।
स्त्रीप्रायचतुरङ्कादिभेदकं यदि चेष्यते।
एकद्वित्र्यङ्कपात्रादिभेदेनानन्तरूपता।

गम्भीरा मानिनी कृच्छ्रात्तद्वशान्नेतृसङ्गमः।
नायिका तादृशी मुग्धा दिव्या चातिमनोहरा।।
अन्तःपुरादिसम्बन्धादासन्ना श्रुतिदर्शनैः।
अनुरागो नवावस्थो नेतुस्तस्यां यथोत्तरम्।।
नेता तत्र प्रवर्तेत देवीत्रासेन शङ्कितः।
कैशिक्याङ्गैश्चतुर्भिश्च युक्ताङ्कैरिव नाटिका।। (३.४३-४८)

आचार्य विश्वनाथ ने भी 'साहत्यदर्पण' (६, २६६-२७२) में नाटिका का लक्षण समन्वित रूप में प्रसतुत किया है।

इन आचार्यों द्वारा प्रतिपादित लक्षणों के आधार पर संस्कृत-नाटिका का एकस्वरूप इस प्रकार निर्धारित किया जा सकता है- 'प्रकरण से वस्तु (अर्थात् कविकल्पित या उत्पाद्य) तथा नाटक से नायक (प्रख्यात, क्षत्रियवंशोत्पन्न) लेकर नाटिका का नायक धीरललित कोटि का होता है और विदूषक उसका नर्मसचिव होता है। नायिकायें दो होती हैं- ज्येष्ठा नृपकुलात्मजा राजमहिषी प्रगल्भा कोटि की होती है। कनिष्ठा नायिका भी उसी प्रकार की मुग्धा कोटि की होती है जो किसी व्याज से अन्तःपुर में लाकर रखी जाती है कि वह नायक के सम्पर्क में आ जाय। नायक उसके बारे में सुनकर या देखकर उस में अनुरक्त होता है और महारानी से डरता हुआ उससे मिलने में प्रवृत्त होता है। चतुर्थ अङ्क के अन्त में अद्‌भुत रस की योजना द्वारा उसका वास्तविक परिचय प्रकट होता है और महारानी स्वयं उसे नायक से मिला देती है। नाटिका में महारानी के क्रोध तथा प्रसादन और कनिष्ठा का नैराशय आदि भी वर्णित होता है।

प्रियदर्शिका

प्रियदर्शिका नाट्यकवि श्रीहर्षवर्धन की प्रथम रचना है। यह एक सामान्य कोटि की नाटिका है और इस पर महाकविकालिदास कृत 'मालविकाग्निमित्रम्' का पूर्ण प्रभाव परिलक्षित होता है। किन्तु हर्षवर्धन अनुकरण करते हुए भी इस नाटिका की रचना में पर्याप्ततः सफल नहीं हैं।

प्रियदर्शिका की कथावस्तु के उपन्यास तथा घटनाओं की योजना में न्यूनतायें हैं। पात्रों के, विशेषतः नायक के चरित्र की भी रक्षा नहीं हो सकी है। जिन परिस्थितियों को लेकर वत्सराज के पास पहुँचने निकला है, उसे विन्ध्यकेतु के पास छोड़कर अगस्त्यतीर्थ में स्नान करने जाने का कोई औचित्य नहीं हैं, यदि पूर्व वैर के कारण विन्ध्यकेतु पर आक्रमण उसका वध और दुर्गविध्वंस किया गया, तो इसकी पूर्व सूचना रूपक में क्यों नहीं

दी गयी? यहाँ औचित्य का अभाव और घटनायोजना में अस्वाभाविकता है। तृतीय अंक में गर्भनाटक की योजना भी असंगत तथा उसक कुछ संवाद असम्बद्ध लगते हैं। सबसे अधिक अनुचित तो यह है कि श्रद्धेया साध्वी सांकृत्यायनी के समक्ष ही नायक (राणा) नायिका के साथ कामुकता का व्यवहार करता है।

शास्त्रीय दृष्टि से प्रियदर्शिका में 'नाटिका' के लक्षण घटित होते हैं। नायक धीरललित कोटि का राजा है। नृपवंशजा हैं दोनों नायिकायें। शृंगार रस है मुख्य, चार अङ्क हैं और सरस वस्तु कविकल्पित है। चतुर्थ अंक में अद्भुत रस की योजना पूर्वक राजा का मिलन महारानी के अनुग्रह से नायिका से हो जाता है। स्त्रीपात्रों की बहुलता भी है। इस प्रकार यह एक सुन्दर नाटिका प्रमाणित होती है।

रत्नावली

महाराज हर्षवर्धन की द्वितीय रचना 'रत्नावली' एक विशिष्ट कोटि की नाटिका है। यद्यपि कथावस्तु की दृष्टि से यह प्रियदर्शिका के समीप है किन्तु रचनाशिल्प की उत्कृष्टता के कारण 'रत्नावली' उच्चकोटि की आदर्श नाटिका स्वीकार की गयी है। नाटिका के लिए निर्धारित सभी विशेषताएं इसमें प्रापत हैं

रत्नावली नाटिक का नायक प्रसिद्ध वत्सराज उदयन धीरललित कोटि का है। ज्येष्ठा नायिका वासवदत्ता और कनिष्ठा नायिका सागरिका (रत्नावली) नृपवंशजा हैं। प्रधान रस शृंगार है और तदनुरूप मुख्य वृत्ति कौशिकी है। चतुर्थ अंक में अद्भुत रस की योजना की गयी है। महारानी के अनुग्रह से राजा (नायक) को कन्यालाभ (नायिका की प्राप्ति) होती है। स्त्रीपात्रों की बहुलता है। कथावस्तु उत्पाद्य और मनोरम है।

रस और इतिवृत्त- दोनों के सम्यक् विकास के प्रयोजन से नाट्यकवियों के मार्गदर्शन हेतु अर्थप्रकृति, अवस्था, सन्धि और सन्ध्यङ्गों का विचार किया गया है, जिससे नाट्यकर्ता इन्हें अच्छी तरह जानकर रसाभिव्यक्ति और घटनासंयोजन की प्रभावोत्पादकता के लिए इनका यथोचित सन्निवेश रूपक में करे। रत्नावली नाटिका में इन नाट्यशास्त्रीय तत्त्वों का सर्वथा समीचीन सन्निवेश करके श्रीहर्षवर्धन ने इसे उत्कृष्ट और भव्य बना दिया है।

बीज, बिन्दु, पताका, प्रकरी और कार्य- इन पाँचों को 'अर्थप्रकृति' कहा जाता है। रूपक में पताका और प्रकरी की अनिवार्यता नहीं हैं। रत्नावली के प्रारम्भ में विष्कम्भक के अन्तर्गत निबद्ध 'द्वीपादन्यस्माद्...' से लेकर 'आरम्भेऽस्मिन्...' से कहा गया यौगन्धारायण का व्यापार 'बीज' है। रत्नावली के प्रथम अङ्क में कामदेव के पूजन के साथ कंथा समाप्त हो जाती है, किन्तु 'उदयनस्येन्दोरिवोद्वीक्ष्यते' से लेकर 'कधं-कधं सो राजा उदअणो जस्स अहं तादेण दिण्णा' का भाग सागरिका के प्रथमानुराग का हेतु बनकर पुनः

कथा को जोड़ देता है (आगे बढ़ाता है)। अतः यहाँ 'बिन्दु' नामक अर्थप्रकृति है। रुमण्वान् द्वारा किया गया कोसलोच्छेद 'प्रकरी' है। रत्नावली में 'पताका' नहीं दिखायी पड़ती।

फलार्थी द्वारा प्रारम्भ किये गये कार्य की पाँच अवस्थायें होती हैं- आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा, नियप्ति और फलागम।' आरम्भेऽस्मिन् स्वामिनो....' इत्यादि से यौगन्धरायण द्वारा कवि का 'आरम्भ' प्रदर्शित किया गया है। वत्सराज उदयन से मिलने का उपाय, नायक का चित्रलेखन 'यत्न' है। तृतीय अङ्क में वेशपरिवर्तन का नायिका द्वारा अभिसरण आदि 'प्राप्त्याशा' है। तृतीय अङ्क में विदूषक के कथन- "साअरिआ उण दुक्करं जीविरसदि" से लेकर राजा की उक्ति- "देवीप्रसादं मुक्त्वा नान्यमत्रोपायं पश्यामि" तक, देवी के प्रसादन से उनके क्रोध निवारण के द्वारा फलप्राप्ति की निश्चितता सूचित होती है। अतः यहाँ 'नियताप्ति' अवस्था है। अन्त में रत्नावली अथ च, चक्रवर्तित्व की प्राप्ति 'फलागम' नामक अवस्था है।

पाँच अर्थप्रकृतियों और पाँच कार्यावस्थाओं के क्रमशः मिलने पर यथाक्रम मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण्ध नामक पाँच सन्धियाँ उत्पन्न होती हैं। इन सन्धियों के अलग-अलग और कुल मिलाकर चौंसठ भेद (सन्ध्यङ्ग) होते हैं। विस्तारभय से इन सभी सन्ध्यङ्गों का यहाँ प्रदर्शन नहीं किया जा रहा है (जब कि वस्तुतः यह सभी चौसठों सन्ध्यङ्ग रत्नावली नाटिका में यथास्थान प्रयुक्त हैं)। केवल पाँच सन्धियों का यहाँ प्रदर्शन किया जा रहा है।

रत्नावली के प्रारम्भ से (विष्कम्भक में - एवमेतत्। कः सन्देहः) लेकर द्वितीय अङ्क में सागरिका द्वारा नायक का चित्र बनाकर देखने तक 'मुख' सन्धि है। इसके बाद, सागरिका के वचन, "ता जाव इह कोवि ण आअच्छदि" से लेकर अङ्क की समाप्ति तक 'प्रतिमुख' सन्धि है। सम्पूर्ण तृतीय अङ्क में 'गर्भ' सन्धि है। चतुर्थ अङ्क मेंऐन्द्रजालिक द्वारा कृत्रिम अग्नि सें अन्तःपुर के दहन तक 'विमर्श' सन्धि है और फिर चतुर्थ अङ्क के शेषभाग में अनत तक 'निर्वहण' सन्धि है।

रत्नावली में मुख्यतया कैशिकी वृत्ति है। द्वितीय अङ्क में वानरकृत उपद्रव के अवसर पर आरभटी वृत्ति का प्रयोग हुआ है। प्रथम अङ्क में 'श्रीहर्षो निपुणः कविः-' इत्यादि प्ररोचना में स्पष्टतः भारती वृत्ति है।

पात्रों की भाषा, वेष और क्रिया आदि में देशभेद से अन्तर दिखलाना प्रवृत्ति कहा जाता है। रत्नावली में पात्रों की चेष्टा और वेषविषयक कोई प्रवृत्तिमूलक सङ्केत नहीं मिलता। पात्रों के द्वारा भाषाप्रयोग में नाटिकाकार ने नियमों का पालन किया है।

रत्नावली उच्चकोटि की नाट्यकृति है। आचार्यों ने इसे आदर्श नाटिका माना है। कथावस्तु की सुश्लिष्टता, घटना की गतिशीलता और अभिनेयता की दृष्टि से रत्नावली एक

सफल रूपक है। इस नाटिका के निर्माण में श्रीहर्षवर्धन ने नाट्यशास्त्र के नियमों का पूर्णतः निर्वाह किया है। यही कारण है कि दशरूपक और साहित्यदर्पण में नाट्यसिद्धान्तों और तत्त्वों का विवेचन करते समय रत्नावली से बहुशः उदाहरण दिये गये हैं। उल्लेख्य है कि रत्नावली में सन्ध्यङ्गों का प्रयोग केवल नाट्यनियमों के अनुपालनहेतु ही नहीं हुआ है, अपितु कथावस्तु और नेतृव्यापार के विकास तथा समन्वय में उनका समावेश है। दामोदर गुप्त ने 'रत्नावली' की भूरि-भूरि प्रशंसा की है।

'आश्लिष्टरसनिबन्धं सत्पात्रसुवर्णयोजितं सुतराम्।
निपुणपरीक्षकदृष्टं राजते रत्नावलीरत्नम्।।'

नागानन्द

'नागानन्द' नाटक श्रीहर्ष की तृतीय एवम् अन्तिम रूपरचना है। पाँच अङ्कों वाले इस नाटक का नायक जीमूतवाहन और नायिका मलयवती है। यद्यपि कथानक उत्पाद्य नहीं है, तथापि नाटककार ने अपनी प्रतिभा से उसमें पर्याप्त मौलिकताका समावेश किया है। नाटक की भाषा सरल और प्रवाहमयी है। दृश्यों की सुचारु योजना क कारण नाटक में आदि से अन्त तक प्रेक्षकों की जिज्ञासा और आकर्षण बना रहता है।

अनेक विद्वानों की धारणा है कि नागानन्द में कथावस्तु का अच्छा विकास नहीं हो पाया है। उनकी दृष्टि में तृतीय अङ्क वही इसके लिए दोषी है। यदि तृतीय अङ्क को निकाल भी दिया जाय तो कथावस्तु में कोई न्यूनता नहीं आयेगी, क्योंकि इस अङ्क का कथानक के विकास में कोई योगदान नहीं है। वस्तुतः श्री हर्षवर्धन ने यहां तृतीय अङ्क की योजना सम्भोग शृङ्गार के परिपाक के लिए ही की है। इसमें शृङ्गार के पोषक हास्य की भी अच्छी अभिव्यक्ति हुई है। नाटक के अन्य अङ्कों की गम्भीरता से पीडित प्रेक्षकों को इस अङ्क ने भरपूर मनोरञ्जन दिया हें

कुछ विद्वानों का मानना है कि नागानन्द नाटकीय कार्यान्विति (Unity of Action) की दृष्टि से दोषपूर्ण है क्योंकि प्रारम्भ के तीन अङ्कों में नायक-नायिका के प्रणय ओर विवाह का चित्रण है तथा अन्तिम दो अङ्कों में नायक के त्याग, परोपकार और आत्मबलिदान का वर्णन है। अतः वहाँ कार्यान्विति नहीं बनती। एक सफल नाटक के लिए आधारभूत कार्य की एकता अनिवार्य है। आरोप का समाधान यह है कि कथानकगत कार्य की एकता अविच्छिन्न है। पूर्ववर्ती कथानक परवर्ती कथानक से सम्बद्ध है। कथानकों की एकता विवाह के उपलक्ष्य में प्राप्त लाल रेशमी जोड़ा है जिसे ओढ़कर ही नायक आत्मोत्सर्ग लिए प्रस्तुत होता हे। जीमूतवाहन स्वयं कहता है - "सफलीभूतो मे मलयवत्याः पाणिग्रहः।" अतः नागानन्द में कार्यान्वितिभङ्ग का दोषारोपण करना समीचीन नहीं है।

गरुड़ का नागभक्षण और गौरी का साक्षात् प्रकट होकर जीमूतवाहन को चक्रवर्ती-पद प्रदान करने जैसी अलौकिक घटनाओं से युक्त नागानन्द में कुछ स्थल तर्कसङ्गत नहीं लगते। उदाहरणार्थ, प्रतीहार द्वारा पिता का सन्देश पाते ही मित्रावसु का उस संकटापन्न प्रदेशमें अत्यन्त प्रिय आत्मीयजन जीमूतवाहन को अकेला छोड़कर तुरन्त चला जाना। यह कुछ अनुचित सा प्रतीत होता है किन्तु कथानक के विकास के लिए ऐसा करना अनिवार्य था।

नागानन्द का नायक जीमूतवाहन किस कोटि का नायक है? इस सम्बन्ध में दशरूपकवृत्तिकर्ता धनिक ने विचार कर समाधान प्रस्तुत किया है। यह स्वीकृत सिद्धान्त है कि धीरोदात्त की उदात्तता का आधार विजिगीषा है। जीमूतवाहन में विरक्ति और शान्ति है, विजिगीषा नहीं। अतः उसे धीरप्रशान्त कोटि का नायक मानना चाहिए। साथ ही, ऐसे शान्त और विरागी का मलयवती के प्रति अनुराग का निरूपण करना भी अनुचित है।

इसका समाधान करते हुए धनिक ने लिखा है कि उदात्तता का तात्पर्य सर्वात्कर्षवृत्ति मानना उचित ही है। जीमूतवहनमें उदात्तता प्रधान रूप में विद्यमान है। युद्ध करके, वध करके दूसरे को जीतने की इच्छा ही विजिगीषा नहीं है, अपितु शौर्य के साथ त्याग, दया, परोपकार, आत्मबलिदान आदि गुणों से दूसरों से बढ़कर उन्हें जीतने वाला भी विजिगीषु कहा जाता है। यदि ऐसा न माना जाय तो हत्यारे डकैत आदि भी धीरोदात्त नायक हो जायेंगे। रामादि धीरोदात्त नायक माने गये हैं। वे खलसंहार का, दुष्टों को दण्ड देकर संसार का पालन करते हैं। जीमूतवाहन भी जीवों का कल्याणचाहता है। वह अपने प्राणत्याग द्वारा भी परोपकार में व्यस्त रहता है और परोपकार द्वारा सबको जीत लेता है। अतः यह उदात्त नहीं, उदात्ततम है। मलयवती के साथ उसका अनुराग यह सूचित करता है कि जीमूतवाहन धीरप्रशान्त नहीं है। इस प्रकार जीमूतवाहन धीरोदात्त का नायक सिद्ध होता है।

इस प्रकार, नागानन्द का उल्लेख 'दशरूपक' में हुआ है। कुछ-एक दोषों को छोड़कर इसमें कोई अन्य न्यूनता नहीं है। यह अभिनय नाटक जीवनमूल्यों का अनुपम कोश है। प्रकारान्तर से यह कवि महाराज हर्षवर्धन के जीवन की उत्तरकालिक प्रवृत्ति का सूचक है।

रसयोजना

श्रीहर्षवर्धन की दो नाट्यकृतियां तो शृङ्गाररसप्रधान नाटिकायें हैं, किन्तु नागानन्द नाटक के अङ्गीरस के सम्बन्ध में विद्वानों में मतभेद है।

ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन नागानन्द का अङ्गीरस 'शान्त' मानते हैं। उनके अनुसार नागानन्द में 'रागस्यास्पदमित्यवैमि न च मे ध्वंसीति न प्रत्ययः' से लेकर

परार्थशरीरवितरणरूप निर्वहण पर्यन्त शान्त रस है। इस शान्त का विरोधी मलयवतीविषयक शृङ्गार है। इन दोनों के मध्य अविरोधी अद्भुत रस का 'अहो गीतमहो वादित्रतम' आदि से समावेश तथा उसी की पुष्टि के लिए 'व्यक्तिव्यञ्जनधातुना' आदि का समावेश किया गया है। इस प्रकार, नैरन्र्य विरोधी रसों के बची में अविरोधी रस कासमावेश कर देने से उनका अविरोध हो सकता है।

यहाँ ध्वन्यालोककार ने नागानन्द के शान्त और शृङ्गार रस का उदाहरण दिया है।[1] परन्तु कुछ विद्वान् (आचार्य) शान्त को (पृथक् रूप से) रस मानते ही नहीं। इस प्रकार से नागानन्द का प्रधान रस शान्त को न मानकर 'दयावीर' को उसका प्रधान रस मानते हैं। इस विषय पर विशेष रूप से उपपादन धनञ्जय कृत 'दशरूपक' में प्राप्त होता है। वहाँ[2] धनिक ने अवलोक (वृत्ति) में कहा है कि शमस्थायी (शान्तरस) रूपक (अभिनय) के सर्वथा अनुपयुक्त है। रूपकों के अभिनय् की प्रधानता है और वही उसका प्राण है। अतः रूपकों में हम शम का निषेध करते हैं, क्योंकि शम में व्यक्ति की सभी लौकिक क्रियाओं का लोप हो जाता है। ऐसी दशा में अभिनय करना असम्भव है। अतएव अभिनय की आवश्यकता के कारण ही हमें नाटकादि में शम की स्थिति स्वीकार नहीं है।

कुछ लोग नागानन्द में शान्तरस मानकर उसका स्थायी शम मानते हैं - यह उचित नहीं है, क्योंकि इसमें आदि से अन्त तक जीमूतवाहन का मलयवती के प्रति अनुराग निबाहा गया है। अन्त में उसे विद्याधर चक्रवर्तित्व की भी प्राप्ति होती है। ये दोनों ही बातें शम के विरुद्ध हैं। ऐसी स्थिति में नागानन्द में स्थायी शम कैसे हो सकता है? अनुकार्य जीमूतवाहन के विभाव (आलम्बन) एक साथ विषयानुराग और विषयापराग कैसे हो सकते हैं? इसमें से कोई एक ही हो सकता है। जीमूतवाहन में विषयानुराग स्पष्ट है अतः शम नहीं हो सकता।

आगे धनिक समस्या उठाते हैं कि नागानन्द में स्थायी क्या है? स्वयं उत्तर भी देते हैं कि वीररस का स्थायी 'उत्साह' ही स्थायी भाव है। उत्साह को स्थायी मान लेने पर मलयवतीविषयक रति (प्रेम) उसका अङ्ग बन जायेगा तथा चक्रवर्तित्व की प्राप्ति उसका फल हो जाता है। इस 'दयावीर' के स्थायी भाव उत्साह का शृङ्गार और ऐहिक फलप्राप्ति से कोई विरोध भी नहीं होता।

इस प्रकार दशरूपककार धनञ्जय और अवलोककार धनिक के अनुसार

---

१. ध्वन्यालोक ३.२६ की वृत्ति- 'यः पुनरेकाधिकरणत्वे निर्विरोधो नैरन्तर्ये तु विरोधो स रसान्तरव्यवधानेन बन्धे निवेशयितव्यः यथा शान्तशृङ्गारौ नागानन्दे निवेशितौ।'

२. दशरूपक, ४.३५ की 'अवलोक' वृत्ति में धनिक- "यत्तु कैश्चिन्नागानन्दादौ शमस्य स्थायित्वमुपवर्णितं.... फलं सम्पद्यत इत्यावेदितमेव प्राक्।"

नागानन्द का प्रभाव रस दयावीर है। नागानन्द के नायकत्व का विचार करते समय भी धनिक ने शान्तरस का निषेध किया है।

श्रीहर्षवर्धन की कृतियों में शृङ्गार रस के दोनों भेदों समेत वीर, हास्य, करुण, रौद्र, भयानक, वीभत्स और अद्भुत रसों की यथास्थान सुन्दर अभिव्यक्ति हुई है।

श्रीहर्षवर्धन का नाट्यकला

श्रीहर्ष के रूपकों का अनुशलन करने से उनके नाट्यकला-कौशल का ज्ञान होता है। प्रियदर्शिका को हम उनके प्रारम्भिक प्रयोग अथवा साहित्य रचनाभ्यास के रूप में ले सकते हैं, किन्तु रत्नावली और नागानन्द में श्रीहर्ष की परिपक्व काव्यरचना- पटुता दृष्टिगोचर होती है। समालोचन विद्वज्जन भले ही इन्हें कालिदास-भवभूति प्रभृति नाट्यकारों के समकक्ष रखें, तथापि श्रीहर्ष संस्कृत रूपककारों में प्रथम नाटिकाकर्ता के रूप में सदैव समादृत होत रहेंगे। श्रीहर्ष ने लोकविश्रुत और मनोहर वत्सराज उदयन तथा पुण्यकीर्ति बोधिसत्त्व जीमूतवाहन के चरित को रूपकों में निबद्ध कर यश की प्राप्ति की, संस्कृत रङ्गमञ्च को अपूर्व योगदान किया।

श्रीहर्ष ने अपने रूपकों के कथानक प्राचीन स्रोतों से ही ग्रहण किये हैं। इस प्रकार उनकी कथावस्तु सर्वथा मौलिक तो नहीं कही जा सकती किन्तु श्रीहर्ष ने अपनी प्रतिभा द्वारा नवीन उद्भावनायें करके उन्हें रोचक तथा लोकप्रिय बना दिया। उनकी नाटिकाओं का वस्तुविन्यास योजनाबद्ध एवं प्रभावशाली है। अनवरुद्ध कार्यव्यापारों से युक्त नाटिकाओं में गतिशीलता है। राजाओं के अन्तःपुरों में घटित होने वाली घटनाओं को कवि ने बड़ी निपुणता से प्रस्तुत किया है।

प्रणयप्रधान रूपकों के जितने भी कमनीय उपादेय साधन हो सकते हैं, उन सब उपयोग श्रीहर्ष ने किया है। अपने रूपकों में मानव और प्रकृति की समरसता स्थापित करने का उनका प्रयत्न सर्वथा सफल है। मानव-भाव को जागृत करने हेतु प्रकृति द्वारा सुन्दर परिस्थितियाँ प्रस्तुत करने की योजना प्रशंसनीय है।

श्रीहर्ष की प्रथम रचना होने के कारण 'प्रियदर्शिका' में श्रीहर्ष की नाट्यप्रतिभा का पूर्ण विकास तो नहीं दिखई पड़ता तथापि कथानक में परिवर्तन और अनुरूप दृश्यविधान के द्वारा उन्होने मौलिकता और रोचकता लाने का प्रयत्न किया है। 'प्रियदर्शिका' में वि ने 'गर्भाङ्क' की योजना करके जहां एक ओर और अधिक चारुता तथा आकर्षण उत्पन्न किया है, वहीं दूसरी ओर शास्त्रीय वैशिष्ट्य की छाप भी छोड़ी है। गर्भाङ्क नाटक की योजना का यह अभिनव प्रयोग सुलभ होने के साथ ही पूर्वकथा को प्रतिष्ठित करने तथा कथानक के विकास में पर्याप्त सहायक है। श्रीहर्ष के इस गर्भाङ्कनाटक की योजना ने परवर्ती नाटककारों को प्रभावित किया और 'उत्तररामचरित' में भवभूति तथा

'बालरामायण' में राजशेखर ने इसका सफल प्रयोग किया।

'रत्नावली' एक अप्रतिम नाटिका है। श्रीहर्षवर्धन को अमर करने के लए मात्र यह एक नाटिका ही पर्याप्त हैं इस नाटिका में हमें श्रीहर्ष के प्रौढ़ कवित्व और अनुपम नाट्यकला कौशल के दर्शन होते हैं। मूलकथा के समान आधार पर निर्मित दोनों नाटिकाओं (प्रियदर्शिका और रत्नावली) की स्थिति ठीक वैसी ही है जैसे कि एक ही वृन्त पर खिले दो सुन्दर फूलों में से एक की सुगन्ध दूसरे की सुगन्ध को दबा दे।

नाटकीय दृष्टि से रत्नावली का अपना विशिष्ट महत्त्व है। 'रत्नावली' वस्तुतः नाट्यशास्त्र की रत्नावली ही हैं दृश्य काव्य की इस मधुर-ललित रचना में नाट्यशास्त्रीय नियमों का निर्वाह अपूर्व रूप से हुआ है। दशरूपककार को तो उदाहरणों के लिए रत्नावली के रूप में कल्पलता ही मिल गयी। नाट्यशास्त्रीय नियमों का पूर्णतः निर्वाह करते हुए नाटकीय तत्त्वों का समावेश करना तथा प्रणयकथा के सौन्दर्य को निरन्तर प्रकाशित करते रहना आप में गौरवपूर्ण तथा दुष्कर है। रसाभिव्यक्ति में भी कोई बाधा नहीं आयी है। जैसे मृणालदण्ड के छिद्रों में स्थित विसतन्तु कमलिनी के सौन्दर्य के परोक्ष पोषक होते हैं, ठीक यही हाल इस नाटिका में समाविष्ट शास्त्रीय तत्त्वों का है। अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं, सन्धियों, सन्ध्यङ्गों, वृत्तियों, प्रवृत्तियों आदि का सन्निवेश इतनी कुशलता से हुआ है कि कुछ विद्वानों की धारण है कि नाट्यशास्त्रीय नियमों और तत्त्वों की व्याख्या के लिए ही रत्नावली नाटिका की रचना की गयी है। रत्नावली का नाट्यशिल्प और उसका उत्कर्ष श्रीहर्ष के नाट्यकलाकौशल का प्रमाण है।

रत्नावली में श्रीहर्ष ने घटनाओं के संयोजन और अनुकूल परिस्थितियों के निर्माण में पूर्ण पटुता प्रदर्शित की है। जब कामोत्सव के द्वारा सर्वत्र पूर्ण आनन्द का साम्राज्य स्थापित हो जाता है, चतुर्दिक् रतिरस की अजस्र धारा प्रवाहित होने लगती है, तब कवि राजा और सागरिका के प्रथम दर्शन की अवतारणा करता है। बन्दर का अश्वशाला से छूटकर भागना और सारिका कापिंजरे से मुक्त होना- जहां एक ओर कवि की स्वोपज्ञ उद्भावनाओं को सूचित करता है, वहीं कथानक के विकास में सहायक भी करता है। चतुर्थ अङ्क में ऐन्द्रजालिक का चमत्कार और अन्तःपुर का दहन - कवि की स्वोपज्ञ कल्पना है। इससे नाटिका सुखान्त हो जाती है और रोचकता में वृद्धि के साथ ही प्रेक्षकों का आश्चर्यभरा मनोरञ्जन होता है।

'नागानन्द' श्रीहर्ष की तृतीय और अन्तिम नाट्य कृति है। इसके कथानक में मौलिकता अधिक है। इसका कारण कवि का दृष्टि परिवर्तन भी हो सकता है। यद्यपि नायक की दृष्टि निवृत्तिपरक हो गयी है तथापि कवि का शृङ्गारिक संस्कार उसका पीछा नहीं छोड़ता। नायिका के प्रति नायक के भ्रम ने द्वितीय अङ्क की कथावस्तु को अद्भुत सौन्दर्य

तथा रोचकता प्रदान की है। इस नाटक में पात्रों के चारित्रिक विकास के सन्दर्भ में कवि का ध्यान एकमात्र जीमूतवाहन पर ही है।

निष्कर्षः हम यह कह सकते हैं कि श्रीहर्षवर्धन सिद्धान्त और प्रयोग दोनों दृष्टियों से एक सफल नाटककार हैं। तीनों ही रूपक रोचक और अभिनेय हैं। इनमें श्रीहर्ष की स्वोपज्ञ कल्पना, अपूर्व काव्यप्रतिभा और अद्भुत नाट्यकला-कौशल के दर्शन होते हैं।

भाषा-शैली

रूपकों में भाषा की विविधता पायी जाती है। नाट्यशास्त्रीय नियमों के अनुसार ही पात्र भाषा का व्यवहार करता है। उत्तम कोटि के पात्र, यथा- ब्राह्मण, तपस्वी, राजा, विद्वान् आदि संस्कृत भाषा का प्रयोग करते हैं। विदूषक ब्राह्मण होता है तथापि रूपक में मूर्ख के रूप में होने के कारण प्राकृतभाषा का प्रयोग करता है। मध्यम, अधम पात्र और स्त्रियाँ प्राकृत बोलते हैं किन्तु विदुषी महिलायें और देवता आदि संस्कृत के माध्यम से वाग्व्यवहार करते हैं।

श्रीहर्ष ने अपने रूपकों में सरल संस्कृत का प्रयोग किया है। उनकी भाषा विधान की दृष्टि से परिष्कृत (व्याकरण) और भावाभिव्यक्ति में समर्थ है। श्रीहर्ष वैदर्भी रीति के कवि हैं। अतः वाक्य विन्यास तदनुरूप है जिसमें माधुर्य और प्रसादगुण परिव्याप्त है। अलङ्कारों का यथावसर सुन्दर प्रयोग हुआ है भावों के अनुकूल ही छन्दोयोजना भी हुई है। संवादशैली प्रभावोत्पादक है। यथावसर लोकोक्तियों के प्रयोग से भाषा और सहज हो गयी है।

श्रीहर्ष की काव्य शैली सरस, सरल और सुबोध है। श्रीहर्ष का वर्णन इतना विशद होता है कि सम्पूर्ण दृश्य (श्रवण और पाठ मात्र से) नेत्रों के समकक्ष नाचने लगता है। रत्नावली में कामोत्सव और होली का चटकीला चित्रण अपने आप में बेजोड़ है। नागानन्द का आश्रमवर्णन सर्वथा नैसर्गिक और मनोरम है। वर्णनों में यथार्थता, स्वाभाविकता और चित्रात्मकता है। कुछ भावों से कवि का इतना लगाव है कि वे उसके रूपकों में किसी न किसी बहाने बार-बार आते हैं। कवि की प्रतिभा और शास्त्रज्ञता के कारण उसके रूपकों में अपूर्व सहृदय संवेद्यता हे। कवि की उत्प्रेक्षा का सौन्दर्य दर्शनीय है-

'देवि त्वन्मुखपङ्कजेन शशिनः शोभातिरस्कारिणा
पश्याब्जानि विनिर्जितानि सहसा गच्छन्ति विच्छायताम्।
श्रुत्वा त्वत्परिवार-वार-वनितागीतानि भृङ्गाङ्गना
लीयन्ते मुकुलान्तरेषु शनकैः सञ्जातलज्जा इव।।'

प्रेमातुर सागरिका द्वारा सरल शब्दों में असफल प्रेम की प्रतिक्रिया सहज ही वर्णित है-

'दुर्लभ जनानुरागो लज्जा गुर्वी परवश आत्मा।
प्रियसखि, विषमं प्रेम मरणं शरणं न वरमेकम्।।' (संस्कृत छाया)

प्रणय में त्रुटि असह्य होती है ऐसे अवसर पर स्त्री स्वभाव का सजीव चित्रण-

समारूढा प्रीतिः प्रणयबहुमानादनुदिनं
व्यलीकं वीक्ष्येदं कृतमकृतपूर्वं खलु मया।
प्रिया मुञ्चत्यद्य स्फुटमसहना जीवितमसौ
प्रकृष्टस्य प्रेम्णः स्खलितमति षण्ढं हि भवति।।

नायिका का कमलिनी और नायक का सूर्य पर आरोपित व्यवहार विलक्षण है-

यातोऽस्मिन् पद्मनयने समयो ममैष
सुप्ता मवैव भवती प्रतिबोधनीया।
प्रत्यायनामयमितीव सरोरुहिण्याः
सूर्योऽस्तमस्तकानिविष्टकरः करोति।।

कहीं-कहीं इन्होंने संक्षिप्त शैली का भी आश्रय लिया है। नागानन्द के एक श्लोक में इन्होंने पूरे तपोवन का चित्र खींच दिया है। वर्णन द्रष्टव्य है -

'वासोऽयं दययेव नातिपृथवः कृत्तास्तरूणां त्वचो
भग्न्यालक्ष्यजरत्कमण्डलु नभः स्वच्छं पयो नैर्झरम्
दृश्यन्ते त्रुटितोज्झिताश्च बटुभिर्मौञ्ज्यः क्वचिन्मेखला
नित्याकर्णनया शुकेन च पदं साम्नामिदं पठ्यते।।

श्रीहर्ष की रुचि बड़े छन्दों का प्रयोग करने के प्रति अधिक है। शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे बड़े छन्दों का प्रयोग उन्होंने बड़ी कुशलता से किया है। वैदर्भी रीति का कवि हाने के बावजूद गौडी रीति का भी सफल निर्वाह इन्होंने युद्ध वर्णन के प्रसङ्ग में किया है।

श्रीहर्ष का प्रकृति-चित्रण

श्रव्य काव्यों में प्रकृति चित्रण के लिए पर्याप्त अवकाश होता है किन्तु दृश्य काव्यों में इसके लिए अवसर कम ही होता है। महाकाव्य के लक्षण में प्रकृति चित्रण को पर्याप्त

महत्त्वदिया गया है। इसीलिए महाकाव्यों में सर्ग के सर्ग प्रकृति वर्णन से भरे रहते हैं। रूपक दृश्य काव्य होते हैं और उनका अभिनय नाट्यशालाओं में होता है जहाँ सीमित स्थान और साधन होते हैं। इस प्रकार सीमित स्थान, साधन और समय में कथावस्तु के साथ वर्णित दृश्य-विधान आयोजित करना पड़ता है। साथ ही दृश्य परिवत्रन भी जल्दी-जल्दी सम्भव नहीं है। इन सारी बातों को देखते हुए रूपकों में प्रकृति चित्रण के लिए पर्याप्त अवकाश नहीं होता तथापि संस्कृत के अनेक रूपकों में प्रकृति का मनोहर चित्रण किया गया है। प्राकृतिक दृश्यों की योजना रंगमंच पर करना प्राचीनकाल में दुष्कर था किन्तु कथावस्तु के परिवेश के अनुकूल योजना की पूर्ति के लिए रूपकों में प्रकृति चित्रण को स्थान मिलना ही है।

श्रीहर्षवर्धन की दोनों नाटिकाओं की कथावस्तु मुख्यतः अन्तपुर से ही सम्बद्ध है। अतः प्रणयकथा के परिवेश के अनुरूप क्रीडावापी, कमलदीर्घका, उपवन और कदलीगृह, लतामण्डप के रूप में प्राकृतिक दृश्य विधान उपयुक्त ही है। नागानन्द में तपोवन, आश्रम, मलयपर्वत और समुद्रतट के रूप में प्राकृति कदृश्यों का अङ्कन हुआ है।

प्रियदर्शिका में धारागृहोद्यान (फव्वारा + उपवन) का अत्यन्त सुन्दर वर्णन प्रस्तुत किया गया है - **'पश्य, अविरतपतद्विविधकुसुसुकुमारशिलातलोत्सङ्गस्य परिमनिलीन मधुकरभरभग्नबकुलमालतीलताजातकस्य कमलगन्धग्रहणोद्दानमारुतपर्यवबुद्धबन्धूक-बन्धनस्यातिविरल तमालतरुपिहितातपप्रसारस्यास्य धारागृहोद्यानस्य सश्रीकताम्।'**

राजा इस उद्यान की उपरिवर्णित शोभा का सामर्थन करते हुए कहता है -

'वृन्तैः क्षुद्रप्रवालस्थगितमिव तलं भाति शेफालिकानां
गन्धः सप्तच्छदानां सपदि गजमदामोदमोहं करोति।
एते चोन्निद्रपद्मच्युतबहलरजः पुञ्जपिङ्गाङ्गरागा
गायन्त्यव्यक्तवाचः किमपि मधुलिहो वारुणोपानमत्ताः।'

सप्तपर्ण वृक्ष से निरन्तर झगड़ते हुए पुष्प, वर्षा का अन्त हो जाने पर भी पत्तो के बीच से टपकते हुए जलबिन्दुओं के समान प्रतीत हो रहे हैं -

'य एषोऽविरलपतत्क-सुमनिकरोऽद्यापि पत्रान्तरगलद्वर्षावसान सलिलबिन्दुरिव लक्ष्यते सप्तपर्णापादयः।'

'प्रियदर्शिका' में किया गया मध्याह्न वर्णन और सानध्यवर्णन अतीव मनोहर है। रत्नावली में भी प्रकृति का मनोरम चित्रण हुआ है। वहाँ मलयवायु के झोकों से झूमते हुए वृक्ष मतवाले से लग रहे हैं। सन्ध्या का वर्णन अतीव सुन्दर है। रात्रि के अन्धकार का हूबहू

चित्र प्रस्तुत कर देने वाला वर्णन अद्वितीय है। इस घने अन्धकार में राजा मकरन्दोद्यान में मार्ग की पहचान फूलों की गन्ध सूँघ कर कर लेता है-

'पालीयं चम्पकानां नियतमयमसौ सुन्दरः सिन्दुवारः
सान्द्रा वीथी तथेयं बकुलविटपिनां पाटलापंक्तिरेषा।
आघ्रायाघ्राय गन्धं विविधमधिगतैः पादपैरेवमस्मिन्
व्यक्तिं पन्थाः प्रयाति द्विगुणतरतमनोनिह्नुतोऽप्येष चिह्नैः।।'

रत्नावली में कवि के शब्दों में चन्द्रोदय दर्शनीय है- 'एष खलु कुपित कामिनीकपोलसन्निभः पूर्वादिशं प्रकाशयन्नुदितो भगवान् मृगलाञ्छनः।'

दोनों नाटिकाओं की अपेक्षा नागानन्द नाटक में प्रकृतिचित्रण कुछ अधिक ही हुआ है। इसमें कारण है नाटक की कथावस्तु और कलेवर। नाटक के प्रथम अङ्क में मलयपवन और मलयगिरि का सुन्दर वर्णन है। तृतीय अङ्क कुसुमाकरोद्यान का स्वाभाविक और सजीव चित्र खींचते हुए कवि कहता है-

निष्पन्दश्चन्दनानां शिशिरयति लतामण्डपे कुट्टिमान्तान्
आराद् धारागृहाणां ध्वनिमनु तनुते ताण्डवं नीलकण्ठः।
यन्त्रोन्मुक्ताश्च वेगाच्चलति विटपिनां पूरयन्नालवालान्
आपातोत्पीडहेलाहृतकुसुमरजः पिञ्जरोऽयं जलौघः।।

नागानन्द में समुद्र के ज्वार-भाटा का बड़ा ही सुन्दर चित्रण किया गया है -

उन्मज्जज्जलकुञ्जरेन्द्ररभसास्फालानुबन्धोद्धतः
सर्वाः पर्वतकन्दोदरभुवः कुर्वन् प्रतिध्वानिताः।
उच्चैरुच्चरति ध्वनिः श्रुतिपथोन्माथी यथाऽयं तथा
प्रायः प्रेंखदसंख्यशंखधवला वेलेयमागच्छति।।

समुद्रतट पर फैला हुआ जलौघ कैसा लगता ह? कवि के शब्दों में-

'कवलितलवङ्गपल्लवकरिमकोद्गारसुरभिणा पयसा।
एषा समुद्रवेला रत्नद्युतिरञ्जिता भाति।।'

निश्चय ही हर्षवर्धन प्रकृति के प्रत्येक प्रतिरूप से परिचित हैं। उन्होंने प्रकृति का सूक्ष्म निरीक्षण किया है, गहन अनुभव किया है। उन्होंने अपने तीनों रूपकों में यथावसर अनुरूप प्रकृतिवर्णन की योजना की है, जो प्रशंसनीय है।

श्रीहर्षवर्धन की प्रशस्तियाँ

१. श्रीहर्ष इत्यवनिवर्तिषु पार्थिवेषु नाम्नैव केवलमजायत वस्तुतस्तु।
श्रीहर्ष एष निजसंसदि येन राज्ञः सम्पूजितः कनकोटिशतेन बाणः।।
(सोड्ढल : उदयसुन्दरी कथा)

२. यस्याश्चोरश्चिकुरनिकरः कर्णपूरो मयूरो
भासो हासः कविकुलगुरुः कालिदासो विलासः।
हर्षो हर्षो हृदयवसतिः पञ्चबाणस्तु बाणः।
केषां नैषा कथय कविताकामिनी कौतुकाय।। (जयवेद - प्रसन्नराघव)

३. आश्लिष्टसन्धिबन्धं सत्पात्रसुवर्णयोजितं सुतराम्।
निपुणपरीक्षक दृष्टं राजते रत्नावलीरत्नम्।। (दामोदरगुप्त - कुट्टनीमतम्)

४. हर्षेण रचितं ह्यद्यं नाटकत्रितयं किल।
नाट्यशास्त्रविधानेन योजना निपुणं हिता।।
रत्नावली विशेषेण सुधीभिर्नाटिका स्तुता।
तस्यां नाट्यस्य तत्त्वानि शास्त्रज्ञा बहु मन्वते।।
कामिन्या अङ्गसौन्दर्यं प्रेम्णश्चाविरतां गतिम्।
निपुणं वर्णयामास रूपकेषु कविर्नृपः।।
(डॉ० अमरनाथ पाण्डेयः संस्कृत-कवि-समीक्षा)

५. शृङ्गाररम्यां प्रियदर्शनी यश्चकार हर्षः प्रियदर्शिकाख्याम्।
रत्नावलीं सागररत्नहृद्यां विद्यन्मनोज्ञां विदधे हिताय।।
कारुण्यपूर्णं गुणिवृन्दनन्दं नागाख्यनन्दं विममे भुदेवः।
रत्नत्रयं चारुगुणात्रयेण प्रस्तौति मूलप्रकृतिं प्रजाभ्यः।।
(डॉ० कपिलदेव द्विवेदी- सं०सा० का आलो० इतिहास)

६. रूपकत्रयकर्तारः कालिदासो महाकविः।
श्रीहर्षो भवभूतिश्च तुरीयो नैव विद्यते।। (डॉ० प्रभुनाथ द्विवेदी)

• • • •

सट्टक-परम्परा

– राधावल्लभ त्रिपाठी

नाटिका प्राकृते लब्धा बद्धा जवनिकान्तरैः।
च्युतप्रवेशविष्कम्भा सैव सट्टकमित्यलम्।।

'सट्टक' शब्द के सम्बन्ध में दो प्रकार के मत प्राप्त होते हैं। प्रथम मत के अनुसार, यह संस्कृत भाषा का शब्द है और द्वितीय मत के अनुसार, यह मूलतः द्रविड़ भाषा का शब्द है और वहीं से लेकर संस्कृत में प्रयुक्त किया जा रहा है।

चुरादिगण की उभयपदी धातु 'सट्ट' (सट्टयति, सट्टयते) के कई अर्थ हैं-क्षति पहुँचाना, मार डालना, बलवान् होना, देना, लेना और रहना। 'सट्ट' धातु से 'ण्वुल्' प्रत्यय करने पर 'सट्टकम्' शब्द निष्पन्न होता है जिसका अर्थ कोशकार वामन शिवराम आप्टे, 'प्राकृत भाषा का एक उपरूपक' करते हैं और उदाहरण देते हैं- 'कर्पूरमञ्जरी'[1]। सट्टक के लिए साडक, सादिक, सटक, सटिक और शाट(क) शब्द भी प्रयुक्त होते हैं।

संस्कृत 'सट्टक'[2] शब्द के सम्बन्ध में विचार करने पर रूपक अर्थ के सन्दर्भ में मूलधातु 'सट्ट' की अर्थ-सङ्गति नहीं बैठती है। द्रविड़ भाषा की धातु 'अट्ट' की अर्थसंगति बैठती है क्योंकि 'सट्टक' में नाटकीय हाव-भाव का प्रदर्शन और नृत्यों की विशेष योजना की जाती है।[3]

'सट्टक' शब्द की व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में मात्र उपर्युक्त सामान्य जानकारी उपलब्ध हो सकी है। यह शब्द कितना प्राचीन है, यह तो नहीं कहा जा सकता किन्तु यह अवश्य कहा जा सकता है कि नाट्यशास्त्र के आदि आचार्य भरत ने अपने महनीय ग्रन्थ 'नाट्यशास्त्र' में 'सट्टक' का कहीं भी उल्लेख नहीं किया है। यही नहीं, भोजराज के पूर्ववर्ती आचार्य धनञ्जय (और धनिक) ने भी 'दशरूपक' ग्रन्थ में सट्टक की कोई चर्चा नहीं की है।

---

१. वामन शिवराम आप्टे, संस्कृत हिन्दी कोश, पृ० १०६१, मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी।

२. मेरे विचार से 'सट्ट' ध्वनिमूलक धातु है। किसी मजबूत किन्तु लचीली छड़ी, टहनी आदि से किसी कड़ी वस्तु (यथा-जमीन, पत्थर, पीठ आदि) पर प्रहार या आघात करने पर 'सट्ट' की ध्वनि निकलती है। 'सटकना', 'सटक देना', 'सुटुक देना' आदि हिन्दी भाषा में प्रचलित क्रियापद इसी ध्वन्यात्मक अर्थ को व्यक्त करते हैं। एक प्रकार के लोकनाट्य में प्रस्तुति के आरम्भ में दो हँसोड़ परस्पर संवाद करते हुए एक दूसरे की पीठ पर चाबुकनुमा डंडे या चमड़े की थैली से सट्ट-सट्ट (अभिनयपूर्वक) मारते हैं। कर्पूरमञ्जरी में राजशेखर ने-'दोलारअविच्छेओ कहं पि मा होउ त्ति पडइ व्व। पुट्ठम्मि वेणिदंडो मम्महचम्म जट्टिआअंतो।।' रूपक द्वारा तनिक संकेत किया ही है।

कुछ लोगों के अनुसार, आचार्य भरत द्वारा सट्टक का उल्लेख न किये जाने पर भी यह एक प्राचीन नाट्यविधा ज्ञात होती है। स्टेन कोनो नामक पाश्चात्त्य विद्वान् ने भरहुत शिलालेख (२०० ई०पू०) में प्रयुक्त 'साडक' शब्द को 'सट्टक' का प्राचीन रूप माना है- '....the karpuramanjari was not the first composition of its kind and the word 'Sattaka' occurs in the form 'Sadaka', as early as on the Bharahuta Stupa."[1]

यद्यपि आचार्य भरत और धनञ्जय-धनिक ने 'सट्टक' का उल्लेख नहीं किया है तथापि अनेक प्राचीन और नवीन आचार्यों ने 'सट्टक' की गणना उपरूपकों, गौणरूपकों अथवा अन्य रूपकों में की है। कोहल ने 'मार्ग' के भेदों में इसकी गणना की है। इनकी दृष्टि में इसे उपरूपक का प्रकार कहा जा सकता है। आचार्य अभिनवगुप्त ने इसे सङ्कीर्ण रूपक स्वीकार किया है। भोजराज, हेमचन्द्र और वाग्भट ने 'सट्टक' की चर्चा मुख्य रूपकभेदों के अन्तर्गत की है। भोजराज ने इसकी गणना वाक्यार्थाभिनय के अन्तर्गत की है। हेमचन्द्र ने इसे 'पाठ्य' भेदों में गिनाया है। शुभङ्कर ने भी इसे मुख्य रूपक स्वीकार किया है।

अग्निपुराणकार, सागरनन्दी, रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदातनय, अच्युतानन्द योगी और विश्वनाथ 'सट्टक' को गौणरूपक स्वीकार करते हैं। अग्निपुराणकार ने इसकी गणना 'विशेष' रूपकों में की है (अग्निपुराण, ३३८)। सागरनन्दी ने इसे गौणरूपक माना है (नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० ३०४)। रामचन्द्र-गुणचन्द्र इसे 'अन्य रूपक' के अन्तर्गत (नाट्यदर्पण, ४) रखते हैं। शारदातनय ने इसे नृत्यभेदों की श्रेणी में स्थान दिया है (भावप्रकाशन, ३)। अमृतानन्द योगी और विश्वनाथ इसे 'उपरूपक' की कोटि में रखते हैं।

जो लोग यह मानते है कि सट्टक की परम्परा का सूत्रपात 'नाटिका' के पूर्व हो चुका था, उनकी मान्यता निराधार प्रतीत होती है क्योंकि इस सम्बन्ध में पुष्ट प्रमाणों का अभाव है। श्रीहर्षविरचित प्रियदर्शिका और रत्नावली नाटिकाओं के पूर्व 'सट्टक' की कोई स्थिति दिखायी नहीं पड़ती। नाटिका और सट्टक के लक्षणों की तुलना करने पर स्पष्ट ही ज्ञात होता है कि सट्टक की रचना नाटिकाओं के पश्चात् आरम्भ हुई। राजशेखरकृत कर्पूरमञ्जरी प्रथम सट्टक रचना उपलब्ध है।

सट्टक का लक्षण (स्वरूप) :

अग्निपुराणकार, कोहल और अभिनवगुप्त ने 'सट्टक' का कोई लक्षण नहीं दिया है। इस विषय में अभिनवगुप्त ने कोहल को उद्धृत करते हुए जो तर्क दिया है, उससे केवल

---

१. स्टेनकोनो (सम्पा०), कर्पूरमञ्जरी, पृ० १६५

इतना ज्ञात होता है कि कोहल सट्टक को गौण रूपक स्वीकार करते है।[1]

कवि राजशेखर ने अपनी नाट्यकृति 'कर्पूरजञ्जरी' नामक 'सट्टक' में सट्टक को परिभाषित किया है-

सो सट्टओ त्ति भणइ दूरं जो जाडिआइं अणुहरइ।
किं उण एत्थ पवेसअ बिक्क भाईं ण केवलं होंति।। (१.६)
(तत् सट्टकमिति भण्यते दूरं यन्नाटिकामनुहरति।
किं पुनरत्र प्रवेशकविष्कम्भकौ न केवलं भवतः।।)

एतदनुसार, वह रूपक जो पूर्णतया नाटिका का अनुकरण करता है, केवल प्रवेशक और विष्कम्भक जिसमें नहीं होते, 'सट्टक' कहा जाता है।

सागरनन्दी के अनुसार, सट्टक में कैशिकी तथा भारतीवृत्ति की प्रधानता होती है। रौद्र, वीर, भयानक, और बीभत्स रस तथा अवमर्श सन्धि की योजना नहीं की जाती है। राजा इसमें नायक होता है और स्त्रीपात्र की तरह यह भी प्राकृत भाषा का प्रयोग करता है। यदि कहीं कोई विशेष कार्य (प्रयोजन) है तो संस्कृत-भाषा का ही प्रयोग कर सकता है। प्राकृत की शौरसेनी, प्राच्या या महाराष्ट्री होनी चाहिए। यवनिका के द्वारा मध्यान्तर होता है। उदाहरण के रूप में इन्होंने 'कर्पूरमञ्जरी' का ही उल्लेख किया है।[2]

भोजराज के शृङ्गारप्रकाश में सट्टक का लक्षण सविस्तर दिया है-

'विष्कम्भकप्रवेशकरहितो यस्त्वेकभाषया भवति
अप्राकृतसंस्कृतया स सट्टको नाटिकाप्रतिमः।
काव्यं गोपुच्छाग्रं कर्तव्यं नाटिकादिषु प्राज्ञैः
ये तूदात्ता भावास्ते सर्वे पृष्ठतः कार्याः।।
सम्भोगस्तेषु भवेत्कर्मारम्भस्तथैव तस्मिन्।' (शृङ्गारप्रकाश, पृ० ४६६)

अर्थात्, विष्कम्भक प्रवेशक रहित यह 'सट्टक' नाटिका के समान होता है। यह एक ही भाषा में निर्मित होता है। या तो पूर्णतः संस्कृत में अथवा पूर्णतः प्राकृत में। कथा का उत्तरोत्तर विकास गाय की पूँछ की तरह होना चाहिए। इसमें नाना प्रकार के रस और

---

१. नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, १८ अध्याय।

२. तच्च नाटिकाप्रतिरूपकं कैशिकी भारतीप्रधानं रौद्रवीरभयानकवीभत्समवमर्शसन्धिशून्यम्। यथा कर्पूरमञ्जरी। अन्तर्यवनिकान्तम्। यथाङ्के यवनिकयाऽवच्छेदा भवन्ति तथात्रापि। शौरसेनीप्राच्या महाराष्ट्रीयुक्तम्। स्त्रीवद् राज्ञोऽपि प्राकृतपाठः। कार्यात् संस्कृतपाठः। तत्र रूपकमेवेदं कार्यमिति राज्ञाऽपि प्राकृतपाठः कर्तव्यः।। (नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० ३०४)

भाव होने चाहिए। निर्वहण सन्धि में अद्भुत रस का सन्निवेश होना चाहिए। इसकी रचना भारत देश में होनी चाहिए क्योंकि यहाँ की भूमि सुगन्धित और स्वर्णमयी कही गयी है। पुराणों में वर्णित पर्वतों में सम्भोगक्रिया होनी चाहिए।

भोजराजप्रदत्त सट्टकलक्षण का विश्लेषण करने पर शङ्का होती है कि भोजराज ने जो कहा है उनमें से अनेक बातें वर्तमान उपलब्ध सट्टकों में नहीं प्राप्त होतीं। क्या भोजराज की दृष्टि में उनका लक्षणानुसारी कोई सट्टक ग्रन्थ था? यदि नहीं, तो इनके लक्षण की बहुत सी बातें असंगत लगती हैं। 'सट्टक' का प्रयोग पुल्लिङ्ग में किया गया है। जब कि प्रायः सभी आचार्य नपुंसकलिङ्ग में प्रयोग करते हैं। सट्टक की रचना भारतभूमि में ही क्यों करनी चाहिए? सट्टक की रचना में पर्वतों में सम्भोगक्रिया प्रदर्शित करने का हेतु क्या है? सट्टक के लक्षण में इन सब बातों का समावेश अनावश्यक प्रतीत होता है।

सट्टक का लक्षण जो हेमचन्द्र और वाग्भट द्वारा प्रस्तुत किया गया है, वह भोजराज के लक्षण की प्रथम दो पंक्तियों की यथावत् स्थापना ही है।

शारदातनय का सट्टक-स्वरूप विषयक मत प्रायः सागरनन्दी से मिलता-जुलता है-

सट्टकं नाटिकाभेदो नृत्यभेदात्मकं भवेत्।
कैशिकीभारतीयुक्तं हीनरौद्ररसादिकम्।।
सर्वसन्धिविहीनञ्च नाटिकाप्रतिरूपकम्।
शूरसेनमहाराष्ट्रप्राच्यभाषादिकल्पितम्।।
अङ्स्थानीयविच्छेदचतुर्यवनिकान्तरम्।
छादनस्खलनभ्रान्तिनिह्नवादेरसम्भवात्।।
न वदेत् प्राकृतीं भाषां राजेति कतिचिज्जगुः।
मागध्या शौरसेन्या वा वद्रद्राजेति केचन।।
नाटिका प्रतिरूपं यद्विशेषौ रूपकस्य तत्।
सट्टकं तेन तस्याहुः भाषां तां प्राकृतीं परे।। (भावप्रकाशन, नवम अधिकार)

शारदातनय ने भावप्रकाशन के अष्टम अधिकार में भी अत्यन्त संक्षेपतः सट्टक का उल्लेख किया है किन्तु वही बात पुनः नवम अधिकार में उपर्युक्त रूप में सविस्तर कही है। शारदातनय सट्टक को नाटिका-भेद बतलाते हुए पुनः नृत्यभेद भी कहते हैं। राजा के भाषा प्रयोग के विषय में मतान्तर का उल्लेख किया गया है। शारदातनय ने सट्टक को

'सर्वसन्धिविहीन' कहा है किन्तु आचार्यगण सट्टक में निर्वहण सन्धि का प्रयोग स्वीकार करते हैं। सागरनन्दी ने 'अवमर्शसन्धिशून्य' कहा है। अतः शारदातनय का सन्धिविषयक मत यहाँ भ्रामक है।

सट्टक के विषय में अमृतानन्द योगी का मत प्रायः पूर्वाचार्यों की अनुसृति में ही है-

'सट्टकं नाटिकावत्स्यात् किन्त्वेतत्प्राकृतैः कृतम्।
प्रवेशकविहीनञ्च शृङ्गाराद्भुतभूषितम्।।
चतुर्यावनिकं कार्यम्..... ।।' (अलङ्कारसंग्रहः, कारिका १२६)।

शुभङ्कर सट्टक को 'शाट' (शाटक) कहते हैं। सट्टक के सम्बन्ध में उन्होंने अपना मत (द्रष्टव्य-रामकृष्णकविकृत भरतकोश) व्यक्त करते हुए कहा है कि इसमें शृङ्गार और अद्भुत रस का प्राचुर्य रहता है और अवमर्श सन्धि नहीं होती।

आचार्य विश्वानाथ ने साहित्यदर्पण में 'सट्टक' का लक्षण दिया है-

'सट्टकं प्राकृताशेषपाठ्यं स्यादप्रवेशकम्।
न च विष्कम्भकोऽप्यत्र प्रचुरश्चाद्भुतो रसः।।
अङ्का जवनिकाख्याः स्युः स्यादन्यन्नाटिकासमम्।' (साहित्यदर्पण, ६.२७६-७७)

अर्थात् जिसकी सम्पूर्ण रचना प्राकृत भाषा में हो, जिसमें प्रवेशक-विष्कम्भक न हों, अद्भुत रस का प्रचुर सन्निवेश हो, अन्य बातों में नाटिका के समान हो और विभाजन जवनिकान्तरों से हो, उसे 'सट्टक' कहते हैं। इन्होंने भी कर्पूरमञ्जरी को उदाहृत किया है।

इस प्रकार आचार्यों द्वारा 'सट्टक' का स्वाभिमत स्वरूप प्रकाशित किया गया। कुछ आचार्यों को छोड़कर प्रायः सभी के मत भिन्न हैं। भाषा सम्बन्धी मतवैभिन्न्य तो है ही, स्वरूपगत विशेषताओं के सम्बन्ध में भी ऐकमत्य नहीं है। किन्तु यदि वर्तमान उपलब्ध सट्टकों (आचार्यों ने प्रायः एक ही सट्टक 'कर्पूरमञ्जरी' में सट्टक के सम्बन्ध में अपने जो विचार प्रस्तुत किये हैं और आचार्य विश्वनाथ ने जो लक्षण दिया है, कुल मिलाकर वही सट्टक का स्वरूप निर्धारित होता है। शृङ्गारमञ्जरी की भूमिका के शाट (सट्टक) का स्वरूपनिर्धारण प्रायः उपर्युक्त निष्कर्ष के अनुसार ही है-

'शाटः स्यादिह नाटिकासमगुणः शृङ्गारभेदोज्ज्वलो
रम्यः प्राकृतभाषया विरचितो नित्यं चतुस्सन्धिकः।

किन्त्वेकोऽत्र विशेष एव भवति प्रायेण विष्कम्भको
नो वा स्यादिह हि प्रवेशकविधिः कार्यो मनागद्भुतः।।'

निष्कर्षतः, प्रवेशक-विष्कम्भक से रहित, समग्रतया प्राकृतभाषा में निबद्ध, नाटिका के समान नाट्यरचना 'सट्टक' कही जाती है। इसकी विभाजन संज्ञा 'जवनिकान्तर' है। सट्टक का सर्वमान्य सर्वोत्तम उदाहरण राजशेखरकृत 'कर्पूरमञ्जरी' है जिसके प्रारम्भ में राजशेखर ने सट्टक का स्वरूप स्वयं प्रतिपादित किया है।

सट्टक का उद्भव और विकास :

राजशेखरकृत 'कर्पूरमञ्जरी' नामक सट्टक के पूर्व इस नाट्यविधा की कोई परम्परा उपलब्ध नहीं होती। इसका कारण है। प्राचीन काल में बहुत कम कवि ऐसे थे जो स्वतन्त्र रहकर काव्यरचनाएँ करते रहे हों। अधिकांश कवि राज्याश्रय में रहते थे और राजसभाओं को अलङ्कृत करते थे। संस्कृत भाषा को राज्याश्रय प्राप्त था। अतः राज्याश्रय में विरचित अधिकांश साहित्य संस्कृत में ही है। एक अनुश्रुति के अनुसार गुणाढ्य ने 'बृहत्कथा' पैशाची प्राकृत में लिखी तो तिरस्कृत हुआ। पालि और प्राकृत में भी प्रभूत रचनायें हुईं किन्तु वे सम्प्रदायविशेष के सिद्धान्तों के पोषण तक सीमित रहीं। बौद्धकवि अश्वघोष ने संस्कृत में ही रचनायें की। हाँ, जैन आचार्यों ने प्राकृत में अवश्य स्वतन्त्र रूप से साहित्यसर्जना की किन्तु किसी ने 'सट्टक' की रचना की हो- ऐसा ज्ञात नहीं होता।

सर्वभाषाचतुर कवि राजशेखर के द्वारा रचित चार रूपक और 'काव्यमीमांसा' नामक साहित्यशास्त्र का एक विलक्षण ग्रन्थ वर्तमान काल में उपलब्ध है। चार रूपक हैं - बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभञ्जिका और कर्पूरमञ्जरी। कर्पूरमञ्जरी को प्राकृत में निबद्ध करने का कारण स्वयं राजशेखर ने इस सट्टक के प्रारम्भ में सूत्रधार और पारिपार्श्विक के संवाद द्वारा बताया है। सूत्रधार कहता है कि कवि ने संस्कृत छोड़कर प्राकृतभाषा में रचना क्यों की? (ता किं त्ति संक्किअं परिहरिअ पाउदबंधे पउट्टो कई?) उत्तर में पारिपार्श्विक कहता है। सर्वभाषाचतुर इस कवि ने कहा ही है -

अत्थणिबेसा ते ज्जेब्ब सद्दा ते ज्जेब्ब परिणमंता वि।
उत्तिबिसेसो कब्बो भासा जा होइ सा होदु।। (कर्पूर०, १.७)

अबि अ, परुसा संक्किअबंधा पाउदबंधो वि होइ सुडमारो।
पुरुससमहिलाणं जेत्तिअमिहंतरं तेत्तिअमिममाणं।। (कर्पूर०, १.८)

कहने का तात्पर्य यह है कि शब्द चाहे प्राकृत के हों या संस्कृत के (अथवा वे शब्द किसी भाषा के हों) शब्दार्थ तो एक ही होता है। अतः उक्तिविशेष काव्य है, भाषा चाहे जो हो। और भी, संस्कृतबंध कठोर होते हैं, प्राकृतबंध सुकुमार होते हैं। संस्कृत प्राकृत

में वही अन्तर होता है जो पुरुष और स्त्री में।

वस्तुतः कर्पूरमञ्जरी की रचना के पीछे राजशेखर की पत्नी विदुषी अवन्तिसुन्दरी की प्रेममयी प्रेरणा थी। वह सर्वभाषाचतुर (प्राकृत) में निबद्ध नाट्यप्रस्तुति सफल होगी या नहीं। निःसंदेह अवन्तिसुन्दरी के आग्रह से राजशेखर ने अपूर्व सट्टक कर्पूरमञ्जरी की रचना की और उसका अभिनय सर्वथा सफल रहा। यह सट्टक अत्यन्त लोकप्रिय हुआ। इस प्रकार हम 'कर्पूरमञ्जरी' को अब तक ज्ञात प्रथम 'सट्टक' स्वीकार कर सकते हैं।

कर्पूरमञ्जरी

कवि एवम् आचार्य राजशेखर द्वारा विरचित यह सुन्दर सट्टक चार जवनिकान्तरों में विभक्त है। इसका संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है –

प्रथम जवनिकान्तर – प्रस्तावना के पश्चात् राजा चन्द्रपाल, रानी विभ्रमलेखा, विदूषक, विचक्षणा रङ्गमञ्च पर आते हैं और वसन्तोत्सव तथा मलयानिल के विषय में राजा-रानी आपस में बातें करते हैं। विचक्षणा से वाद-विवाद से कुपित विदूषक चला जाता है, किन्तु तन्त्रसिद्ध भैरवानन्द के साथ पुनः मञ्च पर आता है। भैरवानन्द अपने अलौकिक चमत्कार से लोगों को प्रभावित कर देता है। महारानी के अनुरोध पर वह अपने सिद्धप्रयोग से अद्भुत लावण्यमयी कर्पूरमञ्जरी को सबके समक्ष उपस्थित कर देता है। कर्पूरमञ्जरी महारानी विभ्रमलेखा की मौसी की पुत्री है। वह कुछ दिनों के लिए महारानी के द्वारा अपने पास रख ली जाती है।

द्वितीय जवनिकान्तर – राजा कर्पूरमञ्जरी के सौन्दर्य पर मुग्ध है और उसे स्मरण कर विह्वल है। रानी कर्पूरमञ्जरी का शृङ्गार करके 'हिन्दोलन चतुर्थी पर उसे झूले पर झुलाती है। कर्पूरमञ्जरी की इस दोला लीला का अत्यन्त मनोरम वर्णन कवि ने किया है। राजा विदूषक और विचक्षणा की सहायता से कर्पूरमञ्जरी को छिपकर देखता है। पुनः दोहद के अवसर पर उसका सौन्दर्य-पान करता है।

तृतीय जवनिकान्तर – राजा विदूषक को अपना कर्पूरमञ्जरी विषयक स्वप्न सुनाता है और विदूषक भी अपना विचित्र स्वप्न राजा को सुनाता है। इसी बीच कुरङ्गिका की सहायता से राजा का मिलन कर्पूरमञ्जरी से होता है। यह घटना महारानी को ज्ञात हो जाती है।

चतुर्थ जवनिकान्तर – विरही राजा मञ्च पर प्रवेश करता है। महारानी ने 'कर्पूरमञ्जरी' को अपने कठोर नियन्त्रण में रखा है। इस बीच राजा को महारानी का एक पत्र प्राप्त होता है जिसमें महारानी घनसारमंजरी से विवाह करने हेतु राजा को आमन्त्रित करती है। भैरवानन्द राजा का विवाह कराता है। तत्पश्चात् यह प्रकट होता है कि घनसारमञ्जरी कर्पूरमञ्जरी ही है।

सट्टक की कथावस्तु पूर्णतः कविकल्पित अर्थात् उत्पाद्य है। कथावस्तु का प्रस्तुतीकरण करने में कवि में अपनी नाट्यकलाकुशलता का अच्छा परिचय दिया है। इसका नायक राजा चन्द्रपाल नाट्यशास्त्र के अनुसार धीरललित कोटि का है। महारानी प्रौढ़ा नायिका है और कर्पूरमञ्जरी मुग्धा नायिका है। राजा सौन्यप्रेमी है। उसे कामुक के रूप में चित्रित किया गया है।

कर्पूरमञ्जरी शृङ्गाररसप्रधान सट्टक है। भैरवानन्द के माध्यम से अद्भुत रस की भी अभिव्यक्ति करायी गयी है। विदूषक की उक्ति-प्रत्युक्ति द्वारा हास्यरस की योजना की गयी है।

यह सट्टक आदि से अन्त तक प्राकृत भाषा में निबद्ध है। इसकी प्राकृत शौरसेनी प्राकृत है। राजशेखर द्वारा प्राकृतबन्ध के माध्यम से इस सट्टक की रचना का कारण बताया जा चुका है।

कर्पूरमञ्जरी में वैदर्भी, मागधी और पाञ्चाली तीनों रीतियों का मञ्जुल सम्मिश्रण है। इन तीनों रीतियों के समुचित मिश्रण से सट्टक में अप्रतिम सौन्दर्य झलकता है जिसके कारण नाट्यसाहित्य में इसको पर्याप्त सम्मान प्राप्त हुआ। राजशेखर की अपूर्व काव्यप्रतिभा के प्रसाद से प्रसाधित यह सट्टक एक आदर्श हो गया। इसे ठीक वही महत्त्व प्राप्त हुआ जो चम्पूसाहित्य में 'नलचम्पू' को प्राप्त है। सट्टकपरम्परा का प्रत्यक्ष आरम्भ कर्पूरमञ्जरी द्वारा रचित चन्द्रवर्णन के प्रति राजा का कथन - "अहो! कर्पूरमञ्जर्या अभिनवार्थदर्शनम्, रमणीयः शब्दः, उक्तिर्विचित्रता रसनिष्यन्दश्च।" वस्तुतः यही इस सट्टक की विशेषता है और यह कथन पूर्णरूपेण कर्पूरमञ्जरी सट्टक के विषय में चरितार्थ है।

कर्पूरमञ्जरी को लोकप्रिय बनाने के लिए उसमें नाटकीय उत्कृष्टता का आधान करने हेतु राजशेखर ने नाटिकाओं की पारम्परिक कथावस्तु (प्रणयकथा) की उद्भावना तो की है, लोकभाषा प्राकृत का आश्रय भी लिया। शृङ्गार रस की आह्लादकता के साथ ही अद्भुत रस और हास्य रस की चमत्कारिक अभिव्यक्ति भी करायी। भैरवानन्द की चमत्कारपूर्ण सिद्धि के प्रयोग से प्रेक्षकों को विस्मित करने वाले दृश्यों का संयोजन करके उनका भरपूर मनोरञ्जन किया। इसी क्रम में दोलालीला के माध्यम से अद्भुत सौन्दर्य का प्रदर्शन तथा नृत्य की योजना से प्रेक्षकों में आकर्षण उत्पन्न किया।

इस प्रकार राजशेखर का यह अभिनव प्रयोग सट्टक के रूप में अति प्रशंसनीय और सफल है। कर्पूरमञ्जरी को आदर्श रूप में रखकर इससे अनुप्राणित होकर परवर्ती काल में कुछ और सट्टकों की रचना हुई किन्तु वे प्रयोगमात्र बनकर रह गये, उतने लोकप्रिय न हुए क्योंकि उनके प्रणेता नाट्यकार उतने प्रतिभासम्पन्न न थे और प्राकृत भी सामान्यजन तथा विद्वानों के लिए भी प्रायः दुर्बोध हो चली। सट्टकपरम्परा के विकास क्रम में उपलब्ध सट्टकों का विवरण प्रस्तुत किया जा रहा है।

रम्भामञ्जरी –

'रम्भामञ्जरी' के कर्ता नयनचन्द्र हैं।[1] इसमें मात्र तीन जवनिकान्तर हैं। इसमें वाराणसी के राजा जैत्रचन्द्र की नाटनरेश देवराज की पौत्री रम्भा के साथ अनुरक्ति और दोनों की प्रणयकथा वर्णित है।'

इस सट्टक का नायक जैत्रचन्द्र सामन्तवादी है। सात रानियों के रहते हुए भी वह रम्भा में अनुरक्त है। रम्भा विवाहिता है अतः राजा का उसके प्रति प्रेम अनुचित है। नायिका रम्भा अनुपम सुन्दरी है। उसके प्रत्येक अवयव में सौन्दर्य की विषमता (परस्पर उत्कृष्टतरत्व) देखकर कवि अनेक विधाताओं द्वारा इसके शरीरनिर्माण की उत्प्रेक्षा करता है।

यद्यपि कवि ने सट्टक के लक्षण के अनुरूप इसमें अङ्गीरस के रूप में शृङ्गार की योजना की है किन्तु आचार्यों के अनुसार (तदाभासा अनौचित्यप्रवर्तिताः) विवाहिता के प्रति अनुराग के निबन्ध से यहाँ शृङ्गाराभास मानना चाहिए। दोनों का विवाह हो जाने पर अवश्य ही सम्भोगशृङ्गार है। हास्य रस भी प्रचुर मात्रा में है। विरहिणी की दशा वसन्तागमन पर कितनी शोचनीय होती है-इसका बहुत ही स्वाभाविक वर्णन कवि ने किया है-

'मयंको सप्पंको मलयपवणा देहतपणा
कहूसद्दो रुद्दो कुसुमसरसरा जीविदहरा।
वराई यं राई उवजणइ णिद्दं पि ण खण
कहं हा जीविस्से इह विरहिया दूरपहिया।।'

रम्भामञ्जरी में प्राकृत और संस्कृत दोनों भाषाओं का प्रयोग किया गया है। राजा संस्कृत बोलता है और संवाद में रम्भा उसका उत्तर प्राकृत में देती है। इस सट्टक में महाराष्ट्री (मराठी) शब्दों का भी प्रचुर प्रयोग किया गया है। संस्कृत बोलने वाले पात्रों से प्राकृत और प्राकृत बोलने वाले पात्रों से संस्कृत में सम्भाषण कराना, इस सट्टक की अपनी विशेषता है। भाषा का ऐसा प्रयोग कवि की अपनी निरंकुशता है।

यह एक अपूर्ण सट्टक प्रतीत होता है। इसमें तीन ही जवनिकान्तर हैं और कथा भी अधूरी है। अनेक दोष होते हुए भी यह सट्टक सौन्दर्यवर्णन और काव्यात्मकता की दृष्टि से उत्तम कहा जा सकता है। इसमें अनेक ऐसे दृश्यों का विधान किया गया है जो नाट्यशास्त्र में वर्जित हैं।

---

१. पीटर्सन द्वारा सम्पादित एवं निर्णय सागर प्रेस, मुम्बई से १८८९ में प्रकाशित।

चन्द्रलेखा

चन्द्रलेखा, रुद्रदास द्वारा प्रणीत सट्टक है जो चार जवनिकान्तरों में विभक्त है।[1] राजा मानवेद (नायक) और चन्द्रलेखा (नायिका) की प्रणयकथा पारम्परिक रूप से निबद्ध है। संक्षिप्त कथानक इस प्रकार है-

प्रथम जवनिकान्तर-राजा मानवेद, सिन्धुनाथ के मन्त्री सुमति द्वारा चिन्तामणि रत्न प्राप्त करता है। उस रत्न के प्रभाव से मानवेद को एक सुन्दरी कन्या प्राप्त होती है। दोनों परस्पर अनुरक्त होते हैं। महारानी द्वारा उसे अन्तःपुर में ले जाने पर राजा व्यग्र हो उठता है।

द्वितीय जवनिकान्तर-विरही नायक विदूषक द्वारा लाया हुआ नायिका चन्द्रलेखा का पत्र पढ़ता है और चनद्रलेखा के संगीत का आनन्द छिपकर लेता है। संगीत सुनकर वह उदास हो जाता है। चेटियाँ महारानी से इन दोनों के प्रणयव्यापार को बता देती हैं-यह जानकर राजा दुःखी होता है।

तृतीय जवनिकान्तर-विदूषक द्वारा नायिका का तीव्र कामसन्ताप जानकर राजा उसके पास जाकर उसकी वेदना शान्त करता है। महारानी के वहाँ पहुँचने पर अपने को छिपा लेता है।

चतुर्थ जवनिकान्तर - विदूषक द्वारा सूचना मिलती है कि चन्द्रलेखा का कहीं पता नहीं है। यह सुनकर राजा चिन्तामणि रत्न के अधिष्ठातृदेवता को प्रेतरत करता है और वह चन्द्रलेखा को लाकर सबके समक्ष उपस्थित कर देता है। महारानी राजा के चक्रवर्तिपर लाभ हेतु चन्द्रलेखा का विवाह उससे करा देती है।

'चन्द्रलेखा' सट्टक पूर्णतः 'कर्पूरमञ्जरी' की अनुकृति है। घटनाओं में रोचकता और नाटकीयता है। राजा मानवेद धीरललित कोटि का नायक है। विदूषक ब्राह्मण है और उसका नाम चकोर है। वह नायिका के शरीर के सामुद्रिक लक्षणों को देखकर उसे साम्राज्ञी होने का आशीर्वाद देता है। वह सदैव अलङ्कृत भाषा का प्रयोग करता है। इसीलिए राजा उसे 'विदग्धता का विलास' कहता है। नायिका और चन्द्रोदय के वर्णनों में उसकी विदग्धता प्रकट होती है। सट्टक का अङ्गीरस शृङ्गार है। 'चिन्तामणि' के चमत्कार से अद्भुत तथा विदूषक के वचनों से हास्य रस की अभिव्यक्ति होती है। सट्टक की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है। कवि ने संवादों में भी दीर्घसमस्त पदावली का प्रयोग किया है। संगीत और नृत्य की प्रचुरता है। शास्त्रीय दृष्टि से यह एक सफल सट्टक है।

विलासवती

यह सट्टक सम्प्रति अनुपलब्ध है। 'प्राकृत-सर्वस्व' के उल्लेख से इसका ज्ञान होता है। वहाँ मार्कण्डेय ने 'विलासवती' की एक गाथा उद्धृत की है-

---

१. भारतीय विद्या प्रकाशन, बुम्बई से २००१ विक्रमाब्द में प्रकाशित।

'पाणाअ गओ भमरो दुक्खं गइंदेसु।
सुहाअ रज्ज किर होइ रण्णो।।'

शृङ्गारमञ्जरी

अल्मोड़ा जनपदान्तर्गत पटिया ग्रामवासी पं० विश्वेश्वर पर्वतीय द्वारा लिखित 'शृङ्गारमञ्जरी' सट्टक आधुनिक संस्कृत रचनाओं में प्रसिद्ध है।[1] अलङ्कारकौस्तुभ आदि अनेक प्रौढ़, शास्त्रीय एवं साहित्यिक ग्रन्थों के कर्ता विश्वेश्वर अद्भुत प्रतिभा के धनी थे।

चार जवनिकान्तरों में विभक्त इस सट्टक में नायक राजा राजशेखर और अवन्तिराज की पुत्री शृङ्गारमञ्जरी की प्रणयकथा वर्णित है। नाट्यशास्त्रीय लक्षण का पूर्णतः पालन करते हुए विरचित इस सट्टक में कवि की काव्यप्रतिभा का विलास सर्वत्र दृष्टिगोचर होता है। हिमालय की सुरम्य गोद में निवास करने के कारण कवि का स्वाभाविक झुकाव प्रकृतिवर्णन की ओर है। विश्वेश्वर ने इस सट्टक में वसन्त, सन्ध्या और चन्द्रोदय का विस्तृत वर्णन किया है। शृङ्गार रस का प्राधान्य है। पात्रों के चरित्रविकास का पूरा ध्यान रखा गया है। यह एक सुन्दर और सफल सट्टक है।

आणंदसुन्दरी

मराठा सामन्त तुक्कोजी के अमात्य 'क्लान्तिकारक' घनश्याम द्वारा विरचित सट्टक 'आणंदसुन्दरी' में चार अङ्क (जवनिकान्तर) हैं।[2] इसमें राजा शिखण्डचन्द्र (नायक) और नायिका आनन्दसुन्दरी की प्रणयकथा अत्यन्त रोचक रीति से वर्णित है।

इस सट्टक में घनश्याम ने स्वोपज्ञ उद्भावनायें अधिक की हैं, अतः 'कर्पूरमञ्जरी' की छाया नाम मात्र की है। घनश्याम 'गर्भनाटक' के बिना सट्टक को उपहासास्पद मानते हैं अतः उन्होंने 'आणंदसुन्दरी' में दो गर्भनाटकों की योजना की है। इससे इस सट्टक की चारुता में वृद्धि हुई है।

यद्यपि सट्टक की भाषा महाराष्ट्री प्राकृत है किन्तु घनश्याम के समय (उन्नीसवीं ई० शताब्दी) में प्राकृत भाषा का निरन्तर अपकर्ष होने से कवि ने इसमें मराठी भाषा का प्रयोग बाहुल्येन किया है। उपयुक्त भाषा का प्रयोग करके सुन्दर भावाभिव्यक्ति कराने में कवि नितान्त निपुण है। धात्री द्वारा राजा को आनन्दसुन्दरी समर्पित किये जाते हुए कितनी मार्मिक अभिव्यक्ति है-

---

१. काव्यमाला सीरीज के अन्तर्गत मुम्बई से प्रकाशित तथा श्री बाबूलाल शुक्ल द्वारा सम्पादित और विश्वविद्यालय प्रकाशन, वाराणसी से प्रकाशित।

२. प्रकाशक - मोतीलाल बनारसी दास, वाराणसी, १९५५ ई०।

'जम्मणो पहुदि वड्ढिदा मए लालणेहि विविहेहिं कण्ण आ।
संपदं तुह करे समप्पिआ से पिओ गुरुअणो सही तुमं।।'

(जिस कन्या को जन्म से लेकर आज तक मैंने विविध प्रकार से लालन-पालन कर बड़ी किया, उसे सम्प्रति मैं तुम्हारे हाथ सौंप रही हूँ। अब तुम्हीं इसके प्रिय पति, गुरुजन और सखी (मित्र)- सब कुछ हो)।

इस सट्टक के प्रथम जवनिकान्तर में दो बार और चतुर्थ जवनिकान्तर से एक बार संस्कृत भाषा का भी प्रयोग हुआ है। संवाद स्पष्ट और सारगर्भित है। प्रधान रस शृङ्गार के साथ उसका पोषक हास्य भी प्रयुक्त हुआ है।

'आणंदसुन्दरी' सट्टक को देखने से अनुमान होता है कि प्रथमतः कवि घनश्याम ने संस्कृत में नाटिका लिखने का विचार किया था किन्तु कथावस्तु को प्राकृत में अनूदित कर सट्टक की रचना कर दी फिर भी नाट्यशास्त्रीय दृष्टि से यह एक सुन्दर सट्टक कहा जा सकता है।

इस प्रकार यहाँ उपलब्ध सट्टकों के आधार पर 'कर्पूरमञ्जरी' से लेकर 'आणंदसुन्दरी' तक की सट्टक-परम्परा का निरूपण किया गया। आधुनिक काल में (आणंदसुन्दरी के पश्चात्) किसी 'सट्टक' की रचना होने की सूचना लेखक को नहीं प्राप्त है।

• • • •

---

१. History of Kanauj, R.S. Tripathi इन दोनों का राज्यकाल क्रमशः ८८५-९१० ई० तथा ९१२-९४२ ई० माना गया है।

कविराज राजशेखर

– भास्कराचार्य त्रिपाठी

यायावरः प्राज्ञवरो गुणज्ञैराशंसितः सूरिसमाजवर्यैः।
नृत्यत्युदारं भणिते गुणस्थानटीव यस्योढरसा पदश्रीः।। –सोड्ढलस्य

राजशेखर ने अन्य संस्कृतकवियों की अपेक्षा अधिक विस्तारी परिचय दिया है, परन्तु एक सहस्त्राब्दी बाद आज वह पर्याप्त नहीं हो पाता। कुछ निश्चित तथ्य इस प्रकार हैं-

समय - इन्होंने तीन आश्रयदाता नरेशों का नामोल्लेख किया है : १. महोदयनगर (कन्नौज) के रघुवंशी राजा महेन्द्रपाल-जिन्हें निर्भयराज भी कहा गया है, २. उनके पुत्र आर्यावर्त महाराजाधिराज महीपाल तथा ३. श्रीयुवराज देव। महेन्द्रपाल की ज्ञान तिथियाँ ८९ से ९०७ ई० और महीपाल की ९१४ से ९४२ ई० तक हैं।[1] सर्वप्रथम १८८६ ई० में जे० फ्लीट ने महीपाल का असनी अभिलेख सम्पादित करते हुए पूर्वप्रचलित मतों को उन्मूलित कर कवि के पहले दो आश्रयदाताओं की पहचान की है।[2] श्रीयुवराजदेव चेदिदेश के कलचुरि शासक थे। इनका समय ९३५ ई० के आसपास है।[3] १९०५ ई० में डा० हुल्त्ज़ ने यह प्रतिपादित किया कि राजशेखरकृत विद्धशालभंजिका नाटिका चेदि की राजधानी त्रिपुरा में खेली गई थी[4], तब से प्रो० मीराशी प्रभृति मनीषियों ने इस मत को अनेकशः पुष्ट किया है।[5] युवराजदेव प्रथम के पौत्र युवराजदेव द्वितीय के 'बिल्हरी प्रस्तराभिलेख' (९७५ ई०), इसके सुश्लिष्टबन्ध से राजशेखर के विस्मित होने का वर्णन आया है[6], अतः इनका जीवनकाल ८८५ से ९८५ ई० तक मानते हुए प्रो० मीराशी ने लिखा है-"यदि हम मानें कि अपनी शीघ्रविकसित प्रतिभा से बालकवि कहलाने वाले राजशेखर जब प्रथम आश्रयदाता महेन्द्रपाल के दरबार में गए (९०० ई० के लगभग) तब १५ वर्ष के थे, तो

---

१. Indian Antiquary, Vol. 16, p. 69, 175-178.

२. The Chronological Order of Rajsekhar's Works V.V. Mirashi, Studies in Indology, p. 61.

३. Indian Antiquary, Vol. 34.

४. Indian Antiquary, Vol. 62, p. 35, 'Historical Data in Rajsekhar's Viddhasalabhanjika', etc.

५. Notes on the Bilhari Ins. Of the rulers of Chedi, V.V. Mirashi, Mahakosal Historical Society Paper, Vol. I, p. 17-18.

बिल्हरी-अभिलेख के समय वे लगभग ६० वर्ष के रहे होंगे। ऐसी ही लम्बी आयु उनकी उर्वर साहित्यिक कृतियों से निश्चित भी होती है।[1] मीराशी राजशेखर के पिता को चेदिराजा का मन्त्री[2] मानते हैं इसीलिए १५ वर्ष की आयु में इनके कन्नौज जाने का उल्लेख उन्होंने किया है। वस्तुतः आगे सिद्ध किया जाएगा कि कवि के पिता कन्नौज में ही मन्त्री थे, अतः यहीं इनका जन्म हुआ होगा। यह भी कह दिया जाय कि राजशेखर का उपर्युक्त अनुमानित समय पूर्वसीमा में दस-पाँच वर्ष पीछे ले जाया जा सकता है क्योंकि महेन्द्रपाल के राज्यकाल (६१० ई० तक) में पचीस वर्ष की अवस्था पर ही राजा का गुरु एवं उपाध्याय बनना (बा०रा० १/५, पृ० ८) तथा बाल रामायण आदि किन्हीं छः प्रबन्धों का प्रणयन (विद्धि नः षट्प्रबन्धान्) कुछ असम्भव-सा लगता है। मेरी दृष्टि में ये ८८० ई० के लगभग जन्म पाकर शतायुःप्राय-सौभाग्य के भागी बने होंगे।

साहित्यिक सन्दर्भ भी उपर्युक्त मत का परिपोष करते हैं। राजशेखर ने आनन्दवर्द्धन का उल्लेख किया है।[3] ध्वन्यालोककार आनन्दवर्द्धन काश्मीर के राजा अवन्तिवर्मा (८५७-८८४ ई०) के सभापण्डित थे।[4] नवम शती के पूर्वार्द्धकालीन वाम एवं उद्भट का काव्यमीमांसा[5] में संकेत हुआ है। परसीमा भी इसी भाँति स्पष्ट है कि दशम शताब्दी के उत्तरार्द्ध से ही कुन्तक, अभिनव, सोमदेव, धनपाल एवं सोड्ढल आदि अनेक मनीषियों ने इनके काव्यों की चर्चा की है।[6] समय के अतिरिक्त राजशेखर की जाति एवं कृतियों की समस्या नितान्त उलझी हुई है।

---

१. The Chronological Order of Rajsekhar's Works (Originally in 1934 A.D. उपर्युक्त मत इन्हीं के द्वारा Corpus Insriptionum Indicarum, Vol. IV, 1955 के पृ० २०८ पर परिवर्तनपूर्वक इस प्रकार प्रस्तुत किया गया है कि राजशेखर ६०५ ई० में १६ वर्ष की अवस्था पर कन्नौज गए होंगे, अतः ६७५ ई० में उनकी आयु लगभग ८५ वर्ष की रही होगी। यह सम्भावना कम उचित प्रतीत होती है क्योंकि इस तरह महेन्द्रपाल के राज्यकाल तक में (६१० ई०) कवि केवल ५ वर्ष ही रहेगा और कुल अवस्था २१ वर्ष की वा० रा० के प्रणयन हेतु रहेगी।

२. Corpus Insriptionum Indicarum, Vol. IV, p. CLXXV

३. काव्यमीमांसा पृ० १६ दलाल संस्करण एवं ध्वनिनाऽतिगभीरेण काव्यतत्त्वनिवेशिना आनन्दवर्द्धनःकस्य नासीदानन्दवर्द्धनः। सूक्तिमुक्तावलिः एवं सुभाषितहारावलिः।

४. राजतरङ्गिणी ५/१४६

५. क्रमशः पृ० १४ एवं २२ इत्यादि।

६. राजशेखर के समय सम्बन्धी पूर्व प्रचलित मतों के लिए द्रष्टव्य-Indian Antiquary, Vol. 16, 175-178 एवं स्टेनकोनो का कर्पूरमञ्जरी संस्करण, पृ० १७७-१६७)

जाति-इन्होंने काव्यमीमांसा में (३४ बार) तथा नाटकों में अनेक स्थलों पर अपने को यायावर, यायावरीय और यायावरकुल का कहा है। पश्चाद्वर्ती साहित्य में ये इसी उपाधि से सम्बोधित किए गए हैं (धनपालकृत तिलकमञ्जरी /३३ इत्यादि)। प्राचीन स्मृतियों के अनुसार शालीन एवं यायावर, गृहस्थ ब्राह्मणों के दो भेद हैं।[1] नारायण दीक्षित ने देवल का प्रामाण्य देते हुए यायावर को गृहस्थविशेष बतलाया है।[2] आप्टे महोदय ने इसके अतिरिक्त अन्य प्रमाण भी इस पक्ष में दिए हैं कि राजशेखर महेन्द्रपाल के गुरु एवं उपाध्याय तथा इनके पिता राजमन्त्री थे। ये पद प्राचीन काल में ब्राह्मणों को ही प्रायः मिलते थे। साथ ही-

बभूव वल्मीकभवः पुरा कविः ततः प्रपेदे च भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्वा भवभूतिरेखया च वर्तते सम्प्रति राजशेखरः।।

– बा०रा० १/१६, बालभारत १/१३

के अनुसार भवभूति आदि ब्राह्मणों का अवतार ब्राह्मण ही होना चाहिए। कर्पूरमञ्जरी में इनकी स्त्री अवन्तिसुन्दरी को चौहानकुल (चाहुआणकुल) की कहा गया है। चौहान प्रसिद्ध राजपूत-क्षत्रिय थे। आप्टे तथा स्टेनकोनो ने राजशेखरीय कृतियों के आरम्भिक शिवपरक श्लोकों से उनके शैव होने की सम्भावना करते हुए यह माना[3] है कि एक शैव बिना जातिच्युत हुए क्षत्रिय-कुमारी से विवाह कर सकता है।[4]

डॉ० हुलत्ज़ ने अवन्तिसुनदरी की जाति के आधार पर इन्हें क्षत्रिय माना है। महेन्द्रपाल के 'सकलकलानिलय' विश्लेषण से यह स्पष्ट होता है कि राजशेखर उनके आधात्मिक गुरु नहीं अपितु काव्य-नाट्य आदि सांसारिक कलाओं में अध्यापक थे और यह क्षेत्र क्षत्रियों के लिए निषिद्ध नहीं है। महेन्द्रपाल ने राजशेखर को बाद में कुछ योग्यता प्राप्त करने के लिए उपाध्याय बनाया होगा। कर्पूरमञ्जरी के नवें पद्य से यह प्रमाणित होता है कि वे बालकवि, कविराज एवं उपाध्याय बनाया होगा। कर्पूरमञ्जरी के नवें पद्य से यह प्रमाणित होता है कि वे बालकवि, कविराज एवं उपाध्याय बनाया होगा। कर्पूरमञ्जरी के नवें पद्य से यह प्रमाणित होता है कि वे बालकवि, कविराज एवं उपाध्याय के पद पर क्रमशः

---

१. History of Dharmasastra, Vol.II, p. 641-42 and footnotes etc.
२. विद्धशतकभञ्जिका पृ० ७, भास्कर रामचन्द्र आप्टे द्वारा सम्पादित, पूना १८८६।
३. कर्पूरमञ्जरी-स्टेनकोनो, पृ० १८०
४. Kaepuramanjari, Dr. M. Ghosh (Introduction, p. 64)

नियुक्त किए गए थे। यह क्रम 'उपाध्याय' शब्द को 'आध्यात्मिक गुरु' के अर्थ से अलग कर देता है।'

डॉ० मनमोहन घोष ने कवि के क्षत्रियत्व की आशंका की है कि एक क्षत्रिय का गुरु या मन्त्री होना धर्मसूत्रों के विरुद्ध नहीं है। कोनो का मत काटते हुए इन्होंने कहा है कि यदि राजशेखर ब्राह्मण थे भी, तो वह विवाह तान्त्रिक या अनुलोम रीति से हुआ होगा।[२] पी० वी० काणे, मीराशी एवं केदारनाथ शर्मा सारस्वत आदि ने इन्हें ब्राह्मण मान है। काणे महोदय ने कहा कि 'यायावर नामक क्षत्रियकुल कहीं नहीं मिलता। यद्यपि क्षत्रिय का अध्यापकत्व पूर्णयता निषिद्ध नहीं है, फिर भी यह ठीक नहीं लगता कि नवीं-दसवीं शताब्दी में दो राजाओं ने एक क्षत्रिय को अपना उपाध्याय बनाया हो। मनु (२/१४१), विष्णुधर्मसूत्र (२६/२), शङ्खस्मृति (३/२) के अनुसार उपाध्याय वह है जो अपनी जीविका के हेतु वेद या वेदाङ्ग पढ़ाए (विस्तृत हिस्ट्री आफ़ धर्मशास्त्र, द्वितीय खण्ड, पृ० ३२२-३२४, ३६१)। आधुनिक लेखकों के मस्तिष्क में शङ्का उठाने वाली बात केवल यह है कि उनकी स्त्री क्षत्रियकुल से आई प्रतीत होती हैं, परन्तु अनुलोम विवाह प्राचीन एवं मध्यकालीन भारत में निहित थे (अनुलोम विवाह के लिए द्रष्टव्य-हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र, तृतीय खण्ड, पृ० ६७५, द्वितीय खण्ड, पृ ५०-५८, ४४८-४५०)।'[३]

स्मृतिकारों ने प्रायः प्रतिलोम विवाह को निन्दित तथा अनुलोम को विहित किया है[४], वास्तविक स्थिति का ज्ञान तत्कालीन अरबी यात्रियों के प्रत्यक्ष देख कर लिखे गए विवरणों से हो सकता है। बारहवीं शताब्दी ई० का अरबी यात्री 'नुझतुल मुश्तक' जहाँ लिखता है कि 'क्षत्रिय जाति ब्राह्मणी से विवाह कर सकता है, परन्तु ब्राह्मण क्षत्राणी को

---

१. Indian Antiquary, Vol. 34, p. 178-179 (1905 A.D.)

२. Karpuramanjari, Dr. M. Ghosh (Introduction, p. 64

३. History of Sans. Poetics, p. 215 (1961 A.D.)

४ 'हिस्ट्री ऑफ धर्मशास्त्र' द्वितीय खण्ड, पृ० ५०-५८, ४४८-४५०। पी० वी० काणे ने गौतम, वशिष्ठ, मनु एवं याज्ञवल्क्य आदि बहुसंख्यक स्मृतिकारों की अनुलोमविवाह मान्यता उद्धृत करते हुए बोधायन-धर्मशास्त्र का यह मत बतलाया है कि क्षत्रिय कन्या में ब्राह्मण की सन्तान ब्राह्मण ही कहलाती है। शुङ्ग, वाकाटक एवं गुहिलवंशीय ब्राह्मणों के क्षत्रिय कन्याओं से विवाह के आभिलेखिक प्रमाण भी दिए गए हैं। इनमें गुहिलवंशीय 'भर्तृपट्ट' के राष्ट्रकूटवंशीय राजकुमारी से विवाह का उल्लेख 'शक्तिकुमार के आटपुर अभिलेख' (६७७ ई०) में हुआ है-इससे राजशेखर की समसामयिक स्थिति स्पष्ट होती है।

अपनी पत्नी नहीं बना सकते।" वहीं राजशेखर के समय दसवीं शताब्दी ई० के पूर्वार्द्ध का यात्री इब्न खुदैबा लिखता है -'ब्राह्मणवर्ग की कन्याएँ क्षत्रियवर्ग के पुत्रों को विवाह में नहीं दी जातीं, परन्तु ब्राह्मण उनकी कन्याएँ ले लेते हैं।'[२] राजशेखर कट्टर जातिवादी नहीं थे। शार्ङ्गधरपद्धति में उद्धृत उनके निम्नलिखित श्लोक ही इसके प्रमाण हैं-

सरस्वतीपवित्राणां जातिस्तत्र न कारणम्।
व्यासस्पर्धी कुलालोऽभूद् यद् द्रोणी भारते कविः। १८६।१८
अहो प्रभावो वाग्देव्या यन्मातङ्गदिवाकरः।
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः समो बाणमयूरयोः।। १६०।१६

अतः उन्होंने अनुलोम-प्रथा से विदुषी अवन्तिसुन्दरी के साथ विवाह किया। 'चौहान कुल' का कर्पूरमंजरी में नामोल्लेख सम्भवतः गृहिणी के आग्रहवश किया होगा।

ब्रह्मभ्यः शिवमस्तु वस्तु विततं किञ्चिद् वयं ब्रूमहे।
हे सन्तः शृणुतावधत विधृतो युष्मासु सेवाञ्जलिः।।

इस उक्ति में 'ब्रह्मभ्यः शिवमस्तु' शुभाशंसासूचक है, प्रणामसूचक नहीं। पहले कहा गया है कि यायावर समय परिवर्तन से अवरकोटिक ब्राह्मण माने जाने लगे थे। क्षत्रियकन्या से विवाह के कारण ब्राह्मणसमाज में ये और भी हेय दृष्टि से देखे जाते रहे होंगे, इसीलिए नाटक की प्रस्तावना में 'ब्रह्मभ्यः शिवमस्तु' कहना पड़ा। 'वस्तुविततं सेवाञ्जलिः' वाक्य स्पष्टतः सभी सहृदय दर्शकों के लिए है। यदि इसे 'ब्राह्मणपरक माना जाए और कवि के श्रद्धाञ्जलि होने का अर्थ निकले, तो भी कोई हानि नहीं है। प्रबन्ध के पहले देव-द्विज-नृपादि की स्तुति ब्राह्मण कवि भी करते हैं। उदाहरणार्थ, तुलसी ने रामचरितमानस के आरम्भ में 'बन्दौं प्रथम महीसुर-चरना' कहा है।

स्तुत्येऽस्मिन् निजवंशमौक्तिकमणी रामे विरामे द्विषां
कुण्ठा मे प्रतिमेव देवतवशाद्धानां प्रवृत्तिर्यदि।।

यहाँ राजशेखर ने राम को 'निजवंशमौक्तिकमणि' कहा है। अवधेय है कि कुछ पाण्डुलिपियों में 'मनुवंशमौक्तिकमणां' पाठान्तर मिलने से[१] यह पद निर्विवाद नहीं है।

---

१. 'Kataria... This caste may marry Brahman women, but Brahmin can not take their women to wife.' History of India by Elliot and Dowson. p. 76 (London, 1867)

२. 'Kataria...The daughters of the class of Brahmin are not given in marriage to the sons of this class, but the Brahmans take their daughters.' ibid, p. 16

'निजवंशमौक्तिकमणां' पाठ में कवि का स्पष्ट तात्पर्य इस प्रकार है-'मुझ महेन्द्रपाल के राजकवि को प्रतिभा (महेन्द्रपाल के) रघुवंश के वर्णन में तो तीखी है, परन्तु रघुवंश राम के वर्णन में इसलिए कुण्ठित है कि वे अपने वंश के मौक्तिकमणि हैं (न कि मेरे 'अयमसौ क्षत्रियो रामः...' इत्यादि राम की क्षत्रियपक्षीय गर्वोक्ति के पहले रावण भी उसी प्रकार ब्राह्मणपक्षीय गर्वोक्ति करता है,[२] अतः कवि का किसी भी ओर पक्षपात नहीं सूचित होता। आगे प्रतिपादित किया जाएगा कि राजशेखर ने रामरावणयुद्ध में क्षत्रिय-ब्राह्मण दलबन्दी की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि मानी है। उपर्युक्त वाक्य इसी तथ्य की कड़ियाँ हैं। उन्होंने ब्राह्मणों के लिए जिस प्रकार 'अच्चहमी' (कर्पूमञ्जरी, पृष्ठ १६) आदि शब्दों का प्रयोग कराया है, उसी प्रकार क्षत्रियों के लिए भी क्षत्रियरवेट, क्षत्रियबकुकीट एवं कुक्षत्रिय (वा०रा० क्रमशः पृ० ४२६, १३२, ३३८) आदि। इस भाँति यायावर ब्राह्मण राजशेखर को क्षत्रिय मानने के लिए एक भी स्थिर तर्क नहीं है।

पूर्वज- **स मूर्तो यत्रासीद् गुणगण इवाकालजलदः**
सुरानन्दः सोऽपि श्रवणपुटपेयेन वचसा
न चान्ये गण्यन्ते तरलकविराजप्रभृतयो,
महाभागस्तस्मिन्नयमजनि यायावरकुले।।१।१३

तदामुष्यायणस्य महाराष्ट्रचूडामणेरकालजलदस्य चतुर्थो दौर्दुकिः शीलवतीसूनुरूपाध्यायश्रीराजशेखरः। (वा०रा० पृ० ६) कवि के प्रपितामह अकालजलद[३] महाराष्ट्र (वत्सगुल्म, अकोला जिले में वाशीम) से चेदि दरबार (त्रिपुरी) में आ गए थे।

राजशेखर के पिता का नाम दुर्दुक (या दुहिक, विद्धशालभञ्जिका, पृ० ७) तथा माता का शीलवती था। दुर्दुक को महामन्त्री (वा०रा० पृ० ६, महासुमन्त्री - बालभारत, पृ० ३) कहा गया है। मीराशी महोदय ने बिना कोई तर्क दिये यह सम्भावना की है कि ये

---

१. A Descriptive Catalogue of the Sans. Mss. Govt. Oriental Manuscripts Library, Madras, Vol. XXI (1918 A.D.), S Kuppuswami Sastri, No. 12568.
यह अपूर्ण पाण्डुलिपि तालपत्र पर ग्रन्थलिपि में लिखी हुई है।

२. अयमसावक्षत्रियो रावणः, स भवान् क्षत्रियो रामः तद् दृश्यतां कतरो विनेयुः कतरो विनेतीति -बा०रा०, पृ० ४१४, भास्कर संस्करण, नाग प्रकाशक, दिल्ली १९९

३. (आकाशे) सखे सोमदत्त। किमात्थ तदकालजलदस्य प्रणप्तुस्तस्य गुणगणाः किमिति न वर्ण्यन्ते। -विद्धशालभञ्जिका, पृ० ८।
काणे महोदय सर्वप्रथम चेदि जाने का श्रेय सुरानन्द को देते हैं। परन्तु माराशी के अनुसार अकालजलद चेदिनरेश कोक्कल प्रथम (८५०-८९० ई०) के समकवि थे। विद्धशालभञ्जिका की इस प्रस्तावना से उनका कुछ समय तक वहीं रहना सचमुच व्यंग्य होता है।

चेदिदरबार में महामन्त्री रहे होंगे।' मेरी सूझ में ये कन्नौज के दरबार में महामन्त्री थे। अवधेय है कि कन्नौज में खेले जाने वाले बा०रा० तथा बालभारत की प्रस्तावना में राजशेखर को महामन्त्रिपुत्र तथा महासुमन्त्रिपुत्र कहा गया है, जब कि चेदि में खेली जाने वाली कर्पूरमञ्जरी एवं विद्धशालभञ्जिका की प्रस्तावना में नहीं कहा गया है। कर्पूरमञ्जरी का चेदि से सम्बन्ध आगे प्रतिपादित किया जाएगा। कविराज राजशेखर का एक राजा के यहाँ से दूसरे राजा के आश्रय में चले जाना किसी महत्त्वपूर्ण कारणवश हुआ होगा। महीपाल का दूसरा राजकवि क्षेमीश्वर 'चण्डकौशिक' नाटक में नान्दी के बाद ही राजा को फँसाने वाले किसी 'दुष्टामात्य' का उल्लेख करता है।[२] यहाँ संभवतः दुर्दुक से ही महीपाल के अनबन का सन्दर्भ प्रसंगत है, जिसका विस्तृत विवेचन राजशेखर के क्रमविकासी व्यक्तित्व के प्रसंग में किया जाएगा।

व्यक्तित्व एवं कृतियाँ-अकालजलद आदि पूर्वजों की जीवनी से स्पष्ट आभास मिलता है कि वे भिक्षा की कुलवृत्ति छोड़कर विशु, कवि एवं विद्याजीवी बन गए थे। 'शुद्धबुद्धि कुल के लिए कामधेनु[३] हैं,' उक्ति सम्भवतः इसी ओर संकेत करती है। प्राचीन काल में मन्त्रियों तथा राजकवियों को राज्य की ओर से विस्तृत भूमि दी जाती थी। अतः कन्नौज, चेदि (त्रिपुरी) एवं वत्सगुल्म में राजशेखर की पुश्तैनी स्थिर सम्पत्तियाँ रही होंगी और कन्नौज में पिता के साथ अबोध बाल्य बिताने के बाद उन्होंने सर्वत्र विद्याप्राप्ति हेतु या कुतूहलवश भ्रमण किया। उस समय विद्याध्ययन के लिए उज्जयिनी एवं वत्सगुल्म जितने प्रख्यात थे, उतना कन्नौज नहीं।[४]

उपर्युक्त घटनाक्रम में आप्टे तथा कोनो से डॉ० घोष के मतभेद का हल सन्निहित है। आप्टे महोदय के अनुसार राजशेखर दक्षिण-भारतीय प्रवासों, स्थानों एवं नदियों से विशेषतया परिचित प्रतीत होते हैं, उन्हें द्रविड, कर्णाट एवं लाटललनाओं के सौन्दर्य का सूक्ष्म ज्ञान है, अतः वे दाक्षिणात्य हैं।[५] कोनो ने इसके अतिरिक्त क्षेमेन्द्र की 'औचित्यविचारचर्चा' (५।२७) से राजशेखर विरचित-

---

१. Corpus Ins. Indicarum, Vol. IV, p. CLXXV

२. आदिष्टोऽस्मि दुष्टामात्यबुद्धिवागुराऽलङ्घयसिंहरंहसा... श्रीमहीपालदेवेन-। चण्डकौशिक, प्रस्तावना।

३. शुद्धा ही बुद्धिः कुलकामधेनुः। बालभारत १।६
विद्धशालभञ्जिका (१।८) में आवृत्त इस श्लोक में 'कुल' के स्थान पर 'किल' पाठ है।

४. काव्यमीमांसा (पृ० ५०, ५५) में कुन्तल एवं उज्जयिनी के राजाओं का विद्याप्रेम प्रशंसित किया गया है। कुन्तल भी उस समय महाराष्ट्र के अन्तर्गत माना जाता था। (वा० रा० १०।७५, पृ० ११५)

५. द्रष्टव्य-कर्पूरमञ्जरी, कोनोसंस्करण, पृ० १८१

कर्णाटीदशनाङ्कितः शिवमहाराष्ट्रीकटाक्षाहतः,

प्रौढान्ध्रीस्तनपीडितः प्रणयिनीभ्रूभङ्गवित्रासितः।

लाटीबाहुविवेष्टितश्च मलयस्त्रीतर्जनीतर्जितः,

सोऽयं सम्प्रति राजशेखरकविर्वाराणसीं वाञ्छति।।

इस शार्दूलविक्रीडित को उद्धृत करते हुए सबल शब्दों में कहा है कि 'राजशेखर पश्चिमी पठार (विदर्भ-कुन्तल) के हैं और हो सकता है कि बिल्हण की भाँति जन्मभूमि छोड़ कर धन एवं यश के हेतु परदेशी राजसभाओं में गए हों।'[1] घोष महोदय ने राजशेखर द्वारा मध्यदेश (कन्नौज, पञ्चाल) के प्रति पक्षपात एवं शौरसेनी प्राकृत का प्रयोग करने का तर्क देकर यह माना है कि पूर्वज महाराष्ट्र से आए हैं, परन्तु इनके जन्म तथा निवास का वह स्थल नहीं है।[2]

वस्तुतः इन तीनों ही विद्वानों के तर्क यथार्थ हैं, निष्कर्ष नहीं। राजशेखर की कृतियों में दक्षिणभारत के सूक्ष्म चित्र इतने अधिक चित्रित हुए हैं[3] कि उनका कुछ दिन महाराष्ट्र में रहना एवं उस ओर उन्मुक्त विचरण सभी को स्वीकृत करना पड़ेगा, साथ में अबोधबाल्य एवं यौवनावस्था का मध्यदेशीय भाषाप्रभाव और पक्षपात तो है ही। राजशेखर भारत की उत्तरपश्चिम सीमा की ओर भी किसी प्रसंगवश अवश्य गए होंगे-बाह्लीक (बल्ख़) की कामिनियों के दन्तघात से अशोक के लाल किसलयों की तुलना तथा लम्पाक (वर्तमान लमघम नगर[4])-ललनाओं की केशरचना उन्हें बहुत प्रिय थी।[5] सूक्तिमुक्तावलि (४।६४) में उद्धृत-

सूक्तीनां स्वरकेलीनां कलानाञ्च विलासभूः

प्रभुदेवी कविर्लाटी गताऽपि हृदि तिष्ठति।

राजशेखर की इस उक्ति में लाटप्रदेश की प्रभुदेवी नाम्नी कवयित्री के प्रति कवि का विशेष स्नेह व्यक्त होता है। बा०रा० (१०। ६८-६६) एवं काव्यमीमांसा (पृ० ३४) में

---

१. द्रष्टव्य, कर्पूरमञ्जरी, पृ० १८१)

२. Introduction to Karpuramanjari, pp. 66-68, Dr. Ghosh

३. द्रष्टव्य, बा० रा०, पृ० ४७८

४. काव्यमीमांसा, पृ० २६५, विहारराष्ट्रभाषा परिषद्, पटना, १६५४

५. बाह्लीकीदशवक्त्रणारुणदलैः पत्रैरशोकोऽञ्चितः। बा०रा० ५।४०, विद्धशालभञ्जिका, १।२५ तथा लम्पाकीनां किरन्तश्चिकुरविरचनाम्। बा० रा० ५।३५

लाटवासियों की प्राकृतभाषा प्रशंसित की गयी है। इन तथ्यों के आधार पर पं० केदारनाथ शर्मा सारस्वत ने सम्भावना की है कि 'राजशेखर प्रथम अवस्था में लाटदेश राजा के यहाँ रहे हों और अन्त में उससे अनबन होने के कारण कन्नौजराज महेन्द्रपाल के यहाँ आ गये हों। कारण यह कि लाटदेश से प्रेम प्रदर्शित करते हुए भी राजशेखर ने बालरामायण के सीता-स्वयंवर प्रकरण में वहाँ के राजा को लम्पट, मायावी और सदा बनने-ठनने वाला आदि कह कर खूब बनाया है।'[1] वस्तुतः बिना किसी पुष्ट तर्क के इस सम्भावना को सत्य नहीं माना जा सकता। कवि ने विभिन्न प्रान्तीय स्त्रियों की शृङ्गारी चेष्टा (औचित्यविचारचर्चा ५। ७, वा०रा० १०। ४८, ६८, ७०-७३, ७५, ८१-८२, ८७ इत्यादि) एवं भाषणनैपुणी (काव्यमीमांसा पृ० ३३-३४) वर्णित की है, इससे सर्वत्र राजसभाओं में रहना नहीं सोचा जा सकता। सीता स्वयंवर में भी चेदि एवं कुशस्थली के नरेशों के अतिरिक्त सभी राजाओं का तिरस्कृत किया जाना किसी निष्कर्ष का नियामक नहीं हो सकता। लाटप्रदेश के विदर्भ से मिले होने के कारण राजशेखर ने उसका आत्मीयतामय चित्रण किया है। अधिक सम्भव तो यह है कि लाट नाम से विदर्भ को ही वर्णित किया होगा, क्योंकि ये दोनों में प्रायः भेद नहीं करते[2], कर्पूरमञ्जरी की एक ही नायिका को कहीं लाटदेश की राजकुमारी कहा है- 'अत्थि एत्थ दक्खिणावथे वच्छोमं णामणअरं। तहिं मए एककणारवर्ण विट्ठं,' अत्थि एत्थ

---

१. काव्यमीमांसा, कविराज राजशेखर, पृ० ८, बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् (१९५४)

२. यहाँ राजशेखर का भौगोलिक ज्ञान कुछ भ्रान्तिपूर्ण प्रतीत होता है। काव्यमीमांसा में महाराष्ट्र, विदर्भ और कुन्तल को अलग-अलग गिनाया है – (यत्र महाराष्ट्रमाहिषीकाश्मकविदर्भ- कुन्तल-क्रथकैशिक. .. प्रभृतयो जनपदाः पृ० ९३) तथा सामूहिक रूप से तीनों को महाराष्ट्र भी कहा है-

'जयमग्रे महाराष्ट्राविषयः... विदर्भविष्यः... कुन्तलकान्तानां...' बा० रा० पृ० ४

तीनों के साथ क्रथकैशिक को अलग गिनाकर, उसे भी कहीं-कहीं महाराष्ट्र में ही मिलाया है- 'क्रथकैशिकाधिपतिः... कुण्डिनं नगरं बिभर्ति... कुन्दलेसरो एसो... मरहट्ठवरिट्ठो।' (बा०रा० पृ० ११४-१५), जब कि विष्णुपुराण (४।१२।१४-१५) के अनुसार क्रथकैशिक विदर्भ को ही कहना चाहिए। एनैन्डरसन वारू (A Practical Eng.Sanskrit Dictionary, Vol. 3, 'Preface', p. 137-138) ने अनर्घराघव (७।९६) से भी उदाहरण देकर विदर्भ को महाराष्ट्र (बड़ाराष्ट्र) कहे जाने की प्रामाणिकता बतलाई है। इतना तो ठीक है, किन्तु बारू एवं मीराशी महोदय (Corpus Ins. Indicarum, Vol. IV) ने बा.रा. (पृ. ४७९) के आधार पर इनके साथ कुन्तल का भी ऐकात्म्य बतलाया है। इसे भी माना जा सकता था, परन्तु इतने से परिस्थिति नहीं सुलझती। कवि कहीं लाटप्रदेश को भी विदर्भ एवं कुन्तल से अलग रखता है (बा०रा० पृ० ११८, ४८०) तथा कहीं अलग-अलग नाम से तीनों को एक ही मानता है (कर्पूरमञ्जरी, पृ० २६, १०४ तथा 'कुन्तलाहियतुअपरिणेइ' पृ० ७)। इतना होते हुए भी कृतियों में दक्षिण भारत के विविध यथार्थ-चित्रण देखते हुए यही कहा जा सकता है कि आरम्भिक आस्था में उधर घूमने पर भी राजशेखर भौगोलिक सीमाओं का विशद विवेचन न कर पाए होंगे।

लाउडदेसे चण्डसेणो णाम राधा, तस्य दुहिदा घणसारमंजरि त्ति' (कर्पूरमञ्जरी, पृ० २६, १०४।)

काव्यमीमांसा के 'देशविभाग' (पृ० ९३) में दक्षिणापथ के बीच विदर्भ से व्यतिरिक्त कोई लाट जनपद नहीं गिनाया गया है और इधर विदर्भवासियों के प्रति मूक रह कर लाटवासियों का भाषणपटुत्व (पृ० ३४) दिखलाया गया है।

कवि की पत्नी का 'अवन्तिसुन्दरी' नाम मैथिली, गान्धारी या पाञ्चाली की भाँति पश्चात्कल्पित प्रतीत होता है। इस भाँति अवन्तिदेशीय क्षत्रियकन्या से विवाह, उनके कुछ समय तक वहाँ रहने से ही हुआ होगा। उज्जयिनी के महाकालेश्वर (बा० रा० १०।८१), संस्कृतप्रेम, काव्यकारपरीक्षा (काव्यमीमांसा पृ० ५०, ५५) एवं कामिनियों के संचरण, वीक्षण, स्थिति, सम्भाषण और रतकर्म की (बा० रा० १०) बड़े मनोयोग से प्रशंसा सूचित करती है कि यौवनोद्भेद की अवस्था में संस्कृतसाहित्य की उच्चतम शिक्षा उन्होंने यहीं पाई होगी। साहित्य के अतिरिक्त वेद, व्याकरण, दर्शन, ज्योतिष, राजनीति एवं अर्थशास्त्र आदि का भी प्रगाढ़ अनुशीलन कृतियों में प्रतिबिम्बित हुआ है। पुराण और इतिहास के बहुसंख्यक स्पष्ट वृत्तान्त काव्यमीमांसा, बा० रा० तथा बालभारत में उल्लिलिखत हैं जिनसे इस क्षेत्र में इनकी विशेषता द्योतित होती है।

राजशेखर ९०० ई० के आसपास अध्ययनोपरान्त पुनः पिता के साथ महेन्द्रपाल के दरबार में रहने लगे होंगे। इनके राज्यकाल (९१० ई०) के अन्दर ही बाल रामायण महानाटक (पृ० १) की रचना हुई है। यह निश्चित है कि इस महानाटक के पहले नई स्फूर्ति में वे छोटे-बड़े किन्हीं पाँच काव्यप्रबन्धों क प्रणयन कर चुके होंगे। -बा० रा० की प्रस्तावना में राजशेखर ने 'विद्धि नः षट् प्रबन्धान्' (१/१२) कहा-वहीं उन्हें महेन्द्रपाल का गुरु एवं उपाध्याय कहा गया है-'महेन्द्रपालनृपतिशिष्यो' (१/१८), 'निर्भयगुरुः (१/५)' 'उपाध्यायः श्रीराजशेखरः' (पृ० ९)।

कर्पूरमञ्जरी (१/९) के अनुसार वे बालकवि, कविराज तथा उपाध्याय क्रम से बने थे और काव्यमीमांसा (पृ० १९) के अनुसार कविराज, महाकवि से भी बड़ा विश्व में

---

१. कर्पूरमंजरी (१/९) के अतिरिक्त इन्होंने अपने को 'कविराज' कहीं नहीं, केवल कवि, कविगुरु, सुकवि और कविवृषा कहा है, परन्तु कविवृषा और कविराज पर्याय ही हैं। जैसे-
'गिरःश्रव्या दिव्याः .... निबद्धा यस्त्येषां स खलु निखिलेऽस्मिन् कविवृषा' बा० रा० १/११ तथा-
'यस्तु तत्र तत्र भाषाविशेषे तेषु प्रबन्धेषु तस्मिंस्तस्मिंश्च रसे स्वतन्त्रः स कविराजः' - काव्यमीमांसा, पृ० १९।

कोई होता है। इस भाँति बाल रामायण की रचना के पूर्व ही अल्पावस्था में भी हिन्दी कवि 'प्रसाद' की भाँति ये 'कविराज' माने जाने लगे थे।'

देवज्ञ इन्हें वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ एवं भवभूति का अवतार मानने लगे थे। ये पाँच प्रबन्ध अभी अप्राप्त हैं। बा० रा० के बाद बनाए गए बालभारत, काव्यमीमांसा, कर्पूरमञ्जरी एवं विद्धशालभञ्जिका प्रबन्धों का आगे विवेचन होगा। यहाँ कुछ ऐसी कृतियों का उल्लेख कर देना आवश्यक है, जो अप्राप्त हैं तथा अन्यान्य पुस्तकों में राजशेखर के नाम से संकेतित की गई हैं, हो सकता है कि इनमें से सब या कुछ बाल रामायण के पहले की हों।

'हरविलास' नामक (सम्भवतः) महाकाव्य राजशेखर के नाम से हेमचन्द्र, उज्ज्वलदत्त एवं भोज द्वारा स्पष्टतया उदाहृत किया गया है (काव्यमीमांसा-सी० डी० दलाल, पृ० XIV १३६)। डा० घोष ने इसके बाल रामायण से पहले प्रणीत होने की सम्भावना प्रकट की है, परन्तु मीराशी महोदय ने सोचा है कि जैसे राजशेखर ने सूर्यवंशी महेन्द्रपाल के दरबार में बाल रामायण की रचना की, वैसे ही हरविलास की रचना शिवभक्त कलचुरिनरेश के दरबार में की होगी। मीराशी महोदय का यह विचार तर्कपूर्ण तो है, पर निर्णायक नहीं। कन्नौज में यदि कवि ने बाल रामायण (२/१, ३-४, २५, ३४, ४/१४-२८, १०/२८-६६, ८१) तथा बालभारत (नान्दी १/१-२) के बीच अनेकशः शिव की वर्णना और वन्दना की है, तो 'हरविलास' में भी वह कर सकता है। वस्तुतः 'हरविलास' की उद्धृत पंक्तियाँ अधिकांशतः चित्रकाव्यमय हैं, अतः वहाँ रचयिता की अभ्यासार्थिनी नवयौवनावस्था ही विशेष सम्भाव्य है।

काव्यमीमांसा में 'शास्त्रसंग्रह' अध्याय में (पृ० २) देशकाल-विभाग और भुवनकोश को अलग-अलग गिनाकर भी अन्त में भुवनकोश का विवेचन नहीं किया गया है, अतः यह भी राजशेखर की स्वतन्त्र रचना हो सकती है।'

यह समस्या शोधसापेक्ष है कि कवि की कौन-कौन कृतियाँ महीपाल के दरबार में बनीं और कौन-कौन युवराज प्रथम के दरबार में।

पूर्वप्रचलित कच्चे मतों का उच्छेदन करके मीराशी महोदय ने बाल रामायण को पहली कृति मानते हुए अन्य कृतियों का निम्नलिखित क्रम सुझाया-

२ - बालभारत या प्रचण्डपाण्डव	} महीपाल की
३ - कर्पूरमञ्जरी	} राजसभा में
४ - विद्धशालभञ्जिका	} युवराजदेव प्रथम की
५ - काव्यमीमांसा	} राजसभा में

१. काव्यमीमांसा-सी० डी० दलाल, पृ० ५५

सारांशतः कि कर्पूरमञ्जरी के नायक 'चण्डपाल' महीपाल ही हैं, इसे बालभारत के बाद रक्खा जाता है क्योंकि इसमें महीपाल के कुन्तलकन्या के साथ विवाह का संस्मरण है। कर्पूरमञ्जरी में राष्ट्रकूटनरेश को ही कुन्तलराज कहा गया है। ९१६ ई. में राष्ट्र कूटनरेश इन्द्र III ने कन्नौज जीता था, परन्तु शीघ्र ही महीपाल ने किसी चन्देला नरेश की सहायता से उन्हें हराकर भगा दिया था। इसी अवसर पर क्षेमीश्वर ने चण्डकौशिक की रचना की। फिर महीपाल ने अनेक विजयों में अपनी सीमा नर्मदा तक बढ़ाई। इसी समय बालभारत खेला गया होगा, क्योंकि इसमें उन्हें 'आर्यावर्त-महाराजाधिराज' कहा गया है। इन्द्र III के अनन्तर उसका उत्तराधिकारी गोविन्द IV कमजोर एवं विलासी राजा था, इसी के शासनकाल में उपर्युक्त वैवाहिक-सम्बन्ध हुआ होगा। इसी बीच त्रिपुरी के कलचुरि बढ़े- इनमें युवराज देव I उत्साही एवं विजिगीषु नरेश थे, हो सकता है कि इन्होंने प्रतीहारों को भी जीता हो और तभी राजशेखर पूर्वजों के उस दरबार में चले गए हों। इन्होंने चेदि में ९३५ ई० के आसपास युवराजदेव I की दक्षिणी राजाओं पर विजय के उपलक्ष्य में विद्धशालभञ्जिका प्रणीत की और फिर जीवनपर्यन्त वहीं रहते आए। काव्यमीमांसा में कवि की सभी कृतियों के उद्धरण मिलते हैं, अतः यही उनकी अन्तिम कृति है।

मेरी दृष्टि में उपर्युक्त क्रम निम्नलिखित रीति से परिवर्तनीय है-

२ - बाल भारत } महीपाल की कन्नौज
३ - काव्यमीमांसा (प्रथम अधिकरण) } राजसभा में
४ - कर्पूरमञ्जरी } युवराजदेव प्रथम की राजधानी
५ - विद्धशालभञ्जिका } त्रिपुरी में

काव्यमीमांसा का अद्यावधि प्राप्त प्रथम अधिकरण कन्नौज में ही निबद्ध किया गया प्रतीत होता है। कतिपय कारण ये हैं - इसमें आर्यावर्त, मध्यदेश एवं कन्नौज के प्रति आत्मीयतामय उल्लेख दिये गये हैं-

- वेषं नमस्यत महोदयसुन्दरीणाम् (पृ० ८)
- यां मध्ये मध्यदेशं, निवसति स कविः सर्वभाषानिषण्णः (पृ० ५१)
- आर्यावतः। तस्मिंश्चातुर्वर्ण्यं चातुराश्रम्यं च।
- तन्मूलश्च सदाचारः। तत्रत्यो व्यवहारः प्रायेण कवीनाम्। (पृ० ९३)
- .... मध्यदेशः प्रकीर्तित। तत्र च ये देशाः पर्वताः सरितो द्रव्याणामुत्पादाश्च तत्प्रसिद्धिसिद्धिमिति च निर्दिष्टम्।
- 'तत्रापि महोदयं मूलमवधीकृत्य' इति यायावरीयः (पृ० ९४)

- इदमार्यावरीवासिनश्च कवयश्च मानमाश्रिताः (पृ० ६८)

इस अधिकरण में चेदि त्रिपुरी का कहीं 'देशविभाग' में भी नाम नहीं है। काव्यमीमांसा की रचना के समय राजशेखर किसी पाठशाला में उपाध्याय' थे, यह पहले प्रतिपादित किया जा चुका है और केवल कन्नौज में प्रणीत बा० रा० (पृ० ८) में ही इन्हें व्यतिरिक्त रूप से उपाध्याय कहा गया है। मीराशी तथा आप्टे ने काव्यमीमांसा के सबसे अन्त में प्रणीत होने के लिए यह प्रबलतम तर्क दिया है कि इसमें बाल रामायणा, बालभारत और बिद्धशालभञ्जिका के श्लोक उद्धृत हुए हैं, परन्तु यह कोई निर्णायक तर्क नहीं है। बिद्धशालभञ्जिका के 'द्वित्रैव्योम्नि....' (१/११), 'साम्यं सम्प्रति सेवते---' (१/२५), 'तनुलग्ना इव ककुभः---' (३/६), 'यन्त्रद्रावित---' (३/१४), एवं 'मूलं बालकवीरुधां'- (४/), ये पाँच श्लोक काव्यमीमांसा के क्रमशः पृ० ६५, ६७ और १०६, ८०, १६ पर कहीं पूर्णतया और कहीं कुछ बदल कर उद्धृत हुए हैं। इनमें क्रमशः प्रभात, वसन्त, अन्धकार, चाँदनी एवं ग्रीष्म का केवल वर्णन हुआ है, किसी नाटकीय इतिवृत्त का नहीं। 'साम्यं सम्प्रति...' पद्य तो विद्धशालभञ्जिका की अपेक्षा बा० रा० (५/३८) के ही अधिक सन्निकट है। प्रकृतिवर्णन के पद्य फुटकल या काव्यमीमांसा में ही पहले बनाकर, बाद को विद्धशालभञ्जिका में विनियुक्त हो सकते हैं।

काव्यमीमांसा के १७ अधिकरण अप्राप्त हैं, इसलिए उनके रचनास्थल के विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। यदि कवि ने प्रथम अधिकरण के अनन्तर रचना ही नहीं की, तो स्पष्ट है कि सहसा कन्नौज से चले जाने एवं पाठशालावर्ती शिष्यों का सान्निध्य छूट जाने से उसने इस ग्रन्थ के प्रति उपेक्षा कर दी। अलंकारशेखर में तीन श्लोक राजशेखर के नाम से उद्धृत हुए हैं-दलालमहोदय ने इन श्लोकों का काव्यमीमांसा के बारहवें एवं तेरहवें अधिकरणों से सम्बन्ध सम्भावित किया है[२], जिससे उसका पूर्णतः प्रणीत होना सिद्ध होता है। हो सकता है कि शेष भाग चेदि में पूर्ण किया गया हो और स्थानपरिवर्तन के ही कारण आज केवल कन्नौज-प्रणीत अंश मिल सका है।

कन्नौज से त्रिपुरी जाना - हुल्त्ज़ एवं मीराशी ने सुष्ठु सिद्ध किया है कि राजशेखर की विद्धशालभञ्जिका नाटिका त्रिपुरी[३] में युवराजदेव प्रथम के दरबार में खेली गयी थी।[४]

---

१. काव्यमीमांसा, पृ० २,२१

२. वही, पृ० XVI

३. कनिंघम ने इसकी पहचान जबलपुर से ६ मील दूर आधुनिक सेक्टर स्थान में की है, परन्तु बाल महोदय के अनुसार इसे और पश्चिम कहीं हुशंगाबाद के पास होना चाहिए। (A Pratical Eng.-Sanskrit Dictionary, Vol. 3, 'Preface', p. 143)

४. Notes on the Poet Rajsekhar, E, Hultzsh, Indian Antiquary, Vol. 30, p. 177-179 and 'Historical Data in Rajsekhar's Viddhasalbhanjika', Mirashi, Indian Anti quary, Vol. 62, p. 35.

प्रतीहारों की शक्ति महीपाल के अनन्तर क्षीण होने लगी थी, जब कि युवराजदेव प्रथम बहुत बाद तक स्वयं वैभवसम्पन्न स्थिति में शासन करता रहा। इधर युवराजदेव द्वितीय के बिल्हरी-अभिलेख में राजशेखर का उल्लेख भी है, अतः मीराशी महोदय ने उचित ही निष्कर्ष निकाला है कि राजशेखर पुनः लौटकर कन्नौज न गए होंगे। अब यह देखना है कि ये किस कारण से, कब चेदि आये ?

उधर, महीपाल का चेदि के कलचुरिनरेशों से स्वाभाविक मनोमालिन्य रहा होगा क्योंकि कन्नौज की राजगद्दी पर प्रतिद्वन्द्वी भोज द्वितीय को कलचुरि कोक्कलदेव I ने ही बिठाया था।[1] युवराजदेव प्रथम के रिश्तेदार राष्टकूटनरेश इन्द्र III एवं कृष्ण II ने महीपाल के राज्य पर क्रमशः ९१६ तथा ९३८ ई० के आसपास आक्रमण किया।[2] इसमें भी कलचुरियों का सहयोग सम्भाव्य है। बालभारत की प्रस्तावना में महीपाल को 'मैकलपति' के लिए 'हस्तिज्वरसदृश' कहना उनके युवराजदेव प्रथम से आन्तरिक विरोध का ही द्योतक है।

इधर हो सकता है कि दुर्दुक और राजशेखर का राजनीतिक पक्षपात चेदिपति के लिए रहा हो। बाल रामायण (३/३८-४०) तथा बालभारत (१/६५) से कन्नौज के बाद कवि के चेदि चले जाने से एतद्विषयक लगाव सूचित होता है।

मीराशी ने युवराजदेव प्रथम द्वारा महीपाल के जीते जाने की कल्पना की है। प्रमाणित ऐतिहासिक तथ्यों से तो ऐसा प्रतीत होता है कि ९२८ ई० के आसपास जब कृष्ण III ने महीपाल के राज्यवर्ती कालञ्जर स्थान पर विजय प्राप्त की, तभी महीपाल ने अमात्य दुर्दुक के प्रति राष्ट्रकूटों एवं कलचुरियों से उनके मिले होने का लांछन लगाया होगा और इसी अवसर[3] पर पिता के साथ राजशेखर भी कन्नौज छोड़कर अपने पूर्वजों के आश्रयस्थान

---

1. History of Kannauj, R.S. Tripathi, p. 255-256.
'The Age of Imperial Kannauj' (p. 34-35) में डा० त्रिपाठी का मत सन्देहपूर्वक मानते हुए कहा गया है कि किसी दूसरे अवसर पर भोज II की कोक्कलदेव I ने सहायता की होगी। यहाँ महीपाल के वैमनस्य के लिए दोनों ही पक्ष पर्याप्त हैं।

२. इन्द्र III के भाई अमोघवर्ष III को युवराजदेव प्रथम ने अपनी पुत्री कुन्दरदेवी ब्याह दी थी। कुन्दरदेवी के लड़के कृष्ण III ने पिता के शासनकाल (९३६-९३९ ई०) में ही कालिंजर पर सफल अभियान किया तथा ९३९-४० ई० में पिता की गद्दी पर बैठा था। (दी एज ऑफ इम्पीरियल कन्नौज, पृ० १३, ८८)। इस घटनाक्रम से स्पष्ट अनुभव होता है कि ९१६ के सम्भवतः पहले ही कलचुरियों से राष्ट्रकूटों का यह सम्बन्ध हो चुका रहा होगा।

३. इसके पहले कन्नौज से कवि के जाने की बात नहीं सोची जा सकती क्योंकि चेदि में युवराजदेव I के समुत्थान का लगभग यही समय है तथा इस समय तक अनेक विजयों से महीपाल भी आर्यावर्त-महाराजाधिराज हो गए रहे होंगे। (बालभारत, पृ० २)

त्रिपुरी चले गए होंगे। इसके अनन्तर महीपाल ने अवश्य ही राष्ट्रकूटों से युद्ध करके कालञ्जर का दुर्ग बलात् लेते हुए एक अभिलेख में उल्लिखित हुए हैं।[1] यद्यपि विनायकपाल महीपाल का उपनाम था और ये ९५४ ई० में नहीं थे, फिर भी हो सकता है कि प्रसिद्ध होने के कारण उन्हीं का नाम लिखा गया हो या यह विनायकपाल द्वितीय उपनाम वाला प्रतीहार रहा हो।[2]

इस भाँति ९३८ ई० के अनन्तर होने वाले राष्ट्रकूटों से महीपाल के युद्ध का उल्लेख करते हुए ही दुर्दुक का प्रसंग देकर चण्डकौशिक की प्रस्तावना में क्षेमीश्वर ने लिखा होगा-'आदिष्टोऽस्मि दुष्टामात्यबुद्धिवागुराऽलङ्घ्यसिंहरंहसा .... श्रीमहीपालदेवेन यस्येमां पुराविदः प्रशस्तिगाथामुदाहरन्ति ... कर्णाटत्वं ध्रुवमुपगतानय तानेव हन्तुं... महीपालदेवः। १/४'। अधिक सम्भव है कि क्षेमीश्वर राजशेखर के बाद ही कन्नौज के दरबार में आए होंगे क्योंकि उनकी काव्यमीमांसा एवं अन्य विशिष्ट कविप्रशंसा के श्लोकों में इनका कहीं भी संकेत नहीं मिलता।

कर्पूरमञ्जरी को आप्टे, स्टेनकोनो तथा कीथ कन्नौज में कवि की सर्वप्रथम कृति मानते रहे हैं, क्योंकि यह किसी राजा के नहीं, अपितु अवन्तिसुन्दरी के आग्रह पर खेली गई थी। मीराशी में 'महिन्दवालस्य को अगुरू' (कर्पूरमञ्जरी १/५) को उद्धृत करते हुए, इसके रचनाकाल ने कवि का राजाश्रय में ही होना सिद्ध करके-इसे महीपाल के शासनकाल में प्रणीत कहा है।

वस्तुतः कन्नौज से आने के बाद चेदि की राजधीन त्रिपुरी में ही कर्पूरमञ्जरी की रचना प्रतीत होती है-इसके निम्नलिखित अनुपामक प्रमाण हैं।

युवराजदेव प्रथम की उपाधि कर्पूर वर्ष थी, विद्धशालभञ्जिका (पृ० ११२ एवं ४/१८) में उन्हें कर्पूरवर्ष कहा गया है। कर्पूर शब्द का प्रयोग कर्पूरमञ्जरी के शीर्षक में एवं अन्यत्र भी बहुशः हुआ है[3]-कर्पूरवर्ष का अर्थ चन्द्रमा होता है। नाटक में चन्द्र शब्द का प्रयोग एवं उससे नायक की उपमा असाधारणतया बहुत बार दी गयी है। नायक का नाम स्टेनकोनो एवं घोष ने अपने संस्करणों में 'चण्डपाल' (१/१२) दिया है, इसी के आधार पर मीराशी 'चण्डपाल' का महीपाल से तादात्म्य मानते हुए कृति को सम्बद्ध करते हैं। परन्तु इस तादात्म्य में बहुत सी असंगतियाँ हैं। यदि राजशेखर ने राजा का नाम 'चण्डपाल' अर्थात् 'कार्तिकेयपाल' रखा होता तो उनके श्वशुर का भी नाम चण्डसेन

---

१. ढंग का खजुराहो अभिलेख। एपिग्राफि इण्डिका, I, पृ० १२२

२. हिस्ट्री ऑफ कन्नौज, पृ० २७३

३. कप्पूररसेण (१/२६), कप्पूरपूरच्छुरण (३/२६), कप्पूरपंसु (४/५) इत्यादि।

(पृ० १०४) कभी न रखते, क्योंकि 'चण्ड' एवं 'महासेन' कार्तिकेय के ही पर्यायवाची[1] हैं। यदि 'चण्ड' से महीपाल का ही तात्पर्य होता, तो फिर उनके दरबार में 'रण्डा चण्डा दिविक्खआ धम्मदारा' (१/२३) एवं 'चण्डो देहस्स दाहो' (२/१०) आदि पंक्तियाँ सम्भवतः न प्रस्तुत की जातीं। मीराशी ने कहा है कि महीपाल के कुन्तल राजकुमारी के साथ विवाहोत्सव में कर्पूरमञ्जरी प्रणीत हुई होगी। एक तो यह कल्पना इतिहास से प्रमाणित नहीं है, दूसरे कर्पूरमञ्जरी के दृश्यों से वास्तविक विवाह की व्यञ्जना भी नहीं होती। आगे प्रदर्शित किया जाएगा कि राष्ट्रकूटों के यहाँ युवराजदेव प्रथम ने अपनी पुत्री ब्याही थी, उसी सम्बन्धोचित-उपहास की भूमिका में कर्पूरमञ्जरी एवं विद्धशालभञ्जिका में कुन्तल-नायिकाओं से कलचुरिनायकों के विवाह का झूठा इतिवृत्त कल्पित हुआ है। यदि महीपाल का यह मीराशीसम्मत विवाह सचमुच हुआ होगा, तो विवाह के अनन्तर राजमहिषी नायिका का रङ्गमञ्च पर[2] उपहासास्पद प्रदर्शन[3] कभी भी कवि न करता। तृतीय जवनिकान्तर में विदूषक कहता है कि 'आज मैं स्वप्न में मोती बन गया... मुझे लेकर पञ्चालाधिप श्रीवज्रायुध के नगर कान्यकुब्ज गया।' यहाँ 'गया' (गदो) शब्द बहुत महत्त्वपूर्ण है। यदि कन्नौज में नाटक का अभिनय हो रहा होता तो 'आया' (आगदो) का प्रयोग होता। वज्रायुध महीपाल का तो उपनाम था ही नहीं। लगता है कि इनके पुत्र महेन्द्रपाल द्वितीय

---

१. मीराशी ने राष्ट्रकूट गोविन्दचतुर्थ के समय में इस वैवाहिक सम्बन्ध को माना है, परन्तु इस राजा के कार्तिकेय से मिलते-जुलते उपनाम नहीं मिलते। गोविन्दचतुर्थ के भतीजे कृष्ण III का शाक्तिधर, स्वामी एवं कुमार-उपनाम चण्डसेन या कार्तिकेय से मिलता-जुलता है। इसका वल्लभनरेन्द्र उपनाम भी चण्डसेन के नामान्तर वल्लभराज (कर्पूरमञ्जरी, पृ० ३२) से मिलता-जुलता है (कल्हड प्लेट्स ऑफ कृष्ण III श्लोक संख्या २४ एवं पं० ५५, एपिग्रेफिया इण्डिका-४, पृ० २७८-२६०), परन्तु कृष्ण III के समय की संघटना महीपाल के साथ इस प्रकार नहीं बैठती कि उसकी पुत्री का इनके साथ विवाह हो।)

२. संस्कृतच्छाया – (कर्पूरमञ्जरी)
   - यदेकं सिचयाञ्चलं निवसितं तत्स्नानकेलिस्थिता -- १/२६
   - एकेन पाणिनलिनेन निवेशयन्ती, वस्त्राञ्जलं घनस्तनस्थलसंसमानम्
     चित्रे लिस्यते न कस्यापि संचयन्ती, अन्येन चङ्क्रमणतश्चलितं कटिवस्त्रम्।१/२७
   - आर्द्राशुकौल्लासिततनुलतायाः १/२८
   - नो बाहुभ्यां रमणफलकं वेष्टितुं याति द्वाभ्याम्। १/३०
   - तथा च स्तनतुङ्गिमा, यथा नेति नाभिमूलम्। १/३४
   - न स्थनातिलान्तरमपि चलिता स्वस्था नितम्बस्थली--
     वेण्या पुरानननेन्दुभ्रमण लब्धं स्तनालिङ्गनम्। २/१
   - तस्यास्तावत्परीक्षणाय निहितो हस्तः स्तनोत्सङ्गतो
     दाहोड्ढामरितः सखीभिर्बहुशो हेलया कृष्यते। २/२६

२. कर्पूरमञ्जरी, पृ० ७४

(९४२-९४६ ई०) ने पितामह की भाँति महेन्द्रायुध या वज्रायुध उपनाम रखा होगा। वैसे, महेन्द्रपाल को बिना उपनाम के भी वज्रायुध कहा जा सकता है। इस भाँति कर्पूरमञ्जरी का समय भी निश्चित हो जाता है। लेनमैन ने सट्टक के आभ्यन्तरी अध्ययन से चण्डपाल नायक की राजधानी द० भारत में ही सिद्ध की है।[1] कर्पूरमञ्जरी में वर्णित शैवमत के कौलतन्त्र की लोकप्रियता भी प्रतिहारों की अपेक्षा कलचुरियों के ही राज्य में इतिहास से प्रमाणित होती है।

विद्धशालभञ्जिका में नायक विद्याधरमल्ल (युवराजदेव I) का दोनों नायिकाओं से यह सम्बन्ध है कि मृगाङ्कावली ममिया-श्वशुर लाटनरेश चन्द्रवर्मा की पुत्री है तथा कुन्तलनरेश चण्डमहासेन की पुत्री कुवलयमाला भी किसी परिहास के ही सम्बन्ध में है क्योंकि उसे श्यालभार्या कहा गया है (पृ० ४३ एवं ११८)। कर्पूरमञ्जरी में चण्डपाल नायक की रानी को दक्षिणापथ नरेन्द्रनन्दिनी (पृ० ८) तथा नायिका को चण्डपाल के मौसिया-श्वशुर (पृ० ३२) कुन्तलनरेश[2] चण्डसेन या वल्लभराज की पुत्री कहा गया है। यहाँ पूर्णतः स्पष्ट हो जाता है कि दोनों ही नाटिकाओं के नायक युवराजसेन प्रथम हैं, इनकी स्त्री के मामा लाटदेश में चन्द्रवर्मा हैं और स्त्री के मौसा कुन्तलदेश में चण्डसेन, चण्डमहासेन या वल्लभराज हैं। प्रतीत होता है कि यह कुन्तलनरेश राष्ट्रकूट कृष्ण III ही होगा। उपनामों के तादात्म्य के साथ-साथ[3] कृष्ण III के कल्हड पत्र की--

'जननिपत्नीगुरुरपि येन सहस्त्रार्जुनो विजितः' ।२५।

यह पंक्ति भी सम्भवतः कर्पूरमञ्जरी (पृ० ३२) में उल्लिखित सम्बन्ध को ही पुष्ट करती है। कृष्ण III की माता युवराजदेव प्रथम की पुत्री थीं-कृष्ण III की स्त्री भी युवराजसेन प्रथम की श्वश्रू की कोई छोटी बहिन रही होंगी।[4] इस भाँति दूसरे वाले सम्बन्ध से कृष्ण III की पुत्री के साथ युवराजदेव प्रथम का शृङ्गारिक हास-परिहास वैध हो जाता है।

इस भाँति या तो 'चण्डपाल' नाम काल्पनिक होगा या फिर महीपाल के इस उपनाम होने पर यहाँ मूलतः चन्द्रपाल नाम रहा होगा। कर्पूरमञ्जरी की तीन पाण्डुलिपियों

---

१. कर्पूरमञ्जरी, स्टेनकोनो, पृ० २१३

२. चण्डसेन को लाटाधिपति भी कहा है (पृ० १०४), राजशेखर के इस भ्रमात्मक भूगोल के लिए द्रष्टव्य पृ० १८ टिप्पणी

३. द्रष्टव्य, पृ० ३०

४. 'जननिपत्नीगुरुरपि' पद से आर० जी० भण्डाकर आदि इतिहासकार कल्पना करते रहे हैं कि कृष्ण III ने भी कलचुरियों के यहाँ विवाह किया होगा। द्रष्टव्य-एपिग्रैफिया इण्डिका-४, पृ० २७६। वस्तुतः माता के पिता को पत्नीगुरु भी कहना कर्पूरमञ्जरी में उल्लिखित उपर्युक्त सम्बन्ध क्रम से ही समञ्जस बैठता है।

में 'चंदवाल' पाठ मिला भी है, परन्तु कोनो ने उन्हें अपेक्षाकृत आधुनिक कहकर अप्रामाणिक माना है।[1] प्रस्तावना में विद्धशालभञ्जिका (१/६) की भाँति यहाँ भी केवल कवि के 'महेन्द्रपालगुरुत्व' (१/५) का स्वाभिमानपूर्वक अर्थवाद उद्धृत है। 'संस्कृत छोड़कर प्राकृतबन्ध में कवि क्यों प्रवृत्त हो गया?' और 'सुनो। उस समय के कवियों में मृगाङ्कलेखा कथाकार अपराजित ने वर्णन किया है[2]' इत्यादि वाक्यों से कर्पूरमञ्जरी में विस्तृत प्रस्तावना-परिचय यही व्यक्त करता है कि किसी नए स्थल पर कवि का परिचय कराया जा रहा है।

विद्धशालभञ्जिका (४/२२) में 'पहले विवाह की गयी कुन्तलनरेश की पुत्री को आज मैंने स्त्री बना लिया' यह वाक्य पहले खेली गयी कर्पूरमञ्जरी में वर्णित कुन्तलपुत्री से विवाह की ओर ही संभवतः संकेत करता है।

विद्धशालभञ्जिका में एक कुन्तलाधिपति वीरपाल का उल्लेख है, जिसका राज्य उसी के कुल वालों ने छीन लिया था और युवराजदेव प्रथम के वह शरण में आया था (पृ० १२६)। दशरथ शर्मा ने इसे राष्ट्रकूटनरेश गोविन्ददेव चतुर्थ तथा मीराशी ने अमोघवर्ष तृतीय माना है।[3] अन्य कुछ इतिहासकार इसे कृष्ण तृतीय ही मानते हैं।[4] इस विषय में स्पष्टतः कुछ कहा नहीं जा सकता। हाँ, अधिक सम्भावना कृष्ण III की ही है, क्योंकि इसके कल्हडपत्र में किसी कलचुरि राजा को जीतने[5] की तथा युवराजदेव द्वितीय के बिल्हरी-अभिलेख में युवराजदेव प्रथम द्वारा कर्णाटों (राष्ट्रकूट) एवं लाटों को जीतने की प्रशस्ति है।[6] कृष्ण तृतीय के हार कर शरणागत होने के अवसर पर सम्भवतः विद्धशालभञ्जिका अभिनीत हुई होगी।

---

१. कर्पूरमञ्जरी, कोनो, पृ० ७ एवं XXVI

२. ता किं ति सक्कदं परिहरिअ पाउदबन्धे पउतो कई सुणसु।
वणिदोज्जेव तक्कालकईणं मज्झम्मि मिअङ्कलेहाकथाकारेण अवराइदेण। कर्पूरमञ्जरी, पृ० ५-६

३. Historical Data in Rajsekhar's Viddhasalabhanjika, Indian Antiquary, Vol. 62, p. 35.

४. The Age of Imperial Kannauj, p. 88-89.

५. कल्हडपत्र (९२९ ई०) में कृष्ण III की कलचुरिविजय रामकुमारावस्था (९३९ के पहले) में वर्णित है, परन्तु देउलीपत्र (जरनल ऑफ दि बाम्बे ब्रांच ऑऊ रायल एशियाटिक सोसायटी III) में अभिषेक के पूर्व की समस्त घटनाओं के बीच इसका उल्लेख नहीं है। अतः इतिहासकारों ने उचित ही निष्कर्ष निकाला है कि यह घटना बाद में हुई, यहाँ केवल विशेषण के रूप में पहले उल्लिखित कर दी गई है।

६. The Age of Imperial Kannauj, p. 89

कर्पूरमञ्जरी की प्रस्तावना में युवराजदेव प्रथम का अनुल्लेख एवं विद्धशालभञ्जिका की प्रस्तावना में अन्यमनस्कता से उल्लेख करते हुए ऐसा प्रतीत होता है कि राजशेखर त्रिपुरी में राजाश्रय से रहते हुये भी राजकवि के पद पर नहीं थे। ऐश्वर्यसम्पन्न यौवन से ही परोपकार, पराक्रम, सौजन्य, त्याग और सत्यवादिता प्रभृति इनके विकसित गुण थे। पण्डित राज जगन्नाथ की भाँति एकान्त-प्रकृति एवं अप्रतिहत काव्यधारा सारा जीवन सरस बनाए रही, परन्तु वृद्धावस्था में माघकवि के से दुर्ललित परोपकार-व्यसन के कारण इन्हें कुछ कष्ट भी सम्भवतः उठाना पड़ा।[२] यदि सदुक्तिकर्णामृत तथा प्रसन्नसाहित्यरत्नाकर में राजशेखर के नाम से उद्धृत-

'अध्वश्रमाय चरणौ विरहाय दारा अभ्यर्थनाय वचनं च वपुर्जरायै
एतानि मे विदधतस्तव सर्वदेव धातस्त्रपा यदि न किं न परिश्रमोऽपि।।'

यह वसन्ततिलका इन्हीं की निजोक्ति[३] हो तो जीवन के चरम-भाग में अवन्तिसुन्दरी का वियोग भी कल्पित किया जा सकता है।

नाट्य कृतियाँ-कन्नौज और त्रिपुरी (जबलपुर) रहकर कविराज राजशेखर ने चार रूपक-वीथियाँ संजोई थीं। उनका क्रमानुसारी परिचय इस भाँति है-१. **बालरामायणम्** : यह दस अंकों का महानाटक रामचरित की एक उपन्यासधर्मी प्रस्तुति है -

'एतदेव यदा सर्व्वैः पताकास्थानकैर्युतम्।
अङ्कैश्च दशभिर्धीरा महानाटकमूचिरे।।
एतदेव नाटकम्। यथा बालरामायणम्।[४]'

राजशेखर ने लोक और शास्त्र का गंगाजमुनी समन्वय करते हुए बाल-राम की यह पराक्रम लीला 'बालकवि' के रूप में अंकित की थी।

बालरामायण के प्रथम अंक में रावणप्रभृति ब्राह्मणों तथा विश्वामित्रादि क्षत्रियों की संघर्षात्मक दलबन्दी के परिवेष में रावण मिथिलापुरी आता है, सीता पर आकृष्ट होता है, शिवधनुष उठाकर भीषण विवाह की जुगुप्सा से उसे फेंक देता है और सीता के भावी पति

---

१. आपन्नार्तिहरः पराक्रमधनः सौजन्यतारां निधिः,
त्यागी सत्यसुधाप्रवाहशशभृत्कान्तः कवीनां गुरुः।
वर्ण्यं वा गुणरत्नरोहणगिरेः किं तस्य साक्षादसौ
देवा यस्य महेन्द्रपालनृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः। बा०रा० १/१८
इसमें 'आपन्नार्तिहरः' आदि विशेषण राजशेखर (सः) एवं महेन्द्रपाल दोनों के साथ लगेंगे।

२. किमपरमपरैः परोपकारव्यसननिधेर्यणितिर्गुणैरमुष्य। - विद्धशालभञ्जिका, १/६

३. सुभाषितरत्नकोष में यही वसन्ततिलका 'शुभाङ्ग' कृत बतलाई गई है।
Harvard Oriental Series, Vol. 42.

४. साहित्यदर्पण ६, २२३-२२४

से विद्रोह की प्रतिज्ञा करता है। द्वितीय अंक में परशुराम, रावण द्वारा मंगाया गया कुठार न देते हुए, उल्टे पिनाक का तिरस्कार करने के कारण उसी पर क्रुद्ध होकर मिथिलानगरी आते हैं तथा युद्ध करने लगते हैं। शंकर द्वारा भेजे गए ऋचीक एवं पुलस्त्य दोनो में सन्धि करा देते हैं। तृतीयांक के विष्कम्भक में ताडका, मारीच एवं सुबाहु के वध तथा गर्भांक में 'सीतास्वयंवर' का प्रदर्शन होता है। गर्भांक के लंका में रावण के समक्ष खेले जाने का वर्णन हुआ है। चतुर्थ अंक में परशुराम से राम का भावी कलह जानकर दशरथ एवं मातलि स्वर्ग से परशुराम का वीरचरित वर्णित करते हुए मिथिला आते हैं। राम की बलपरीक्षा हेतु परशुराम वैष्णव धनुष चढ़ाने को देते हैं, परन्तु लक्ष्मण उसे चढ़ा देते हैं और इसीलिए लक्ष्मणादि अन्य तीन भाइयों से उर्मिलादि बहनों का विवाह होता है। पञ्चमांक में सीता के विरह से उन्मत्त रावण के मनोविनोदार्थ पहले कठपुतली-सीता तथा बाद में अनेक प्राकृतिक उपादान प्रस्तुत किए जाते हैं। विरूपित भगिनी शूर्पणखा स्वर्ग गए हुए दशरथ तथा कैकेयी का रूप बनाकर रामादि को वन भेज देते हैं। बाद में दशरथ आदि इन घटनाओं को सुनकर पश्चात्ताप करते हैं। जटायु गृध्र का दूत सीताहरण का भी समाचार अयोध्या में बतलाता है। सभी दुःखी होते हैं। सप्तमांक में दशरथमरण से लेकर सेतुवन्ध के पूर्व तक की घटना विष्कम्भक-सूचित है। समुद्र के प्रकट होने तथा सेतुबन्ध के अनन्तर वानरराक्षस युद्ध, कठपुतली-सीता का शिरश्छेद एवं सिंहनाद का आना होता है। अष्टमांक में सिंहनाद एवं नरान्तक वध की सूचना के बाद, मेघनाद और कुम्भकर्ण के वध तथा नवें अंक में रावण-वध का वर्णन है। दशम अंक में सीता की अग्निशुद्धि के अनन्तर राम आदि पुष्पक से ऊपर दूर तक उड़कर अगस्त्य का दर्शन करते हुये अयोध्या आते हैं। अभिषेक के अनन्तर कुबेर को पुष्पक सौंपा जाता है।

इसमें 'राम द्वारा सीता-प्रत्यानयन' आधिकारिक तथा सुग्रीव-विभीषण-वृत्त प्रासंगिक इतिवृत्त है। अर्थप्रकृतियों, कार्यावस्थाओं एवं अंगयुक्त सन्धियों का बाल रामायण में यथावत् नियोजन किया गया है। 'कार्य' अर्थप्रकृति को साधनरूप तथा 'नियताप्ति' को 'फल में रुकावटरूप' सँजोया गया है। साहित्यदर्पण एवं भावप्रकाश के अनुसार महानाटक में चतुर्विध पताकास्थानक एवं वृत्तियाँ यथास्थल विन्यस्त हैं।

बाल रामायण में रामकथा को बहुत अधिक परिवर्तित किया गया है, इसकी औचिती इस प्रकार है-वैषयिक परिवर्तनों में जातीय-दलबन्दी की पृष्ठभूमि मनोवैज्ञानिक है, परन्तु इससे जातीय मनोमालिन्य का उपदेश मिलता है। रावण का मिथिलागमन, तद्गत सीतानुराग की पूर्वपुष्टि के हेतु उचित नियोजित है। परशुराम याज्ञवल्क्य के अतिथि बनते हैं, इससे उनकी वदान्यता व्याहत होती है। परशुराम गुरुभक्तिवश सीता स्वयंवर में भाग नहीं लेते, यह उचित सुझाव है। परशुराम का बालचरितवर्णन एवं विष्णुचाप का लक्ष्मण द्वारा आरोपण भी यथार्ह उपनिबद्ध है। सीताहरण जैसी निर्मर्याद घटना की पूर्वपीठिका में

रावण का विरहोन्माद अवश्य वर्णनीय कहा जा सकता है। कठपुतली सीता का पहले से निर्माण प्रबन्धचातुरी का प्रतीक है। अयोध्या में शूर्पणखा का विरूपीकरण रूढवैरत्व के लिए उचित है। राम आदि का राक्षसों द्वारा अयोध्या से निर्वासन-भवभूति एवं मुरारि की कल्पना से बढ़कर एक अभिनव सम्भावना को साकार करता है। हिन्दी कवि मैथिलीशरण गुप्त से एक हजार वर्ष पूर्व ही राजशेखर उर्मिला की विरह-वेदना ताड़ गए थे (बा०रा० ६/२५)। आभूषणविहीन सीता, जराजर्जर दशरथ और सुमन्त्र का नर्मदा तक जाना यथोचित ही प्रदर्शित है। सीता का अपहरण सुनने से दशरथ-मृत्यु चिर-परम्परा में एक नूतन संशोधन है। समुद्र से राम का क्षमाप्रार्थित्व, विजयी राम पर देवों का फूल न बरसाना तथा त्रिजटा का अयोध्यागमन तार्किक कसौटी पर खरा उतरता है।

वर्णनात्मक नवीनता में आभासात्मक वर्णन राजशेखर की एक विशेषता है। युद्धवर्णन प्रत्यक्षवत् हुए हैं। ताडकावध में रमणीयता वर्णित है। पंचमुख सिंहनाद की राजशेखरोपज्ञ कल्पना रोचक एवं सम्भावनीय है। लंकालेख्यक कतिपय क्रमभंग दोषों से विसंष्ठुल है। अन्य वर्णन उचित मात्रा में परम्परानुसार ही बने हैं।

इतिवृत्त से बढ़कर नाटक का औचित्य उसकी अभिनेयता में है। कतिपय इतिहासकारों ने अन्धकौलीनवश बालरामायण को अनभिनेय माना है, परन्तु लगभग इतने ही बड़े 'संकल्पसूर्योदय' आदि नाटक बहुशः अभिनीत होते हैं, यह भी सर्वथा अभिनेय है। बालरामायण में 'वीररस' अंगीरस है। नायक राम मुख्यतः युद्धवीर एवं धर्मवीर तथा प्रसंगतः दयावीर एवं दानवीर रूपों में सामने आते है। रावण-पक्ष से व्यज्यमान 'वीर' नायक पक्ष का उद्दीपक बनता है। 'अद्भुत' सविशेष अंग-रस है। इसकी निष्पत्ति प्रायः सन्धियों के चरमभाग में देखने को मिलती है। 'शृङ्गार' का पल्लवन संयोग-पक्ष में बहुत कम, वियोग-पक्ष में प्रायः रसाभास-कोटि से हुआ है। रावण का सीताविषयक अनुराग मरणपर्यन्त पूर्वानुराग ही रह जाता है, अतः उसमें उसकी दस कामावस्थाएँ निदर्शित हैं। रुद्रट, विश्वनाथ एवं आधुनिक मनीषियों द्वारा सम्मत 'वत्सलरस' भी प्रस्तुत किया गया है। हास्य और करुण रसों की स्थल-स्थल पर मार्मिक झाँकियाँ हैं। क्रोधस्थायिक रौद्र प्रायः राक्षसादि प्रतिनायकों की ओर से व्यंजित किया जाता है। भयानक का भी समावेश प्रतिपक्षाश्रय है। बीभत्स एवं शान्तरसों की सम्यक् निष्पत्ति के अल्पसंख्यक अवसर आये हैं।

बालरामायण में राजशेखर ने रस, रीति एवं गुण-संघटना की अपेक्षा अलंकारों को गौण स्थान दिया है। मम्मटकृत काव्यप्रकाश की मान्यता से अधोऽकित स्वरूप दृष्टिगोचर होता है-

शब्दालंकारों में सर्वाधिक मात्रा में अनुप्रास तथा इसके बाद क्रमशः यमक और श्लेष उपयुक्त हुए हैं। श्लेषवक्रोक्ति तथा चित्रालंकार नहीं मिलते। काकुवक्रोक्ति को राजशेखर ने मान्यता ही नहीं दी।

अर्थालंकारों में कवि ने 'उपमा' को 'कविवंश की माता' कहा है। इनके उपमान परम्पराकुट्टित होकर अभिनव-कल्पनामय होते हैं। उदाहरणार्थ-

ताराणां नगरत्विषां परिकरः संख्येयशेषः स्थितः
स्पर्द्धन्तेऽस्तरुचः प्रदीपकशिखाः सार्द्धं हरिद्राङ्कुरैः,
मन्त्रस्तम्भितपारदद्रवजडो जातः प्रगे चन्द्रमाः
पौरस्त्यं च पुराणशीधुमधुरच्छायं नभो वर्त्तते।।'

राजशेखर शब्दसौन्दर्य अथवा भंगीभणिति के पक्षधर थे। बालरामायण के पदलालित्य में गौडी रीति एवं ओजोगुण का विशिष्ट चमत्कार है। राजशेखर भी वैदर्भी, गौडीया एवं पांचाली तीन ही रीतियाँ मानते थे। भामह और कुन्तक की भाँति इनकी गौडीरीति पर हेय दृष्टि नहीं थी। मैक्डानल, कीथ और बलदेव उपाध्याय ने बालरामायण के पदलालित्य की भूयसी प्रशंसा की है। सूक्ष्म विवेचन में 'सद्यः पुरीपरिसरेऽपि' (बा०रा० षष्ठांक) श्लोक की कुन्तककृत आलोचना निराकृत हो जाती है। अन्य रीतियों तथा गुणों का भी मंजुल समावेश नाटक में हुआ है।

सूक्तियाँ राजशेखरीय कृतियों में बहुतायत से मिलती हैं। इन्होंने उक्ति, सूक्ति, सुभाषित, वक्रोक्ति एवं भंगीभणिति आदि सभी शब्दों का प्रयोग किया है, परन्तु इनका स्वरूप-विभाजन किया हुआ नहीं मिलता। काव्यमीमांसा के प्रथम अध्याय में 'औक्तिक' अधिकरण का व्यतिरिक्त उल्लेख है, परन्तु वह अप्राप्त है। सम्भवतः सूक्तियों को साम्प्रदायिक सीमा में न बाँधकर, शब्दों के वैचित्र्य, विदग्धकवि की पूतन कल्पनाओं एवं विशिष्ट ढंग से उक्ति एवं सार्वभौम सिद्धान्तों को 'सूक्ति' कहते रहे होंगे। कुन्तक ने बाल रामायण की अनेकविध वक्रोक्तियों को बहुशः उद्धृत किया है। यहाँ मानवसमाज, राजनीति, ज्ञानप्रशंसा एवं अन्य फुटकल विषयों की सूक्तियाँ दृष्टिगोचर होती हैं।

बालरामायण का भाषासौष्ठव संस्कृत तथा प्राकृत के विशद प्रयोग में है। संस्कृत के पद्यों में दूरान्वयक्लिष्टता का अभाव एवं गद्य में सलयता, राजशेखरीय संस्कृत की अपनी विशेषता है। भवभूति से अपना उत्कर्ष दिखलाने के हेतु प्राकृत में भी इन्होंने बड़े छन्द प्रयुक्त किये हैं। ये प्राकृत की कोमलता के प्रशंसक थे। बालरामायण में मृच्छकटिक की भाँति विविध प्राकृतों का नहीं, केवल आवन्ती प्राकृत का प्रयोग हुआ है। इन्हीं के 'कर्पूरमञ्जरी' सट्टक में स्टेनकोनो ने पद्य में महाराष्ट्री और गद्य में शौरसेनी, परन्तु डा० मनमोहन घोष ने केवल शौरसेनी बतलाई है। वस्तुस्थिति यह है कि राजशेखर की सभी कृतियों में महाराष्ट्री एवं शैरसेनी के मिश्रणरूप आवन्ती प्राकृत (प्राकृतसर्वस्व, १०/१) का उपयोग किया गया है। बालरामायण के प्राकृतभाषी चौबीस पात्रों में १६ पात्र आवन्ती बोलते हैं। अपभ्रंश, पैशाची एवं देशी शब्द भी कहीं-कहीं मिलते हैं।

---

१. बा०रा० ७.१

महानाटक में ७६४ पद्य, २६ प्रकार के छन्दों के माध्यम से हैं। शार्दूलविक्रीडित (२०६) की संख्या सर्वाधिक है। बालरामायण का यगण से शुभावह प्रारम्भ हुआ है। छान्दस् औचित्य एवं प्रयोग, नाट्यशास्त्र और सुवृत्ततिलक की मान्यता से परीक्षित किए जाने पर खरा उतरता है।

चरित्र-चित्रण-

भारतीय नाटकों में चरम लक्ष्य रसव्यक्ति होती है, चरित्र-चित्रण का केवल व्यंजकत्वेन महत्त्व है, फिर भी 'रामादिवद्वर्तितव्यम्' के उपदेशार्थ चरित्रोन्नयन की आवश्यकता मानी जाती है। राजशेखर ने रामादि की दिव्यादिव्य प्रकृति मानी है, जिससे इनके अनेक अतिमर्त्य कार्यों में आनुचित्य की प्रतीति न हो। नायक राम धीरोदात्त प्रकृति के हैं। शोभाप्रभृति आठ महागुण (नाटकलक्षणरत्नकोश, पृ० ५६) इनमें यथावत् पाये जाते हैं। अनुनायक लक्ष्मण अपने सेवाभाव एवं धैर्यगुणों के कारण लगभग राम की ही कोटि में आते हैं। सुग्रीव एवं विभीषण पताकानायक हैं। ये दोनों राम के हितैषी हैं। अतः 'सीता-देवर' कह दिये गये हैं। दशरथ का अनीर्ष्यालु, वत्सल एवं सनातनधर्मप्रिय स्वभाव है। विश्वामित्र का दूरानुबन्धी वृत्त, शास्त्रीय कसौटी पर 'पताका' नहीं माना जा सकता। इन्हें नायक का सहायक गुरु कहा जायेगा। बालरामायण के जनक की प्रकृति, प्रख्यात योग-वैराग्य से युक्त नहीं, अपितु अभिज्ञानशाकुन्तलम् के कण्व-सी ममतालु है। सीता उत्तम कोटि की स्वकीया नायिका हैं। ये लज्जालु, मृदु, धीर-गम्भीर, विनीत तथा वत्सल हैं। स्वावलम्बन-युक्त पुण्यगृहिणीत्व भारतीय आदर्शों के अनुसार ही हैं। युवतियों के अनेक स्वाभाविक अलंकार भी इनमें झलकते हैं।

रावण धीरोद्धतप्रकृतिक प्रतिनायक है। लोभ, पाप एवं व्यसन इसके विशेष दुर्गुण हैं। रामकथा में रावण के समग्र क्रियाकलापों को प्रकाश में लाने की राजशेखर की चेष्टा रही है। चतुर्थ, षष्ठ एवं दशम अंकों के अतिरिक्त शेष अंकों में वह प्रत्यक्ष रंगमंच पर आता है। माल्यवान् रावण का कनिष्ठ मातामह एवं चतुर मन्त्री है। अर्थशास्त्र तथा नीतिशास्त्र में वह निष्णात है। मायामय और शूर्पणखा सर्वाधिक विश्वासपात्र गुप्तचर हैं। जामदग्न्य गौण पात्र हैं। अन्य कई प्रख्यात तथा कुछ कवि-कल्पित पात्र कथानक आगे बढ़ाने का कार्य करते हैं।

मुरारि का प्रभाव-

'बाल वाल्मीकि'[1] मुरारि से निश्चय ही 'बालकवि' राजशेखर प्रभावित हुए। मुरारि के कोमल तथा पाण्डित्यपूर्ण पदसमूह पश्चात्कालीन संस्कृत साहित्य के प्रभूतमात्रा में

---

१. अनर्घराघव, पृ० १३

दिग्दर्शक बने, अतः राजशेखर का भी उनसे अछूता रहना कैसे हो सकता था। हाँ, यह अवश्य है कि दृश्यकाव्य को व्याकरण की जटिल क्रीडास्थली न बनाने के पक्षपाती राजशेखर[1] ने इनकी अनुकृति व्याकरणात्मक पदावली में अधिक नहीं की। तुलना की जाय तो भवभूति एवं मुरारि का इन्होंने तुल्य अनुकरण किया। शार्ङ्गधरपद्धति की मुरारि-प्रशंसा-

भवभूतिमनादृत्य निर्वाणमतिना मया
मुरारिपदचिन्तायामिदमाधीयते मनः।।

राजशेखर के बारे में समीचीन नहीं उतरती। यहाँ इस नाटक के उत्तरार्द्ध का प्रभाव विशेष है, वैसे तो अनुकरण के लिए समग्र अनर्घराघव का बालरामायण अधमर्ण कहा जायेगा। व्याकरण एवं बाह्य वर्णनों का प्रदर्शन मुरारि ने नाटक के पूर्वार्द्ध में किया है।

बालरामायण की प्रस्तावना पर अनर्घराघव की ही पूर्ण प्रेरणा है। अनर्घराघव का सूत्रधार, 'कलहकन्दल' नामक नट के प्रभाव को हटाकर स्वयं वैदेशिक होकर भी अपना न्यायप्रवृत्त[2] प्रभाव जमाता है। इसी भाँति बालरामायण में भी नाट्यकौशल दिखलाने पर एक लड़की से विवाह होने का प्रसंग आता है जिसमें रंग-विद्याधर नामक दाक्षिणात्य नट को हटाकर सूत्रधार अपना प्रभाव जमाता है। दोनों ही नाटकों में प्रस्तावना के काव्यार्थसूचक श्लोकों से नाटक के रामविजय तथा सीताप्राप्ति-रूपी फल के बीज की सूचना दी गयी है। भवभूति की भाँति मुरारि ने भी अपने नाटक में वीराद्भुत रसों का सम्मिश्रण बतलाया है।[3] यही राजशेखर का भी कथन मिलता है। प्रस्तावना में ही सूत्रधार के मुख से दोनों नाटकों में नटसमूह, नाटककार तथा नाटक की स्तुति एकसदृश श्लोक में है।[4] इस पर संभवतः रत्नावली नाटिका की प्रस्तावना का एतादृश वर्णन प्रभावकारी हुआ होगा (१.५)।

किसी प्रसंग का अन्त करते समय 'सुखाय माध्यन्दिनी सन्ध्या भवतु देवरथ, सम्प्रति हि-' कहकर प्रकृतिवर्णन करने की शैली राजशेखर को मुरारि से मिली है।[5]

प्रसंग का आरम्भ करने के लिए 'प्रभातप्राया रजनी', 'तथा हि'-कहकर प्रातर्वर्णन भी दोनों शब्दशिल्पियों का एक-सा है।[6] रावणवध के बाद साथियों के साथ जयघोष से

---

१. सद्यः सूते रसमनुपमप्रौढिजन्मा प्रसादः बा०रा० ३/१४
२. यान्ति न्यायप्रवृत्तस्य तिर्यंचोऽपि सहायताम्।
अपन्थानं तु गच्छन्तं सोदरोऽपि विमुंचति।। अनर्घराघव १/४
३. तस्मै वीराद्भुतारम्भगम्भीरोदात्तवस्तवे। वही, १/६
४. अनर्घराघवम् १/१०; बालरामायण १/६
५. अनर्घराघवम् १५४; बा०रा० १/६३।
६. अनर्घराघवम् २/१, ४/१, ७/१ तथा बा०रा० ७/१

सम्मानित रामचन्द्र का जिस भंगिमा से वर्णन पहले ने किया, वैसा ही दूसरे ने भी।'

बालरामायण की कथावस्तु पर अनर्घराघव के जिन प्रसंगों का प्रभाव पड़ा है, वे ये हैं - मन्थरा बन कर राम को छलने के बाद लंका में माल्यवान् से शूर्पणखा का रघुकुल से प्रभावित होने की बात कहना, राम का शिवधनुष तोड़ने में बालस्वभावगत दोष बतलाना[२], परशुराम को याज्ञवल्क्य का अतिथि बनने हेतु निमंत्रण[३], एवं युद्ध के पूर्व ही अंगद द्वारा नरान्तव-वध आदि।[४] कतिपय प्रसंग मुरारि के संकेत पर विस्तृत किये गये हैं। अनर्घराघव में हेमांगद नामक एक व्योमचारी सिद्ध की उक्ति है -'मैं सोचता हूँ कि तामिस्र अस्त्र मानवीय अस्त्र से, मानवीय राहवीय से, राहवीय वैष्णवीय से, वैष्णवीय कामास्त्र से और कामास्त्र पाशुपतास्त्र से-इस प्रकार अस्त्र का अस्त्र से प्रतीकार करने वाले रावण तथा राम का भीषण युद्ध हो रहा है।'[५] ठीक इसी युद्धप्रक्रिया का विस्तृत वर्णन लक्ष्मण, मेघनाद के युद्ध में राजशेखर ने किया है। अनर्घराघव में सीता से राम कहते हैं - 'देवी! निमिराजपुत्रि! रावण के मरने के बाद, मैंने स्वयं पिता जी को सूर्यमण्डल में देखा है, उन्हीं की आज्ञा से अभिषेकसज्जा के लिए मेरे द्वारा हनुमान अयोध्या भेज दिया गया है।'[६]

इसी प्रसंग के आधार पर बालरामायण में रामरावणयुद्ध का वर्णन इन्द्र एवं दशरथ के बीच किया गया है। पुष्पक विमान से दिव्यलोक तथा चन्द्रलोक की यात्रा, अयोध्या लौटकर सबसे भेंट, राज्याभिषेक और भरतवाक्य तक का अंश तो कथावस्तु, शैली पदावली एवं भावसम्पत्ति की दृष्टि से राजशेखर द्वारा मुरारि से अपहृत-सा किया गया है। यह अंश पूरे नाटक का प्रायः नवमांश होता है।[७] फिर भी ऐसा नहीं प्रतीत होता कि राजशेखर ने प्रतिभा की कमी के कारण ऐसा किया। प्रायः छोटे-छोटे गद्यखण्डों तथा कहीं-कहीं भावसम्पत्ति में ही अनुकरण हुआ है। कथावस्तु के एकाकार होते हुए भी वर्णनात्मक श्लोकों की भङ्गी विभिन्न है। भावसम्पत्ति तथा शब्दावली का साम्य अनेक स्थलों पर देखा जा सकता है।

---

१. अनर्घराघवम् ६/८४, बा०रा० ६/५६

२. अनर्घराघवम् ४/३१, बा०रा० ४/६१

३. अनर्घराघवम् पृ० २५०, बा०रा० २/६३

४. अनर्घराघवम्, पृ० ३३८, बा०रा० ८/८। यहाँ दोनों का युद्ध पणरूप में हुआ है।

५,६. अनर्घराघवम्, पृ० ३८३; बा० रा० ७/११

७. तुलना के लिए द्रष्टव्य-अनर्घराघवम् सप्तम अंक, २३वें श्लोक के अनन्तर चरम श्लोक तक तथा बा०रा०, दशम अंक, २१वें श्लोक के अनन्तर चरम श्लोक तक।

शैलीसाम्य भी कहीं-कहीं दोनों नाटकों में दृष्टिगोचर होता है। अनर्घराघव में जब दशरथ रामचन्द्र को पुकारते हैं, तो वामदेव कहते हैं कि लक्ष्मण को भी बुला लीजिये। इस पर दशरथ बोले कि 'मुनिवर! इसके लिए अलग यत्न की आवश्यकता नहीं है। बिना प्रकाश के चाँद नहीं उदित होता।'[1] इसी भाँति बालरामायण में जब परशुराम से रावण कहता है[2] कि 'भार्गव! यह रुद्रप्रदत्त कुठार स्वभावतः प्रचण्ड है तथा यह विष्णुदत्त धनुष भी बहुत ऊँचा है। अतः इन दोनों में से एक अस्त्र ले लो, जिससे मैं अपना चन्द्रहास सम्हालूँ।' इस पर परशुराम कहते हैं 'मुझसे भी ऐसा कह रहे हो क्या? क्या वडवानल को कोई समुद्र का जल पीने को कहता है?'[3] अर्थात् परशुराम सदा परशु तथा धनुष सज्ज रखते थे। पुष्पक यात्रा में हिमालय, देवदारु-वन में कामदहन, पार्वती-तप, शंकर का अर्धनारीश्वर बनना, मन्दराचल, कैलासपर्वत, मेरुपर्वत तथा चन्द्रलोक आदि जिन-जिन प्रसंगों वाले स्थल अनर्घराघव में वर्णित हैं, वे प्रायः यथाक्रम सभी बलारामायण में भी हैं। अनर्घराघव में ताम्रपर्णी को मोतियों की आया एवं समुद्र की प्रिय स्त्री कहा गया है, यही बात बालरामायण में भी कथित मिलती[4] है। अवन्तिदेश की नारियों तथा चकोराङ्गनाओं का लालित्य दोनों नाटकों के एक ही प्रसंग में समान रूप से वर्णित हैं।[5] मिथिलापुरी, प्रयाग तथा श्यामवट आदि स्थल यथाक्रम दोनों में उल्लिखित हैं। राम को दो पुत्रों की प्राप्ति का[6] तथा सीता को निःसापत्न्य का आशीर्वाद वशिष्ठ ने दोनों नाटकों में दिया है। महावीरचरित, अनर्घराघव तथा बालरामायण - इन तीनों ही नाटकों के भरतवाक्य में यही उक्ति मिलती है कि 'विद्वान् दूसरे की कृतियों का श्रद्धापूर्वक आदर करें।'[7]

संस्करण - बालरामायण के ५ मुद्रित संस्करण प्रकाश में आए हैं। पण्डितसंस्करण (बनारस १८६९) मूलमात्र तथा प्राकृतच्छायायुक्त है। जीवानन्द संस्करण (कलकत्ता १८८४) संस्कृत टीका से संवलित है। टीका वैदुष्यपेशल नहीं है। लक्ष्मणसूरि संस्करण (तंजोर १८९९) केवल प्रारम्भिक पाँच अंकों का है। इसकी 'तत्त्वालोक' 'व्याख्या' बहुत अच्छी नहीं

---

१. अनर्घराघवम्, पृ० ४३

२. त्रैयम्बकः परशुरेष निसर्गचण्डः, सौपर्णकेतनमिदं धनुरुन्नतं च
अस्मिन् द्वये बिभृहि भार्गवहेतिमेकां येनायमृच्छति करं मम चन्द्रहासः। बा०रा०, २/३९

३. किं नाम रामोऽप्येवमुच्यते। वाडवीयमति ज्योतिरर्णवार्णः पानार्थमभ्यर्थयते।
बा०रा०, पृ० ४३

४. अनर्घराघव, पृ० ४६०-४६१, बा०रा० १०/५६

५. अनर्घराघव ७/१०९-११०, बा०रा० १०/८२

६. अनर्घराघव ७/१३९, बा०रा० १०/६४

७. संख्यावंतोपि भूम्ना परकृतिषु मुदं संप्रधार्य प्रयान्तु।
महा०चरित ७/४२, अनर्घराघव ७/१५१, बा०रा० १०/१०५

है। लाहौर से पाँच अंकों के आंग्लभाषान्तर का पता चलता है परन्तु वह पुस्तक प्राप्त नहीं होती। लगभग २६ पाण्डुलिपियों का भी अनेक पुस्तकागारों की सूचियाँ संकेत देती है। कुछ के तुलनात्मक अध्ययन से इन सबमें पाठभेद की कम सम्भावना स्पष्ट होती है। इधर पण्डित संस्करण ही डॉ० गंगासागर राय के हिन्दी अनुवाद सहित चौखम्बा से १६८४ में प्रकाशित किया गया है। इसमें अनुवाद की अनेक विसंगतियाँ दृष्टिगोचर होती हैं। १६५५ में नाग प्रकाशन, नई दिल्ली से नवीनतम भास्कर-संस्करण प्रकाशित हुआ है। इसके प्रथम भाग में महानाटक की शोधसमीक्षा है तथा द्वितीय भाग सम्यक् पाठ-निर्धारण सहित हिन्दी भाषान्तर से संवलित है।

२. बालभारतम्- इस नाटक के प्रारम्भिक दो अंक ही उपलब्ध होते हैं। महीपाल के दरबार में विरचित बालभारत की अपूर्णता के बारे में मीराशी कहते हैं कि 'या तो हमारे लेखक ने किसी कारणवश से पूरा नहीं किया, या फिर बाद का भाग खो गया है।' यदि नाटक खोया होगा तब तो बात ही दूसरी है, अन्यथा अपूर्णता का कारण केवल विद्रव एवं स्थानपरिवर्तन संभावित किया जा सकता है। बालरामायण की शैली पर महाभारत-कथा के युक्तियुक्त नाट्य रूपान्तरण का उपक्रम इस रचना में दृष्टिगोचर होता है।

प्रस्तावना के अनन्तर राधावेधः नामक प्रथम अंक में व्यास और वाल्मीकि का विचित्र वार्तालाप तथा इक्कीस प्रमुख वीरों के परिचय सहित द्रौपदी स्वयंवर का दृश्य रूपायित होता है। ब्राह्मण वेषधारी अर्जुन भीम की हथेली पर टिकाए गए शार्ङ्गधनुष से लक्ष्यवेध कर देते हैं। दूसरे अनाम (शारिवणः?) अंक में धृतराष्ट्र की द्यूतसभा प्रदर्शित होती है जिसमें युधिष्ठिर सब कुछ हार जाते हैं। फलतः दुःशासन द्रौपदी को वस्त्रहीन करने का असफल प्रयास करता है। भीम उसे और दुर्योधन को मारने की प्रतिज्ञा करते हैं।

बालरामायण में कवि के उपजीव्य वाल्मीकि, भवभूति और मुरारि थे तो बालभारत में व्यास, भास और भट्टनारायण हैं। रचना में कहीं-कहीं पिष्टपेषण तथा वैयाकरणिक प्रमाद[1] भी मिलते हैं। सामान्यतया सूक्तिसौन्दर्य और प्रभावशाली कथोपकथन से रूपक मनोहारी बन पड़ा है। शृङ्गार-वीराद्भुत रसों के इस आपानक से एक छलकती बूँद है - बलराम का परिचय देते बन्दी की उक्ति--

किं किं किं चु चु चुम्बनैर्मु मु मुधा वक्त्राम्बुजस्याग्रतो
दे दे देहि पि पि प्रिये सु सु सुरां पात्र त्रि[2] रे रेवति,

---

१. बालभारतम्, भूमिका पृ० २४, डॉ० गंगासागर राय।

२. यह निर्णयसागरसंस्करण पाठ है। चौखम्बा संस्करण में पात्रेऽत्र पाठ मिलता है।

मा मा मा वि विलम्बनं कु कु कुरु प्रेम्णा हली याचते
यस्येत्थं मदघूर्णितस्य तरसा वाचः स्खलन्त्याकुलाः। १/५२

३. **कर्पूरमञ्जरी**-यह प्राकृतमय सट्टक चार जवनिकान्तरों में विभक्त है। आचार्य हेमचन्द्र की परिभाषा-

विष्कम्भकप्रवेशकरहितो यस्त्वेकभाषया भवति
अप्राकृतसंस्कृतया स सट्टको नाटिकाप्रतिमः।

कर्पूरमञ्जरी पर एकदम खरी उतरती है। आवन्ती प्राकृत, कविकल्पित कथानक, धीरललित नायक, शृङ्गार रस और कैशिकी वृत्ति से युक्त यह विशिष्ट कृति राजशेखर का अविस्मरणीय अवदान है। कर्पूरमञ्जरी के पूर्व केवल भरहुत स्तूपों पर किसी साडक नाट्य का उल्लेख मिलता है। आज तक सट्टकविधा का एकमात्र उपलब्ध निदर्शन यही कृति है।

कर्पूरमञ्जरी के प्रथम जवनिकान्तर में राजा चन्द्रपाल एवं रानी विभ्रमलेखा के समक्ष विदूषक कपिंजल और चेटी विचक्षणा कविता की प्रेरणा वसन्त ऋतु पर शास्त्रार्थ छेड़ते हैं। विदूषक झेंप जाता है और पुनः कौलतन्त्र के साधक भैरवानन्द के साथ उपस्थित होता है। योगी भैरवानन्द अपने चमत्कार दिखलाता हुआ विदर्भनरेश वल्लभराज की पुत्री कर्पूरमञ्जरी को स्नानावस्था में उपस्थित कर देता है। राजा और कर्पूरमञ्जरी परस्पर आसक्त हो जाते हैं। द्वितीय जवनिकान्तर में आकर्षण, विरह, प्रेमपत्र और हिंडोले के नयनाभिराम दृश्य सामने आते हैं। तृतीय जवनिकान्तर में सुरंग के मार्ग से प्रमदवन पहुँच कर राजा कर्पूरमञ्जरी से मिलता है, परन्तु रानी के सहसा आ जाने से उनके मिलन में विघ्न पड़ जाता है। चतुर्थ जवनिकान्तर में भैरवानन्द रानी को दीक्षा देकर चण्डी की प्रतिमा स्थापित कराता है। वह दक्षिणा माँगता हुआ रानी को वचनबद्ध करता है कि वे चक्रवर्ती बनाने के लिए राजा का विवाह घनसारमञ्जरी से होने दें। घनसारमञ्जरी वस्तुतः कर्पूरमञ्जरी है। स्वीकृति मिलने ही दोनों का विवाह सम्पन्न होता है।

इस सट्टक में वैदर्भी, मागधी तथा पांचाली तीनों रीतियाँ पाई जाती हैं-

वच्छोमी तह माअही फरदु णो सा किं च पंचालिआ
रीदीओ विलिहेतु कव्वकुसला जोण्हां चओरा विअ। १/१

सूक्तिसम्पदा अत्यन्त प्रांजल है, उदाहरणार्थ-

- **उक्तिविसेसो कव्वं भासा जा होइ सा होउ।** १/७

(उक्तिविशेषः काव्यं भाषा या भवति सा भवतु)

-हत्थे कंकणं किं दप्पणेण। (पृ० १६)

(हस्ते कङ्कणं किं दर्पणेन)

-सा धरिणी या पतिं रंजेदि। (पृ० २१)

(सा गृहिणी या पतिं रंजयति)

-णिंदणिज्जे वि अत्थे सुउमारा वाणी, लंबत्थणीए विअ एकावली, तुंडिलाए विअ कंचुलिआ, काणाए विअकज्जलसलाआ, ण सुट्ठदरं भादि रमणिज्जा। (पृ० २३)

(निन्दनीयेऽप्यर्थे सुकुमारा वाणी, लम्बस्तन्या इवैकावली, तुन्दिलाया इव कंचुलिका, काणाया इव कज्जलशलाका, न सुष्ठुतरं भाति रमणीया)

-जुज्जदि चंपअलदाए कत्थूरि आकप्पूररसेहिं आलवालपरिपूरणं। (पृ० ४२)

(युज्यते चम्पकलतायाः कस्तूरिआकप्पूररसैः आलवालपरिपूरणं।) आदि।

कर्पूरमञ्जरी में आर्या, शार्दूलविक्रीडित, वसन्ततिलका आदि षोडशविध छन्दों का प्राकृत-रूपान्तरण अत्यन्त मनोहारी है। कुल पद्य संख्या १४४ है। उन्नीसवीं शताब्दी में भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने इस ग्रन्थरत्न का हिन्दी नाट्य रूपान्तर किया था, जो बाँकीपुर से प्रकाशित है। बीसवीं शताब्दी में इसके कई प्रामाणिक संस्करण प्रकाश में आए हैं, प्रमुखतः- १. तेरह पाण्डुलिपियों से तैयार किया गया समीक्षात्मक स्टेनकोनो संस्करण (हारवर्ड ओरिएण्टल सीरीज १६०१), २. घोष संस्करण (कलकत्ता १६४८), ३. निर्णयसागर संस्करण (१६४६), चौखम्बा संस्करण (हिन्दी अनुवाद सहित १६५५)।

४. विद्धशालभञ्जिका-नाट्यशास्त्रीय लक्षणों के निकष पर सटीक उतरने वाली यह एक सफल नाटिका है। इसमें मृगाङ्कावली के साथ विद्याधरमल्ल के पाणिग्रहण से उनके चक्रवर्ती बनने का इतिवृत्त बड़ी कुशलता से चित्रित किया गया है। महामन्त्री भागुरायण की युक्ति से चित्रशाला में स्वप्नगत प्रेयसी की प्रतिकृति शालभञ्जिका को देखकर उसके गले में मोती की माला पहनाने की केन्द्रीय घटना से नाटिका का नामकरण हुआ है।

विद्धशालभञ्जिका का इतिवृत्त इस भाँति है - प्रथम अंक में महामन्त्री भागुरायण की उद्योगशील राजनीति के कारण मृगाङ्कवर्मा नाम से पुत्ररूपधारिणी लाट-राजकुमारी सम्राट् विद्याधरमल्ल के महल में पहुँचा दी जाती है। उस स्वप्नसुन्दरी पर वे आकृष्ट हो जाते हैं। दूसरे अंक में मृगाङ्कवर्मा को अपने मामा का पुत्र मानती रानी, उसका विवाह कुन्तल-राजकुमारी कुवलयमाला से कराना चाहती है। परिहासशील रानी एक नौकर को बहू बनाकर विदूषक के विवाह का स्वाँग रचाती हैं। इधर सम्राट् भी मृगाङ्कवर्मा (मृगाङ्कावली) तथा कुवलयमाला दोनों के सौन्दर्य पर रीझ जाते हैं। तीसरे अंक में विदूषक

एक मनोरंजनपूर्ण युक्ति से अपने पराभव का बदला लेता है। इसी अवसर पर चाँदनी से नहाए कदलीकुंज में सम्राट् और मृगाङ्कावली का मिलन होता है। रानी के वहीं आ जाने से दोनों पुनः बिछड़ जाते हैं। चतुर्थ अंक में मृगाङ्कवर्मा को बालक जानती हुई रानी उसका स्त्रीवेष बनवाकर, परिहास के उद्देश्य से सम्राट् से विवाह करा देती है। किन्तु रानी स्वयं ही छली जाती है। लाटनरेश का दूत आकर सूचित करता है कि हमारे राजा ने पुत्रहीन होने के कारण मृगाङ्कावली को पुत्र घोषित किया था। अब उन्हें पुत्र की प्राप्ति हो गई है। झेंपती हुई रानी कुवलयमाला का विवाह अपने पति के साथ करा देती है।

इस नाटिका में शृङ्गार और हास्य का मनोरम संयोग आद्योपान्त सहृदयों को रुचिकर प्रतीत होता है। १२० रसमय पद्यों में शार्दूलविक्रीडित, आर्या आदि १८ छन्दों का प्रयोग किया गया है। कवि ने पूर्व रचनाओं के भी कई श्लोक विभिन्न प्रसंगों में दुहराए हैं, उदाहरणार्थ-

तद् वक्त्रं यदि मुद्रिता शशिकथा हा हेम सा चेद् द्युति[1] -
स्तच्चक्षुर्यदि हारितं कुवलयैस्तच्चेत् स्मितं का सुधा[2],
धिक् कन्दर्पधनुर्भ्रुवौ च यदि ते[3] किं वा बहु ब्रूमहे
यत् सत्यं पुनरुक्तिवस्तुविरसः सर्गक्रमो वेधसः। १/१४

वक्रोक्ति-प्रवण कथोपकथन अत्यन्त प्रभावकारी है, जैसे -

-न खलु अनुत्पीडितः सहकारपृष्ठग्रन्थिराः रससर्वस्वं मुञ्चति!
(चौखम्बा संस्करण, पृ० ६)

(आम की ढेंपी बिना दबाए रस नहीं निकालती)

-स्वप्नलब्धैर्मोदकैर्ग्रामं निमन्त्रयसे। (पृ० १४)

(सपनों के लड्डू, गाँव भर न्योता)

-कथमिव जीवतः कृकलासाच्छिरः सुवर्णं प्राप्यते। (पृ० ३४)

(गिरगिट के जीते जी कौन उसका सुनहला मस्तक पाएगा)

-प्रथमं सहकारमञ्जरी उद्भवते, पश्चात्तु कलकण्ठी मुद्रां शिथिलयति (पृ० ५८)

(पहले आम की मंजरी निकलती है, बाद में कोयल मौन तोड़ती है।) आदि।

---

१. तच्चेत् स्मितं का सुधा। बा० रा० २/१७

२. ताश्चेद् गिरो धिङ्मधु। वही

३. सा चेत् कान्ति रत्नत्रमेव कनकम्। वही

कुल मिलाकर विद्याधर मल्ल के शब्दों में ही विद्धशालभञ्जिका की प्रशंसा करनी पड़ेगी - अहो! सूक्तियुक्ता वाचः। अहो! हृद्या वैदर्भी रीतिः। अहो! माधुर्यं पर्याप्तम्। अहो! निष्प्रमादः प्रमादः। (पृ० ३०)

नाटिका के पण्डित पत्रिका (वाराणसी १८७२), जीवानन्द (कलकत्ता १८७३), संस्कृत व्याख्या (कलकत्ता १८८३), बी०आर० आप्टे (पूना १८८६), लुई एच० ग्रे (अंग्रेजी रूपान्तरण), घनश्याम संस्कृत व्याख्या (कलकत्ता १९४१), चौखम्बा (हिन्दी अनुवाद संस्करण १९६५ तथा १९१८ की नारायणी व्याख्या सहित हिन्दी अनुवाद, १९७६) आदि संस्करण प्रकाश में आये हैं।

• • • •

नाटिका

– डॉ० रमाकान्त झा

दशरूपक के अनुसार प्रकरण और नाटक के मिश्रण को नाटिका कहते हैं। इसमें प्रकरण से कथावस्तु और नाटक से नायक लिए जाते हैं।[1] इसीलिए नाटिका के नायक प्रख्यात राजा और कथानक कविकल्पनाप्रसूत होते हैं। यह उपरूपक[2] का प्रमुख भेद है। नाट्यशास्त्र[3] में एक स्थल पर रूपक के एक प्रकार 'नाटी' का उल्लेख है, जिसको परवर्ती काल में नाटिका की संज्ञा प्राप्त हुई। भरत के अनुसार नाटी की कथावस्तु प्रख्यात अथवा कविकल्पित हो सकती है। उत्तरवर्ती आचार्यों के अनुसार नाटिका की कथावस्तु प्रकरण की भाँति कविकल्पित होती है। उसका नायक नाटक की भाँति इतिहासप्रसिद्ध तथा धीरललित राजा होता है। इसका प्रधान रस शृङ्गार होता है और इसमें स्त्रीपात्रों की अधिकता होती है। इसमें राजकुल में उत्पन्न प्रगल्भा, गम्भीरा और मानिनी महारानी ज्येष्ठा नायिका हुआ करती है। इसकी नायिका राजकुल में उत्पन्न, भोली-भाली, दिव्यगुणों से अलंकृत तथा अत्यन्त मनोहर होती है। नायिका में अनुरक्त नायक नायिका से विवाह करना चाहता है, किन्तु महारानी के भय से सशंकित होकर उसकी ओर प्रवृत्त होता है। नाटिका चार अङ्कों और कैशिकीवृत्ति से युक्त होती है।[4]

हर्षवर्धन –

बाणभट्ट के 'हर्षचरित' तथा ह्वेनसांग के यात्राविवरण से यह स्पष्ट है कि हर्षवर्धन हूण विजेता प्रभाकरवर्धन और यशोमती के पुत्र थे। इनके बड़े भाई का नाम राज्यवर्धन और बहन का नाम राज्यश्री था। हर्षवर्धन कन्नौज के राजा थे। इनकी राजधानी स्थाण्वीश्वर थी। इनका समृद्ध राज्यकाल ६०६ ई० से ६४८ ई० तक था।[5] हर्ष संस्कृत के मूर्धन्य गद्यकवि बाणभट्ट और चीनी यात्री ह्वेनसांग के आश्रयदाता थे।

---

१. लक्ष्यते नाटिकाप्यत्र सङ्कीर्णान्यनिवृत्तये।
तत्र वस्तु प्रकरणान्नाटकान्नायको नृपः।। दशरूपक ३/४३

२. एम० कृष्णामाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ५४८

३. अनयोश्च बन्धयोगादेको भेदः प्रयोक्तृभिर्ज्ञेयः।
प्रख्यातस्त्वितरो वा नाटी संज्ञाश्रिते काव्ये।। ना०शा० १८/५७

४. दशरूपक, ३/४४-४८

५. कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० ३७६

६. (क) आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५५३
(ख) एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ५८३

बाणभट्ट ने 'हर्षचरित' में हर्ष का यशोगान किया है और ह्वेनसांग का यात्राविवरण हर्ष के शासनकाल का सर्वाधिक मूल्यवान् स्रोत है। 'प्रियदर्शिका', 'रत्नावली', और 'नागानन्द' तीनों हर्ष की निर्विवाद नाट्यकृतियाँ हैं क्योंकि तीनों रूपकों की प्रस्तावना में हर्ष को इनका निपुण रचयिता कहा गया है।[1] विद्वानों के गम्भीर तुलनात्मक अध्ययन का निष्कर्ष भी हर्ष को ही तीनों कृतियों का रचयिता स्वीकार करता है।[2] हर्ष की तीन रचनाओं में 'नागानन्द' नाटक और 'प्रियदर्शिका' तथा 'रत्नावली' उदयन-कथा पर आधारित नाटिकाएँ हैं।

प्रियदर्शिका-

हर्षरचित 'प्रियदर्शिका'[3] चार अङ्कों की नाटिका है। नाट्यकला के विकास की दृष्टि से यह स्पष्ट है कि प्रियदर्शिका हर्ष की प्रथम रचना है।[4] यह वत्सराज उदयन के कथाचक्र से सम्बद्ध एक प्रणयनाटिका है, जिसमें उदयन और प्रियदर्शिका की प्रेमकथा का चित्रण है। इस पर श्रीनिवास सूरि विरचित 'सारास्वाद' नामक टीका अत्यन्त पाण्डित्यपूर्ण है।

कथानक-नाटिका के प्रथम अङ्क में राजा दृढ़वर्मा का कञ्चुकी विनयवसु उसका परिचय देता है। कलिङ्गनरेश दृढवर्मा की कन्या प्रियदर्शिका से विवाह का इच्छुक है, किन्तु दृढवर्मा प्रियदर्शिका का विवाह वत्सराज उदयन के साथ करने का निश्चय करता है। कलिङ्गराज दृढवर्मा पर आक्रमण कर उसे पराजित करता है। कञ्चुकी विनयवसु राजपुत्री प्रियदर्शिका को लेकर दृढवर्मा के मित्र विन्ध्यकेतु का आश्रय प्राप्त करता है। वत्सराज उदयन का सेनापति विजयसेन विन्ध्यकेतु को मारकर विजय के उपहारस्वरूप प्रियदर्शिका को वत्सराज के समक्ष प्रस्तुत करता है। वत्सराज उसे आरण्यका के नाम से वासवदत्ता की परिचारिका के रूप में अन्तःपुर भेज देता है।

द्वितीय अङ्क में वत्सराज विदूषक के साथ मनोविनोद के लिए उपवन में आता है। आरण्यका भी सखी के साथ पुष्पचयन के लिए वहाँ आती है। वहाँ वह अपने अनुराग

---

१. (क) कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० १६३
(ख) कृष्ण चैतन्य, संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास, पृ० ३५८
(ग) श्रीहर्षो निपुणः कविः परिषदप्येषा गुणग्राहिणी। - प्रियदर्शिका, रत्नावली, नागानन्द - प्रस्तावना।

२. रत्नावली भूमिका, देवधर एवं शुरु पु० ६, प्रियदर्शिका भूमिका, काले, पृ० १४

३. सं० आ० वी० कृष्णमाचारी, श्रीरङ्गम् १९०६
पुनः मद्रास से १९३५ में अंग्रजी भूमिका के साथ प्रकाशित

४. डॉ० श्यामवर्मा, संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक, पृ० ३१७

को व्यक्त करती है, जिसे वत्सराज छिप कर सुन लेता है। सखी के चले जाने पर आरण्यका की रक्षा करता है। यहीं नायक-नायिका का प्रथम मिलना होता है। तृतीय अङ्क में वत्सराज तथा आरण्यका की अनुरागजनित व्याकुलता का संकेत मिलता है। आरण्यका की सखी मनोरमा तथा वत्सराज का मित्र विदूषक प्रेमी-प्रेमिका के मिलने की योजना बनाते हैं। इसी उद्देश्य से एक गर्भाङ्क का आयोजन किया जाता है। रानी वासवदत्ता की सहचरी सांकृत्यायनी ने एक नाटक की रचना की है, जिसका विषय वत्सराज और वासवदत्ता का परिणय है। उसमें आरण्यका और मनोरमा को क्रमशः वासवदत्ता और वत्सराज की भूमिका निभानी है। पूर्व योजना के अनुसार मनोरमा के स्थान पर स्वयं वत्सराज अभिनय करने के लिए रङ्गमञ्च पर आता है। अभिनय देखकर वासवदत्ता उद्विग्न हो उठती है। उसे सन्देह होता है और अन्ततः विदूषक की असावधानी से भेद खुल जाता है। चतुर्थ अङ्क में यह ज्ञात होता है कि आरण्यका कारागार में डाल दी गयी है। राजा निराश है। वासवदत्ता चिन्तित है क्योंकि उसे अपनी माँ के पत्र से यह ज्ञात हुआ है कि उसका मौसा दृढवर्मा बन्दी है जिसे वत्सराज की सहायता अपेक्षित है। उसी समय सेनापति विजयसेन कलिङ्गराज की पराजय और दृढवर्मा की पुनः प्रतिष्ठा का शुभ समाचार सुनाता है। तभी घबड़ाती हुई मनोरमा आकर आरण्यका द्वारा विषपान करने की दुःखद सूचना देती है। व्यथित वासवदत्ता के आदेश से आरण्यका वहाँ लायी जाती है क्योंकि वत्सराज उसकी चिकित्सा करके उसे बचा सकता है। दृढवर्मा का कञ्चुकी अपनी राजकुमारी को पहचान लेता है। वत्सराज के मंत्रोपचार से आरण्यका की चेतना लौट आती है। रानी वासवदत्ता अपनी मौसेरी बहन प्रियदर्शिका को पहचान कर वत्सराज उदयन के साथ उसका विवाह करा देती है।

रत्नावली

रत्नावली[1] हर्ष की सफल नाटिका है। इसकी प्रसिद्धि अपने नाटकीय गुणों के कारण प्राचीन काल से ही चली आ रही है। शास्त्रीय पद्धति पर लिखित इस रूपक की ख्याति का ज्ञान दशरूपक के विशिष्ट विश्लेषण से होता है। इस नाटिका की कथावस्तु का आधार भी वत्सराज उदयन का चरित है। नाट्यशास्त्रियों ने शास्त्रीय नियमों के उदाहरण रूप में रत्नावली का भरपूर उपयोग कर इसे विशेष आदर दिया है।

कथानक - प्रस्तावना में वत्सराज का मंत्री यौगन्धरायण रानी वासवदत्ता के जलने का अफवाह फैला कर सिंहलनरेश की राजकुमारी रत्नावली को उदयन के साथ विवाह के लिए माँगता है क्योंकि भविष्यवक्ताओं ने रत्नावली को उदयन की पत्नी बनने तथा तत्पश्चात् उसके चक्रवर्ती होने का संकेत दिया है। सिंहलनरेश रत्नावली को मंत्री वसुमति के साथ

१. बम्बई, १८९५। चौखम्बा सुरभारती ग्रन्थमाला ३१, वाराणसी १९८१ में पुनः प्रकाशित।

उदयन के पास भेजता है, किन्तु समुद्र में जहाज के नष्ट हो जाने पर कौशाम्बी का एक वणिक् रत्नावली को बचाकर मन्त्री यौगन्धरायण को देता है। यौगन्धरायण उसे सागरिका के नाम से वासवदत्ता को सौंप देता है। कामोत्सव के अवसर पर वृक्ष की ओट से सागरिका उदयन को देखकर उस पर मुग्ध हो जाती है। जिसके लिए वह भेजी गई है, उस उदयन को वह जान लेती है।

द्वितीय अङ्क के प्रवेशक से सागरिका की विरहवेदना का संकेत मिलता है। वह लतागृह में मनोविनोद के लिए वत्सराज उदयन का चित्र बनाती है। सखी सुसंगता चित्र में उदयन के पास सागरिका का चित्र बना देती है। वह उदयन के प्रति अपने प्रेम को स्वीकार करती है। एक सारिका दोनों सखियों की गुप्त बातें सुन लेती है। उसी समय अस्तबल से एक वानर भाग निकलता है। उसके भय से दोनों वहाँ से चली जाती हैं। चित्रफलक वहीं छूट जाता है। राजा और विदूषक वहाँ आते हैं। सारिका दोनों सखियों की बातों को दुहराती है। राजा और विदूषक उसे सुन लेते हैं। उन्हें चित्रफलक भी मिल जाता है। दोनों सखियाँ पुनः वहाँ चित्रफलक लेने आती हैं। सुसंगता के प्रयास से प्रेमी-प्रेमिका का मिलन होता है। इसी बीच राजा को ढूँढती हुई वासवदत्ता वहाँ आ जाती है और चित्रफलक को देखकर वस्तुस्थिति को समझ जाती है। वह कुपित होकर लौट जाती है।

तृतीय अङ्क में विदूषक दोनों प्रेमियों को मिलाने की योजना बनाता है जिसके अनुसार रानी के वेष में सागरिका और दासी काञ्चनमाला के वेष में सुसंगता को राजा से मिलना है। परन्तु यह उपाय छिपकर सुन लिया जाता है और वासवदत्ता स्वयं संकेत स्थान पर पहुँच जाती है। वह राजा के प्रणय-निवेदन को सुनकर उसे फटकारती है। सागरिका वहाँ विलम्ब से पहुँचती है। सागरिका राजा की दशा और समस्त बातों को जानकर ग्लानिवश लतापाश से फाँसी लगाकर मर जाना चाहती है। वह विदूषक को अपने गले से रत्नावली उतार कर दे देती है। राजा रत्नावली को बचा लेता है। वासवदत्ता पुनः वहाँ आ जाती है और प्रेमी-प्रेमिका को साथ देखकर क्रोध से सागरिका तथा विदूषक को बन्दी बनाकर ले जाती है।

चतुर्थ अङ्क में ऐन्द्रजालिक के अग्निदाह का प्रभावशाली दृश्य है। अन्तःपुर में आग लगने की माया की जाती है। आकुल वासवदत्ता यह रहस्य प्रकट करती है कि सागरिका अन्तःपुर के गर्भगृह में बन्दी है। राजा उसको बचाने के लिए दौड़ता है और सागरिका के साथ लौटता है। मन्त्री वसुमति सागरिका के रूप में राजकुमारी रत्नावली को पहचान लेता है। यौगन्धरायण वहाँ आकर अपनी कूटनीति को स्वीकार करता है। वासवदत्ता प्रसन्नतापूर्वक वत्सराज उदयन को रत्नावली से विवाह करने की अनुमति देती है।

मूल्याङ्कन –

उदयन-कथा पर आधारित उपर्युक्त दोनों नाटिकाएँ विषय एवं स्वरूप आदि की दृष्टि से प्रायः समान हैं। दोनों ही चार अङ्कों की नाटिकाएँ हैं। उदयन, वासवदत्ता, वसन्तक आदि मुख्य-मुख्य पात्र समान हैं। मुख्य घटना और परिस्थितियाँ दोनों में एक सी हैं। हर्ष ने दोनों नाटिकाओं के प्रारम्भ में 'लोके हारि च वत्सराजचरितम्' लिखकर दोनों नाटिकाओं के लिए उदयनकथा का चयन एक लोकप्रिय कथा के रूप में किया है। यद्यपि हर्ष ने उदयन कथा को नाटकीय रूप देने में अपने पूर्ववर्ती अनेक काव्यों से भी प्रेरणा ग्रहण किया है, तथापि मुख्यतः यहाँ 'बृहत्कथा' से ही कथावस्तु का चयन किया गया है।[1] हर्ष की दोनों नाटिकाओं में प्रियदर्शिका की अपेक्षा रत्नावली का कथानक कुछ विस्तृत है, किन्तु दोनों में उदयनकथा बृहत्कथा की बन्धुमती और भास की पद्मावती की कथा के मिश्रण के रूप में उपनिबद्ध है। हर्ष ने कथानक की गत्यात्मकता, रसात्मकता और प्रभावात्मकता की श्रीवृद्धि के उद्देश्य से कुछ मौलिक कल्पनाएँ की हैं।

रत्नावली के मानभङ्ग, कामपूजन, चित्रविनोद, छद्मवेष में अभिसार तथा ऐन्द्रजालिक प्रयोग इसी तरह की घटनाएँ हैं। वस्तुतः दोनों नाटिकाएँ उदयन की ऐतिहासिक कथा पर आधारित होते हुए भी काल्पनिक अधिक हैं।[2]

रचनाक्रम की दृष्टि से प्रियदर्शिका प्रथम और रत्नावली अन्तिम रचना है। प्रियदर्शिका में हर्ष की नाट्यकला का आरम्भिक प्रयास परिलक्षित होता है। रत्नावली में हर्ष की काव्यप्रतिभा को पूर्ण विकास प्राप्त हुआ है। दोनों नाटिकाएँ एक ही वृत्त पर समान शिल्पविधान से उपनिबद्ध हैं, किन्तु दोनों स्वतन्त्र रूप में रसास्वादन तथा अनुरञ्जन में सर्वथा समर्थ हैं।[3] प्रियदर्शिका की कथावस्तु तथा वस्तुविधान दोनों ही संक्षिप्त और सुगठित है। दोनों नाटिकाओं के पात्र वैयक्तिक गुणों से युक्त होने की अपेक्षा 'टाइप' अधिक है। धीरललित उदयन ललित तथा विलासी अधिक है, धीर कम। नायक उदयन रोमांटिक प्रेमी है। वासवदत्ता प्रभुता के अहम् की प्रतिकृति है। रत्नावली का चरित्र कोमलता, उदारता तथा वैयक्तिकता से अनुप्राणित है। रत्नावली का प्रणय रोमाञ्चक होकर भी संयत एवं मर्यादित है। उसके कार्यकलाप आभिजात्य के सौरभ से सुगन्धित हैं।[4] रत्नावली के मार्मिक चरित्र का स्पर्श पाकर हर्ष का प्रणयचित्रण हृदयस्पर्शी तथा सफल बन सका है।

---

१. प्रियदर्शिका-काले, भूमिका, पृ० १४-१७

२. डा० श्याम शर्मा, संस्कृत के ऐताहासिक नाटक, पृ० ३२५

३. दासगुप्ता, ए हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर, भाग १, पृ० २६१

४. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५६२

हर्ष भी कालिदास की भाँति प्रकृति एवं मानव में पूर्ण सामञ्जस्य के पक्षपाती हैं। प्रणय नाटिका के प्रणेता के रूप में हर्ष की सफलता निःसंदिग्ध है। हर्ष में काव्य प्रतिभा है, कल्पना शक्ति है अतः हर्ष कवि के रूप में विशेष सफल हैं, नाटककार के रूप में कम[1]। आचार्य बलदेव उपाध्याय की दृष्टि में हर्ष काव्यकला तथा नाट्यकला-उभय दृष्टियों से एक सफल कवि तथा नाटककार हैं।[2] हर्ष की शैली सरल, सुबोध, कोमल तथा स्निग्ध है। कवि के रूप में उनकी सफलता का प्रमुख कारण उनकी रसिकता है। अतः उनके प्रणयस्थल रसप्रवण हो सके हैं। हर्ष की वर्णनचातुरी इतनी सशक्त एवं विशद है कि सम्पूर्ण दृश्य आँखों के समक्ष प्रत्यक्ष हो उठता है। रत्नावली के सौन्दर्य का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

किं पद्मस्य रुचिं न हन्ति नयनानन्दं विदधत्ते न किं,
वृद्धिं वा भष केतनस्य कुरुते नालोकमात्रेण किम्।
वक्त्रेन्दौ तव सत्ययं यदपरः शीतांशुरुज्जृम्भते,
दर्पः स्यादमृतेन चेदिह तवाप्यस्त्येव बिम्बाधरे।।

हर्ष की भाषा परिनिष्ठित और अर्थगर्भित है।[3] प्रियदर्शिका-नाटिका में अलङ्कार का सन्निवेश अर्थ के अभिव्यञ्जन में विशेष उपादेय है। दीर्घिका पर उद्यान देवता की दृष्टि की उत्प्रेक्षा अत्यन्त मनोरम है -

उद्यानदेवतायाः स्फुटपङ्कजकान्तिहारिणी स्वच्छा।
दृष्टिरिव दीर्घिकेयं रमयति मां दर्शनेनैव।। (प्रिय. २/५)

विकसित कमल के समान कान्तिवाली तथा स्वच्छ दीर्घिका (वापी) ऐसा लगती है मानो यह उद्यानदेवता की आँख हो जो दर्शनमात्र से प्रसन्न कर रही है। मालोपमा के द्वारा प्रिया के वियोग में प्रिय की विरहावस्था का चित्रण सहृदयमानस को विशेषरूप से प्रभावित करता है-

हृत्वा पद्मवनद्युतिं प्रियतमेवेयं दिनश्रीर्गता
रागोऽस्मिन्मम चेतसीव सवितुर्बिम्बेऽधिकं लक्ष्यते।
चक्राह्वोऽहमिव स्थितः सहचरीं ध्यायन्नलिन्यास्तरे
सञ्जाताः सहसा ममेव भुवनस्याप्यन्धकारा दिशः।। (प्रिय० २/१०)

---

१. डॉ० सुनीति कुमार चटर्जी, इण्डियन ड्रामा, पृ० २१
२. संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५६४
३. कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० १८०

जिस प्रकार दिनश्री कमलवन की शोभा लेकर चली जाती है, उसी प्रकार कमलों के हरण द्वारा कमलाकर की शोभा का अपहरण कर प्रेयसी आरण्यका चली गयी, हमारा हृदय रक्त सूर्यमण्डल की भाँति रागयुक्त हो रहा है। चकवी का ध्यान करता हुआ इस वापी के तट पर बैठा हुआ हूँ। जिस प्रकार संसार में चारों ओर अन्धकार छा रहा है उसी प्रकार मेरे भी चारों ओर निराशा व्याप्त होती जा रही है।

रत्नावली में नाटककार की अलङ्कारयोजना उसकी वर्णनशैली में चार चाँद लगाती है। नायिका सागरिका के रूप-सौन्दर्य को देखकर स्वयं विधाता के भी विस्मित होने का अतिशयोक्तिपूर्ण वर्णन द्रष्टव्य है-

दृशः पृथुतरीकृता जितनिजास्त्रपत्रत्विष-
चतुर्भिरपि साधु साध्विति मुखैः समं व्याहृतम्।
शिरांसि चलितानि विस्मयवशाद् ध्रुवं वेधसा,
विधाय ललनां जगत्त्रयललामभूतामिमाम् ।। (रत्ना० २/१६)

त्रिभुवन की इस अनुपम सुन्दरी की रचना कर ब्रह्मा ने आश्चर्यचकित होकर अवश्य ही अपने आश्रय कमलदल की कान्ति को जीतने वाले अपने नेत्रों को फैलाया होगा। अपने चारों मुखों से एक साथ साधुवाद किया होगा और प्रशंसा में अपने सिर हिलाये होंगे।

राजशेखर

राजशेखर अपने को वाल्मीकि, भर्तृमेण्ठ और भवभूति का अवतार मानते हैं।[1] इन्होंने अपना जीवनवृत्त अपने नाटकों की प्रस्तावना में दिया है। ये यायावर वंश में उत्पन्न हुए थे।[2] राजशेखर अकाल जलद के प्रपौत्र, दर्दुक और शीलवती के पुत्र थे। इन्होंने अवन्तिसुन्दरी नाम की चौहानवंशीय विदुषी कन्या से विवाह किया था। राजशेखर को कवित्व की दिव्य प्रतिभा अपने पूर्वजों से उत्तराधिकार के रूप में प्राप्त हुई थी। ये महाराष्ट्र, संभवतः विदर्भ के निवासी थे, किन्तु कान्यकुब्जनरेश के उपाध्याय पद पर प्रतिष्ठित थे। इनके आश्रयदाता राजा का नाम महेन्द्रपाल था जो कन्नौज के प्रतिहारवंशी नरेशों में विशेष गौरवशाली था। ये महेन्द्रपाल के पुत्र महीपाल के भी सभासद थे। अतः इन राजाओं के समकालीन होने के कारण इनका समय ९वीं शती का अन्त तथा १०वीं शती का प्रारम्भ माना जाता है।[3] राजशेखर ने भवभूति का उल्लेख किया है और धनञ्जय तथा सोमदेव ने

---

१. बभूव वल्मीकभुवः पुरा कविस्ततः प्रपेदे भुवि भर्तृमेण्ठताम्।
स्थितः पुनर्यो भवभूतिरेखया स वर्तते सम्प्रति राजशेखरः।। बालरामायण १/१६

२. यायावरीयः संक्षिप्य मुनीनां मतविस्तरः। का०मी०
फुल्ला कीर्तिर्भ्रमति सुकवेर्दिक्षु यायावरस्य। बालरामायण १/६

३. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६०१।

राजशेखर को उद्धृत किया है। अतः कृष्णमाचारी और कृष्णचैतन्य दोनों विद्वानों ने इनका समय ९०० ई० माना है।

कीथ महोदय राजशेखर को महाराष्ट्र के क्षत्रिय वंश में उत्पन्न कवि मानते हैं,[1] परन्तु उनकी यह मान्यता सत्य से परे हैं, क्योंकि राजशेखर कान्यकुब्जनरेश महेन्द्रपाल के आचार्य थे - "देवो यस्य महेन्द्रपाल नृपतिः शिष्यो रघुग्रामणीः।" (बालरा० १/१८)। राजकुल के गुरु होने से राजशेखर का ब्राह्मण होना असंदिग्ध है। बोधायनधर्मसूत्र (४/१/१) के अनुसार यायावर गृहस्थ ब्राह्मण का एक भेद है।[2]

ग्रन्थ -

राजशेखर ने स्वयं अपने षट् ग्रन्थों का उल्लेख किया है।[3] इनमें एक 'हरविलास' उपलब्ध नहीं है। शेष पाँच-बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभञ्जिका, कर्पूरमञ्जरी और काव्यमीमांसा उपलब्ध हैं। काव्यमीमांसा अलंकारशास्त्र से सम्बद्ध है। शेष चार रूपक हैं।

विद्धशालभञ्जिका-

राजशेखर रचित 'विद्धशालभञ्जिका'[4] चार अङ्कों की एक नाटिका है। इसमें एक प्रणयकथा को नाटकीय रूप दिया गया है। इसके प्रथम अङ्क में विद्याधर मल्ल का सामन्त चन्द्रवर्मा अपनी पुत्री मृगाङ्कावली को पुत्र के कपटवेष में अपने राजा की राजसभा में भेजता है। राजा विद्याधर मल्ल ब्राह्म मुहूर्त में स्वप्न देखता है कि किसी सुन्दरी ने उसके गले में मोतियों की माला डाल दी है। वह सुन्दरी उसकी स्मृति में घूम रही है। राजा चित्रवीथी में शालभञ्जिका के रूप में उसे देखता है। द्वितीय अङ्क में रानी उस छद्म युवक के साथ कुन्तल की कुवलयमाला के विवाह का प्रस्ताव करती है। धात्रेयी विदूषक को अम्बरमाला नाम की युवती से विवाह करा देने का वचन देती है। विदूषक के साथ राजा उद्यान में क्रीड़ा करती मृगाङ्कावली को देखता है।

तृतीय अङ्क में ज्ञात होता है कि राजा ने जिसको स्वप्न समझा है, वह उसके मन्त्री भागुरायण द्वारा कल्पित यथार्थ घटना है। मन्त्री यह जानता है कि नायिका का पति चक्रवर्ती होगा। विदूषक छल करने वाली मेखला को छल द्वारा दण्डित करता है। वह एक स्त्री को छिपाकर उसके द्वारा मेखला को यह चेतावनी दिलाता है कि यदि वह किसी ब्राह्मण

---

१. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६२७; संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास, पृ० ३७७
२. कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २४४
३. डॉ० गंगा सागर राय, बालरामायण भूमिका (१९८४), पृ०५
४. विद्धि नः षट् प्रबन्धान् - बालरामायण १/१२
५. पूना १८८६, विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला सं० १२५, वाराणसी, १९८५। इससे पूर्व जीवानन्द भट्टाचार्य की टीका के साथ १८८३ ई० में सरस्वती प्रेस, कलकत्ता से इसका प्रकाशन हुआ है।

के अङ्गों के बीच नहीं चलेगी, तो उस पर विपत्ति अवश्य आयेगी। रानी विदूषक से इस समारोह को समाप्त करने का आग्रह करती है। समारोह के बाद विदूषक अपने कपट-व्यापार को स्वीकार करता है। इससे रानी रुष्ट हो जाती है। उसके बाद विदूषक के साथ राजा नायिका से मिलता है।

चतुर्थ अङ्क में रानी राजा को सबक सिखाने के लिए एक छल करती है। वह राजा को प्रेरित कर उस छद्मवेशी लड़के की बहन के साथ विवाह करने के लिए मना लेती है। विवाह सम्पन्न होता है। चन्द्रवर्मा के यहाँ से समाचार मिलता है कि उसको पुत्र हुआ है। उसने रानी से प्रार्थना की है कि पुत्रवेषधारी उसकी पुत्री का विवाह राजा से कर दिया जाय। पराजित रानी गरिमापूर्वक मृगाङ्कावली का विवाह राजा से करा देती है। उसी समय शुभ समाचार मिलता है कि अन्तिम विद्रोही पराजित हुआ है और राजा का आधिपत्य सर्वत्र स्थापित हो गया है।

मूल्याङ्कन –

राजशेखर ने 'विद्धशालभञ्जिका' में नाटिका के अनुकूल प्रणयकथा को रूपायित किया है। इसमें 'रत्नावली' के घटनाचक्र का अनुकरण है। इसमें भी रत्नावली की भाँति नायिका से विवाह होने पर राजा के चक्रवर्ती होने का सङ्केत है। राजशेखर पात्रों की सर्जना में हर्ष के समान सशक्त नहीं हैं। प्रस्तुत नाटिका के नायक विद्याधर मल्ल का आदर्श रत्नावली का नायक उदयन अवश्य है, किन्तु धीरललित उदयन की अपेक्षा वह रूक्ष और अरोचक है। ज्येष्ठा नायिका रानी में वासवदत्ता के समान अनुराग और गरिमा का अंभाव है। अमात्य यौगन्धरायण का प्रतिरूप मंत्री भागुरायण कूटनीति में अशक्त सा प्रतीत होता है। यद्यपि राजशेखर की यह नाटिका मात्र नाटिका-लेखन की परम्परा का निर्वाह करती है, तथापि उनकी अभिव्यञ्जना-क्षमता अस्वीकारी नहीं जा सकती। वे अन्य परवर्ती नाटककारों की भाँति ललित एवं आकर्षक पद्यरचना में समर्थ हैं। विरहिणी नायिका की आकुल अवस्थाओं का सूक्ष्म चित्रण निम्न पद्य में द्रष्टव्य है –

चन्द्रं चन्दनकर्दमेन लिखितं सा मार्ष्टि दष्टाधरा,
वन्द्यं निन्दति यच्च मन्मथमसौ भङ्क्त्वाग्रहस्ताङ्गुरीः।
कामः पुष्पशरः किलेति सुमनोवर्गं लुनीते च यत्,
तत् काम्या सुभग त्वया वरतनुर्वीतूलता लम्भिता।। वि०शा०भ० २/२०

अर्थात् ओष्ठ काटती हुई वह चन्दन के लेप से अङ्कित चन्द्रमा को मिटा देती है, उंगलियाँ चटकाती हुई वन्दनीय कामदेव की निन्दा करती है। यह सोचकर कि कामदेव पुष्पबाण हैं, वह फूलों को नोच डालती है। हे सुन्दर ! तुम्हारी प्यारी वह सुन्दरी तुम्हारे कारण पागल-सी हो गई है।

इस नाटक में चूलिका के पुनः पुनः प्रयोग से शृङ्गारित वर्णन के द्वारा प्रेक्षकों का पर्याप्त मनोरञ्जन हुआ है। इसमें नाटिका के अनुरूप रङ्गमञ्च पर सङ्गीत का आयोजन भी है। निष्कर्षतः नाटिका शृङ्गार रस से आपूर्ण है। नायिका के आङ्गिक सौष्ठववर्णन और प्रकृति का शृङ्गारिक विनियोग विशेष चमत्कारी है।[1]

विद्धशालभञ्जिका की वर्णनशैली प्राञ्जल है। छोटे-छोटे पदों में भावाभिव्यक्ति मनोरम है। शुद्धबुद्धि को कामधेनु के रूप में वर्णन करने वाला निम्न पद्य अत्यन्त हृदयग्राही है-

श्रियः प्रसूते विपदो रुणद्धि यशांसि दुग्धे मलिनं प्रमार्ष्टि।
संस्कारशौद्ध्येन परं पुनीते शुद्धा हि बुद्धिः किल कामधेनुः।।

(वि०शा०भ० १/८)

प्रकृष्ट बुद्धि सबसे उत्तम है। कहा गया है-समस्त वैभव को उत्पन्न करती है, विपत्तियों को रोकती है, यश को देती है, पाप को नष्ट करती है और संस्कारों को शुद्ध कर परम पवित्र करती है। शुद्धबुद्धि निश्चय ही कामधेनु है।

नायिका के कन्दुकक्रीडा-वर्णन में अनुप्रासमयी शाब्दी ध्वनि की मनोरम छटा दर्शनीय है -

अमन्दमणिनूपुरक्वणनचारु चारिक्रमं
झणूजझणिति मेखलं स्खलिततारहारच्छटम्।
इदं तरलकङ्कणावलिविशेषवाचालितं
मनो हरति सुभ्रुवः किमपि कन्दुकक्रीडितम्।। (२/६)

मणिमय नूपुरों की अमन्द ध्वनि से पैरों की गति सुन्दर लग रही है। करधनी की क्षुद्र घण्टिकाओं से झनझन की आवाज निकल रही है। गले में मुक्ताहार हिल रहा है और चंचल कंकणों से मधुर ध्वनि निकल रही है। हे सुभ्रु, इस प्रकार की तुम्हारी कन्दुकक्रीडा मन को हर रही है।

---

१. कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २४८

२. डॉ० रामजी उपाध्याय, मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ० ८७-८८

बिल्हण

बिल्हणमूल रूप से कश्मीर के निवासी थे। 'खुनमुह' नामक बिल्हण का गाँव श्रीनगर से छः मील दूर है। वहीं हर्षीश्वर नामक तीर्थ है। बिल्हण कश्मीर से चलकर कन्नौज, प्रयाग और काशी होते हुए गुजरात के मुख्य नगर अणहिल्लपुर पाटन में चालुक्यनरेश त्रिभुवनमल्ल (१०६४-१०६४ ई०) की राजसभा में १०६० ई० के आसपास आए और इन्हीं की प्रशस्ति में 'कर्णसुन्दरी' नाटिका की रचना की। इन्होंने 'विक्रमाङ्कदेव चरित' महाकाव्य की रचना १०८५ ई० के आसपास की।[1] बिल्हण का जन्म १०३० ई० में और मृत्यु ११०० ई० के लगभग हुई।[2] बिल्हण ११वीं शती की विभूति थे।

कर्णसुन्दरी-

बिल्हण की 'कर्णसुन्दरी'[3] लगभग १०८०-९० ई० के समय की रचना है। ऐसा लगता है कि इसकी रचना अहिण्डवाड के त्रैलोक्यमल्ल के सम्मान में और उसकी वृद्धावस्था में कर्णाटराज जयकेशी की पुत्री मियाणल्ल देवी के साथ उसके विवाह का उत्सव मनाने के लिए की गई थी।[4] इस नाटिका के नायक स्वयं भीमदेव के पुत्र कर्ण हैं, जो प्रसिद्ध चालुक्यनरेश नयसिंह सिद्धराज के पिता थे। यह नाटिका रत्नावली से प्रभावित है। इसमें कर्ण का विवाह किसी विद्याधर-राजपुत्री से सम्पन्न होने का वर्णन है। इसका अभिनय किसी जैन मन्दिर में ऋषभदेव (प्रथम तीर्थङ्कर) के महोत्सव से हुआ था। इसकी पुष्टि नाटिका के नान्दीनाठ 'जिनः पातु वः' से होती है, जिसमें अर्हत् की स्तुति है।[5] चार अङ्कों की 'कर्णसुन्दरी' रत्नावली की शैली पर रचित नाटिका है, नाटिका का कथानक इस प्रकार है-

महाराज कर्ण का मन्त्री सम्पत्कर महारानी के संरक्षण में रहती हुई नायिका का विवाह राजा कर्ण से कराना चाहता है। नायिका है स्वर्ग से उतरी हुई विद्याधरी जिसे राजा ने लीलोद्यान में उतरते देखा है। राजा पहले स्वप्न में और फिर चित्र में देखता है। वह उस पर अनुरक्त हो जाता है। रानी को राजा और कर्णसुन्दरी की पारस्परिक आसक्ति का आभास मिलता है। वह ईर्ष्यावश नायक-नायिका के मिलन में बाधा उपस्थित करती है। रानी एक बार कर्णसुन्दरी का वेष धारण कर राजा के पास पहुँचती है। राजा उसे

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६२५

२. डॉ० रामजी उपाध्याय, मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ० १४६

३. काव्यमाला सं० ७, १८८८ में प्रकाशित

४. कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २७०।

५. डा० रामजी उपाध्याय, मध्यमालीन संस्कृत नाटक, पृ० १४७

प्रियतमा कर्णसुन्दरी समझ कर उसका आलिङ्गन करता है। रानी अपने रूप में प्रकट होकर राजा पर क्रोध प्रकट करती है। राजा रानी के पैरों में गिरकर क्षमा याचना करता है। रानी पुनः एक दूसरी कपट-योजना भी बनाती है किन्तु इस योजना में वह धोखा खाती है। इस योजना में रानी कपटपूर्वक कर्णसुन्दरी के स्थान पर अपने भागिनेय को कर्णसुन्दरी की वेषभूषा में सजाकर उसके साथ राजा का विवाह कराना चाहती है, परन्तु मन्त्री चतुरता से उस कपटबाला के स्थान पर वास्तविक नायिका कर्णसुन्दरी को प्रस्तुत करता है और उसी के साथ रानी राजा का विवाह करा देती है। रानी की कपट-योजना निष्फल हो जाती है। अन्त में परम्परा के अनुसार राजा की विजय का सुखद समाचार आता है और रानी की अनुमति से नायक-नायिका का मधुर मिलन होता है।

मूल्याङ्कन –

'कर्णसुन्दरी' नाटिका स्पष्टतः कालिदास, हर्ष और राजशेखर से गृहीत कथावस्तु का मिश्रण है। इसमें गजनी की राजसेना के कर्ण द्वारा पराजित होने के ऐतिहासिक तथ्य का भी संकेत है।[1] इस नाटिका में रङ्गमञ्च पर अङ्क भाग में भी कार्यव्यापार का अभाव इसकी संवैधानिक त्रुटि है। इसमें पद्यों की बहुलता के कारण नाटकीय व्यापार में शिथिलता है। संवाद पद्यबाहुल्य के कारण अस्वाभाविक प्रतीत होते हैं। भाषा-प्रयोग के नियम में भी शिथिलता है। कहीं-कहीं नायिका, चेटी आदि पात्र प्राकृत के स्थान पर संस्कृत बोलते हैं। अनेक स्थानों पर एकोक्ति का प्रयोग मिलता है। इसमें दो बार कपटवेष के द्वारा कपट नाटक का आयोजन किया गया है। भावात्मक उथल-पुथल का मार्मिक चित्रण कर्णसुन्दरी के वेष में रानी से नायिका के भ्रम में राजा के संकेतस्थान के प्रसंग में हुआ है –

जयति धनुरधिज्यं भ्रूविलासः स्मरस्य स्पृशति किमपि जैत्रं तैक्ष्ण्यमक्ष्णोः प्रचारः।
अपि च चिबुकचुम्बीश्यामलाङ्ग्यास्तनोति स्तनकलशनिवेशपेशलश्रीः पृथुत्वम्।।

-कर्णसुन्दरी ३/३०

मदनबाल सरस्वती

मदनबाल सरस्वती धारा के परमारनरेश अर्जुनवर्मा के गुरु थे। इनके द्वारा रचित 'पारिजातमञ्जरी' नाटिका की प्रस्तावना में इन्हें गौडवंशी गंगाधर का वंशज कहा गया है।[2] अर्जुनवर्मा के तीन ताम्रपत्र भी उपलब्ध हैं, जिनका समय क्रमशः १२११, १२१३ तथा १२१५ ई० है।[3] इन सभी ताम्रपत्रों के रचयिता भी मदन कवि ही हैं। मदन कवि राजगुरु होने के साथ ही अर्जुनवर्मा के उपाध्याय (शिक्षक) भी थे। इनके वैदुष्य के फलस्वरूप इन्हें

१. कर्णसुन्दरी, ४/२२
२. पारिजातमञ्जरी-प्रस्तावना, पृ० २
३. एपिग्राफिया इण्डिका, भाग ७, पृ० ९८

'बाल सरस्वती' की उपाधि मिली थी।[1] मदन कवि प्रसिद्ध जैन विद्वान् आशाधर के शिष्य थे। इनका समय १३वीं शती है।[2]

पारिजातमञ्जरी-

मदनकविप्रणीत 'पारिजातमञ्जरी' चार अङ्कों की नाटिका है जिसके केवल दो अङ्क धारा में शिला पर उल्लिखित होने से सुरक्षित हैं।[3] यह नाटिका सर्वप्रथम स्व० श्री काशीनाथ लेले को १९०३ ई० में मालव नरेशों की प्राचीन राजधानी धारा की भग्नावशेष भोजशाला से एक शिलाखण्ड के रूप में प्राप्त हुई। इसका सर्वप्रथम सम्पादन हुल्टज ने एपिग्राफिया इण्डिका भाग ८ में विस्तृत भूमिका के साथ किया। तत्पश्चात् विक्रम स्मारक समिति ने इसे मूल रूप में और अब भोजप्रकाशन, धार ने १९५२ में प्रकाशित किया है।[4] इसका सर्वप्रथम अभिनय वसन्तोत्सव के अवसर पर धार के शारदा भवन में हुआ। इसका दूसरा नाम 'विजयश्री' है।[5]

कथानक-

'पारिजातमञ्जरी' में नायक अर्जुनवर्मा और नायिका पारिजातमंजरी की प्रेमकथा वर्णित है। प्रथम अङ्क में वर्णन है कि जब अर्जुन वर्मा चालुक्यराज भीमदेव द्वितीय को पराजित करता है, तब उसके वक्षःस्थल पर एक माला गिरती है और वह एक सुन्दरी युवती के रूप में बदल जाती है। वह सुन्दरी चालुक्यराज की कन्या है। अर्जुनवर्मा उस सुन्दरी को उद्यानपाल कुसुमाकर को देता है। सुन्दरी पारिजातमंजरी कुसुमाकर की पत्नी वसन्तलीला के साथ उद्यान में रहने लगती है। तत्पश्चात् राजा-रानी द्वारा आयोजित वसन्तोत्सव मनाया जाता है।

द्वितीय अङ्क में रानी सर्वकला ने आम्रतरु एवं माधवीलता के विवाह का आयोजन किया है। इसी अवसर पर वसन्तलीला नायिका और नायक के मिलने की व्यवस्था करती है। उसने तरुपल्लवों में पारिजातमञ्जरी को इस प्रकार छिपाया है कि रानी के तांटक नामक कर्णाभूषण में प्रतिबिम्बित पारिजातमञ्जरी को राजा देख सके। रानी को इस रहस्य का पता लग जाता है और वह क्रुद्ध होकर चली जाती है। वसन्तलीला के प्रयास से विरहाकुल प्रेमी-प्रेमिका का मिलन होता है, किन्तु उसी समय कनकलेखा आकर राजा

---

१. पारिजातमंजरी भूमिका, पृ० २

२. डॉ० श्याम शर्मा, संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक, पृ० ४३५; कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २७१

३. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६४७

४. डॉ० श्याम शर्मा, संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक, पृ० ४३५

५. पारिजातमञ्जरी प्रस्तावना, पृ० २

को रानी का व्यंग्य संदेश देती है। राजा पारिजातमंजरी को सान्त्वना देकर मानिनी रानी को मनाने चला जाता है। पारिजातमञ्जरी ग्लानिवश दुःखी होकर आत्महत्या का निश्चय करती है किन्तु वसन्तलीला उसे बचा लेती है। अन्ततोगत्वा पारिजातमंजरी का विवाह राजा के साथ सम्पन्न होता है।

मूल्यांकन-

'पारिजातमञ्जरी' शृङ्गारप्रधान नाटिका है। इसके कुसुमाकर, वसन्तलीला आदि पात्र कल्पित हैं, किन्तु इसके नायक-नायिका दोनों ही ऐतिहासिक व्यक्ति हैं। इसकी कथावस्तु मूलतः कल्पित है, किन्तु प्रासंगिक घटनाओं के संकेत ऐतिहासिक हैं। इसका कथानक विक्रमाङ्कदेवचरित, राजतरङ्गिणी और हरिवंश के पारिजातमंजरी नामक प्रसंग में वर्णित प्रेमकथा से संजोया गया है, फिर भी इसकी अपनी विशेषताएं हैं। इसका नाट्यविधान रत्नावली के आदर्श पर है। इसकी भाषा आलंकारिक है। यत्र-तत्र भाषा-शैली सरल, सरस तथा स्वाभाविक भी है। कहीं-कहीं भाषा की क्लिष्टता, गद्य की समास-बहुलता रसानुभूति में बाधक है, तथापि समग्र रूप में पारिजातमञ्जरी एक सरस रचना है।[1]

हस्तिमल्ल

त्रयोदश शतक के जैन कवियों में सर्वाधिक प्रतिभाशाली नाटककार हस्तिमल्ल हैं। ये वत्सगोत्री दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गोविन्द भट्ट था। हस्तिमल्ल को पाण्ड्यनरेश का आश्रय प्राप्त था। नाटककार को 'हस्तिमल्ल' यह नाम उनके प्रबल पराक्रम से मिला जिसमें उन्होंने अपने बाहुबल से एक हाथी को मल्लयुद्ध में पराजित किया था। उनके इस वीरतापूर्ण कार्य से प्रसन्न होकर पाण्ड्यनरेश ने राजसभा में सौ श्लोकों में उनकी प्रशंसा की थी।[2] हस्तिमल्ल ने स्वयं इस तथ्य का उल्लेख किया है-

"श्रीवत्सगोत्रजनभूषणगोपभट्टप्रेमैकधामतनुजो भुवि हस्तियुद्धात्।
नाना कलाम्बुनिधि पाण्ड्यमहेश्वरेण श्लोकैः शतैः सदसि सत्कृतवान् बभूव।"[3]

नाटककार के हाथी से मल्लयुद्ध की घटना 'सरण्यापुर' की है।[4] स्वामी समन्दभद्र के देवागमस्तोत्र से प्रभावित होकर हस्तिमल्ल ने जैनधर्म की दीक्षा ली थी। नरसिंहाचार्य ने हस्तिमल्ल का समय १२६० ई० माना है।[5] हस्तिमल्लरचित पाँच रूपकों में चार

---

१. डॉ० श्याम शर्मा, संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक, पृ० ४४२

२. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६४१

३. यह श्लोक डॉ० रामजी उपाध्याय के मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ० ३२५ में उद्धृत हैं

४. सम्यक्त्वस्य परीक्षार्थं मुक्तमत्तमतङ्गजम्।
यः सरण्यापुरे जित्वा हस्तिमल्लेति कीर्तितः।। -सुभद्रानाटक

५. डा० जयकिशन खण्डेलवाल, संस्कृत की मूल प्रवृत्तियाँ, पृ० २४८

उपलब्ध हैं-विक्रान्तगौरव, मैथिलीकल्याण, अञ्जनापवनञ्जय तथा सुभद्रा नाटिका। इन सभी रूपकों का प्रकाशन माणिक्यचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला से हो चुका है।

सुभद्रा नाटिका-

हस्तिमल्लरचित 'सुभद्रा' चार अङ्कों की नाटिका है, जिसमें विद्याधर राजा नमि की बहन सुभद्रा और ऋषभदेव के पुत्र भरत की प्रणयकथा वर्णित है। कथानक इस प्रकार है-

रजताचल पर विहार करता हुआ भरत सुभद्रा को देखने का सुअवसर प्राप्त करता है। वह उसके अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध हो जाता है। वह मनोविनोद के लिए सुभद्रा का चित्र बनाता है। वह सुभद्रा से मिलता है, किन्तु वहाँ रानी पहुँच जाती है और भरत के हाथ में सुभद्रा का चित्र देखकर क्रोध और शंका से अधीर हो उठती है। वह अन्तःपुर लौट जाती है। सुभद्रा भी सखी के बुलाने पर वहाँ से चली जाती है। नायक और नायिका एक दूसरे के वियोग में दुःखी हैं। विरहाकुल सुभद्रा ने प्रियतम भरत के लिए एक प्रेमपत्र लिखकर अशोक वृक्ष की डाल पर लटका दिया है। भरत विदूषक के साथ उपवन में आता है। वहाँ उसकी भेंट सुभद्रा से होती है। रानी पुनः वहाँ आकर रङ्ग में भङ्ग कर देती है। वहीं भरत को सुभद्रा का प्रेमपत्र मिलता है। पत्र पढ़कर भरत सुभद्रा के प्रति अपना स्नेह व्यक्त करता है। सुभद्रा लताकुञ्ज में छिपकर भरत की प्रेम-भावना का अनुभव करती है। इधर नमि सुभद्रा का विवाह भरत से करने की घोषणा करता है। वह दूत द्वारा विवाह का संदेश भरत के पास भेज देता है। नमि भरत के यहाँ आकर रानी की सहमति से भरत के साथ सुभद्रा का विवाह कर देता है।

मूल्याङ्कन -

सुभद्रा नाटक का नाट्यसंविधान शिथिल है। इसमें घटना वैविध्य का अभाव है। कथानक केवल नायक-नायिका के प्रेमव्यापार तक ही सीमित है। इसमें नायक का नायिका से मिलने के लिए कोई विशेष आयोजन नहीं है। कवि मनोरञ्जन के लिए शृङ्गार को इतनी प्रमुखता देता है कि गंगा के पावन तट पर भी वह देवताओं की कामक्रीडा का वर्णन निःसंकोच करता है-

मन्दाकिनीतीरलतागृहेषु मन्दारपुष्पास्तरणाञ्चितेषु ।

सुराः सदैव त्रिदिवं विहाय समं रमन्ते सुरसुन्दरीभिः।। सु०ना० १/१८

इसमें पात्रों के लम्बे भाषण कथानक की गतिशीलता में बाधक हैं, किन्तु भाषाशैली सरल एवं प्रवाहमयी है। छन्दों की विविधता इनकी पद्यरचना-चातुरी का उदाहरण है। इसमें संगीतमय दृश्यों का समावेश उनकी सर्जनात्मक विशेषता है। नाट्यकला की दृष्टि से इस

नाटिका का विशेष महत्त्व नहीं है, किन्तु इससे हस्तिमल्ल की काव्यप्रतिभा का संकेत अवश्य मिलता है।[1]

नाटिका की शैली में सरसता का पुट इसकी लोकप्रियता का उदाहरण है। विधि के प्रतिकूल हो जाने पर कौन विपरीत नहीं हो जाता, इस तथ्य का वर्णन निम्न पद्य में द्रष्टव्य है-

तस्या गृहीत्वापि करं विमुञ्चन्नदक्षिणोऽयं मम दक्षिणोऽपि।
वामत्वमङ्गीकुरुते स हस्तो वामे विधौ कः खलु भो न वामः।।

(सुभद्रा ना० १/३)

मेरे इस दायें हाथ ने उसके हाथ को पकड़ कर भी छोड़ दिया, अतः यह चतुर नहीं है। यह दायाँ होकर भी वामता-प्रमिकूलता को स्वीकार करता है। भला ऐसा क्यों न हो? विधि के वाम-प्रतिकूल होने पर कौन वाम-प्रतिकूल नहीं हो जाता ?

अत्यन्त सरल भाषा में प्रकृति सौन्दर्य के दृश्य की एक झाँकी द्रष्टव्य है -

अशोकः पुष्पितो भाति मालत्या स्मेरपुष्प्या।
व्यतिकीर्ण इवाम्भोदः सान्ध्यो नक्षत्रमालया।। (सु०ना० १/१५)

वर अशोक और वधू मालती अत्यन्त योग्य हैं-पुष्परूपी मुस्कुराहट से युक्त मालती के साथ पुष्पित यह वर अशोक वृक्ष उसी प्रकार सुशोभित हो रहा है, जिस प्रकार नक्षत्रमाला के साथ सायंकालिक मेघ सुशोभित होता है।

कविराज विश्वनाथ

संस्कृत वाङ्मय में कविराज विश्वनाथ का आलंकारिक और कवि के रूप में महत्त्वपूर्ण स्थान है। उनका लक्षणग्रन्थ 'साहित्यदर्पण', जिसमें काव्य और नाट्य दोनों तत्त्वों की प्रामाणिक मीमांसा है, अपनी सुबोध एवं स्पष्ट शैली के लिए अत्यन्त लोकप्रिय है। उनकी प्रशस्त नाट्यकृति 'चन्द्रकला' नाटिका है। विश्वनाथ कलिङ्गनरेश नरसिंह भानुदेव चतुर्थ के प्रतिष्ठित सान्धिविग्रहिक थे। साहित्यदर्पण में अलावदीन नृपति का उल्लेख है।[2] सुलतान अलाउद्दीन का समय १२९५-१३१६ ई० है। कृष्णानन्द विश्वनाथ के समकालिक थे। कलिङ्गनरेश नरसिंह भानुदेव का शासनकाल १४वीं शती का उत्तरार्ध और १५वीं शती का

---

१. सन्धौ सर्वस्वहरणं निग्रहे प्राणविग्रहः।
अलावुदीननृपतौ न सन्धिर्न च विग्रहः।। सा०द० परि० ४

पूर्वार्द्ध है।[1] अतएव कलिङ्गनरेश के समकालिक विश्वनाथ का समय भी १४वीं शती का उत्तरार्ध है।[2]

चन्द्रकला नाटिका

कविराज विश्वनाथ की 'चन्द्रकला'[3] चार अङ्कों की नाटिका है, जिसमें नायक चित्ररथदेव और नायिका चन्द्रकला का प्रणयचित्रण है। प्रथम अङ्क में चित्ररथदेव उपवन में चन्द्रकला को छिपकर देखते हैं। चन्द्रकला फूल चुनती है किन्तु सहसा राजा को देखकर उसके हाथ से फूल गिर जाते हैं। राजा फूल को उठाकर हृदय से लगाते हैं। उसी समय रानी वसन्तलेखा की परिचारिका रतिकला के आ जाने से चन्द्रलेखा लताकुञ्ज में छिप जाती है। रतिकला राजा से रानी की ओर से अन्तःपुर चलने का आग्रह करती है। राजा अन्तःपुर जाते हैं।

द्वितीय अङ्क में राजा रानी के साथ उपवन में घूम रहे हैं। सहसा एक भयानक व्याघ्र उपवन में घुस आता है। राजा महारानी को राजमहल भेज कर व्याघ्रवध के लिए तैयार होते हैं, परन्तु वह व्याघ्र विदूषक के रूप में बदल जाता है। राजा उपवन में विदूषक की सहायता से चन्द्रकला से मिलते हैं किन्तु रानी के आ जाने से चन्द्रकला वहाँ से हट जाती है। जाते समय चन्द्रकला की अंगूठी गिर जाती है जिसे राजा विदूषक को दे देते हैं। रानी आकर राजा की अर्चना करती है, परन्तु विदूषक की अंगुली में चन्द्रकला की अंगूठी को देखकर रुष्ट होकर राजमहल लौट जाती है। तृतीय अङ्क में विदूषक सुनन्दना से गुप्त मन्त्रणा करके उपवन के मणिमण्डप में नायक-नायिका के मिलन की योजना बनाता है। रानी को इस योजना की सूचना मिल जाती है। राजा चन्द्रकला से मिलने के लिए मणिमण्डप में आते है। रानी भी उनका पीछा करती हुई आ जाती है। राजा और चन्द्रकला का प्रणयप्रसङ्ग उसे सह्य नहीं है, अतः वह चन्द्रकला और विदूषक को बन्दी बना लेती है। चतुर्थ अङ्क में रानी के पितृगृह पाण्ड्य राज्य से दो बन्दी आकर सूचना देते हैं कि पाण्ड्येश्वर की छोटी पुत्री मन्त्री सुबुद्धि के संरक्षण में आपके यहाँ है। आप रानी की सहमति से उसका पाणिग्रहण करें। मंत्री सुबुद्धि राजसभा में आकर रहस्योद्घाटन करता है कि चन्द्रकला से विवाह करने वाला राजा लक्ष्मी का कृपाभाजन बनेगा, अतः उसने चन्द्रकला को अन्तःपुर में सुरक्षित रखा है। तत्पश्चात् चन्द्रकला उपस्थित होती है। बन्दी उसे पहचानते हैं और रानी सहर्ष अपनी छोटी बहन चन्द्रकला का विवाह राजा से कराती है। महालक्ष्मी प्रकट होकर अभीष्ट वर देती हैं।

---

१. डिस्क्रिप्टिव कैटलाग-संस्कृत मैन्युस्क्रिप्ट आफ उड़ीसा, पृ० ७४

२. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ७५७

३. सं० प्रभात शास्त्री, देवभाषा प्रकाशन, इलाहाबाद

मूल्याङ्कन -

'चन्द्रकला' कथावस्तु, घटना-संविधान और पात्र-योजना में भास, कालिदास और हर्ष की नाट्यरचनाओं से अनुप्राणित है। इसमें शृङ्गार रस की प्रधानता है। शृङ्गार रस के अनुकूल ऋतुवर्णन इसकी मनोरमता में सहायक है। रत्नावली के सहज वानर-प्रसङ्ग की अपेक्षा चन्द्रकला का 'वरक्षु' प्रसङ्ग रहस्यात्मक है। जहाँ तक पात्रयोजना की बात है, नायक चित्ररथदेव धीर, गम्भीर, ललित एवं कलाप्रेमी पुरुष है। उसकी शालीनता का उदाहरण मुग्धा चन्द्रकला में आसक्त होने पर भी रानी के प्रति स्नेह, सम्मान एवं सहिष्णुता में मिलता है। चन्द्रकला सर्वगुणसम्पन्न नायिका है। वह सुन्दरी, शीलवती और मृदुस्वभावा मुग्धा है। उसका शरीर लावण्य के पीयूष से उफनता समुद्र है। वह विधाता की सर्वोत्तम रचना है-"लावण्यामृतपूरपूरणमयी सृष्टिः परा वेधसः।" (च०ना० १/१६) वसन्तलेखा राजा की पटरानी है। वह मानवती होकर भी उदार है। सुबुद्धि राजा का सच्चा हितचिन्तक मंत्री है। धीरललित नायक चित्ररथदेव की सफलता वस्तुतः सुबुद्धि की कार्यकुशलता पर ही निर्भर है। नायक का नर्मसचिव विदूषक नायक के प्रत्येक कार्य में सहायक बनकर नाटिका के आरम्भ से अन्त तक उपस्थित रहता है।

नाटिका में प्राकृतिक चित्रण मानवहृदय के साथ तादात्म्य स्थापित करता है। 'लता कुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्' (१/३) यह पद्य वसन्त के समग्र रूप को प्रस्तुत कर देता है। पात्रों के भावचित्रण में कवि विशेष सफल है। इसमें वर्णित शृङ्गार की स्निग्ध धारा का उल्लास प्रेक्षकों के हृदय पर छा जाता है। कवि की वैदर्भी रीति और सुबोध पदशय्या नाटिका के सर्वथा अनुकूल है। नाटिका की पदशय्या नितान्त मनोहारी है। भाव के अनुकूल पदविन्यास का सन्निवेश कवि की काव्यचातुरी का सुन्दर निदर्शन है। वसन्त के शुभागमन पर मन्द समीर का वर्णन कितना स्वाभाविक है-

लता कुञ्जं गुञ्जन् मदवदलिपुञ्जं चपलयन्
समालिङ्गन्नङ्गं द्रुततरमनङ्गं प्रबलयन्
मरून्मन्दं मन्दं दलितमरविन्दं तरलयन्।
रजोवृन्दं विन्दन् किरति मकरन्दं दिशि दिशि।। (चन्द्र०ना० १/३)

गुनगुनाते हुए मतवाले भ्रमरसमूह से युक्त लताकुञ्ज को चञ्चल बनाता हुआ, शरीर का आलिङ्गन करता हुआ, कामदेव को अत्यन्त प्रबल बनाता हुआ, विकसित कमल को धीरे- धीरे कम्पित करता हुआ तथा पुष्पपराग को अपने में मिलाता हुआ पवन सभी ओर मधुरस को बिखेर रहा है।

चन्द्रमा के शोभावर्णन में कोमलकान्त पदावली में अन्त्यानुप्रास की छटा देखने ही योग्य है-

विरहिकुलकृतान्तः क्षुण्णकर्पूरकान्तः
कृतयुवधृतिभङ्गः सम्भृतानङ्गरङ्गः।
गगनजलधिहंसः स्थाणुचूडावतंसः
क्षयितकुमुदतन्द्रः शोभते शुभ्रचन्द्रः।। (चन्द्र २/१)

वियोगियों के लिए यमराज के समाज, पिसे हुए कर्पूर के समान श्वेत शोभावाला, युवजनों के धैर्य को तोड़ने वाला, कामदेव के आनन्द को बढ़ाने वाला, आकाशरूपी सागर का हंस, शिव के जटाजूट का आभूषण और कुमुद को विकसित करने वाला शुभ्र चन्द्रमा सुशोभित हो रहा है।

शिङ्गभूपाल-

'कुवलयावली' नाटिका के रचयिता राजा शिङ्गभूपाल का आविर्भाव काल १४वीं शती का पूर्वार्ध है। कुवलयावली की उत्कृष्टता का सङ्केत सूत्रधार के शब्दों में स्पष्ट है -'अखण्डपरमानन्दवस्तु चमत्कारिणी कुवलयावली नाम नाटिका।' इसका दूसरा नाम रत्नपञ्चालिका है।'[1]

इस नाटिका में कृष्ण के साथ कुवलयावली के विवाह होने की कल्पित कथा है। भूमि ने स्वयं कुवलयावली नाम की कन्या का रूप धारण किया है। नारद ने उसको रुक्मिणी के संरक्षण में रख दिया है। नारद द्वारा प्रदत्त मुद्रा के प्रभाव से वह पुरुषों की दृष्टि में रत्न की बनी पुतली लगती थी। एक दिन वह सखी चन्द्रलेखा के साथ उद्यान में जाती है, जहाँ वह कालयवन को पराजित कर लौटे हुए कृष्ण को देखती है। उसके हाथ से गिरी हुई अंगूठी में उत्कीर्ण लेख को पढ़कर कृष्ण को उसका रहस्य ज्ञात हो जाता है। वे उसकी रूपमाधुरी पर मुग्ध हो जाते हैं। कृष्ण स्वयं कुवलयावली को अंगूठी पहनाते हैं। सत्यभामा कृष्ण के इस रहस्यप्रेम को रुक्मिणी से बता देती है। रुक्मिणी उसे बन्दी बना लेती है, किन्तु बन्दीगृह से कोई दानव उसका अपहरण कर लेता है। कृष्ण दानव से कुवलयावली को मुक्त कराते हैं। उसी समय नारद आकर रुक्मिणी को उसका रहस्य बताते हैं। रुक्मिणी कुवलयावली से विवाह करने की कृष्ण को अनुमति देती है। दोनों का मंगलमय विवाह होता है।

---

१. पूर्णेयं शिङ्गभूपेन कवितामधुजल्पितैः।
रत्नपञ्चालिका नाम नाटिका रसपेटिका।। - कुवलयावली पुष्पिका

यह नाटिका रत्नावली से प्रभावित है। अंगूठी के प्रभाव से नायिका में नारी और पुतली के रूप में दोहरी प्रतीति की कल्पना अनूठी है। शेष कथा नाटिका परम्परा की निर्वाहिका है। संवादों में शब्दालङ्कार की चारुता है। इसके संगीत में कर्पूरमञ्जरी की छाया प्रतिबिम्बित है। कहीं-कहीं सूक्तियों के द्वारा परिहास का पुट मनोहारी है। नाटिका में कुतूहलपूर्ण शृङ्गार विशेष हृदयावर्जक है।

मथुरादास-

'वृषभानुजा'[1] नाटिका के प्रणेता मथुरादास गंगा-यमुना के तटवर्ती सुवर्णशेखर के कायस्थ थे।[2] इनके गुरु का नाम कृष्णदास था।[3] इनका समय १५वीं शती है। मथुरादास की जन्मभूमि सुवर्णशेखर प्रयाग के समीप है।[4]

'वृषभानुजा' में राधा और कृष्ण की प्रेमकथा का सुन्दर वर्णन है। वृषभानु की कन्या राधा कृष्ण के हाथ में किसी सुन्दरी का चित्र देखकर उनसे रूठ जाती है। अन्त में पता चलता है कि वह चित्र राधा का ही है। वास्तविकता को जानकर राधा कृष्ण के प्रति विगतमान होकर उनसे अनन्य प्रेम करती है। नाटिका का यही संक्षिप्त कथानक है। इसमें राधा की चित्रदर्शनजनित ईर्ष्या और कृष्ण के प्रति उसके निश्छल अनुराग का मनोरम चित्रण है। नाटिका की भाषा सरल, कोमल और राधा-कृष्ण-लीला के वर्णन के सर्वथा अनुकूल है। राधा-कृष्ण की प्रणयलीला के अनुरूप इसमें कोमल कान्तपदावली का प्रयोग जयदेव के 'गीतगोविन्द' से अनुप्राणित है।

नाट्यकला की दृष्टि से इस नाटिका का विशेष महत्त्व है। शृङ्गार के साथ ही राधा-कृष्णभक्ति का सम्पुट इसकी विशेषता है। कृष्ण के स्वागत में वनद्रुमों का मानवीकरण अत्यन्त सटीक है -

भृङ्गालीनयनैर्निमेषविमुखं दूरात्समालोक्यमा-
मानन्दाश्रुजलं स्त्रवन्ति विगलन्माध्वीकबिन्दुच्छलात्।
आह्वानं मलयानिलप्रचलितैः शाखाग्रहस्तैश्च मे
सप्रेम प्रथयन्त्युपायनफलैर्नम्राः किलैते द्रुमाः।। (वृष०ना० १/१७)

ये वृक्ष मुझे दूर से अपनी भ्रमरसमूह रूप नेत्रपक्ति से अपलक देखकर टपकते हुए पुष्परस के व्याज से आनन्द के आँसू बहा रहे हैं। मलयपवन के द्वारा कम्पित

१. काव्यमाला सं० ४६, १८६५
२. कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २७१
३. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६५८
४. डा० रामजी उपाध्याय, मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ० ४२६

शाखारूपी हाथों से मुझे बुलाते हुए और फलों की भेंट करते हुए मेरा स्वागत कर रहे हैं।

राधा के पदचिह्न में कृष्णानुरक्ति की अभिव्यक्ति प्रेम की पराकाष्ठा का विलक्षण उदाहरण है-

पदसंततिस्तदीया स्फुटमिह मध्ये मलालिपदवीनाम्।
परिवर्तिताग्रभागैः कथयति मयि साभिलाषतां तस्याः।। (वृष० २/११)

राधा की सखियों के बीच में राधा के पैरों के चिह्न जो कि मेरी ओर मुड़कर पड़े हैं वे इसकी अभिलाषा पूर्ण अवस्था को बतला रहे हैं।

विश्वनाथभट्ट-

'शृङ्गारवापिका' के प्रणेता विश्वनाथभट्ट मूलतः कोङ्कण के चित्तपावन ब्राह्मण थे, किन्तु संसार की असारता का अनुभव कर शिव की शरणागति में काशी आ गये।[1] विश्वानाथ के पिता महादेवभट्ट और पितामह विष्णुभट्ट थे। इनके गुरु कमलाकरभट्ट थे। विश्वनाथ आमेर के महाराज रामसिंह (१६६७-१६७५ ई०) के आश्रित कवि थे। रामसिंह के समकालीन होने के कारण इनका समय १७वीं शती का उत्तरार्ध है।[2]

'शृङ्गारवापिका' में उज्जयिनी के चन्द्रकेतु और चम्पावती की राजकुमारी कान्तिमती की प्रेमकथा का वर्णन है। नायक चन्द्रकेतु स्वप्न में एक राजकुमारी को देखता है। वह राजकुमारी चम्पावती के राजा रत्नपाल की कन्या कान्तिमती है। चन्द्रकेतु स्वप्न की राजकुमारी से मिलने के लिए सिद्धयोगिनी मुण्डमाला की सहायता लेता है। मुण्डमाला चम्पावती में जाकर रहने लगती है। चन्द्रकेतु मुण्डमाला से मिलने के लिए चम्पावती जाता है। वहाँ उसे वहाँ के राजा रत्नपाल का आतिथ्य प्राप्त होता है। वहीं चन्द्रकेतु कान्मिमती को देखता है। इस बीच योगिनी मुण्डमाला कुलदेवी से चम्पावतीनरेश को स्वप्नादेश दिलाती है कि कान्तिमती के साथ चन्द्रकेतु का विवाह समीचीन है। कुलदेवी के स्वप्नादेश से चन्द्रकेतु के साथ कान्तिमती का विवाह हो जाता है।

इस नाटिका का प्रथम अभिनय रामसिंह की राजसभा में हुआ था। नाटिका के चतुर्थ अङ्क में राजसभा की कविगोष्ठी में कवि द्वारा सुभाषित और समस्यापूर्ति का पदगान परम्परागत नाटिका की रीति से भिन्न है। इसमें शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा जैसे बड़े छन्दों का अधिक प्रयोग है। अलङ्कारों की विविधता कवि की कलाप्रियता का उदाहरण है।

---

१. रूपं ब्रह्म हृदि स्मरन् शिववने काश्यां स्थितिं निर्ममे। (शम्भुविलास काव्य)

२. डॉ० रामजी उपाध्याय, आधुनिक संस्कृत नाटक, भाग-१, पृ० ३१२

नाटिका में सर्वत्र वैदर्भी रीति में प्रसाद एवं माधुर्य की मनोरम झाँकी देखी जा सकती है।

विश्वनाथदेव –

'मृगाङ्कलेखा'[1] नाटिका के रचयिता विश्वनाथदेव मूलतः गोदावरी के तट पर स्थित धारासुर नगर के निवासी दाक्षिणात्य थे, किन्तु बाद में वाराणसी में आकर बस गये। वहीं पर उन्होंने मृगाङ्कलेखा की रचना की। इनके पिता का नाम त्रिमल्लदेव था। इस नाटिका का अभिनय विश्वेश्वर के यात्रोत्सव पर १८वीं शती के अन्त में हुआ था।[2] विश्वनाथदेव का समय १८वीं शती का अन्त माना जाता है।[3]

कथानक–

'मृगाङ्कलेखा' में कलिङ्गनरेश कर्पूरतिलक तथा कामरूप के राजा कामेश्वर की पुत्री मृगाङ्कलेखा की प्रेमकथा नाट्यरूप में विन्यस्त है। एक बार कर्पूरतिलक मृगया-प्रसङ्ग में मृगाङ्कलेखा को देखकर उस पर अनुरक्त होकर उसका अपहरण करना चाहता है। कर्पूरतिलक का मंत्री रत्नचूड सिद्धयोगिनी की सहायता से मृगाङ्कलेखा को राजा के अन्तःपुर में पहुँचा देता है। वहाँ राजा और मृगाङ्कलेखा में प्रगाढ प्रेम हो जाता है। अवसर पाकर शङ्खपाल मृगाङ्कलेखा का अपहरण करके उसे श्मशान में कालीदेवी के मन्दिर में छिपा देता है। कर्पूरतिलक वियोग विह्वल होकर प्राणत्याग की इच्छा से श्मशान में पहुँचता है और वहाँ शङ्खपाल का वध करके मृगाङ्कलेखा का उद्धार करता है। विवाहोत्सव की तैयारी होती है। वहाँ कामरूपनरेश मंत्री नीतिवृद्ध के साथ पुत्री के विवाह में सम्मिलित होता है, किन्तु उस उन्मत्त हाथी द्वारा मारा जाता है। विघ्नशान्ति के अनन्तर सेनापति विरूपप्रताप विजयी होकर लौटता है। अन्त में सभी की उपस्थिति में कर्पूरतिलक और मृगाङ्कलेखा का विवाह होता है।

यह चार अङ्कों की नाटिका है। इस पर कालिदास, हर्ष और राजशेखर की रचनाओं का स्पष्ट प्रभाव है। इसकी शैली सरल एवं स्वाभाविक है। वैदर्भी रीति में प्रसादमयी पदशय्या नितान्त कोमल है। नामधातु के प्रयोग में विश्वनाथ की विशेष रुचि है। कवि की वर्णनशैली और कल्पनाशक्ति आकर्षक है।[4] इस नाटिका में शृङ्गार रस के अनुकूल पदविन्यास का यथास्थान समावेश मिलता है। शैली की सरलता में अर्थ की स्फुटता

---

१. इसका प्रकाशन सरस्वती भवन प्रकाशन माला सं० २६ में हुआ है।
२. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६६२
३. डॉ० श्याम शर्मा, संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक, पृ० ४६०
४. डॉ० रामजी उपाध्याय, आधुनिक संस्कृत नाटक, भाग १, पृ० १५५
अम्लान्तरितचोलसुन्दरीकुंकुमाक्तकुचमण्डलप्रभम्।
कोकशोकदहनाम्बुदमेकं पद्मिनीरमणमेष नतोऽस्मि।। मृगाङ्क० १/६

सर्वत्र विद्यमान है। प्रकृति का चित्रण भी नाटककार के प्रकृतिप्रेम का परिचायक है। सूर्योदय के एक मनोरम दृश्य की छटा देखने ही योग्य है - चोल देश की सुन्दरियों के आंचल की ओट में कुङ्कुमयुक्त स्तनमण्डल की शोभा से युक्त और चक्रवाकयुगल के शोकानल को शान्त करने में एकमात्र मेघस्वरूप कमलिनीबल्लभ उदीयमान सूर्य को मेरा नमन है।

विरहीजन के दशावर्णन में नामधातु का सुन्दर प्रयोग नाटिकाकार के शब्दसामर्थ्य का द्योतक है-

कर्पूरो दहनायते कुमुदिनीनाथोऽपि सूर्यायते
हारोऽस्या भुजगायते मलयजो वातः कृतान्तायते।
गानंकर्णविषायते मृगमदालेपोऽपि भस्मायते
तस्या एव विधूदये प्रतिदिनं दृक् चन्द्रकान्तायते।। (मृगाङ्क० २/५)

वियोगावस्था में चन्द्रोदय होने पर उस नायिका के लिए कपूर भी आग के समान, चन्द्रमा भी सूर्य के समान, हार भी सर्प के समान, मलय पवन भी यमराज के समान, गीत भी विष के समान, कस्तूरी का लेप भी भस्म के समान और नेत्र भी चन्द्राकान्त मणि के समान प्रतीत होते हैं। विरहदशा में चन्द्रमा के उदित होने पर प्रियतम की स्मृति में आँखों में आंसू की झड़ी लग जाती है।

वैद्यनाथ -

श्रीकृष्णलीला-नाटिका के रचयिता वैद्यनाथ हैं। इनका जन्म तत्सत् कुल में वाराणसी में १७वीं शती के अन्तिम चरण में तथा इस नाटिका का लेखन १८वीं शती के प्रथम चरण में हुआ। इसका प्रथम अभिनय लक्ष्मी-यात्रोत्सव में महाराज जनकदेव के आदेश से हुआ। इसमें राधा और कृष्ण तथा विजयनन्दन और चन्द्रप्रभा का परिणय वर्णित है। इस नाटिका की अप्रकाशित प्रति कलकत्ता के संस्कृत कालेज के पुस्तकालय में है।

अज्ञातकर्तृक इन्दुलेखा नाटिका -

'इन्दुलेखा' नाटिका के प्रणेता और रचनाकाल अज्ञात हैं। इसका उल्लेख रामचन्द्र ने नाट्यदर्पण में किया है। अतः यह अनुमानतः ११वीं शती से पूर्व की रचना होनी चाहिए। यह नाटिका इन्दुलेखा नामक वीथी, जिसका उल्लेख शृङ्गारप्रकाश में हुआ है, से भिन्न है। इस नाटिका में भी नायक-नायिका के प्रेम का चित्रण है। इसमें भी दोनों के प्रेम में रानी की ईर्ष्या बाधक बनती है, किन्तु अन्त में नायिका इन्दुलेखा का नायक राजा से विवाह होता है।

भट्टश्रीभवनुतचूड -

'कौशलिका' नाटिक के प्रणेता भट्टश्रीभवनुतचूड हैं। इसमें वत्सराज के द्वारा कौशलिका नाम की नायिका को प्राप्त करने की कथा वर्णित है। यह अभी तक अनुपलब्ध है। रामचन्द्र ने नाट्यदर्पण में इसका उल्लेख किया है।[1]

इसके अतिरिक्त इन्दुमती, चित्रलेखा, पद्मावती, वासन्तिका, ग्रामेयी, अनङ्गवती और चन्द्रप्रभा नाटिकाओं का कृष्णमाचारी ने उल्लेख किया है।[2]

वीरराघव -

वीरराघव का जन्म मद्रास के चिंगिलपुट जिले में तिरुमलसाई (भूसुरपुर) ग्राम में १७७० ई० में हुआ था। ये ४८ वर्ष तक ही जीवित रहे। इन्हें अण्णावप्पंगार भी कहा जाता है।[3] इनके पिता का नाम नरसिंहसूरि था। यह वाधूलगोत्रीय ब्राह्मण थे। यह दाशरथि वंश में उत्पन्न हुए थे।[4] महावीरचरित टीका की पुष्पिका के अनुसार वीरराघव मैसूर के निवासी थे।[5] यह मैसूर तथा अन्य प्रान्तों में अत्यन्त प्रसिद्ध थे। वीरराघव के पाण्डित्य का गाम्भीर्य उनके द्वारा लिखित भवभूति के नाटक उत्तररामचरित और महावीरचरित की टीकाओं में परिलक्षित होता है। प्रस्तुत नाटिका के अतिरिक्त वीरराघव का एक अन्य 'भक्तिसारोदय' काव्य भी है। यह काव्य अभी अप्रकाशित है।

मलयजा कल्याण नाटिका[6]

यह चार अङ्कों की नाटिका है। इसमें तोण्डीर (तेलंगाना) देश के राजा देवराज का मलयराजपुत्री मलयजा के साथ विवाह का वर्णन है।

कथावस्तु -

देवराज अपनी रानी के साथ मृगया के लिए मलयदेश जाता है। वहाँ मलयजा को देखकर वह उस पर आसक्त हो जाता है। एक बार राजा देवराज विदूषक के साथ उपवन में जाता है। वहाँ विरहाकुल मलयजा को उसकी सखियाँ आश्वासन दे रही थीं। राजा वहाँ पहुँच कर मलयजा का अभिनन्दन करता है। उसके पश्चात् देवराज की रानी को मलयजा

---

१. डॉ० रामजी उपाध्याय, मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ० ४७४
२. हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६६८-६६६
३. एम० कृष्णमाचारी, वही, पृ० ६२४
४. मलयजा कल्याण, प्रस्तावना
५. महावीरचरित (निर्णयसागर प्रेस), पृ० २२५
६. बाबूलाल शुक्ल द्वारा सम्पादित तथा जाम्बवती देवी शुक्ला, १२६५ नेपियर टाउन जबलपुर द्वारा प्रकाशित

का वह पत्र मिलता है, जिसमें उसने देवराज के पास इस उद्देश्य से लिखा था कि वह प्रमदवन में आकर उससे मिले।

रानी मलयजा की सखी मञ्जरिका के वेष में प्रमदवन पहुँचती है, जहाँ उसे देवराज और मलयजा के प्रेमप्रसङ्ग को देखने का अवसर मिलता है। वह तुरन्त मञ्जरिका का वेष उतारकर राजरानी के रूप में राजा का समक्ष प्रकट होती है और क्रोध के आवेश में राजा को उपालम्भ देती है।

इसी बीच जामदग्न्य मुनि वहाँ आ जाते हैं और मध्यस्थता करके मलयजा के साथ रानी की अनुमति से देवराज का विवाह सम्पन्न कराते हैं।

इस नाटिका का कथानक कल्पित और सुव्यवस्थित है। इसके वस्तुविकास में पञ्चसन्धियों का प्रयोग उपादेय है। इसमें विष्कम्भक एवं प्रवेशिक का भी यथास्थान प्रयोग किया गया है। इसका प्रधान रस शृङ्गार है। भाव और प्रसङ्ग के अनुकूल अन्य रसों एवं अलङ्कारों की योजना भी सुसङ्गत है। भाषा विषय के अनुकूल सरल, सरस एवं बोधगम्य है। यह वीरराघव की सफल कृति है। उत्प्रेक्षा की छाया में नायिका के आङ्गिक सौष्ठव का चित्रण हृदयस्पर्शी है।[1] नायिका की नायक से अपनी मानसिक स्थिति की अभिव्यक्ति भावप्रवणता से युक्त है।[2]

विश्वेश्वर पाण्डेय

विश्वेश्वर पाण्डेयके पिता का नाम लक्ष्मीधर था। यह उत्तर प्रदेश के अल्मोड़ा जिले में पाटिया ग्राम के निवासी थे।[3] लक्ष्मीधर ने वृद्धावस्था में काशी में मणिकर्णिका घाट पर कोटि पार्थिव लिङ्ग की पूजा की थी।[4] इससे प्रसन्न शिव की कृपा से यहाँ पुत्ररत्न के रूप में विश्वेश्वर का जन्म हुआ था। विश्वेश्वर का समय १८वीं शती का प्रथम चरण माना जाता है।[5] विश्वेश्वर की शिक्षा-दीक्षा अपने पिता लक्ष्मीधर से ही हुई थी। विश्वेश्वर व्याकरण, न्याय, साहित्य, नाट्य तथा मीमांसाशास्त्र के उद्भट विद्वान् थे। इनका देहावसान

---

१. मलयजा कल्याण नाटिका, १/३५।

२. वही, ३/११।

३. म०म०गोपीनाथ कविराज, "काशी की सारस्वत साधना", पटना १९६५ ई०, पृ० ७३।

४. गोपाल दत्त पाण्डेय, मन्दारमञ्जरी संवत् १९९५ बनारस संस्करण की भूमिका, पृ० १।

५. दुर्गाप्रसाद तथा काशीनाथ पाण्डुरङ्ग, काव्यमाला गुच्छक ८, पृ० ५१-५२ पा० टि०

३४ वर्ष की अल्पायु में ही हो गया था।[1] विश्वेश्वर के पुत्र का नाम जयकृष्ण था। आफ्रेट ने विश्वेश्वर के २२ ग्रन्थों का उल्लेख किया है।[2]

नवमालिका नाटिका

नवमालिका नाटिका में चार अङ्क हैं। इसमें अवन्तिराज विजयसेन तथा अङ्गराज हिरण्यवर्मा की पुत्री नवमालिका का विवाह वर्णित है।

कथानक –

विजयसेन का मन्त्री तोयनिधि दिग्विजय यात्राप्रसङ्ग में दण्डकारण्य में दो सखियों सहित नवमालिका को देखता है और उसमें त्रैलोक्यसाम्राज्ञी का लक्षण जानकर उसे प्रधान महिषी चन्द्र लेखा के पास रख देता है। प्रधान महिषी चन्द्रलेखा नवमालिका को राजा की दृष्टि से छिपाकर रखती है। राजा विदूषक के साथ उपवन में चन्द्रलेखा से मिलने जाते हैं। राजा की दृष्टि नवमालिका पर पड़ न जाय, इसलिए चन्द्रलेखा उसे अपने पीछे छिपा लेती है, किन्तु रानी के नासिकारत्न में नवमालिका का प्रतिबिम्ब देखकर राजा उस पर मुग्ध हो जाता है।

राजमहिषी चित्रफलक खोजने के लिए नवमालिका को उपवन में भेजती है। राजा से नवमालिका का वहाँ मिलन होता है। देवी चन्द्रिका वहाँ आकर राजा और नवमालिका की प्रणय-लीला को अपनी आँखों से देखती है और क्रुद्ध होकर दोनों को कारागार में डाल देती है। अङ्गराज हिरण्यवर्मा का मंत्री सुमति राजा और देवी को आकर बताता है कि अङ्गराज की पुत्री नवमालिका कहीं खो गई है। अङ्गराज को अब एक पुत्र की प्राप्ति हुई है। यह शुभ समाचार सुनकर राजा और रानी दोनों प्रसन्न होते हैं। रानी अङ्गराज की बहन है।

प्रभाकर नामक एक तपस्वी राजा को एक दिव्य रत्न देकर यह बताता है कि इस रत्न से राक्षसादिकृत विघ्न प्रभावहीन हो जाता है। वह यह भी बताता है कि दण्डकारण्य में इस रत्न के प्रभाव से किसी राक्षस द्वारा अपहृत तीन कन्यायें उसके हाथ से छूटकर धरती पर गिर गयी थीं। पति के प्रतिकूल रहने वाली स्त्री इस रत्न को नहीं उठा सकती। रानी उस रत्न को उठाने में निष्फल होती हैं और इस दोष के निवारण के लिए राजा से नवमालिका का विवाह कराने का निश्चय करती है।

---

१. गोपीनाथ कविराज, "काशी की सारस्वत साधना", पृ० ७३

२. आफ्रेट, कैटेलोगस कैटेलोगोरम, भाग २, पृ० १३६

नवमालिका तथा चन्द्रिका सुमति को पहचान लेती हैं और सुमति भी उनको पहचान लेता है। राजा को सुमति से ही ज्ञात होता है कि नवमालिका अङ्गराज की पुत्री है। देवी नवमालिका से क्षमा माँगती है।

मन्त्री तोयनिधि नवमालिका की प्राप्ति का रहस्य खोलता है और यह बताता है कि उसने राजा के सार्वभौमत्व की कामना से इसे देवी के पास अन्तःपुर में रख दिया था। देवी प्रसन्न मन से राजा के साथ नवमालिका का विवाह करा देती है।

नवमालिका नाटिका का कथानक कल्पित है। कथा के सूच्य अंशों को सूचित करने के लिए विष्कम्भक तथा प्रवेशक का भी प्रयोग हुआ है। यथास्थान नाट्यनिर्देश भी मिलते हैं। नाटिका का रस शृङ्गार है और रस के अनुकूल ही अलंकार एवं शब्दयोजना का प्रयोग हुआ है।

अनादि मिश्र

अनादि मिश्र औत्कल ब्राह्मण थे। इनका गोत्र भारद्वाज था। यह मुकुन्द के पौत्र तथा शतञ्जीव के पुत्र थे। इनकी माता का नाम निम्बदेवी था। शतञ्जीव ने 'मुदितमाधव' नामक गीतिकाव्य की रचना की थी। अनादि मिश्र के पूर्वज दिवाकर चन्द्रराय अपने अगाध पाण्डित्य के कारण विद्यानगर (विजयनगर की राजधानी) में सम्मानित कवि थे। उन्होंने 'प्रभावती' नाटक की रचना की थी। अनादि मिश्र राधा, कृष्ण, तथा दुर्गा के उपासक थे। मणिमाला नाटिका की प्रस्तावना में अनादि मिश्र ने नारायण मङ्गराज का अपने आश्रयदाता के रूप में उल्लेख किया है। नारायण मङ्गराज भूतपूर्व जमींदारी रियासत खण्डपारा के राजा थे। मङ्गराज का शासनकाल १७वीं शती का अन्तिम तथा १८वीं शती का प्रथम चरण था। नारायण मङ्गराज के आदेश से ही अनादि कवि ने मणिमाला नाटिका की रचना की थी। इस नाटिका का रचनाकाल १७४६ ई० के आसपास माना जा सकता है।[1]

मणिमाल नाटिका -

'मणिमाल' नाटिका की उड़िया लिपि में ताड़पत्र पर लिखित एक प्रति उड़ीसा राजकीय संग्रहालय में सुरक्षित है।[2] यह नाटिका अभी अप्रकाशित है। 'मणिमाल' के अतिरिक्त अनादि कवि की अन्य दो रचनाएँ - 'राससंगोष्ठिकरूपक' तथा 'केलिकल्लोलिनी काव्य' अभी तक अप्रकाशित हैं और इन दोनों की हस्तलिखित प्रतियाँ उड़ीसा राजकीय संग्रहालय, भुवनेश्वर में मिलती हैं।

---

१. बी० एल० नागार्च, अठारहवीं शती के संस्कृत रूपक, पृ० ४६

२. उड़ीसा राजकीय संग्रहालय, भुवेनश्वर, हस्त० ग्र०सं० एल ५८

कथावस्तु

मणिमाल नाटिका में उज्जयिनी के राजा शृङ्गारशृङ्ग का पुष्कर द्वीप के राजा विजय विक्रम की पुत्री मणिमाला के साथ विवाह का वर्णन है।

राजा शृङ्गारशृङ्ग और मणिमाला स्वप्न में एक दूसरे को देखकर आसक्त हो जाते हैं। योगी अद्भुतभूति त्रैलोक्यसाम्राज्ञी के लक्षण से युक्त मणिमाला को प्राप्त करने के लिए राजा को दुर्गा की आराधना करने तथा मणिमाला के पास चित्र भेजने का परामर्श देते हैं। राजा अपने मित्र चित्रचरित्र को अपना चित्र तथा दुर्गाप्रदत्त पारिजातमाला देकर पुष्करद्वीप भेजता है।

मणिमाला में राजा को आसक्त जानकर राजमहिषी पतिप्रिया क्रुद्ध होती है, किन्तु मणिमाला को पाकर राजा साम्राज्यलक्ष्मी प्राप्त करेगा, यह जानने पर प्रसन्न होकर दुर्गापूजा में राजा की सहायता करती है।

राजा की आराधना से प्रसन्न दुर्गा चित्रचरित की सहायता के लिए योगिनी सुसिद्धिसाधिनी को नियुक्त करती हैं। पुष्करद्वीप पहुँचने पर योगिनी को यह ज्ञात होता है कि शृङ्गारशृङ्ग के प्रेम में पगी मणिमाला का विवाह गन्धर्वराज से होने वाला है। चित्रचरित क्रय-विक्रय के व्याज से पुष्करद्वीपराज विजयमित्र के मन्त्री की पुत्री तथा मणिमाला की सखी विचित्रचातुरी से मिलाकर उसे सब कुछ बता देता है। चित्र चरित शिल्पिनी के वेष को धारण किये है।

बान्धवों के आग्रह से विवाह के पूर्व मणिमाला नगरदेवार्चन के लिए जाती है और अन्तःपुर लौटकर विचित्रचातुरी को स्वप्नदृष्ट पुरुष में अपनी आसक्ति की बात बताती है। वह राजा शृङ्गारशृङ्ग का चित्र बनाकर सखी को दिखाती है। विचित्रचातुरी मणिमाला से कहती है कि एक शिल्पिनी वेषधारी चित्रचरित मणिमाला के समीप पहुँच कर उसको राजा का चित्र देता है और कहता है कि राजा शृङ्गारशृङ्ग स्वप्न में आपको देखकर आपमें अनुरक्त है। प्रेम के प्रतीकरूप में उसने उपहार में आपके पास अपना यह चित्र भेजा है। मणिमाला राजा के प्रति अपनी कृतज्ञता व्यक्त करती है।

मणिमाला गन्धर्वराज के साथ संभावित विवाहप्रसङ्ग से उद्विग्न हो उठती है। उसी समय योगिनी सुसिद्धिसाधिनी वहाँ आकर मणिमाला को आश्वस्त करती है और उसे एक गगनगामिनी नौका भी देती है। मणिमाला सखी चिचित्रचातुरी और चित्रचरित के साथ नौकायान से उज्जयिनी पहुँचती है। मणिमाला के पहुँचने से पहले ही योगिनी राजा को मणिमाला के आने की सूचना दे देती है। योगिनी को नारद से यह भी ज्ञात होता है कि राक्षसपति द्वन्द्वदंष्ट्र मणिमाला का अपहरण करेगा, किन्तु वह शृङ्गारशृङ्ग द्वारा मारा जायेगा। मणिमाला राजा के पास पहुँचकर और उसे वरमाला पहनाकर अपना पति चुनती है।

क्रौञ्चपर्वतवासी राक्षराज द्वन्द्वदंष्ट्र अपनी बहन प्रचण्डा द्वारा मणिमाला का अपहरण कराता है। मणिमाला के अपहरण का समाचार जानकर राजा मूर्च्छित हो जाता है, किन्तु योगिनी मन्त्रजल उसे बोध प्रदान करती है। अद्भुतभूति ने राजा को बताया कि क्रौञ्चपर्वत पर स्वर्णवृक्ष के मध्य में एक मणिसम्पुट में एक कीटनृपति रहता है जिसमें राक्षस द्वन्द्वदंष्ट्र का प्राण निहित है। अतः उसका वध करने पर ही राक्षस की मृत्यु सम्भव है। उस कीटनृपति की मृत्यु उसी के हाथ से होगी जिसके नाम में दो 'ङ्ग' हों। आपका नाम ऐसा ही है अतः आप मेरे साथ क्रौञ्चपर्वत पर चलें। राजा चित्रचरित, योगिनी तथा अद्भुतभूति के साथ क्रौञ्चपर्वत पर जाता है और वहाँ मणिमाला को देखकर प्रसन्न होता है। राजा अद्भुतभूति द्वारा प्रदत्त खड्ग से कीटनृपति का वध करता है। उसके मरते ही द्वन्द्वदंष्ट्र भी मर जाता है। देवाङ्गनाएँ प्रसन्न होकर राजा को मणिमाला समर्पित करती हैं। राजा इन्द्रप्रदत्त रथपर मणिमाला के साथ आरूढ होकर उज्जयिनी पहुँचता है। महिषी पतिप्रिया योगिनी के समझाने पर मणिमाला के साथ राजा का विवाह करा देती है।

'मणिमाला' चार अङ्कों की नाटिका है। इसकी कथावस्तु कल्पित है। वस्तु योजना सुघटित नहीं है। मणिमाला का सौन्दर्यवर्णन अत्यन्त विस्तृत है। अन्यत्र भी वर्णनबाहुल्य के कारण नाटकीय गतिशीलता शिथिल सी हो गई है।[1] इसके प्रत्येक अङ्क के आरम्भ में विष्कम्भक का प्रयोग है। नाटिका का प्रधान रस शृङ्गार है। उसकी पुष्टि में यथास्थान अन्य रसों का भी सन्निवेश किया गया है। द्वितीय अङ्क की कथावस्तु के कुछ अंश की तृतीय अङ्क में पुनरावृत्ति नाटकीय दृष्टि से अरुचिकर प्रतीत होती है। नाटिका की भाषाशैली शृङ्गार रस के अनुकूल सरल, सरस और प्राञ्जल है।

सट्टक

पहले कहा जा चुका है कि 'सट्टक' नाटिका का ही नामान्तर है। नाटिका से केवल सट्टक की इस बात में भिन्नता है कि यह समग्र रूप से प्राकृत भाषा में उपनिबद्ध होता है। सट्टकों में सर्वप्रथम रचना है राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी जो परवर्ती सट्टकों के रूप, कथानक तथा वर्णनप्रकार को प्रभावित करती है।[2]

कर्पूरमञ्जरी

राजशेखर की 'कर्पूरमञ्जरी'[3] एक नृत्यप्रधान प्राकृत सट्टक है जिसमें राजकुमार चन्द्रपाल तथा कुन्तलदेश की राजकुमारी कर्पूरमञ्जरी की कथा वर्णित है। सट्टक के प्रथम

---

१. बी०एल० नागार्च, अठारहवीं शती के संस्कृत रूपक, पृ० १६८

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६२७

३. Ed. S. Konow, tr. C.R. Lanman, HOS, iv, 1901.

जनविकान्तर में तान्त्रिक भैरवानन्द अपनी अलौकिक सिद्धि के बल से कर्पूरमञ्जरी को उसके स्नानागार से राजा चन्द्रपाल के समक्ष प्रस्तुत करता है। उसके रूप, वेष और वार्तालाप से उसका परिचय मिल जाता है। रानी विभ्रमलेखा कर्पूरमञ्जरी को अन्तःपुर में रख लेती है। प्रथम दर्शन में ही नायक और नायिका दोनों एक दूसरे पर आसक्त हो जाते हैं।

द्वितीय जवनिकान्तर में कर्पूरमञ्जरी प्रेमपत्र द्वारा राजा चन्द्रपाल के प्रति अपने स्नेहभाव को व्यक्त करती है। सखी विचक्षणा और विदूषक ऐसी व्यवस्था करते हैं जिससे राजा उसे झूला झूलते हुए और चरणस्पर्श से अशोक को कुसुमित करते हुए देख सके। हिन्दोलक चतुर्थी के दिन कर्पूरमञ्जरी 'हिन्दोल' पर झूलती है। राजा एकान्त में झूला झूलती कर्पूरमञ्जरी को देखता है। अशोक के दोहददान के निमित्त जब कर्पूरमञ्जरी उद्यान में आती है, तो राजा उसे निकट से देखने का अवसर पाता है। वह उसकी रूपमाधुरी का भरपूर पान करता है।

तृतीय जवनिकान्तर में रानी को राजा के प्रणयप्रसङ्ग का आभास मिल जाता है और वह कर्पूरमञ्जरी को बन्दीगृह में डाल देती है। विचक्षणा की मन्त्रणा से राजा बन्दीगृह तक सुरंग बिछवा देता है। इस उपाय से नायक और नायिका की प्रेमलीला उद्यान में चिलती है। रानी को इस योजना का भी पता चल जाता है और वह दासियों की एक लम्बी कतार कारागृह की रक्षा में खड़ी कर देती है।

चतुर्थ जवनिकान्तर में यह ज्ञात होता है कि उद्यान की ओर जाने वाला सुरङ्गमार्ग बन्द करा दिया गया है, परन्तु चामुण्डा मन्दिर की ओर एक दूसरा मार्ग बना लिया गया है जिसका द्वार देवीप्रतिमा के पीछे गुप्त है। यह तान्त्रिक भैरवानन्द की कपटयुक्ति है। तान्त्रिक भैरवानन्द रानी की सहमति से सार्वभौम पद की प्राप्ति के लिए लाटदेश की राजकुमारी 'घनसारमञ्जरी' के साथ राजा का विवाह करा देता है। घनसारमञ्जरी वस्तुतः कर्पूरमञ्जरी का ही कल्पित नाम है। इस प्रकार भैरवानन्द की कपटयोजना से कर्पूरमञ्जरी के साथ राजा की प्रणयलीला विवाह के सम्पन्न हो जाने से सार्थक होती है।

मूल्याङ्कन

कर्पूरमञ्जरी की लोकप्रियता का प्रमाण उसकी विपुल टीका सम्पत्ति है।[1] इसमें शृङ्गार और स्नेह का अविच्छिन्न प्रवाह है। सम्पूर्ण रूपक प्राकृत भाषा में है। अतः नाटक साहित्य में अभिनव प्रयोग की दृष्टि से इसका विशेष महत्त्व है। इसकी लोकप्रियता में नृत्य एवं दोलादृश्य का समावेश चार चाँद लगा देता है। इसमें वैदर्भी और पाञ्चाली दोनों रीतियों

१. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६३०

का यथास्थान प्रयोग किया गया है। इसके वस्तु विधान में कालिदास तथा हर्ष की रचनाओं से प्रेरणा ली गई है, किन्तु भाषा और चरित्रचित्रण में राजशेखर ने विलक्षण प्रतिभा और चातुर्य का परिचय दिया है। भाषा पर असाधारण अधिकार होने से ही समीक्षकों ने राजशेखर को सर्वभाषाविचक्षण की उपाधि प्रदान की है।[1] इस सट्टक की विशेषताओं की एक झाँकी देखिये-"अहो कर्पूरमञ्जरी अभिनवार्थदर्शनम्, रमणीयशब्दः, उक्तिविचित्रता रसनिष्यन्दश्च।"[2] इस सट्टक में पुरुषपात्र की अपेक्षा स्त्रीपात्र की अधिकता है। वैदर्भी तथा पाञ्चाली रीति का प्रयोग है। अलङ्कारों में उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, विभावना, विशेषोकित प्रमुखतया प्रयुक्त हैं। शार्दूलविक्रीडित इनका प्रिय छन्द है - शार्दूलविक्रीडितैरेव प्रख्यातो राजशेखरः।।

प्राकृतभाषा में निबद्ध इस सट्टक की भाषाशैली प्रवाहमयी है। कवि की दृष्टि में स्वाभाविक सौन्दर्य अलङ्कार की अपेक्षा नहीं करता -

जे रूअमुक्ता वि विहूसयन्ति ताणं अलंकारबसेण सोहा।
णिसग्ग चंगस्स वि माणुसस्स सोहा समुम्मीलदि भूसणेहि।।

(या रूपमुक्ता अपि विभूषयन्ति तासामलङ्कारवशेन शोभा।
निसर्गसुन्दरस्यापि मानुषस्य शोभा समुन्मीलति भूषणैः।।) (कर्पूर० १/३१)

जो स्त्रियां सुन्दर नहीं होती हैं, वे अपने को अलंकारों से सजाती हैं, उनकी सुन्दरता अलंकारो पर ही निर्भर है। स्वभावसुन्दर मनुष्य को आभूषणों की अपेक्षा नहीं होती है किन्तु आभूषण उसके सौन्दर्य को अधिक बढ़ा देते हैं।

कान्ता-कटाक्ष के चित्रण में उत्प्रेक्षा का उपयोग कवि की कल्पना का एक सुन्दर उदाहरण है-

अगम्मि भिङ्गसरणी णअणाण तीए मज्झे पुणो कठिअदुद्धतरंगमाला।
पच्छा अ से सरइ तंसणिरिक्खिएसुं आकण्णमंडलिअ चाव हरो अणंगो।।

(अग्रे भृङ्गसरणिर्नयनयोस्तस्या मध्ये पुनः क्वथितदुग्धतरंगमाला।
पश्चाच्च तस्याः सरति तिर्यङ्निरीक्षितेषु आकर्षमण्डलितचापश्चोऽनङ्गः।।)
(कर्पूर० २/५)

कर्पूरमञ्जरी के नेत्रों के आगे भौरे मंडराते हैं, मध्य में विलोये हुए दूध की तरङ्गमाला जैसी मालूम पड़ती है, जब वह पीछे की ओर तिरछा होकर देखती है तो ऐसा लगता है कि कान तक धनुष खींचे साक्षात् कामदेव ही चल रहा है।

---

१. कान्तिकिशोर भरतिया, संस्कृत नाटककार, पृ० १६४

२. कर्पूरमञ्जरी, तृतीय जवनिकान्तर, पृ० २५०

रम्भामञ्जरी

'रम्भामञ्जरी' सट्टक की रचना हम्मीर महाकाव्य के प्रणेता नयचन्द्र ने की है। नयचन्द्र हम्मीर की राज्यसभा के प्रतिष्ठित जैनकवि थे। रम्भामञ्जरी के नायक जयचन्द्र काशी और कन्नौज के राजा थे। जयचन्द्र का राज्य ११६०-११९३ ई० था। हम्मीर का शासनकाल १३०१ ई० है। हम्मीर के समकालिक होने के कारण जयचन्द्र का समय १४वीं शती है।[1] इसमें काशी के राजा जयचन्द्र के रम्भा नाम की सुन्दरी से विवाह का वर्णन है।

कथानक

वसन्त ऋतु में राजा जयचन्द्र अपनी सात रानियों, परिजनों और विदूषक के साथ आम्रवन में आता है। वहाँ नारायणदास लाटनरेश के राजा मदनवर्मा की पुत्री रम्भा को लेकर आता है। पुरोहित रम्भा के साथ राजा का वेदमंत्रों द्वारा गुप्त विवाह करा देता है। विदूषक और चेटी नायक-नायिका के मिलन का उपाय करते हैं। नायिका की खिड़की के पास विद्यमान एक अशोक वृक्ष की डाल पर चढ़कर चेटी रम्भा को नीचे उतारती है। नायक और नायिका का समागम होता है, किन्तु रानी के भय से रम्भा चेटी के साथ चली जाती है। रानी से प्रेमालाप करते समय राजा भूल से रम्भा का नाम ले लेता है। रानी राजा को रम्भा के साथ आनन्द मनाने की अनुमति दे देती है। नायिका और नायक का सुखद मिलन होता है।

रम्भामञ्जरी[2] को कवि ने सट्टक की संज्ञा दी है[3], किन्तु इसमें प्राकृत भाषा के साथ ही कहीं-कहीं संस्कृत का भी प्रयोग हुआ है। अतएव यह सट्टक और नाटिका दोनों कोटि के लक्षणों से युक्त रूपक है। इसमें अशोक की डाल से नायिका को उतारने का प्रयोग अभिनव है। रङ्गमञ्च पर नाटकीय नियम के विरुद्ध आलिङ्गनादि दृश्य को शब्दचित्र के माध्यम से दिखाया गया है। इसमें अङ्गीरस शृङ्गार और सहायक रस हास्य है। नायक-नायिका के मिलन में रानी के विरोधप्रसङ्ग को स्थान नहीं मिला है। इसमें तीन ही जवनिकान्तर हैं। इस सट्टक में शृङ्गार रस की पुष्टि के लिए वसन्तागमन पर एक विरहिणी का चित्राङ्कन सहृदयावर्जक है -

मयंको सप्पंको मलयपवणा देहतवणा
कुहूसद्दो रूद्दो सुमसरसरा जीविदहरा।

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६२७।
२. इसका प्रकाशन बम्बई से हुआ है।
३. रम्भां तां परिणयत्यष्टमस्त्रियमेतस्मिन् सट्टके वरे। 'रम्भामञ्जरी' प्रस्तावना।
४. डॉ० रामजी उपाध्याय, मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ० ३३४

वराइयं राई उवजणइ निंद्दपि न रवणं
कहं हा जीविस्सइ इह विरहिया दूरपइया।। (र० म० ४१)

वसन्त ऋतु के समय जिसका पति परदेश गया हुआ है, वह वियोगिनी नायिका इस संसार में कैसे जीवित रह सकती है? उसके लिए तो चन्द्रमा भी सर्प के समान प्रतीत होता है, मलय पवन शरीर के लिए सन्तापदायक बन जाता है, कोयल की मधुर कूक रौद्ररूप धारण कर लेती है और कामदेव के बाण जीवन को हरण करने में तत्पर दिखायी पड़ते हैं।

निम्न पद्य में नायिका के अङ्गसौन्र्य की वर्णनभंगिमा कितनी मनोहारिणी है -

बाहू येण मिणाल कोमलवरा तेणं न थड्डा थणा
दिट्ठी येण तरंगभंगतरला तेणं न मन्दा गई।
मज्झं येण कियं न तेण घडियं घोरं नियंवत्थलं
एयाए विहिणा वि तन्न घडिदा एगेण मन्ने तणू।। (र० म० ५७)

जिस विधाता ने इसकी मृणाल के समान कोमल भुजाओं को बनाया है वही उसके कठोर वक्षःस्थल को नहीं बना सकता। जिसने इसकी चंचल दृष्टि बनायी है, वही इसकी मन्दगति नहीं बना सकता। जिसने इसके कटिप्रदेश को पतला बनाया है, वह नितम्ब को स्थूल नहीं बना सकता। इन विषमताओं को देखकर मैं यह मानता हूँ कि इस नायिका का निर्माण एक नहीं, अनेक विधाताओं ने किया है।

चन्द्रलेखा

'चन्द्रलेखा'[1] सट्टक के रचयिता रूद्रदास केरल के पारशव जाति में उत्पन्न हुए थे। ये कालिकट के राजा मानवेद द्वितीय (१६५६-१६६२ ई०) के सभापण्डित थे। इस सट्टक का रचनाकाल १६६० ई० माना गया है।[2] इसमें मानवेद और चन्द्रकला के विवाह का रोचक वर्णन है।[3] चिन्तामणि देवता के प्रसाद से सुन्दरी चन्द्रकला चम्पा के उद्यान में क्रीड़ा करने के समय माया के द्वारा केरल में लायी गयी है। उसी के साथ मानवेद के प्रणयप्रसङ्ग को रूपायित किया गया है। इसमें कवि का आश्रयदाता मानवेद नायक और अङ्गराज की पुत्री चन्द्रलेखा नायिका है। इसका मुख्य रस शृङ्गार है, किन्तु अद्भुत आदि

---

१. भारतीय विद्या ग्रन्थावली (ग्रन्थकार ६) में आदिनाथ नेमिनाथ उपाध्ये के सम्पादकत्व में बम्बई, १९४५ में प्रकाशित (वि०सं० २००१)
२. आचार्य बलदेव उपध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६२७
३. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६३०

रसों का भी यथास्थान सन्निवेश है। ऋतुवर्णन प्रासंगिक एवं सुन्दर है। इसमें कहीं-कहीं कर्पूरमञ्जरी की छाया अवश्य है, किन्तु इसकी अपनी विशेषता भी है। चन्द्रलेखा एक सरस सट्टक है जिसमें कवि के वैदुष्य तथा कवित्व का मञ्जुल समन्वय विद्यमान है। इसमें आर्या, गीति, दीधक, पुष्पिताग्रा, पृथिवी, मन्दाक्रान्ता, वसन्ततिलका, शार्दूलविक्रीडित और स्रग्धरा छन्दों तथा अनुप्रास, उपमा, रूपक, उत्प्रेक्षा, काव्यलिंग, अर्थान्तरन्यास आदि प्रमुख अलंकारों का प्रयोग हुआ है।

विलासवती

मार्कण्डेय कवीन्द्र ने 'प्राकृतसर्वस्व' में विलासवती सट्टक के रचयिता का उल्लेख किया है। इसके रचयिता का समय उत्कलनरेश मुकुन्ददेव के समकालिक होने से १७वीं शती का उत्तरार्ध है। यह सट्ठक अभी तक अनुपलब्ध है।[1]

आनन्दसुन्दरी

'आनन्दसुन्दरी'[2] सट्टक के रचयिता घनश्याम हैं। घनश्याम ने अपने को 'महाराष्ट्रचूडामणि' कहा है। 'कण्ठीरव' उनकी उपाधि है। उनके पिता का नाम महादेव और माता का नाम काशी है। सुन्दरी और कमला उनकी दो विदुषी पत्नियाँ थीं। वे तञ्जोर के भोंसलावंशी राजा तुम्कोजी (१७२६-१७३५ ई०) के मन्त्री थे। घनश्याम उच्चकोटि के कवि एवं लेखक थे। उनकी संस्कृत में ६४, प्राकृत में २० और देशी भाषा में २५ पुस्तकें हैं। घनश्याम अपने समय के साहित्याकाश के देदीप्यमान नक्षत्र थे, जो काव्यकला में राजशेखर के प्रतिस्पर्धी थे।[3]

एक किंवदन्ती[4] के अनुसार घनश्याम सरस्वती के अवतार थे। उनकी अधिकांश रचनाएँ तंजोर के सरस्वतीभवन में प्राप्य हैं। घनश्याम ने 'डमरूक' नामक एक नयी नाट्यविधा को संस्कृत के अभिनयप्राङ्गण में स्थान दिया।[5]

'आनन्दसुन्दरी' चार जवनिकान्तर में उपनिबद्ध एक प्रेमकथा है। इस सट्टक में घनश्याम ने दो गर्भनाटक की अवतारणा की है, जो मूलकथा से सम्बद्ध है। यही इस

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. ६२७

२. (क) भारतीय विद्याभवन, बम्बई से वि०सं० २००१ में आदिनाथ नेमिनाथ द्वारा प्रकाशित।
(ख) एक संस्करण श्री भट्टनाथ की संस्कृत छाया-व्याख्या के साथ सन् १९५५ ई० में बनारस से प्रकाशित

३. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६२८

४. सरस्वती घनश्यामो घनश्यामः सरस्वती

५. डॉ० रामजी उपाध्याय, आधुनिक संस्कृत नाटक, भाग १, पृ० ३२८-३२९

सट्टक की विशेषता है। घनश्याम ने इसमें देशी शब्दों के साथ बहुत से मराठी शब्दों और क्रियाओं का भी प्रयोग किया है। इसमें शृङ्गार के साथ ही हास्य का पुट आकर्षक है। इसमें पारिजात नामक कवि घनश्याम का ही प्रतिनिधि प्रतीत होता है। ऐसी मान्यता है कि घनश्याम ने 'वैकुण्ठचरित' और 'नवग्रहचरित' नामक दो अन्य सट्टकों की भी रचना की है, किन्तु वे अप्रकाशित हैं और उनके विषय में ठोस प्रमाण का अभाव है।[1]

कथानक –

इस सट्टक के प्रथम जवनिकान्तर के साथ राजा प्रवेश करता है। राजा प्रतिहारी से अपनी अन्तर्वेदना का परिचय कराते हुए कहता है – मेरी प्रीति को सम्पन्न करने के लिए अङ्राज ने अपनी पुत्री आनन्दसुन्दरी को भेजा है, मुझे दैवज्ञों ने कहा है कि द्वितीय विवाह करने पर आनन्दसुन्दरी के गर्भ से पुत्ररत्न प्राप्त होगा। इसके पश्चात् गर्भनाटक प्रारम्भ होने पर आनन्दसुन्दरी प्रवेश करती है। वह धात्री से पूछती है – 'अम्बा, मुझे पिताजी ने यहाँ किसलिए भेजा है?' धात्री कहती है – 'अब तुम वयस्का हो, अतः अब तुम्हारा मंगलविवाह होगा।'

द्वितीय जवनिकान्तर में विदूषक के साथ राजा प्रवेश करता है। दोनों में प्रेमप्रसङ्ग की बातचीत होती है। विवाह के पूर्वरूप का उपस्थापन होता है। तृतीय जवनिकान्तर में भी राजा और विदूषक में वार्ता होती है। विवाह का शुभ मुहूर्त समीप जानकर रानी राजा एवं आनन्दसुन्दरी को विवाह के लिए सुसज्जित होने का निर्देश देती है। चतुर्थ जवनिकान्तर में भी राजा और विदूषक प्रवेश करते हैं। दोनों में हास-परिहास होते हैं। रानी के गर्भवती होने तथा भविष्य की संभावनाएँ की जाती हैं। पुत्ररत्न की प्राप्ति होती है, उत्सव मनाया जाता है। पुत्र का नाम आनन्दचन्द्र रखा जाता है। मंगलकामना के साथ सट्टक समाप्त होता है।

इस सट्टक में शृङ्गार एवं हास्य रसों का यथास्थान परिपाक हुआ है। यह सुखान्त एवं अत्यन्त मनोरम सट्टक है। इसकी भाषा मराठी शब्दों से गुम्फित महाराष्ट्री प्राकृत है। यहाँ सूत्रधार के स्थान पर 'स्थापक' का प्रयोग हुआ है।

शृङ्गारमञ्जरी

'शृङ्गारमञ्जरी'[2] सट्टक के रचयिता विश्वेश्वर पाण्डेय संस्कृत आलोचनाशास्त्र के मर्मज्ञ विद्वान् थे। इनका संक्षिप्त परिचय 'नवमालिका नाटिका' में लेखक के रूप में पीछे

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६२९

२. काव्यमाला गुच्छक सं० ८ में प्रकाशित। पुनः बाबूलाला शुक्ल के सम्पादकत्व में वाराणसी से प्रकाशित। पुनः चौ० सु० भा० ग्रन्थमाला १७४, वाराणसी से १९९० में प्रकाशित

दिया जा चुका है। यह सट्टक काव्यदृष्टि से बहुत ही सुन्दर और कविप्रतिभाप्रसूत नवीन उद्भवनाओं से युक्त है। यद्यपि इसमें राजशेखर का प्रभाव परिलक्षित होता है, तथापि यह कवि की प्राकृत भाषा में प्रवाहमयी सरस लेखन क्षमता का शोभन निदर्शन है।[1]

सट्टक का कथानक इस प्रकार है- राजा राजशेखर स्वप्न में एक सुन्दरी को देखकर उसकी रूपमाधुरी पर मुग्ध हो जाता है। रानी रूपलेखा की दासी वसन्तसेना राजा को उस स्वप्नसुन्दरी का चित्र बनाने को कहती है और राजा के द्वारा निर्मित चित्र को देखकर वह कहती है कि यह शृङ्गारमञ्जरी है। यह आपके अन्तःपुर में विद्यमान है। राजा शृङ्गारमञ्जरी से मिलना चाहता है।

रानी मदनपूजा के लिए उद्यान में आती है। शृङ्गारमञ्जरी भी वहाँ आती है। दोनों एक दूसरे को देखते हैं। रानी को दोनों के प्रेम का आभास मिल जाता है। वह शृङ्गारमञ्जरी को बन्दी बना लेती है किन्तु विदूषक और वसन्तलेखा के प्रयास से दोनों का पुनर्मिलन होता है। अन्त में विदूषक के द्वारा यह ज्ञात होता है कि शृङ्गारमञ्जरी मुक्त कर दी गई है। रानी अनुकूल होकर राजा को उपहारस्वरूप शृङ्गारमञ्जरी को समर्पित करती है। चारुमूर्ति मंत्री आकर यह बताता है कि शृङ्गारमञ्जरी अवन्तिनरेश जटाकेतु की पुत्री है। मातङ्ग ऋषि की कृपा से एक राक्षस से मुक्त होकर अन्तःपुर में आयी है। इसके साथ विवाह करने वाला चक्रवती सम्राट् होगा। इस तथ्य से अवगत होकर रानी ने राजा राजशेखर के साथ शृङ्गारमञ्जरी का विवाह सम्पन्न कराया है।

शृङ्गारमञ्जरी एक सफल, अभिनययोग्य सट्टक है। इसमें संवाद सरल, और स्वाभाविक हैं। इसमें नायिका-सौन्दर्य एवं प्रकृतिचित्रण कवित्वपूर्ण है। इसके गद्य तथा पद्य दोनों मधुर एवं ललित हैं। अलंकारों एवं छन्दों की विविधता में काव्यकला की मनोरम झाँकी मिलती है।

• • • •

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६२८

रामकथाश्रित नाटक

– डॉ० रमाकान्त झा

शक्तिभद्र–

शक्तिभद्र केरल प्रदेश के प्रतिष्ठित नाट्यकार थे। स्थानीय प्रसिद्धि के आधार पर ये शंकराचार्य के शिष्य थे। 'आश्चर्यचूडामणि' की प्रस्तावना[1] से यह स्पष्ट है कि 'आश्चर्यचूडामणि' दक्षिणदेश का सर्वप्रथम नाटक था। कुलशेखर केरल के राजा थे। उन्होंने 'तपतीसंवरण' तथा 'सुभद्राधनञ्जय' नामक दो नाटक और 'आश्चर्यमञ्जरी' नामक एक कथा की रचना की थी। कुलशेखर वैष्णव मत के विशेष प्रचारक थे। इन्हीं के समय में 'क्रमदीपिका' तथा 'अट्टप्रकार' नामक दो पुस्तकों की रचना हुई थी। 'अट्टप्रकार' में शक्तिभद्र तथा उसके नाटक 'आश्चर्यचूडामणि' का उल्लेख है।[2] अतः स्पष्ट है कि शक्तिभद्र कुलशेखर से पूर्ववर्ती थे। नाटक के अन्तःसाक्ष्य के आधार पर भी यह कथन युक्तिसंगत होगा कि शक्तिभद्र भास, कालिदास और भवभूति से परवर्ती थे, क्योंकि इनकी रचना में पूर्वोक्त नाटककारों की रचनाशैली की छाया मिलती है। अतः भवभूति से परवर्ती, शंकराचार्य के समकालिक और कलशेखर से पूर्ववर्ती शक्तिभद्र का समय ९वीं शती मानने में कोई आपत्ति नहीं है। डॉ. खण्डेलवाल शक्तिभद्र को शंकराचार्य के शिष्य होने के कारण ८०० ई० के आसपास मानते हैं।[3]

शक्तिभद्र के सम्बन्ध में एम० कृष्णमाचारी का कथन है कि शक्तिभद्र दक्षिणापथ से सम्बद्ध थे और मालाबार में आदर की दृष्टि से देखे जाते थे। उनका नाटक 'चूडामणि' मालावार के व्यावसायिक नाटककारों को सुविदित था। चूँकि प्रस्तावना में इस बात पर आश्चर्य व्यक्त किया गया है कि दक्षिण में एक उत्तम नाटक की रचना हुई है[4], यह प्रदर्शित करता है कि उस समय तक मालाबार में अच्छे नाटक अज्ञात थे। इससे यह सिद्ध होता

---

१. दक्षिणापथादागतमाश्चर्यचूडामणिं नाम नाटकमभिनयाम्रेडितसौभग्यमभिलाषम् इत्यार्यमिश्राणाम् शासनम्। –आश्चर्यचूडामणि, चौखम्बा प्रकाशन, १९६६, पृ० ४

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६०९

विशेष द्रष्टव्य-डॉ० रमाकान्त झा संपादित '–आश्चर्यचूडामणि' भूमिका, पृ० ११

३. डा० जयकिसनलाल खण्डेलवाल, संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० २४१

४. "आर्य अत्याहितं खल्वेतत्, आकाशं प्रसूते पुष्पं, सिकताः तैलमुत्पादयन्ति यदि दक्षिणस्याः दिशः आगतं नष्टकनिबन्धनम्।"–आश्चर्यचूडामणि स्थापना, पृ० ५

है कि कुलशेखर के नाटक शक्तिभद्र के बाद १०वीं शती में लिखे गये। 'चूडामणि' और भट्टनारायण के 'वेणीसंहार' के कुछ पद्यों में विचारसाम्य है जिससे यह स्पष्ट है कि शक्तिभद्र वेणीसंहार से सुपरिचित थे। वेणीसंहार के रचयिता भट्टनारायण ८वीं शती से पूर्ववती हैं, क्योंकि वामन और आनन्दवर्धन ने उनका उल्लेख किया है। इन तथ्यों से सिद्ध होता है कि शक्तिभद्र का समय ८वीं शती का अन्त और ९वीं शती का प्रारम्भ है।[1]

आश्चर्यचूडामणि –

शक्तिभद्र की उपलब्ध रचना 'आश्चर्यचूडामणि'[2] रामकथा का नाटकीय रूप है। आश्चर्यप्रधान घटनाओं की एक रोचक परम्परा इस नाट्यकृति की विशेषता है। नाटक की दृष्टि से यह रामकथाश्रित नाटकों में महत्त्वपूर्ण है। यद्यपि कवित्व की दृष्टि से यह 'उत्तररामचरित' से अपकृष्ट है, किन्तु अभिनेयता की दृष्टि से यह उत्कृष्ट नाटक माना जाता है। म०म० कुप्पूस्वामी शास्त्री ने 'आश्चर्यचूडामणि' को 'उत्तररामचरित' के बाद सर्वोत्कृष्ट रामयणीय नाटक माना है।[3]

'आश्चर्यचूडामणि' नाटक की कथावस्तु का उपजीव्य वाल्मीकि रामायण है। 'रामायण' के अरण्यकाण्ड से लेकर युद्धकाण्ड तक की प्रमुख घटनाओं को नाटकीय रूप दिया गया है। इस नाटक की चार प्रमुख घटनाएँ हैं- (१) शूर्पणखा विरूपण, (२) जानकी हरण, (३) हनुमान् सन्देश, (४) रावण-विजयोपरान्त सीताशुद्धि। अन्य घटनाएँ इन्हीं के सहायक तत्त्व के रूप में गृहीत हैं। नाटक की कथा रामकथा के द्वितीय चरण वनवासकाल से आरम्भ होती है। कथावस्तु की गतिशीलता बनी रहे, अतः अनपेक्षित वर्णनात्मक प्रसङ्गों के विस्तार से बचकर सीताहरण के बाद रामविलास, सीतान्वेषण, सुग्रीवमैत्री, युद्ध तथा रावणवध की सूचना सूच्यकथा के रूप में दी गई है। यह नाटक सात अङ्कों में विभाजित है। प्रथम अङ्क में लक्ष्मण सपत्नीक राम के लिए पर्णकुटी बनाते दृष्टिगोचर होते हैं। उसी समय रावण की बहन शूर्पणखा सुन्दरी रमणी के रूप में लक्ष्मण के पास आकर उनसे प्रणय-निवेदन करती है, किन्तु लक्ष्मण उसके प्रणय-निवेदन को अस्वीकार कर देते हैं। द्वितीय अङ्क में लक्ष्मण द्वारा तिरस्कृत शूर्पणखा राम के पास आकर उनसे प्रणय-निवेदन करती है, किन्तु राम पुनः उसे लक्ष्मण के पास भेज देते हैं। इस बार लक्ष्मण शूर्पणखा के नाक-कानों को काट लेते हैं। विरूपा शूर्पणखा अपमानित होकर रावण के पास चली जाती

---

१. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६३४

२. म०म० कुप्पूस्वामी शास्त्री द्वारा सम्पादित, श्री बालमनोरमा सीरीज सं० ९ में मद्रास १९२६ में प्रकाशित। पुनः डॉ० रमाकान्त झा द्वारा सम्पादित 'रमा मालती' संस्कृत, हिन्दी टीका संवलित, चौ०सं० ग्रन्थमाला १३४, चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से १९६६ में प्रकाशित

३. एस० कुप्पूस्वामी शास्त्री, इन्ट्रोडक्शन टु हिज एडीशन आफ आश्चर्यचूडामणि

है। तृतीय अङ्क में रामवेष में रावण द्वारा सीताहरण की प्रमुख घटना है। यहाँ सीताहरण की घटना भिन्न रूप में वर्णित है। रामायणीय कथा के अनुसार रावण साधुवेष में सीता का हरण करता है किन्तु यहाँ वह रामवेष में धोखा देकर सीता का अपहरण करता है पश्चात् मणि के स्पर्श से रावण के कपटवेष का रहस्य खुल जाता है।

चतुर्थ अङ्क में जटायु एवं रावण के युद्ध का वर्णन है। जटायु को आहत कर रावण सीता को लंका ले जाता है। पंचम अङ्क में अशोकवाटिका में विद्यमान सीता को मनाने के लिए रावण उसके पास जाता है और उन्हें पटरानी बनाने का प्रलोभन देता है किन्तु सीता उसके प्रस्ताव को ठुकरा देती है। षष्ठ अङ्क में हनुमान सीता को राम का सन्देश सुनाते हैं। सप्तम अङ्क में रामविजय की घोषणा होती है। राम विभीषण को लंका का राजा बनाते हैं। विभीषण की सहमति से राम अशोक वाटिका से सीता को लाने का सुग्रीव को आदेश देते हैं। राम को सीता की चारित्रिक शुद्धता के विषय में जनमत का भय है। लक्ष्मण राम को सीता की अग्निपरीक्षा का परामर्श देते हैं। राम के आदेश से सीता अग्निपरीक्षा देती हैं। देवर्षि नारद वहाँ आकर और सीताशुद्धि का साक्षी बनकर राम को सीताग्रहण के लिए देवताओं के आदेश से अवगत कराते हैं। राम प्रसन्न मन से सीता के साथ अयोध्या के लिए प्रस्थान करते हैं।

पात्र-योजना की दृष्टि से इस नाटक में रामायण के सीमित किन्तु प्रमुख पात्रों का सावधानी से उपयोग किया गया है। इसमें नायक तथा प्रतिनायक पक्ष के प्रायः सभी प्रमुख पात्र आ जाते हैं। पात्रों का चयन स्वाभाविक है। सभी पात्र इसी लोक के प्राणी हैं। चरितनायक राम धर्मसंस्थापक, मर्यादावादी वीर पुरुष के प्रतीक हैं और प्रतिनायक रावण अधार्मिक, अहंकारी, कामी प्रकृति का प्रतीक है। सीता विशुद्धता की प्रतिमूर्ति हैं और शूर्पणखा छलना की मूर्ति हैं। यहाँ रावण द्वारा सीताहरण की घटना साधुवेष में न कराकर राम के कपटवेष में करायी गई है। नाटकीय चमत्कार की दृष्टि से सीताहरण की घटना महत्त्वपूर्ण है। यहाँ पर रावण और शूर्पणखा दोनों ने ही राम और सीता के वेष में राम और सीता दोनों को एक साथ ही धोखा दिया है। इसके अतिरिक्त अनसूया-वरदान की योजना शक्तिभद्र की मौलिक कल्पना है। इसका उद्देश्य सीता की अग्निपरीक्षा में औचित्य का निर्वाह है। नाटक के अन्त में सीतापरीक्षा के बाद देवर्षि नारद का आगमन भी कविकल्पित है और उसका उद्देश्य है सीता का राम के साथ निर्विघ्न मिलन।

पात्रों का विन्यास भी घटनाचक्र तथा प्रधानफल के अनुरूप ही किया गया है। कुछ पात्र तथा घटनाओं का उपयोग प्रधान पात्र के चारित्रिक वैशिष्ट्य को उभारने के उद्देश्य से किया गया है। शूर्पणखा का प्रणयनिवेदन तथा कैकेयी-वृत्तान्त रामचरित्र की उत्कर्षता में विशेष सहायक हैं। इसमें जहाँ मर्यादापुरुषोत्तम राम, पतिव्रता सीता, भ्रातृभक्त

लक्ष्मण, आदर्श मित्र जटायु और समर्पित सेवक हनुमान् का उन्नत चरित्र चित्रित है, वहीं लोकपीडक रावण, छलनामूर्ति शूर्पणखा तथा मायापरायण राक्षसों का निकृष्ट चरित्र भी अंकित है।

'आश्चर्यचूडामणि' एक नाटक है अतः इसका अङ्गीरस वीर है क्योंकि नाट्यशास्त्रीय नियमानुसार नाटक का प्रधानरस वीर या शृङ्गार ही होता है। रसनिर्णय का प्रधान आधार होता है- नाटक का मुख्य फल। नायक द्वारा अन्तिम फल के रूप में जिस रस का आस्वादन होता है, वही उसका प्रधान रस होता है। प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु की प्रकृति, अवस्था और सन्धियों के विवेचन से वीररस की सामग्री की प्रधानता ही प्रतीत होती है। आश्चर्य (अद्भुत) रस उस अङ्गीवीर रस का पोषक अङ्गरस है। इस नाटक का मुख्य फल रावणवध के अनन्तर सीता की प्राप्ति है। राम नायक हैं तथा रावण प्रतिनायक। सीता नायिका हैं तथा शूर्पणखा प्रतिनायिका। वीररस का आलम्बन है रावण तथा आश्रय हैं राम। राम के हृदय में राक्षसकुल के विनाश का उत्साह स्थायीभाव है। इस प्रकार नाटक के कथानक, घटनाचक्र तथा फलप्राप्ति के आधार पर इसका अङ्गीरस वीर है। 'आश्चर्यचूडामणि' के प्रभाव से रावण के कपटवेष के उद्घाटन में अङ्गभूत उद्भुत रस है, परिणामतः 'आश्चर्यचूडामणि' का प्रधानरस वीर और गौण रस अद्भुत है।

नाटककार शक्तिभद्र की शैली कालिदास की सुकुमार पद्धति का अनुसरण करती है। वैदर्भी रीति में प्रवाहपूर्ण काव्यरचना इस नाटक की विशेषता है। आश्रमवर्णन तथा पात्रों के भावचित्रण स्वाभाविक हैं। मूलकथा की छाया में आरम्भ से अन्त तक विस्मयोत्पादक घटनाचक्र दर्शकों को सदा समुत्सुक बनाए रखता है। भवाभिव्यक्ति की तीव्रता में कहीं-कहीं व्यञ्जनाशैली का आश्रय स्पृहणीय है। नीतिविषयक तथ्यों का यथास्थान समावेश नाटक की उपादेयता में सहायक है। अलङ्कारों के प्रयोग में कहीं भी कृत्रिमता को प्रश्रय नहीं मिला है। गद्य एवं पद्य दोनों में उपमा, उत्प्रेक्षा, रूपक, सन्देह और अर्थान्तरन्यास का समुचित प्रयोग वर्ण्यविषय की स्पष्टता का प्रतीक है। अभिनेयता की दृष्टि से यह नाटक विशेष महत्त्वपूर्ण है। इसका आकार लघु है, इसमें वन्य दृश्यों की अधिकता है, पात्रों की न्यूनता है, फलतः इसका अभिनय सरल, सुन्दर एवं नैसर्गिक हो सकता है।

'आश्चर्यचूडामणि' शक्तिभद्र की सफल नाट्यकृति है, जिसका रामकथाश्रित नाटकों में महत्त्वपूर्ण स्थान है।

प्रवासी प्रियतम की किसी वस्तु को पाकर विरहिणी की उत्कण्ठा का चित्रण स्वाभाविक है। राम की मुद्रा पाकर सीता की मनोदशा का वर्णन अत्यन्त मार्मिक है -

आरोपयत्यलकमानयति स्ववक्त्रं भूयः समाश्रयति बाहुलतोपपीडम्।।
प्रत्येकमर्पयति चाङ्गुलिपल्लवेषु ध्यानाधिकस्तमितमार्द्रमवेक्षते च।।
(आश्चर्यचूडा० ६/१४)

धीरनाग

धीरनाग अरालपुर के निवासी थे। कुछ लोग प्रसिद्ध बौद्ध आचार्य दिङ्नाग को ही धीरनाग कृत 'कुन्दमाला' का रचयिता मानते हैं, किन्तु यह मान्य नहीं है। बौद्धकवि अपने धार्मिक विषय को छोड़कर रामचरित पर नाटक लिखे, यह विश्वसनीय नहीं है। भवभूति के 'उत्तररामचरित' के पर्याप्त अनुकरण के कारण 'कुन्दमाला' नाटक ८वीं शती से प्राचीन नहीं हो सकता।[1] एम० कृष्णमाचारी धीरनाग के आगे कोष्ठक में 'मदन्त' लिखकर बौद्धकवि दिङ्नाग से धीरनाग की अभिन्नता का संकेत देते हैं।[2] डॉ० खण्डेलवाल ने दिङ्नाग को ही 'कुन्दमाला' का लेखक मानकर उनका समय १००० ई० के आसपास माना है, क्योंकि रामचन्द्र और गुणचन्द्र कृत 'नाट्यदर्पण' में दिङ्नाग की कृति का सर्वप्रथम उल्लेख है।[3] परन्तु दिङ्नाग को 'कुन्दमाला' का रचयिता माने जाने के तथ्य को एस० के० डे[4] ने स्वीकार नहीं किया है। डे महोदय ने धीरनाग को ही 'कुन्दमाला' का वास्तविक रचयिता माना है। धीरनाग ने 'कुन्दमाला' में 'उत्तररामचरित' से प्रेरणा तो अवश्य ली है, किन्तु इस प्रेरणा को ग्रहण एवं आत्मसात् करने में वह असफल रहा है।[5] 'उत्तररामचरित' से प्रभावित और 'साहित्यदर्पण' में उद्धृत होने के कारण 'कुन्दमाला' के रचयिता धीरनाग का समय ८वीं शती से १४वीं शती के बीच ११वीं शती में माना जा सकता है। अब यह निश्चित हो चुका है कि बौद्ध दिङ्नाग नाटककार धीरनाग (दिङ्नाग) से भिन्न एवं पूर्ववर्ती था।[6]

कुन्दमाला-

'कुन्दमाला'[7] धीरनाग की निःसंदिग्ध रचना है। इसका नामकरण फूलों की उस माला के आधार पर किया गया है, जिसे पवन ने उड़ाकर राम के चरणों पर गिरा दिया

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६२०
२. एम० कृष्णामाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६०४
३. डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० २४५
४. जनरल आफ दि रॉयल एशियाटिक सोसायटी, १९२४, पृ० ६६३-६६४
५. कृष्ण चैतन्य, संस्कृत साहित का नवीन इतिहास, पृ० ३७७
६. के० ए० सुब्रह्मण्य, कुन्दमाला एण्ड उत्तररामचरित-प्रोसीडिंग्स आफ ओरियण्टल कान्फ्रेन्स, पृ० ९१-१०७ (१९३३)
७. एम० रामकृष्ण कवि तथा एस० के० रामनाथ शास्त्री द्वारा सम्पादित, मद्रास, १९२३ में प्रकाशित

वा राम उस माला में सीता के हाथों की आकृति पहचान लेते हैं। 'कुन्दमाला' में 'उ त्तररामचरित' के तृतीय अङ्क के दृश्य का अनुकरण है जिसमें सीता राम को देख सकती है, किन्तु राम सीता को नहीं, फिर भी राम किसी अज्ञात कारणवश जल में सीता की छाया देखते हैं, किन्तु उन्हें यह प्रतीत होता है कि यह छाया 'तिलोत्तमा की है जो नाटक में सीता का अभिनय करने आयी है।

'कुन्दमाला' की मुख्य कथावस्तु के अनुसार राम के आदेश से लक्ष्मण गर्भवती सीता को गंगातट पर छोड़कर अयोध्या लौट आये हैं। महर्षि वाल्मीकि निर्वासिता सीता को अपने आश्रम में आश्रय देते हैं। वहीं पर सीता कुश और लव नामक युगपुत्रों को जन्म देती हैं। महर्षि वाल्मीकि कुश और लव का क्षत्रियोचित संस्कार करके उन्हें रामायण की शिक्षा देते हैं। उधर राम नैमिषारण्य में अश्वमेध यज्ञ का आयोजन करते हैं और उसमें वाल्मीकि को आमंत्रित करते हैं। महिर्ष वाल्मीकि कुश-लव और सीता के साथ नैमिषारण्य आते हैं। राम और लक्ष्मण गोमती नदी में कुन्दपुष्पों की बहती हुई माला को देखते हैं। राम उसे सीता द्वारा निर्मित समझ कर सीतावियोग में विलाप करते हैं। सीता कुञ्ज से इस दृश्य को देखती हैं। सीता-वियोग में रामविलाप का यह दृश्य बड़ा ही कारुणिक है। उसके बाद कुश और लव राम के समक्ष रामायण का गान करते हैं। पृथिवी स्वयं प्रकट होकर राम के सम्मुख सीता की पवित्रता एवं पतिव्रता होने की घोषणा करती है। अन्त में राम का सीता से पुनर्मिलन होता है, किन्तु सीता को पुनः अग्निपरीक्षा देनी पड़ती है।

'कुन्दमाला' की भाषाशैली सरल, सुबोध, प्रसादपूर्ण तथा प्राञ्जल है। इसमें लम्बे समास का अभाव है। करुण रस की मार्मिक अभिव्यक्ति है। भवभूति का 'उत्तररामचरित' यदि भाववर्णन में उत्कृष्ट है, तो धीरनाग की 'कुन्दमाला' सक्रिय नाटकीयता की प्रेक्षकों पर अमिट छाप छोड़ती है। 'कुन्दमाला' में 'उत्तररामचरित' के घटनाचक्रों की पर्याप्त अनुकृति है। विलक्षणता केवल उस दृश्य में है, जहाँ कुन्दमाला को देखकर और उसे सीता द्वारा निर्मित समझकर राम सीता की स्मृति में करुण विलास करते हैं। करुणा की अभिव्यक्ति में धीरनाग भवभूति से पीछे नहीं हैं।

यतः 'कुन्दमाला' का उल्लेख रामचन्द्र और गुणचन्द्र कृत 'नाट्यदर्पण' में हुआ है, अतः विद्वानों का अभिमत है कि धीरनाग (दिङ्नाग) ने निश्चित रूप से 'कुन्दमाला' की रचना भवभूति के बाद और भोजदेव कृत 'शृङ्गारप्रकाश' (११०० ई०) से पूर्व सम्भवतः १०वीं शती में की थी।[1]

---

१. एस० के० डे०, एनल्स भाण्डारकर ओरियन्टल रिसर्च इन्स्टीच्यूट, भाग १६, पृ० १५८ तथा ए०सी० बुलनर, वही, भाग १५, पृ० २३६

मायुराज (अनङ्गहर्ष) -

उदयन-कथाश्रित नाटकों में 'तापसवत्सराज' की विशेष ख्याति है। इस नाटक की प्रस्तावना से ज्ञात होता है कि इसके प्रणेता नरेन्द्रवर्धन के पुत्र अनङ्गहर्ष अपर नामक मातृराज थे। राजशेखर ने कलचुरि राजवंश में उत्पन्न किसी 'माउराज' की प्रशस्ति की है। आनन्दवर्धन के ध्वन्यालोक में इस नाटक के उद्धरण से इसका रचनाकाल ९वीं शती से पूर्व माना जा सकता है। इनके नाटक में भवभूति की छाया है। अतः ये मातृराज भवभूति तथा आनन्दवर्धन के मध्य (८वीं शती के उत्तरार्ध में) माने जा सकते हैं। मातृराज अनङ्गहर्ष और माउराज संभवतः एक ही व्यक्ति थे।[1]

राजशेखर की प्रशस्ति से स्पष्ट है कि माउराज 'कलचुरि' वंश के राजा थे। मायुराज भवभूति से[2] मायुराज 'कलचुरि' वंश के क्षत्रिय राजा थे। कलचुरि लोगों का राज्य मध्य प्रदेश में विस्तृत था। राजशेखर के 'बालरामायण'[3] में इस वंश की राजधानी का उल्लेख 'महिष्मती' के रूप में किया गया है। चेदि देश में नर्मदा के किनारे 'त्रिपुरी' द्वितीय कलचुरि राजधानी के रूप में प्रसिद्ध थी।[4] एम० कृष्णमाचारी ने भी कलचुरि नरेश मायुराज (अनङ्गहर्ष) को चेदिदेश का शासक माना है।[5]

उदात्तराघव-

मायुराज की दूसरी नाट्यरचना 'उदात्तराघव'[6] है। संस्कृत नाट्यसाहित्य में इसकी ख्याति एवं लोकप्रियता थी। यह प्रकाशित पुस्तक के रूप में तो उपलब्ध नहीं है किन्तु इसका उल्लेख संस्कृत ग्रन्थों में मिलता है। राम के उदात्त चरित का चित्रण इस नाटक का मुख्य उद्देश्य है। इस उद्देश्य की पूर्ति के लिए नाटककार ने रामायण की अनेक घटनाओं में प्रसङ्ग के अनुकूल परिवर्तन किया है। भवभूति की भाँति माउराज ने भी राम द्वारा छलपूर्वक बालिवध का प्रसङ्ग छोड़ दिया है। मारीचवध का प्रसङ्ग भी परिवर्तित हुआ है। 'उदात्तराघव' के अनुसार पहले लक्ष्मण ने मायामृग का पीछा किया। राम बाद में पीछे-पीछे गये। मारीचवध के अन्यथाकरण का उल्लेख कुन्तक ने किया है। दशरूपक की टीका 'अवलोक' में 'उदात्तराघव' के तीन श्लोक (३१३१, ३१५१, ४२३) उद्धृत हैं। भोजदेव ने

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५९६

२. ए०बी० कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २३२

३. बालरामायण, ३/१५

४. वही, ३/३८

५. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६३२

६. 'उदात्तराघव' नाटक का हस्तलेख डॉ. वी. राघवन को उपवलब्ध हुआ है

'सरस्वतीकण्ठाभरण' (पू० ६४५) में तथा हेमचन्द्र ने काव्यानुशासन की स्वोपज्ञ टीका में इस नाटक के श्लोक उद्धृत किए हैं। 'उदात्तराघव' नाटक की कथावस्तु का उपजीव्य 'रामायण' है।[1] बहुप्रशंसित यह नाटक रामकथाश्रित नाटकों में महत्त्वपूर्ण स्थान रखता है।

दामोदर मिश्र

महानाटक –

संस्कृत रूपकसाहित्य में 'महानाटक' की विशेष पहचान है। परम्परानुसार यह हनुमान द्वारा लिखित माना जाता है, अतः इसे 'हनुमन्नाटक' भी कहते हैं। यह नाटक बहुत दिनों तक विलुप्त था, अन्त में समुद्रतट पर उत्कीर्ण प्रस्तर-शिलाएँ प्राप्त हुईं जिनमें यह यह पुनः प्राप्त हुआ। यह धारानरेश भोज के शासनकाल में घटित हुआ। 'भोजप्रबन्ध' की एक कथा के अनुसार कुछ पद्य जो हनुमान् को समर्पित थे, एक व्यापारी द्वारा खोजे गये, जिन्हें समुद्र तट पर शिलाओं में अङ्कित पाया गया। राजा भोज ने घटनास्थल पर एक पद्य पढ़ा जो 'महानाटक' में पाया जाता है। आज यह एक बृहदाकार ग्रन्थ के रूप में उपलब्ध है जो नाटक की अपेक्षा काव्य अधिक है। इसमें अन्य ग्रन्थों के पद्य मुक्तरूप से गृहीत हैं। इसमें भाव उत्तम और विचार कल्पनाप्रसूत हैं। शारदातनय ने 'भावप्रकाश'[2] में 'महानाटक' को समग्र प्रकार की रचना कहा है। 'भावप्रकाश' का रचनाकाल १२-१३वीं शती है। 'महानाटक' अधिकाधिक १०वीं शती में राजा भोज के शासनकाल की कृति माना जा सकता है।[3] 'हनुमन्नाटक' के उद्धरण आनन्दवर्धन (८५० ई०) के 'ध्वन्यालोक' में मिलते हैं, अतः इसका रचनाकाल ९वीं शती से पूर्व भी माना जा सकता है।[4]

'महानाटक' आज दो परिमार्जित संस्करणों में, जो एक दूसरे से विषयसामग्री और श्लोक संख्या में पर्याप्त भिन्न हैं, उपलब्ध है। उनमें से एक दामोदर मिश्र द्वारा संकलित पूर्ववर्ती प्रतीत होता है। संभवतः यह राजा भोज के समय का है और इसका उद्धरण 'सरस्वतीकण्ठाभरण' में मिलता है। दामोदर मिश्र संकलित रचना में १४ अङ्क हैं और उसमें रामायण की प्रायः सम्पूर्ण कथा वर्णित है। इस पर मोहनदास और आर० शिरोमणि द्वारा टीकाएँ लिखी गई हैं। दूसरा संशोधित संस्करण मधुसूदन मिश्र का है। इसमें केवल

---

१. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६३२

२. सर्ववृत्तिनिष्पन्नं सर्वलक्षणसंयुतम्
समग्रं तत्प्रतिनिधिः महानाटकमुच्यते।। – भावप्रकाश, पृ० २४५

३. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६४१

४. डॉ० जयकिशन प्र० खण्डेलवाल, संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० २४१

९ अङ्क हैं और वर्णन संक्षिप्त है। इस पर चन्द्रशेखर, नारायण तथा मोहनदास की टीकाएँ हैं।[1]

'महानाटक' के मूल लेखक हनुमान् थे, इसका स्पष्ट संकेत दामोदर मिश्र संकलित ग्रन्थ के अन्तिम पद्य[2] से मिलता है। डा० एस० के० डे के अनुसार इसका मूलरूप शिलालेख से प्राप्त किया गया था और मधुसूदन मिश्र की अपेक्षा दामोदर मिश्र का संस्करण प्रारंभिक है। कथावस्तु के विवेचन से यह स्पष्ट है कि 'महानाटक' नाट्यप्रकृति से सामीप्य तो रखता है, किन्तु नाट्यशास्त्र की दृष्टि से यह नाटक की कोटि में आने योग्य नहीं है, क्योंकि इसमें संवाद बहुत कम हैं, वर्णन की अधिकता है, सूत्रधार एवं विष्कम्भक नहीं हैं। यह दृश्य की अपेक्षा वर्ण्य काव्य है और इसे पद्यों का संग्रह कहा जा सकता है। मैक्समूलर भी इसे नाटक की अपेक्षा काव्य मानते हैं और प्राचीन काल में भारतीय नाटकों के विकास की आरम्भिक अवस्था का अनुमान करते हैं। पिशेल और ल्यूडर्स ने इसे 'छायानाटक' की आरम्भिक अवस्था का द्योतक माना है।[3]

'महानाटक' का इतिहास विलक्षण है। टीकाकार मोहनदास और 'भोजप्रबन्ध' में वर्णित कथाओं का तात्पर्य एक ही है - शिलाओं पर अङ्कित अंशों को राजा भोज के आदेशानुसार समुद्र से निकाल कर नाटक का ग्रथन किया गया। परम्परागत कथा यह है कि हनुमान् ने स्वयं इस नाटक की रचना की थी। वाल्मीकि ने समझा कि यह नाटक उनके आदिकाव्य रामायण को प्रभावहीन कर देगा। उनकी तुष्टि के लिए उदारचेता हनुमान् ने अपने शिलालिखित नाटक को समुद्र में डलवा दिया। इससे निश्चित अनुमान होता है कि इस नाटक में कुछ प्राचीन सामग्री गुम्फित थीं। इस अनुमान की पुष्टि इस तथ्य से होती है कि आनन्दवर्धन ने इस नाटक के तीन पद्य उद्धृत किए हैं, किन्तु उनके स्रोत का उल्लेख नहीं किया है। अपने वर्तमान रूप में यह नाटक साहित्यिक अनुहरण से आपूर्ण है। इसमें भवभूति, मुरारि और राजशेखर के नाटकों से भाव एवं शब्दार्थ हरण किए गये हैं। इसके उपलब्ध दो संस्करणों में ६ अङ्कों वाले संस्करण में ७३० पद्य हैं। इसके विपरीत १४ अङ्कों वाले संस्करण में ५८१ पद्य हैं। इनमें ३०० पद्य उभयनिष्ठ हैं।[4]

---

१. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६४१

२. रचितमनिलपुत्रेणाथ वाल्मीकिनाब्धै निहितममृतबुद्ध्या प्राङ् महानाटकं यत्
सुमतिनृपतिभोजेनोद्धृतं तत्क्रमेण ग्रथितमवतु विश्वं मिश्रदामोदरेण।। अनु० ना० १४/६६

३. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६२

४. ए० बी० कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २८६-८७

इस नाटक में संक्षिप्त नान्दी है, किन्तु प्रस्तावना नहीं है। नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है - शिव का धनुष तोड़कर सीता से विवाह करने के लिए राम मिथिला पहुँचते हैं। कथानक का यह अंश सीता, जनक, राम आदि के संवाद के रूप में प्रस्तुत है। पुनः परशुरामप्रसङ्ग एवं सीताविवाह का वर्णन है। द्वितीय अङ्क अनाटकीय है। उसमें राम के साथ सीता के विहार का ललित वर्णन है। तृतीय अङ्क भी मुख्यतः वर्णनात्मक है। उसमें मृगरूपधारी मारीच का पीछा करने के लिए राम-लक्ष्मण के प्रस्थान तक की कहानी है। चतुर्थ अङ्क में राम अपनी सूनी कुटी में लौटकर आते हैं। पञ्चम अङ्क में राम सीता की खोज करते हैं और हनुमान् को सीता का पता लगाने के लिए लंका भेजते हैं। षष्ठ अङ्क में सीता को राम का संदेश देकर हनुमान् राम के पास लौट आते हैं। सप्तम अङ्क में वानरी सेना के साथ राम समुद्र को पार करते हैं। अष्टम अङ्क नाटकीय है। उसमें बालिपुत्र अङ्गद राम का दूत बनकर रावण के पास जाते हैं। शेष अङ्कों में युद्धवर्णन का नीरस विस्तार है जो इतना त्रुटिपूर्ण है कि 'रामायण' तथा पूर्ववर्ती रामकथाश्रित नाटकों के ज्ञान के बिना बोधगम्य नहीं है।

इस नाटक के दोनों संस्करण सामान्यतः संवादप्रधान हैं, किन्तु उनके सूक्ष्म विवरण एक समान नहीं हैं। कीथ के अनुसार इस नाटक का महत्त्व इस दृष्टि से अवश्य है कि इसका वर्तमान रूप संभवतः उस युग के नाटकरूप का संकेत करता है जब नाटक महाकाव्यात्मक प्रभाव से पूर्णतः मुक्त नहीं हुआ था। इसके अङ्कों की असाधारण संख्या से यह सूचित होता है कि इस रचना का विभाजन सामान्य नाटक के रूप में न करके किसी अन्य रूप में किया गया है।[1]

'महानाटक' का कथानक बहुत व्यापक है। इसमें प्रायः रामकथा से सम्बद्ध सभी घटनाओं का समावेश है। इसमें अन्वितित्रय-कार्य, स्थान और काल का अभाव है। इसमें छन्दों का वैविध्य है। छन्दों में शार्दूलविक्रीडित, अनुष्टुप्, वसन्ततिलक, मालिनी, इन्द्रवज्रा, और स्रग्धरा प्रमुख हैं। नाटकीय संविधान की दृष्टि से यह पूर्णतः सफल नाटक नहीं माना जाता है।

मुरारि

अधिकांश संस्कृत साहित्य के कवियों की भाँति मुरारि का परिचय भी अपूर्ण-सा है। उनकी एकमात्र रचना 'अनर्घराघव' की प्रस्तावना में उनका स्वरूप परिचय मिलता है, जिसके अनुसार वे मौद्गल्य गोत्र में उत्पन्न हुए थे। उनके पिता वर्धमान और माता तन्तुमती थीं। उनकी उपाधि 'बालवाल्मीकि' थी।[2] मुरारि नर्मदा नदी के तट के निकटवर्ती माहिष्मती (आधुनिक मान्धाता नगरी) के निवासी थे।[1]

---

१. ए० बी० कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० पृ० २८८

२. अस्ति मौद्गल्योत्रसम्भवस्य बालवाल्मीकेर्महाकवेर्भट्टश्रीवर्धमानतनुजन्मनस्तन्तुमतीनन्दनस्य मुरारेः कृतिरभिनवमनर्घराघवं नाम नाटकम्। - अनर्घराघव, प्रस्तावना

मुरारि निश्चय रूप से भवभूति के पश्चाद्वर्ती नाटककार हैं, क्योंकि एक सूक्ति- "मुरारिपदचिन्तायां भवभूतेस्तु का कथा। भवभूतिं परित्यज्य मुरारिमुररीकुरु।।" - इस तथ्य की पुष्टि में प्रमाण है। रत्नाकर ने 'हरविजय' में मुरारि का उल्लेख किया है।[२] अतः रत्नाकर से पूर्ववर्ती और भवभूति के पश्चाद्वर्ती मुरारि का समय ८वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है।[३] एम० कृष्णमाचारी मुरारि का समय ८वीं शती का अन्त और ९वीं शती का आरम्भ मानते हैं।[४] डा० डे और कृष्णचैतन्य मुरारि को ९वीं शती के उत्तरार्ध का नाटककार मानते हैं।[५] कीथ के अनुसार मुरारि का समय अनिश्चित है, किन्तु वे भी मुरारि को भवभूति के पश्चाद्वर्ती मानते हैं। वे इस तथ्य को भी स्वीकार करते हैं कि रत्नाकर ने हरविजय में मुरारि का नाटककार के रूप में स्पष्ट उल्लेख किया है, अतः कीथ के अनुसार भी मुरारि भवभूति और रत्नाकर के मध्यवर्ती नाटककार हैं।[६]

अनर्घराघव

मुरारि की एकमात्र निर्विवाद नाट्यकृति 'अनर्घराघव' है। इस नाटक की रचना का उद्देश्य राम के उदात्त चरित्र के माध्यम से रौद्र, वीभत्स, भयानक, अद्भुत रस से ऊबे हुए प्रेक्षकों को उदात्त, वीर और आद्योपान्त अद्भुत रस से आनन्दित करना है। सात अङ्कों के इस विशालकाय नाटक में ताडकावध से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की रामकथा को नाटकीय रूप दिया गया है। इसकी कथावस्तु का आधार वाल्मीकिरामायण है जिसका स्पष्ट उल्लेख नाटक की प्रस्तावना में है- 'अहो सकलकविसार्थसाधारणी खल्वियं वाल्मीकीया सुभाषिनीवी।'

कथानक -

रामचरित पर आधारित 'अनर्घराघव'[७] सात अङ्कों का विशालकाय नाटक है। इसमें राम के उदात्त एवं आदर्श चरित का नाटकीय चित्रण है, किन्तु यह भवभूति के रामचरितविषयक नाटकों की ऊँचाई को छू नहीं सका है। इसके प्रथम अङ्क में राजा

---

१. चन्द्रशेखर पाण्डेय, संस्कृत साहित्य की रूपरेखा, पृ० २२०

२. अङ्कोत्थनाटक इवोत्तमनायकस्य नाशं कविव्यर्थयित यस्य मुरारिरितिम्। -हरविजय, ३८/६७

३. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ५६६

४. एम० कृष्णमचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल लिट्रेचर, पृ० ६३७

५. डॉ० डे, हिस्ट्री आफ संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ४५०; कृष्ण चैतन्य, संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास, पृ० ३७६

६. ए० बी० कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २३७

७. काव्यमाला, बम्बई १८९४। सम्प्रति विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला सं०, ४७, चौखम्बा, वाराणसी से १९६० में प्रकाशित

दशरथ वामदेव से वार्तालाप करते हुए दृष्टिगोचर होते हैं। उसी समय महर्षि विश्वामित्र आकर आश्रमधर्म के बाधक राक्षसों का संहार करने के लिए राजा से राम और लक्ष्मण की याचना करते हैं। दशरथ विश्वामित्र के आग्रह को स्वीकार कर उन्हें राम और लक्ष्मण को सौंप देते हैं। द्वितीय अङ्क के आरम्भिक विष्कम्भक में विश्वामित्र के दो शिष्यों शुनःशेप और पशुमेद्र का लम्बा संवाद है जिससे बालि, रावण, जाम्ववन्त और ताडका के इतिहास पर प्रकाश पड़ता है। विष्कम्भक के बाद रङ्गमंच पर राम और लक्ष्मण प्रवेश करते हैं। उसी समय नेपथ्य से ताडका के आने की सूचना मिलती है। राम स्त्रीहत्या में संकोच करते हुए भी कर्तव्यपालन की दृष्टि से अन्ततः ताडका का वध करते हैं। विश्वामित्र मिथिलानरेश जनक के यहाँ चलने का प्रस्ताव करते हैं।

तृतीय अङ्क में पारिचारिका कलहंसिका और कञ्चुकी की बातचीत से सीता के विवाहयोग्य होने का संकेत मिलता है। राजा जनक अपने पुरोहित शतानन्द के साथ राम का अभिनन्दन करते हैं। रावण का दूत शौष्कल जनक से रावण के साथ सीता के विवाह का निवेदन करता है। वह सीता-विवाह में शिवधनुष को तोड़ने का प्रस्ताव अस्वीकार करके चला जाता है। राम को शक्तिपरीक्षा का अवसर मिलता है। वे विश्वामित्र के आदेश से शिवधनुष को तोड़कर सीता के साथ विवाह करते हैं। राम के अन्य तीनों भाइयों का भी विवाह वहीं होता है। चतुर्थ अङ्क में रावण के मंत्री माल्यवान् की योजना के अनुसार शूर्पणखा कैकेयी की दासी मन्थरा के वेष में कैकेयी का एक पत्र दशरथ को देती है जिसमें राम को चौदह वर्ष का वनवास और भरत को राजगद्दी देने की माँग है। इसी अङ्क में सीताविवाह के बाद राम-परशुरामसंघर्ष का भी वर्णन है। राम वनवास के दुःखद प्रसङ्ग से दशरथ और जनक मर्माहत हाकर मूर्च्छित हो जाते हैं।

पञ्चम अङ्क में जाम्बवन्त और तापसी श्रवणा के संवाद में राम के वनागमन तक की घटनाओं का वर्णन है। उसके बाद मारीच की सहायता से छद्मवेषी रावण द्वारा सीता का अपहरण होता है। जटायु द्वारा सीता को बचाने का असफल प्रयास होता है। सीताहरण के बाद शोकाकुल राम और लक्ष्मण वन में भटकते रहते हैं। कबन्ध से आक्रान्त गुहराज की लक्ष्मण रक्षा करते हैं। बालि राम को युद्ध के लिए ललकारता है। राम बालि का वध करते हैं। राम और सुग्रीव में मैत्री होती है। नेपथ्य से सुग्रीव के राज्याभिषेक की सूचना मिलती है। लक्ष्मण निषादराज के साथ सुग्रीव के राज्याभिषेक में सम्मिलित होने के लिए जाते हैं। सुग्रीव सीताप्राप्ति में राम की सहायता के लिए कृतसंकल्प हैं।

षष्ठ अङ्क में रावण के दो गुप्तचर सारण और शुक समुद्र पर सेतुनिर्माण और रामसेना-आगमन का विवरण माल्यवान् को देते हैं। नेपथ्य से कुम्भकर्ण और मेघनाद के युद्ध के लिए प्रस्थान और उनके वध, युद्ध के लिए रावण के अन्तिम प्रयाण तथा राम द्वारा

रावणवध की सूचना दी जाती है। सप्तम अङ्क में राम, सीता, लक्ष्मण और सुग्रीव कुबेर के पुष्पक से अयोध्या के लिए प्रस्थान करते हैं। वे सुमेरु और चन्द्रलोक के अवलोकनार्थ अन्तरिक्ष लोक में जाते हैं। तत्पश्चात् सिंहल के वर्णन के साथ उनकी भूलोक यात्रा प्रारम्भ होती है। वे मलय पर्वत, अरण्य, प्रस्रवणगिरि, गोदावरी, काञ्ची, उज्जयिनी, माहिष्मती, वाराणसी और प्रयाग होते हुए अयोध्या पहुँचते हैं। वहाँ गुरु वशिष्ठ के साथ भरत राम के राज्याभिषेक के लिए प्रतीक्षा कर रहे हैं।

मूल्याङ्कन –

'अनर्घराघव' - रचना का उद्देश्य राम का उदात्त चरित्र चित्रण है, किन्तु रामचरित विषयक परम्परागत कथा में सुधार का कोई विशेष प्रयास नहीं किया गया है। इसमें बालिवध का औचित्य वर्णित है। नाटक के पात्र रूढिबद्ध हैं। कथानक बोझिल है। भाववर्णन में अतिशयोक्ति और संवादयोजना में शिथिलता है। हाँ, प्रभावशाली छन्दों के अनुरूप शब्दविन्यास में मुरारि की कुशलता स्पृहणीय है। जहाँ तक कथानकसंविधान की बात है, नाटककार ने सम्पूर्ण रामायण की कथा को नाटक की कथावस्तु बना दिया है, अतः इसमें सूच्यकथा की बहुलता है। चतुर्थ अङ्क में नेपथ्य से दशरथ एवं जनक का संवाद नाटकीय दृष्टि से अनावश्यक है। मुरारि ने कथानक में कार्यव्यापार की अपेक्षा वर्णन को अधिक महत्त्व दिया है। संस्कृत शब्दभण्डार पर मुरारि का पूर्ण अधिकार है। व्याकरण के दुर्बोध पद प्रयोग के कारण कवि को विशेष ख्याति मिली है। मुरारि की अभिव्यञ्जना का एक सशक्त उदाहरण सप्तम अङ्क के एक मनोहारी शृङ्गारिक पद्य में द्रष्टव्य है-

"अनेन रम्भीरु भवन्मुखेन तुषारभानोस्तुलया धृतस्य।
अनस्य नूनं परिपूरणाय ताराः स्फुरन्ति प्रतिमानखण्डाः।।" आ०रा० ७/७

हे सीते, तुम्हारे मुख से तुलना करने के लिए चन्द्रमा पलड़े पर रखा गया, उसमें कमी दिखायी पड़ी, उसकी पूर्ति के लिए पासंग के रूप में तारे चमक रहे हैं। शृंगारप्रेमी मुरारि विश्वामित्र सदृश महर्षि को भी सौन्दर्यसागर का अवगाहन कराते हैं-

"फेलोमीकुचपत्रभङ्गरचनाचातुर्यमध्यापितः।" अ०रा० ६/६७

भवभूति की भाँति मुरारि भी करुणरस की धारा बहाते हैं। सीता हरण के पश्चात् राम कहते हैं- **"स्फुरति जडता वाष्पायेते दृशौ गलति स्मृति-**
र्भयि रसतया शोको भावश्चिरेण विपच्यते।।" अ०रा० ५/२२

मुरारि में भवभूति के समान काव्यप्रतिभा नहीं है, अतः अभिनय की दृष्टि से अनर्घराघव संदिग्ध नाटक है। सप्तम अङ्क में लंका से अयोध्या आने का प्रसंग रघुवंश के त्रयोदश सर्ग से तथा विस्तृत चन्द्रवर्णन नैषधीयचरित के चन्द्रवर्णन से प्रभावित है। मुरारि

मानव हृदय की परख में भवभूति से कमजोर हैं, किन्तु अपने पौराणिक ज्ञान, शब्दवैभव, गम्भीर पदसन्निवेश तथा मौलिक उपमाओं के प्रयोग में कुशल हैं। अनर्घराघव मुरारि की वैदुष्यपूर्ण रचना होकर भी प्रमाद, माधुर्य, अर्थगौरव और उपमा-चमत्कार का शोभन उदाहरण है। निष्कर्षतः मुरारि का यह नाटक अभिनययोग्य होने की अपेक्षा पठनयोग्य काव्य ही बन कर रह गया है।

जयदेव

'प्रसन्नराघव' नाटक के प्रणेता जयदेव अपने लक्षणग्रन्थ 'चन्द्रालोक' के लिए भी प्रसिद्ध हैं। ये मैथिल और न्यायशास्त्र में 'आलोक' नामक टीका के लेखक जयदेव से अभिन्न और गीतगोविन्दकार जयदेव से भिन्न हैं। 'प्रसन्नराघव' की प्रस्तावना[1] से इतना ज्ञात होता है कि जयदेव का गोत्र कौण्डिन्य था और ये सुमित्रा तथा महादेव के पुत्र थे। चन्द्रालोक[2] में भी जयदेव के माता-पिता का नाम सुमित्रा और महादेव ही है। 'गीतगोविन्द' के रचयिता जयदेव भोजदेव तथा राधा (रामा) के पुत्र और ११वीं शती के लक्ष्मणसेन के समकालीन थे। ये बंगाल के केन्द्रबिल्व के निवासी थे। इस प्रकार जयदेव माता, पिता, स्थान एवं समय की भिन्नता के कारण 'गीतगोविन्द' के लेखक जयदेव से भिन्न और परवर्ती कवि हैं।[3] चन्द्रालोक में जयदेव ने अपने को 'पीयूषवर्ष' और प्रसन्नराघव में 'कवीन्द्र' कहा है। विश्वनाथ कविराज (१४वीं शती) ने प्रसन्नराघव का 'कदली कदली करभः करभः' यह पद्य ध्वनि के उदाहरण में उद्धृत किया है। साथ ही १३३० ई० के आसपास सिंह भूपालरचित 'रमार्णव सुधाकर' में 'प्रसन्नराघव' से दो सन्दर्भ उद्धृत है। उपर्युक्त साक्ष्यों के आधार पर जयदेव का समय १३वीं शती सिद्ध होता है।[4] कीथ ने जयदेव का समय १२०० ई० माना है।[5]

प्रसन्नराघव –

जयदेव रचित 'प्रसन्नराघव'[6] सात अङ्कों का एक नाटक है, जिसमें रामायण की कथा को नाटकीय रूप दिया गया है। इसमें मूलकथा में कतिपय मार्मिक परिवर्तन भी किए गये हैं। सात अङ्कों के इस नाटक में प्रथम चार अङ्कों में जयदेव ने रामायण के

१. कवीन्द्रः कौण्डिन्यः स तव जयदेवः श्रवणयो-
रयासीदातिथ्यं न किमिह महादेवतनयः।। प्र० रा० १/१४

२. महादेवः समप्रमुखमखविद्यैकचतुरः सुमित्रा तद्भक्तिप्रणिहितमतिर्यस्य पितरौ।। – चन्द्रालोक १/१५

३. आचार्य बलदेव उपाध्याय, मध्यकालीन संस्कृत का इतिहास, पृ० ६१५

४. डा० रामजी उपाध्याय, मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ २८६

५. कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २५७-५८

६. प्रसन्नराघव का प्रकाशन पूना से १८६४ में, बम्बई से १८६४ और १६१४ में तथा बनारस के विद्याभवन संस्कृत ग्रन्थमाला सं० २० में चौखम्बा से १६६३ में हुआ है

बालकाण्ड की कथा को विस्तार दिया है। इस नाटक में रावण और बाणासुर की सीता-याचना से आरंभ होकर रावणवध के पश्चात् राम के अयोध्या लौटने तक की कथा वर्णित है। नाटक का कथानक इस प्रकार है-

प्रथम अङ्क में याज्ञवल्क्य का एक शिष्य रङ्गमञ्च पर आकर दो भौंरों द्वारा नेपथ्य में किए गये संवाद को दुहराता है। मञ्जरीक, नुपूरक नाम दो चारणों द्वारा सीता स्वयंवर की सूचना दी जाती है। सीता से विवाह करने के लिए बाणासुर रावण का प्रतिद्वन्द्वी है। दोनों अपने-अपने भुजबल की प्रशंसा करते हैं और परस्पर संघर्ष के लिए उद्यत होते हैं।

द्वितीय अङ्क में जनक की वाटिका में राम सीता को प्रथम बार देखते हैं। वहाँ सीता और राम वासन्ती लता तथा आम्र के संयोग की सुन्दरता का वर्णन करते हैं। यह उनके भावी मिलन का सूचक है। तृतीय अङ्क में विश्वामित्र, शतानन्द, जनक, दशरथ, राम और लक्ष्मण के पारस्परिक प्रशंसावचनों की लम्बी शृङ्खला है। विश्वामित्र राम और लक्ष्मण के साथ रङ्गभूमि में आते हैं। जनक राम के अलौकिक सौन्दर्य पर मुग्ध हैं। विश्वामित्र राम को धनुष चढ़ाने का आदेश देते हैं। राम धनुष तोड़ते हैं। शिवधनुष के टूटते ही सर्वत्र आनन्द छा जाता है। राम का सीता के साथ विवाह सम्पन्न होता है। चतुर्थ अङ्क में परशुराम का प्रसङ्ग है। शिवधनुष के टूटने से परशुराम क्रुद्ध हैं। उनका राम-लक्ष्मण के साथ पहले वाग्युद्ध होता है। तत्पश्चात् राम परशुराम से युद्ध करके विजयी होते हैं। पंचम अङ्क में अगङ्गा, यमुना और सरयू के संवाद में राम का वनवास, दशरथमरण आदि घटनाएँ वर्णित हैं। हँस नामक पात्र सीताहरण तक की कथा सुनाता है। इसी अङ्क में बालिवध तथा सुग्रीवमैत्री का भी वर्णन है।

षष्ठ अङ्क में सीता के वियोग में शोकाकुल राम का बड़ा ही मार्मिक चित्रण है। राम खगों, तरुलताओं और चन्द्रमा से प्राणप्रिया सीता के विषय में पूछते हैं। सौभाग्यवश दो विद्याधर मायाशक्ति द्वारा उन्हें लंका की घटनाओं को दिखाते हैं। निराश सीता अशोकवन में राम के असह्य वियोग में चिता में जलने का उपक्रम करती हैं, किन्तु उसी समय रामदूत हनुमान् वहाँ आकर उन्हें आश्वस्त करते हैं। सप्तम अङ्क में प्रहस्त रावण को एक चित्र देता है जिसमें राम के आक्रमण और समुद्र पर सेतुनिर्माण के दृश्य अङ्कित हैं। रावण को लंका पर राम के आक्रमण का आभास मिलता है। वह युद्ध के लिए मेघनाद और कुम्भकर्ण को भोजता है। वे दोनों मारे जाते हैं। अन्त में रावण स्वयं युद्धभूमि में जाता है और युद्ध में मारा जाता हे। तत्पश्चात् राम, सीता, लक्ष्मण, विभीषण और सुग्रीव रङ्गमञ्च पर आकर क्रमशः सूर्यास्त और चन्द्रोदय का वर्णन करते हैं और पुष्पक विमान पर चढ़कर अयोध्या के लिए प्रस्थान करते हैं।

मूल्याङ्कन -

प्रसन्नराघव के गहन अध्ययन से स्पष्ट है कि इसमें नाटकीय तत्त्वों की अपेक्षा कवित्व को प्रधानता है। कवि में कोमल कान्त पदावली में काव्यकला की पूर्ण अभिव्यक्ति की क्षमता है। नाट्यशिल्प और संविधान की दृष्टि से इसमें पात्रों को दो वर्गों में रखा गया है। एक वर्ग में राम और लक्ष्मण और दूसरे वर्ग में सीता और उनकी सखियाँ हैं। एक वर्ग दूसरे वर्ग से छिपे रहने के भाव में रङ्गमञ्च पर उपस्थित है। द्वितीय अङ्क का वाटिका-वृ त्तान्त कवि की अभिनव कल्पना है। इस नाटक के पंचम अङ्क की नवीन चित्रमयी संकल्पना विशेष महत्त्व रखती है जिसमें सागर के चतुर्दिक् समवेत नदियों का दृश्य मनोरम झाँकी का अद्भुत अवसर उपस्थित करता है। यह दृश्य नाटकीय व्यापार से अलग-अलग सा प्रतीत होता है।

षष्ठ अङ्क में राम का विरही रूप अत्यन्त कारुणिक है जब वे वन की प्रत्येक वस्तु से सीता के विषय में पूछ-पूछ कर बिलखते हुए घूमते हैं। सप्तम अङ्क में लक्ष्मण के मूर्च्छित होने पर राम का विलाप कितना मार्मिक है-

"हा वत्स लक्ष्मण विकासय नेत्रपद्मे मा गादिदं युगपदेव समस्तमस्तम्।
भाग्यं दिवाकरकुलस्य च जीवितं च रामस्य किं च नयनाञ्जनमूर्मिलायाः।

प्र.रा. ६/३०

विद्याधर की मायाशक्ति से राम के समक्ष लंका में सीतावस्था का प्रदर्शन और सीता की अग्निपरीक्षा में अंगारों के मोती बन जाने का संकेत कवि की कल्पनाप्रसूति के उदाहरण हैं। षष्ठ अङ्क जयदेव की नयी देन है। इसमें गर्भाङ्क के स्थान पर इन्द्रजालाङ्क का सन्निवेश है। इसकी प्रमुख विशेषता है रङ्गमञ्च पर इन्द्रजाल के द्वारा पात्रों का प्रस्तुतीकरण। इस नाटक की लम्बी संवाद-योजना उबाने वाली होकर भी लोकोक्तियों के समावेश से सजीव बन गई है। नाटकीय संविधान की दृष्टि से दृश्य कथावस्तु को अङ्क में और सूच्यकथा को अर्थोपक्षेपक में प्रस्तुत करने में जयदेव शिथिल हैं। सम्पूर्ण पंचम अङ्क में सूच्य कथा का ही सन्निवेश है, चरित का अभिनयात्मक दृश्य नहीं। नाटक में नाटकीयता की अपेक्षा कवित्व एवं सूक्तिसौन्दर्य की अधिकता है। इसकी भाषा परिष्कृत, उदार, मधुर एवं ललित है। पदविन्यास प्रसादगुण सम्पन्न है। जयदेव की कवित्व छाया अनेक परवर्ती रचनाओं में प्रतिबिम्बित है। तुलसी और केशवदास से प्रसन्नराघव के कतिपय पद्यों का अनुवाद सा किया है। द्वितीय अङ्क का वाटिका-वृत्तान्त तुलसी के 'मानस' के फुलवाड़ी प्रसङ्ग का उपजीव्य है।

महादेव

महादेव कौण्डिन्य गोत्र के कृष्णसूरि के पुत्र थे। ये रामभद्र दीक्षित (१७वीं शती) के समकालिक और मद्रास के 'पलमारनेरी' (पामानेर) के निवासी थे। नीलकण्ठ दीक्षित महादेव के समसामयिक थे, अतः इनका समय १७वीं शती का पूर्वार्ध माना जाता है।[1] ए०बी० कीथ ने भी महादेव को कृष्णसूरि का पुत्र और रामभद्र दीक्षित का समकालिक माना है।[2] कृष्णचैतन्य के अनुसार भी महादेव १७वीं शती के नाटककार हैं।[3] महादेव बालकृष्ण गुरु के अन्तेवासी थे, इसकी सूचना 'अद्भुतदर्पण' की समाप्ति पर ग्रन्थकर्ता के प्रशस्तिपरक पद्य सं. ३[4] से प्राप्त होती है। बालकृष्ण गुरु के समकालीन नीलकण्ठ दीक्षित थे, इसका उल्लेख रामभद्र दीक्षित रचित 'जानकी-परिणय' में है। नीलकण्ठ दीक्षित ने 'नीलकण्ठविजय चम्पू' की रचना १६३७ में की थी।[5] अतः नीलकण्ठ के भी समकालिक होने के कारण महादेव का समय १७वीं शती निर्विवाद है।

अद्भुत दर्पण -

नाटककार महादेव प्रणीत 'अद्भुत दर्पण'[6] रामकथाश्रित नाटकों में उल्लेखनीय है। दश अङ्कों के इस नाटक में रावण के पास अङ्गद के दूत बनकर जाने से लेकर राम के राज्याभिषेक तक की घटनाओं का वर्णन है। इसमें रामविषयक नाटकों की परम्परा के विपरीत विदूषक की भी योजना है। यह नाटक पीयूषवर्ष जयदेव से इस बात से प्रभावित है कि इसमें माया के द्वारा लंका की घटना घटित होती हुई दिखायी गई। 'अद्भुत दर्पण' बहुत अंशों तक एक ऐसे अभिचारीय दर्पण पर आधारित है जिसमें राम लंका की घटनाओं का प्रतिबिम्ब देखते हैं।[7]

'अद्भुत दर्पण' के अध्ययन से इसके पाँच प्रमुख घटनाचक्रों का संकेत मिलता है- (१) बालिपुत्र अङ्गद का रावण के पास दूत बन कर जाना। (२) रावण द्वारा सीता को वश में करने के उद्देश्य से शूर्पणखा के माध्यम से राम के कृत्रिम कटे सिर एवं धनुष को सीता के पास भेजना। (३) राम द्वारा अद्भुत दर्पण के माध्यम से सीता के लिए त्रिजटा द्वारा रावण पर रामविजय की माया-नाटिका का अवलोकन। (४) रावण द्वारा

---

१. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६६५

२. ए० बी० कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २६०

३. कृष्णचैतन्य, संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास, पृ० ३७६

४. 'तन्निर्यन्त्रणबालकृष्णभगवत्पादप्रसादोन्मिषत्', अद्भुतदर्पण, ग्रन्थकार प्रशस्ति, पृ० १४५

५. सुब्रह्मण्यशास्त्री, 'अद्भुत दर्पण' नाटक के प्रणेता महादेव पर टिप्पणी, पृ० १

६. सम्पादक, शिवदत्त एवं के०पी० पर्व, बम्बई १६०६ में प्रकाशित। पुनः शिवदत्त के पुत्र भवदत्त द्वारा संशोधित द्वितीय संस्करण काव्यमाला ५५ में बम्बई से १६३८ में प्रकाशित।

७. कृष्णचैतन्य, संस्कृत साहित्य का नवीन इतिहास, पृ० ३७६

छिपकर अशोकवन में सीता के समक्ष प्रदर्शित रामविजय का दृश्य देखना। (५) अन्त में रावण पर विजय प्राप्त कर सीता के साथ राम का अयोध्यागमन और वहाँ राज्याभिषेक।

नाटक का पंचम अङ्क इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमें रावण के आदेश से शूर्पणखा राम के कृत्रिम सिर और धनुष को लेकर सीता के पास जाती है और सीता को यह परामर्श देती है कि तुम्हारा स्वामी राम रावण के द्वारा मारा गया। अब तुम राम की आशा छोड़ कर रावण की राजमहिषी के रूप में स्वर्णपुरी लङ्का का राज्यसुख भोगो। 'हनुमन्नाटक' के अष्टम अङ्क में रावण माया का आश्रय लेकर राम और लक्ष्मण के कटे हुए सिरों को लेकर सीता के पास जाता है, किन्तु आकाशवाणी के द्वारा सीता को रावणमाया की सूचना मिल जाती है। संभवतः 'हनुमन्नाटक' की इसी घटना की प्रेरणा से 'अद्भुत दर्पण' में सीता के समक्ष राम का कटा हुआ सिर शूर्पणखा द्वारा दिखाया गया है। इसी अङ्क में रावणपक्ष के माल्यवान् और मय के सवांद में माल्यवान् द्वारा परमपुरुष के रूप में राम का प्रभाव-वर्णन रामचरित की उदात्तता का उदाहरण है।

षष्ठ अङ्क इस दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है कि इसमें उस 'मणिदर्पण' का वर्णन है जो पहले रावण के मुकुट में था और सुग्रीव के पादप्रहार से वह दर्पण बहुत दूर जाकर गिरा था जिसे प्रथमतः सम्पाति ने विभीषण को दिखया था और विभीषण ने उसे राम को समर्पित किया था। उस दर्पण की यह विशेषता थी कि उसमें सुदूरवर्ती दृश्य और संवाद प्रतिबिम्बित हो जाते थे। राम ने इसी दर्पण में अपने शिविर से ही लङ्का में घटित होने वाली घटनाओं का प्रतिबिम्ब देखा था। दर्पण के माध्यम से ही राम ने अपने ऊपर अटूट प्रेम और विश्वास रखने वाली प्राणप्रिया सीता को देखा था जिसे देखकर राम को सीता चरित पर पूर्ण विश्वास था।

इस नाटक में घटनावैविध्य का अभाव है। सम्पूर्ण घटनाचक्र रावण द्वारा सीतावशीकरण के प्रयास, मायानाटिका-प्रदर्शन और राक्षसपक्ष के मायामय व्यापार तक ही सीमित है। यह नाटक घटनाक्रम की दृष्टि से सीमित, किन्तु वर्णन एवं संवाद की दृष्टि से विस्तृत है। इसमें रावणपक्ष के सैनिक एवं गुप्तचर वानरवेष में राम के सैन्यशिविर में आकर उनकी सामरिक गतिविधियों का पता लगाने का प्रयास करते हैं, किन्तु पकड़ लिये जाते हैं। इसी में सीता के प्रति रावण के बलात्कार नहीं करने का कारण नलकूबर का शाप और ब्रह्मा का निषेध बताया गया है।[1] नाटक की भाषाशैली प्रवाहपूर्ण एवं प्राञ्जल है। कथोपकथन में शिथिलता नहीं है। यत्र-तत्र सूक्तियों एवं नीतिवचनों का भी प्रयोग मिलता है। वाल्मीकिरामायण के रहते हुए भी इसमें महादेव ने राम के प्रति अपने भक्तिभाव की अभिव्यक्ति में रचना की सार्थकता स्वीकार की है।[2]

---

१. अद्भुत दर्पण ६/२६

रामभद्र दीक्षित

रामभद्र दीक्षित कुम्भकोणम् के समीप 'केन्द्रमानिक्यम्' ग्राम के निवासी थे। उनके पिता यज्ञराम व्याकरण के विशेषज्ञ थे और उनके भाई रामचन्द्र हास्यकवि थे। रामभद्र ने साहित्य और दर्शन का अध्ययन बालकृष्ण और चोक्कनाथ से किया। ये नीलकण्ठ दीक्षित (१७वीं शती) के समकालीन थे। ये नीलकण्ठ के प्रशंसक और उनकी काव्यप्रतिभा से प्रभावित थे। रामभद्र दीक्षित के वैदुष्य की ख्याति से तंजोर के राजा शाहजी (१६८४-१७११ ई०) सुपरिचित थे। उपर्युक्त तथ्य इन्हें १७वीं शती का सिद्ध करते हैं।[२] इनका देहावसान १८वीं शती के प्रारम्भ में हुआ।

जानकीपरिणय -

रामभद्र दीक्षित प्रणीत 'जानकीपरिणय'[३] नाटक में छद्मवेश की युक्ति का प्रयोग किया गया है। राम और सीता का परिणय मिथिला में न होकर विश्वामित्र के आश्रम में हुआ है। इस नाटक में रावण, सरण, विद्युज्जिह्वा और ताटक नामक राक्षसों ने क्रमशः राम, लक्ष्मण, विश्वामित्र और सीता का कपटवेश धारण किया है। रावण की सभा में अभिनीत एक अन्तर्नाटक विशेष विचारणीय है। एक उपकथानक राम द्वारा सीता की खोज का उपक्रम करता है और उसका अन्त होता है बालियुद्ध से। अन्तिम अङ्क मायावी राक्षसों की छलनामयी दुष्टता की चरमसीमा को प्रस्तुत करता हैं शूर्पणखा एक तापसी के रूप में भरत के पास पहुँचती है और वह राम की मृत्यु की झूठी खबर सुनाती है। उस समय भरत अग्निचिता पर चढ़ने का उपक्रम कर रहे थे। उसी समय राम के आगमन की सूचना मिलती है और नाटक का सुखद अन्त होता है राम के राज्याभिषेक से।

प्रस्तुत नाटक रामभद्र दीक्षित की उत्कृष्ट रचना के रूप में मान्य है। इसकी शैली मनोरम एवं विद्वत्तापूर्ण है। कविता सुबोध है और इसमें रामायण की सभी प्रमुख घटनाओं का समावेश प्रवाहपूर्ण ढंग से किया गया है।[४]

---

१. वाल्मीकिवाक्यामृतपूरितेऽपि श्रीराघवस्य सफुटमन्तरङ्गे
मद्भारतीभक्तिकृतावकाशां मनागिवारोहतु मन्थरापि।। अ०द०ग्र०क०प्र० श्लोक ५, पृ० १४५

२. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० २४२

३. सम्पादक, लक्ष्मण सूरि (तंजीर, १९०६), एल०वी० रामचन्द्र अय्यर द्वारा अनूदित, मद्रास, १९०६

४. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल लिट्रेचर, पृ० ६६०

कतिपय प्राचीन लुप्त रामकथाश्रित नाटक

यशोवर्मा –

यशोवर्मा भवभूति और वाक्पतिराज के आश्रयदाता राजा थे और स्वयं भी एक यशस्वी कवि थे। यही यशोवर्मा कश्मीरनरेश ललितादित्य (८वीं शती) से पराजित हुए थे। अभिनवगुप्त के पूर्वज 'अत्रिगुप्त' भी इन्हीं के सभाकवि थे। यशोवर्मा को युद्ध में पराजित कर ललितादित्य अत्रिगुप्त को ससम्मान कश्मीर ले गये जहाँ उनका परिवार सदा के लिए बस गया। इस तथ्य का उल्लेख अभिनवगुप्त ने तन्त्रालेक[1] आ. ३७ में किया है। ललितादित्य (कश्मीरनरेश) के समकालीन होने से यशोवर्मा का समय ८वीं शती माना जाता है। यशोवर्मा का नामोल्लेख संग्रहग्रन्थों, सूक्तिमुक्तावली, सुभाषितावली और शार्ङ्गधरपद्धति में मिलता है।

रामाभ्युदय –

'रामाभ्युदय' कान्यकुब्जनरेश यशोवर्मा का लोकप्रिय नाटक है। डा० राघवन् ने यशोवर्मरचित 'रामाभ्युदय' को विलुप्त रामनाटकों में सर्वोत्तम कहा है।[2] इस नाटक के कुछ छन्दों के परीक्षण के उपरान्त कीथ ने कहा है कि राम और सीता-कथा पर भी ऐसी रचना के विलुप्त हो जाने का हमें दुःख है जिसमें इतने सुन्दर छन्द हैं।[3]

'रामाभ्युदय' में रामायण की प्रमुख कथा बिना किसी परिवर्तन के वर्णित है। कहीं भी रामायण की कथा का अतिक्रमण नहीं है। शारदातनय ने इसे छः अङ्कों का नाटक कहा है।[4] यद्यपि अब तक यह नाटक अनुपलब्ध है, किन्तु साहित्यग्रन्थों में इसके इतने अधिक उद्धरण प्राप्त हैं कि उनकी सहायता से सम्पूर्ण नाटक का विषय ज्ञात हो सकता है। अभिनवगुप्त ने भी ध्वन्यालोकलोचन में 'रामाभ्युदय' के यशोवर्मा की कृति होने का उल्लेख किया है।[5]

यशोवर्मा को रामायण की कथा में किसी प्रकार का त्याग या परिवर्तन अभीष्ट नहीं था। रामचरित को उपजीव्य मानकर नाटक की रचना करने वाले अधिकतर नाटककार राम के उदात्त चरित के प्रतिकूल कथाभाग का त्याग या अन्यथाकरण करते

---

१. निःशेषशास्त्रासदनं किल मध्यदेशम् तस्मिन्नजायत गुणाभ्यधिको द्विजन्मा।
कोप्यत्रिगुप्त इति नाम निरुक्तगोत्रः शास्त्राब्धिचर्वणकलोद्यदगस्त्यगोत्रः।।
तमथललितादित्यो राजा स्वकं पुरमानयत्। प्रणयरभसात् काश्मीराख्यं हिमालयमूर्धजम्।।
–तन्त्रालोक अ० २७

२. डा० वी० राघवन, सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० १

३. ए० बी० कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृ० २२२

४. 'षडङ्कं दृश्यते लोके रामाभ्युदय-नाटकम्' –भावप्रकाश, बड़ौदा संस्करण, पृ० २३७

५. यदुक्तं-'कथामार्गे न चातिक्रमः इति रामाभ्युदये यशोवर्मणा।' –ध्वन्यालोकलोचन, उद्द्योत ३, का० ११, पृ० १४८

थे। यशोवर्मा के ही सभाकवि भवभूति ने 'महावीरचरित' में अनेक स्थलों पर रामायणवर्णित घटनाओं का अन्यथाकरण किया है। नाटकों में प्रचलित इसी परम्परा का प्रतिवाद यशोवर्मा ने इस नाटक की प्रस्तावना में 'कथामार्गे न चातिक्रमः' इस कथन के द्वारा किया है। इसी दृष्टि से उन्होंने रामायण की पञ्चवटी से राज्याभिषेक तक की कथा को बिना किसी परिवर्तन के नाटक का रूप दिया है।

काव्यशास्त्र और नाट्यशास्त्र की रचनाओं में 'रामाभ्युदय' से उद्धृत वाक्यों, जो ध्वन्यालोक और लोचन, दशरूपकावलोक, शृङ्गारप्रकाश, भावप्रकाश, नाट्यदर्पण, साहित्य-दर्पण, नाटकलक्षण रत्नकोष तथा संग्रहग्रन्थों में उपलब्ध हैं, के तुलनात्मक परीक्षण से 'रामाभ्युदय' का निम्नलिखित स्वरूप ज्ञात हो सकता है –

नाटकीय कथा का विस्तार अरण्यकाण्ड से युद्धकाण्ड तक है। नाटक का आरम्भ पञ्चवटी में होता है जहाँ राम सीता और लक्ष्मण के साथ निर्वासित जीवन बिता रहे हैं और अन्त राम के राज्याभिषेक से होता है। शारदातनय का कथन है कि 'रामाभ्युदय' की अन्तिम 'निर्वहण सन्धि' अयोध्या में राम का राज्याभिषेक है जिसमें सुग्रीव, विभीषण तथा अन्य वानर और राक्षस उपस्थित हैं।[1]

यह निश्चित है कि 'रामाभ्युदय' में रामायण के उत्तरकाण्ड की कथा-सीता वनवास और अश्वमेध सम्मिलित नहीं है और इसका संकेत अभिनवभारती में अभिनवगुप्त की निम्न उक्ति में मिलती है- **'रामाभ्युदये सीताप्रत्ययनादेरिव। न हि तत्र अश्वमेधयागादेः नायकोचितस्य कविविवक्षित्वमस्ति।'**[2] नाट्यदर्पण के अनुसार पञ्चम अङ्क की कथा महायुद्ध की कथा है। निश्चित उद्धरण रावण द्वारा माया-सीता का सिर काटते देखकर राम का शोकाकुल होना है। नाटक का एक ही अंश शेष है और उसमें उत्तरकाण्ड की समस्त घटनाओं का समावेश संभव नहीं है, अतः यह प्रतीत होता है कि 'रामाभ्युदय' में उत्तरकाण्ड की कथा का वर्णन नहीं है।

'रामाभ्युदय' नाटक के प्रथम अङ्क से षष्ठ अङ्क तक के विभिन्न अंश ध्वन्यालोक, नाट्यदर्पण, भावप्रकाश, शृङ्गारप्रकाश, सुवृत्ततिलक, सूक्तिमुक्तावली आदि ग्रन्थों में उद्धृत है, अतः इस नाटक की लोकप्रियता निःसंदिग्ध है। साथ ये वे उद्धरण इसकी शैलीगत उत्कृष्टता, भावनात्मक चित्रण के साक्षी हैं। कथाप्रवाह में बलात् कल्पित नूतनता का अभाव है। भाषा सरल, हृदयवार्जक तथा सरस है। आनन्दवर्धन ने ध्वनि और रसध्वनि के लिए इस नाटक से पर्याप्त उद्धरण ग्रहण किया है। इससे यह प्रमाणित होता

---

१. तन्निर्वहणमुच्यते। यथा हि रामाभ्युदये सुग्रीवश्च विभीषणः।
कपयो राक्षसा रामाभिषेकाभ्युदयं ययुः।।-भावप्रकाश, पृ० २१२

२. अभिनवभरती, मद्रास Ms. Vol. II, p. 49

है कि सहृदयों में यह नाटक लोकप्रिय था। शुद्ध असंलक्ष्यक्रम ध्वनि के लिए 'कृतकुपितैः' श्लोक को उद्धृत करते हुए आनन्दवर्धन ने टिप्पणी[1] की है जो यशा वर्मा की काव्यकला के लिए उचित उपहार है।[2] रामाभ्युदय[3] से कुछ फुटकर पद्य भी उद्धृत किए गये हैं जिनमें अधिकतर ध्वन्यालोक में मिलते हैं।

कृत्यारावण

लुप्त रामनाटकों में 'रामाभ्युदय' के बाद 'कृत्यारावण' काव्यशास्त्र, नाट्यशास्त्र, अभिनवभारती, शृङ्गारप्रकाश और भावप्रकाश में सबसे अधिक उद्धृत है। 'रामाभ्युदय' के विपरीत 'छलितराम' की भाँति 'कृत्यारावण' में रामायण की मूलकथा में पर्याप्त परिवर्तन किया गया है। जैसा इस नाटक के नाम से स्पष्ट है, 'कृत्यारावण' प्रतिनायक रावण को प्रमुखता देता है। रावण हर प्रकार की राक्षसी माया का आश्रय लेता है। प्रतिनायक के पक्ष से यह अद्भुत और रौद्र रसप्रधान नाटक है जो पूर्णतः आरभटी वृत्ति में है। राम के पक्ष में यह नाटक करुणरस प्रधान हैं यह स्वाभाविक है, क्योंकि एक पक्ष के रौद्र की परिणति दूसरे में करुण ही होती है। रावण सर्वप्रथम सीताहरण के लिए मायामृग का सहारा लेता है, फिर शूर्पणखा गौतमी और सीता का रूप धारण करती है और युद्ध में रावण की माया देखकर सीता सती होने का उपक्रम करती है। एक के बाद दूसरी मायारचना का शीर्षबिन्दु 'कृत्या' की उत्पत्ति है जो सर्वविनाशकारिणी नारी दुष्टात्मा है, जिसे संभवतः रावण ने रात्रि में चोरी से राम के शिविर को नष्ट करने के लिए भेजना चाहता था।

राम के पक्ष में यह नाटक करुणरस से ओत-प्रोत है। राम पग-पग पर अपने भग्य पर रोते हैं। रामचन्द्र और गुणचन्द्र ने तो यहाँ तक कहा है कि 'कृत्यारावण' ऐसा नाटक है जिसमें गम्भीर कारुण्य है। इसमें करुणरस की पुनः पुनः दृप्ति का दोष है।[4] नाटक अत्यन्त रोचक और क्रियाशील है। जहाँ तक शैली की बात है, नाटककार व्यर्थ के वक्तृत्व और शब्दाडम्बर को महत्त्व न देकर कार्यव्यापार पर केन्द्रित दृष्टिगोचर होता है। परिणामतः शैली सरल और बोधगम्य है।

जहाँ तक 'कृत्यारावण' के रचनाकाल का सम्बन्ध है, यह शुङ्कुक जिसका समय

---

१. एतद्धि वाक्यं परस्परानुरागं परिपोषप्राप्तं प्रदर्शयत् सर्वत एव परं रसतत्त्वं प्रकाशयति। -ध्वन्यालोक

२. डा० वी० राघवन, सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० २५

३. 'रामाभ्युदय' नाटक के सम्बन्ध में डा० वी० राघवन् की पुस्तक, वही, पृ० १-२५ विशेष द्रष्टव्य

४. "अथ अङ्ग औग्र्यं.. यथा कृत्यारावणे जटायुवर्धनलक्ष्मणशक्तिभेदसीताविपत्तिश्रवणेषु रामस्य मुहुर्मुहुः करुणाधिक्यम्।" नाट्यदर्पण

८४० ई० के आसपास है, के पहले का है। अभिनवगुप्त ने कहा है कि शङ्कुक ने 'कृत्यारावण' से विद्रव का उदाहरण दिया है।[1] प्रस्तुत नाटक के रचयिता का नाम अज्ञात है। डा० राघवन् भी 'कृत्यारावण' के प्रणेता के सम्बन्ध में मौन हैं।

'कृत्यारावण' में रामायण की कथा सीताहरण से रावणवध तक है। नाटक सीता और लक्ष्मण के साथ राम के पञ्चवटी निवास से आरम्भ होता है और सीता-हरण, अग्निपरीक्षा, अग्निदेवदर्शन और सीता के सतीत्व की प्रामाणिकता के साथ समाप्त होता है। अग्निदेव का आशीर्वाद पाकर राम विश्वशान्ति एवं लोककल्याण की कामना भरतवाक्य[2] में करते हैं।

इस नाटक में अङ्कों की संख्या ७ है। इसके आरम्भ में प्रस्तावना होने का प्रमाण नाट्यदर्पण (पृ० १४९-१५०) में प्राप्त होता है-"यथा कृत्यारावणस्य आमुखे..... स्वयमाश्रितम्।" प्रस्तावना में सूत्रधार का निर्वेद किसी नाटकीय पात्र के निर्वेद का सूचक है और वह पात्र संभवतः मारीच है जो रावण से घृणा करता है क्योंकि रावण उसे सीताहरण जैसे अनुचित कार्य में सहायता देने के लिए बाध्य करता है।

अङ्कक्रम से नाटक की कथावस्तु की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है-

नाटक का प्रथम अङ्क राम, लक्ष्मण और सीता के समक्ष चौकड़ी भरते माया मृग के साथ आरम्भ होता है। भोज[3] ने स्पष्टरूप से स्वर्णमृग को नाटक में महत्त्वपूर्ण बताया है। प्रथम अङ्क में मूलकथा में परिवर्तन किया गया है। यहाँ शूर्पणखा ने गौतमी और सीता का रूप धारण कर सीताहरण में रावण की सहायता की है। ऐसा प्रतीत होता है कि मायामृग के पीछे लक्ष्मण के जाने के साथ प्रथम अङ्क समाप्त हो जाता है।

नाट्यदर्पण से ज्ञात होता है कि द्वितीय अङ्क में रावण ने सीताहरण किया था। सीताहरण के समय तपस्वी लोग सीता को बचाने का प्रयास करते हैं, किन्तु रावण तपस्वियों के शिरश्छेद की सीता को धमकी देता है। सीता तपस्विविनाश की अपेक्षा स्वयं कष्ट उठाना उचित समझ पुष्पक विमान पर अनिच्छा से आरूढ़ होती हैं। नाटककार की यह अनोखी सूझ सीताचरित की उदात्तता में वृद्धि करती है।'

तृतीय अङ्क में राम का मृगया से लौटना, सीताहरण की सूचना और जटायु

---

१. अभिनवभारती, मद्रास MS, Vol. II. p. 52 GOS Edi., Vol. III

२. निरीतीयः प्रजाः सन्तु सन्तः सन्तु चिरायुषः।
प्रथन्तां कवयः काव्यैः सम्यङ् नन्दन्तु मातरः।। -कृत्यारावण, अङ्क ७

३. शृङ्गारप्रकाश, पृ० ४८३

वृत्तान्त का वर्णन है। जटायु-वृत्तान्त के दो उद्धरण नाट्यदर्पण पृ० ८३ एवं १७४ में दिए गये हैं। चतुर्थ और पंचम अङ्कों में युद्ध तक की घटना का चित्रण है। इन्हीं दोनों अंकों में सुग्रीवमैत्री, बालिवध और सीतान्वेषण की घटनाओं का वर्णन है। षष्ठ अङ्क में राम लंका के समीप पहुँच गये हैं और अङ्गद को दूत बनाकर रावण के पास भेजे हैं। रावण उस समय शान्तिगृह में कृत्या की सहायता के लिए अभिचारयज्ञ कर रहा था। अङ्गद का दौत्य षष्ठ अङ्क के आरम्भ में और युद्ध अन्त में हुआ है जिसके दो उद्धरण नाट्यदर्पण के पृष्ठ १७४ में मिलते हैं। इसी अङ्क में दारुणिका नाम की राक्षसी भी आती है जिसे सीता की हत्या के लिए नियुक्त किया गया था।

सप्तम अङ्क के पूर्वार्ध में रावण मारा जाता है। इस तथ्य की सूचना नाट्यदर्पण पृ० १०० में एक दृष्टान्त से मिलती है। नाट्यकार विभीषणचरित के विषय में मौन है। इस अङ्क के उत्तरार्ध की सबसे प्रमुख घटना सीता-अस्वीकृति और अग्निपरीक्षा है। अग्निपरीक्षा के समय अग्निदेव प्रकट होकर सीता की पवित्रता को प्रमाणित करते हैं। यहीं नाटक समाप्त होता है।[२]

छलितराम

प्राचीन आलङ्कारिक जिसके द्वारा 'छलितराम' नामक नाटक और उसकी कुछ घटनाओं का ज्ञान प्राप्त होता है, दशरूपक के 'अवलोक' टीका के लेखक धनिक हैं। धनिक ने पृ० २७, ८५ (निर्णयसागर प्रेस संस्करण १८९७) पर इस नाटक के उद्धरण दिये हैं। धनिक ने पृ० २७ पर बन्ध के उदाहरण के लिए "विद्रवो वधबन्धनादिः। यथा छलितरामे-येनावृत्य मुखानि नाम... बद्ध्वा लवो नीयते" इस श्लोक को उद्धृत किया है। नाट्यदर्पण के पृ० ६८ में इसी के उदाहरण में यह श्लोक उद्धृत है। धनिक ने 'अवलोक' में पृष्ठ ८३ पर वीथ्यङ्ग 'अवगलित' के उदाहरण में-

"कोऽपि सिंहासनस्याधः स्थितः पादुकयोः पुरः।
जटावानक्षमाली च चामरी च विराजते।।"

'छलितराम' के इस श्लोक को उद्धृत किया है। नाट्यदर्पण में राम के अश्वमेध दृश्य से एक और उदाहरण है जहाँ सीता की स्वर्णप्रतिमा स्थापित है जिसे देखकर लव अपनी माँ सीता को पहचान लेते हैं। निरोध अर्थात कार्यमीमांसा, जो निर्वहण संधि का एक

---

१. डा० वी० राघवन, सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० ३७

२. 'कृत्यारावण' के विषय में विशेष विवरण डा० राघवन की पुस्तक, वही, पृ० २६-४६ में द्रष्टव्य।

अङ्ग है, के उदाहरण में पृ० १०४ पर नाट्यदर्पण में छलितराम का यह अंश-"लक्ष्मणेन बद्ध्वा आनीतो लवः.... सुपुत्रा जीवत्यार्या" उद्धृत है।

'छलितराम' से एक अन्य उपयोगी उदाहरण नाट्यदर्पण के पृ० १५४ पर दिया गया है। यह प्रस्तावना का एक श्लोक[1] है, जिसमें शरद ऋतु के वर्णन के साथ ही मुख्य पात्र और प्रथम अङ्क के पात्रों की सूचना दी गई है। इससे स्पष्ट है कि नाटक का आरम्भ राम के रावणविजय के उपरान्त होता है। शृङ्गारप्रकाश के अध्याय ११ में नाटककार द्वारा मूल कथा में परिवर्तन का संकेत मिलता है। इस सन्दर्भ में भोज ने ऐसे नाटककारों की एक शृङ्खला दी है जो अपने उद्देश्य की पूर्ति के लिए मूल कथा में परिवर्तन कर देते हैं। उदाहरणों में 'छलितराम' भी है। रामकथा के उत्तरकाण्ड से सम्बद्ध नाटकों में उत्तररामचरित और कुन्दमाला के बाद छलितराम का स्थान है।

रावणविजय के अनन्तर आकाश में पुष्पक विमान पर आरूढ़ राम के अयोध्या-प्रवेश से यह नाटक आरम्भ होता है। भरतसमागम और राज्याभिषेक के बाद लवणासुर के दमन का उत्तरदायित्व शत्रुघ्न को दिया जाता है। सीता गर्भवती हैं और मूलकथा के अनुसार नगर में फैले सीताविषयक प्रवाद से राम द्वारा सीता का निर्वासन होता है। परन्तु 'छलितराम' में नाटककार ने इस प्रवाद को लवणासुर के षड्यन्त्र का परिणाम बताया है। लवणासुर दो राक्षसों को छद्मवेष में पुंसवन संस्कार के अवसर पर राम के पास भेजता है और वे दोनों राम के निकटवर्ती होकर उनके मस्तिष्क में सीता के विरुद्ध अविश्वास का विष घोलते हैं। इस प्रकार राम सीता के प्रति कठोर निर्णय-सीतापरित्याग के कार्य में छले जाते हैं। 'छले गये राम' यही इस नाटक की केन्द्रीय घटना है। इसीलिए इसका नाम 'छलितराम' है। सीतापरित्याग के बाद राम जान पाते हैं कि वे छले गये। इस नाटका का घटना-विन्यास रोचक, भाषा प्रवाहपूर्ण और शैली प्राञ्जल है।[2]

जानकीराघव

सागरनन्दिन् ने रामकथा पर आश्रित 'जानकी राघव' नाटक से २२ अवसरों पर उदाहरण दिये हैं। इसमें मूलकथा के मुख्य अंश-सीताहरण, सीताप्राप्ति और अयोध्या में राम का राज्याभिषेक वर्णित है। यह नाटक है और नामकरण मुख्य पात्रों - जानकी और राम के नाम पर किया गया है जिसका ज्ञान निम्न उद्धरण से होता है - "प्रथानस्य

---

१. आस्वादितप्रकटनिर्मलचन्द्रहासः। प्राप्तः शरत्समय एष विशुद्धकान्तः।
उत्खाय गाढतमसं घनकालमुग्रं रामो दशास्यमिव संभृतबन्धुजीवः।। छलितराम, प्रस्तावना।

२. डा० वी० राघवन् की पुस्तक सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० ५०-५६ विशेष द्रष्टव्य। 'छलितराम' के सम्बन्ध में डॉ० राघवन् का कथन है - "In the Chalitarama we have indeed lost another Uttararamacarita" -वही, पृ० ५६

(नायकस्य) निर्देशाद् वस्तुनिर्देशाद् वा नाटकादीनां नाम कर्तव्यम्। यथा जानकीराघवं नाम नाटकम्।'"[1]

इस नाटक में आरम्भिक आशीर्वादात्मक श्लोक प्राप्त होता है जिसमें सामान्य प्रथा के अनुसार प्रतीकरूप में नाटक की केन्द्रीय वस्तु का संकेत है।[2] सागरनन्दिन् 'जानकीराघव' के एक श्लोक को उपक्षेप नामक मुखसन्धि के अङ्ग के उदाहरण रूप में उद्धृत करते हैं, जो प्रस्तावना के बाद प्रथम अङ्क के प्रारम्भ का है। नाटक के प्रथम अङ्क का आरम्भ सीता और उनकी सखी प्रियंवदा के वार्तालाप से होता है जिसमें सीता रावण द्वारा अपहृत होने की आशंका से भयभीत हैं और प्रियंवदा उन्हें यह आश्वासन देती है कि ऐसी स्थिति आने पर राम उनका उद्धार अवश्य करेंगे। इस प्रसंग की पृष्ठभूमि में रावण का सीता-स्वयंवर के समय नेपथ्य से स्वयंवर में उपस्थित क्षत्रियों के प्रति यह कथन-"धनुष चढ़ा कर सीता से कोई भी विवाह कर ले, किन्तु मैं सीता का अपहरण कर इसे लंका ले जाऊँगा"[3]। अब सीता-भय और प्रियंवदा-आश्वासन का रहस्य बोधगम्य है। इस अङ्क में कुछ सीमा तक राम और सीता के पूर्वराग का भी संकेत मिलता है।

द्वितीय अङ्क की कथावस्तु के ज्ञान के लिए अनेक उद्धरण हैं। नाटककार संयोगदशा में अनुराग-चित्रण का स्थान बना लेता है और नवविवाहिता सीता के शृङ्गारभाव को दो छन्दों में व्यक्त करता है। यह स्थल 'विलास' और 'परिसर्प' का उदाहरण है जिसे सागरनन्दिन् ने उद्धृत किया है।[4] इसी अङ्क में राम और सीता पर आने वाली एक गहरी विपत्ति, जिसका आभास सीता को स्वयंवर में मिल चुका था, की भविष्यवाणी भी है।

तृतीय अङ्क से प्राप्त तीन उद्धरणों से ज्ञात होता है कि रावण द्वारा सीता का हरण हो चुका है। अर्थोपक्षेप के माध्यम से वनवास और वन्यजीवन की सूचना दी गई है। इसी अङ्क में सुग्रीव रावण के मूर्खतापूर्ण सीताहरण कार्य की निन्दा करता है और हनुमान् राम के प्रभाव का वर्णन कर सुग्रीव को राम से मित्रता करने का परामर्श देता है।[5] 'जानकीराघव' नाटक में विमर्श सन्धि से सम्बद्ध तीन उद्धरण नाटक लक्षणरत्नकोष में मिलते हैं जिनमें से दो में अङ्क को 'मायालक्षण' (मायालक्षण) नाम से अभिहित किया गया है और एक में अङ्क को षष्ठ कहा गया है। अङ्क के 'मायालक्षण' नामकरण का उद्देश्य स्पष्ट नहीं प्रतीत होता, क्योंकि उसमें राक्षसी माया का विवरण नहीं है। उसमें रावण के

---

१. नाटक लक्षणरत्नकोष, II ३८४-८५

२. वही, II १४८-५२

३. रे क्षत्रियाः शृणुत... अपहृत्य लंकाम्, जानकीराघव, प्र० अ०

४. ना०ल०र० कोष, II ६५१-६, ६५७-६२

५. इस प्रसंग से सम्बद्ध दोनो उद्धरण ना०ल०र०को०, II ७१३-७५, ७३०-४ में दिए गये हैं।

कुकृत्यों एवं उनके भयंकर परिणाम की सूचना है। यदि 'मायालक्षण' पञ्चम अङ्क है और तृतीय अङ्क में सुग्रीव राम के पास सहायतार्थ जाते हैं, तो बालिवध, सीतान्वेषण, हनुमान् का लंकागमन और युद्ध के लिए प्रस्थान - ये घटनाएँ चतुर्थ अङ्क में घटित होनी चाहिए।

षष्ठ अङ्क में राम लंका पहुँच गये हैं। इस अङ्क से ना०ल०र०को० में तीन दृष्टान्त हैं जिनमें एक में राम का रावण के लिए सन्देश है और दो में राम के नैराश्य, सीता की राम के प्रति चिन्ता और युद्ध के परिणाम का संकेत मिलता है। महायुद्ध का मुख्य भाग समाप्त हो चुका है। केवल रावण बचा है जिसे जीत लेना सुलभ हो गया है। इससे स्पष्ट है कि एक अङ्क और होना चाहिए, अतः 'जानकीराघव' सात अङ्कों का नाटक है। अन्तिम अङ्क का नाम 'संहार' है। रावण मारा जा चुका है। विभीषण का राज्याभिषेक हो गया है। सीता की अग्निपरीक्षा भी सम्पन्न हुई। विभीषण राम को सूचित करते हैं कि सीता अग्नि में प्रविष्ट होकर भी नहीं जलीं। नाटककार ने राम और सीता की अटूट प्रेमकथा को नाटकीय रूप देने में विशेष सफलता प्राप्त की है।[1]

राघवाभ्युदय

रामकथा पर आश्रित 'राघवाभ्युदय' नाटक का ज्ञान विश्वनाथ के 'साहित्यदर्पण' और सागरनन्दिन् के 'नाटकलक्षणरत्नकोष' से प्राप्त होता है। यह नाटक इसी नाम के एक अन्य नाटक, जो 'नाट्यदर्पण' में अत्यधिक उद्धृत है और 'नाट्यदर्पण' के लेखक रामचन्द्र की रचना माना जाता है, से भिन्न है।[2] एम० कृष्णमाचारी ने भी नाट्यदर्पण में उद्धृत 'राघवाभ्युदय' को रामचन्द्र की रचना माना है। रामचन्द्र हेमचन्द्र के शिष्य थे और उनका समय १२वीं शती हैं।[3] रामचन्द्र कृत 'राघवाभ्युदय' का उल्लेख कामिल बुल्के ने भी किया हे।[4]

साहित्यदर्पण में अज्ञातलेखक 'राघवाभ्युदय' का एक उद्धरण और नाटिका लक्षणरत्नकोष में १५ उद्धरण हैं जिनमें साहित्यदर्पण का उद्धरण सम्मिलित है। 'राघवाभ्युदय' स्पष्टतः एक नाटक है और इसमें रामायण के केन्द्रीय विषय - रामवनगमन, सीताहरण, रावणवध और सीताप्राप्ति का वर्णन है। सागरनन्दिन् ने मातृगुप्त की पंक्तियों को उद्धृत करते हुए नाटक की पाँच अवस्थाओं के विवेचन-प्रसङ्ग में कहा है कि ये स्पष्ट रूप में 'राघवाभ्युदय' में द्रष्टव्य हैं।[1]

---

१. 'जानकीराघव' के विषय में डा० राघवन की पुस्तक सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० ६०-७३ द्रष्टव्य

२. डॉ० वी० राघवन्, वही, पृ० ७४, टिप्पणी।

३. एम० कृष्णामाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६४४

४. कामिल बुल्के, रामकथा : उद्गम और विकास, पृ० १९६

यह नाटक आरण्यक से आगे की कथा से सम्बद्ध प्रतीत होता है। इसमें जो कथांश उपलब्ध हैं, वे रामायण की पूर्वकथा पर कोई प्रकाश नहीं डालते, फिर भी इसमें एक महत्त्वपूर्ण तथ्य, जिसे सागरनन्दिन् ने विशेष रूप से निर्दिष्ट किया है, ध्यातव्य है। नाटककार ने कैकेयी के विचार और चरित्र को आगे की घटनाओं का मूल बताया है। अन्य नाटकों की भाँति 'राघवाभ्युदय' में रामायण की कथावस्तु में कुछ नवीनताओं का सन्निवेश किया गया है। इसका आरम्भ एक स्वर्गिक स्वर जो मरुद्देव का है, से होता है जिसमें रावणवधपर्यन्त चलने वाले एक शाप का निर्देश है। इस आकाशभाषित घटना का उदाहरण देते हुए सागरनन्दिन् कहते हैं – राघवाभ्युदये –'अस्तु सौमित्रे पौलस्त्यवधावधिरयं शापः। लक्ष्मणः – कथं हरिपदसंचारी भगवान् मारुतो व्याहरति।'

सीताहरण हो चुका है और उसके बाद का एक श्लोक[2] है, जिसका सम्बन्ध जटायु वृत्तान्त से है। इस श्लोक को रौद्ररस के उदाहरण के रूप में उद्धृत किया गया है। दृष्टान्तों की दूसरी शृङ्खला राम के समुद्रतट तक जाने और समुद्र पार कर लंका पहुँचने की है। कथा के इस भाग से सम्बद्ध अङ्कों 'सेतु अङ्क' कहा गया है, क्योंकि सेतुनिर्माण और समुद्रलंघन इस अङ्क के मूल तत्त्व हैं। इस प्रसङ्ग से सम्बद्ध एक उद्धरण साहित्यदर्पण में और दो उद्धरण नाटकलक्षणरत्नकोष में दिए गये हैं।

'राघवाभ्युदय' में वर्णित सर्वाधिक महत्त्वपूर्ण घटना युद्ध की प्रारंभिक स्थिति में रावण द्वारा राम के समक्ष प्रस्ताविक कपटसन्धि है। रावण जालिनी नामक राक्षसी की सेवा लेता है, जो सीता का रूप धारण करती है। रावण इसी सीतारूपधारिणी राक्षसी को राम को लौटाना चाहता है। वाल्मीकि के अनुसार राम की घोषणा है कि वे रावण को भी, यदि वह शरणागत हो जाय, अभयदान देंगे। इस नाटक में इस घोषणा के परिप्रेक्ष्य में राम द्विविधाग्रस्त हैं कि क्या सीता को स्वीकार कर रावण को मित्र बनाया जाय या विभीषण को राज्य देने के वचन का पालन किया जाय। इस स्थल को संघात्य नामक सात्वती वृत्ति, जिसमें छलपूर्ण घात का प्रयोग किया जाता है, का उदाहरण देते हुए सागरनन्दिन् कहते हैं- 'राघवाभ्युदये रामं वञ्चयितुं रावणेन कूटसन्धौ जालिनी नाम राक्षसी सीता कृता'[3]। इस दृश्य में रावण इन्द्रवेष में राम से सीता को स्वीकार कर रावण से मित्रता करने का आग्रह करता है। लक्ष्मण रावण के इस कपटाचार का आभास पाकर उसे विफल कर देते हैं। क्रुद्ध रावण कपट वेष त्याग कर लक्ष्मण को धमकी देता है। इस अंश को सात्वती वृत्ति के 'परिवर्तक' नामक अङ्ग का उदाहरण देते हुए सागरनन्दिन् कहते हैं-'यथा राघवाभ्युदये कूटसन्धिना सामदाने निष्फलीभूते रावणः स्वरूपमास्थाय – 'दुरात्मन् लक्ष्मण, तिष्ठ तिष्ठ'

---

१. प्रारम्भो.... धर्मकामार्थसिद्धये। एतत्तु राघवाभ्युदये सुव्यक्तमेव। ना०ल०र०को० II. १०२-६

२. अवनिरविरथान्तः..... क्रोधदीप्तो जटायुः। राघवाभ्युदय

३. नाटकलक्षणरत्नकोष, II. १३००-२

इत्यादि व्याहतवान्।" निर्वहण सन्धि के मुख्य भाग से कोई उदाहरण नहीं है, फिर भी एक दृष्टान्त भरतवाक्य देता है। प्रशस्ति का उदाहरण देते हुए सागरनन्दिन् कहते हैं- 'प्रशस्तिः राघवाभ्युदये - "प्रीतः पृथिवीम्" इत्यादि।'[२]

दुर्भाग्य की बात है कि वह नाटककार जिनसे भरतवाक्य[३] में अमिट प्रशस्ति की प्रार्थना की है, विस्तृत हो चुका है और कवेल दृष्टान्तों के अंशों से पुनर्जीवित है।[४] कथावस्तु की दृष्टि से 'राघवाभ्युदय' कुछ जीवन्त मौलिकता और शैली की दृष्टि से सरल, सुबोध और प्रवाहमयी भाषा का नाटक माना जाता है।

रामानन्द

'रामानन्द' एक अन्य खोया हुआ रामकथाश्रित नाटक है। भोज ने नाम लेकर इसका उद्धरण दिया है, किन्तु इसके दो पद्य बिना नाम के हैं और बाह्य साक्ष्यों से ज्ञात होता है कि वे एक खोये हुए नाटक के हैं जिसका नाम 'रामानन्द' है। सिंहभूपाल के 'रसार्णवसुधाकर' से ज्ञात होता है कि ये दो श्लोक रामानन्द के हैं। सिंहभूपाल 'रामानन्द' की प्रस्तावना से एक तीसरा श्लोक भी उद्धृत करते हैं।[५] सिंहभूपाल ने 'रसार्णवसुधाकर' में पृ० २५५ पर रामानन्द के एक श्लोक "व्यर्थं यत्र कपीन्द्र... तत्र प्रिया क्वापि में" उद्धृत किया है। भोज ने शृङ्गारप्रकाश, खण्ड ४, पृ० ६५७-५८ और सरस्वतीकण्ठाभरण में पृ० ५०६ पर इस श्लोक को उद्धृत किया है। यह श्लोक जो सिंहभूपाल के अनुसार 'रामानन्द' का है, भवभूति के उत्तररामचरित के तृतीय अङ्क में मिलता है। डा० राघवन् इस श्लोक को उत्तररामचरित का न मानकर 'रामानन्द' का मानते हैं।[६]

शारदातनय में अपने भावप्रकाश में दो बार 'रामानन्द' नाटक का उल्लेख किया है। शारदातनय IV पृ० २५८ पर कहते हैं कि 'रामानन्द' उपरूपक वर्ग का दृश्यकाव्य है जो "श्रीगदित' प्रकार का हैं परन्तु सागरनन्दिन् ने 'रामानन्द' को नाटक वर्ग में स्थान

---

१. नाटकलक्षणरत्नकोष, II. १३००-२

२. वही, II. १२८३-५

३. वही, II. ३१४५-६

४. काव्यात्कामं स्फुटरससुधावाहिनीकाव्यकर्तुः।
कीर्तिः स्निग्धा रघुपतिकथेवानघा दीर्घमास्ताम्।। राघवाभ्युदय, भरतवाक्य

५. डा० राघवन्, सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० ८१। इस नाटक के विषय में डा. राघवन् की इस पुस्तक का पृ० ७४-८१ द्रष्टव्य।

६. रसार्णवसुधाकर, त्रिवेन्द्रम् सस्कृत सीरीज, पृ० २४८

७. I am disposed to consider that the verse not belongs to act III of the URC and that its original place is the now lost Ramadrama 'Ramananda' by name.
- पी० राघवन, सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० ८४

दिया है- "प्रधान्यस्य (नायकस्य) निर्देशात् वस्तुनिर्देशाद् वा नाटकादीनां नाम कर्तव्यम्। यथा जानकीराघवं नाम नाटकम्। रामानन्दम्।"[1]

प्राचीनतम ज्ञात लेखक, जिसने इन तीनों श्लोकों में से किसी एक का उद्धरण दिया है, राजशेखर हैं जिन्होंने काव्यमीमांसा पृ० १०६ में बिना नाम दिये ऋतु की अनुवृत्ति स्थिति के उदाहरण में "खं वस्ते .....भासां पतिः" इस श्लोक को उद्धृत किया है। अतः यह नाटक ६०० ई० के पहले का है।[2]

मायापुष्पक

अभिनवगुप्त ने 'अभिनवभारती' में 'मायापुष्पक' नाटक का तीन बार उल्लेख किया है। नाट्यधर्मी जो सूक्ष्म विचारों का मानवीकरण करता है, का उदाहरण देते हुए अभिनवगुप्त रङ्गमञ्च पर एक शाप का उल्लेख करते हैं- 'यथा मायापुष्पके ततः प्रविशति ब्रह्मशापः' इति। ब्रह्मशाप का यह प्रवेश नाटक के आरम्भ में होता है, यह नाट्यदर्पण (पृ० ४३) से ज्ञात होता है, जहाँ यह बीज के उदाहरण के रूप में उद्धृत है। इससे स्पष्ट होता है कि शरीरधारी ब्रह्मशाप, जो आरम्भ में रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है, एक अन्धे मुनि द्वारा दशरथ को दिया गया शाप है, जब उन्होंने हाथी के भ्रम में मुनिपुत्र को मारा था। नाटककार यहाँ ऐसी घटना का उपयोग करता है, जो कथा का अविभाज्य अङ्ग है, क्योंकि राजतिलक का अवरोध, रामवनवास, राम के वियोग में दशरथ का देहावसान-भविष्य की सभी घटनाओं का क्रम दशरथ के मुनिकुमार को मारने के पूर्वकार्य की प्रतिक्रिया है। यह तथ्य मूलकथा में निहित है। नाटककार की नवीनता केवल यह है कि उसने अमूर्त शाप को मूर्त पात्र के रूप में रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत किया है और उस शाप ने सक्रिय भूमिका निभाई है। अभिनवभारती में दो अन्य उद्धरण और नाट्यदर्पण में एक उद्धरण का सम्बन्ध सुग्रीववृत्तान्त से है। कुन्तक वक्रोक्तिजीवित में 'मायापुष्पक' से दो दृष्टान्त देते हैं। प्रथम पृ० २४३ में इसका उल्लेख कुन्तक ने नाटक के नामकरण के उदाहरण के रूप में किया है -'प्रधानं प्रबन्धप्राणगतप्रायं यत्संविधानं कथायोजनं तदङ्कः चिह्नमुपलक्षणं यस्य तत्तथोक्तं तच्च नाम.. यथा अभिज्ञानशकुन्तलकादीनि।'[3] इस प्रसङ्ग से यह द्रष्टव्य है कि माया के पुष्पक विमान की धारणा इस नाटक में प्रभावोत्पादक है। यह भी अनुमान किया जा सकता है कि इसका उपयोग रावण करता था।

दूसरे दृष्टान्त (पृ० २४४) में कुन्तक ने 'मायापुष्पक' का उल्लेख उन रामायण-नाटकों

---

१. नाटकलक्षणरत्नकोष, पंक्ति ३८५

२. डा० राघवन, सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० ८७। इस नाटक के विषय में डा० राघवन की उपर्युक्त पुस्तक का पृ० ८२-६३ द्रष्टव्य

३. वक्रोक्तिजीवित, पृष्ठ २४२, कलकत्ता संस्करण १६२८

में से एक के रूप में किया है जो एक ही कथावस्तु को विभिन्न रूपों में प्रस्तुत करने में सफल हुए हैं। जहाँ तक 'मायापुष्पक' की बात है, ये परिवर्तन मौलिक और रुचिकर हैं।'

राघवानन्द

लुप्त रामनाटकों में 'राघवानन्द' का परिचय भोज के 'शृङ्गारप्रकाश' से मिलता है जहाँ इस नाटक के दो श्लोक उद्धृत हैं।[२] नाटक में निःसन्देह काव्यप्रतिभा का उन्मेष है। इसके शीर्षक से यह संकेत मिलता है कि इसका अन्त रावण पर राम की विजय से होना चाहिए। 'राघवानन्द' नाटक राजशेखर के बालरामायण के अन्तिम अङ्क जिसका नाम 'मायापुष्पक' है, से भिन्न है। दोनों का एक मानने का भ्रम नहीं होना चाहिए। इस सन्दर्भ में डॉ. राघवन् का कथन है - "The drama Raghavanda must not be confused with the last at of Rajasekhara's Balaramayana which is also called Raghavananda."[३]

स्वप्नदशानन

सूक्तिमुक्तावली में उल्लिखित राजशेखर के एक श्लोक[४] के अनुसार भीमट कालञ्जर के राजा थे। उन्होंने पाँच नाटकों की रचना की, जिनमें रामायण-कथा पर आधृत 'स्वप्नदशानन' श्रेष्ठ है। इस प्रकार के नाटक का नामकरण कथावस्तु की धुरीय धारणा के अनुसार किया जाता है। अतः यह जानना विशेष रुचिकर होगा कि भीमट ने किस प्रकार इस नाटक में कथा-विन्यास किया है और रावण के स्वप्न की घटना के प्रकाश में नवीनताओं का समावेश किया है।[५] रावण का स्वप्न क्या था, यह जिज्ञासा का विषय है।

अभिजातजानकी

नायिका के नाम के आधार पर प्रणीत 'अभिजातजानकी' का वक्रोक्तिजीवित में एक बार उल्लेख मिलता है जहाँ कुन्तक ने इसका उद्धरण मुख्यतः मूलतत्त्वों के उदाहरण में दिया है, वे मूलतत्त्व जो कवि पुरानी कहानी के मूल स्वरूप में प्रवेश कराता है। इस

---

१. डॉ० राघवन, सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० ६१

२. प्रथम उद्धरण, शृङ्गारप्रकाश, Vol. II, पृ० ३१८ 'अङ्के न्यस्तो...ऽयमास्ते।'
द्वितीय उद्धरण - शृङ्गारप्रकाश, Vol. II, पृ० ५३५; 'रामोऽसौ....स्वरैः सप्तभिः।'

३. डॉ. राघवन, सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० ६२

४. कालञ्जरपतिश्चक्रे भीमटः पञ्चनाटकीम्।
प्राप्तप्रबन्धराजत्वं तेषु स्वप्नदशाननम्। सूक्तिमुक्तावली

५. डॉ० राघवन, सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० ६३

नाटक के तृतीय अङ्क का उल्लेख किया गया है और सेतुनिर्माण से पूर्व के प्रसंग से उद्धरण दिए गये हैं।[1]

अभिनवराघव

नाट्यदर्पण में 'अभिनवराघव' का केवल एक उद्धरण मिलता है। यह उद्धरण 'प्रस्तावना' से है, अतः नाटककार की सूचना तो मिलती है, किन्तु नाटकीय विषयवस्तु की नहीं। प्ररोचना का उदाहरण देते हुए नाट्यदर्पण (पृ० १५५) में कहा गया है कि 'अभिनवराघव' के रचयिता क्षीरस्वामी हैं।[2] काश्मीरी भट्टेन्दुराज क्षीरस्वामी के गुरु थे और क्षीरस्वामी अभिनवगुप्त के समकालिक थे। अतः इनका समय १०वीं शती का अन्त या ११वीं शती का प्रारम्भ है। नाटक की प्रस्तावना में 'भट्टेन्दुराजचरणाब्जमधुव्रतस्य क्षीरस्य नाटकमनन्यसमानसारम्' स्पष्ट रूप से क्षीरस्वामी को भट्टेन्दुराज का शिष्य कहा गया है।[3]

मारीचवञ्चित

शारदातनय ने भावप्रकाश में 'मारीचवञ्चित' नाटक का उल्लेख किया है।[4] भावप्रकाश में उद्धृत दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि यह पाँच अङ्कों का नाटक है- 'अङ्काः स्युस्तत्र पञ्चांकमेतन्मारीचवञ्चितम्'। एक उदाहरण से ज्ञात होता है कि नाटक की कथा युद्ध के अन्त तक चलती है। नाटक का 'मारीचवञ्चित' यह नामकरण स्वर्णमृग के रूप में मारीच के छल की धुरीय घटना के रूप में किया गया है जिसने रावण को सीताहरण में सफल बनाया है।[5]

रामविक्रम

'रामविक्रम' रामायण की कथा पर आधृत नाटक है। इसमें रामायण के उत्तर काण्ड की कथा का समावेश नहीं है। नाटककार ने विदेहराज जनक को रङ्गमञ्च पर प्रस्तुत करके उन्हें राक्षसों के बीच रह रहे राम-सीता के कष्टप्रद वन्य जीवन से परिचित कराया है। ना०ल०र०को०[6] 'रामविक्रम' नाटक के द्वितीय अङ्क में उद्धरण देता है जो जनक और वन के एक ब्रह्मचारी के बीच का वार्तालाप है। द्वितीय अङ्क के दृष्टान्त से यह स्पष्ट है कि 'रामविक्रम' के प्रथम अङ्क में राम के राजतिलक में विघ्न और उनके वनवास का वर्णन होगा।[7]

• • • •

---

१. डॉ० राघवन, सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० ६४

२. 'प्ररोचना। यथा क्षीरस्वामि विरचितेऽभिनवराघवे। ना०द०पृ० १५५

३. डा० राघवन, सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० ६५

४. भावप्रकाश, पृ० २१७, II, १३-१४ और पृष्ठ २२३, १.२

५. डा० राघवन, सम ओल्ड लॉस्ट राम प्लेज, पृ० ६५

६. नाटकलक्षणरत्नकोष, II, ६७६-८२

कृष्णकथाश्रित नाटक

– डॉ० रमाकान्त झा

लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण के चरित का विस्तृत वर्णन श्रीमद्भागवत, महाभारत, विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्त और पद्मपुराण में मिलता है। इतिहास-पुराणों में वर्णित कृष्णचरित अनेक विलक्षणताओं से आपूर्ण है। उनमें उनके तीन प्रमुख स्वरूपों का संकेत मिलता है-(१) पाण्डवों के मार्गदर्शक कृष्ण, (२) गीता के उपदेशक कृष्ण और (३) गोपी वल्लभ कृष्ण। हरिवंश महाभारत का परिशिष्ट है। महाभारत में प्रसंगप्राप्त कृष्णचरित की पूर्ति के लिए ही हरिवंश में केवल कृष्णकथा का वर्णन है। श्रीमद्भागवत और विष्णुपुराण की कृष्णकथा प्रायः एक-सी है। ब्रह्मवैवर्त और पद्मपुराण में कृष्णकथा राधाप्रसंग से जुड़ गई है। महाभारत में कृष्ण के राजनैतिक तथा दार्शनिक स्वरूप का चित्रण है। भागवत और विष्णुपुराण में कृष्ण का गोपीवल्लभ स्वरूप चित्रित हैं। ब्रह्म और पद्मपुराण में राधा के साथ कृष्ण लीलाओं का भव्य वर्णन है। इन्हीं को आधार मानकर वैष्णवग्रन्थों में कृष्ण की तीन व्रज, मथुरा और द्वारका लीलाओं का वर्णन मिलता है। कृष्ण की गोपीलीला अत्यन्त महत्त्वपूर्ण है। वह कृष्ण के प्रति भक्तों की मधुरिम भक्ति की मनोरम प्रतीक है। अतएव वैष्णवसाहित्य में व्रजेश्वरी राधा ने अपना विशेष स्थान प्राप्त किया है। गौडीय वैष्णव में वर्णित रासेश्वरी राधा और व्रजमोहन कृष्ण के अनुपम लीलामय चरित को ही कतिपय नाटककारों ने नाटकीय रूप दिया है जिनमें रूपगोस्वामी अग्रणी हैं।

रूपगोस्वामी

गौडीय वैष्णव समाज में रूपगोस्वामी अपनी भक्ति और विद्वत्ता के लिए अत्यन्त प्रसिद्ध हैं। वृन्दावन के षट्स्वामियों मे श्रीरूप का नाम आदर से लिया जाता है। रूपगोस्वामी चैतन्य महाप्रभु के शिष्यों में अन्यतम थे।[1] इन्होंने चैतन्य महाप्रभु के भक्तिरस को शास्त्रीय रूप प्रदान करने का महनीय प्रयास किया। रूपगोस्वामी के जीवनवृत्त को प्रकाश में लाने का श्रेय सर्वप्रथम उनके भतीजे जीवगोस्वामी को है। उन्होंने अपनी पुस्तक 'लघुतोषिणी', जिसे शक संवत् १५०४ में लिखा, के अन्त में अपने पूर्वजों तथा पितृव्य सनातन और रूप के विषय में प्रकाश डाला है। 'भक्तिरत्नाकर' के साक्ष्य के आधार पर वृन्दावन के तीन गोस्वामियों-सनातन, रूप एवं जीव के सम्बन्ध में सूचनायें मिलती हैं।[2]

---

१. डॉ० राजवंश सहाय, संस्कृत साहित्य कोश, पृ० ४८०

२. S.De. The Early History of the Viashnava Faith and Movement in Bengal. p. 146.

श्रीजीव के अनुसार रूपगोस्वामी के पूर्वज भारद्वाजगोत्रीय ब्राह्मण थे जो कर्नाटक के रहने वाले थे। इनके मूल पुरुष का नाम जगद्गुरु सर्वज्ञ था। 'सर्वज्ञ' कर्नाटक के सफल शासक होने के साथ ही तीनों वेदों के निष्णात विद्वान् थे। 'सर्वज्ञ' के पौत्र रूपेश्वर ने राज्यच्युत होकर पूर्वीय प्रदेशों में भ्रमण करते हुए भागीरथी के तट पर 'नवहट्ट'[1] ग्राम को अपना निवास बनाया। रूपेश्वर के पौत्र मकुन्द नवहट्ट छोड़कर पूर्वी बंगाल के जैसोर के पास फतेयाबाद[2] में आकर बस गये। मुकुन्द के पुत्र का नाम कुमार था। कुमार के कई पुत्रों में संतोष, अमर और वल्लभ-ये तीन पुत्र परम भागवत एवं वैष्णव सम्प्रदाय के प्रवर्तकों में अग्रणी थे। चैतन्य महाप्रभु के द्वारा वैष्णवधर्म में दीक्षित होने के पश्चात् ये ही क्रमशः सनातन, रूप और अनुपम नाम से विख्यात हुए। उपर्युक्त विवरण से यह स्पष्ट है कि रूपगोस्वामी के पूर्वज कर्नाटक ब्राह्मण थे, जो चौदहवीं शती में कर्नाटक से निष्क्रमण कर बंगाल में आकर बस गये।

रूपगोस्वामी ने 'नवहट्ट' के प्रसिद्ध पण्डित श्री सर्वदानन्द सिद्धान्तवाचस्पति से संस्कृत तथा सप्तग्राम के भूमि अधिकारी सैयद फखरुद्दीन से अरबी-फारसी की शिक्षा प्राप्त की। उस समय मालाधर बसु (गुणराज खाँ) गौड़ के बादशाह हुशेनशाह के राज्यमंत्री थे। उन्होंने ही हुशेनशाह के राजदरबार में रूपगोस्वामी को राजसेवा में नियुक्त कराया। रूपगोस्वामी अपनी बुद्धिमत्ता और कार्यकुशलता से अल्पावधि में ही बादशाह के विश्वासपात्र मन्त्री बन गये। हुशेनशाह ने श्रीरूप का मुसलमानी नाम 'शाकिर मल्लिक' रखा। राजकीय सम्मान एवं वैभव-विकास के कारण श्रीरूप गौड के समीप ही रामकेलि नामक नगर बसाकर उसमें राजसी ठाट-बाट से रहने लगे।

राज्यकार्य के साथ ही निरन्तर साधु-संग तथा शास्त्रचिन्तन में दत्तचित्त रहने से श्रीरूप को राजपद और असीम वैभव से धीरे-धीरे वैराग्य उत्पन्न हुआ। परिणामतः श्रीरूप ने महाप्रभु चैतन्य की निश्छल भक्ति भावना से आकृष्ट होकर उनका शिष्यत्व स्वीकार किया। उसी समय इनका वैष्णव नाम 'रूपगोस्वामी' पड़ा। चैतन्यदेव के उपदेशामृत का पानकर श्रीरूप की जीवनदिशा बदल गई। वे अपनी अतुल सम्पत्ति को ब्राह्मणों और परिवार-जनों में वितीर्ण कर भगवद्भक्ति में तल्लीन हो गये।[3]

स्थितिकाल-

रूपगोस्वामी के जीवनवृत्त के अध्ययन से उनके व्यक्तित्व के दो प्रमुख पक्षों का संकेत मिलता है-(१) श्रीरूप गौडाधिपति हुशेनशाह के विश्वस्त मन्त्री थे। (२) वे चैतन्य

१. भक्तिरत्नाकर के अनुसार आधुनिक 'नइहटि'।

२. भक्तिरत्नाकर के अनुसार फतेयाबाद उस समय वाल्का चन्द्रद्वीप परगना में था।

३. श्री नित्यानन्ददासकृत 'प्रेमविलास' में श्रीरूप के वैराग्य की कथा अद्भुत शैली में वर्णित है।

महाप्रभु के शिष्य थे। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर हुशेनशाह का राज्यारोहण १४९३ ई० में हुआ था।[1] चैतन्य महाप्रभु का आविर्भावकाल भी १४८५ ई० माना जाता है।[2] उपर्युक्त ऐतिहासिक तथ्य हुशेनशाह और चैतन्यदेव को मुख्यतः १६ वीं शती के पूर्वार्ध में होने का संकेत देते हैं। हुशेनशाह का राज्यमंत्रित्व और महाप्रभु चैतन्य का शिष्यत्व ये दोनों बातें रूपगोस्वामी को उन दोनों ऐतिहासिक पुरुषों का समकालिक सिद्ध करती हैं। अतः ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर रूपगोस्वामी का स्थितिकाल मुख्य रूप से १६ वीं शती सिद्ध होता है। भारतवर्ष के ऐतिहासिक तथा साहित्यिक प्रमाण रूपगोस्वामी को शुद्ध रूप से १६ वीं शती का अमूलय रत्न सिद्ध करते हैं।

कृतियाँ-

श्री जीवगोस्वामी ने अपने पितृव्य सनातन गोस्वामी प्रणीत लघुभागवतामृत की अपनी 'लघुतोषिणी' व्याख्या में सनातन तथा रूप की कृतियों की एक सूची दी है। उस सूची में श्रीरूप की १३ कृतियों का उल्लेख है[3]- (१) हंसदूत, (२) उद्धवसंदेश, (३) अष्टादशछन्दस्, (४) उत्कलिकावल्लरी, (५) विदग्धमाधव, (६) ललितमाधव, (७) दानकेलिकौमुदी, (८) भक्तिरसामृतसिन्धु, (९) उज्जवलनीलमणि, (१०) मथुरामहिमा, (११) पद्यावली, (१२) नाटकचन्द्रिका, (१३) संक्षिप्तभागवतामृतम्। इन ग्रन्थों के अतिरिक्त भक्तिरत्नाकर में रूपगोस्वामीप्रणीत कुछ पद्यों की सूची है जिन्हें जोड़ देने से उनके १७ साहित्यिक ग्रन्थ हो जाते हैं।

विदग्धमाधव

श्री रूपगोस्वामी-रचित 'विदग्धमाधव'[4] में राधा-कृष्ण की केलिकला का नाटकीय रूप चमत्कारपूर्ण ढंग से प्रस्तुत किया गया है। कृष्ण भारतीय संस्कृति के प्रभावशाली ऐतिहासिक महापुरुष हैं जिनके चरित को उपजीव्य बनाकर प्रस्तुत नाटक है। प्रस्तुत नाटक की रचना की गई है। अतः इतिहासप्रसिद्ध कथानक होने से 'विदग्धमाधव' कृष्णकथाश्रित प्रमुख नाटक की कथावस्तु को आधार है- कृष्ण और राधा का लीलामय चरित। राधाकृष्ण

---

१. L.T. Colonel Welsley Haig (ed.), The Cambridge History of India. Vol. III. P.270

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय,भागवत सम्प्रदाय, पृ० ५००

३. तयोरनुजश्रेष्ठेषु काव्यं श्रीहंसदूतकम्...संक्षिप्तं य भागवता एतं चैते च संग्रहाः।। लघुतोषिणी व्याख्या।

४. काव्यमाला ८१, निर्णयसागर प्रेस बम्बई में संस्कृत टीकासहित १९३७ में प्रकाशित। पुनश्च हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला २८९, चौखम्बा संस्कृत सीरीज आफिस, वाराणसी में प्रकाश हिन्दी टीकायुक्त, १९७० में प्रकाशित।

से सम्बद्ध वृन्दावन की ललित लीलाओं का वर्णन पुराणों एवं काव्यग्रन्थों में उपलब्ध है। प्रस्तुत नाटकीय कथावस्तु की विशेष आधार देने का श्रेय 'गीतगोविन्द' और 'कृष्णकर्णामृत' को है। पद्मपुराण की राधाकृष्ण लीला की कथावस्तु को आधार प्रदान करती है।

घटनाचक्रों की दृष्टि से इस नाटक की सात प्रमुख घटनाएँ हैं जिनका संकेत नाटककार ने सातों अंकों के नामकरण द्वारा दिया है। घटनाओं की प्रमुखता के कारण ही प्रत्येक अंक का नाम उस घटना के आधार पर दिया गया है। सात अंकों में विभक्त इस नाटक की प्रमुख सात घटनाएँ हैं- (१) वेणुनादविलास, (२) मन्मथलेख, (३) राधासंग, (४) वेणुहरण, (५) राधाप्रसादन, (६) शरद्विहार, (७) गौरीविहार। कथावस्तु के प्रमुख घटनाचक्रों की ओर दृष्टिपात करने पर यह प्रतीत होता है कि नाटककार ने राधा और कृष्ण के वृन्दावन की कमनीय लीलाओं तक ही अपने को सीमित रखने का योजनाबद्ध प्रयास किया है, क्योंकि उन्होंने उन्हीं लीलाओं के विविध पहलुओं का चित्रण किया है और कृष्णचरित की तत्कालीन अन्य लीलाओं के वर्णन के लोभ का धैर्यपूर्वक संवरण किया है। राधाकृष्ण का परस्पर मिलन कराना ही नाटककार का मुख्य उद्देश्य है।

प्रथम अंक की मुख्य घटना 'वेणुनादविलास' है। उसकी अनेक सहायक घटनायें हैं, जिनका उद्देश्य राधा-कृष्ण के पूर्वराग का संकेत देना हैं। पूर्वराग में अपेक्षित नायक-नायिका-गुण-कीर्तन, सखी-उद्दीपन और चित्रपटदर्शन का आयोजन शृंगार रस का शास्त्रीय पक्ष प्रस्तुत करता है। कृष्ण के वेणुनाद से आकृष्ट राधा के हृदय में कृष्णदर्शन की लालसा उत्पन्न होती है। अतः प्रथम अंक का नाम 'वेणुनादविलास' सार्थक है।

द्वितीय अंक में राधा और कृष्ण के प्रथम मिलन में 'मन्मथलेख' की अहम् भूमिका है।राधा की सखी ललिता राधा का प्रेमपत्र कृष्ण तक पहुँचाती है और कृष्ण का मित्र मधुमंगल भी कृष्ण को प्रेमपत्र लिखने की प्रेरणा देता है। फलतः उभयपक्ष से मन्मथलेख द्वारा नायक-नायिका के मिलन का मार्ग प्रशस्त होता है। इस अंक का अन्तिम दृश्य घटनाविन्यास-चातुरी का अनूठा उदाहरण है। इस अंक का 'मन्मथलेख' यह नाम अन्वर्थ है।

तृतीय अंक की मुख्य घटना 'राधासंग' हैं। इसमें राधा और कृष्ण का एकान्त मिलन होता है। चतुर्थ अंक की मुख्य घटना 'वेणुहरण' है। राधा के अनुनय में व्यस्त कृष्ण राधा के आँचल में फूलों के साथ अनजाने ही वंशी भी डाल देते हैं। राधा कृष्ण की वंशी को छिपा लेती है। इसी घटना के कारण इस अंक का नाम 'वेणुहरण' है। पचंम अंक की मुख्य घटना 'राधाप्रसादन' है। इस अंक में सखियों के प्रयास से राधा-कृष्ण का पुर्नर्मिलन होता है, किन्तु राधा किसी बात पर नाराज होकर मान कर बैठती हैं। कृष्ण का अनुनय-विनय, सखियों का माध्यम और राधाप्रसन्नता का क्रम बँध जाता है। चतुर्थ अंक के

गोत्रस्खलन से कुपित राधा का इस अंक में प्रसादन समुचित है। षष्ठ अंक में 'शरद्विहार' प्रमुख घटना है। इस अंक की कथा घटनावैचित्र्य की दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं रखती। यहाँ घटनात्मकता की अपेक्षा वर्णनात्मकता की अधिकता है। कृष्ण और राधा का मिलन, परस्पर उपालंभ और अन्त में केलिकुञ्ज के मनोरम प्रसंग से दर्शक आनन्दित होते हैं। राधा-कृष्ण का यह विहार शरद् ऋतु की शुभ्र छाया में सम्पन्न होता है, अतः इसका 'शरद्विहार' नाम सार्थक है।

सप्तम अंक की मुख्य घटना 'गौरीविहार' है। यह अंक घटना-चातुरी की दृष्टि से महत्त्वपूर्ण है। अंक के अन्तिम दृश्य में अद्भुत दृश्यविधान नाटयशास्त्रीय व्यवस्था का निर्वाहक है। अंक के आरम्भ में राधा को मथुरा ले जाने का उपक्रम है और अन्त में राधा के गोकुल में ही रहने का समाधान है। इसीलिए नाटककार ने वेष-परिवर्तन का आयोजन किया है। वृन्दा के परामर्श से कृष्ण गौरी का वेष धारण कर गौरीतीर्थ जाते हैं जहाँ राधा द्वारा गौरीपूजन का आयोजन है। राधा गौरी वेष में विद्यमान कृष्ण पर आकृष्ट होकर उनसे प्रार्थना करती हैं। गौरीवेष में विद्यमान कृष्ण के साथ राधा का विहार सम्पन्न होता है, अतः इस अंक का 'गौरीविहार' नाम सार्थक है।

अंकक्रम से समस्त नाटकीय कथावस्तु के पर्यालोचन से निम्न तथ्य स्पष्ट होते हैं- राधा कृष्ण की परकीया है या स्वकीया, इस समस्या का अनुकूल समाधान देना नाटककार का प्रमुख लक्ष्य था, अतः उसने नाटक के प्रारंभ में कृष्ण के साथ राधा का नित्य सम्बन्ध बताकर अभिमन्यु के साथ राधा के औपचारिक विवाह का कारण कंसभय बताया है। वह कृष्ण के साथ वृन्दावन में राधा के रहने का शाश्वत समाधान प्रस्तुत कर राधा के परकीयत्व का निराकरण करता है। वेणुनाद द्वारा उभयपक्ष का आह्लादन श्रीमद्भागवत की देन है। संस्कृत साहित्य में चित्रदर्शन और मन्मथलेख प्रेममार्ग के मनोरम प्रसंग हैं। गोपीकृष्ण की कथाओं में कृष्ण द्वारा स्त्रीवेष में राधा-प्रसाधन की घटना का संकेत मिलता है। इन कथासूत्रों का नाटककार ने नाटक में यथास्थान प्रयोग किया है। अंकों का नामकरण घटना की प्रधानता का द्योतक है। 'मुद्राराक्षस' नाटक में अकों का नामकरण मिलता है। 'गीतगोविन्द' में भी सर्गों का नामकरण घटनाप्राधान्य के आधार पर किया गया है, अतः 'विदग्धमाधव' में भी घटना की प्रधानता को दृष्टि में रखकर अकों का नामकरण हुआ है।

नाटकीय कथावस्तु का मुख्य केन्द्र वृन्दावन-लीला है। अतः कृष्ण के सौन्दर्यपक्ष का तथा तदुपयोगी घटनाओं एवं पात्रों का ही ग्रहण किया गया है। पात्रयोजना कथावस्तु के अनुकूल हैं। इसमें पुरुषपात्रों की अपेक्षा स्त्रीपात्रों की अधिकता है। पुरुषपात्रों में मुख्य भूमिका श्रीकृष्ण की है और उसके बाद उनके मित्र मधुमंगल और सुबल की। प्रतिनायक

अभिमन्यु भी यदा-कदा दृष्टिगोचर हो जाता है। स्त्रीपात्रों में नायिका राधा, प्रतिनायिका चन्द्रावली और कृष्णभक्तगोपी पौर्णमासी प्रमुख हैं। कृष्णचरित की वृन्दावन-लीला के सहायक पात्रों का ही समावेश संयत पात्रयोजना का उदाहरण है।

'विदग्धमाधव' नाटक के नायक श्रीकृष्ण हैं। ये धीरललित प्रकृति के दिव्य नायक हैं। श्रीकृष्ण नन्द और यशोदा के लाडले हैं, शृंगारात्मक मधुर रस के आलम्बन हैं, वृन्दावन विहारी हैं और सफल वेणुवादक हैं। कृष्ण प्रकृतिप्रेमी और सौन्दर्य के पारखी हैं। राधा के प्रति उनका अनुराग स्वाभाविक है।

राधा इस नाटक की नायिका हैं। वह सौन्दर्य की प्रतिमूर्ति और आनन्द की कौमुदी हैं। यह कृष्ण की नित्यप्रिया और आह्लादिनी शक्ति हैं। राधा कृष्ण की सहचरी और उनके रास की रासेश्वरी हैं। वह प्रेमरस की कादम्बिनी हैं। वह तारुण्य, कारुण्य और सारल्य की पराकष्ठा हैं। राधा कृष्णानुरक्ति की सर्वोत्तम अभिव्यक्ति हैं। चन्द्रावली कृष्ण की प्रतिनायिका है। यह रूपसी यद्यपि गोवर्धन मल्ल की परिणीता है, तथापि कृष्ण में इसकी प्रगाढ़ आसक्ति है। चारित्रिक दृष्टि से पौर्णमासी भी महत्त्वपूर्ण स्त्रीपात्र है यह उज्जयिनी निवासी सान्दीपनि मुनि की माता और देवर्षि नारद की शिष्या है। इस तपस्विनी का मुख्य कार्य राधा-कृष्ण का संयोग कराना है। नायक श्रीकृष्ण के मित्रों में मधुमंगल और सुबल हैं जो कृष्ण के प्रेम-प्रसंग में सहायता देकर उनका मनोविनोद करते हैं। राधा की सखियों में ललिता तथा विशाखा और चन्द्रावली की सखियों में पद्मा और शैव्या विशेष सक्रिय हैं। वृन्दा वृन्दावन की अधिष्ठात्री देवी है। जटिला, कराला तथा मुखरा नायिका राधा तथा प्रतिनायिका चन्द्रावली की कुरुजन वृद्धा गोपियाँ हैं जिनका प्रधान कार्य राधा और चन्द्रावली को कृष्ण से दूर रखना है। अभिमन्यु राधा का औपचारिक पति है। कंस के चंगुल से राधा को बचाने के लिए ही इसके साथ राधा के विवाह का स्वांग रचाया गया है।

'विदग्धमाधव' रूपगोस्वामी की काव्यप्रतिभा का सुन्दर उदाहरण है। इसमें भावपक्ष एवं कलापक्ष दोनों का यथास्थान समन्वय है। भावपक्ष में अनुभूति और कलापक्ष में अभिव्यक्ति की प्रधानता रहती है। श्रीरूप ने प्रसंगानुसार अनुभूति और अभिव्यक्ति दोनों का उपयुक्त समावेश किया है। प्रस्तुत नाटक का मुख्यरस शृंगार है और इसका मुख्य फल राधा-कृष्ण का नित्य संयोग है। यथास्थान अनुभवसिद्ध नीतिवाक्यों और सूक्तियों का प्रयोग नाटक की उपादेयता में चार चाँद लगा देता है।

रूपगोस्वामी अन्ततः भक्त नाटककार हैं। अतः उन्होंने लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण और रासेश्वरी राधा की भक्ति में अपनी वाणी को सार्थक किया है। श्रीरूप इस नाटक के माध्यम से भक्ति की भावना की अनन्त गहराई में उतरकर, अनुभूति का अनुपम मुक्ताकण बिखेर कर अपनी भावुकता और विदग्धता की अमिट छाप छोड़ गये हैं।

काव्यसौन्दर्य की दृष्टि से 'विदग्धमाधव' का विशेष महत्त्व है। कलापक्ष की दृष्टि से नाटक में यथास्थान रूपक, उपमा, उत्प्रेक्षा, अर्थान्तरन्यासादि अलंकारों का समुचित प्रयोग हुआ है, किन्तु एकावली का एक उदाहरण अत्यन्त रमणीय है-

वृन्दावनं दिव्यलतापरीतं लतास्तु पुष्पस्फुरिताग्रभाजः।
पुष्पाण्यपि स्फीतमधुव्रतानि मधुव्रताश्च श्रुतिहारिगीताः।। (१/२४)

प्रकृतिचित्रण के मनोरम दृश्य में वृन्दावन की वासन्ती माधुरी का सरस वर्णन निम्न पद्य में मुग्धकारी है-

क्वचिद् भृंगीगीतं क्वचिदनिलभंगी शिशिरता
क्वचिद्वल्लीलास्यं क्वचिदमलमल्ली परिमलः।
क्वचिद् धाराशाली कनकफलपाली रसभरो
हृषीकानां वृन्दं प्रमदयति वृन्दावनमिदम्।। (२/३१)

भावपक्ष की दृष्टि में नायिका राधा की स्नेह और क्रोध भरी दशा का एक साथ वर्णन अत्यन्त हृदयग्राही है-

मुद्रां धैर्यमयीं क्षणं विवृणुते तारल्यलक्ष्मीं क्षणं।
सोपेक्षाः क्षणमातनोति भणितीरौत्सुक्यभाजः क्षणम्।
शुद्धां दृष्टिमितः क्षणं प्रणयते प्रेङ्खत्कटाक्षां क्षणं।
रोषोण प्रणयेन चाकुलितधी राधा द्विधा भिद्यते।। (४/५१)

उपर्युक्त पद्य में राधा के रोष और प्रेम इन दो विरुद्ध भावों के द्वैधीभाव का कितना सुन्दर वर्णन है।

ललितमाधव

रूपगोस्वामी का दूसरा नाटक 'ललितमाधव'[1] है। इसमें नाटककार ने श्रीकृष्ण द्वारा वृन्दावन और द्वारका में की गई लीलाओं के माध्यम से समृद्धिमत् शृंगार का शास्त्रीय रूप प्रस्तुत किया है। यह दस अंकों का नाटक है और इसके अंकों का भी घटना-प्रधानता के आधार पर नामकरण किया गया है। अकों के नाम हैं:-

---

१. ललितमाधव की ४ पाण्डुलिपियाँ देवनागरी एवं बंग्ला लिपियों में भाडारकर प्राच्यविद्या संशोधन मन्दिर, पूना एवं कलकत्ता स्थित विक्रमज्योति प्रकाशन संस्थान में उपलब्ध है। सम्प्रति इस नाटक का नवीन संस्करण चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी से नारायणकृत संस्कृत टीका के साथ १९६९ में प्रकाशित है।

(१) सायमुत्सव, (२) शङ्खचूडवध, (३) उन्मत्तराधिक, (४) राधाभिसार, (५) चन्द्रावलीलाभ, (६) ललितोपलब्धि, (७) नववृन्दासंगम, (८) नववृन्दावनविहार, (९) चित्रदर्शन और (१०) पूर्णमनोरथ।

नाटकीय कथा की संक्षिप्त रूपरेखा इस प्रकार है। प्रथम अंक में देवर्षि नारद की शिष्या तपस्विनी पौर्णमासी अपनी शिष्या गार्गी को चन्द्रावली और राधिका के रहस्यपूर्ण जन्मवृत्तांत का वर्णन करती हुई बताती है कि इन दोनों के पिता विन्ध्यगिरि हैं और इस रहस्य से चन्द्रावली तथा राधिका सर्वथा अनभिज्ञ हैं। चन्द्रावली का गोवर्धन मल्ल से तथा राधिका का अभिमन्यु से विवाह होने की घटना योगमाया का विवर्त है। इनका वास्तविक परिणय तो श्रीकृष्ण से ही हुआ है। इस अंक का प्रधान प्रयोजन चन्द्रावली और राधिका के हृदय में कृष्ण के प्रति पूर्वराग की वृद्धि करना है। दिनभर गोचारण के बाद श्रीकृष्ण सायंकाल घर लौटकर चन्द्रावली और राधिका से एकान्त में मिलने का प्रयास करते हैं, अतः इस अंक का नाम 'सायमुत्सव' है।

द्वितीय अंक में रात्रि के अन्तिम प्रहर में जब गोपियाँ विविध लीलाओं में व्यस्त हैं, कंस द्वारा प्रेरित शङ्खचूड नामक दैत्य वहाँ आता है और राधिका के अपहरण की घात में लता में छिपकर बैठ जाता है। उसी समय कृष्ण ब्राह्मणकुमार का रूप धर कर राधिका की सूर्यपूजा को सम्पन्न कराने के लिए वहाँ आ जाते हैं। अवसर पाकर शङ्खचूड राधिका का अपहरण कर लेता है किन्तु श्रीकृष्ण शङ्खचूड का संहार कर राधिका की रक्षा करते हैं, अतः इस अंक का नाम 'षङ्खचूडवध' है।

तृतीय अंक में कंस के आदेश से श्रीकृष्ण और बलराम को मथुरा ले जाने के लिए अक्रूर गोकुल आता है। श्रीकृष्ण मथुरा प्रस्थान करते हैं। उस समय सभी गोपियाँ कृष्णविरह में व्याकुल होकर बिलखने लगती हैं। कृष्ण के वियोग में विलाप करती राधिका यमुना में कूद कर सूर्यलोक पहुँच जाती हैं। इस दुःखद घटना से खिन्न राधिका-सखी ललिता भी पर्वतशिखर से कूद पड़ती है। कृष्णविरह में राधिका की उन्मत्तता का वर्णन होने से अंक 'उन्मत्तराधिका' नाम से अभिहित है।

चतुर्थ अंक में कंसवध के अनन्तर श्रीकृष्ण के द्वारका-गमन तथा वहाँ पर उनके द्वारा गोपियों के स्मरण से उत्पन्न अनुताप का वर्णन है। इधर गोकुल में कृष्णविरह में व्याकुल सोलह हजार गोपियों का नरकासुर अपहरण कर लेता है, फलतः समस्त गोकुल गोपियों से सूना हो गया है, उधर द्वारका में पौर्णमासी गोपी विरह-विह्वल कृष्ण के मनोविनोद के लिए एक नाटक का आयोजन करती है जिसमें श्रीकृष्ण के वृन्दावनचरित का चित्रण है। उस नाटक को देखने के लिए उद्धव के साथ कृष्ण आते हैं और नाटक से प्रभावित होकर चन्द्रावली का पता लगाने के लिए समुत्सुक होते हैं। इस अंक में गर्भाङ्क

का यह विनियोग भवभूति के 'उत्तररामचरित' के सप्तम अंक के गर्भांक से प्रभावित नजर आता है।

पंचम अंक में पौर्णमासी श्रीकृष्ण को कुण्डिननगर से चन्द्रावली का अपहरण करने के लिए प्रेरित करती है और स्वयं भी कुण्डिनपुर के लिए प्रस्थान करती है। श्रीकृष्ण रुक्मिणी (चन्द्रावली) का अपहरण करने के लिए नटवेष में कुण्डिननगर में प्रवेश करते हैं और चन्द्रभागा की पूजा के लिए नगर से बाहर निकली हुई रुक्मिणी का अपहरण करते हैं। रुक्मिणी के पिता राजा भीष्मक के समक्ष विवाह करके उनकी अनुमति से रुक्मिणी को द्वारका ले जाते हैं।

षष्ठ अंक में प्रधानरूप से स्यमन्तक मणि का वृत्तांत वर्णित है। भगवान् सूर्य ने प्रसन्न होकर सभाजित् राजा को स्यमन्तक मणि समर्पित किया और राधिका को 'सत्यभामा' इस नाम से अभिहित किया। विश्वकर्मा ने श्रीकृष्ण के आदेश से द्वारका में 'नववृन्दावन' का निर्माण किया। सभाजित् की माता ने नारद के आदेश से सत्यभामा को पटरानी रुक्मिणी के हाथों में सौंप दिया। सप्तम अंक में सत्यभामा नाम से प्रसिद्ध राधिका के साथ समागम के लिए श्रीकृष्ण के उद्योग का विशेष वर्णन है। अष्टम अंक में राधा और कृष्ण के निरन्तर बढते हुए अनुराग की कथा वर्णित है। इसमें राधिका (सत्यभामा) के प्रति रुक्मिणी की स्वाभाविक सौतभावयुक्त ईर्ष्या का सजीव चित्रण है। साथ ही सत्यभामा और रुक्मिणी द्वारा परस्पर एक दूसरे का वेषधारण-प्रसंग हास्यरस का उदाहरण है। यहीं पर नववृन्दावन के रूप में विशाखा के पुनर्जन्म की बात भी बतायी गई है।

नवम अंक में पद्मा श्यामला आदि सोलह हजार गोपियों की नरकासुर-कारागार से मुक्ति और उनके द्वारका आगमन की घटना वर्णित है। यहीं पर 'उत्तररामचरित के' प्रथम अंक के 'चित्रदर्शन' प्रसंग की भाँति विश्वकर्मा द्वारा गिरिकन्दरा में निर्मित श्रीकृष्ण की पूर्व लीलाओं का चित्र सत्यभामा को दिखाया गया है। दशम अंक में राजा सभाजित् पिंगला के द्वारा स्यमन्तक मणि को श्रीकृष्ण के अन्तःपुर में भेजते हैं। श्रीकृष्ण उस मणि को लेकर सत्यभामा को देखने के लिए स्त्रीवेष में अन्तःपुर में प्रवेश करते हैं, किन्तु उनका भेद खुल जाता है। रुक्मिणी इस रहस्योद्घाटन से सम्पूर्ण स्थिति को समझ कर सत्यभामा के साथ विवाह करने के लिए कृष्ण से निवेदन करती है। उसी समय नन्द, यशोदा एवं सभी देवताओं का वहाँ शुभागमन होता है और गुरुजन एवं देवगण के आशीर्वादों से उस महोत्सव की शोभा दूनी हो जाती है। यही इस नाटक का संक्षिप्त इतिवृत्त है।

'ललितमाधव' नाटक में भी नाटककार ने श्रीमद्भागवत, विष्णु एवं पद्म पुराणों की कृष्णकथाओं में से कतिपय अंशों को परिवर्तित कर भक्तिरस के अनुकूल उनका

समायोजन किया है। 'विदग्धमाधव' और 'ललितमाधव' इन दोनों नाटकों का दूसरा प्रयोजन भक्तिरस सम्बन्धी शास्त्रीय ग्रन्थों-'भक्तिरसामृतसिन्धु', 'उज्ज्वलनीलमणि', 'नाटकचन्द्रिका' के लिए उदाहरण प्रस्तुत करना भी है। पौराणिक कथा में विदग्धता के साथ शास्त्रीय काव्यलक्षणों का समावेश मणिक्राञ्चनसंयोग का विलक्षण निदर्शन प्रस्तुत करता है। 'विदग्धमाधव' में जहाँ कृष्णचरित की विदग्धता का शोभन चित्रण है, वहीं 'ललितमाधव' में उसके लालित्य की मनोरम झाँकी मिलती है। ललितमाधव में कहीं गम्भीर भावसम्प्रेषण के साथ रोचक संवादपरम्परा है, कहीं चित्रोपम दृश्यविधान है, कहीं आन्तरिक भावों की हृदयस्पर्शिता, शब्दों की नृत्यता और शब्दबन्ध की कुशलता, रसपरिपाक एवं नाट्यचातुरी का सुन्दर उदाहरण है। इसमें अभिनय की शिथिलता नहीं है। पात्रों का उपयुक्त चयन एवं यथास्थान उपयोग हुआ है। घटनाओं का सन्निवेश चतुराई से किया गया है। साथ ही वैष्णव सिद्धान्तों एवं परम्पराओं का भी समुचित निर्वाह हुआ है।

इस नाटक में धीरललित नायक श्रीकृष्ण और मुग्धा नायिका राधिका हैं। रुक्मिणी ज्येष्ठा स्वकीया पट्टमहिषी है। इसका प्रतिनायक शङ्खचूड नामक असुर है। प्रधानरस शृंगार है, हास्य आदि सहायक रस हैं। इसकी रीति वैदर्भी है, गुण प्रसाद एवं माधुर्य है, भाषाशैली प्रवाहपूर्ण एवं बोधगम्य है। 'ललितमाधव' के माध्यम से श्रीरूप की वाणी ने कृष्णभक्ति का मूर्त्तरूप धारण किया है। रूपगोस्वामी ने 'ललितमाधव' में काव्यसौष्ठव के भाव एवं कला दोनों पक्षों का समुचित समावेश किया है। नाटक के नान्दीश्लोक में ही कवि ने ललित पदावली के माध्यम से रूपक का मनोरम उदाहरण प्रसतुत किया है-

सुररिपुसुदृशामुरोजकोकान् मुखकमलानि च खेदयन्नखण्डः।
चिरमखिलसुहृच्चकोरनन्दी दिशतु मुकुन्दयशः शशी मुदं वः।। (१/१)

निम्न पद्य में कृष्ण की उक्तिचातुरी सहृदय मानस को चमत्कृत करती है। राधा के वदनबिम्ब की शोभा देखकर लज्जित चन्द्रमा राधिकामुखसुषमा की समता प्राप्त करने के लिए शङ्कर के जटाजूट का आश्रय लेकर तपस्या कर रहा है-

समीक्ष्य तव राधिके वदनबिम्बमुद्भासुरं
त्रपामरपरीतधीः श्रयितमस्य तुल्यश्रियम्
शशी किल कृशी भवन्सुरधुनीतरंगोक्षितां
तपस्यति कपर्दिनः स्फुटजटाटवीमाश्रितः।। (१/५५)

कलापक्ष की दृष्टि से अनुप्रासमयी पदशय्या का एक उदाहरण द्रष्टव्य है-

सुन्दराङ्गि भवदीयमन्दिरे मेदुरे मदुरसि सजं विना।
तथ्यमेव भवितुं न कल्पते कौस्तुभेन सहवासिनी परा।। (८/६)

रामकृष्ण

रामकृष्ण गुजराज के निवासी थे। इनका समय अज्ञात है।[1] इनके पिता का नाम देवजी था।[2] रामकृष्ण वैष्णव सम्प्रदाय के रामानुजमत से प्रभावित थे।

गोपालचन्द्रिका

रामकृष्ण ने 'गोपालचन्द्रिका'[3] नामक नाटक की रचना की है। यह रीतिमुक्त नाटक माना जाता है। कुछ लोग इसके छायानाटक होने का भी अनुमान लगाते हैं, किन्तु कीथ महोदय इससे सहमत नहीं हैं। कीथ के अनुसार यह भागवतपुराण और महानाटक (हनुमन्नाटक) के बाद की रचना है।[4] इस नाटक में महानाटक की समरूपता पायी जाती है। प्रस्तावना में इस नाटक का हनुमन्नाटक के साथ सम्बन्ध स्पष्टतः चर्चित है। स्वरूप की दृष्टि से यह नाटक साहित्यिक आयास है, नाटकीय प्रस्तुतीकरण के जीवन्त रूप का प्रतिनिधित्व करने वाला रगंमंचीय नाटक नहीं। किसी सामान्य नाटक से यह इस बात में भिन्न है कि इसमें वर्णनात्मक पद्य एवं गद्य अधिक मात्रा में मिलते हैं। कथोपकथनपरक नाटकीय संवाद शैली का अभाव खटकता है। पाँच अंकों के 'गोपालचन्द्रिका' नाक का आरम्भ धार्मिक कृत्य के साथ होता है। श्रीकृष्ण की नीराजना की जाती है। वे गोपालवेष में हैं और अपने भक्तों की पूजा स्वयं स्वीकार करते हैं। यह नाटक वस्तुतः धार्मिक और रहस्यपूर्ण है। इसमें श्रीकृष्ण तथा उनके सखाओं और राधा तथा उनकी सखियों की केलिक्रीडा का मनोरम चित्रण है। तृतीय अंक में वृन्दा (लक्ष्मी) के मुख से अनेक पद्यों द्वारा श्रीकृष्ण और राधा की एकरूपता का रहस्यात्मक सिद्धान्त प्रतिपादित है। श्रीकृष्ण परमपुरुष हैं जिन्होंने गोपाल के रूप में पृथिवी पर लोककल्याणार्थ अवतार लिया है। राधा श्रीकृष्ण की आद्या शक्ति हैं। शक्तिस्वरूपा राधा और शक्तिमान् श्रीकृष्ण में वस्तुतः तादात्म्य है।

चतुर्थ अंक में श्रीकृष्ण द्वारा गोपियों के चीर-हरण का परम्परागत दृश्य है, किन्तु वस्त्रों का प्रतिदान उनकी भक्तिभावना का निष्कष है। वस्त्रों के मूल्य के रूप में श्रीकृष्ण उनकी भक्ति मांगते हैं। इस प्रसंग में श्रीकृष्ण का कथन है कि उनके स्वरूपज्ञान की प्राप्ति के साधन यज्ञ, वैराग्य और वेदों की अपेक्षा उनकी भक्ति ही श्रेष्ठ है। अन्तिम पंचम अंक में दर्शक पूर्णिमा और शरद् को इस बात पर खेद प्रकट करते हुए पाते हैं कि गोपियाँ श्रीकृष्ण के साथ रासनृत्य नहीं कर रही हैं। श्रीकृष्ण रासनृत्य में गोपियों को बुलाने के

---

१. ए०बी० कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २८६

२. सम्पादक और विन्टरनित्ज ने 'देवजीति' पाठ माना है, जो असंगत (अशुद्ध) है।

३. Ed. Caland, Amsterdam, 1917

४. ए०बी०कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २८६

लिए योगमाया को आदेश देते हैं। श्रीकृष्ण स्वयं वंशी बजाकर गोपियों को आकृष्ट करते हैं। उसी समय देवगण उपस्थित होकर श्रीकृष्ण की स्तुति करते हैं। अन्त में श्रीकृष्ण गोपियों की भक्ति स्वीकार कर उनके साथ रास रचाते हैं। उपसंहार वाक्य में सूत्रधार कहता है कि भगवान् की महिमा का यथोचित रूप से प्रस्तुतीकरण असंभव है यह कहकर वह नाटक का समापन कर देता है।

१८वीं शती में विश्वेश्वर कवि ने 'रुक्मिणीपरिणय'[1] नामक नाटक की रचना की। इसी शती में ट्रावणकोर के युवराज राजवर्मन् ने भी 'रुक्मिणीपरिणय'[2] नाटक लिखा। दोनों नाटकों में कृष्ण के प्रति रुक्मिणी, जो शिशुपाल से विवाह नहीं करना चाहती थी, की प्रेमकथा वर्णित है।

जीवराम याज्ञिक ने 'श्रीमदभागवत' के दशम स्कन्ध में वर्णित कृष्ण की बाल लीलाओं के आधार पर १८८५ ई० में 'मुरारिविजय' नामक नाटक की रचना की।[3] मर्यादा पुरुषोत्तम राम की अपेक्षा लीलापुरुषोत्तम श्रीकृष्ण की कथा पर आश्रित नाटकों की संख्या यद्यपि कम है, तथापि ये नाटक भी भारतीय जनमानस को आनन्दित करने में महत्त्वपूर्ण भूमिका निभाते हैं।

मधुसूदन सरस्वती

मधुसूदन सरस्वती बंगाल के फरीदपुर जनपद में 'कोठालीपाद' ग्राम के निवासी थे।[4] इनके पिता का नाम नारायण मिश्र और माता का नाम अरुन्धती था। इनका गोत्र शाण्डिल्य था। इनके गुरु का नाम श्रीकृष्ण सरस्वती था।[5] इनके पिता नारायण मिश्र 'पुरोदन पुरन्दराचार्य' की उपाधि से विभूषित थे। मधुसूदन सरस्वती नवद्वीप में न्यायशास्त्र की शिक्षा प्राप्त कर काशी आ गये और इन्होंने काशी के प्रसिद्ध मीमांसक श्री माधव सरस्वती से मीमांसा और श्रीरामतीर्थ से अद्वैत वेदान्त का गहन अध्ययन किया। आध्यात्मिक तत्त्व चिन्तन से उत्पन्न वैराग्य के कारण इन्होंने श्रीविश्वेश्वर सरस्वती से

---

१. वाचस्पति गैरोला, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ८१५

२. वही

३. डा० जयकिशन प्रसाद खण्डेलवाल, संस्कृत साहित्य की प्रवृत्तियाँ, पृ० २५०

४. डा० राजवंश सहाय, संस्कृत साहित्य कोश, पृ० ७००

५. षट्तन्त्रीरसनांचलः कविगुरुर्योऽरुन्धतीगर्भजः
शाण्डिल्यान्वयमण्डनो द्विजमणेनारायणस्याङ्गजः।
शिष्यः कृष्णसरस्वतीयतिपतेराशैशवं वैष्णवः
संन्यासी मधुसूदनः सुरगुरोर्द्वैतं स किं न श्रुतः।। कृष्णकुतूहल, १/६

संयास की दीक्षा ली और मधुसूदन सरस्वती नाकाम से प्रसिद्ध हुए। संन्यासग्रहण से पूर्व इनका नाम कमलनयन था। ये नारायण मिश्र के तृतीय पुत्र थे। इनके वंश के मूल पुरुष का नाम श्रीराम मिश्र था।[1] मधुसूदन सरस्वती ने श्रीकृष्ण सरस्वती से कृष्णमन्त्र ग्रहण किया था। इनकी कृष्णोपासना गुरुपरम्परा वृन्दसवन में थी। श्री मुकुन्दशास्त्री इनके परम गुरु थे। मधुसूदन अद्वैतमत के प्रबल उन्नायक और विष्णुभक्तिपरायण संन्यासी थे। संस्कृत वाङ्मय का दर्शन-गगन इनके अप्रतिम वैदुष्य-भास्कर से विशेष उद्भासित हुआ है।

स्थितिकाल-मधुसूदन सरस्वती प्रसिद्ध नैयायिक गदाधर और तर्कवागीश के समसामयिक थे। इस सम्बन्ध में "नवद्वीपं समायाते मधुसूदनवाक्पतौ। चकम्पे तर्कवागीशः कातरोऽभूद् गदाधरः" यह आभाणक प्रसिद्ध है। मधुसूदन गोस्वामी तुलसीदास और मुगल सम्राट् अकबर के भी समकालिक थे। तुलसीदास की प्रशस्ति में मधुसूदन का यह श्लोक-

"आनन्दकानने ह्यस्मिञ्जङ्गमः तुलसीतरुः।
कवितामजंरी यस्य रामभ्रमरचुम्बिता।।"[2]

लोक में प्रसिद्ध है। मुगलसम्राट् अकबर की राजसभा में काशी के विद्वन्मण्डल के प्रतिनिधि ने मधुसूदन का अभिनन्दन इन शब्दों में किया था-

वेत्ति पारं सरस्वत्या मधुसूदनसरस्वती।
मधुसूदनसरस्वत्याः पारं वेत्ति सरस्वती।।[3]

इस प्रकार गदाधर, तुलसीदास और अकबर के समकालिक मधुसूदन का स्थिति काल १६ वीं शती का उत्तरार्ध और १७ वीं शती का पूर्वार्ध निर्विवाद सिद्ध होता है।

रचनाएँ-मधुसूदन सरस्वती सुरभारती के उद्भट विद्वान् और दर्शनतत्त्व के मर्मज्ञ मनीषी थे। इनकी उपलब्ध रचनाओं की संख्या १२ है जिनमें 'अद्वैतसिद्धि' और 'गूढार्थदीपिका' (भगवद्गीता की टीका) अत्यन्त उत्कृष्ट ग्रन्थ है। मधुसूदन रचित 'कृष्णकुतूहलम्' नामक एक नाटक भी प्रकाशपथ में आया है।

कृष्णकुतूहल-

'कृष्णकुतुहल'[4] मधुसूदन सरस्वती की एक नाट्यरचना है, जिसमें कृष्णकथा को उपजीव्य मानकर भक्तिरस के परिप्रेक्ष्य में मधुर श्रृंगार का प्रतिपादन है। यह सात अकों का नाटक है। अकों के नाम हैं- सानन्दनन्दन, मुग्धमधुसूदन, सुस्निग्धमाधव, सामोददामोदर, रासविलास, केशिविनाश और कंसविध्वंसन।

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, काशी की पाण्डित्य परम्परा, पृ० ३७
२. वही, पृ० ४० में उद्धृत
३. 'कृष्णकुतूहलम्' नाटक के सकम्पादक पं० हरिशंकर ओझा की प्रस्तावना, पृ० १२ में उद्धृत।
४. सम्पादक, पं० हरिशंकर ओझा, सरस्वती भवन ग्रन्थमाला (१२७) वाराणसी १९९० में प्रकाशित।

नाटक का आरम्भ परम्परानुसार सूत्रधार-नटी संवाद से होता है जिसमें कृष्ण द्वारा कंस की क्रूरदृष्टि से राधा की रक्षा और कंसवध की भावी घटना का संकेत मिलता है। कंस-प्रतिनिधि सदन्तक प्रारम्भ में ही आता है और श्रीकृष्ण के अलौकिक सौन्दर्य से मुग्ध और लोकोत्तर प्रभाव से प्रभावित होकर कंस के पास लौट जाता है।

श्रीकृष्ण गोपसखाओं के साथ वृन्दावन-शोभावर्णन प्रसंग में राधा के प्रति अपने अनुराग का संकेत देते हैं और कृष्ण को प्रियतम के रूप में पाने के लिए गोपियों के कात्यायनीपूजन का प्रसंग गोपियों की कृष्ण में अनुरक्ति को व्यञ्जित करता है। प्रथम अंक की यही संक्षिप्त कथा है। द्वितीय अंक में राधा और चन्द्रावली वृन्दावन की तरुलताओं में श्रीकृष्ण की श्यामल छवि का आभास पाती हैं जो कृष्ण के प्रति उनके हार्दिक अनुराग का द्योतक है। इसी अंक में राधा और चन्द्रावली से श्रीकृष्ण का एकान्त मिलन होता है।

तृतीय अंक के आरम्भ में राधा की सखी रुचिमती और वनदेवता के वार्तालाप से कृष्ण के वियोग में राधा और राधा के वियोग में कृष्ण की विरहदशा की सूचना मिलती है। इसी अंक में कृष्ण द्वारा वकासुर-वध का वर्णन है। नगर-सरोवर में स्नान के लिए गये हुए कृष्ण राजहंसी के माध्यम से राधा को सान्त्वना संदेश भेजते हैं और अपने विदूषक मित्र भद्रमुख की सहायता से पुनः राधा का सान्निध्य प्राप्त करते हैं। चतुर्थ अंक में अघासुर वध की सूचना है। साथ ही गोपबालकों को भयभीत करने वाले धेनुक और प्रलम्ब नामक असुरद्वय का भी कृष्ण संहार करते हैं। चन्द्रावली के समीप वर्षावर्णन प्रसंग में प्रमादवश 'धारा' के स्थान पर 'राधा' कह देने से कुपित चन्द्रावली कृष्ण द्वारा मनायी जाती है। कृष्ण पुनः राधा से भी मिलते हैं।

पंचम अंक में गोपियों के साथ श्रीकृष्ण की रासलीला का चित्रण है। शरद् ऋतु की अनुपम शोभा का भी वर्णन है। श्रीकृष्ण पुनः राधा से मिलते हैं, किन्तु विनोदवश सहसा छिप जाते हैं। गोपियाँ कृष्ण के वियोग में विलाप करने लगती हैं। राधा गोपियों को सान्त्वना देकर कृष्ण को खोजती हैं। षष्ठ अंक में कृष्ण के वियोग में आकुल गोपियों की विरहावस्था से कालिन्दी और वनदेवता चिन्तित होकर कृष्ण को ढूँढने का उपक्रम करती हैं। उसी समय शुकपठित श्लोक से गोपियों के साथ कृष्ण की रासक्रीड़ा की सूचना मिलती है। गोपियों का अपहरण करने के लिए आए कंसमित्र शङ्खचूड का वध श्रीकृष्ण करते हैं। कृष्ण को मारने के लिए कंस द्वारा भेजे गये अरिष्ट और केशी नामक असुर भी मारे जाते हैं। अंक के अन्त में नारद द्वारा कृष्ण के भावी चरित के अभिनय करने का निवेदन किया जाता है और कृष्ण नारद के इस निवेदन को स्वीकार कर इस अभिनय को देखने के लिए आने का वचन देते हैं।

सप्तम अंक में कृष्ण के चरणस्पर्श से शापमुक्त सुदर्शन अपने मुक्तिस्थान वृन्दावन को प्रणाम करता है और अपनी प्रेयसी भार्या को यह बताता है कि उसने आज रात इन्द्रसभा में नारदप्रणीत तथा गन्धर्वराज चित्ररथ द्वारा अभिनीत कृष्ण की मधुर लीला से युक्त 'मदनविनोदन' नामक नाटक को देखा है और आज ही नारदमुनि के 'कंसविध्वंसन' नाटक का अभिनय श्रीकृष्ण के समक्ष होने वाला है। जिसमें स्वयं भरत मुनि ने सूत्रधार की भूमिका निभाई हैं। सप्तम अंक के इस गर्भांग में अक्रूर के आगमन से लेकर कंसपर्यन्त लीला का चित्रण हुआ है।

कथा का मूल स्रोत-

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु का आधार श्रीमद्भागवत, पद्मपुराण और सामरहस्योपनिषद् हैं जिनकी कृष्णकथा से सम्बद्ध प्रमुख घटनाओं का इस नाटक में उपयोग हुआ है। मूल कथा की छाया में नाटककार के रचनाकौशल और कल्पनाचातुर्य का मणिकाञ्चन संयोग इस नाटक की उपादेयता में चार चाँद लगा देता है। पात्रयोजना में नाटककार की दृष्टि व्यापक है, फलतः इस नाटक में नायक श्रीकृष्ण और प्रतिनायक कंस के पक्ष के प्रायः सभी प्रमुख पात्र समाविष्ट हैं। पात्रसंयोजन में इस नाटक की एक विलक्षणता यह है कि सप्तम अंक के गर्भांग के सभी पात्र कविकल्पित हैं जिनमें स्वयं भरतमुनि ने सूत्रधार, वात्स्यायन ने पारिपार्श्विक, देवल ने कृष्ण, कश्यप ने नन्द-वसुदेव, अदिति ने यशोदा-देवकी, अष्टावक्र ने विदूषक और प्रमथयूथपति ने कंस का अभिनय किया है।

प्रस्तुत नाटक में मुख्यतः भक्तिरस का अभिव्यंजन है। आनन्दघन सच्चिदानन्द कृष्णचन्द्र के स्वरूपज्ञान और शरणागत होने से ही मनुष्य संसार-सागर को पारकर शाश्वत अमर पद को प्राप्त कर सकता है, यही इस नाटक का सन्देश है। भक्तिरस के अन्तर्गत मधुर श्रृगार इस नाटक का अङ्गीरस है। शृंगार के संयोग एवं विप्रलम्भ रूप उभय भेदों का यथास्थान अभिव्यंजन सरस एवं हृदयस्पर्शी है। संयोगदशा का चित्रण कृष्ण के राधा एवं चन्द्रावली से एकान्त मिलन में तथा वियोगावस्था का चित्रण कृष्ण के विन्त राध्य और चन्द्रावली तथा राधा और चन्द्रावली के बिना कृष्ण की विरहव्यथा में हुआ है। कृष्ण के वियोग में राधा की विरहदशा का मार्मिक चित्रण निम्न पद्य में द्रष्टव्य है-

"स्वपिति न शयने न वा धरण्यां न च नलिनेषु न पल्लवेषु नाङ्के।
कलयति सकलं विषेण तुल्यं हरि हरि केन कृतास्ति चित्तशून्या।।"

(कृ०कु० ३/१)

रूपकातिशयोक्ति के परिवेश में चन्द्रावली में आसक्त कृष्ण को 'मधुव्रत' कहकर कृष्ण के प्रति राधा का उपालम्भ अत्यन्त मार्मिक है-

"नवपल्लविताः समन्ततो लतिकाः सोत्कालिकाः सहस्रशः।

मधु तासु पिबन् मधुव्रतः कथमेनामुपयातु यूथिकाम्।।" (कृ०कु० २/३२)

प्रसाद और माधुर्य गुणों में रसाभिव्यक्ति इस नाटक की महती विशेषता है। माधुर्य गुणप्रधान निम्न पद्य में पदशय्या मनोहारी है-

"इयमनङ्गवरङ्गजसङ्गिनी सुरतरङ्गतरंगतरङ्गिणी।

वहति कुम्भयुगं स्तनकैतवात्तनुरुहालिमिषेण लसत्करम्।" (कृ०कु० २/१६)

नाटककार की नई कल्पना राधा के सौन्दर्यवर्णन में परिलक्षित होती है, जहाँ राधा के अंग को मदनवणिक् का पण्यस्थान (बाजार) कहा गया है जिसमें सुन्दरता के सभी रत्न विद्यमान हैं-

"वर्णः स्वर्णद्युतिरधरवद्दीप्तयः पद्यरागा

दन्ता मुक्ताः स्थितलवलसत्कान्तयश्चन्द्रकान्ताः।

नेत्रद्वन्द्वद्युतिरिह महानीलरत्नालिरेतत्

पण्यस्थानं मदनवणिजो राधिकायाः किमङ्गम्।।" (कृ०कु० ३/४०)

"साम्राज्यं मदनस्य .....स्निग्धास्मितालोकितम्" (३/३६) में सारालंकार के द्वारा शृंगार की व्यजंना और "कुटिलैवांकुश....क्षिपति" (२/३३) में दृष्टि की अंकुश से उपमा सहृदयहृदयसंस्पर्शी है। कहीं-कहीं नये शब्दों का प्रयोग कविप्रतिभा का निदर्शन है। इस सन्दर्भ में यशोदापुत्र कृष्ण के लिए 'यशोदेय' (२/२४) शब्द का प्रयोग द्रष्टव्य है।

इस प्रकार मधुसूदन सरस्वती का 'कृष्णकुतूहल' भक्तिरस से ओत-प्रोत सफल नाटक है जो कृष्णभक्ति का पावन प्रसाद देकर भक्तजनों का मंगलमय मार्ग प्रशस्त करता है।

शेषकृष्ण

'कंसवध'[1] नाटक के रचयिता शेषकृष्ण उस विद्वद्वंश के प्रसिद्ध विद्वान् थे जिन्होंने काशी को अपने ज्ञान से प्रकाश से शताब्दियों तक आलोकित किया है। शेषकृष्ण के पिता शेषनृसिंह गोदावरी तट छोड़कर १६ वीं शती के पूर्वार्ध में काशी आकर बस गये थे। वहाँ उन्हें तण्डनवंशी राजा गोविन्दचन्द्र का आश्रय मिला जिसके नाम उन्होंने 'गोविन्दार्णव नामक धर्मशास्त्रीय ग्रन्थ लिखा। शेषनृसिंह असाधारण वैयाकरण थे। उन्होंने काशी में व्याकरण की मान्य परम्परा की स्थापना की जिसमें भटट्रोजी और नागोजी सदृश

---

१. कंसवध का प्रकाशन काव्यमाला सं० ६ में बम्बई में १८९४ में हुआ है।

उद्भट विद्वान् हुए। शेषकृष्ण शेषनृसिंह के द्वितीय पुत्र शेषकृष्ण के पुत्र शेष वीरेश्वर ने पण्डितराज जगन्नाथ, भट्टोजी तथा अन्नंभट्ट को शास्त्रीय ज्ञान की शिक्षा दी थी। शेषकृष्ण ने तत्कालीन काशिराज गोवर्धनधारी के आश्रय में अनेक ग्रन्थों की रचना की। काशिराज गोवर्धनधारी की विद्वद्गोष्ठी के शेषकृष्ण सम्मानित सदस्य थे। शेषकृष्ण मूलतः वैयाकरण होकर भी असाधारण काव्यप्रतिभा के धनी थे। उन्होंने व्याकरणशास्त्र की प्रक्रियाकौमुदी के 'प्रकाश' नामक व्याख्याग्रन्थ के अतिरिक्त मुरारिविजय, मुक्ताचरित, सत्यभामा-परिणय आदि रूपक, पारिजातहरण, उषापरिणय तथा सत्यभामाविलास नामक चम्पू की रचना की। १६ वीं शती के अन्त में शेषकृष्ण ने कंसवध की रचना की।[1]

कंसवध

यह सात अंकों का कृष्णकथा पर आश्रित नाटक है जिसमें मुख्य रूप से कृष्ण द्वारा कंस के वध का वर्णन है। नाटकीय कथा का आरम्भ कंस के आकाशवाणी सुनने से होती है। आकाशवाणी में एक बालक द्वारा उसकी मृत्यु का संकेत है। आकाशवाणी सुन कर कंस को वसुदेव के विवाह के अवसर पर हुई आकाशवाणी, जिसमें देवकी के गर्भ से उत्पन्न अष्टम पुत्र के द्वारा उसके वध की बात कही गई थी, का स्मरण हो आता है। वह महामात्य को इस नवीन आकाशवाणी की सूचना देता है।

द्वितीय अंक के आरम्भ में तालजंघ नामक कंस का अनुचर एकोक्ति द्वारा यह बताता है कि कृष्ण ने शकट, धेनुक और पूतना को मार डाला है। गोपपुरोहित गर्ग तालजंघ को बताता है कि मामा कंस के धनुर्यज्ञ में सम्मिलित होने के लिए कृष्ण को निमंत्रण देने अक्रूर आये हैं। अश्वरूपधारी केशी असुर भी कृष्ण द्वारा मारा जाता है। तृतीय अंक में अक्रूर आते हैं। गोकुल में कृष्ण की मुरली सुनकर वे भावविभोर हो जाते हैं। चतुर्थ अंक में बलराम और कृष्ण नन्द और यशोदा को प्रणाम करके मथुरा के लिए प्रस्थान करते हैं। दूती आकर कृष्ण के वियोग में राधा की विपन्न अवस्था की सूचना देती है। मित्र सुदामा के परामर्श से वृन्दावन में रास-महोत्सव का आयोजन होता है। अक्रूर पहले ही कृष्ण के आगमन की सूचना लेकर मथुरा चले जाते हैं। पंचम अंक में ज्ञात होता है कि नन्द अपने मित्रों के साथ वृन्दावन और मथुरा के मार्ग में शिविर में पड़े हैं। वे कृष्ण और बलराम को मथुरा न जाने का सन्देश भेजते हैं किन्तु वे सन्देश पहुँचने से पहले ही मथुरा के लिए चल देते हैं। मार्ग में कंस का एक अनुचर जो कृष्णभक्त है, उन्हें अपने घर ले जाकर राजोचित प्रसाधन सामग्री देता है। कृष्ण के समक्ष एक कुब्जा रमणी आती है। वह कृष्ण को अंगराग समर्पित करती है। कृष्ण की कृपा से उसका कूबड़ अदृश्य हो जाता है। राजभवन के पास नगरसेठ बहुमूल्य उपहारों से दोनों भाइयों का स्वागत करते हैं। दोनों राजकुल में प्रवेश करते हैं।

---

१. डा० रामजी उपाध्याय, आधुनिक संस्कृत नाटक, भाग १, पृ० १०४

षष्ठ अंक के प्रवेशक में कंस की विज्ञापना है। रंगशाला के मार्ग में बाधक बनकर आये चाणूर और मुष्टक मारे जाते हैं। दोनों रंगशाला में पहुँचते हैं। कंस उन्हें राजप्रासाद से देखकर रंगशाला में उनसे युद्ध करने पहुँच जाता है। बलराम के आदेश से कृष्ण कंस को मार डालते हैं। कृष्ण कंस को मारकर अपने माता-पिता को बन्धमुक्त कर मतामह उग्रसेन को राजा बना देते हैं।

मूल्यांकन-

कंसवध नाटक के प्रथम अंक में सूच्यांश की बहुलता है। द्वितीय अंक के 'गर्ग' तालजंघ संवाद में गर्ग कृष्ण के पराक्रम का वर्णन करता है। नाट्यशास्त्र के नियम से अंक में नायक का होना आवश्यक है, किन्तु यहाँ इस नियम का पालन नहीं हुआ है। नाटककार ने कथावस्तु में सदुपदेशों को चतुराई से पिरोया है। कहीं-कहीं ग्रामवर्णन प्राकृतिक वातावरण को प्रस्तुत करता है। कभी-कभी दो पात्र रंगमंच पर साथ ही एक बात कहते हैं। बलराम और कृष्ण तथा वसुदेव और देवकी के ऐसे युग्म सप्तम अंक में मिलते हैं। कंसवध की कथा नाट्यशिल्प की दृष्टि से षष्ठ अंक में ही समाप्त हो जानी चाहिए, किन्तु सप्तम अंक में कथानक शून्य कोरा संवादमात्र है। केशी असुर का अश्वरूप धारण आयातत्त्व का संकेत देता है। कवि की संगीतमयी शैली सानुप्रासिक ध्वनियों के अनुरंजन से मनोरम लगती है। कवि की रससाधना शिथिल है। कृष्ण द्वारा मारे गये कंस पर पादप्रहार कृष्ण सदृश उत्तम नायक के लिए अनुचित है।

गोविन्दवल्लभ नाटक

'गोविन्दवल्लभ' नाटक के रचयिता द्वारकानाथ बंगाल के नवद्वीप के श्रीपाटमंगलदेहि ग्राम के निवासी थे। द्वारकानाथ के पिता का नाम रुक्मिणीकान्त था। इनके पूर्वज पर्णगोपालक थे। पर्णगोपालक चैतन्यदेव के भक्त राजा सुन्दरानन्द के प्रीतिपात्र थे।[1] द्वारकानाथ पर्णगोपालक की सातवीं पीढ़ी में उत्पन्न हुए थे। द्वारकानाथ बंगदेशीय कृष्णभक्त ब्राह्मण थे। इनका समय १८ वीं शती है। इनकी एक मात्र रचना 'गोविन्दवल्लभ'[2] नाटक है।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु आदिपुराण तथा श्रीमदभागवत से ली गयी है। मूलकथा में अनेक परिवर्तन कर नाटककार ने इसे रूपायित किया है।

---

१. गोविन्दवल्लभ नाटक, दशम अंक।

२. हरिदास द्वारा सम्पादित तथा नदिया से बंगाक्षरों में प्रकाशित।

कथानक–श्रीकृष्ण भाई बलराम, मित्र श्रीदाम और अन्य गोपालों के साथ नन्द से गोचारण के लिए वृन्दावन जाने की अनुमति मांगते हैं। गोचारणप्रसंग में कृष्ण को पत्नी लाभ की भी सूचना दी जाती है। गाय चराने के लिए जाते हुए श्रीकृष्ण सखा श्रीदाम के आग्रह से वृषभानुपुरी जाते हैं और वहाँ राधा से मिलते हैं। विदूषक मधुमंगल का हास्यास्पद आचरण गोपालों के लिए मनोरंजन प्रस्तुत करता है। श्रीकृष्ण अपने ग्वालमित्रों के साथ जलक्रीड़ा भी करते हैं।

वृन्दावन में राधा और कृष्ण का मिलन होता है। कृष्ण राधा के साथ नौकाविहार करते हैं और सखियों के साथ राधा को यमुना के पार पहुँचते हैं। माध्वीकपान से उन्मत्त बलराम श्रीकृष्ण और उनके मित्रों पर प्रहार करने के लिए यमुना के जल में उनकी छाया देखकर कूद पड़ते हैं। वे अपने आचरण पर लज्जित होकर कृष्ण से क्षमा माँगते हैं।

मुख्यतः इस नाटक में राधा-कृष्ण प्रेम और श्रीकृष्ण तथा गोपबालकों की विविध क्रीड़ा का वर्णन है। इस नाटक की प्रस्तावना अन्य नाटकों के समान है, किन्तु यहाँ प्रस्तावना के बाद किसी पात्र के रगंमंच पर प्रवेश का निर्देश नहीं है। प्रथम अंक के आरम्भ में एक विष्कम्भक का आरम्भ हुआ है, परन्तु विष्कम्भक के बाद रंगमंच पर किसी पात्र के प्रवेश की सूचना नहीं दी गई है। कथावस्तु के विस्तरण में विभिन्न रागों और तालों के गीतों की बहुलता है। कथावस्तु सुनियोजित है। मुख्य रस शृंगार है किन्तु उसमें हास्य का पुट मनोहारी है। यहाँ श्रीकृष्ण, राधा और गोपबालकों की चेष्टाओं, क्रीड़ाओं तथा स्निग्ध भावनाओं का वर्णन विशदता से किया गया है।

रुक्मिणीपरिणय

'रुक्मिणीपरिणय'[1] नाटक के रचयिता रामवञ्चि युवराज थे। ये अश्विनी महाराज के नाम से भी जाने जाते थे। रामवर्मा त्रावणकोर के युवराज थे। इनका स्थितिकाल १७५७-१७८० ई० था।[2] इन्होंने प्रकृत नाटक के अतिरिक्त शृंगारसुधाकर नामक भाण और कार्तवीर्यविजय नामक चम्पू काव्य की भी रचना की थी। रामवर्मा त्रावणकोर के राजा कार्तिक तिरूणाल (१७५८-१७६८ ई०) के भागिनेय तथा उनके सभाकवि थे।[3]

'रुक्मिणीपरिणय' नाटक की कथावस्तु का आधार भागवतपुराण (१०/५२-५४) है। ब्रह्मपुराण (अ०१६६) तथा ब्रह्मवैवर्तपुराण (अ०६८-१००) में भी रुक्मिणीविवाह की कथा उपलब्ध है। नाटककार ने नाट्यशास्त्र की दृष्टि से पौराणिक कथा में कतिपय परिवर्तन करके उसे नाटकीय रूप दिया है।

---

१. बम्बई से प्रकाशित

२. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६६३

३. बी०एल० नागार्च, अठ्ठारहवीं शती के संस्कृत रूपक, पृ० २२-२३

कथानक-प्रस्तुत नाटक की कथा का आरम्भ वासुभद्र (श्रीकृष्ण) द्वारा विदर्भ राजकुमारी रुक्मिणी के स्वयंवर के विषय में जानकारी के लिए उद्धव और कपिञ्जल को विदर्भ नगर भेजने से होता है। उद्धव विदर्भ नगर पहुँच कर वासुभद्र के साथ रुक्मिणी के विवाह की योजना बनाते हैं और पत्र द्वारा वासुभद्र को सूचित करते हैं कि रुक्मी और शिशुपाल के अतिरिक्त सब लोग आपके पक्ष में कर लिए गये हैं। आप शीघ्र विदर्भ नगर चले आयें। उद्धव का सन्देश पाकर वासुभद्र विदर्भ नगर पहुँच कर कात्यायनी मन्दिर में ठहरते हैं जहाँ रुक्मिणी को गौरीपूजन के लिये आना है। शिशुपाल रुक्मी के समर्थन से रुक्मिणी से विवाह का इच्छुक हैं।

उद्धव और रुक्मिणी-परिचारिका नवमालिका शिशुपाल को ठगने तथा वासुभद्र से रुक्मिणी का परिणय कराने की गूढ़ योजना बनाते हैं। कपिञ्जल और नवमालिका के प्रयास से मन्दिर के उद्यान में वासुभद्र और रुक्मिणी का प्रथम मिलन होता है।

शिशुपाल का मित्र साल्वराज रुक्मिणी का अपहरण कर लेता है, किन्तु वासुभद्र द्वारा प्रयुक्त सुदर्शन चक्र साल्वराज से रुक्मिणी को मुक्त करा लेता है। वासुभद्र वियोग में सन्तप्त रुक्मिणी को अपना मुक्ताहार भेजकर आश्वस्त करते हैं। विरहाकुल रुक्मिणी भी चित्रफलक पर वासुभद्र का चित्र बनाकर तथा उनके पास भेजकर अपनी वेदना व्यक्त करती है।

परिचायिका नवमालिका गौरीविलास प्रासाद में रुक्मिणी और वासुभद्र का पुनर्मिलन कराती है। नवमालिका अपनी सखी अनङ्गसेना को रुक्मिणी के विवाहवेष में शिशुपाल से विवाह करने के लिए भेजती है। शिशुपाल का अनङ्गसेना के साथ विवाह हो जाता है, परन्तु शिशुपाल के मित्र जरासन्धादि इस कपट विवाह का रहस्य जानकर उद्धव के आवास को घेर लेते हैं। वासुभद्र जरासन्धादि के साथ युद्ध के लिए उद्यत होते हैं, किन्तु वे सब भाग जाते हैं। वासुभद्र रुक्मिणी का अपहरण कर लेते हैं।

रुक्मिणी के अपहरण और शिशुपाल के अपमान से व्यथित रुक्मी वासुभद्र के प्रति अपशब्दों का प्रयोग करता है, किन्तु रुक्मिणी के अनुरोध से वासुभद्र उसे क्षमा कर देते हैं। वासुभद्र रुक्मिणी से विवाह करके द्वारकापुरी लौट आते हैं। नाटकीय कथा का समापन यहीं हो जाता है।

प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने मूल कथा में अनेक परिवर्तन कर अपनी कल्पनाशक्ति का परिचय दिया है। प्रमुख परिवर्तनों में निम्न द्रष्टव्य हैं-

(१) वासुभद्र द्वारा उद्धव एवं कपिञ्जल को स्वयंवर का पता लगाने के लिए कुण्डिनपुर भेजना।

(२) उद्धव तथा नवमालिका द्वारा शिशुपाल को छलने की योजना।

(३) वासुभद्र द्वारा रुक्मिणी के पास मुक्ताहार भेजना और रुक्मिणी द्वारा चित्रफलक पर वासुभद्र का चित्र बनाना।

(४) शिशुपाल और अनङ्गसेनाका अलीक विवाह सम्पन्न होना।

(५) रुक्मिणी के साथ द्वारका लौटते समय वासुभद्र द्वारा मार्ग में मिलने वाले पञ्चवटी, उज्जयिनी, वृन्दावन आदि तीर्थों का वर्णन।

उपर्युक्त परिवर्तनों से तथ्यपरक मूल पौराणिक कथा में नाटकीय चमत्कार आ गया है जिसमें नाटककार की मौलिक सूझ स्पष्ट प्रतीत होती है।

नाटक में प्रमुख रस शृंगार है। वैदर्भी रीति में भाषा की सरलता नाटक की उपयोगिता में विशेष सहायक है। नाटक में यत्र-तत्र वासुभद्र (श्रीकृष्ण) के प्रति रचयिता की भक्तिभावना भी व्यञ्जित है।

• • • •

जैन संस्कृत नाटक

- प्रो० यदुनाथ प्रसाद दुबे

संस्कृत-वाङ्मय के अभिनव विनिर्माण में जैन विपश्चिद्रत्नों का भारतीय विद्या के प्रत्येक क्षेत्र में आद्यन्त अतीव महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है। जहा एक ओर जैनधर्म एवं दर्शन सम्बन्धी मूलग्रन्थ प्राकृत में हैं, वहीं अधिकांश प्रौढ ग्रन्थों पर संस्कृत में अधिसंख्य विद्वत्तापूर्ण टीकाएँ भी लिखी गई हैं। पुनश्च जैन विद्वानों ने संस्कृत में महाकव्य, गद्यकाव्य, आख्यान, स्तोत्र, चम्पू एवं दृश्यकाव्य प्रभृति साहित्यिक विधाओं को भी अपनी अद्वितीय कृतियों से संवर्धित, समलङ्कृत तथा समृद्ध बनाया है। इतना ही नहीं, संस्कृत के व्याकरण, छन्द, अलङ्कार और कोशादि ग्रन्थों का भी प्रणयन जैनाचार्यों के द्वारा किया गया है।[1]

जहाँ तक जैन संस्कृत नाटकों का प्रश्न है, उसमें वे अग्रगण्य हैं। अनेक विद्वानों ने जैन वाङ्मय से नानाविधात्मक प्रबल प्रमाण प्रस्तुत किये हैं, जिनसे प्राचीन भारतीय नाट्य-साहित्य की प्राचीनता, प्रचुरता और समृद्धि की परिपुष्टि ही होती है। जैन साहित्य के एवं आगमिक ग्रन्थों से भी जैन नाटकों की उत्पत्ति एवं विकास के सम्बन्ध में कतिपय तथ्य सम्प्राप्त हैं। समवायाङ्ग एवं रायपसेणीयसुत्त (द्वितीय अङ्क) में ७२ कलाओं में चतुर्थी नाट्यकला का उल्लेख है। वहाँ अभिनयचतुष्टय, ३२ प्रकार की नाट्यविधियों तथा प्रेक्षागृहों का वर्णन है। महावीर के स्वर्गच्यवन, गर्भ, जन्म, अभिषेक, बालक्रीडा, यौवन, निष्क्रमण, तपश्चर्या, केवलज्ञान, तीर्थप्रवर्तन तथा निर्वाण आदि प्रसङ्गों का वाद्ययन्त्रों का प्रयोग कर तथा गान सुनाकर, नृत्य और अभिनय कर मूक अभिनय जैसा देव-देवियों ने नाटक किया, सूर्याभदेव अधिकार में ऐसा उल्लेख समुपलब्ध है। १०वीं उपाङ्गपुष्पिका में इन्द्र ने महावीर के समक्ष सूर्याभदेव के द्वारा नाट्यविधि का प्ररूपण किया है। वहाँ सूर्य, शुक्र आदि दस प्रायोजकों की ओर से अभिनीत नाटक का उल्लेख मिलता है। 'पिण्डनिज्जुति' (गाथा-४७४-४८०) में 'रट्टवाल' नाटक का उल्लेख है। इसमें भरतचक्रवर्ती का जीवनवृत्त, आषाढभूति मुनि ने अभिनीत किया है। औपपातिक में चम्पानगरी के वर्णन-प्रसङ्ग में नट तथा नर्तक का सन्दर्भ है। स्थानाङ्गसूत्र में अञ्चित प्रभृति चार प्रकार के नाट्यों का निर्देश प्राप्त है। आचाराङ्ग में नाट्य, गीत इत्यादि विनोदों का उल्लेख है एवं निशीथ में नट-नर्तकों के प्रयोगों का वर्णन है। उत्तराध्ययन की वृत्ति में नेमिचन्द्र ने मधुकरी गीत और सोयामणि-नाटकद्वयों का निर्देश किया है। राजशेखर सूरि के प्रबन्धकोश में कहा गया है कि बप्पभटि के गुरुभाई नन्नसूरि ने 'वृषभध्वजचरित' नामक नाटक,

---

१. प्रो० यदुनाथ प्रसाद दुबे, प्रबन्धचिन्तामणि का समालोचनात्मक अध्ययन, पृ० १९१-२००

आमराजा (कन्नौजनरेश) के राज्याश्रय में अभिनीत किया गया था। वर्धमानसूरि के 'मनोरमाचित्र' की प्रशस्ति (वि०सं० ११४०) में उल्लिखित है कि बुद्धिसागरसूरि ने कोई नाटक लिखा था।[1]

वस्तुतः उपर्युक्त प्रमाणों से परिज्ञात होता है कि जैनागमों के निर्माण काल में रूपकों का प्रचार-प्रसार था। मध्ययुग के उत्तरकाल में जैनकवि दृश्यकाव्य के क्षेत्र में अग्रसर हुए। गुजरात में चौलुक्ययुगीन सिद्धराज जयसिंह और राजर्षि कुमार सदृश राजाओं के प्रबल साहित्यिक संरक्षण तथा दक्षिण में पाण्ड्यनरेश के विद्यानुरागित्वाभिनिवेश में जैन संस्कृत नाटककारों के द्वारा नाट्य वाङ्मय का प्रणयन और अभिनय किया गया, अपितु नाट्यशास्त्र पर भी ग्रन्थ लिखे गये, जिनमें विशेषतः हेमचन्द्राचार्य के काव्यानुशासन का ८वाँ अध्याय तथा उनके प्रशिष्य आचार्य रामचन्द्र सूरि का 'नाट्यदर्पण' उस कालखण्ड की प्रतिनिधि रचनाएँ रही हैं। उनका आज भी महत्त्वपूर्ण स्थान और महनीय योगदान है।

जैनसंस्कृत नाटकों में पौराणिक जैन कथाओं का पूर्ण परिवेश है, 'पद्मचरिय', 'पद्मचरितम्', पउमचरिउ तथा आदिपुराण आदि उपजीव्यकाव्यों की उपजीव्यता है एवं उनमें तत्कालीन समस्याओं का भीलभाँति गुम्फन करके समाधानात्मक प्रस्तुतीकरण है। पौराणिक कथावस्तु में नाटकीयता उत्पन्न करने के साथ-साथ नाटककार का प्रमुख लक्ष्य है धार्मिक परम्परा को स्थायित्व प्रदान करना, जिसके लिए लोक-जीवन की समृद्धि और सातत्य परमावश्यक है। जैन नाटकों के भरतवाक्यों के माध्यम से निःश्रेयस् और धर्म के साथ सन्तानोत्पत्ति हेतु काम का भी अनल्प महत्त्व और योगदान स्वीकार किया गया है।

पात्रों में शृङ्गार के प्रति समाकर्षण और वीररस के प्रति समुत्साह भी है। अन्ततः वे सभी शान्तरस में पर्यवसित हो जाते हैं। वे निष्फल काम-भोग को निन्दित तथा घृणित मानते हैं। जीवनान्त आत्महितार्थ में करना स्वकीय स्वाभिमान तथा स्वाभिनिवेश स्वीकार करते हैं। परिणामस्वरूप जीवन का नैराश्य भी आशा में पर्यवसित हो जाता है। विवाह, युद्ध एवं अन्यान्य जीवन-संघर्षों में सफलता-प्राप्ति के पश्चात् आत्मोत्थान हेतु जैनधर्म की दीक्षा ग्रहण कर लेते हैं। एवमेव जैन संस्कृत नाटकों परमोद्दश्य शिष्ट-अनुग्रह और दुष्ट-निग्रह न होकर दुःख-निवृत्ति है। व्यक्तिगत और सामाजिक हित में इतना ऐक्य है कि व्यक्तिहित, समाजहित सदृश प्रतीत होता है। जैनेतर संस्कृत नाटककारों एवं कवियों की जितनी निष्ठा भविष्य के प्रति होती है, उतनी वर्तमान के प्रति नहीं। वहीं जैन नाटककारों के समक्ष भविष्य की अपेक्षा वर्तमान का महत्त्व अधिक होता है। जैन नाटकों में काव्य और समाजकल्याण का पारस्परिक सम्बन्ध सर्वाधिक दृष्टिगोचर होता है। जैन नाटकों में काव्य और समाजकल्याण का पारस्परिक सम्बन्ध सर्वाधिक दृष्टिगोचर होता है।

---

१. जैनसाहित्य का बृहद् इतिहास, भाग-६, पृष्ठ ५७२-५७३

यही कारण है कि "काव्येषु नाटकं रम्यम्" अर्थात् श्रव्यकाव्य की अपेक्षा दृश्यकाव्य (रूपक) का महत्त्व और अधिक बढ़ जाता है।

समुपलब्ध जैन नाटकों को कथावस्तु के आधार पर प्राधान्यरूपेण पाँच विभागों में-

(१) **पौराणिक** - नलविलास, रघुविलास, मैथिलीकल्याण, विक्रान्तकौरव प्रभृति।

(२) **ऐतिहासिक** - चन्द्रलेखविजयप्रकरणम्, हम्मीरमदमर्दन, रम्भामञ्जरी।

(३) **प्रतीकात्मक** - मोहराजपराजय, ज्ञानचन्द्रोदय, एवं ज्ञान सूर्योदय आदि।

(४) **काल्पनिक** - मल्लिका मकरन्द, कौमुदी मित्राणन्द तथा प्रबुद्धरौहिणेय।

(५) **साम्प्रदायिक** - मुद्रित कुमुदचन्द्र प्रभृति विभक्त किया जा सकता है।

समुपलब्ध जैन संस्कृत नाटकों का विवरणात्मक समधिक विस्तृत परिचय इस प्रकार है-

१. विबुधानन्दनाटकम् -

जैन साहित्यकारों में सुप्रसिद्ध जैनाचार्य शीलाङ्क ने ९वीं अथवा १०वीं शताब्दी में "विबुधानन्द" नामक नाटक का प्रणयन किया।[1] जैन नाट्य-जगत् का यह प्रथम प्राप्य नाटक है। जैन संस्कृति के सर्वथा अनुरूप कथानक इस प्रकार है-

लक्ष्मीधर नामक राष्ट्र कूटवंशी राजकुमार एकाकी पृथ्वीभ्रमण के लिए प्रस्थान करता है। 'कोई मनुष्य स्वकीय पराक्रम से अत्यधिक उन्नति नहीं कर सकता है'- पिताजी का यह कथन उसे अच्छा नहीं लगा। लक्ष्मीधर को यह सिद्ध करना था कि अपना पुरुषार्थ सबसे बढ़कर है। नृपति राजशेखर की राजधानी में लक्ष्मीधर आता है। राजा अपनी पुत्री बन्धुमती और आधा राज्य प्रदान करने का प्रस्ताव कञ्चुकी से भेजता है। नायक और नायिका में क्रीडोद्यान में प्रथम दर्शन में ही प्रणय का सूत्रपात हो चुका था।

एक दिन विदूषक और नायक परस्पर मिलते हैं। विदूषक के निर्देशानुसार वह कन्यान्तःपुरस्थ चित्रशाला में विश्राम करने पहुँचता है। वहीं नायिका भी अपनी सखी के साथ पहुँचती है। सखी के निर्देशानुसार नायिका का चित्र बनाती है और सखी से कहती है-

"सखि! चित्रगतोऽपि प्रियतमः किमपि तरलयति मानसावेगम्।
अङ्गैः सरसप्रियकोमलैः किं पुनः स्वरूपेण।।"[2]

---

१. विबुधानन्द नाटक का प्रकाशन "चउपन्नमहापुरुषचरियं" में काशी से हो चुका है। पृथक् प्रकाशन हरियाणा बुक डिपो, रेलवे रोड, रोहतक से १९५५ में हुआ है। वर्तमान में इसकी प्रति पार्श्वनाथ शोध संस्थान, वाराणसी में प्राप्य है।

२. विबुधानन्द, श्लोक-१६

वे दोनों विदूषक और नायक की बातें सुनती हैं। नायक नायिका के प्रेम में निमग्न है। नायिका को अभी पूर्ण विश्वास नहीं है कि नायक उससे प्रेम करता है। यही मनोदशा नायक की नायिका के प्रति है। दोनों परस्पर आवेग में सन्तत हैं। विदूषक नायिका के प्रेम को उसके अनुभवों के वर्णन से प्रमाणित करता है। उसी समय कञ्चुकी उपस्थित होता है। वह नायक से कहता है - **"गृहणातु चास्मद्धृतये राज्यार्थं बन्धुमतीसुकन्यकामिति।"**

वस्तुतः किसी दूसरी ओर प्रवृत्त चित्त को किसी अन्य दिशा में मोड़ा नहीं जा सकता है। नायक का यह उत्तर सुनकर नायिका संज्ञाशून्य हो जाती है। अन्ततः नायक बन्धुमती को स्वीकार कर लेता है। विदूषक नायिका को नायक का चित्र दिखाता है, जिसमें नायक अपने चित्र के साथ अपनी प्रेयसी को चित्रित किया था। वह नहीं जानता था कि यह बन्धुमती ही है। नायक अपने चित्र-कर्म की मीमांसा करता है-

"घुणाक्षराकारमदो मतिर्मे मन्ये विधात्रापि न शक्यमन्यत्।
रूपं विधातुं रुचिताङ्गयष्टेः कुर्यात्कथं तद्विधि मादृशोऽन्यः।।"[1]

विदूशक चित्र मिटाने के लिए आता है। वहाँ पहले से ही प्रस्तुत सखी उसे पकड़ लेती हे। उसे बचाने के लिये नायक भी उपस्थित हो जाता है। विदूषक नायक और नायिका का पाणिग्रहण कराता है। नायिका के मान को दूर करने के लिये नायक कहता है-

"चिरमाशंसितस्पर्शे येन स्वप्ने प्रवारिताः।
स कथं मुच्यते प्राप्तः परितोषकरः करः।।"[2]

कञ्चुकी आकर बताता है कि विवाह का मुहूर्त अभी शेष है। विवाह सम्पन्न होता है। राजकुमार नायिका की आभूषण-पेटिका देखता है। उसमें छिपा हुआ सर्प उसे काट लेता है और वह मर जाता है। नायिका बन्धुमती भी उसी के साथ चिता में जलकर मर जाती है। राजा प्रव्रज्यार्थ विचार प्रस्तुत करता है। रानी यह कहकर विरोध करती है कि अभी आपका पुत्र अशक्त है। राजशेखर कहता है -**"मोक्षं प्रति यतिस्ये।"**

उपदेशात्मक के साथ-साथ नाटक प्रेमकथात्मक भी है। रस-छन्द-अलङ्कारों से सूक्षमता से सम्पृक्त भाषा एवं शैली सरस, सरल, सुबोध एवं अभिनयोचित है। इतना ही नहीं, प्रस्तुत नाटक सूक्तिरत्नाकर है। सदुक्तियों एवं मुहावरों के माध्यम से मानव-जीवन के गहन अनुभव और शान्ति के सन्देश भी सम्प्रेषित हैं -

(i) **घटयति विघटयति पुनः कुटुम्बकं स्नेहमर्थमनवरतम्।**
भवितव्यतैव लोके न खेदनीयं मनस्तेन।।

---

१. वही, श्लोक २६

२. वही, श्लोक १६

(ii) विहाय शोकसरणिं कार्ये मनो दीयताम्

(iii) वज्रप्रकोष्ठकरजाग्रचपेटघात -
निष्पिष्टदन्तिदशनोत्कटमौक्तिकौघः।
सिंहः सहायविकलोऽपि दलत्यराती -
नन्तर्गतं ननु सदैककमेव सत्त्वम्।।

(iv) अविरुद्धं कन्यादर्शनम्।

(v) सहकारमञ्जरीं वर्जयित्वा महामहिमपरिमलोद्गाराम्।
अभिलषत्यर्कवल्लीं कुत्रापि किं मधुकरो युवकः।।

(vi) न च कमलाकरं वर्जयित्वान्यं राजहंसमालाभिलषति।

(vii) यच्चिन्त्यते हृदयेन नैव युज्यते न चैव युक्तिभिः।
विघटन-संघटनपरस्तदपि हताशो विधिः करोति।।

(viii) स्त्रीणां रोदनेनैव स्नेहाविष्करणं नानुष्ठानेन।

रामचन्द्र सूरि का नाट्य-वाङ्मय

लब्धप्रतिष्ठ साहित्यकार एवं प्रबन्धशतकर्ता, नाटककार सुप्रसिद्ध जैनाचार्य रामचन्द्र सूरि, हेमचन्द्राचार्य के सर्वप्रधान शिष्य थे।[1] इनके जन्मस्थान एवं जन्मकाल के विषय में कोई विशिष्ट अथवा विस्तृत जानकारी उपलब्ध नहीं है। अन्तः एवं बाह्य साक्ष्यों के आधार पर सुस्पष्ट है कि इनका जन्म गुजरात में अणहिल्लपुर पाटण के समीप हुआ था। इन्होंने हेमचन्द्राचार्य से जैनधर्म-दीक्षा ली थी।[2] जन्मजात प्रखर एवं कुशाग्र शेमुषी के कारण इन्होंने अल्पकाल में ही न्याय, व्याकरण एवं काव्यशास्त्र-तीन महाविद्याओं में निपुणता प्राप्त कर लीद्ध। हैमबृहद् वृत्तिन्यास एवं नाट्यदर्पण सदृश अनेक शास्त्रीय ग्रन्थों का प्रणयन किया था। इन्हें चौलुक्यनरेश सिद्धराज जयसिंह एवं राजर्षि कुमारपाल के सारस्वत मण्डल में प्रतिष्ठित स्थान प्राप्त था।

परन्तु कुछ विशेष कारण से कुमारपाल के उत्तराधिकारी अजयपाल का कोपभाजन होना पड़ा। परिणामतः, तप्ततामप्रपट्टिका पर बैठाकर इस महान् सन्तकवि का अन्त करवा दिया।[3]

---

१. हेमचन्द्राचार्य का शिष्यमण्डल, भोगीलाल साण्डेसरा, नाट्यदर्पण-ए क्रिटिकल स्टडी (के०एच० त्रिवेदी), पृष्ठ २०६-२२२।

२. प्रो० यदुनाथ दूबे, प्रबन्धचिन्तामणि का समालोचनात्मक अध्ययन, पृष्ठ २१६-२१७।

३. प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ६७, "अथ प्रबन्धशतकर्ता रामचन्द्रस्तु तेन भूपापसदेन तप्ततामप्रपट्टिकायां निवेश्यमानः ..... दशनाग्रेणरसनां छिन्दन् विपन्न एव व्यापादयांचक्रे।" और प्रबन्धकोष, पृष्ठ ६८-६६, "श्रीहेमद्वेषाद् रामचन्द्रादिशिष्याणा तप्तलोहाविष्टरासनयातनया मारणम्।"

पं० लालचन्द्र गाँधी ने नलविलास की भूमिका में उल्लेख किया है कि रामचन्द्र वि०सं० ११४५ में उत्पन्न हुए थे। उन्हें वि० सं० ११६६ में सूरिपद प्राप्त हुआ था। वि० सं० १२२८ में हेमचन्द्राचार्य के शिष्य और पट्टधर हुए और वि०सं० १२३० में स्वर्गवासी हुए।[1] प्रभावकचरित में वर्णन है कि रामचन्द्र सूरि एक योग्य शिष्य थे, जो हेमचन्द्राचार्य की सारस्वत परम्परा को चला सकते थे। इनका समय लगभग १११० ई० से ११७३ ई० तक अनुमानित है।

उनकी नाट्यशास्त्रीय कृति 'नाट्यदर्पण' एक सर्वोत्कृष्ट मौलिक रचना है। इसमें नाटक-भेदों, स्वरूप और रसों का ऐसा अद्भुत वर्णन किया है, जो भरत के नाट्यशास्त्र से सर्वथा भिन्न है। इसमें, विशाखदत्त के विलुप्त नाटक 'देवीचन्द्रगुप्त' के उद्धरण प्रस्तुत है, जो गुप्तकालीन ऐतिह्य की लुप्त विषयवस्तु सङ्कलित करने में अतीव महत्त्वपूर्ण प्रमाणित हुए हैं तथा स्वयं की रचनाएँ हैं-संस्कृत के कितने ही उपलब्ध और अनुपलब्ध नाटकों के भी उल्लेख प्राप्त है। इनकी चार संस्कृत की नाट्यकृतियाँ - नाटक, प्रकरण, नाटिका और व्यायोग - समुपलब्ध हैं, जिनका विविरण इस प्रकार है:-

२. **सत्य हरिश्चन्द्र** - नाटककार ने इसे अपना आदि रूपक कहा है।[2] इसकी विशेषता कथावस्तु सत्यवादी हरिश्चन्द्र से सम्बन्धित है। उपजीव्य काव्य महाभारत है। अभिनयानुकूल परमावश्यक परिवर्तनों से संबलित प्रस्तुत नाटक में ६ अङ्क हैं।

एक कुलपति इन्द्र की सुधर्मा सभा में सुनता है कि मृत्युलोक में हरिश्चन्द्र अतीव सात्त्विक और सत्यवादी नृपति है। कुलपति को प्रस्तुत प्रशंसा सह्य न हुई। वह इस कथन को असत्य सिद्ध करने के लिए कूटघटना की रचना करता है।

शक्रावतारतीर्थ के समीपस्थ वनप्रान्त में उपद्रवी वराह को मारने के लिये नृपति हरिश्चन्द्र बाण चलाता है। उसकी मृत्यु के साथ ही एक गर्भिणी मृगी की भी मृत्यु हो जाती है। राजा को महती ग्लानि होती है। वह समीपस्थ एक आश्रम में पहुँचता है। उसका यथोचित स्वागत-सत्कार होता है। उसी समय ज्ञात होता है कि किसी मृगयाविहारी ने आश्रम की गर्भिणी मृगी की हत्या कर दी है। वह कुलपति-कन्या वञ्चना को अतीव प्रिय थी। वह अनशन की धमकी देती है। राजा स्वयं अपराध को स्वीकार करता है। क्रुद्ध कुलपति कहता है कि - "भ्रूणहा सर्वस्वदानेनैव शुद्ध्यति" अर्थात् भ्रूणहत्या करने वाला सर्वस्व दान करके ही शुद्ध होता है। राजा सर्वस्व दान दे देता है।

---

१. द्रष्टव्य - प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातन प्रबन्धसंग्रह, प्रबन्धकोश, कुमारपाल प्रतिबोध एवं प्रभावक चरित प्रभृति जैन प्रबन्धकाव्यों में सविस्तर वर्णन है।

२. सत्यहरिश्चन्द्रनाटकम्, पृष्ठ-१, जिनरत्नकोष, पृष्ठ ४१२, निर्णयसागर प्रेस, बम्बई, अत्रे और पुराणिक द्वारा सम्पादित, नाट्यदर्पण-ए क्रिटिकल स्टडी (त्रिवेदी), पृष्ठ २४, वर्ष १९१३ में इसका इटली की भाषा में अनुवाद हो चुका है।)

मृत हरिणी का दाहसंस्कार होता है। पुत्री वञ्चना उसके साथ चितारोहण की बात करती है। प्रणामपूर्वक राजा कहता है कि –

"एकं क्षमस्व दुःसाधमपराधं तपोधने।
वितरिष्याम्यहुं तुभ्यं हेम्नो लक्षमसंशयम्।।"[1]

कुलपति, अङ्गारमुख नामक तपस्वी के साथ एकलक्ष स्वर्णमुद्रा प्राप्त करने के लिए राजा की राजधानी साकेत जाता है। राजा कोश से अभीष्ट स्वर्णमुद्रा कुलपति को प्रदान करता है। वह अस्वीकार करता है- इस समस्त राज्य पर अब उसका अधिकार है। राजा अपना आभूषण प्रदान करना चाहता है। अङ्गारमुख कहता है कि यह तो हमारे सेवकों का है। अन्ततः राज्य की समस्त वस्तुओं पर कुलपति का स्वामित्व हो जाता है। कुलपति और तपस्वी के व्यवहार से वसुभूति नामक मन्त्री स्वयं समझ जाता है कि यह कुलपति मुनि नहीं हो सकता है।[2] अङ्गारमुख सेवक को श्मशानवासी शृगाल और वसुभूति को शुक हो जाने का शाप देता है।

कुलपति एकलक्ष स्वर्णमुद्रा प्रदान करने के लिए राजा को एक मास का समय देता है और आदेश देता है कि – "वसुन्धरां त्यज मे सत्वरम्।" समस्त राजकीय आभूषण और वेशभूषादि का परित्याग करके नृपति हरिश्चन्द्र, पत्नी सुतारा और पुत्र रोहिताश्व के साथ अहोरात्र चलकर वाराणसी पहुँचता है। सभी श्रान्त और क्षुधा और पिपासा से व्याकुल थे। एक मास पर्यन्त अवधि भी समाप्त होने वाली थी। राजा, पत्नी को पञ्चसहस्त्र स्वर्ण मुद्रा और पुत्र को एक सहस्त्र स्वर्ण मुद्रा देकर खरीद लेता है। उसी समय कुलपति धनप्राप्ति के लिए वहाँ उपस्थित होता है। राजा प्राप्तधन को प्रदान करता है। वह अस्वीकार करता है और कहा कि उसे सम्पूर्ण मुद्राएँ चाहिए।

उसी समय वहाँ गङ्गा के दक्षिण श्मशान का चाण्डालाधिपति एक निषाद उपस्थित होता है। उसके सेवा-शर्तों – (i) चिताओं से आधी जली लकड़ियों को खींच कर निकालना, (ii) शव से कफन लेना, (iii) श्मशान की पूर्ण रक्षा करना, (iv) अन्यान्य जो कुछ राजाज्ञा हों, को हरिश्चन्द्र स्वीकार करता है। निषादराज कुलपति को राजा का मूल्य प्रदान करता है।

काशी में महामारी फैली थी। लम्बस्तनी कुट्टिनी काशीनरेश चन्द्रशेखर को सूचित करती है उसकी पुत्री अनङ्गलेखा रात्रि में सुखपूर्वक शयन की और प्रातःकाल वह मर गई। राजा अकारण मरण-निवारण के लिये उज्जयिनी से सहसा समुपस्थित मान्त्रिक से एतद्विषयक वार्तालाप करता है। उसने आकाशमार्ग से तथाकथित राक्षसी को बुलाया। तभी

---

१. वही, अङ्क १, श्लोक ३०।

२. वही, अङ्क २, श्लोक १५, "अपितु तपोव्याजच्छन्नं किमपि नियतं दैवतमिदम्।"

सूचना प्राप्त होती है कि उसकी पुत्री जीवित हो उठी है। राजा राक्षसी (रानी सुतारा) को गर्दभ-पीठ कर बैठाकर निर्वासित किया जाय - दण्डित करता है। शुक (वसुभूति मंत्री) की सत्यवादिता और अग्निपरीक्षा से राक्षसी का स्वाभिमान सुरक्षित रहता है।

श्मशान में उपस्थित कर्त्तव्यनिष्ठ हरिश्चन्द्र के पास निशीथ में एक रोती हुई रमणी पहुँचती है और सूचित करती है कि मेरा पति मारा जा रहा है। उसका पति बताता है कि वह काशिराज का पुत्र है। रात्रि में मुझको एक विद्याधरी यहाँ लाई। वह मेरे मांस से होम करना चाहती है। हरिश्चन्द्र स्वयं उसके स्थान पर जाता है। अपने पति चित्राङ्गद के साथ विद्याधरी उनके मांस से होम करना प्रारम्भ करती है, तभी एक शृगाल हुआँस भरता है। इससे उसके कार्य में विघ्न पड़ता है। तपस्वी आकर लेप लगाकर हरिश्चन्द्र के शरीर को पुनः स्वस्थ कर देता है।

श्मशान में अपने पुत्र का शव लेकर हरिश्चन्द्र के समीप पहुँचती है। उसके रुदन से वह अपनी पत्नी सतारा और पुत्र रोहिताश्व को पहचान लेता है। कफन मांगने पर वह कहती है - "आर्यपुत्र, पुत्रकं ते हस्ते ददामि।" तभी आकाश से पुष्पवृष्टि होती है और आकाशवाणी होती है -

"अहो दानमहो धैर्यमहो वीर्यमखण्डितम्।
उदारधीरवीराणां हरिश्चन्द्रो निदर्शनम्।।"[1]

चन्द्रचूड और कुन्दप्रभ - देवद्वय आकर सूचित करते हैं -

"आखेटा मुनिकन्यका कुलपतिः कीरः शृगालोर्ध्वगा,
ध्वप्रो म्लेच्छपतिर्मनुष्यमरणं लम्बस्तनी मान्त्रिकः।
उद्बद्धः पुरुषो वियच्चरवधूर्गोमायुनादः फणी,
सर्वं सत्त्वपरीक्षौकरसिकैरस्माभिरेतत् कृतम्।।"[2]

इस प्रकार नाटक की समाप्ति होती है।

वस्तुतः, नाटक जीवन के सुख और दुःख दोनों का प्रतिबिम्ब होता है। नाटककार इस सिद्धान्त का पूर्ण पालन करता है। पौराणिक कथावस्तु चरित्र-चित्रण तथा लोकानुरञ्जन के साथ-साथ प्रभावोत्पादक एवं नाटकीय तत्त्वों से समायुक्त है। रसानुकूल मनमोहन पदावली, नाट्योचित वैदर्भी-प्रयोग, लोकचरित के उन्नयन में सदुक्तियों का समाहार, मानव, देव, ऋषि, विद्याधन, पिशाच और पशु-पक्षी कोटि के प्रभृति कथापुरुषों का वैविध्य

---

१. सत्यहरिश्चन्द्र, अङ्क ६, श्लोक-११

२. वही, अङ्क ६, श्लोक-१६

उल्लेख, कारुधिक कथा-प्रसङ्गों में भवभूति के उत्तररामचरित, चतुर्थ अङ्क में मांत्रिक द्वारा सुतारा की राक्षसी रूप में उपस्थापन में राजशेखर के कर्पूरमञ्जरी, पञ्चम अङ्क मे नायक हरिश्चन्द्र द्वारा मांस-खण्ड-प्रदान में श्रीहर्ष के नागानन्दनाटकर्म का स्मरण आदि विविध वैशिष्ट्यों से परिपूर्ण है।

३. नलविलास –

इस नाटक में सात अङ्क हैं।[1] कथावस्तु का उपजीव्य स्त्रोत महाभारत ही है। जैन-साहित्य में प्राप्त नल-कथा पर समाश्रित नहीं है। महाभारत में नल-कथा से सम्बन्धित कुछ प्रसङ्ग ऐसे हैं - हंस के द्वारा नल का संदेश, कलि का नल के शरीर में प्रवेश तथा पक्षियों द्वारा नल के वस्त्राभूषण को ले जाना प्रभृति, जो रङ्गमञ्च पर अभिनेय नहीं है, को परिवर्तन करके उसके अनुरूप बनाया गाय है। कथावस्तु इस प्रकार है -

प्रथम अङ्क में विदर्भ-नरेश भीम की कन्या दमयन्ती निसर्ग सुन्दरी है। कलचुरि-(चेदि) नरेश उससे विवाह करने के लिए समुत्सुक है। वह चर को कापालिक बताकर विदर्भ-नरेश के पास भेजता है। भीम अपनी कन्या को कलचुरि-नरेश को देना भी चाहता था।

द्वितीय अङ्क में एक दिन नल सूर्यवन में सूर्योपस्थान के पश्चात् विश्राम कर रहा था। वह प्रातःकालिक स्वप्न के विषय में नैमित्तिक से बताता है। नैमित्तिक कहता है कि आपको शीघ्र ही स्त्रीरत्न-प्राप्ति, कुछ बाधाओं के साथ, होगी। कुछ समय के पश्चात् लम्बोदर नामक बक कापालिक का आगमन होता है। उसकी पोटली में दमयन्ती का चित्र है, उसको देखकर राजा नल कहता है वह अतीव लावण्यवती सुन्दरी है।[2] वह कलहंस और मकरिका को उससे प्रणयपथ प्रशस्त करने के लिए विदर्भ देश की राजधनी कुण्डिनपुर भेजता है। दोनों घोरघोण की पत्नी लम्बस्तनी के साथ वापस आते हैं। वह दमयन्ती-प्राप्ति में नल की सहायता करती है।

तृतीय अङ्क में राजा अपने सहयोगियों के साथ कुसुमाकरोद्यान में उपस्थित होता है। दमयन्ती भी अपनी पण्याङ्गना गायिकाओं के साथ उसी वन में कामपूजा के लिए आती है। वह लता की ओट में नायिका को देखता है। नायिका पुष्पावचय का बहाना करके उधर

---

१. जिनरत्नकोश, पृष्ठ २०५, गायकवाड ओरिण्टल सिरीज, २६, बड़ौंदा, १६२६, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, डॉ० एस०के० डे, पृष्ठ ४६५, नाट्यदर्पण-ए क्रिटिकल स्टडी (त्रिवेदी), पृष्ठ २२३।

२. नलविलास, अङ्क-१, श्लोक-१६ :

"वक्त्रं चन्द्रो नयनयुगली पाटलाम्भोजयुग्मम्, नासानालं दशनवसनं फुल्लबन्धूकपुष्पम्।
कण्ठः कम्बुः कुचयुगमथे हेमकुम्भौ नितम्बौ, गङ्गारोधश्चरणयुगलं बारिजद्वन्द्वमेतत्।।

आती है। नल उसका हाथ पकड़ लेता है। परस्पर प्रेमालाप होता है। माता के बुलाने पर नायिका चली जाती है।

चतुर्थ अङ्क में सभी नृपति समुदाय - काशीनरेश, कोङ्कणराज, कश्मीराधिप, कौशाम्बीपति, गौडेश्वर और मधुराधिपति आदि, स्वयंवर में समुपस्थित हैं। दमयन्ती नल का ही वरण करती है।

पञ्चम अङ्क में विवाह के पश्चात् कापालिक के षड्यन्त्रों के कारण नल अपने भाई कूबर से द्यूतक्रीड़ा में सर्वस्व हारकर अपनी पत्नी दमयन्ती के साथ देशान्तर-गमन करता है। मार्ग में वनभूमि पर सोयी हुई दमयन्ती को त्याग कर नल अयोध्या की ओर प्रस्थान करता है। वहीं उसके स्वर्गीय पिता निषध से भेंट होती है। निषध के द्वारा बताये गये उपयों से नल अपना वास्तविक स्वरूप परिवर्तित करके अयोध्यानरेश की सेवा में लग जाता है।

षष्ठ अङ्क के गर्भाङ्क में विदर्भ से आये हुए भरतों द्वारा नलान्वेषण नाटक का मञ्चन होता है। इस नाटक में दमयन्ती के प्रतिबिम्ब को देखने से नल को पूर्ण विश्वास हो जाता है कि उसकी जीवनलीला समाप्त हो गयी है। उसी समय अयोध्यानरेश के पास दमयन्ती-स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिये आमन्त्रणपत्र प्राप्त होता है। परन्तु मात्र एक रात्रि में अयोध्या से विदर्भ पहुँचने में राजा असमर्थता व्यक्त करता है। तभी नल अपने मन्त्राभिषिक्त रथ द्वारा उन्हें विदर्भ पहुँचाने का वचन देता है।

सप्तम अङ्क में, दमयन्ती-स्वयंवर में सम्मिलित होने के लिए विकृत रूप में अयोध्यानरेश के साथ विदर्भ पहुँचता है। वहाँ कापालिक द्वारा नल के मरण का प्रवाद फैलाया जाता है। इसको सुनकर वह चितारोहण का उपक्रम करती है। उसी समय नल अपने पूर्व रूप में प्रकट होकर दमयन्ती की रक्षा करता है। इस प्रकार नल और दमयन्ती का पुनर्मिलन होता है।

कारयित्री एवं भावयित्री प्रतिभा के धनी एवं नाट्यशिल्पी नलविलासकार महान् नाटककार रामचन्द्रसूरि ने प्रस्तुत नाटक में उच्चकोटि की साहित्यिकता एवं रमणीयता विद्यमान है। इसकी भाषा सरल, सरस, सुबोध, स्वाभाविक, प्रौढ एवं प्राञ्जल है। इसमें प्रसाद, माधुर्य, और ओज गुणों का सम्मिश्रण है। वैदर्भी रीति का प्राधान्य है। अधिकांश स्थलों पर शब्दमाधुर्य, पदलालित्य एवं समास-राहित्या दिग्दर्शन है। काव्य-सौन्दर्य को प्रस्फुटित करने एवं भाषानुभूति को तीव्रतम बनाने के लिए शब्दालङ्कार और अर्थालङ्कार का समुचित प्रयोग है। छन्दोविधान में मात्रिक एवं वर्णिक छन्दों का शास्त्रीय विधान है। उनकी दृष्टि में लोकानुरञ्जन, लोकहित एवं लोकविश्रान्ति ही नाट्य का परमोद्देश्य है। चराचरात्मक विश्व के अनेक प्राणियों के क्रिया-कलाप और विविध प्रकारक ज्ञान, विज्ञान, शिल्प आदि का सम्यक् समावेश के द्वारा नाट्य के त्रैलोक्यव्यापी क्षेत्र को स्वीकार किया

है। गीत, वाद्य-अभिनयादि नाट्योपकरण एवं पूर्वरङ्क की चरमोत्कृष्ट योजना विद्यमान है। यत्र-तत्र सर्वत्र नाट्याचार्य एवं रङ्गशिल्पी से सम्बन्धित सूक्ष्म सङ्केत भी प्रवर्तमान हैं। प्रणयप्रधान रचना होने के कारण नाटक का अङ्गीरस शृङ्गार है। शृङ्गार रस के उभयपक्षों (संभोग एवं विप्रलम्भ) का समुचित परिपाक है। प्रथम, द्वितीय एवं षष्ठ अङ्क में विप्रलम्भ शृङ्गार, और चतुर्थ तथा सप्तम अङ्क में सम्भोग शृङ्गार को सफल अभिव्यक्ति हुयी है। शृङ्गार के अतिरिक्त हास्य, करुण, रौद्र, वीर, भयानक एवं अद्भुत रस भी अङ्ग रूप में वर्णित है। अङ्ग रसों मे करुण रसों की प्रधानता है। विदूषक की व्यङ्ग्योक्तियों में हास्य, स्वयंवर में वीर, नल द्वारा कापालिक को डाँटने में रौद्र, सिंह-शावक के भयङ्कर वर्णन में भयानक, प्रच्छन्न नल-वर्णन में अद्भुत की मनोरस अभिव्यक्ति है। भारती, सात्वती आदि चतुर्विधात्मक नाट्य-वृत्तियों का कुशल प्रयोग है।

बहुआयामी व्यक्तित्व के धनी नाटककार रामचन्द्र सूरि प्रबन्धशतकर्ता भी हैं। अब तक मात्र ४७ ग्रन्थों के विषय में जानकारी सुलभ है। इनमें ११ रूपक, ३ शास्त्रीय ग्रन्थ, ३ काव्य (कुमारविहारशतक प्राप्य, सुधाकलश और दोधक पञ्चशती अप्राप्य) और ३० स्तोत्र हैं। स्तोत्रों में प्रायः जैन तीर्थङ्करों की ही स्तुतियाँ हैं।

४. मल्लिकामकरन्द - इसकी प्रस्तावना में नाटककार ने इसे नाटक कहा है।[1] वास्तव में यह एक प्रकरण है, क्योंकि इसकी कथावस्तु नितान्त काल्पनिक है।[2] नाट्यशास्त्रीय नियमानुसार प्रकरण में १० अङ्क होते हैं, परन्तु इसमें मात्र ६ अङ्क हैं। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है -

मल्लिका नामक षोडशी नायिका एक रात्रिकाल में मदन-मन्दिर में अपनी इह लोकलीला समाप्त करने जाती है। नायक मकरन्द कण्ठपाश से मुक्त कराकर उसे बचा लेता है। दोनों परस्पर प्रेमासक्त हैं। मल्लिका उसे अपने कर्णद्वय के आभूषण प्रदान करती है। नायक को जुआड़ी पकड़ लेते हैं। मल्लिका का धर्मपिता धन देकर उसे छुड़ा लेता है। धर्मपिता से ज्ञात होता है कि मल्लिका के अपहरण का समय समीप है, नायक उसे बचाने का प्रयत्न करता है। किसी अदृष्ट शक्ति द्वारा मल्लिका का अपहरण हो जाता है।

विद्याधर लोक में चित्राङ्गद उससे विवाह करना चाहता है। मल्लिका प्रणयप्रस्ताव को अस्वीकार कर देती है। मकरन्द वहाँ पहुँच जाता है। मल्लिका की माता उसे देशकर

---

१. मल्लिकामकरन्द, आमुख, पृष्ठ २,
"श्रीमदाचार्यहेमचन्द्रस्य शिष्येण प्रबन्धशतकारिणा रामचन्द्रेण विरचितं मल्लिका-मकरन्दाभिधानं नाटकं नाटयितव्यमिति।"

२. एल०डी० इन्स्टीच्यूट आफ इण्डोलॉजी, अहमदाबाद, संख्या-६, सम्पादक- मुनिश्री पुण्य विजय जी १९८३।

कुपित हो जाती है। मकरन्द निराश हो जाता है। उसी समय उसे एक शुक मिलता है, जो उसके स्पर्श से वैश्रवण नामक मनुष्य बन जाता है। वह अपनी विपत्ति की कथा-व्यथा को सुनाती है। वह वैभल नगर का सामुद्रिक वणिक् वैश्रवण था। वह अपनी पत्नी मनोरमा के साथ यात्रा पर गया था। मार्ग में उसे एक वृद्धा मिलती है। उसकी वैश्रवण से की गयी प्रयण-याचना के निष्फल होने पर वह उसे शुक और उसकी पत्नी को अपनी पुत्री मल्लिका की दासी बना कर रखती है। वही वृद्धा ही चन्द्रलेखा है। वह गन्धमूषिका विहार में भिक्षुणी रह कर भी दूषित चरित्रवाली है। नायक चित्राङ्गदा से मिलता है और वह बन्दी बना लिया जाता है।

मकरन्द के इस कार्य में वैश्रवण (शुक) और उसकी पत्नी मनोरमा की सहायता करने की प्रतिज्ञा करते हैं। एक ओर मल्लिका मकरन्द से अपने प्रगाढ प्रेम की बात करती है और दूसरी ओर (कपट रूप में) चित्राङ्गद से भी।

षष्ठ अङ्क के प्रारम्भिक विष्कम्भक में मकरन्द के स्थान पर अपना प्रेम और अनुराग चित्राङ्गद के प्रति प्रदर्शित करती है। एक दूसरा विवाहोत्सव होता है, जिसमें मल्लिका और यक्षाधिराज से विवाह का अभिनय है। दोनों के मध्य विवाह सम्पन्न होता है। यक्षाधिराज के रूप में स्वयं मकरन्द प्रकट हो जाता है। सभी लोग विवाह की स्वीकृति प्रदान करते हैं। अन्त में मुद्रालङ्कार द्वारा रचयिता का नाम (रामचन्द्र) सूचित किया गया है।

यह एक विशुद्ध प्रकरण है जो भवभूति के मालतीमाधव के अनुरूप विरचित है। रामचन्द्र सूरि ने अपने नाट्यदर्पण में इसे प्रकरण ही कहा है।

५. कौमुदीमित्राणन्द -

यह एक सामाजिक है[1], जिसे नाटककार ने प्रकरण कहा है।[2] इसमें १० अङ्क हैं। कौतुक नगरवासी धनाढय वणिक् जिनसेन के पुत्र मित्राणन्द और एक आश्रम के कुलपति की कन्या कौमुदी के मध्य प्रणय-व्यापार का वर्णन है। कथावस्तु इस प्रकार है -

प्रथम अङ्क में मित्राणन्द अपने चित्र मैत्रेय के साथ सामुद्रिक यात्रा पर जाता है। उनका जलपोत वरुण द्वीप में भग्न हो जाता है। वहाँ वह दोलाक्रीडा करती हुई एक

---

१. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ६६, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि०सं० १९७३, ए क्रिटिकल स्टडी ऑफ नाट्यदर्पण (के०एच० त्रिवेदी), पृष्ठ २२५-२२७, भारतीय विद्या भवन, बम्बई, प्रधान सम्पादक, महामहोपाध्याय प्रो० जयन्तकृष्ण हरिकृष्ण दवे, १९८२, सिंघी जैन ग्रन्थमाला ग्रन्थाङ्क ७७।

२. कौमुदीमित्राणन्द, अङ्क १, पृष्ठ-१ - सूत्रधारः - मार्ष! कौमुदीमित्राणनन्दनाम्नः प्रकरणस्याभिनये कृतनिश्चयोऽसि?

सुन्दर कन्या को देखता है। परस्पर प्रेम के प्रति समाकर्षित हो जाते हैं। मित्राणन्द कुलपति के साथ आता है। वह अपनी पुत्री और कौमुदी से विवाह करने का प्रस्ताव करता है।

द्वितीय अङ्क में रङ्गमञ्च पर वरुण आता है। उस द्वीप में वह अत्याचार करता था। उसने सिद्धराज को वज्रकीलित कर दिया था। नायक मित्राणन्द उसे मुक्ति प्रदान करता है। वरुण उसे उपहार में एक दिव्य हार प्रदान करता है।

तृतीय अङ्क में नायक और नायिका परस्पर मिलते हैं। नायिका कौमुदी नायक के पूर्ण यौवनस्वरूप और दिव्यहार के कारण उस पर सर्वतोभावेन आसक्त है। वह मित्राणन्द से रहस्योद्घाटन करती है कि कुलपति वास्तविक साधु नहीं है। मुझसे जो कोई विवाह करता है, उसे सोते समय विवाहगृह के नीचे ढके कूप में डाल दिया जाता है। नायिका के निर्देशानुसार विवाह सम्पन्न हो जाने पर नायक जागुली देवी से हालाहलहरीविद्या का मंत्र सीखता है।[1] नाटककार भावी घटनाओं की द्व्यर्थक श्लोक के माध्यम से सूचित करता है।[2]

चतुर्थ अङ्क में नायक और नायिका लङ्का की राजधानी रङ्गशाला में प्रवेश करते हैं। नगर-प्रवेश के समय ही मित्राणन्द चोर के रूप में पकड़ा जाता है। उसे एक गर्दभ पर बैठाकर पूरे नगर में घुमाया जाता है। उसका शरीर रक्तचन्दन से लेपा जाता है। वह राजा के समक्ष प्रस्तुत किया जाता है। उसकी व्यथा-कथा को सुनकर राजा सन्तुष्ट हो जाता है। उसका मन्त्री कौमुदी पर आसक्त हो जाता है। राजकुमार शशाङ्क को एक सर्प डँस लेता है। नायक विषापहरणमन्त्रोचार से उसके प्राणों की रक्षा करता है। एतदर्थ उसे राजसम्मान प्राप्त होता है।

पञ्चम अङ्क से दशम अङ्क तक यह समग्र प्रकरण अनेकानेक अलौकिक वातावरणों और घटनाओं से परिपूर्ण हैं, जो इस प्रकार प्रस्तुत हैं - मन्त्री कामरति नायक मित्राणन्द को बलि देने के लिए भेज देता है। वहाँ भी मित्र मैत्रेय उसके प्राणों की रक्षा करता है। मन्त्री की पत्नी ने देखा कि कौमुदी के प्रति उसके पति की कुदृष्टि है। उसको वह अपने आवास से निकाल देती है। उसकी भेंट वणिक्पुत्री सुमित्रा से होती है। वह उसके साथ रहने लगती है। पल्लीनरेश वज्रवर्मा के समक्ष उनक कुटुम्ब प्रस्तुत होता है। मित्राणन्द

---

१. कौमुदी मित्राणन्द, अङ्क ३, श्लोक २१ -
"हालाहलहरीं विद्यां वन्द्यां देवैः सदानवैः।
एतस्मै देवि! जामात्रे प्रसीद प्रतिपादय।।"

२. वही, अङ्क ३, श्लोक-२२,
"अस्ताद्रिमाश्रयन्तं प्रदोषसंहृयत समस्तवसु सारम्।
बोठारं कुलवनितेव मित्रमनुसरति दिनलक्ष्मीः।।"

का मित्र मकरन्द भी चोरी में पकड़ा जाता है। वे सभी राजा लक्ष्मीपति के कृपापात्र होने के कारण मुक्त कर दिये जाते हैं। मकरन्द का विवाह सुमित्रा से हो जाता है।

मित्राणन्द अपने सहयोगियों के साथ एकचक्रा पहुँचता है। वहाँ उसकी भेंट एक कापालिक से होती है। वह स्वयं नायक की हत्या करना चाहता था। दुर्भाग्यवश वह कापालिक स्वयमेव कुचक्र में फंस कर मृत्यु को समर्पित हो जाता है।

मकरन्द के व्यापारिक सम्पत्ति को एक नरदत्त नामक वणिक् हड़पना चाह रहा था। नरदत्त के सङ्केत पर उसे म्लेच्छ बनाकर शूली पर चढ़ाने का आदेश दिया जाता है। मकरन्द और वज्रवर्मा ने उसके प्राण की रक्षा करते हैं। अन्ततः, भरतवाक्य के साथ प्रकरण की समाप्ति होती है। वस्तुतः, प्रस्तुत रचना नाटककार की प्रारम्भिक रचना प्रतीत होती है।[1] क्योंकि इसमें प्रकरण सम्बन्धी नाट्यशास्त्रीय नियमों का परिपालन नहीं किया गया है। आख्यान वैचित्र्य का सन्निवेष है। नाट्योचित कम और कथोचित अधिक है। ऐन्द्रजालिक, मन्त्र-तन्त्र, औषधि-प्रयोग, नरबलि एवं शव में प्राण सञ्चार आदि का प्रयोगाधिक्य है, जिससे अद्भुत रस की कलात्मक परिपूर्ति है। परिणाम स्वरूप यह आधुनिक मूकनाटक (Pantomime) सदृश ही है।[2] डॉ० डे ने भी इसकी कथा दण्डी के दशकुमारचरित जैसी है और नाटककार को उसी रूप में लिखने का प्रयत्न करना चाहिए था।[3] आद्यन्त कार्य-व्यापार की अतिशयता है। चौर-प्रवृत्ति-वर्णन मृच्छकटिक का स्मरण प्रस्तुत करता है।[4] पशु-बलि का प्रबल विरोध और कापालिक की दुष्प्रवृत्तियों का सुष्ठु वर्णन है।[5] विद्वानों ने एण्तत्प्रकारक रूपकों का नामकरण "विकटकपटनाटक" किया है।

६. रघुविलास -

इसमें ८ अङ्क हैं।[6] राम के वनवास और सीता-मिलन का सुन्दर वर्णन है। नाटककार ने प्ररोचना में रामकथा का श्रद्धात्मक सारांश -

---

१. वही, अङ्क १ (नेपथ्ये) - "श्रीमता रामचन्द्रेण विरचितं कुतूहलसहस्त्रनिधानं कौमुदिमित्राणन्दाभिधानं निःशेषरसभावप्रदीपकं द्वितीयं रूपकम्।"

२. ए० बी० कीथ, संस्कृत ड्रामा, पृष्ठ २५८-२५६, गुजराती अनुवाद, भाग-२, पृष्ठ ३७६-३७७।

३. एस० के० डे, हिस्ट्री ऑफ संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ४७५-३७६।

४. कौमुदीमित्राणन्द, अङ्क-६, श्लोक-३ :

"नक्तं दिनं न शयनं प्रकटो न चर्या, स्वैरं न चान्नजलवस्त्रकलत्रभोगः।
शङ्कानुजादपि सुतादपि दारतोऽपि लोकस्तथापि कुरुते ननु चौर्यवृत्तिम्।।"

५. वही, अङ्क ६, श्लोक-२३:

"पुण्यप्रसूतजन्मानश्चण्डालव्यालसङ्गताम्।
मांसरक्तमयीं देवाः किं बलिं स्पृहयालवः।।")

६. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ३, २३, नाट्यदर्पण - ए क्रिटिकल स्टडी (त्रिवेदी), पृष्ठ २२८।

"सीता काननतो जहार विहितव्याजः पुरा रावण -
स्तं व्यापाद्य रणेन तां पुनरथो रामः समानीतवान्।
एतस्मै कवि सूक्तिमौक्तिकमणिस्वात्यम्भसे भूर्भुव-
स्स्वर्व्यामोहनकार्मणाय सुकथारत्नाय नित्यं नमः।।"

प्रस्तुत किया है। प्रस्तुत नाटक का उपजीव्य स्रोत जैन रामायण है। कथावस्तु इस प्रकार है -

प्रथम अङ्क में अयोध्यापति दशरथ की आज्ञानुसार राम, सीता और लक्ष्मण वनवास के लिए प्रस्थान करते हैं। विमान द्वारा रावण उपस्थित होता है। सीता-सौन्दर्य को देखकर वह विमुग्ध हो जाता है। वह विराध का रूप धारण करता है। दूसरी ओर से अन्य राक्षसों के आगमनजन्य कोलाहल सुनायी पड़ता है। लक्ष्मण शान्त कराने के लिए चले जाते हैं।

द्वितीय अङ्क में राम, लक्ष्मण की रक्षा में सीता को छोड़कर चले जाते हैं। प्राप्तावसरानुकूल रावण सीता का अपहरण करके विमान से लेकर उड़ जाता है। सीता के करुण क्रन्दन को सुनकर जटायु सीता को बचाने के लिए रावण से युद्ध करता है। घायल होकर उसकी जीवन-लीला समाप्त हो जाती है।

तृतीय अङ्क में सीताशून्य पर्णकुटीर को देखकर राम विलाप करते हैं। उनका अन्वेषण करते हुए राम जटायु को देखते हैं। राम को विदित होता है कि रावण ने ही सीता का अपहरण किया है। उसी समय विद्याधर आता है। वह कहता है कि सुग्रीव के आदेश से हनुमान् ने आपके पास भेजा है। इतना ही नहीं, वह राम को सीता-समाचार से अवगत भी कराता है। एक विद्याधर सुग्रीव का मायामय रूप धारण करके उसके पत्नी के साथ किष्किन्धा में रहता है। राम उस मायावी सुग्रीव को मारने की प्रतिज्ञा करते हैं।

चतुर्थ अङ्क में रावण की राजधानी लङ्का का वर्णन है। वह सीता को प्रेयसी बताने के लिए अनन्त प्रयत्न करता है।[1] विभीषण उसकी सत्परामर्श देता है। उसके द्वारा अपमानित वह जाकर राम से मिलता है।

पञ्चम अङ्क में रावण को समझाने के लिए राम बालि-पुत्र चन्द्ररश्मि को उसके पास भेजते हैं। रावण उसके समक्ष मायावी पवनञ्जय बनाकर दिखाता है कि वह उसकी सेवा कर रहा है। मायाविनि सीता उससे प्रेमालाप करती है। दूत के असफल लौट आने पर युद्ध प्रारम्भ होता है।

---

१. रघुविलास, अङ्क ४, श्लोक-५५ :
"वक्त्राणि द्वे हसत गायत तारतारं, नेत्राणि चुम्बति विहस्य च कर्णपालीः।
दोर्वल्लयः कुरुत ताण्डवडम्बरं च, श्रीरावणं ननु विदेहसुतारिरंसुः।।"

षष्ठ अङ्क में मन्दोदरी तथा मारीचि के साथ मय रावण को उपदेश देता है कि सीता के प्रति अनुराग का परित्याग करो। परन्तु वह अन्त तक राम से युद्ध करने का ही निश्चय करता है।

अष्टम अङ्क में राम और रावण के मध्य द्वन्द्व युद्ध होता है। रावण छद्म भाव से जनक द्वारा सीता को राम के मरने की सूचना देता है। सीता अग्नि में प्रवेश करना चाहती है। हनुमान् से सूचना पाकर राम सीता की रक्षा करते हैं। नेपथ्य में रावण-मृत्यु की सूचना प्राप्त होती है। अन्ततः सीता और राम का पुनर्मिलन होता है। भरत-वाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

रघुविलासकार ने कथावस्तु में अनेक दृश्यावलियों का अभिनव प्रयोग किया है। सम्पूर्ण नाटक में मायामय वातावरण ही परिव्याप्त है, जिससे अतीव रोचकता और नाटकीय तत्त्वों का पूर्ण प्रदर्शन करने का अवकाश सुलभ हो जाता है। नाटक में दिव्यतत्त्व एवं दानवीय दिव्यशक्तियों के मध्य युद्ध सदृश परिदृश्य दृष्टिगोचर होता है। मनोरञ्जनात्मक संवाद-योजन, अभिनव नाट्यपरिकल्पन, रसछन्दोऽलङ्कारादि निवेश, रसाभिव्यक्ति एवं नैतिक और चारित्रिक पात्र-चित्राङ्कन आदि तत्त्व सर्वोत्कृष्ट नाटक के परिचायक हैं। सीता-वियोग के समय राम का करुण क्रन्दन -

"अरण्ये मां त्यक्त्वा हरिण हरिणाक्षी क्व न गता,
पराभूतो दृष्ट्वा कथयसि न चेन्मा स्म कथया।
अरे क्रीडाकीर त्वमपि वहसे कामपि रुषं,
यदेवं तूष्णीकामनुसरसि वाचंयम इव।।"

विक्रमोर्वशीयम् के अनुरूप ही परिलक्षित होता है। सीता-प्रेमपरायणता में रावण उन्मत्त-सा प्रतीत होता है।[1] नाटककार की अभिरुचि के अनुकूल सुभाषितों और प्रचलित मुहावरों का प्रबल्य है।

७. निर्भयभमव्यायोग - व्यायोग कोटिक एकाङ्की रूपक है।[1] महाभारत में लिखित बकासुर-वध को कथावस्तु बनाया गया है, जो इस प्रकार है -

वनवासकाल में भीम द्रौपदी को वनश्री का अवलोकन करा रहे हैं। सर्वत्र शृङ्गारमय वातावरण है।[2] एक पुरुष भीम को सूचित करता है कि इस उच्च पर्वत पर

---

१. निरत्नकोश, पृष्ठ ३१४, यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, संख्या-१६, वाराणसी।

२. रघुविलास, अंक-६, श्लोक-१०

"अविदितपथः प्रेम्णा बाह्योऽनुरागरुजां जडा, वदतु दयितामैत्रीवन्ध्यो यथाप्रतिभं जनः।
क्व पुनरियं सीता राज्यं मित्रं मैत्रीरतिधृतिरुत्सवः।।"

बक नामक राक्षस निवास करता है। प्रतिदिन वह समीपस्थ नगर के एक व्यक्ति को अपना भोज्य पदार्थ बनाता है। वह वध्य व्यक्ति निर्धारित वस्त्र पहन कर वध्यशिला पर उपस्थित होता है। वह बक उन्हें छिन्न-भिन्न करके खा जाता है। उसी समय माता अपने पुत्र और वधू के लिये विलाप करती हुई उपस्थित होती है। द्रौपदी और भीम छिपकर समग्र दृश्य का अवलोकन करते हैं। पुत्र विलाप करता हुआ एक शिलातल पर बैठ जाता है। वह अपनी माता से कहता है कि अब उसे बचाने वाला कोई नहीं है। भीम कहता है-

"त्रस्ताँस्त्रातुं सुदति न सहो यद्यहं गाढबन्धः,
स्कन्धस्थामग्रहिललितौ धिक् तदेतौ भुजौ मे।
रक्षोवक्षःसपदि गदया चेन्न संचूर्णयामि,
व्यक्तं विश्वत्रितयविजयी नास्ति भीमस्तदानीम्।।"[1]

कि अब तुम मेरी शरण में हो। युवक समझता है कि यह भीमाकार मुझे खानेवाला राक्षस ही है। वह भय से आँखें मूँदकर मूर्च्छित हो जाता है। द्रौपदी कहती है कि यह युधिष्ठिर के भाई भीम हैं, जो तुम्हारी रक्षा के लिए उपस्थित हैं। अब भीम उसकी दृष्टि में राक्षसेश्वर से जीवितेश्वर हो जाता है।

निर्धारित समय पर राक्षस आता है। द्रौपदी ने कहा कि यह आपका काल ही है। वह भीम की कठोरता के कारण दाँतों से काटने में असमर्थ हो जाता है। वह भीम को उठाकर पर्वत पर ले जाता है। द्रौपदी आत्महत्या की योजना बनाती है। उपस्थित होकर सभी पाण्डव द्रौपदी को समझाते हैं। वे परस्पर वार्तालाप कर ही रहे थे, तभी भीम बकासुर सहित समस्त राक्षसों को कालकवलित करा करके उपस्थित हो जाता है। भीम विस्तारपूर्वक घटित घटना का वर्णन करता है। उसी समय व भयभीत विप्रपरिवार वहाँ उपस्थित होता है और उन्होंने कृतज्ञता प्रकट की। यहीं नाटक समाप्त हो जाता है।

भास के मध्यम व्यायोग और श्रीहर्ष के नागानन्द नाटक का स्पष्टतः प्रभाव परिलक्षित होता है। इसमें सङ्कलनत्रय - स्थान की एकता, समय की एकता और घटना की एकता - का पूर्णरूपेण परिपालन किया गया है। अङ्गीरस वीर और शेष अङ्गीरासों का समन्वयात्मक परिपाक हुआ है। भाषा अतीव सरस, सरल, प्रवाहमय एवं प्रसाद माधुर्यौजादि गुणों से समायुक्त है।

८. रोहिणमृगाङ्क - नाटककार रामचन्द्रसूरि का अन्यतम प्रकरण है[2], जो अधुनापि अनुपलब्ध है। 'नाट्यदर्पण' में दो स्थलों पर नाटककार ने इस कृति का उद्धरण दिया है।

---

१. निर्भयभीम, श्लोक-६

२. नाट्यदर्पण - ए क्रिटिकल स्टडी (त्रिवेदी), पृष्ठ २३२-२३३।

प्रकरण होने के कारण इसकी कथावस्तु कल्पनाजन्य है। इसमें सम्भवतः नायक मृगाङ्क एवं नायिका रोहिणी के प्रेमपरिपाक का वर्णन हो सकता है। नायक-नायिका मिलन में ही सुखानुभूति होती है -

"उन्मत्तप्रेमसंरम्भादारभन्ते यदङ्गनाः।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः।।"

नायक, नायिका रोहिणी के आङ्गिक एवं शृङ्गारिक चेष्टाओं और शारीरिक सौष्ठव का वर्णन प्रथम अङ्क में ही करता है।[1]

६. राघवाभ्युदय - रामकथा पर समाधारित यह भी एक नाटक है[2], जो अनुपलब्ध है। नाटककार ने स्वयं अपने "नाट्यदर्पण" में प्रायः १० बार इस नाटक का उल्लेख किया है। बृहट्टिप्पणिकानुसार इसमें १० अङ्क हैं। इसकी कथा की शुभारम्भ सीता के स्वयंवर से होता है। सम्भवतः इसकी रचना रघुविलास से पूर्व की है। क्योंकि रघुविलास की प्रस्तावना में नाटककार ने स्वयं कहा है कि राघवाभ्युदय मेरी सर्वोत्तम पाँच रचनाओं में से है।

प्रथम बार सीता राम को देखती हैं। वह चाहती हैं कि राम धनुष की प्रत्यञ्चा को चढ़ाकर धनुर्भङ्ग कर दें।[3] इस स्वयंवर में रावण उपस्थित नहीं होता है, किन्तु वह निश्चय ही सीतापहरण करेगा।[4] इसका दुःख न केवल राम को था, अपितु रघुवंश के आदिदेव सूर्य को भी था। राम कहते हैं -

"कलत्रमपि रक्षितुं निजमशक्तमात्मान्वय-
प्रसूतमभिवीक्ष्य मामहह जात लज्जाज्वरः।

---

१. रोहिणीमृगाङ्क, प्रथम अङ्क-
"सा स्वर्गलोकललना जनवर्णिका वा, दिव्या पयोधिदुहितुः प्रतियातना वा।
शिल्पश्रियामथ विधेः पदमन्तिमं वा, विश्वत्रयीनयनसंघटनाफलं वा।।"

२. नाट्यदर्पण - ए क्रिटिकल स्टडी (त्रिवेदी), पृष्ठ २३२-२३३।

३. राघवाभ्युदय, सीता -(समन्तादवलोक्य रामं च सविशेष निर्वर्ण्य स्वागतम्) प्रसीद भगवन्ननङ्ग, प्रसीद। तथा कुर्या यथा राम एव चापरोपणाय प्रभवति।

४. वही, रामः -(सीतापहारं स्मृत्वा सगर्वविषादम्) कपिराज, प्रतिराज विक्रमयामिनि तपनोदये भवति सहाये सति -
"निहत्य दशकन्धरं सहविपक्षरक्षः कथा-प्रभाभिरधिसंगरं जनकजां ग्रहीष्ये ध्रुवम्।
शशाक न स रक्षितुं रघुपतिः परेभ्यः प्रिया-मयं तदपि सम्भवी चिरमकीर्तिकोलाहलः।।"

प्रकरण होने के कारण इसकी कथावस्तु कल्पनाजन्य है। इसमें सम्भवतः नायक मृगाङ्क एवं नायिका रोहिणी के प्रेमपरिपाक का वर्णन हो सकता है। नायक-नायिका मिलन में ही सुखानुभूति होती है -

"उन्मत्तप्रेमसंरम्भादारभन्ते यदङ्गनाः।
तत्र प्रत्यूहमाधातुं ब्रह्मापि खलु कातरः।।"

नायक, नायिका रोहिणी के आङ्गिक एवं शृङ्गारिक चेष्टाओं और शारीरिक सौष्ठव का वर्णन प्रथम अङ्क में ही करता है।[1]

६. राघवाभ्युदय - रामकथा पर समाधारित यह भी एक नाटक है[2], जो अनुपलब्ध है। नाटककार ने स्वयं अपने "नाट्यदर्पण" में प्रायः १० बार इस नाटक का उल्लेख किया है। बृहट्टिप्पणिकानुसार इसमें १० अङ्क हैं। इसकी कथा की शुभारम्भ सीता के स्वयंवर से होता है। सम्भवतः इसकी रचना रघुविलास से पूर्व की है। क्योंकि रघुविलास की प्रस्तावना में नाटककार ने स्वयं कहा है कि राघवाभ्युदय मेरी सर्वोत्तम पाँच रचनाओं में से है।

प्रथम बार सीता राम को देखती हैं। वह चाहती हैं कि राम धनुष की प्रत्यञ्चा को चढ़ाकर धनुर्भङ्ग कर दें।[3] इस स्वयंवर में रावण उपस्थित नहीं होता है, किन्तु वह निश्चय ही सीतापहरण करेगा।[4] इसका दुःख न केवल राम को था, अपितु रघुवंश के आदिदेव सूर्य को भी था। राम कहते हैं -

"कलत्रमपि रक्षितुं निजमशक्तमात्मान्वय-
प्रसूतमभिवीक्ष्य मामहह जात लज्जाज्वरः।

---

१. रोहिणीमृगाङ्क, प्रथम अङ्क-
"सा स्वर्गलोकललना जनवर्णिका वा, दिव्या पयोधिदुहितुः प्रतियातना वा।
शिल्पश्रियामथ विधेः पदमन्तिमं वा, विश्वत्रयीनयनसंघटनाफलं वा।।"

२. नाट्यदर्पण - ए क्रिटिकल स्टडी (त्रिवेदी), पृष्ठ २३२-२३३।

३. राघवाभ्युदय, सीता -(समन्तादवलोक्य रामं च सविशेष निर्वर्ण्य स्वागतम्) प्रसीद भगवन्ननङ्ग, प्रसीद। तथा कुर्या यथा राम एव चापरोपणाय प्रभवति।

४. वही, रामः -(सीतापहारं स्मृत्वा सगर्वविषादम्) कपिराज, प्रतिराज विक्रमयामिनि तपनोदये भवति सहाये सति -
"निहत्य दशकन्धरं सहविपक्षरक्षः कथा-प्रभाभिरधिसंगरं जनकजां ग्रहीष्ये ध्रुवम्।
शशाक न स रक्षितुं रघुपतिः परेभ्यः प्रिया-मयं तदपि सम्भवी चिरमकीर्तिकोलाहलः।।"

प्रकाशयितुमक्षमः क्षणमपि स्वमास्यं जने,
प्रयाति चरमोदधौ पतितुमेष देवो रविः।।"

सुग्रीव-प्रकरण पताका रूप में विद्यमान है। इसमें मुख-प्रतिमुखादि पाँच सन्धियों का स्पष्टतः निर्देश है। राम सुग्रीव से सीता-मिलन हेतु विनिवेदन करते हैं और जनकपुत्री को रावण-वध करके प्राप्त करना चाहते हैं।[1] राम सीता-वियोग में स्वयं न मरने का क्लेशानुभव भी करते हैं। अन्ततः, प्ररोचना के माध्यम से भविष्याकालीन-प्रयोजन-सिद्धि का वर्णन है।[1]

एक ही कथानयक को लेकर एकाधिक कृतियों का लेखन-प्रथा अतीव प्राचीन है। महाकवि भास, श्रीहर्ष और भवभूति की भाँति रामचन्द्र सूरि ने भी नाटकद्वय - रघुवराभ्युदय एवं रघुविलास--का प्रणयन किया है। इसमें रामचन्द्र सूरि का रामचरित के प्रति प्रगाढ़ प्रेम का प्रत्यक्ष प्रमाण प्रथमतः परिलक्षित होता है।

१०. यादवाभ्युदय -

प्रस्तुत नाटक भी अनुपलब्ध है। नाट्यदर्पण मे इसका आठ बार उल्लेख प्राप्त होता है।[2] रघुविलास की प्रस्तावना में इस नाटक को भी राघवाभ्युदय की भाँति अपनी सर्वोत्कुष्ट पाँच कृतियों में नाटककार ने स्वीकार किया है। इसमें प्रधानतः कृष्ण जीवन से सम्बन्धित घटनाओं का वर्णन है, जिसमें कंस, जरासंध-वध के पश्चात् कृष्ण के राज्याभिषेक का अभिनय भी है। इसमें भी सम्भवतः १० अङ्क हैं। अन्तिम श्लोक में नाटककार ने अपना नाम मुद्रालङ्कार द्वारा सूचित किया है।

जैन पौराणिक आख्यानानुसार, कृष्ण नवम वासुदेव हैं। कंस के भय से भयभीत पिता वसुदेव ने पुत्र को जन्मकाल से ही गोकुल में छिपाया था। कंस स्वकीय मन्त्रियों के सत्पराचर्श से मल्ल-रङ्गभूमि का निर्माण करवाया था। वहीं कृष्ण ने द्वन्द्व युद्ध में कंस का वध किया। षष्ठ अङ्क में रुक्मिणी-स्वयंवर का वर्णन है। उसको देखकर कृष्ण कहते हैं-

"अस्यां मृगीदृशि दृशोरमृतच्छटायां, देवः स्मरोऽपि नियतं विततामिलाषः।
एतत् समागममहोत्सवबद्धतृष्ण, मा हन्ति मामपरथा विशिखैः कथं सः।।"

---

१. वही,

"सीताया वदनं विकासमयतां रामस्य शोकानलः,
शान्तिं यातु सगीतमयश्चलभुजैर्नृत्यन्तु शाखामृगाः।
सन्धानाय विभीषणः प्रयतनां लङ्गाधिपत्यश्रियः,
सौमित्रेर्दशकाण्ठकण्ठविपिनं कालः कियांश्छिन्दतः।।"

२. नाट्यदर्पण - ए क्रिटिकल स्टडी (त्रिवेदी), पृष्ठ २३३।

अजीतनाथ के मन्दिर में वसन्तोत्सव के उपलक्ष्य में हुआ था। इसमें सपादलक्ष या शाकम्भरी (आधुनिक सांभर, राजस्थान) नरेश अर्णोराज पर कुमारपाल की विजय और उसकी बहन से कुमारपाल के विवाह का वर्णन है।[1] इसकी नायिका चन्द्रलेखाएक विद्याधरी है।

वस्तुतः देवचन्द्र, हेमचन्द्राचार्य के शिष्य हैं।[2] हेमचन्द्राचार्य के गुरु का नाम देवचन्द्र सूरि था।[3] इनकी दूसरी रचना "मानमुद्राभञ्जन" नाटक है जिसमें नायक सनुत्कुमार चक्रवर्ती और नायिका विलासवती है। दुर्भाग्यवशात्, यह रचना भी उपलब्ध नहीं है।

१३. प्रबुद्धरौहिणेय - प्रस्तुत नाटक में छः अङ्क हैं।[4] इसके रचयिता प्रसिद्ध तार्किक देवसूरि[5] (वि०सं०१२२६ में मृत्यु) सन्तानीय जयप्रभसूरि के शिष्य रामभद्र मुनि हैं। इनका समय १२वीं शताब्दी का अन्तिम भाग माना गया है। कवि स्वतन्त्रता का प्रबल पक्षधर था।[6]

नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है- रौहिणेय का पिता लोहखुर नामक एक डाकू था। मृत्युकाल के समय उसने अपने पुत्र (रौहिणेय) से कहा था कि महावीर की वाणी तुम्हारे कर्णकुहरों में प्रवेश ने करे, क्योंकि वह वाणी हमारे कुलाचार को विनष्ट कर देने वाली है। एक दिन वह (रौहणेय) देखता है कि नगरवासी वसन्तोत्सव के समय मकरन्दोद्यान में क्रीड़ा कर रहे हैं। वह किसी सर्वाधिक सुन्दरी के अपहरण की योजना बनाता है।[7] सुन्दरी मदनवती स्वकीय भाग्य से सन्तुष्ट नहीं थी। नायक और नायिका कदलीगृह में

१. यह एक ऐतिह्य प्रामाणिक घटना है। एतदर्थ द्रष्टव्य है - प्रो० यदुनाथ प्रसाद दुबे, प्रबन्धचिन्ता-मणि का समालोचनात्मक अध्ययन, पृष्ठ १७७-१८१।

२. जैन साहित्यनो संक्षिप्त इतिहास, पृष्ठ २८०।

३. प्रो० यदुनाथ प्रसाद दुबे, प्रबन्धचिन्तमणि का समालोचनात्मक अध्ययन, पृष्ठ १६५-१६६। प्रभावकचरित, प्रबन्धकोष, पुरातन प्रबन्धसंग्रह, कुमारपाल प्रतिबोध आदि समस्त जैन प्रबन्धसाहित्य में उल्लेख है कि हेमचन्द्राचार्य के गुरु का नाम "देवचन्द्र सूरि" था।

४. जिनरत्नकोश, पृष्ठ २६५, ए० बी० कीथ, संस्कृतनाटक, १६५४, पृष्ठ १५६-६०, इसका गुजराती अनुवाद, संस्कृत नाटक, भाग-२, पृष्ठ ३७७-७८ में है। प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी ने सागर विश्वविद्यालय, सागर से हिन्दी अनुवाद किया है और वह प्रकाशित भी है।

५. प्रो० रामजी उपाध्याय ने "मध्यकालीन संस्कृत नाटक" में "रामचन्द्र के गुरु जयप्रभसूरि वादिदेव के शिष्य थे" उल्लेख किया है, पृष्ठ २१४ (पादटिप्पणी में।)

६. प्रबुद्धरौहिणेय, अङ्क ५, श्लोक-२:

"अन्यासक्ते जने स्नेहः पारवश्यमथार्थिता।
अदातुश्च प्रियालापः कालकूट चतुष्टयी।।"

७. वही, अङ्क १, श्लोक-१३:

"वणिक् वेश्या कविर्भट्टस्तस्करः कितवो द्विजः।
यत्रापूर्वोऽर्थलाभो न मन्यते तदहर्बृथा।"

पृथक्-पृथक् दिशाओं में पुष्पावचय करते हैं। वह नायिका को एकान्त में पुष्पावचय करती हुई देखता है। उसका मित्र शबर उसके उपपति को मार्ग में निरुद्ध करता है। रौहिणेय उसे कन्धे पर बैठाकर भाग जाता है और पर्वतीय गह्वर में छिपा देता है।

दूसरे दिन रात्रि के समय रौहिणेय मित्र शबर के साथ एक धनी वणिक् के गृह के समीप पहुँचता है। वर-वधू गृह प्रवेश के मुहूर्त की प्रतीक्षा में थे। गन्धर्व-वर्धापनोत्सव में सभी व्यस्त थे। शबर उन सभी के मध्य नृत्य करता है। स्त्रीवेशभूषा में रौहिणेय भी उपस्थित होता है। उसकी वेशभूषा वणिक्पत्नी के सदृश थी। अपने कन्धे पर बैठने के लिए वह वर को प्रेरित करता है और गन्धर्वों से कहा कि तारस्वर से वाद्यवादन करो। रौहिणेय (मनोरमा के वेश में) एक चीरि का सर्प गिरा देता है। वास्तविक सर्प समझकर सभी वहाँ से भाग जाते हैं। रौहिणेय भी वर को लेकर गिरि महवर में भाग जाता है। अत्यधिक विचार-विमर्श के पश्चात् सभी को ज्ञात होता है कि वणिक्-पुत्र का अपहरण हो गया है।

उस समय मगधनरेश श्रेणिक राजगृह में उपस्थित था। नगर के सभी धनी गणमान्य लोग राजा से मिलने जाते हैं। सभी सूचित करते हैं कि चोर सुन्दर पुरुष, स्त्री, पशु और धन-सम्पत्ति का अपहरण करता है। आरक्षक के निष्फल हो जाने के पश्चात् अभयकुमार नामक मंत्री को राजा डाँटता है और स्वयं उस चोर को दण्ड देने की बात करता है। मन्त्री ने कहा कि वह चोर को पाँच-छः दिनों में पकड़ लेगा।

रौहिणेय राजा के भवन से ही स्वर्णराशि चुराने का निर्णय करता है।[1] सन्ध्या का समय था। रौहिणेय जानता है कि महावीर स्वामी कहीं परिषद् में पधार चुके हैं। पिता की आज्ञानुसार वह दोनों कर्णकुहरों को बन्द करके चल रहा है। सहसा उसके पैर में कण्टक चुभ जाता है। हाथ वे वह निकाल नहीं सकता था, क्योंकि उसके कर्णों में महावीर-वाणी प्रवेश कर जाती। अन्ततः वह हाथ से ही कण्टक निकालता है। उसके कर्णों में महावीर की देवलक्षणविषयक वाणी प्रवेश करती है।[2] अर्द्धरात्रि का समय है। वह अपने प्रिय चौर्यकर्म में प्रवृत्त होता है। वह राजभवन के समीप पहुँचता है। प्रहरी के बुलाने पर वह चण्डिकायतन में प्रवेश करता है। नगररक्षक चण्डी मन्दिर को घेर लेते हैं। अपने हाथ में छुरिका लेकर वह उन आरक्षकों के मध्य से भाग जाता है। वह प्राकार का लङ्घन करते समय जाल में फंस जाता है और पकड़ा जाता है।

---

१. वही, अङ्क १, श्लोक-७ :

"नाद्यास्माद्यदि भूपतेर्भवनतः प्राज्यं हिरण्यं हरे।
तन्मे लोहखुरः पिता परमतः स्वर्गस्थितो लज्जते।।"

२. प्रबुद्धरौहिणेय, अङ्क ४, श्लोक-६

दूसरे दिन राजा श्रेणिक के समक्ष लाया जाता है। राजा उसे शूली पर चढ़ाने का दण्ड देता है। अभयकुमार मन्त्री एक नाटक का आयोजन करता है। रौहिणेय सुरापान करके प्रमत्त हो जाता है। उसके चारों ओर ऐसी व्यवस्था की जाती है कि वह स्वर्गलोक में है। वेश्याङ्गनाएँ अप्सराओं की भूमिका में हैं। चन्द्रलेखा और वसन्तलेखा रौहिणेय के दक्षिण भाग में, ज्योतिप्रभा और विद्युत्प्रभा उसके वाम भाग में स्थित हैं। शृङ्गारवती नृत्य और गन्धर्व सङ्गीत प्रस्तुत करते हैं। रौहिणेय चैतन्यभाव को प्राप्त कर चुका है।[1] वह अपने समस्त शुभ-अशुभ कर्मों के विषय में बताता है। अभयकुमार मन्त्री कहता है कि प्रमाणाभाव में दण्ड देना राजनीति के सर्वथा विरुद्ध है। वास्तविकता के प्रश्न पर वह कहता है-

"निःशेष्मेतन्मुषितं पत्तनं भवता मया।
नान्वेषणीयः कोऽप्यन्यस्तकरः पृथिवीपते।।"[2]

जो कुछ भी मैंने किया, उसके प्रधान कारण महावीर स्वामी हैं। वह इतने समय तक पिता की बात मानकर जो महावीर-वाणी नहीं सुनी। वस्तुतः अब मैं महावीर स्वामी के चरण-कमलों की सेवा में ही सदैव निरत रहूँगा। वैभारगिरिगह्वर में द्वारा चुराकर रखी वस्तुएँ सभी को प्रदान कर दी जायँ। सभी को अपनी-अपनी चोरित वस्तुएँ प्राप्त हो जाती हैं। अन्ततः, राजा श्रेणिक स्वयं रौहिणेय का अभिनन्दन करता है, क्योंकि अब वह सचमुच में प्रबुद्ध हो गया है-

"त्वं धन्यः सुकृती त्वमद्भुतगुणस्त्वं विश्वविश्वोत्तम-
स्त्वं श्लोघ्योऽखिलकल्मषं च भवता प्रक्षालितं चौर्यजम्।
पुण्यैः सर्वजनीनतापरिगतौ यौ भूर्भुवः स्वोऽर्चितौ-
यस्तौ वीरजीनेश्वरस्यचरणौ लीनः शरण्यौ भवात्।।"[3]

इसका परिचय 'जैनसाहित्यनो संक्षिप्त इतिहास' में पृष्ठ ३२५ में दिया गया है। प्रस्तुत नाटक अजयाल (चौलुक्य नृपति) के अनुरोध पर लिखा गया था और सम्भवतः वि. सं० १२५७ में यह उनके द्वारा विनिर्मित जालौर के आदीश्वर जिनालय के यात्रोत्सव पर अभिनीत हुआ था।)

---

१. वही, अङ्क ६, श्लोक-५ :
"अस्मिन् महाविमाने त्वमुत्पन्नस्त्रिदशोऽधुना।
अस्माकं स्वामिभूतोऽसि त्वदीयाः किङ्करा वयम्।।"
२. वही, अङ्क ६, श्लोक-२८
३. वही, अङ्क ६, श्लोक-४०।

वस्तुतस्तु, प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु, अपनी अद्‌भुत गगनाङ्गणतलस्पर्शी कमनीय कल्पलताओं के कारण संस्कृत नाट्य-वाङ्मय में अद्वितीय है। देवभूमि से लेकर वैभारगि रिगह्वर तक की समस्त नेत्रोन्मीलनपथगामिनी दृश्यावली तथा न्यायालय, वसन्तोत्सव एवं समवसरण आदि का परिदृश्य वैचित्र्यपूर्ण है। 'असतो मा सद् गमय' स्वरूप औपनिषदिक दार्शनिक विचारधारा से, सवैतोभावेन परिपूर्ण नाट्यरङ्गमञ्च धार्मिक विसङ्गतियों से सुदूर है। नाटककार का प्रतिपात्रानुशीलन, नाट्यतत्त्वपरिशीलन, सरस-सरल-संवाद प्रकल्पन एवं प्रभावोत्पादक तथा कर्मशीलगरिमामय सदुपदेश सदैव अनुकरणीय हैं। नृत्य, गीत एवं वाद्य का लोकजनमानसोल्लासजन्य सफल प्रासङ्गिक वर्णनों का सन्निवेश तथा नाट्यालङ्कारों का विशद परिवेश नाट्योचित पर्यावरण को सन्तुलित बना रहा है। नाटककार की कारयित्री एवं भावयित्र प्रतिभा का परिपूर्ण प्रकाशन है। नाट्यात्माजन्य अभिनय चतुष्टयों का रङ्गमञ्चीय प्रस्तुतीकरण है। प्रसाद माधुर्यादिगुणगरिष्ठ सानुप्रासिकसङ्गीतमयी, अतएव प्रतिपद थिरकती हुई नर्तनमयी शैलीसाकारत्व का निदर्शन है।'[1]

१४. द्रौपदीस्वयंवर - यह अङ्कद्वयात्मक संस्कृत नाटक है।[2] नाटककार महाकवि श्रीपाल के पौत्र और सिद्धपाल के पुत्र महाकवि विजयपाल हैं। श्रीपाल जयसिंह सिद्धराज के बालमित्र थे और सारस्वतमण्डल के प्रधान थे। श्रीपाल ने 'वैरोचन पराजय' नामक महाप्रबन्ध लिखा था। प्रस्तुत नाटक का प्रथम अभिनय चौलुक्यसम्राट् "अभिनव सिद्धराज" विरुदधारी महाराज भीमदेव द्वितीय (वि०सं० १२३५-६८) की आज्ञानुसार त्रिपुरुष देव के समक्ष वसन्तोत्सव के समय अनहिलपाटन में हुआ था। विजयपाल ने नाटकारम्भ में शिव और विष्णु की स्तुति की है। अतएव, नाटककार का रचनाकाल १३वीं शताब्दी का उत्तरार्द्ध माना जा सकता है। नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है -

'स्वयंवर में जो राधावेध करेगा, द्रौपदी का विवाह उसी के साथ होगा' ऐसी उद्‌घोघणा होती है। कृष्ण ने बताया कि परशुराम कर्ण के गुरु हैं। उन्होंने कर्ण को पञ्चबाण प्रदान किये थे, उनमें से बाणद्वय कर्ण से माँग कर लाओ। मैं द्रुपद के पास रहूँगा। योजनानुसार भीम कर्ण के दानस्थल-मण्डल में उपस्थित होता है और तारस्वर से वेदध्वनि करता है। वह कर्ण के सम्मुख उपस्थित होता है और पूछने पर -

---

१. प्रबुद्धरौहिणेय, अङ्क१ १, श्लोक-७ :

"क्वचिन्मल्लीवल्लीतरलमुकुलोद्‌भासितवना-
क्वचित् पुष्पामोदभ्रमदलिकुलाबद्धवलया।
क्वचिन्मत्तक्रीडत् परभृतवधूध्वानसुभगा,
क्वचित् कूजत्पारापतविततलीलीसुललिता।।"

२. जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, १९१८, सम्पादकः श्री जिनविजय मुनि।

"भगवद् भार्गवादत्तशरपञ्चकमध्यतः।
राधावेधाय राधेय ममार्पय शरद्वयम्।।"

भीम स्वयं सर्वोत्तम बाणद्वय चुन लेता है। स्वयंवर-मण्डप में राधावेध के लिए कृष्ण प्रत्येक वीर को बुलाते हैं। सर्वप्रथम दुर्योधन को आमन्त्रित किया जाता है। वह दुःशासन को भेजता है। चापारोपण के समय वह धराशायी हो जाता है। शकुनि भी सत्प्रयास करता है। किन्तु वह भयभीत हो जाता है।[२] द्रोण के समक्ष अन्धकार, कर्ण के सम्मुख मायामय अर्जुन-द्रौपदी विवाह और शिशुपाल के लिए धनुष में त्रिलोकी का समग्र भार समारोपित करके उन सभी के समस्त प्रयासों को विफल कर दिया जाता है। तीर्थयात्री की वेशभूषा में बैठे हुए अर्जुन को बुलाया जाता है। अर्जुन, भीम द्वारा लाये गये बाण में से एक बाण से चक्रगति अवरुद्ध करता है और दूसरे से मत्स्य का नेत्र-वेधन करता है। स्वयंवर में सभी नृपति-समुदाय स्वकीय आसनों पर विराजमान हैं। द्रौपदी आती है। दुर्योधन उसके शरीर-सौन्दर्य का वर्णन करता है।[३] वह स्वयंवर माला से अर्जुन के कण्ठ को समलङ्कृत करती है। देवगण पुष्पवृष्टि करते है। कृष्ण का कथन है - "राधावेधगुणेनैव क्रीता क्रीता कृष्णा किरीटिना।" नाटक समाप्त हो जाता है।

अङ्कद्वयात्मक प्रस्तुत नाटक श्रीगदित कोटि का उपरूपक माना जाता है। इसमें वीर और अद्भुत रस प्रधान है। कहीं प्रश्नोत्तरात्मक मनोहर शैली तो कहीं भावोद्रेक सम्पृक्त आलङ्कारिक भाषा वितान है। कहीं पात्रचरित्र चित्राङ्कन है तो कहीं नाट्यतत्त्व-परिशीलन है। कहीं कपटविकट नाटकनैपुण्य भाव प्रदर्शन है तो कहीं काव्य-सौष्ठव का अतिशयात्मक निदर्शन है। वस्तुतः नाटककार सर्वतोभावेन नाट्यकलाकलाप कौशल गुणात्मककवितावनितासमलङ्कृत सकलविद्या वैशारद्य है।

१५. मोहराजपराजय - यह पाँच अङ्कों का नाटक है।[४] जैन संस्कृत नाट्य-जगत् में प्रतीकशैली का प्रथम समुपलब्ध रूपक है। नाटककार गुर्जरनरेश अजयपाल (अजयदेव)

---

१. द्रौपदी-स्वयंवर, अङ्क १, श्लोक-१२

२. वही, अङ्क १, श्लोक-२५:
"शिरालवाचालजटालकालकरालजंघालफटालभालम्।
उत्तालमुत्तालतलामकालं, वेतालजालं स्खलयत्यलं माम्।।"

३. द्रौपदी-स्वयंवर, अङ्क २, श्लोक-१ :
"ब्रह्मास्त्रमेषा कुसुमायुधस्य स्त्रीवर्गसर्गस्य कलशं विधातुः
अहो वपुर्लोचनभङ्गसङ्गलीलामधूच्छत्रमिदं बिभर्ति।।"

४. गायकवाड ओरियण्टल सिरीज, संख्या-६, बड़ौदा, १९६८।

चक्रवर्ती के चरणकमल का राजहंस[1] महाकवि यशःपाल हैं। राजर्षि कुमारपाल का उत्तराधिकारी चौलुक्यसम्राट् अजयपाल ने १२२९-१२३२ ई० तक शासन किया।[2] महावीर की यात्रा महेत्सव के समय इसका प्रथम अभिनय हुआ था। यशःपाल के पिता धनदेव मोढवंशीय वणिक् जाति के थे। ऐसा प्रतीत होता है कि यशः पाल भारापद्र (आधुनिक भराद, बनासकांठा जनपद) के निवासी अथवा राज्यपाल था।[3] वह पूर्ण जैनधर्म दीक्षित था।[4] नाटक की रचना काल ११वीं शताब्दी माना जाता है। कथावस्तु इस प्रकार है -

सर्वप्रथम नाटककार श्री पार्श्वनाथ जिनेन्द्र का स्तवन करता है।[5] तत्पश्चात्, कथानक का सार-

"पद्मासद्मा कुमारपालनृपतिर्जज्ञे स चन्द्रान्वयी,
जैनं धर्ममवाप्य पापशमनं श्रीहेमचन्द्राद् गुरोः।
निर्वीराधनमुज्झता विदधता द्यूतादिनिर्वासनं,
येनैकेन भटेन मोहनृपतिर्जिग्ये जगत्कण्टकः।।"[6]

प्रस्तुत करता है। राजा, विदूषक और हेमचन्द्राचार्य को छोड़कर शेष सभी पात्र भवात्मक-पुण्यात्मक और पापात्मक वस्तुओं के रूपक (प्रतीक) हैं। पक्ष-विपक्ष के पात्रों के नाम इस प्रकार हैं -

---

१. मोहराजपराजयम्, अङ्क १, पृष्ठ ३ "सूत्रधारः -(स्मृतिमयभिनीय) आर्ये! अस्त्येव श्रीमोढवंशावतंसेन श्रीअजयदेवचक्रवर्त्तिचरणराजीव राजहंसेन..... परमार्हतेन यशःपालकविता विनिर्मितं मोहापराजयो नाम नाटकम्।"

२. प्रो० यदुनाथ प्रसाद दुबे, प्रबन्धचिन्तामणि का समालोचनात्मक अध्ययन, पृष्ठ २१७-२१८।

३. मोहराजपराजयम्, अङ्क १, पृष्ठ-२ "यदद्य मरुमण्डलकमलामुखमण्डनकर्पूर-पत्राङ्कुरभारापद्रपुर-परिष्कारश्रीकुमारविहार क्रोडालङ्कार श्रीवीरजिनेश्वरयात्रामहोत्सव-प्रसङ्गसङ्गतमस्तोकं सामाजिक-लोकं .... परमप्रमोदसंपदं संप्रापयेदिति।" एवमेव श्लोक-५, "भारापद्रपुरं निसर्गचतुरं चैत्येषु सर्वोत्तमं।" श्लोक-६, "श्रीमोढाह्वयवंशजः स जयति श्रीमान् यशःपाल इति।"

४. वही, अङ्क १, श्लोक- १०, ११ एवं १२
"किं सङ्गीतरसेन चेज्जिनवचः पीयूषमापीयते।
मेहाद् ब्रूहि यथा मम पुनर्लीनं मनो ब्रह्मणि।।"

५. वही, अङ्क १, श्लोक १: "स जयति वृषलक्ष्मा नाभिजन्मा जिनेन्द्र।"
श्लोक २ : "व्यामोहं नृपमेवमेव जितवान् वीरः स वस्त्रायताम।"

६. वही, अङ्क १, श्लोक-४

पक्ष	विपक्ष
१. राजा - कुमारपाल (विवेकचन्द्र)	१. राजा - मोहराज
२. दूत - ज्ञानदर्पण	२. रानी - राज्यश्री
३. ज्योतिषी - गुरूपदेश	३. सखी - रौद्रता
४. मन्त्री - पुण्यकेतु	४. रानी (कुमारपाल) - कीर्तिमञ्जरी
५. आरक्षक - धर्मकुञ्जर	५. श्यालः - प्रताप आदि
६. रानी - शान्ति	
७. पुत्री - कृपासुन्दरी	
८. मौसी - शान्तिसुन्दरी	
९. कूप - सदागम	
१०. नदी - धर्मचिन्ता	
११. उद्यान - धर्म	
१२. वृक्ष - दम	
१३. घट - ध्यान	
१४. सखी - सोमता	
१५. कवच - योगशास्त्र	
१६. वीतराग - स्तुति	

प्रथम अङ्क में - ऋषभ, पार्श्व और महावीर नामक तीन तीर्थङ्करों की प्रारम्भिक तीन श्लोकों में स्तवन किया गया है। विदूषक और राजा कुमारपाल रङ्गमञ्च पर प्रवेश करता है। मोहराज का वृत्तान्त जानने के लिए प्रेषित चर ज्ञानदर्पण भी प्रवेश करता है। विदूषक और ज्ञानदर्पण का अतीव मनोरञ्जक वार्तालाप होता है। ज्ञानदर्पण सूचित करता है कि किस प्रकार मोह मानवमानस रूपी नगर को आक्रान्त करना चाहता है। राजा विवेकचन्द्र नगर को छोड़कर चला जाता है। उसी के साथ उसकी पत्नी शान्ति ओर पुत्री कृपासुन्दरी भी चले जाते हैं। वहीं कुमारपाल की कृपासुन्दरी विषयक आसक्ति का ज्ञान होता है। ज्ञानदर्पण सूचित करता है कि कृपासुन्दरी में दया को सुन्दरता के साथ जोड़ दिया गया है। कीर्तिमञ्जरी (कुमारपाल की पत्नी) हेमचन्द्राचार्य के प्रति भक्ति से असन्तुष्ट है। अतएव वह मोहराज से मिलकर अपनी स्थिति में आना चाहती है, जिससे उसको और उसके भाई प्रताप को कुमारपाल पुनः स्वीकार कर ले। ज्ञानदर्पण कहता है कीर्तिमञ्जरी से कि युद्ध में मोहराज की पराजय होगी और कुमारपाल ही विजयी होंगे। एकान्त में घोषणा होती है कि मैं अवश्य ही मोहराज को पराजित करूँगा।

द्वितीय अङ्क में कुमारपाल का मन्त्री पुण्यकेतु सूचित करता है कि विवेकचन्द्र हेमचन्द्राचार्य के तपोवन में आ गया है और कृपासुन्दरी पर राजा की आसक्ति कृपासुन्दरी पर बढ़ गयी है। कुमारपाल, विदूषक से कृपासुन्दरी विषयक अपनी रति-भावना को व्यक्त करता है। उधर कृपासुन्दरी अपनी सखी सौम्यता के साथ वार्तालाप करती है। राजा और विदूषक गुप्त रूप से सुनते हैं। राजा कृपासुन्दरी का आलिङ्गन करता है। राज्यश्री यह देख लेती है। रानी क्रोध से परिपूर्ण होकर राजा के समक्ष आती है। कृपासुन्दरी अपनी सखी के साथ चली जाती है। राजा पत्नी राज्यश्री केचरणों पर गिरकर क्षमा-याचना करता है। वह कहती है कि दूसरी नारी के सङ्ग की गन्ध से युक्त तुम्हारी शरीर को मैं सह नहीं सकती हूँ। राज्यश्री के चले जाने पर विदूषक आता है और राजा उससे रानी के क्रोध को व्यक्त करता है।

तृतीय अङ्क में विदूषक और रौद्रता के वार्तालाप के द्वारा परिज्ञात होता है कि रानी भी इस बात को स्वीकार करती हैं कि राजा का विवाह कृपासुन्दरी के साथ हो जाय। वस्तुतः राज्यश्री मन्त्री पुण्यकेतु के बुद्धिजाल में फँस जाती है और राजा के साथ कृपासुन्दरी के विवाह की अनुमति प्रदान करती है। विवेक चाहता है कि यदि राजा सप्त पापों को अपने देश से निकाल दे तो वह कृपासुन्दरी को सौंप सकता है। राज्यश्री और राजा कुमारपाल भी इसे स्वीकार कर लेते हैं। अङ्कान्त में एक निःसन्तान मृत लक्षपति की सम्पत्ति की समस्या आती है। उसी समय वह अपनी एक नवीन पत्नी के साथ प्रवेश करता है और अङ्क की कथा समाप्त हो जाती है।

चतुर्थ अङ्क में राजा कुमारपाल सप्तदोषों को अपने राज्य से निष्कासित करने में सफलता प्राप्त करता है। नगरलक्ष्मी, देशलक्ष्मी से मिलती हैं। वह देशलक्ष्मी को जैनधर्म स्वीकार करने के लिए प्रेतरत करती है। वह नगरलक्ष्मी के प्रस्ताव को स्वीकार करती है। कृपासुन्दरी मृगयाजन्य कोलाहल से प्रकम्पित होती है। वहाँ से दूर हो जाना चाहती है। वहाँ नियुक्त एक कर्मचारी को देखकर उसे सांत्वना प्राप्त होती है। वह सभी दोषों को देश से निकालता है। यद्यपि इन दोषों के रहने से राज्य को आय भी हो जाती है तथापि राजा कुमारपाल इन समस्त दोषों का निष्कासन करने का परमादेश प्रदान करता है।

पाँचवें अङ्क में गुरु हेमचन्द्राचार्य राजा को अस्त्र-शस्त्र से सुसज्जित करते हैं। योगशास्त्र उसका कवच बनता है। राजा विरागस्तुत के बल पर अदृश्य होकर मोह के सभी स्थानों का निरीक्षण करता है। अन्त में मोह के समक्ष उसके साथ युद्ध करता है और मोहराज को पराजित करता है। वह विवेक को अपनी राजधानी में ले जाता है। कृपासुन्दरी के साथ विवाह करता है और भरतवाक्य -

"निर्वीशधनमुज्झितं विदलितं द्यूतादिलीलायितं,
देवानामपि दुर्लभा प्रियतमा प्राप्ता कृपासुन्दरी।

ध्वस्तो मोहरिपुः कृता जिनमयी पृथ्वी भवत्सङ्गमा-
त्तीर्णः सङ्गरसागरः किमपरं न स्याद्यदाशास्महे।।"[1]

तथापीदमस्तु -

"श्रीश्वेताम्बरहेमचन्द्रवचसां पात्रे मम श्रोतसी,
श्रीसर्वज्ञपदारविन्दयुगले भृङ्गायितं चेतसः।
तत्पुण्या कृपया समं परिचयो योगस्त्वया सर्वदा,
भूयान्मे भुवने यशः शशिसखं मोहान्धकारच्छिदे।।"[2]

नाटककार यशःपाल स्वकीय नाट्य सूक्ष्मेक्षिका से सर्वाङ्गीण जैन साधना-पद्धति का क्रम निरूपित करने में सफलता प्राप्त की है। रङ्गमंच की दृष्टि से यह एक सफल नाटक है। अन्य नाटकों (श्रीकृष्ण मिश्र द्वारा विरचित प्रबोधचन्द्रोदय प्रभृति) की तुलना में प्रतीकात्मकता एवं दार्शनिकता कुछ कम मात्रा में है, अर्थात् कहने का तात्पर्य है कि पूर्ण दर्शन का समाकलन न होने पर भी दर्शन के एक अंश का पूर्ण आकलन अवश्य हुआ है। जहाँ ज्ञान सूर्योदय दिगम्बर जैन सिद्धान्तों को प्रतिपादित करता है, वहीं मोहराजपराजय श्वेताम्बर जैनधार्मिक सिद्धान्तों को निरूपित करने वाला दार्शनिक नाटक है। अपने दार्शनिक एवं धार्मिक सिद्धान्तों के द्वारा मानव जाति का चरित्र-निर्माण करना ही इसका प्रमुख लक्ष्य है और इस लक्ष्य को पूर्ण करने में यह नाटक सफल है। तर्कप्रणाली और धार्मिक प्रवृत्तियों को बहुत ही मनोरञ्जनात्मक एवं अभिनयात्मक विधि-विधान के साथ प्रस्तुत किया है। प्राचीन काल के जैन रूपक (Allegory) का भव्यतम निदर्शन है। विषयवस्तु और अभिनय की दृष्टि से यह कृति मध्ययुगीन ईसाई नाटकों के सदृश प्रतीत होता है। प्रस्तुत नाटक में तत्कालीन समाज और ऐतिह्य तथा राजनीतिक जीवन का पूर्ण जीवन्तता के साथ चित्रण प्रस्तुत किया है, तभी तो पाश्चात्य विद्वान् विण्टरनित्ज ने इसकी भूरि-भूरि प्रशंसा करते हुए कहा है कि -

"This play...is of interest not merely from the litrary point of view but also as throwing light on the history and social condition of Gujarat in the 13th century."

मुद्रितकुमुदचन्द्र - इस नाटक में पाँच अङ्क हैं।[3] नाटककार धर्कटवंश के वणिक् धनदेव के पौत्र तथा पद्मचन्द्र के पुत्र कवि यशश्चन्द्र हैं। सपादलक्ष देश में किसी शाकम्भरी नरेश

---

१. मोहराजपराजयम्, अङ्क ५, श्लोक-७६
२. वही, अङ्क ५, श्लोक-७७
३. यशोविजय जैन ग्रन्थमाला, संख्या-८, काशी

के कृपाश्रयता को प्राप्त किया था। इन्होंने अनेक संस्कृत प्रबन्धों की रचना की थी, ऐसा अधोलिखित श्लोक से परिज्ञात होता है -

"कर्ताऽनेकप्रबन्धानामत्र प्रकरणे कविः।
आनन्दकाव्यमुद्रासु यशश्चन्द्र इति श्रुतः।।"

इनका 'राजीमती प्रबोध' नामक एक अन्य नाटक प्राप्त होता है।[1] शेष रचनाएँ अनुपलब्ध हैं।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु अत्यल्प है। इसमें श्वेताम्बर मतावलम्बी तार्किक देवसूरि और दिगम्बर मतावलम्बी मुनि कुमुदचन्द्र की चौलुक्यनरेश चक्रवर्ती सिद्धराज जयसिंह के सभाभवन में स्त्रीमुक्ति-सिद्धि विषयक शास्त्रार्थ परम्परा में पराजय मात्र का प्रदर्शन है। स्त्रीमुक्ति के पक्ष-विपक्ष में कुछ न कहकर मात्र शाब्दिक अभिनय कराया गया है। इसके पूर्व के अङ्क विवाद-अभिनय की प्रस्तावना है, जिसमें वर्णन है कि दो सम्प्रदायों के लोग परस्पर लाञ्छित करने में कितना आनन्द लेते थे और राजवर्ग भी कितना प्रफुल्लित होता था। इस कार्य में वज्रार्गला योगिनी का आविष्कार आदि दैवी प्रयोग भी किये गये हैं।

वस्तुतः स्त्री-मुक्ति की परिचर्चा, ११-१३वीं शताब्दी के जैन न्यायग्रन्थों में खण्डन-मण्डन के रूप में अत्यधिक प्रसिद्ध है। दिगम्बर प्रभाचन्द्राचार्य ने अपने ग्रन्थाद्वयों - न्याय कुमुदचन्द्र और प्रमेयकमलमार्तण्ड - में स्त्रीमुक्ति का खण्डन किया है और वादिदेवसूर ने स्याद्वादरत्नाकर में मण्डन किया है।

सिद्धराज जयसिंह की ही सभा में श्वेताम्बरों (श्रीदेवसूरि) और दिगम्बरों (श्रीकुमुदचन्द्र) के मध्य लोकविश्रुत ऐतिहासिक वाद-विवाद सभा का आयोजन किया गया था। "प्रबन्धचिन्तामणि" के अनुसार - "जिस समय भट्टारक श्री देवसूरि कर्णावती नगरी में चातुर्मास्य कर रहे थे, उसी समय भिन्न देशों के ८४ वादियों को शास्त्रार्थ में पराजित कर दिमग्बर विद्वान् श्रीकुमुदचन्द्र, कर्णाटकदेश से गुर्जर देश को जीतने की इच्छा से वहीं उपस्थित होता है। प्रतिज्ञा सुनिश्चित थी कि पराजित होने पर श्वेताम्बर दिगम्बर हो जायेंगे और दिगम्बर देश-त्याग करेंगे। परिणामतः, कुमुदचन्द्र का मुख मुद्रित हो जाता है। सिद्धराज जयसिंह (जो निर्णायक की भूमिका में उपस्थित थे) ने उसे पराजित कहकर अपद्वार से बाहर कर दिया। इस पराभव के कारण उसका शिर फट जाता है और उसकी मृत्यु हो जाती है।"[2] डॉ० के०एम० मुंशी के अनुसार, यह शास्त्रार्थ वि०सं० ११८२ (११२५ ई०) में हुआ था।[3]

---

१. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ३३१

२. मेरुतुङ्गाचार्य, प्रबन्धचिन्तामणि, पृष्ठ ६६-६९

३. के०एम० मुंशी, गुर्जरदेश, पृष्ठ ३०२

जहाँ एक ओर ऐतिह्य विवरण के रहस्योद्घाटन में सहायक है, वहीं तत्कालीन धार्मिक, सामाजिक और राजनीतिक परिस्थिति की मनोवैज्ञानिक पृष्ठभूमि को प्रस्तुत करने में भी प्रभावोत्पादन है।

धर्माभ्युदय - यह एकाङ्की नाटक है।[1] इसके रचयिता मेघप्रभाचार्य हैं। इनके जन्मस्थान एवं जन्मकाल के विषय में कुछ भी ज्ञात नहीं है। पाटन के संघभण्डार में इसकी एक प्राचीन ताडपत्रीय प्रति है, जिसका लेखन समय वि०सं० १२७३ है। अतएव, इससे अनुमान लगाया जा सकता है कि यह उसके पहले की रचना अवश्य है। पुनश्च कवि के नाट्य-निर्देश की सुदीर्घता तथा नाटकीय भाषा का स्वरूप १२-१३वीं शताब्दी के रूपकों से बहुत कुछ सादृश्य है। इन प्रमाणों के आधार पर नाटककार को १२वीं शताब्दी में रखा जा सकता है। नाटक की प्रस्तावनानुसार इसका प्रथम अभिनय पार्श्वनाथ-मन्दिर में यात्रोत्सव के अवसर पर किया गया था।

नाटक की कथावस्तु इस प्रकार है-

एक दिन दशार्णभद्र नामक राजा, वारविलासिनियों से समावृत और समस्त परिवार के साथ सिंहासन पर विराजमान था। उद्यानपाल सूचित करता है कि श्री वर्धमान स्वामी दशार्णकूट पर उद्यान में समुपस्थित हैं। नायक (दशार्णभद्र) देवों और मानवों की जयध्वनि भी सुनता है। वह उनकी स्तुति-

"जय जय वीर जिनेश्वर दिनकरकरनिकर मोहतिमिरस्य।
भक्त्या त्वदङ्घ्रिकमलं वन्देऽहमिह स्थितस्तावत्।।"[2]

करता है। राजा अमात्य से पूछता है - क्या सौ धर्मेन्द्र भी दर्शनार्थ आया होगा। अमात्य ने कहा - ऐसी सम्भावना है। इन्द्र दशार्णभद्र राजा को यह कहते -

"प्राज्यं राज्यमिद्र मदीयमभितो निःशेष भूमी भुजां-
मध्ये कोऽस्ति समो मम क्षितितले शक्त्या च भक्त्या प्रभौ।
नो केनाप्यभिवन्दितोऽद्भुततरस्फीत्या न वन्दिष्यते -
यद्वा कोऽपि तथा तथाद्य मयका वन्द्यः स तीर्थाधिपः।।"[3]

---

१. जैन आत्मानन्द सभा, संख्या-६१, भावनगर, वि०सं० १९७५। इसका जर्मन अनुवाद जेड०डी०एम० जी० भाग-७५, पृष्ठ ६९ आदि और Indische Shatten-Theater में पृष्ठ ४८ में हुआ है। जिनरत्नकोष, पृष्ठ १९५, संस्कृत ड्रामा (कीथ), पृष्ठ ५५ एवं २६९, इसकी प्रति चिरञ्जीव पुस्तकालय, आगरा में है।

२. धर्माभ्युदय, अङ्क १, श्लोक-११

३. वही, अङ्क १, श्लोक-१२

सुनता है। राजा के गर्व को खण्डित करने के लिए इन्द्र ने गजराज ऐरावत को ऐश्वर्यशाली रूप बनाया। राजा का मानमर्दन हो जाता है। वह तत्काल दीक्षा ग्रहण करता है। रङ्गमञ्च पर यति वेषधारी पुत्रक की अवतारणा कर दी जाती है।[1]

तत्पश्चात्, मदन, रति और प्रीति नामक सहचारियों के साथ उपस्थित होता है। वह गर्वगर्वित होकर शरसन्धान कर ही रहा था कि राजा की ध्यानाग्नि से तप्त होकर वह मूर्च्छित हो जाता है। इन्द्र अमृतधारा से उसे स्वस्थ करता है। जिनेन्द्र-वन्दन के पश्चात्, इन्द्र उनके धर्माभ्युदय की प्रशंसा करता है। इन्द्र दशार्णभद्र को नमस्कार करता है। वह कैसे उत्तर देती? क्योंकि दशार्ण की मूर्ति ही रङ्गमञ्च पर थी। इन्द्र की आज्ञानुसार राजपुत्र का राज्याभिषेक सम्पन्न होता है। इसके साथ ही नाटक सानन्द समाप्त हो जाता है।

प्रस्तुत नाटक श्रीगदितकोटि का उच्चकोटिक उपरूपक है। इसमें लगभग २५ बार "श्री" शब्द का प्रयोग हुआ है।

सरस, सरल एवं सुबोध भाषा, सुगठित, सुललित गीतात्मक शैली, रसाभिनिवेश, सदुपदेशात्मक तथा भावगाम्भीर्य संवाद-योजना और नाट्योपकरण परिशीलन प्रति पद में प्रवर्तमान है। प्रथम दृश्य में-नृपति एवं मन्त्री के मध्य संवाद, द्वितीय दृश्य में - इन्द्र, शची और बृहस्पति, तृतीय दृश्य में नन्दन एवं चन्दन, चतुर्थ दृश्य में - राजा और मन्त्री, पञ्चम दृश्य में - रति, प्रीति, पुरन्दर और कुतूहल आदि पात्र हैं।

१८. शामामृत - नेमिनाथ के जीवन पर समाश्रित, धर्माभ्युदय के पश्चात् यह एक दूसरा एकाङ्की छाया नाटक है।[2] इसके नाटककार का भी नाम नेमिनाथ है।[3] नेमिनाथ के यात्रामहोत्सव के अवसर पर इसका प्रथम अभिनय हुआ था। इसमें नेमिनाथ के वैराग्यकथा का वर्णन है। कथावस्तु इस प्रकार है-

नेमिनाथ का विवाह, उग्रसेन की कन्या राजीमती के साथ सुनिश्चित है। नायक और नायिका आनन्दोल्लासपूर्वक काल्पनिक स्वप्निल भावी भव्य भवन का विनिर्माण कर रहे हैं। सहसा कथा-प्रवाह की गति परिवर्तित हो जाती है। नायक नेमिनाथ देखता है कि भोजनार्थ वध्यमान निबद्ध पशु करुण-क्रन्दन कर रहे हैं, मैं अतीव निरपराध हूँ। प्रभो! मेरी

---

१. "यवन्तिकाराद् यतिवेषधारी पुत्रकस्तत्र स्थापनीयः, पृष्ठ १५।" राजा के स्थान पर उसकी छाया। उसी छाया-प्रयोग के कारण नाटककार ने इसे 'छायानाट्यप्रबन्ध' कहा है। एतदर्थ द्रष्टव्य - छायानाटक की विवृति सागरिका, १०.४ में प्रो० रामजी उपाध्याय ने संस्कृतभाषा में प्रस्तुत किया है।

२. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ३७८, जैन आत्मानन्द सभा, भावनगर, वि०सं० १९७९ में प्रकाशित। इसका अपरनाम "शमामृत" भी है।

३. इसकी प्रस्तावना में कहा गया है - "भगवतः श्रीनेमिनाथस्य यात्रामहोत्सवे विद्वद्भिः सभासद्भिरावि्टोऽस्मि यथा - श्रीनेमिनाथस्य शमामृतं नाम छायानाटकमभिनयस्वेति," पृष्ठ १।

रक्षा करो।' नेमिनाथ रथ से उतर कर तपस्या के लिये चला जाता है। वह जिन-दीक्षा ग्रहण करता है। वस्तुतः, समस्त शृङ्गारात्मक वातावरण सहसा कारुणिक परिदृश्य में परिवर्तित हो जाता है। एतत्प्रकारक नाटकों में पुत्तलि का प्रयोग तथ्य का सङ्केत कर रहा है कि संस्कृत-नाटक के विकास में छायानाटकों (Shadow plays) का भी महत्त्वपूर्ण योगदान है।[२]

– इस नाटक में पाँच अङ्क हैं।[३] इसका प्रथम अभिनय महामन्त्री वस्तुपाल के पुत्र जयन्तसिंह (जैत्र सिंह) के अनुरोध पर खम्भात में भीमेश्वर के यात्रोत्सव में हुआ था।[४] इस नाटक का घटनास्थल खम्भात के आस-पास का है। इसके रचयिता वीरसिंह सूरि के शिष्य तथा भड़ौच में मुनि सुव्रतनाथ चैत्य के अधिष्ठाता जयसिंह सूरि हैं। जैन काव्यजगत् में द्वितीय जयसिंह सूरि हुए हैं, जो कृष्णर्षिगच्छ के आचार्य तथा महेन्द्र सूरि के शिष्य थे। उन्होंने सं० १३०८ में "कुमारपाल चरित" नामक काव्य की रचना की थी।[५] इसकी रचना वि० सं० १२७६ (जयन्त सिंह के राज्यपालत्व की प्रारम्भिक तिथि) और विक्रम सं० १२८६ (जैसलमेर के भण्डार में प्राप्त ताडपत्रीय प्रति की लेखन-तिथि) के मध्य की अवधि में हुई होगी।[६] ७७ श्लोकात्मक "वस्तुपाल-तेजःपाल-प्रशस्ति" इनकी दूसरी कृति है। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है –

---

१. शमामृत, अङ्क १, श्लोक-१२-
"निर्झरणनीरपानमरण्य तृणभक्षणं च वनवासः। अस्माकं निपराधानां जीवितं रक्ष रक्ष प्रभो।।"

२. महामात्य वस्तुपाल का साहित्यमण्डल (साण्डेसरा), पृष्ठ १६६।

३. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ४५६, गायकवाड प्राच्य ग्रन्थमाला, संख्या १०, बड़ौदा, इसकी प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के पुस्तकालय में प्राप्तव्य है।

४. हम्मीरमदमर्दनम्, प्रस्तावना, पृष्ठ १, "श्रीभीमेश्वरस्य यात्रायां श्रीमता जयन्तसिंहेन समादिष्टोस्मि कमपि प्रबन्धमभिनेतुमिति....।"

५. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृष्ठ ४१५-४१६।

६. प्रो० यदुनाथ दूबे, प्रबन्धचिन्तामणि का समालोचनात्मक अध्ययन, पृष्ठ २३८-२३६, एवं राजशेखर सूरि, प्रबन्धकोष, पृष्ठ ११७-११६: "एकदा दिल्लीनगरादेत्य चरपुरुषैः श्रीवस्तुपालो विज्ञप्तः - देव! दिल्लीतः श्रीभोजदीनसुरत्राणस्य सैन्यं पश्चिमां दिशमुद्दिश्य चालितम्....।" जहाँ तक मोजदीन सुलतान (मीलच्छीकार) का प्रश्न है, वह सत्य प्रतीत होता है। इस विषय में इतिहासकार मतैक्य नहीं हैं (बाम्बे गजेटियर, खण्ड-१, पृष्ठ २०१ में मोजदीन मुहम्मद गोरी उल्लिखित है। डॉ० रा०छो० पारीख (जै०सा० सं० भाग-३, पृष्ठ १५३) के मतानुसार वह शहाबुद्दीन गोरी है, डी०के० शास्त्री (गुजरात का मध्यकालीन इतिहास, भाग २, पृष्ठ ३८०) ने अल्तमश बताया है, गौरीशङ्कर हीराचन्द्र ओझा (राजपुताने का इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४६७) ने भी अल्तमश निर्देश किया है) डॉ० बी० जे० साण्डेसरा का भी अभिमत है कि यह दिल्ली का सुल्तान अल्तमश ही रहा होगा, जिसकी स्थितिकाल १२१०-१२३५ ई० है (गुजराती, दीपावली अङ्क, पृष्ठ १८, १६३४)। वस्तुतः यह घटना लगभग वि०सं० १२७६ (१२२० ई०) और वि०सं० १२८६ (१२३० ई०) के मध्य घटित हुई होगी, क्योंकि इस युद्ध का विवरण प्रस्तुत नाटक 'हम्मीरमदमर्दन' में प्राप्त है और उसका रचनाकाल वि०सं० १२८६ (१२३० ई०) है। ऐसा मान लेने से अल्तमश के समय (१२१०-१२३५ ई०) से भी विरोध नहीं होता है।

गुजरात के बघेलवंशीय धवलक्कपुरनरेश वीरधवल और मन्त्री तेजःपाल के मध्य राजनीतिक परिचर्या हो रही थी कि सङ्ग्राम सिंह[1] के द्वारा प्रोत्साहित होकर सिंहण[2] आक्रमण के लिए उद्यत है। मालवानरेश भी प्रस्थान कर चुका है। वीरबल का प्रधानामात्य वस्तुपाल वहाँ उपस्थित होकर सूचित करता है कि तेजःपाल के पुत्र लावण्य सिंह ने कुछ चरों को नियुक्त किया है, जिनके हाथ में अनेक राजा कठपुतली की भाँति वशीभूत हैं। राजा वीरधवल हम्मीर पर आक्रमण करना चाहता है। वस्तुपाल का सुझाव है कि आप सर्वप्रथम मरुभूमि के राजाओं को अपना पक्षधर बनायें, जिससे शत्रु निर्बल हो जाय। वस्तुपाल चरों की नियुक्ति में निरत है।

हम्मीर की सेना मरुमण्डल पर मँडरा रही है। वस्तुपाल शीघ्रतापूर्वक अपनी सेना भेजकर मरुनरेशों में आशा और आशङ्का का सञ्चार करता है। इस प्रकार, चार राजाओं का समूह सोमसिंह, उदयसिंह, धारावर्ष और वीरधवल हम्मीर के विरुद्ध हो जाता है। वस्तुपाल के सत्प्रयास से सुराष्ट्र का राजा भीमसिंह, महीतट का राजा विक्रमादित्य और लाट देश का राजा सहजपाल भी वीरधवल के पक्षधर हो जाते हैं। सामन्त राजाओं ने भी वीरधवल से मैत्रीभाव स्थापित कर लिया है।

सङ्ग्राम सिंह और सिंहण अब भी वीरधवल का विरोध कर रहे हैं। निपुणक सिंहणदेव के स्कन्धावार में और उसका अनुज मालवनरेश देवपाल का अश्वरक्षक नियुक्त हो जाते हैं। सुवेग मालवराज का सर्वोत्तम अश्व चुराकर सिंहण के सेनापति सङ्ग्राम सिंह को देता है। उधर निपुणक सिंघण को सूचित करता है कि वीरधवल, हम्मीर पर आक्रमण करने वाला है। वह सुझाव देता है कि वीरधवल, हम्मीर पर आक्रमण करने वाला है। वह सुझाव देता है कि वीरधवल हम्मीर से युद्ध करके परिश्रान्त होगा, उस समय आपका

---

१. वही, पृष्ठ २३६-२३७। संग्राम सिंह (शङ्ख) भृगुपुर (भड़ौच) का महासाधनिक था। वह लाट प्रदेश के शासक चाहमान सिन्धुराज का पुत्र था, जिसने अपने पिता की शत्रुता के कारण वस्तुपाल पर आक्रमण किया था (इस ऐतिह्य युद्ध का वर्णन वसन्तविलास महाकाव्य (सर्ग ५, श्लोक ४७-१११), कीर्तिकौमुदी काव्य (सर्ग ४, श्लोक ७३-८८), सुकृत संकीर्तन (सर्ग ३, श्लोक ३), सुकृतकीर्ति कल्लोलिनी (पृष्ठ १२, श्लोक १३६), प्रबन्धकोश (पृष्ठ १०८-१०६, वस्तुपाल प्रबन्ध) एवं पुरातन प्रबन्धसंग्रह (पृष्ठ ५६-५७, वस्तुपाल तेजःपाल प्रबन्ध, यहाँ 'सईद' नाम है) में सविस्तर उल्लेख है।)

२. (i) वही, पृष्ठ २३१-२३६, सिंहण देवगिरि का यादवराज (११६६ १२४७ ई॰) था। वीरधवल और सिंहण के राज्य परस्पर पड़ोसी थे। वहाँ के राजा गुजरात पर प्रायः आक्रमण करते रहे हैं।

(ii) नाटककार ने 'पञ्चक ग्राम-युद्ध' का हम्मीरमदमर्दन (अङ्क १, पृष्ठ ७ एवं अङ्क २, पृष्ठ ११) में वर्णन किया है। यह युद्ध कब हुआ था? निश्चितता के साथ कहना असम्भव प्रतीत होता है। सम्भवतः, महामन्त्री वस्तुपाल की नियुक्ति तिथि वि॰सं॰ १२७६ के पश्चात् और वस्तुपाल के शत्रुञ्जय यात्रा तिथि वि॰सं॰ १२७७ के पूर्व हुई होगी।

आक्रमण करना श्रेयष्कर होगा। इस समय आप ताप्ती के वन में उस स्थान पर सेना का शिविर बनायें, जहाँ से मालवा और गुजरात के लिए मार्ग पृथक् होते हैं। निपुणक और सुवेग अपने-अपने कार्य में सफल हो जाते हैं।

सङ्ग्राम सिंह वहाँ से खम्भात की ओर बढ़ता है। उसका मन्त्री भुवनक वस्तुपाल को सूचित करता है कि संग्राम सिंह आपके सहायतार्थ इधर ही आ रहा है। हम्मीर मेवाड़ पर आक्रमण करता है। वहाँ का राजा जयतल था। आक्रमण को सुनते ही वह भाग जाता है। हम्मीर की सेना सम्पूर्ण मेवाड़ में लूटपाट करती है। कुछ लोग तो स्वयं जलकर मर गये अथवा कूप में कूद कर आत्महत्या कर लेते हैं। अल्पवयस्क बच्चों को भी मार कर मार्गों पर फेंक दिया। उस समय कमलक नामक वीरधवी के चर ने यह कह कर उस प्रदेश की रक्षा करता है कि वीरधवल सेना लेकर आ ही रहा है। हम्मीर की सेना में भगदड़ मच जाती है।

तेजःपाल शीघ्रक नामक चर को बगदाद के खलीफा के पास भेजता है। वह समस्त यवनराजाओं का स्वामी और बगदाद का प्रभावशाली राजा था। वहाँ अपने को वह खर्परखान नामक भारतीय शासक का दूत बताता है और कहा कि मीलच्छीकार आपके शासन को नहीं मानता है। खलीफा एक आदेश पत्र देता है कि खर्परखान मीलच्छीकार को बेड़ी लगाकर मेरे पास भेजे। अब वह खलीफा का दूत बनकर उस पत्र को खर्परखान मीलच्छीकार को देता है। खर्परखान अविलम्ब मीलच्छीकार पर आक्रमण करता है। उधर वह (शीघ्रक) मीलच्छीकार के पुत्र को सूचित करता है कि खर्परखान आक्रमण कर रहा है। पुत्र ने शीघ्रक को ही मीलच्छीकार के पास युद्ध-सन्देश देने के लिए भेजता है। कुवलयक नामक दूत गुर्जर मण्डलेश्वरों को समझाता है कि वे लोग हम्मीर के साथ युद्ध होने पर उसकी ओर से न अग्रसरित हों। इस प्रकार, कुरपाल, प्रतापसिंह आदि गुर्जर मण्डलेश्वर हम्मीर से पृथक् हो जाते हैं। इधर खर्परखान के युद्ध-प्रयाण करते ही मीलच्छीकार की सेना निरुत्साहित हो जाती है। उसके (खर्परखान के) आक्रमण के पूर्व ही वीरधवल भी लच्छीकार की सेना पर आक्रमण करता है। वह भाग जाता है। पुनश्च गुर्जरदेश की ओर आँख नहीं उठाता है। खलीफा का प्रसाद पत्र लेकर लौट रहे रदी और कादी को वस्तुपाल बन्दी बना लेता है। पराजित होकर मीलच्छीकार को आजन्म सन्धि करके उन दोनों (रदी और कादी) को मुक्त कराता है। अन्ततः, भरत वाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।[1]

---

१. हम्मीरमदमर्दनम्, अङ्क ५, श्लोक-६० -

"वृष्टिं प्रत्यब्दमब्दा विदधतु वसुधाऽनेकशस्यप्रशस्या, भूयाद्भूयांसि भूपा जगति जयजुषो योजयन्तां यशांसि।
वाणीवीणारवोद्यन्मधुमधुरगुणाः कोविदाः काव्यभङ्गी,मङ्गी कुर्वन्तु सर्वे सुकृतमविरतं साध्वः साधयन्तु।।"

ऐतिह्य संस्कृत नाटकों में हम्मीरमदमर्दन का स्थान शीर्षस्थ है। ऐतिह्य घटित घटना-वर्णनों के साथ-साथ तत्कालीन राजनीतिक एवं कूटनीतिक क्रियाकलापों का भी महत्त्वपूर्ण स्त्रोतस्थल है। विशाखदत्त के मुद्राराक्षस के सदृश असत्य परिसंवाद, कपटपूर्ण परिधान धारण, गुप्तचरों का सफल राजनीतिक षड्यन्त्र, अपने कूटनीतिक बुद्धिबलचातुर्य के आधार पर परिस्थितिजन्य वातावरण को स्वाभीष्ट प्रयोजनसिद्धि, मन्त्री और मन्त्रणा का प्रबल प्रयोग, राजाओं का संघ बनाना, शत्रु राजा के पक्षधर राजाओं को असत्य समाचार देकर अलगाववादी नीति का उल्लेख बहुशः किया गया है।

युद्धभूमि से लौटते हुए वीरधवल अपनी सेना के साथ, आबू पर्वत, वशिष्ठाश्रम, परमारों की राजधानी चन्द्रावती, सरस्वती नदी के तटस्थ भद्रमहाकाल का भव्य मन्दिर, गुर्जर राजधानी अणहिलवाड, साबरमती के तटस्थ कर्णावती आदि के भौगोलिक, सांस्कृतिक एवं ऐतिह्य दृष्टिकोण से अतीव संवेदनशील, रमणीय तथा मनोहर चित्ताकर्षक दृश्यावलियों का अवलोकन करते हुए अपनी राजधानी धवलक्कपुर पहुँचता है।

नाटक पुरुषपात्र बाहुल्य है, मात्र एक स्त्रीपात्र (वीरधवल की रानी) महारानी जयतल देवी है। पुरुष पात्र स्वयमेव महाकवि सदृश प्रतीत होते हैं। महामन्त्री वस्तुपाल १६ श्लोकों में चन्द्रोदय और तेजःपाल का पुत्र लावण्य सिंह ६ पद्यों में सन्ध्यादि का परमाह्लादक वर्णन करते हैं।

नाटक में नवरसों का सुन्दर सुष्ठ समावेश, वस्तुत्त्वों का सम्यगुन्मीलन, शब्दार्थ-सौष्ठव, अलङ्कार-सौन्दर्य तथा दृश्यानुकूल छन्द-विधानों का पूर्णरूपेण प्रयोग अवलोकनीय है। नाटककार स्वयमेव राष्ट्रभक्त है। वह राष्ट्र के युवाहृदयों में राष्ट्र-प्रेम का रस का सञ्चरण करता हुआ कहता है -

"त्रस्तेषू तेषु सुभटेषु विभौ च भग्ने,
मग्नासु कीर्तिषु निरीक्ष्य जनं भयार्तम्।
यो मित्रबान्धववधूजनवारितोऽपि,
वल्गत्यरीन् प्रति रसेन स एव वीरः।।"[1]

२०. करुणावज्रायुध - प्रस्तुत रचना भी एकाङ्की नाटक है।[2] इसका प्रथम अभिनय, ऋषभदेवोत्सव के समय महामात्य वस्तुपाल के अनुरोध से शत्रुञ्जय तीर्थ में हुआ था। इसके नाटककार वसन्तविलासकार महाकवि बालचन्द्र सूरि हैं। इनके लिए बालचन्द्र[3], बालेन्दु[4],

---

१. वही, अङ्क ३, श्लोक-१५

२. जिनरत्नकोष, पृष्ठ ६८, जैन आत्मानन्द सभा, संख्या ५६, भावनगर, वि०सं० १९७३, इसका गुजराती अनुवाद, अहमदाबाद से वि०सं० १९७३ में प्रकाशित।

३. वसन्तविलास, सर्ग-१, श्लोक-५४

४. वही, पृष्ठ ७९, श्लोक-२

सिद्ध सारस्वताचार्य चन्द्र[1], प्रभृति शब्दों का प्रयोग प्राप्त है। ये सभी शब्द एक ही नाम के पर्याय हैं और बालचन्द्र सूरि के लिए ही व्यवहृत किये गये हैं। जैन-साहित्य में बालचन्द्र सूरि से मिलते-जुलते कई अन्य नाम भी प्राप्त होते हैं - बालचन्द्र पण्डितदेव, बालचन्द्रगणि, आदि। डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री[2], डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी[3], डॉ० श्यामशङ्कर दीक्षित[4] प्रभृति विद्वान् वसन्तविलासकार और नाटककार बालचन्द्र सूरि को एक ही मानते हैं।

वसन्तविलास महाकाव्य के प्रस्तावन सर्ग से नाटककार के जन्मस्थान, माता-पिता, बाल्यकालीन नाम, दीक्षा-गुरु, सारस्वत मन्त्रदाता आदि का परिचय मिल जाता है। डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी के अनुसार कवि मोढेरक ग्रामवासी धरादेव ब्राह्मण और उसकी पत्नी विद्युत् के मुञ्जाल नाम का पुत्र था। बाल्यावस्था से ही विरक्त होकर मुञ्जाल ने जैनदीक्षा ग्रहण कर ली। उसके गुरु चन्द्रगच्छीय हरिभद्र सूरि ने दीक्षा का नाम "बालचन्द्र" रखा था। उसने अपने समय के प्रसिद्ध विद्वान् पद्मादित्य से शिक्षा तथा वादिदेवगच्छ के उदप्रभ सूरि से सारस्वत मन्त्र प्राप्त किया था, जिसके फलस्वरूप वह काव्य रचना कर सका।[5] डॉ० रामजी उपाध्याय ने इनके बचपन का नाम "मञ्जु" बताया है।[6] प्रबन्धचिन्तामणि में भी "मुञ्जाल" होने का सङ्केत है।[7] अतएव, बालचन्द्र सूरि के बचपन का नाम 'मुञ्जाल' मानना अत्यधिक उपयुक्त एवं तर्कसङ्गत है। सम्भवतः, आचार्यपद-प्राप्ति के पूर्व ही बालचन्द्र सूरि काव्यकला में प्रवीण हो चुके थे।[8] तत्पश्चात् उन्होंने अपना अधिकांश समय भ्रमण, तपयचर्या तथा साहित्य-सृजन में ही व्यतीत किया होगा। वह जैन संस्कृत-साहित्याकाश में "बालचन्द्र" के समान ही हैं, जिन्होंने स्वकीय अभिवन कलाओं की वृत्ति, नाटक तथा महाकाव्य के माध्यम से जनमानस में जैनधर्म-ज्योत्स्ना का सञ्जार किया।

प्रबन्धचिन्तामणि से ज्ञात है कि बालचन्द्र सूरि वस्तुपाल के समसामयिक कवि थे।[9] वस्तुपाल के जीवन-काल में ही काव्य-रचना में कुशलता प्राप्त कर ली थी।[10] सी०डी०

---

१. वही, "इति सिद्धसारस्वताचार्य श्रीबालचन्द्र विरचिते", सर्गान्त में दी हुई पुष्पिकाओं में।

२. संस्कृतकाव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृष्ठ ६५१।

३. जैन साहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृष्ठ ४०८।

४. १३-१४वीं शताब्दी के जैन महाकाव्य, पृष्ठ १४८।

५. जैनसाहित्य का वृहद् इतिहास, भाग ६, पृष्ठ ४०८।

६. संस्कृत साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, भाग १, पृष्ठ ४४६।

७. प्रबन्धचिन्तामणि - मेरुतुङ्गाचार्य, पृष्ठ ९९, "मुञ्जालनामा महोपासकतदङ्गलेखकोऽवसरे रहसि प्रपच्छ।"

८. वही, पृष्ठ १०३, "इत्युक्ते तस्याचार्यपदस्थापनायां द्रम्म सहस्त्रचतुष्टयं व्ययीकृतम्।"

९. प्रबन्धचिन्तामणि (मेरुतुङ्गाचार्य), पृष्ठ ९९।

१०. वही, पृष्ठ १०३.

दलाल[1], डॉ० नेमिचन्द्रशास्त्र[2], डॉ० श्यामशङ्कर दीक्षित[3] आदि विद्वानों के अनुसार वि.सं० १२८६ से वि० सं० १३३४ के मध्य माना है।

बालचन्द्र सूरि किसी एक काव्य-विधा से बँधे नहीं रहे, अपितु उन्होंने सभी काव्य-रूपों को अपनी सारस्वत-साधना से पल्लवित किया है।[4] इसके कर्तृत्व के निम्राङ्कित चारुफल साहित्य-जगत् की सम्प्राप्त हैं-

(i) वसन्तविलास महाकाव्य

(ii) करुणावज्रायुध नाटक

(iii) विवेकमञ्जरी-वृत्ति

(iv) उपदेशकन्दली-वृत्ति

डॉ० रामजी उपाध्याय के अनुसार, वस्तुपाल की इच्छा से बालचन्द्र सूरि ने १४ तरङ्गों में "कथारत्नाकर" की रचना की थी।[5] परन्तु प्रबल प्रमाणाभाव के कारण इसे बालचन्द्र सूरि की रचना मानने में सन्देह होता है। इस नाटक का नायक वज्रायुध चक्रवर्ती पूर्वभव में तीर्थङ्कर शान्तिनाथ का जीव था। जैनेतर साहित्य में यह कथा रूपान्तर स्वरूप में सुलभ है। महाभारत के वनपर्व में शिवि और कपोत की कथा तथा बौद्ध जातक संख्या ४९९ की कथा इसी प्रकार की है। जैन कथाओं में सर्वप्रथम सङ्घदासगणि (लगभग ५०० ई०) की "वसुदेव हिण्डी" के २१वें लम्भक में और इसके बाद अनेक जैन पुराणों में मिलती है।

इस नाटक का कथानक क्षेमङ्कर जिनाधिप के पुत्र राजा वज्रायुध से सम्बन्धित है। वह चतुर्दशी के पौषध व्रत को पूरा करके पोषधशाला में पुरुषोत्तम नामक मन्त्री के साथ धर्म-गोष्ठी कर रहा था। वह मन्त्री से कहता है कि हिंसात्मक यज्ञ से स्वर्गप्राप्ति सम्भव नहीं है। जैन धर्म एकमात्र धर्म है, जिसमें स्वर्ग, अपवर्ग और समृद्धि प्राप्य है।[6] धर्म का प्रधान अङ्क तप है।[7]

---

१. वसन्तविलास, भूमिका, पृष्ठ २.

२. संस्कृतकाव्य के विकास में जैन कवियों का योगदान, पृष्ठ ३३०.

३. १३वीं-१४वीं शताब्दी के जैन महाकाव्य, पृष्ठ १४८.

४. डॉ० कस्तमरचन्द्र कासलीवाल, अनेकान्त पत्रिका, पृष्ठ ५ (अक्टूबर-दिसम्बर, १९८८)

५. संस्कृत-साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, प्रथम भाग, पृष्ठ ३७४.

६. करुणावज्रायुध, श्लोक-४० -
"एकं जैनं विना धर्ममन्ये धर्माः कुधीमताम्। संवृता एव शोभन्ते पटच्चरपटा इव।।"

७. वही, श्लोक ५४-
"प्रत्यक्षमनवेक्ष्यापि किञ्चित् तत्फलमुज्जवलम्। हित्वा विषयजं शर्म तपः कर्म करोति कः।।"

इसी समय नेपथ्य से 'बचाओ-बचाओ' की आवाज सुनाई पड़ती है। इसी बीच एक कपोत, श्येन से अनुगत होता हुआ राजा की गोद शरण प्राप्त करता है। श्येन ने कहा – यह मेरा भोजन है। इस पर मेरा पूर्णाधिकार है। वज्रायुध उसके प्रस्ताव को अस्वीकार करता है। श्येन पुनः कहता है – आप इसकी रक्षा कर रहे हैं और मुझे मार रहे हैं।[1] राजा श्येन के लिए लड्डू मँगाता है। श्येन के यह कहने पर कि वह केवल मांस ही खाता है, राजा ने उत्तर दिया –

तुभ्यं श्येनददे परावतेन तुलितं पलम्।
निजमेवाधुना तेन सुहिती भव मा वृथा।।"[2]

इस पर श्येन तुरन्त स्वीकार करता है। राजा ने शरीर की तुच्छ और परोपकार के योग्य बतलाया।[3] राजा ने देखा कि मांस से कपोत के बराबर भार नहीं हो रहा है, वह स्वयं पलड़े पर बैठ जाता है। आकाश से जय-जय की ध्वनि होती है। वे पक्षी तिरोहित हो गये और देवरूप में प्रकट हुए। राजा की शरीर स्वस्थ हो जाती है। देवों ने राजा की भूरि-भूरि प्रशंसा की।

प्रस्तुत नाटक, मोहराज पराजय, प्रबुद्धरौहिणेय और धर्मायुध की भाँति जैनधर्म के प्रचार के लिए लोकप्रिय कथानक को लेकर लिखा गया, ऐसा प्रतीत होता है। इसका अधिकांश भाग धार्मिक बाद-विवाद के रूप में है। कभी-कभी विदूषक की हास्योक्तियों से रङ्गमञ्च पर जीवन्तता प्रकट हो जाती है। विदूषक परलोक के विषय में सन्देहास्पद है, राजा उदाहरण द्वारा उसका समाधान करता है –

"करस्थमप्येवममी कृषीवलाः क्षिपन्ति वीजं पृथुपङ्कसङ्कटे।
व्ययस्य केनापि कथं विलोकितः समस्ति नास्तीत्यथवा फलोदयः।।"[4]

विदूषक की अभिनव योजनाएँ, रङ्ग निर्देश, पात्र-वैचित्र्य, नाट्योचित रसाभिनिवेश और अतिशय उदात्त, मनोरञ्जक, कलात्मक, वैज्ञानिक संविधान तथा वैदर्भीमण्डित शैली उपरूपक की गुणवत्ताश्री की वृद्धि ही कर रहे हैं नाटकारम्भ में गुरु-प्रशंसा में प्रयुक्त श्लोक अतीव स्पृहणीय है।[5]

---

१. वही, श्लोक ७६ –
"किमयं सोदरस्तेऽहं सापत्नेयः कथं नृप। यदेनं त्रायसे मां तु म्रियमाणमुपेक्षते।।"

२. वही, श्लोक-८६

३. वही, श्लोक ६८: "यावावरेण किमनेन शरीरकेण, स्वेच्छान्नपानपरिपोषणपीवरेण।
सर्वाशुचिप्रणयिना कृतनाशनेन, कार्यं परोपकृतये न हि कल्प्यते यत्।।"

४. वही, श्लोक-५०.

५. वही, श्लोक १२- "यत्कीर्तिगौर्येण मिथ्योप्यलक्ष्यौ गौरीगिरीशौ दिवि गौरकान्ती।
करप्रपञ्चैर्मिलितौ वियोगभीत्यार्द्धनारीश्वरतां प्रपन्नौ।।"

हस्तिमल्ल और उनका नाट्यवाङ्मय

दक्षिण भारत के कुछ जैन कवियों ने भी संस्कृत में दृश्यकाव्य का भी प्रणयन किया है। संस्कृत-वाङ्मय की नैरन्तर्य श्रीवृद्धि-परम्परा में उनका भी सदैव महत्त्वपूर्ण योगदान रहा है, जिनमें दाक्षिणात्य जैनकवियों में एक सफल, अमर एवं सशक्त हस्ताक्षर के रूप में विशिष्ट सर्वोच्च स्थान है। एक ओर जहाँ श्वेताम्बर सम्प्रदाय के नाटककारों में रामचन्द्र सूरि का सर्वोपरि नामोल्लेख है, वहीं दूसरी ओर जैन दिगम्बर सम्प्रदाय में जैनरूपककारों में हस्तिमल्ल, भारतीय नाट्यवाङ्मयाकाशाङ्गण में सतत जाज्ज्वल्यमान नक्षत्र सदृश विराजमान हैं

हस्तिमल्ल वत्सगोत्रीय दाक्षिणात्य ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम गोविन्द भट्ट था।[1] उन्होंने स्वामी समन्तभद्र के प्रभाव से समाकृष्ट होकर जैनधर्म-ग्रहण किया था।[2] इन्हें स्वर्णयक्षी नामक देवी की कृपा से - श्रीकुमारकवि, सत्यवाक्य, देवरल्लभ, उदयभूषण, हस्तिमल्ल और श्रीवर्धमान - छः पुत्र प्राप्त हुए।[3] ये सभी पुत्र कवीश्वर थे।[4] समन्तभद्र, शिवकोटि, शिवायन, वीरसेन, जिनसेन और गुणभद्र आदि उनकी शिष्य-परम्परा में थे।[5]

म्हाकवि हस्तिमल्ल स्वयं एक गृहस्थ थे[6]। इनके पुत्र, पौत्रादि का वर्णन ब्रह्मसूरि ने प्रतिष्ठासारोद्धार में किया है। तदनुसार वंश-वृक्ष इस प्रकार है[7] -

---

१. विक्रन्तकौरवम् की भूमिका से - "श्रीवत्सगोत्रजनभूषणगोपभट्ट.....।"

२. वही, भूमिका -

"गोविन्दभट्ट इत्यासीद्विद्वान्मिथ्यात्ववर्जितः देवागमनसूत्रस्य श्रुत्वा सद्दर्शवान्वितः।
"अपेकान्तमं तत्त्वं बहुमेने विदांवरः नन्दनस्वस्य सञ्जाता वर्धिताखिल कोविदाः।।"

३. वही, भूमिका -

"दाक्षिणात्या जयन्त्यत्र स्वर्णयक्षीप्रसादतः श्रीकुमारकविः सत्यवाक्यो देवरवल्लभः।
उदयभूषणनामा च हस्तिमल्लाभिधानकः सर्धमानकविश्चेति बभूवन्कवीश्वराः।।"

४. वही, भूमिका भाग से -

"बभूव-कवीश्वराः" जिससे स्पष्ट होता है कि गोविन्दभट्ट का समस्त परिवार अत्यधिक गुणी और सुशिक्षित था।

५. वही, भूमिका भाग।

६. अञ्जनापवनञ्जय की भूमिका से -

"परवादिहस्तिनां सिंहो हस्तिमल्लस्तदुद्भवः।
गृहाश्रयी बभूवार्हच्छासनादि प्रभावकः।।"

७. प्रतिष्ठासारोद्धार (आरा) की हस्तलिखित प्रति, पृष्ठ ११२।

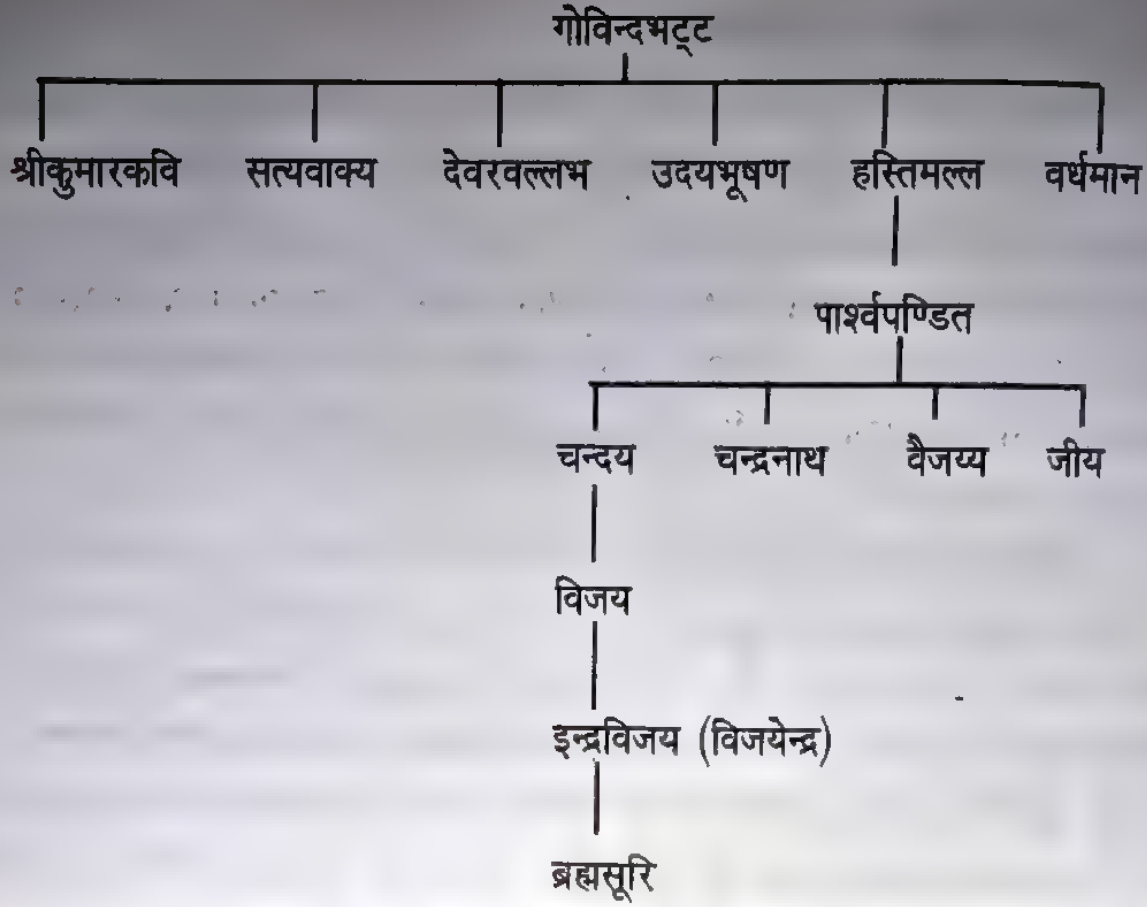

(यह गुरु-शिष्य परम्परा न होकर, पिता-पुत्र की परम्परा है। इसे गोत्र-परम्परा भी कह सकते हैं।)

प्रस्तुत "हस्तिमल्ल" वास्तविक न होकर विशेष अथवा उपाधि सदृश प्रतीत होता है।[1] हस्तियुद्ध की परिपुष्टि "जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय" से भी होती है।[2] पं० नाथूराम प्रेमी भी सरण्यापुर नामक स्थान में घटित घटना को सत्य माना है। वहाँ की सभा में उन्हें असंख्य प्रशंसा-वाक्यों के द्वारा सम्मानित किया गया था।[3] सभी विद्वान् एकमत हैं कि कवि का वास्तविक नाम भी "हस्तिमल्ल" ही है।

उनको 'सरस्वतीस्वयंवरवल्लभ', 'महाकवि तल्लज', और 'सूक्ति रत्नाकर' प्रभूति उपाधि प्राप्त थी।[4] उनके अग्रज सत्यवाक्य ने "कवितासाम्राज्यलक्ष्मीपति"[5] और राजावली-कथाकार ने उन्हें "उभयभाषाकविचक्रवर्ती" लिखा है। यहाँ उभयभाषा से तात्पर्य

---

१. नाटककार हस्तिमल्ल - (डॉ० द्विवेदी), पृष्ठ २३।

२. सुभद्रानाटिका - "सम्यक् त्वं सुपरीक्षितुं मदगजे युक्ते सरण्यापुरे, चास्मिन् पाण्ड्यमहेश्वरेण कपटाद्धन्तुं स्वमभ्यागते.... मदेभमल्ल इति यः प्रख्यातवान्सूरिभिः।।"

३. वही, "सम्यक्त्वस्य परीक्षार्थं युक्तं मत्तमतङ्गजम्। यः सरण्यापुरे जित्वा हस्तिमल्लेति कीर्तितः।।"

४. विक्रान्तकौरवम् - "अस्ति किल सरस्वतीस्वयंवरवल्लभेन भट्टारगोविन्दसूनुना हस्तिमल्लनाम्ना महाकवितल्लजेन विरचितं विक्रान्तकौरवं नाम रूपमिति।"

५. मैथिलीकल्याण - "पर्याप्ताः श्रवणोत्सवाय कवितासाम्राज्य लक्ष्मीपते....।"

कर्णाटक (कन्नड़) और संस्कृत भाषा से है। इनका कन्नड (कर्णाटक) भाषा में लिखित एक "आदिपुराण" ग्रन्थ भी है।[1]

वस्तुतः, संस्कृत के अन्य रूपककारों की भाँति हस्तिमल्ल का समय, स्थान एवं अन्य जीवनवृत्त अनुपलब्ध है। अन्तः साक्ष्य तथा वाह्यसाक्ष्य के आधार पर उनके कर्तृत्व और व्यक्तित्व पर विचार प्रस्तुत किया जा सकता है।

कृष्णमाचार्य के अनुसार, हस्तिमल्ल के समय की अधिकतम अवर सीमा९वीं शताब्दी है।[2] इस सीमा का आधार यह हो सकता है कि उन्होंने अपने नाटक का स्त्रोत जिनसेन के आदिपुराण से ग्रहण किया है। जिनसेन, राष्ट्रकूट राजा अमोघवर्ष के राज्य-संरक्षण में थे। अमोघवर्ष का समय ८१५-८७८ ई० है।[3] अतःहस्तिमल्ल का समय इसके पूर्व नहीं हो सकता है।

हस्तिमल्ल के समय की उच्च सीमा १४वीं शताब्दी है। आधार यह है कि अय्यरपार्य ने जिनेन्द्रकल्याणाभ्युदय, वि०सं० १३४६ में पूर्ण किया था। उसमें हस्तिमल्ल का उल्लेख है।[4] स्व० मुख्तार ने हस्तिमल्ल का समय १४वीं शताब्दी ही माना है।[5] उनका प्रबल तर्क है कि ब्रह्मसूरि १५वीं शताब्दी में उत्पन्न हुए थे। वे हस्तिमल्ल के पौत्र के पौत्र थे। अतएव ब्रह्मसूरि, हस्तिमल्ल के १०० वर्ष बाद उत्पन्न हुए होंगे। कर्णाटक कविचरित्र के रचयिता आर० नरसिंहाचार्य ने उनका समय वि०सं० १३४८ (१२९० ई०) निश्चित किया है।[6] विण्टरनित्ज ने भी इस मत को उद्धृत किया है।[7]

हस्तिमल्ल, पाण्ड्यनरेश के द्वारा सम्मानित थे तथा सुन्दर पाण्ड्य (पाण्ड्यनरेश का उत्तराधिकारी) ने कवि का सम्मान किया था। सुन्दरपाण्ड्य का राज्यकाल वि०सं० १३०७ (१२५० ई०) है। अतएव, इनका समय १३वीं शताब्दी होना चाहिए। श्रीवासुदेव पटवर्धन[8], डॉ० रामजी उपाध्याय[9] भी इनका समय १३वीं शताब्दी निर्धारित करते हैं।

---

१. आदिपुराण - "इत्युभयभाषाकविचक्रवर्तिहस्तिमल्लविरचितपूर्वपुरामहाकथायां दशमपर्व।"

२. हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिटरेचर, पृष्ठ ६४१-६६८: "Hastimalla probably lived in 9th century A.D."

३. दक्षिण भारत में जैनधर्म, पृष्ठ ९०.

४. जिनेन्द्र कल्याणाभ्युदय की प्रारम्भिक एवं अन्तिम प्रशस्ति, जैन ग्रन्थ प्रशस्ति-संग्रह, भाग-१.

५. जैन साहित्य के इतिहास पर विशद प्रकाश, पृष्ठ २५९.

६. जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ २६५.

७. हिस्ट्री ऑफ इण्डियन लिटरेचर, भाग-२, पृष्ठ ४२६.

८. अञ्जना पवनञ्जय, प्रस्तावना, पृष्ठ १४ - "He lived some time between the end of the 9th and the end of the 13th century A.D."

९. मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृष्ठ ३२५-३३३.

ऐतिह्य प्रमाण के आधार पर हस्तिमल्ल ने अपने नाटक (विक्रान्तकौरवम्) में सौराष्ट्र के राजा भीम का वर्णन किया है, जिसका समय १३वीं शताब्दी है।[1] इस प्रकार, समय की पूर्व सीमा ९वीं शताब्दी और उत्तरी सीमा १४वीं शताब्दी के आधार पर हस्तिमल्ल का समय १२वीं-१३वीं शताब्दी के मध्य निर्विवाद रूपेण निर्धारित किया जा सकता है। हस्तिमल्ल की रचनाओं में -

(i) अञ्जनापवनञ्जय

(ii) सुभद्रानाटिका

(iii) विक्रान्तकौरवम्

(iv) मैथिलीकल्याण

प्रसिद्ध हैं। इनके द्वारा रचित उदयनराज, भरतराज, अर्जुनराज और मेघेश्वर - नाटकचतुष्टयों का भी उल्लेख प्राप्त होता है। अन्य रचना "प्रतिष्ठातिलक" का भी सन्दर्भ प्राप्त है। सम्भवतः यह प्रति आरा के सिद्धान्त भवन में है। इनके कर्णाटक भाषा में विरचित आदिपुराण (पुरुचरित) और श्रीपुराण नामक ग्रन्थद्वय भी उपलब्ध हुए हैं।[2]

हस्तिमल्ल के प्राप्त एवं प्रकाशित नाटक चतुष्टयों की क्रमशः विषयवस्तु इस प्रकार है -

अञ्जनापवनञ्जय - इस नाटक में सात अङ्क हैं।[3] इसमें विद्याधर राजकुमारी नायिका अञ्जना का स्वयंवर, राजकुमार नायक पवनञ्जय के साथ विवाह और उनके पुत्र हनुमान् की उत्पत्ति का प्रसङ्ग है।

प्रथम अङ्क में, महेन्द्रपुर में अञ्जना के स्वयंवर की संरचना प्रगति पर है। विद्याधर राजा प्रह्लाद का पुत्र नायक पवनञ्जय है। वह नायिका को इसके पूर्व देख चुका है। वह उसके प्रति प्रेमाभिभूत है। अञ्जना अपनी सखी वसन्तमाला और मधुरिका तथा मालती के साथ प्रवेश करती है। उनके वार्तालाप का विषय स्वयंवर और उसका परिणाम है। सभी एक कृत्रिम स्वयंवर का अभिनय करती हैं। वह अञ्जना के कण्ठ में जयमाल डाल देती है। सभी एक कृत्रिम स्वयंवर का अभिनय करती हैं। वह अञ्जना के कण्ठ में जयमाल डाल देती है। पवनञ्जय और विदूषक एक गुप्त स्थान से इस दृश्य का अवलोकन करते हैं। अञ्जना लज्जित होकर जाने के लिए उद्यत होती है, पवनञ्जय उसका हाथ पकड़

१. विक्रान्तकौरवम्, अङ्क ४, पृष्ठ २६० - "एव सौराष्ट्रो भीमः।"

२. अञ्जनापवनञ्जय (माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, बम्बई) की अँग्रेजी प्रस्तावना, पृष्ठ ५-२४, तथा हिन्दी प्रस्तावना, पृष्ठ ६३-६८ द्रष्टव्य हैं।

३. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ४, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, पुष्प-४३, प्रो० माधव वासुदेव पटवर्धन द्वारा सम्पादित, बम्बई, १९५०।

लेता है। उसी समय वह माँ के द्वारा स्नान के लिए बुलाई जाती है। वह अपनी सखियों के साथ चली जाती है।

द्वितीय अङ्क में, स्वयंवर सम्पन्न हो चुका है। अञ्जना पवनञ्जय को अपना पति वरण करती है। नायिका श्वसुरालय आदित्यपुर जाती है। वहाँ प्रमदवन में नायक और नायिका प्रणयक्रीडा में निमग्न हैं। पवनञ्जय को मन्त्री विजय श्रमण से ज्ञात होता है कि राजा प्रह्लाद के विरुद्ध युद्ध-अभियान के लिए प्रस्थान करने वाले हैं। वरुण रावण का शत्रु है। उसने रावण के दो सेनानायकों को बन्दी बना लिया है। रावण के निवेदन पर प्रह्लाद का वहाँ जाना सुनिश्चित है और दोनों सेनानायकों को मुक्त भी कराना है। वह चाहता है कि उसकी अनुपस्थिति में पवनञ्जय आदित्यपुर (राजधानी) की सुरक्षा और संरक्षा करे। किन्तु, पवनञ्जय अकेला ही सेनापति मुद्गद के साथ वरुण पर आक्रमणार्थ प्रस्थान करता है।

तृतीय अङ्क में, वरुण युद्ध का कार्यभार अपने राजीवादि सौ पुत्रों पर साँप देता है। पवनञ्जय को युद्ध करते-करते चार मास व्यतीत हो जाता है। पवनञ्जय ने युद्ध की गति इसलिए मन्द कर दी थी कि कहीं रावण के सेनापतियों (खर और दूषण) को वरुण मृत्युदण्ड न दे दे। सैन्य निरीक्षण के पश्चात्, एक दिन वह सन्ध्याकाल में कुमुदिनी तट पर विश्राम कर रहा था। चन्द्रोदय का समय है। वहाँ अपने सहचर (चक्रवाक) का अन्वेषण करती हुई विरहविधुरा चक्रवाकी को देखकर पवनञ्जय को अञ्जना की वियोगावस्था का स्मरण हो जाता है। वह प्रेम की तीव्र वेदना का अनुभव करता है और अत्यधिक उद्विग्न हो जाता है। विचार-विमर्शोपरान्त वह विमान पर बैठकर अपनी पत्नी से मिलने के लिए तत्काल चल पड़ता है। आदित्यपुर पहुँचकर, अञ्जना-कक्ष में जाकर चुपचाप रात्रि व्यतीत करता है। प्रातःकाल वह पुनः युद्ध-क्षेत्र में लौट आता है।

चतुर्थ अङ्क में, अञ्जना गर्भवती थी। चार मास व्यतीत हो चुके हैं। सखियों को छोड़कर पवनञ्जय-अञ्जना मिलन की जानकारी अन्य किसी को नहीं थी। रानी केतुमती के आदेशानुसार विद्याधर भैरव क्रूर को अञ्जना मिलन की जानकारी अन्य किसी को नहीं थी। रानी केतुमती के आदेशानुसार विद्याधर भैरव क्रूर को अञ्जना के माता-पिता के गृह ले जाना है। वह आदेश का पालन करता है और तदनुसार कार्य करता है।

पञ्जन अङ्क में, पवनञ्जय वरुण को युद्ध में पराजित करता है और दोनों सेनानायकों - खर और दूषण को मुक्त कराकर रावण को सौंप देता है। वरुण के साथ मैत्रीभाव संस्थापित करके पवनञ्जय विद्याधर के साथ वापस लौट रहा है। वे दोनों विजयार्ध पर्वत पर आते हैं और विमान से रजतशिखर पर उतरते हैं। पवनञ्जय को युक्तिमती (रानी केतुमती की दासी) से ज्ञात होता है कि अञ्जना गर्भवती है और वह महेन्द्रपुर में माता-पिता के साथ है। पवनञ्जय कालमेघ वाहन से विदूषक के साथ सर्वप्रथम महेन्द्रपुर

की.ओर जाते हैं। मार्ग में एक वनेचर और उसकी पत्नी से मिलते हैं। उन दोनों से ज्ञात होता है कि अञ्जना और वसन्तमाला महेन्द्रपुर जाते समय उसी मार्ग से गये थे। उन दोनों के साथ एक भयानक आकृति का व्यक्ति था, जो केतुमती के आदेश से महेन्द्रपुर ले जाना चाहता था। अञ्जना वहाँ नहीं जाना चाहती थी और वन के उस भाग में निवास करने की प्राथमिकता देती थी। यह सुनकर पवनञ्जय संज्ञाशून्य हो जाता है। चेतना प्राप्त होने पर वह अपनी प्रिय पत्नी के लिए विलाप करता है। नैराश्यभाव में जङ्गल में प्रवेश करने की प्रतीज्ञा करता है। वह अञ्जना का अनुसरण करना चाहता है। वह कालमेघ हाथी के साथ वन में प्रवेश करता है।

षष्ठ अङ्क में गन्धर्वों के राजा मणिचूड और उसकी पत्नी रत्नचूड से ज्ञात होता है कि मणिचूड ने अञ्जना को भयानक आपत्ति से बचा लिया है। इस समय वह उसके राज्य में निवास कर रही है। वह एक बच्चे को जन्म दे चुकी है, किन्तु पति-वियोग के कारण अतीव दुःखी है। पवनञ्जय मातङ्गमालिनी वन में चेतन और अचेतन पदार्थों से अञ्जना के विषय में पूछता है और आगे बढ़ जाता है। वह असहाय स्थिति में एक चन्दन वृक्ष के नीचे बैठ जाता है। उसकी आवाज रुँध जाती है और उसके नेत्र आँसुओं से धुँधले हो जाते हैं। मामा प्रतिसूर्य पवनञ्जय का अन्वेषण करता है। वह सकरन्दवापिका के तट पर लताओं के अचेतनावस्था में पाता है। प्रतिसूर्य, अञ्जना और वसन्तमाला को भेजता है। अञ्जना ऐसी अवस्था में देखकर पवनञ्जय का आलिङ्गन करती है। उसको देखकर पवनञ्जय अतीव प्रसन्न होता है। प्रतिसूर्य भी पवनञ्जय से मिलता है। पवनञ्जय भी दोनों (मामा और पत्नी) से मिल कर अत्यधिक प्रसन्न होता है।

सप्तम अङ्क में, आदित्यपुर के राजभवन में पवनञ्य के राज्याभिषेक की तैयारी हो रही है। प्रतिसूर्य बालक हनुमान् का, पवनञ्जय से परिचय करता है। पवनञ्जय, अञ्जना, विदूषक और वसन्तमाला सभाभवन में प्रवेश करते हैं। सभी आनन्दमय मिलन के लिए परस्पर कृतज्ञता-ज्ञापन करते हैं। सम्पूर्ण राजभवन आनन्दमग्न हो जाता है। पारस्परिक अभिवादनों का आदान-प्रदान होता है। सभी ने गन्धर्वराज मणिचूड को भयानक सिंह से अञ्जना को बचाने के लिए धन्यवाद दिया। वरुण और रावण (अब परस्पर मित्र हैं) के आदेशानुसार, मणिचूड पवनञ्जय को विजयार्ध पर्वत की सार्वभौमिक सत्ता सौंपता है। वह आभार के साथ अभिनव राज्य को स्वीकार करता है। अन्ततः, भरत-वाक्य -

"भूपालाः पालयन्तु प्रशमितनिखिलोपप्लवां भूतधात्रीं,
काले काले पयोदा जगदभिलषितामेव वर्षन्तु वृष्टिम्।

स्थेयासुः काव्यबन्धा बहुमतिमुचितां प्राप्य सद्भिः कवीनां-
भव्यानां जैनमार्ग प्राणिहितमनसां शाश्वतं भद्रमस्तु।।'"[1]

के साथ भव्यतम वातावरण में नाटक समाप्त हो जाता है।

अञ्जनापवनञ्जय का उपजीव्यस्त्रोत सूत्र, विमलसूरि के पउमचरिय के १५-१८ उद्देशक, रविषेण का पद्मचरित तथा स्वयम्भू के पउमचरिउ की सन्धि १८-१९ है। अभिनयात्मक स्वरूप की अनुकूलता के लिए परमावश्यक परिवर्तन भी नाटककार ने किया है। स्वयंवर-संयोजना कवि की नवनवोन्मेषशालिनी नाट्योचित प्राति प्रतिभा का अप्रतिम प्रमाण है। नाटकाकार धीरोदात्त नायक पवनञ्जय और स्वकीया धर्मपत्नी होने के कारण स्वीया नायिका अञ्जना है। प्रसाद, माधुर्य और ओज प्रभृति की सम्यक् गुणाभिव्यक्ति है, अलङ्कार-सौन्दर्य, नाट्यतत्त्वपरिकल्पन, संवैधानिक संवादसंयोजन, सरस, सरल, सुबोध, समाससम्पृक्त-वाक्यावलीपरिपूर्ण भाषा-शैली का मनोरम निदर्शन, रसाभिव्यक्ति एवं सामाजिक तथा सांस्कृतिक परिवेश का परिपूर्ण प्रदर्शन है। वर्णन-चातुर्य और अर्थगौरव का सुष्ठ परिपाक है। प्राकृतिक सचित्र चित्रण और साहित्यिक, राजनैतिक, शृङ्गारिक सूक्तियों के साथ-साथ सामाजिक मुहावरों का प्रबल प्रभावशाली प्रयोग है।

सुभद्रानाटिका - इसमें चार अङ्क हैं।[2] यहाँ ऋषभदेव के पुत्र चक्रवर्ती भरत के साथ कच्छराज की पुत्री और विद्याधरनमि की बहन सुभद्रा के पावन परिणय का वर्णन है। कथावस्तु इस प्रकार है -

प्रथम अङ्क - कारण्डकप्रपात का गुहा के समीप वेदीवन में शिविर लगा हुआ है। राजा भरत और विदूषक विजयार्थ पर्वत के मनोरम स्थलों पर विहार कर रहे हैं। अशोक वृक्ष के नीचे लाक्षारस से चिह्नित पदपङ्क्ति परिलक्षित होती है। दोनों में विचार-विमर्श होता है। अन्ततः यह निश्चय हो जाता है कि ये किसी विद्याधर सुन्दरी के पदचिह्न हैं, दोनों में विचार-विमर्श होता है। अन्ततः यह निश्चय हो जाता है कि ये किसी विद्याधर सुन्दरी के पदचिह्न हैं, जो अशोकवृक्ष में पाद-प्रहार के द्वारा पुष्पोद्रम की अभिलाषिणी है। राजा उस चरण-पङ्क्ति करता है। वहाँ सुभद्रा और उसकी प्रिय सखी मन्दारिका उपस्थित है।

मन्दार वृक्ष की ओट से छिपकर राजा सुभद्रा को देखता है और उसकी प्रशंसा करता है। सुभद्रा और मन्दारिका, बाल अशोक (पुत्र) और मालती लता (कन्या) के परस्पर विवाह सम्बन्धित वार्तालाप करती हैं। सुभद्रा सखियों को खोजती हुई अग्रेसर होती है। राजा

---

१. अञ्जनापनवञ्जय, अङ्क ७, श्लोक-१६, पृष्ठ ११९।

२. माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, पुष्प-४३, प्रो० माधव वा० पटवर्धन द्वारा सम्पादित, बम्बई, १९५०।

भरत के दर्शन हो जाते हैं। नायिका सुभद्रा और अधिक समुत्सुक हो जाती है। सखी मन्दारिका के बुलाने पर मन्दारिका चली जाती है। नायक उत्कण्ठित हो जाता है। राजा की ज्येष्ठा पत्नी वैलाती पद-पंक्ति का अनुसरण करती हुई राजा के समीप पहुँचती है। राजा को निर्दोष सिद्ध करने के लिए, विदूषक वैलाती से पूछता है कि क्या यह आपकी ही पद-पंक्ति नहीं है? वेतालिक मध्याह्न एवं राजा को अभिषेक की सूचना देते हैं।

द्वितीय अङ्क - अङ्क का प्रारम्भ विदूषक के इस कथन से होता है कि सुभद्रा-दर्शन के पश्चात् नायक अतीव उत्कण्ठित हैं। रङ्गमञ्च पर राजा का प्रवेश होता है। राजा गहन विचार-विमर्श के बाद मनोविनोद के लिए विदूषक के साथ वेदीवन में जाता है। मन्दार वृक्ष के नीचे शिलातल पर बैठकर सुभद्रा के चित्र-लेखन का प्रयत्न करता है।

सुभद्रा और मन्दारिका उसी मन्दारवृक्ष उसी मन्दारवृक्ष के समीप जाती हैं, जहाँ राजा और विदूषक पहले से ही उपस्थित है। वृक्ष की ओट से दोनों देखती हैं कि राजा नायिका के चित्र से आत्मविनोद कर रहा है। ज्येष्ठा पत्नी वैलाती भी चेटी के साथ इसी परिदृश्य को देखती है कि राजा चित्रफलक के द्वारा मनोविनोद कर रहा है। रानी कुपित होकर वहाँ से चली जाती है।

विदूषक उस चित्र को हरिचन्दन के लतागृह में रखता है। राजा सुभद्रा के नेत्राश्रु का कारण पूछता है। राजा को ज्ञात होता है कि सुभद्रा रानी वैलाती की छिपकर देखने की घटना जानती है। राजा प्रसादनार्थ सुभद्रा का हस्तग्रहण करता है। सखियों द्वारा बुलाने पर वह चली जाती है। सन्ध्याकाल उपस्थित है। सभी वहाँ से चले जाते हैं।

तृतीय अङ्क - रङ्गमञ्च पर अन्यममस्क सुभद्रा और मन्दारिका प्रवेश करती हैं। सुभद्रा अतीव काम-पीड़ित है। मन्दारिका नायक-मिलन का आश्वासन दे देती है। सुभद्रा अशोक पत्र पर हरिचन्दन रस से नखाग्र भाग से अनङ्ग-पत्र लिखती है। मन्दारिका उस पत्र को अशोकवृक्ष के स्कन्ध भाग पर रख देती है। राजा और विदूषक दोनों के वार्तालाप को छिपकर सुनते हैं। राजा को ज्ञात होता है कि नायिका अतीव काम-पीड़ित है। मञ्जरिका अर्धकुसुम लाती है। अवसरानुकूल राजा सुभद्रा के समीप जाता है। सुभद्रा वैलाती की आशङ्का के कारण अधिक देर तक रहने के कारण संदेह करती है। विदूषक स्पष्ट करता है कि राजा का वास्तविक प्रेम तो आपके प्रति है, रानी के प्रति तो शिष्टाचार मात्र है। इस वार्तालाप को रानी वैताली और नटी छिपकर सुन लेती है। वह चेटी के साथ जब समीप पहुँचती है तो राजा सुभद्रा के हाथ से अपना हाथ हटा लेती है। मन्दारिका के सङ्केत से सुभद्रा हरिचन्दन लतागृह में चली जाती है। राजा रानी वैलाती से अनुनय-विनय करता है। रानी कुपित होकर चली जाती है।

मञ्जरिका शुभ समाचार सुनाती है कि महाराज नमि ने सुभद्रा को चक्रवर्ती भरत को देने का निश्चय किया है। सुभद्रा उदासीन हो जाती है। सुभद्रा समझती है कि यह मेरे

प्रेमी से भिन्न कोई व्यक्ति है। इस चिन्तन के कारण वह संज्ञाशून्य हो जाती है। अन्ततः सुभद्रा और मन्दारिका को निश्चय हो जाता है कि ये वही राजा भरत हैं, जिन्हें महाराज नमि ने सुभद्रा को देने का निश्चय किया है। सखियों के वार्तालाप को सुनकर सुभद्रा चली जाती है। राजा भी विनोद के लिए उसी मार्ग का अनुसरण करता है।

चतुर्थ अङ्क - अयोध्य सेनापति चार म्लेच्छ खण्डों को जीतकर आता है। एक ओर राजा सुभद्रामागमजन्य मन्मथमथनपीड़ा से पीड़ित है, दूसरी ओर रानी वैलाती के कोप-शान्ति के सम्बन्ध में चिन्तित भी हैं। उसी समय तार्क्ष्यदत्त सूचित करता है कि नमि आदि विद्याधर सुभद्रा प्रभृति स्त्रीरत्न को लेकर आ रहे हैं। उसी समय विदूषक आकर समाचारसुनाता है कि देवी वैलाती अब प्रसन्न हो गयी हैं, क्योंकि राजा नमि ने रानी वैलाती के पास समाचार भेजा है कि वह सुभद्रा को विवाह-संस्कार द्वारा राजा भरत के देना चाहता है। भविष्यवक्ताओं ने बताया है कि सुभद्रा चक्रवर्ती की रानी होगी। इस प्रस्ताव के लिए रानी वैलाती ने अपनी सम्मति प्रदान कर दी है। अत्यन्त प्रसन्न होकर राजा ने रानी वैलाती के पिता विलात को पश्चिमो खण्ड का राज्य प्रदान किया।

विद्याधरों के साथ राजा नमि, विवाहविधिपूर्वक बहन सुभद्रा, राजा भरत को सौंप देता है। भरत-वाक्य के साथ -

"पृथ्वी सुखानि भजतादकुतो भयैषा भूयात्सतामकृतको गुणपक्षपातः।
पात्रे धनानि धनिनो विसृजन्तु नित्यं भद्रं चिराय भवताज्जिशासनय।।"[1]

नाटक समाप्त हो जाता है।

सुभद्रानाटिका की कथावस्तु जैन-वाङ्मय-जगत् में सुप्रसिद्ध है। सुभद्रा-भरत विवाहवर्णन, जिनसेन ने आदिपुराण के ३२वें सर्ग में श्लोक १८० से श्लोक १८४ तक किया है। उजपजीव्यस्त्रोत अत्यल्प होते हुए भी नाटककार हस्तिमल्ल ने स्वकीय नवनवोन्मेषाशालिनी नाट्यप्रतिभा के आधार पर नाटकीय विस्तार किया है, जो अतीव रोचक और विद्वज्जन द्वारा लोक प्रिय है।

नाटिका का अङ्गीरस शृङ्गार है। संयोग और वियोग का भव्यतम परिपाक द्रष्टव्य है।

"शृङ्गारमालोक्य रसेसु मुख्यं, तस्योचितं पात्रमियं नु सृष्टा।
अस्या विशिष्टारनुगुणान्विलोक्य शृङ्गारनामा रस एव सृष्टः।।"[2]

कथावस्तु परिकल्पन, पात्र-चरित्रचित्रणशील निरूपण, प्रियवादिता, कलापरायणता, भोगप्रवणता तथा सुकुमार भावों से परिपूर्ण धीरललित नायकगुणोपेत चक्रवर्ती राजा भरत, दिव्या, भव्या,

१. सुभद्रानाटिका, अङ्क ४, श्लोक-३७
२. सुभद्रानाटिका, अङ्क १, श्लोक-२८

मुग्धा, अति मनोहरा स्वया नायिका, चक्रवर्ती राजा कच्छ-पुत्री का सुभद्रा, रसाभिव्यञ्जन, काव्य-सौन्दर्य, भाषा-सौष्ठव, अलङ्कारमाधुर्य, गुण-रीति का सुभग चित्राङ्कन, गङ्गासागर, दक्षिणापथ, मलयाचल, वेलावन, तमिस्त्रा गुहा, उत्तर भारत, मन्दाकिनी-विजयार्द्ध एवं काण्डक प्रपात प्रभृति प्राकृतिक भौगोलिक सचित्र-चित्रण अतीव चित्तापकर्षक हैं। मुहावरों और सुन्दर सुभाषितों से समलङ्कृत संवाद-शैली अपना अद्भुत वैशिष्ट्य है।

विक्रान्तकौरव - यह ६ अङ्कों का नाटक है।[1] इसमें हस्तिनापुरनरेश सोमप्रभ के पुत्र कौरवेश्वर (जयकुमार) और काशी के राजा अकम्पन की पुत्री सुलोचना के विवाह का वर्णन है। इसका "सुलोचना नाटक" अपर नाम भी है। इसकी कथावस्तु इस प्रकार है -

प्रथम अङ्क - सुलोचना-स्वयंवर-यात्रा महोत्सव को देखने के लिए जयकुमार अपनी चतुरङ्गिणी सेना के साथ वाराणसी आता है। उसके साथ मित्रमण्डल - विशारद, नन्द्यावर्त और विदूषक सौधातकी - भी है। वाराणसी से कुछ दूर नदी के तट पर शिविर लगा हुआ है। जयकुमार, नन्द्यावर्त के साथ वाराणसी के अनेक मनमोहक दृश्यों को देखता हुआ एक आम्रवृक्ष के नीचे बैठ जाता है। वह स्वयंवर-यात्रा से लौटती हुई सुलोचना को देखता है। उसके प्रति आकर्षित हो जाता है।

शिविर में जयकुमार अपने मित्र विदूषक को समस्त घटित घटना को सुनाता है और सुलोचना के अपूर्व सौन्दर्य तथा उसकी लज्जाशीलता की प्रशंसा करता है। इस प्रकार वर्णन करते-करते रात्रि हो जाती है।

द्वितीय अङ्क - प्रातःकाल, प्रतीहार के कथन से ज्ञात होता है कि उसे गङ्गातीर्थ की रक्षा करनी है, क्योंकि कुलवृद्धाओं के आदेशानुसार सुलोचना को सौभाग्य स्नान करना है। प्रातःकालिक प्राकृतिक सुषमा का वर्णन करते हुए प्रतीहार की कौरवेश्वर के एक परिजन से भेंट होती है, जिससे प्रतीहार को जयकुमार के गुणों का परिचय प्राप्त होता है। प्रतीहार गङ्गातट की रक्षा करता है। जयकुमार, विदूषक के साथ गङ्गातटोद्यान में पहुँचता है।

सुलोचना भी नवमालिका के साथ सौभाग्य स्नान के लिए गङ्गातट पर आती है। नायिका जयकुमार के बिना अधीरता का अनुभव करती है। नवमालिका कल होने वाले स्वयंवर में उस अभिरूप पति का वरण करने का उसे सन्देश देती है।

जयकुमार पीपलवृक्ष की ओर से, नायिका और नवमालिका के मध्य चल रही वार्ता को सुनता है। विनीता, सुलोचना को गङ्गातट की ओर ले जाती है। उसकी दृष्टि नायक पर पड़ जाती है। राजा को सान्त्वना देने के बहाने से उसे समीप में पहुँचने का अवसर प्राप्त हो जाता है। सरलिका द्वारा पुकारने पर अनिच्छापूर्वक नायिका चली जाती है। राजा और विदूषक भी चले जाते हैं।

---

१. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ३५०, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, पुष्प-३, बम्बई, १९७२

तृतीय अङ्क - वाराणसी का एक आर्यभद्रिलक नामक विट वाराणसी की समृद्धि का वर्णन करता है। वह पण्याङ्गनाओं के बाजार, उनके उन्नत भवन, वेश्याओं के क्रियाकलापों तथा उनके व्यवहार आदि के सम्बन्ध में सविस्तर प्रकाश डालता है। उसी प्रसङ्ग में चन्द्रसेना, भोगवती, उसकी वृद्धामाता विषादवती, चन्द्रमती की पुत्री रतिचन्द्रिका, अशोकलतिका की पुत्री केलीमति आदि पण्याङ्गनाओं का चित्र उपस्थित करता है। वहीं वेशवाट के समीपवर्ती राजमार्ग से स्वयंवर-यात्रा के लिए जाने वाले अनेक देशों के राजाओं का चित्र प्रस्तुत करता है। गुजरात, कर्णाटक, कश्मीर, आन्ध्र, चोल, पाण्ड्य, केरल देशों के तथा कुरुदेश के राजा कौरवेश्वर का परिचय है।

जयकुमार, नन्द्यावर्त और विदूषक के साथ स्वयंवर-मण्डप में प्रवेश करता है। सर्वप्रथम प्रतीहार विद्याधर राजाओं का परिचय प्रस्तुत करता है। उनमें दक्षिण श्रेणी के राजा नमि के पुत्र सार्द्रगन्ध, उत्तर श्रेणी के राजा विनमि के पुत्र सुनमि, लोहार्गल के अधिपति मेघप्रभ का परिचय है। अन्य भूमिपालों के परिचय में अयोध्यापुरी के राजा भरत चक्रवर्ती के प्रथम पुत्र अर्ककीर्ति, पोदनपुर के अधिपति बाहुबलि के पुत्र महाबली, उज्जयिनी के अधिपति मघवा के पुत्र जयन्त, मथुरापति हरिकान्त के पुत्र सुकेतु के परिचय के पश्चात् कुरुदेश के राजा सोमप्रभ के पुत्र जयकुमार का परिचय देता है, सुलोचना जयकुमार के कण्ठ में वरमाला अर्पण कर देती है।

स्वयंवर-समाप्ति के पश्चात्, कुछ ईर्ष्यालु राजा सुलोचना-हरण के लिए उद्यत होते हैं। जयकुमार भी अपने मित्रों के साथ युद्ध का वीरता के साथ सामना करने का निश्चय करता है।

चतुर्थ अङ्क - विपक्ष भूमिका का निर्वहण चक्रवर्ती का पुत्र अर्ककीर्ति करता है। दशार्णनरेश सङ्कर्षण एवं सौराष्ट्रनरेश भीम कभी उसका समर्थन करते हैं। निरवद्य नाम न्यायमंत्री, अर्ककीर्ति की भलीभाँति समझाता है कि यह कार्य अविवेकपूर्ण है। अर्ककीर्ति मन्त्री के कथन पर ध्यान ही नहीं देता है। अकम्पन प्रतीहार को अर्ककीर्ति के पास भेजता है और सूचित करता है कि सुलोचना की अनुजा रत्नमाला मेरी आज्ञा से आपका वरण कर लेगी। आपको ऐसा अनुचित कार्य नहीं करना चाहिए, अपितु उसका निवारण करना चाहिए। वह राजा अकम्पन और मन्त्री निरवद्य की बात पर ध्यान ही नहीं देता है। मन्त्री विद्याधर दूतद्वय को राजा भरत के पास भेजता है। अकम्पन वाराणसी की और अन्य सभी प्रकार की सुरक्षा का प्रबन्ध करता है। युद्ध-बिगुल बज उठता है। सभी सेनायें सन्नद्ध हैं। सौराष्ट्रानरेश भीम, दशार्णनरेश संकर्षण, बाहुबली का पुत्र महाबली, शूरसेननरेश सुकेतु, अर्ककीर्ति के समस्त भाई। सुनमि के पक्ष में हो जाने पर अन्य विद्याधर भी अर्ककीर्ति के पक्ष में हो गये।

जयकुमार के पक्ष में मात्र उज्जयिनी का राजा जयन्त और विद्याधरों में से लोहार्गलनरेश मेघप्रभ था। व्यूहों में सेनाओं का विभाजन करके प्रमुख योद्धा युद्ध करते हैं। दोनों ओर से दिव्यास्त्रों का खुलकर प्रयोग होता है। अतीव लोहमहर्षक युद्ध होता है। अन्ततः, जयकुमार, अर्ककीर्ति को बन्दी बना लेता है और उसकी सेना पराहित होती है। जयकुमार की सेना विजयश्री का अनुभव करती है।

पञ्चम अङ्क – जयकुमार, अर्ककीर्ति को लेकर मध्यस्थता करने वाले राजा अकम्पन के पास जाता है। वह अर्ककीर्ति के बन्धन प्रसन्न नहीं, अपितु इस बन्धन कार्य को अनुचित ही बताया। भरत के पास भेजा गया दूत वापस आता है। वह अकम्पन को भरत का सन्देश देता है कि अनुचित कार्य करने के कारण अर्ककीर्ति पर आपको अनुशासन करना चाहिए। जयकुमार और अर्ककीर्ति वैरभाव को भूलकर परम मित्र बने रहें, एतत्प्रकारक प्रेरणा भी दी है।

जयकुमार उदासीन है। नन्द्यावर्त सूचित करता है कि सुलोचना युद्ध-समाप्ति के पश्चात् आपको सकुशल देखना चाहती है। प्रमोदवन से दूरस्थ बालोद्यान में स्थित कौमुदीगृह सङ्केतस्थल निश्चित होता है। चन्द्रोदय का समय है। बालोद्यान-सौन्दर्य का आनन्द लेता हुआ राजकुमार कौमुदीगृह के समीप पहुँचता है। सुलोचना भी नवमालिका के साथ वहीं उपस्थित होती है। नवमालिका के परिहास के कारण, गमनोत्सुक सुलोचना के हस्तग्रहण का अवसर जयकुमार को प्राप्त हो जाता है। क्षणिक मिलन के पश्चात् सुलोचना, रत्नमाना के कौतुकबन्धन के लिए सरलिका द्वारा बुलाये जाने पर चली जाती है।

षष्ठ अङ्क – रत्नमाला के साथ अर्ककीर्ति का विवाह-विधि सम्पन्न हो चुकी है। राजा अकम्पन, अर्ककीर्ति को बहुत सा दहेज भी देता है। सुसज्जित राजभवन में जयकुमार के कौतुकबन्ध की व्यवस्था होती है। नगर की स्त्रियाँ जयकुमार पर धान्य वृष्टि कर रही हैं। रत्नमण्डप से परिणयन वेदी पर यज्ञादि माङ्गलिक क्रियाएं सम्पन्न हो रही हैं। शुभ मुहूर्त में राजा अकम्पन अपनी कन्या सुलोचना जयकुमार को सौंपता है। सुखद और सुन्दर वातावरण में भरतवाक्य के साथ नाटक समाप्त हो जाता है।

कथावस्तु का आधारस्त्रोत जिनसेन का आदिपुराण है, जिसमें २१ से २३ पर्वों में जयकुमार और सुलोचना का प्रणय-प्रसङ्ग का वर्णन है। नाटककार ने आदिपुराण के कथानक का समग्र अनुकरण किया है। मात्र नामकरण में कुछ परिवर्तन है। सुष्ठ वस्तु-विवेचन, लालित्यपूर्ण प्रतिपात्र परिशीलन, वीररसोचित दिव्यास्त्र प्रयोग बाहुल्य, युद्ध-वर्णन, स्वीयानायिका सुलोचना और धीरललित नायक जयकुमार का भव्यतम वातावरण में स्वयंवरसभा का अलौकिक परिकल्पन, रसछन्दोऽलङ्कार परिपूर्ण विच्छित्ति, वेशवाट-वाराणसीस्थ गङ्गातट - बकुलोद्यान-प्रमदवन-प्रातःकाल, सायंकाल-चन्द्रोदय प्रभृति प्राकृतिक सच्छा का मधुमय सुरम्य दिग्दर्शन, प्रसाद-माधुर्य-ओजगुणोपेत भाषा-शैली

सौष्ठव, सुललित, सुगठित सुभाषितों की सुमणिति एवं परमोदात्त सरससरलसुबोध सुंवादसंयोजन आदि प्रस्तुत नाटक का चाकचिक्य समाकलन है और साहित्यिक, सामाजिक, धार्मिक एवं सांस्कृतिक अध्ययन का केन्द्र है।

नाटकारम्भ में ही नाटककार का [illegible]

"शृङ्गारवीरसारस्यगम्भरचरितादद्भुतम् महाकविसमाबद्धं रूपकं रूप्यतामिति।"

महत्त्वपूर्ण कथन नाट्य-वाङ्मय के नैक क्षेत्रों में श्लोषात्मक अर्थगाम्भर्य एवं नवनवोन्मेष पाण्डित्य-परम्परा का भी स्पष्टाक्षरों में शुभ सङ्केत है। अतएव हस्तिमल्ल की अलौकिकी काव्य-प्रतिभा असाधारण है -[illegible]

"शृङ्गारस्य गरीयसी परिणतिर्विश्वस्य सम्मोहिनी,
विद्या काप्यपरा च पदवी सौन्दर्य सारश्रियाम्।
उद्दामो मदनस्य यौवनमदः कुल्या रतिस्त्रोतसां,
केलिर्विभ्रमसम्पदामविकलो लावण्य-पुण्यापणः।।"[2]

उनकी सदुक्तियाँ भी अतीव प्रभविष्णु हैं। अनेक अभिनव देशज शब्दों का अपेक्षाकृत प्रयोगाधिक्य है- निष्कुट (गृहाराम), गोसर्ग (प्रभात), पारी, बीटी (पान का बीड़ा), सहान (मयूर), आन्दोलिकार (डोली या शिविका), निष्टाप (भयानक गर्मी), संपेट (क्रुद्ध), अभिसार (आक्रमण) आदि। प्राकृत एवं संस्कृत पर समान विद्वत्तापूर्ण अधिकार है।

मैथिलीकल्याण - इस नाटक में पाँच अङ्क हैं।[3] इसमें सीता और राम के स्वयंवर का वर्णन है। कथावस्तु इस प्रकार है -

प्रथम अङ्क - आशीर्वादात्मक मङ्गलाचरण में रामभद्र से कल्याण की प्रार्थना की गयी है।[4] वसन्तर्तु का रमणीय समय है। मिथिलापुरी मेंराम समुत्सुकतापूर्वक सीता-प्राप्ति की आशा करते हैं। उनका मित्र गार्म्यायण नामक विदूषक पहले से ही वहाँ उपस्थित है। लोग

---

१. विक्रान्तकौरवम्, अङ्क १, श्लोक-४

२. वही, अङ्क १, श्लोक-२४

३. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ३४५, माणिकचन्द्र दिगम्बर जैन ग्रन्थमाला, पुष्प-५, बम्बई, १९७३

४. मैथिलीकल्याणम्, अङ्क १, श्लोक-१:

"यः प्रस्तोता त्रिलोक्यां प्रतिहतविपदां संमतानां कृतीनां
यं च स्तोता स्वयं च स्तुतिशतपदवी वाग्वधूवल्लभानाम्।
कल्यः कल्याण भागिश्रियमनुपरमामापतवानाप्तरूपः,
सोऽयं भद्रं विधेयाद्दशरथतनयः साधु वो रामभद्रः।।"

वसन्तोत्सव मनाने की तैयारी में अति सननद्ध हैं। मदन-पूजा, जलकेलि-क्रीड़ा, हिन्दोलक लीला आदि विविधात्मक कार्यक्रमों की सम्पूर्ति के लिए नर-नारी समुदाय भ्रमणशील है। राम और विदूषक उस सच्छता की आनन्द-प्राप्ति के लिये वहाँ जाते हैं। मार्ग में वेशवाट मिलता है। राम को परिज्ञात है कि कामदेवायतन के समीपवर्ती उद्यानस्थ दोलागृह में सीता अवश्य ही दोलारोहण करेगी और वहाँ छिपकर कामदेवगृह में बैठ जाते हैं।

सीता दोलारोहण करती है। सखियाँ गीत गाती हैं। सीता, विनीता से कहती है कि राम के सम्बन्ध में मेरा मन कौतुकपूर्ण है। राम-स्मरण से सीता का मन खिन्न हो जाता है। विनीता उनको कामदेवगृह में ले जाती है। पहले से ही प्रविष्ट राम को देखकर दोनों चकित हो जाती हैं। राम को कामदेव समझकर सीता के योग्य वर की विनीता प्रार्थना करती है। कामदेव स्वरूप राम अभिलषित वर के साथ आनन्द करने की बात करते हैं। विनीता उसके गर्भित अर्थान्तर को समझकर और उनके हाथ में राम नामाङ्कित अँगूठी को देखकर समझ जाती है कि यही राम है तथा सीता से कान में कहती भी है। उधर सखीजनों का स्वर सुनायी पड़ता है। सीता को अनिच्छापूर्वक जाना पड़ता है।

द्वितीय अङ्क - राम सीता के वियोग में अन्यमनस्क हैं। कामदेव को उपालम्भ देते हैं। राम विदूषक से सीता-मिलन का उपाय पूछते हैं। वह राम को माधवी वन में जाने का सङ्केत करता है। माधवी वन में वसन्तुर्त का पर्यावरण परिव्याप्त है। समस्त प्रकृति सीता के बिना राम को उद्दीप्त कर रही है। सहकार वृक्ष, मधुप, पवन, मञ्जरी, कोकिल आदि राम की वियोग-वेदना को प्रज्ज्वलित कर रहे हैं। समस्त शीतलोपचारोपकरण राम के अङ्गों में सन्ताप ही बढ़ा रहे हैं।

विनीता के साथ सीता भी माधवीवन में जाती है। सीता को भी राम-वियोग के कारण शिरोवेदना है। राम का स्वर सुनकर विनीता सीता को सङ्केत करती है। राम को देखने से सीता को अनेक अनेभाव तथा सात्विक भाव उत्पन्न होते हैं। सीता और विनीता, राम और विदूषक के वार्तालाप को छिपकर सुनती हैं।

राम अन्यमनस्क हैं। विदूषक के द्विवार पूछने पर राम कहते है कि 'किं तया'। इस बात को सुनकर सीता उदासीन हो जाती है। वह समझती है राम को सीता से कुछ प्रयोजन नहीं है। सीता संज्ञाशून्य हो जाती है। राम और विदूषक सीता के पास जाते हैं। राम द्वारा सान्त्वना देने पर सीता आश्वस्त होती है। राम को ज्ञात होता है कि "किं तया" का अन्य अर्थ समझ लेने से सीता को क्रोध हो गया था। राम उसका समाधान करते हैं। वनपालों द्वारा सन्ध्या-समय की घोषणा से सीता अनिच्छापूर्वक चली जाती है।

तृतीय अङ्क - माधवीवन में राम सीता-वियोग में अनेक प्रकार की भावभङ्गिमाओं में निमग्न हैं। सीता के द्वारा केतकी-पत्र पर लिखा हुआ अनङ्ग-पत्र, कलावती राम को देती

है। राम उसे बार-बार पढ़ते हैं। उसमें लिखा था कि दर्शनमात्र से अङ्कुरित, सन्तापों से पल्लवित और सुख से कुसुमित हुआ काम फलित हो रहा है। वह राम को सङ्केत करती है कि माधवीवन से दक्षिण की ओर, पुष्पवाटिका के उत्तर में पीछे के प्रमदवन के पक्षद्वार से प्रविष्ट होकर तमालवीथी से होकर चुपचाप चन्द्रकान्त-धारागृह में पहुँचना है। इसी समय मध्याह्नकालीन भोजन का समय हो जाता है। सभी चले जाते हैं।

चतुर्थ अङ्क - सीता-सन्ताप की शान्ति के लिए सीता और विनीता चन्द्रकात धारागृह में प्रवेश करती हैं। क्रमशः ज्योत्स्ना, बकुलवाटिका की छाया, तमालपत्र, चन्दनपल्लव रस, कर्पूरचूर्ण, मुक्ताफलचूर्ण युक्त कदली पत्र का व्यञ्जन, कल्हार दल से वायु करना, कमलिनीपत्रों का रखना, मृणालिनीपत्र, एलादल का रस, चन्दन-तिलक, विविध प्रकार से समलङ्कृत चन्द्रकान्तपुत्रिका का आलिङ्न आदि अनेक उपाय किये जाते हैं, किन्तु सब व्यर्थ हो जाते हैं। राम विदूषक के साथ सङ्केतस्थल पर पहुँचते हैं। कुछ दूर पर ही सीता और विनाता के वार्तालाप को सुनते हैं। अभिनय में विनाता राम का तथा सीता राजपुत्री सीता का ही अभिनय करती है। उसी अभिनय में जब सीता "किं तया" के श्रवण मात्र से ही संज्ञाशून्य हो जाती है। अवसरानुकूल राम समाश्वासन के लिए पहुँच जाते हैं। अल्पकालीन मिलन के पश्चात् चेटी कौमुदिका समाचार सूचित करती है कि सीता-शिरोवेदना का समाचार सुनकर माता वसुधा ने शीघ्र बुलाया है। सीता अनिच्छापूर्वक पुनः चली जाती है।

पञ्चम अङ्क - सीता-विवाह के लिए सभा-भूमि सुसज्जित की गयी है। राजाओं के शक्ति-परीक्षणार्थ वज्रावर्त धनुष सभाभवन के मध्य स्थित है। राम और लक्ष्मण भी वहाँ पहुँच जाते हैं। महाराज जनक भी उपस्थित हैं। विनीता के साथ सीता भी सभाभवन में प्रवेश करती हैं।

गुरुदत्त नामक कञ्चुकी घोषणा करता है कि सीता-प्राप्ति के लिए धनुष पर प्रत्यञ्चा चढ़ाकर राजागण अपना यश संसार में प्रख्यात करें। कुछ लोग धनुष के समीप जाकर पुरुषार्थहीन हो गये। कुछ पग आगे जाकर पुनः लौट आये। कुछ लोग तो धनुष उठाते हैं और अपने मान के साथ छोड़ देते हैं। कुछ लोग उठकर वहीं बैठ गये और कुछ लोग खड़े ही नहीं हुए।

लक्ष्मण के कहने पर राम विश्वास के साथ धनुष को उठाते हैं और प्रत्यञ्चा चढ़ाकर धनुष को झुका देते हैं। कुछ लोक युद्ध के लिए सन्नद्ध होते हैं। पूर्व देवों के द्वारा भीयमान रामकीर्ति को सुनकर कि ये अष्टम बलभद्र हैं, तथा इनका प्रभाव महान् है, सब शान्त होकर राम को प्रणाम करते हैं।

जनक के द्वारा राम के लिए कन्यादान-विधि पूरी की जाती है और याचकों को प्रभूत दान दिया जाता है। अन्ततः -

"श्रोतुं मां समुपाश्रितं सुकृतिनः स्वीकुर्वतां दर्शनं,
ज्ञानं व्याप्रियतां स तामविहितं ज्ञेयेषु सर्वेष्वपि।
साधूनां समताबलं विभवताद् वृत्तं निवृत्ताक्षयं,
सूक्तिं सज्जत शंसनैकशरणा स्थेयात्कवीनां चिरम्।।"[1]

भरत-वाक्य में सम्यक्दर्शन, सम्यक् ज्ञान, सम्यक् चरित्र रूप रत्नत्रय-प्राप्ति की कामना के साथ नाटक समाप्त होता है।

सीता-स्वयंवर का वर्णन, विमलसूरि के पउमचरिय के उद्देश ३८ में और रविषेण के पद्मपुराण, पर्व ३८ में तथा स्वयंभू के पउमचरिउ, सन्धि २१ में दिया गया है। उक्त जैन पुराण ही प्रस्तुत नाटक के उपजीव्य स्त्रोत हैं। शृङ्गाररस प्रधान प्रस्तुत नाटक के धीरोदात्त नामक राम और मुग्धा नायिका सीताजी हैं। उनका वस्तुतत्त्व समीक्षण, नाट्यतत्त्व विवेचन, पात्रपरिशीलन और चरित्राङ्कन, शब्दार्थ-सौष्ठव, रसाभिव्यञ्जन, सरस-सरल-सुबोध एवं प्रवाहमय संवाद-संयोजन, नाट्यकाल विज्ञान-विज्ञापन, सहृदय हृदयावर्जक चित्तापकर्षक, दर्शक मनोविज्ञान हृदयहर्षक, साहित्यिक, प्राकृतिक, सामाजिक, धार्मिक एवं भारतीय प्राचीन सांस्कृतिक परिदृश्यावलियों का चित्रफलक स्वयं साक्षान्मूर्तिमान् "मैथिलीकल्याण" महान् नाटककार हस्तिकल्ल की रूपतामक अनन्या एवं अन्तिमा कृति है। जहाँ एक ओर नाटककार स्वयंवर संयोजकप्रिय है, वहीं दूसरी ओर सुभाषित शिरोमणि भी हैं और उनका समग्र कर्तृव्य सुक्तिसुधारत्नभाण्डागार हैं। क्योंकि उनकी स्वयं की मान्यता है कि - "वशीकरोति खलु कविजनं सुभाषितम्", एवं "कविः सूक्तिभिरेवात्मानं काव्यव्यसने विनोदयति।" साधारणतः स्त्रियों की मदनताप होता है किन्तु मैथिलीकल्याण में राम स्वयमेव स्मरपीडित हैं।[2] नाटककार की यह नवीन कल्पनाचातुर्य है। पदवाक्यप्रमाणज्ञ महाकवि हस्तिमल्ल जहाँ एक महान् नाट्यशास्त्रीय सिद्धान्तों के महापण्डित हैं, वहीं सङ्गीतशास्त्र, सैन्यविज्ञान, सैन्यसङ्गठन, दिव्यास्त्र, लौकिकास्त्र, एवं प्रक्षेपास्त्रादि के ज्ञाता, सैन्य संगामकलाकोविद, कामशास्त्र, राजनीतिशास्त्र, ज्योतिषशास्त्र, धर्मशास्त्र एवं मीमांसाशास्त्र प्रभृति विधाओं के भी मर्मज्ञ हैं।

ज्योतिष्प्रभानाटक - इस नाटक का प्रथम अभिनय शान्तिनाथ के जन्ममहोत्सव के अवसर पर हुआ था।[3] इसमें १६वें तीर्थङ्कर शान्तिनाथ के नवम् पूर्वभव के जीव अमित तेज विद्याधर और त्रिपृष्ट नारायण की पुत्री ज्योतिष्प्रभा का रोमाञ्चित चरित्र-वर्णन है। इसकी कथावस्तु का आधार गुणभद्र के उत्तरापुराण का ६२वाँ पर्व है। इसके रचयिता ब्रह्मसूरि

---

१. मैथिलीकल्याणम्, अङ्क ५, श्लोक-५०

२. वही, अङ्क २, श्लोक-२२

३. जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ४१३, प्रस्तुत नाटक बैंगलोर के संस्कृत मासिक पत्र "काव्याम्बुधि" में प्रकाशित (१९९३-९४), जिनरत्नकोश, पृष्ठ १५१

हैं[1], जो नाट्याचार्य हस्तिमल्ल के वंशज हैं। हस्तिमल्ल के लगभग १०० वर्ष बाद १५वीं शताब्दी में उनका जन्म समय माना जाता है। जैन-वाङ्मय-जगत् में इसके अतिरिक्त त्रिवर्णाचार और प्रतिष्ठासारोद्धार ग्रन्थ प्रसिद्ध हैं।

इसकी कथावस्तु इस प्रकार है -

वासुदेव की पुत्री ज्योतिःप्रभा विवाह के योग्य थी। वासुदेव ने इस विषय की चर्चा बलदेव से करता है। वह कहता है कि अमिततेज नामक विद्याधर तुम्हारी पुत्री के लिये योग्य वर है। अमिततेज के पिता अर्ककीर्ति और माता ज्योतिर्माला हैं। पिता पुत्र को एक पत्रिका देता है, जिसमें लिखा था कि वासुदेव अमिततेज को अपनी कन्या ज्योतिःप्रभा के स्वयंवर के लिए बुलाया है। नायिका की प्रतिकृति देखकर नायक मुग्ध हो जाता है। वह कहता है -

"विद्युत्प्रभाप्रतिकृतिः प्रकटीकरोति,
स्वरश्रीप्रभस्य मम दम्पतितांतयामा।
वर्धिष्णुरद्य मदनीहृदये मदीये,
पित्रोः पुरः किमु वदामि कथं स गामि।।"[2]

अमिततेज अपने पूर्वजन्म की कथा बताता है कि मैं रत्नपुरी में श्रीषेण था, और मेरी प्रेयसी ज्योतिःप्रभा सिंहनन्दा थी। स्वर्गलोक में श्रीप्रभ था और वह विद्युत्प्रभा थी। अब यही आपकी भगिनी की पुत्री उत्पन्न हुई है।

माता अमिततेज का हरिद्रा, तैल और उबटन से प्रसाधन करती है। अभिषेक और नीराजना भी करती है। इन्द्र, वर-यात्रा के लिए हार-केयूर आदि भेजता है। वरयात्रा प्रारम्भ होकर विजयार्धपर्वत पर पहुँचती है। नायिका वियोगज्वर से पीड़ित है। नायक पौदनापुर की ओर शीघ्रतापूर्वक गमनोत्सुक है। वायुयान द्वारा वह पौदनापुर के परिसर में उपस्थित होता है। ज्योतिःप्रभा की माता स्वयंप्रभा जामाता को देखने के लिए आती हैं। वासुदेव उन सभी का स्वागत करता है। नायिका नायक को देखकर मूर्च्छित हो जाती है। नायक भी वाष्पमग्न हो जाता है। यहीं नाटक समाप्त हो जाता है।

संस्कृत-वाङ्मय के इतिहास से ज्ञात है कि विद्यानाथ, ब्रह्मसूरि से लगभग ५० वर्ष पूर्व उत्पन्न हुए थे। यह सम्भव है कि नाटककार ब्रह्मसूरि ने विद्यानाथे के नाटक "प्रतापरुद्रकल्याण" का अनुकरण किया हो, क्योंकि दोनों नाटकों की शब्दावली एक जैसी

---

१. "प्रदोषे जायते प्राप्तः किं का मङ्गलवाचकम्।
किं रूपयन्तु तच्चेह ब्रह्मसूरिकृतिश्च का।।"

२. ज्योतिष्प्रभा कल्याण, अङ्क १, श्लोक-२०

हैं। जैसे दोनों नाटकों की प्रस्तावना में नटी कहती है-"इरिस..... चरिआणुऊलो णट्टाडम्बरो होइ णवेत्ति सज्झसेण वेअइ मे हिअअम्।" प्रस्तुत नाटक में यत्र-तत्र जैन जीवन-दर्शन की प्रतिकृति प्रस्तुत की गई है।[1] वस्तुतः, जैन-संस्कृति में पहले गृहस्थाश्रम के प्रति उदासीनता और नैराश्य भाव था, परन्तु यहाँ तो जैसे आश्रम व्यवस्था स्वीकार कर ली गयी हो।[2] इसमें विष्कम्भक ओर प्रवेशकादि सूच्यांश को अङ्कारम्भ के पूर्व ही रखा गया है। सरल, सुबोध भाषा और शैली में प्रवाहमयता है। पात्र-चरित्र-चित्रण और संवाद-योजना का सम्यक् रूपेण निर्वाह किया गया है। अलङ्कारमय शाब्दिक सङ्गीत-प्रयोचन के पति नाटककार का विशेषतः अनुराग प्रतीत होता है।

"चर्कर्तु दुन्दुभिध्वानं चर्कृतात् पूरलङ्कृतिम्।
कारं कारं घोषणानि चरीकर्तुं जिनार्चनम्।।"[3]

रम्भामञ्जरी - यह एक अपूर्ण सट्टक है।[4] इसकी मात्र तीन ही यवनिकायें समुपलब्ध हैं। भ्रमवश इसे "समाप्ता रम्भामञ्जरीनाटिका" कहा गया है। कवि ने स्वयं नट और सूत्रधार के माध्यम से "सट्टक" ही कहा है। प्रस्तुत सट्टक का प्रथम अभिनय वाराणसी में विश्वनाथ के यात्रामहोत्सव के अवसर पर हुआ था।

इसके नाटककार हम्मीर महाकाव्य के प्रणेता कुमारपाल भूपाल चरित्र के रचयिता कृष्णगच्छीय जयसिंह सूरि के शिष्य प्रसन्नचन्द्र सूरि के शिष्य थे। जैन भण्डार से इस काव्य की प्राचीनतम हस्तलिखित प्रति वि०सं० १४८६ की प्राप्त है। अतः इसकी रचना इसके पूर्व अवश्य हो चुकी थी। श्री मो० द० देसाई ने इस काव्य का रचनाकाल वि०सं० १४४० के लगभग माना है। डॉ० दशरथ शर्मा ने भी इसकी पुष्टि की है।[5] नयचन्द्रसूरि ने जयसिंह सूरि के 'कुमारपाल भूपालचरित' की टीका वि०सं० १४२२ में की थी। जयसिंह सूरि ने प्रसन्न होकर नयचन्द्रसूरि को "अवधनसावधानः प्रमाणनिष्ठः कवित्वनिष्णातः" सदृश

---

१. ज्योतिष्प्रभानाटकम्, अङ्क १, श्लोक-२४ :

"कायक्लान्तिः कामकेलौ कलास्वभ्यसनश्रमः।
सांसारिकं सुखं सर्वं मिश्रमेवावभासते।।"

२. वही, "धर्मोऽर्थः कामो मोक्ष इति पुरुषार्थचतुष्टय-क्रमवेदी किम् न त्यजति। आधारो गृहाश्रमी सर्वाश्रममिणामाहारादिदानविधानात्। न चेदनगाराणां कथं कायस्थितिः।"

३. वही, अङ्क १, श्लोक-२६

४. जिनरत्नकोश, पृष्ठ ३२६, रामचन्द्र शास्त्री और बी० केवलदास ने निर्णयसागर प्रेस, बम्बई से सन् १८८६ में प्रकाशित किया। प्राकृत साहित्य का इतिहास, पृष्ठ ६३३, प्राकृत भाषा और साहित्य का आलोचनात्मक इतिहास, डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, पृष्ठ ४२६-३१, नयचन्द्र और उनका ग्रन्थ रम्भामञ्जरी - डॉ० अ०ना० उपाध्ये, प्रेमी अभिनन्दन ग्रन्थ, पृष्ठ ४११।

५. नागरी प्रचारिणी पत्रिका, वर्ष ६४, वि०सं० २०१६, पृष्ठ-६७

विशेषणों से अभिहित किया था। उस समय नयचन्द्र सूरि की आयु लगभग ३० वष रही होगी। इन्होंने वि०सं० १४४० के लगभग हम्मीर महाकाव्य की रचना की होगी। तोमरनरेश वीरमदेव के राज्यकाल में इस काव्य की रचना हुई थी। वीरमदेव ने वि०सं० १४४९ तक राज्य किया था। यदि वि०सं० १४४० को वीरमदेव का प्रथम राज्यवर्ष माना जाय तो उसका राज्यकाल ४० वर्ष के लगभग सम्भव है। उस समय नाटककार ५० वर्ष के लगभग रहे होंगे। अतः उक्त के आलोक में काव्य की रचना लगभग वि०सं० १४५० के पूर्व हुई है। रम्भामञ्जरी का भी रचनाकाल १३-१४वीं शताब्दी के लगभग माना जा सकता है।

जयसिंह ही जैत्रसिंह हैं। वह काशी और कन्नौज के राजा ११७० से ११९३ ई. तक था। इस प्रमाण से भी उक्त कथन की ही पुष्टि हो रही है।

इस सट्टक की कथावस्तु इस प्रकार है -

वसन्तर्तु का समय है। जयचन्द्र अपनी सात रानियों, विदूषक और समस्त परिजनों के साथ आम्रवण में उपस्थित होता है। राजा नारायणदास को नायिका रम्भा से विवाह सम्बन्धी समाचार जानने के लिए भेजता है। उसका परिचय है -

"जाता किर्मीरवंशे जगज्जनमहिते पौत्रिका देवराजस्य,
रूपेण शैलजाया नृपमदनसुता कङ्कणोद्भासिहस्ता।
राज्ञा हंसेन दत्ताप्यपहृता मातुलेन शिवेन,
रम्भा रम्भेव प्राप्ता त्वमप्यभिमुखमेहीन्द्र इव किमपि।।"

वह लाट देश के राजा मदनवर्मा की कन्या थी। पुरोहित वैदिक मन्त्र-विधि से दोनों का विवाह सम्पन्न कराता है। स्त्रियाँ अलूलुगीत गाते हैं। वादन-गायन और नर्तन होता है। रात व्यतीत हो गयी। नायिका अन्तःपुर में प्रविष्ट होती है।

नायक रात्रिकाल में नायिका के लिए समुत्सुक है, व्याकुल है। चेटी और विदूषक इस दिशा में प्रयत्न करते हैं। अशोक वृक्ष की शाखा पर चढ़कर चेटी नायिका को उतारती है। नायक-नायिका की प्रणय-क्रीड़ा सम्पन्न होती है। इस स्नेहिल क्षणों में राजा रम्भा का नामोच्चारण करता है। वह कहती है कि इस वसन्त में उस अनाथ को सनाथ करें। वह आपको आनन्द प्रदान करे।[1] राजा के मदनविनोद-क्रीड़ा के लिए रम्भा आती है। प्रणयालाप के साथ क्रीडासरम्भ भी प्रारम्भ है। प्रातःकाल की सूचना वैतालिकों के द्वारा होती है।

---

१. रम्भामञ्जरी, अङ्क ३, श्लोक-६ :
"सुरहिसमारम्भेणं महमहिया मञ्जरी व चूयस्स।
जणयदु वुह आणन्दं नोहलिया सा कुरंगच्छी।।"

नायक और नायिका की प्रणय-लीला समाप्त होती है और सट्टक भी विराम को प्राप्त होता है।

रूपक में वर्जित दृश्यों - आलिङ्गन, चुम्बन, सुरतव्यापार, मनोविनोद-क्रीडा एवं अनङ्गलीला प्रभृति का वर्णन है। जगद्विजय छन्द का प्रयोग है।[1] संस्कृत और प्राकृत भाषा का अद्भुत सङ्गम है। नायक संस्कृत में प्रश्न करता है, नायिका प्राकृत में उत्तर देती है। शृङ्गार अङ्गी रस है। सर्वत्र उसका ही बाहुल्य है। अन्यान्य अवसरों पर अन्य रसों का भी प्रयोग है। जयचन्द्र (जैत्रसिंह) का वर्णन, प्रबन्धचिन्तामणि, पुरातन प्रबन्ध संग्रह एवं प्रबन्धकोश में प्राप्त है। राजा का उपनाम "पङ्गु" या "पङ्गुल" का सन्दर्भ प्रबन्धकाव्यों में भी सुलभ है। नायक गहढ़वाल जैत्रचन्द्र ऐतिहासिक पुरुष था। प्रस्तुत सट्टक राजशेखर की कर्पूरमञ्जरी का अनुकरण मात्र है। वसन्त-वर्णन, विदूषक और चेटी के मध्य कलह, वियोगी नायक का प्रतीहार द्वारा प्रकृति-वर्णन, चित्ताकर्षण करना, विदूषक का स्वप्न-दर्शन, अशोक, बकुल और कुरबल द्वारा नायक की वासनाओं का उत्तेहित होना आदि प्रसङ्ग हठात् कर्पूरमञ्जरी का ही स्मरण दिलाते हैं। सट्टक में संस्कृत, प्राकृत एवं मराठी छन्दों का अद्भुत प्रयोग किया गया है। सट्टक में संस्कृत-प्रयोग, शास्त्र सम्मत न होकर व्यतिवम सूचक है।

ज्ञानचन्द्रोदय नाटक - इसकी विषयवस्तु ज्ञात नहीं है।[2] श्रीकृष्णमिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय के उत्तर में सम्भवतः प्रस्तुत नाटक का लेखन हुआ है। इसके रचयिता पद्मसुन्दर उपाध्याय, नागौरगन्छ के उच्चकोटि के विद्वान् थे। उनके गुरु का नाम पद्ममेरु और प्रगुरु का आनन्द मेरु था। पद्मसुन्दर अपने युग के प्रभावक आचार्य थे। सम्राट् अकबर की सभा में ३३ हिन्दू सभासदों के पाँच विभागों में से उनका नाम प्रथम विभाग में था। 'ज्ञानचन्द्रोदय' नाटक के अतिरिक्त भविष्यदत्तचरित, रायमल्लभ्युदय, पार्श्वनाथकाव्य, प्रमाणसुन्दर, सुन्दर प्रकाश शब्दार्णव (कोष), शृङ्गारदर्पण, जम्बूचरित (प्राकृत), हायनसुन्दर (ज्योतिष) और अनेक लघु कृतियाँ। इनका रचना काल वि०सं० १६२६ और वि०सं० १६३६ के मध्य माना जा सकता है। उनकी मृत्यु वि०सं० १६३६ में हुई थी।[3]

ज्ञानसूर्योदयनाटक - यह एक संस्कृत नाटक है।[4] इसका भी प्रणयन श्रीकृष्ण मिश्र के प्रबोधचन्द्रोदय के उत्तर के रूप में हुआ था। प्रबोधचन्द्रोदय में क्षपणक (दिगम्बर जैन मुनि)

---

१. द्रष्टव्य, सागरिका, वर्ष-७, अङ्क २ में 'जयद्विजयच्छन्दस्याधिकरणम्।'

२. जिनरत्नकोश, पृष्ठ-१४७

३. अनेकान्त, वर्ष-४, अङ्क ८, अमरचन्द्र नाहटा- उपाध्याय पद्मसुन्दर और उनके ग्रन्थ, वही, वर्ष-१०, अङ्क १, "कवि पद्मसुन्दर और श्रावक रायमल्ल", नाथूराम प्रेमी-जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३९५-४०३।

४. जैन साहित्य और इतिहास, पृष्ठ ३८५

पात्र का अतीव निन्दित एवं घृणित रूप में वर्णन किया गया है। दोनों नाटकों में कहीं साम्य है तो कहीं वैषम्य भी परिलक्षित होता है। ज्ञानसूर्योदय की अष्टशती, प्रबोधचन्द्रोदय की उपनिषद् है। काम, क्रोध, लोभ, दम्भ, मन, विवेक आदि परस्पर पात्र साम्य हैं। ज्ञानसूर्योदय की दया, प्रबोधचन्द्रोदय की श्रद्धा है। अष्टशती का पति "प्रबोध" है और उपनिषद् का पति "पुरुष" है। दोनों नाटककारों ने समान रूप से बौद्धों का उपहास किया है।

इसके रचयिता मूलसंघ के भट्टारक ज्ञातभूषण के प्रशिष्यस और प्रभाचन्द्र के शिष्य थे। इन्होंने उक्त नाटक की वि०सं० १६४८ मधूकनगर (महुआ-गुजरात) में समाप्त किया था।[1] इनकी अन्य कृतियाँ-पवनदूत, पार्श्वपुराण (१७वीं शताब्दी), पाण्डवपुराण (वि०सं० १६५४), यशोधरचरित, सुलोचनाचरित (वि०सं० १६६१), श्रीपाल-आख्यान, होलिकाचरित्र एवं अम्बिका-कथा हैं।

मेघविजयगणि कृत "युक्तिप्रबोधनाटक"[2] में वाणारसीय (दिगम्बर तेरह पन्थ) मत का खण्डन किया गया है। इस पर स्वोपज्ञ टीका भी उपलब्ध है।

जिनरत्नकोश में कवि अर्हद्दास द्वारा विरचित "अञ्जनापवनञ्जय"[3] का उल्लेख है।

केशवसेन भट्टारक कृत "ऋषभदेव निर्वाणानन्द"[4] नाटक का उल्लेख मात्र प्राप्त होता है।

आगमगच्छेश मलयचन्द्र सूरि कृत "मन्मथमथननाट्य" (स्थूलभद्रनाटक) उल्लेखनीय है।[5]

• • • •

---

१. ज्ञानसूर्योदय, श्लोक ३ त्र
"वसुवेदसाब्जाङ्के माघे सिताष्टमी दिवसे।
श्रीमन्मधूकनगरे सिद्धोऽयं बोधसंरम्भः।।"

२. जिनरत्नकोष, पृष्ठ ३२०।

३. वही, पृष्ठ ४।

४. वही, पृष्ठ ५७।

५. गायकवाड़ प्राच्यविद्या संस्थान की पत्रिका (१९६६-६७) में प्रकाशित है। इसकी रचना आचार्य स्थूलभद्र और कोशा (वेश्या) के उपाख्यान पर की गयी है।

प्रतीक नाटक

- डॉ० रमाकान्त झा

प्रतीक विधान की परम्परा वैदिक साहित्य में अति प्राचीन काल से विद्यमान है। वैदिक वाङ्मय में विभिन्न अङ्गों और ज्ञानेन्द्रियों की तुलनात्मक उत्कृष्टता का बहुधा वर्णन कथोपकथनों तथा क्रियाओं द्वारा किया गया है। वाक् एवं मन तथा प्राण एवं पञ्चेन्द्रियों के पारस्परिक संवाद[1] इसके उदाहरण हैं। महाभारत जैसे आर्ष महाकाव्य तथा पञ्चतंत्र सदृश कथासाहित्य में पशु-पक्षियों का मानवीकरण किया गया है और उनके कथोपकथनों के माध्यम से मानव जीवनोपयोगी नैतिक शिक्षाएं मिलती हैं। परवर्ती साहित्य में इस नाटकीय परिदृश्य का उपयोग दर्शन के विशिष्ट सम्प्रदाय के सिद्धान्तों तथा धार्मिक विचारों की व्याख्या के लिए किया गया है।[2]

संस्कृत साहित्य में कुछ ऐसे भी नाटक हैं, जिनमें अमूर्त गुणों अथवा भावों को पात्रों के रूप में मञ्च पर उपस्थित किया जाता है। ऐसे नाटकों को 'प्रतीक' नाटक कहा जाता है।[3] इस शैली के नाटकों की प्रथम विशेषता मानव मन के सूक्ष्म तत्त्वों को पात्रों के रूप में प्रदर्शित करके अध्यात्म के दुर्ज्ञेय रहस्यों को बोधगम्य बनाने का प्रयास में झलकती है।[4] इस प्रकार के नाटकों में कृष्ण मिश्र का 'प्रबोध चन्द्रोदय' प्रमुख है। 'प्रबोध चन्द्रोदय' के अनुकरण पर कतिपय परवर्ती कर्णपूर, गोकुलनाथ आदि नाटककों ने क्रमशः 'चैतन्य चन्द्रोदय', 'अमृतोदय' आदि प्रतीक नाटकों की रचना की है, जिनका उद्देश्य अन्य दार्शनिक मतों का खण्डन कर अपने दार्शनिक सिद्धान्तों को प्रतिष्ठापित करना है।

कृष्णमिश्र

कृष्ण मिश्र हंस सम्प्रदाय के एक संन्यासी थे। वे शंकर के अनुयायी तथा अद्वैत सिद्धान्त के प्रचारक थे। ऐसा कहा जाता है कि उनके अनेक शिष्यों में एक शिष्य दर्शनके अध्ययन का विरोधी था, उसे मार्ग पर लाने के लिए 'श्रीमद्भागवत' के 'पुरञ्जनोपाख्यान' की रूपरेखा के आधार पर उन्होंने 'प्रबोध चन्द्रोदय' नामक नाटक की रचना की।[5]

---

१. (क) कृष्णयजुर्वेद, II, V, xi-4

(ख) बृहदारण्यकोपनिषद्, अध्याय VI

२. एम० कृष्णचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६७६)

३. डा० सूर्यकान्त, संस्कृत वाङ्मय का विवेचनात्मक इतिहास, पृ० २४०।

४. डा० दशरथ ओझा, हिन्दी नाटकः उद्भव और विकास, पृ० १५२।

५. एम० कृष्णामाचारी, हिस्ट्री आऊ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६७६।

जेजाकभुक्ति के चन्देल राजा कीर्तिवर्मा की उपस्थिति में 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक का अभिनय हुआ था, जिसका १०६८ ई० का अभिलेख उपलब्ध है। गोपाल ने १०४२ ई० में विद्यमान चेदिराज कर्ण द्वारा पराजित कीर्तिवर्मा को उसका राज्य लौटा दिया था। अनुमानतः कीर्तिवर्मा का सेनापति था।[1]

कीर्तिवर्मा का समकालीन मालवा का राजा भोज परमार था। कलचुरि राजा कर्णदेव को पराजित कर गोपाल ने कीर्तिवर्मा को राज्य पर पुनः प्रतिष्ठापित किया। इस घटना का उल्लेख 'प्रबोध चन्द्रोदय' की प्रस्तावना में मिलता है।[2] 'प्रबोध चन्द्रोदय' नाटक में उल्लिखित कीर्तिवर्मा चन्देलवंश का एक पराक्रमी राजा था। वह राजा विजयपाल का पुत्र था, जो अपने ज्येष्ठ भ्राता देववर्मा के बाद सिंहासन पर बैठा था। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर कीर्तिवर्मा का समय ११वीं शती का उत्तरार्ध है[3], अतः कीर्तिवर्मा के समकालिक कृष्णमिश्र का समय ११वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है।

प्रबोध चन्द्रोदय –

कृष्णमिश्र का 'प्रबोध चन्द्रोदय'[4] संस्कृत नाट्यसाहित्य में एक नवीन 'प्रतीक नाटक' विधा का प्रवर्तक है। यह एक गम्भीर दार्शनिक नाटक है। इसमें छः अङ्क हैं, जिनमें मानव हृदय की समस्त वृत्तियों के अन्तर्विरोध का सफल चित्रण है। इस चित्रण में मानवहृदय की दो स्वाभाविक वृत्तियों के चित्र हैं जिनमें एक पक्ष की वृत्तियाँ आत्मज्ञान की ओर प्रवृत्त होती हैं और दूसरे पक्ष की वृत्तियाँ भैतिकसुख की ओर उन्मुख होती हैं। इसमें मन के दो शक्तिशली पुत्रों के विरोध की परिकल्पना है। ये दोनों सौतेले भाई जो मन की दो स्त्रियों--प्रवृत्ति तथा निवृत्ति से उत्पन्न हैं। इनका नाम क्रमशः 'मोह' तथा 'विवेक' है। मरेह के परिजन काम, रति, लोभ, हिंसा, अहंकार, आदि हैं। मोह का पौत्र दम्भ है, जो लोभ और तृष्णा से उत्पन्न है। मिथ्यादृष्टि एक कुलटा के रूप में वर्णित है। भौतिकता का प्रतिनिधित्व चार्वाक करता है। विवेक के परिजन मति, करुणा, शान्ति, श्रद्धा, संतोष, वस्तुविचार आदि हैं। विवेक कुछ समय के लिए मोह से पराजित-सा प्रतीत होता है, किन्तु अन्ततः वह विजयी होता है। विवेक की विजय में विष्णुभक्ति का सहयोग विशेष महत्त्व रखता है।

---

१. ए.बी. कीथ, संस्कृत नाटक हि० सं०, पृ० २६५।

२. गोपालो भूमिपालान् प्रसममसिलतामात्र मित्रेण जित्वा।
साम्राज्ये कीर्तिवर्मा नरपतितिलको येन भूयोऽभ्यसेचि।। – प्रबोधचन्द्रोदय ११४

३. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६४०।

४. दो टीकाओं के साथ निर्णय सागर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित। चौखम्बा विद्याभवन ग्रन्थमाला १४ में रामचन्द्रमिश्र कृत 'प्रकाश' टीकायुक्त १६५५ में प्रकाशित।

इस मुख्य कथावस्तु के साथ श्रद्धा और शान्ति की कथा भी जोड़ दी गई है। शान्ति अपनी माता श्रद्धा से बिछुड़ गई है। श्रद्धा पर दुष्प्रवृत्तियों का आक्रमण होता है, किन्तु विष्णुभक्ति उसे बचा लेती है। इस प्रसंग में निपुणतापूर्वक जैन, बौद्ध और पाशुपत मतों में श्रद्धा का अभाव दिखाया गया है। अनेक संघर्षों के बाद सत्यपक्ष की विजय होती है। मन अपने पुत्र मोह और पत्नी प्रवृत्ति के वियोग में दुःखी है, किन्तु सत् सिद्धान्त वेदान्त द्वारा प्रबोधित होने पर धैर्यपूर्वक निवृत्ति को पत्नी के रूप में स्वीकार करता है। अन्त में विवेक का उपनिषद् से मिलन होता है और उससे उत्पन्न प्रबोध और विद्या से सबकी संसारनिवृत्ति होती है।

वैशिष्ट्य –

छः अङ्कों के इस प्रतीक नाटक में वैष्णवमत के अद्वैत सिद्धान्त का प्रतिपादन किया गया है, उसमें वैष्णव धर्म के साथ वेदान्त का समन्वय है। नाटककार ने जिस कुशलता से महाभारत में वर्णित एक वंशीय लोगों के संघर्ष और नाटिका के रीतिबद्ध कथानक तथा शृङ्गार रस का समावेश किया है अथवा जिस युक्ति से वेदान्त के ब्रह्मवाद तथा वैष्णवभक्ति का समन्वय किया है, वह अत्यन्त सफल है।[1]

गम्भीर भावप्रधान दार्शनिक विचारों को आधार बनाकर एक मनोरञ्जक नाटक नाटक प्रस्तुत करना कठिन है, किन्तु इस कठिनता की स्थिति में भी यह नाटक अधिक सफल है। इसमें मानव मन के शाश्वत संघर्ष का जो कलात्मक चित्र उपस्थित किया गया है, वह वस्तुतः मनोरम है। यह नाटक संस्कृत नाट्यपरम्परा के अनुसार सुखान्त है तथा कथेपकथनादि अपेक्षित नाटकीय गुणों की दृष्टि से भी निर्दोष है। सैद्धान्तिक दृष्टि से यह नाटक अद्वैत वेदान्त एवं विष्णुभक्ति का समन्वयात्मक रूप प्रस्तुत करता है। मोहपाश में फंसा मनुष्य अपने सत्यस्वरूप को भूल जाता है। विवेक के द्वारा जब मोह का पराजय होता है तभी पुरुष को शाश्वत ज्ञान उत्पन्न होता है। विवेकपूर्वक उपनिषद् के अध्ययन से तथा विष्णुभक्ति के आश्रय से ज्ञानरूपी चन्द्रमा का उदय होता है, इस नाटक का यही प्रतिपाद्य विषय है।[2]

इस नाटक की प्रतीकात्मकता बुद्धिगम्य एवं तर्कसंगत है। कथानक भावात्मक होकर भी नीरस नहीं, अपितु रोचक है। दर्शकों में अन्त तक उत्सुकता बनी रहती है। इसकी भाषाशैली दार्शनिक जटिलता से मुक्त है। प्रसाद की सहज स्वच्छ धारा मानव मन को आप्लावित करती है। किसी वस्तु का स्वाभाविक वर्णन उस वस्तु की वास्तविक रूपरेखा को उपस्थित कर देता है। क्रोध का निसर्ग चित्रण कितना सटीक है –

१. ए०बी० कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २६७।

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६४०।

अन्धीकरोमि भुवनं बधिरीकरोमि, धीरं सचेतनमचेतनतों नयामि।
कृत्यं न पश्यति न येन हितं शृणोति, धीमानवीतमपि न प्रतिसन्दधाति।।[1]

जहाँ तक अभिनय की बात है, प्रतीक नाटकों में पात्रों के मानवीकरण में जितनी सजीवता रहेगी, अभिनय भी उसी मात्रा में सफल होगा। प्रस्तुत नाटक में भावों का मानवीकरण अत्यन्त सजीव है अतः यह एक सफल अभिनेय नाटक है। यही एक ऐसा नाटक है, जिसमें शान्तरस को मञ्च पर उपस्थित किया है। अद्वैतत्त्व की छाया में विद्या, भक्ति तथा ज्ञान का सशक्त निरूपण इस नाटक की विशेषता है।

प्रबोधचन्द्रोदय

'प्रबोधचन्द्रोदय' प्रतीक नाटक है अतः इसमें तथ्यों का वर्णन विषयानुकूल है। मैत्री की उक्ति में मैत्री, करुणा, मुदिता, उपेक्षा इन चार वृत्तियों का वर्णन अत्यन्त सटीक है -

ध्यायन्निमां सुखिनि दुःखिनि चानुकम्पां पुण्य क्रियेषु मुदितां कुमतामुपेक्षाम्।
एवं प्रसादमुपयाति हि रागलोभद्वेषादिदोषकलुषोऽप्ययमन्तरात्मा।।

(प्रबोध० ४/५)

सुखियों के ऊपर मित्रता, दुःखियों के ऊपर करुणा, धर्मात्माओं में मुदिता और दुर्बुद्धियों के ऊपर उपेक्षावृत्ति रखने से रागद्वेषयुक्त भी अन्तरात्मा प्रसन्नता को प्राप्त करता है।

संतोषवृत्ति का एक उदाहरण द्रष्टव्य है -

फलं स्वेच्छालभ्यं प्रतिवनमखेदं क्षितिरुहां
पयः स्थाने स्थाने शिशिरमधुरं पुण्यसरिताम्।
मृदु स्पर्शा शय्या सुललितलतापल्लवमयी
सहन्ते सन्तापं तदपि धनिनां द्वारि कृपणाः।। (प्रबोध० ४/१६)

प्रत्येक वन में वृक्षों के फल बिना यत्न के मिल जाते हैं, पवित्र नदियों के मधुर शीतल जल भी सर्वत्र उपलब्ध हैं। लता पल्लव निर्मित सुखद शय्या भी सब जगह सुलभ हैं, फिर भी याचकजन धनिकों के दरवाजे पर कष्ट सहते हैं।

प्रबोध के उदय होने पर संसार विषयक समस्त वितर्क नष्ट हो जाता है, इस तथ्य का प्रतिपादन नाटक के उपसंहार में किया गया है -

---

१. ए०बी० कीथ, संस्कृत नाटक, पृ० २३८।

किं वाप्तं किमपोहितं किमुदितं किं वा समुत्सारितं
स्यूतं किं नु विलायितं नु किमिदं किञ्चन्न वा किञ्चन।
यस्मिन्नभ्युदिते वितर्कपदवीं नैवं समारोहति
त्रैलोक्यं सहजप्रकाशदलितं सोऽहं प्रबोधोदयः।।(प्रबोध० ६/२६)

यशःपाल

यशःपाल अमात्य धनदेव और मोढ़ बनिया जाति की रुक्मिणी के पुत्र थे। वे चक्रवर्ती अभयदेव के कृपापात्र थे। अभयदेव प्रसिद्ध चालुक्यवंशी गुजरात नरेश कुमार पाल के बाद गुजरात के राजा बने। उनका राज्यकाल १२२६ ई० से १२३२ था।[1] प्रसिद्धि है कि यशःपाल अभयदेव के मंत्री थे।[2] यशःपाल उन प्रसिद्ध व्यक्तियों में थे, जिन्होंने १२५२ सम्वत् में शान्तिनाथ के मन्दिर में मुनिरत्न के 'अमामस्वामिचरित' के प्रथम पाठ को सुना था।[3] अभयदेव के समकालिक यशःपाल का समय १३वीं शती है।

मोहराज पराजय –

जैन प्रतीकनाटक के रूप यशःपाल का 'मोहराज पराजय'[4] महत्त्वपूर्ण हे। पाँच अङ्कों के इस नाटक में राजा कुमारपाल द्वारा जैनधर्म को दी गई सहायता का वर्णन है। यह नाटक सर्वप्रथम कुमारविहार में महावीर के उत्सव के समय अभिनीत हुआ था। एक मान्यता के अनुसार सबसे पहले इस नाटक का अभिनय 'धारापद', जो सम्भवतः मारवाड़ की राजधानी थी, में हुआ था।[5] गुजरात नरेश कुमारपाल का हेमचन्द्र की प्रेरणा से जैनधर्म में दीक्षित होना, पशुहिंसा का निषेध तथा निःसन्तान मृत्युप्राप्त व्यक्ति की सम्पत्ति को राज्याधीन न करना आदि इसके मुख्य प्रतिपाद्य विषय हैं। इसमें कुमारपाल, हेमचन्द्र तथा विदूषक मनुष्य पात्र हैं, शेष पुण्यकेतु विवेक, कृपासुन्दरी, मोह, व्यवसायसागर आदि अमूर्त पात्र शोभन-अशोभन गुणों के प्रतीक हैं। इस प्रकार इसमें कल्पित और वास्तविक पात्रों का परस्पर सम्मिलन विशेष रूचिकर है। नाटक का आरम्भ नान्दी से होता है। उसके तीन पद्यों में तीर्थंकरों – ऋषभ, पार्श्व और महावीर को वन्दना है। तत्पश्चात् सूत्रधार और नटी का सम्वाद है। उसके बाद विदूषक के साथ कुमारपाल रङ्गमञ्च पर आता है। उसी समय मोहराज की गतिविधि का पता लगाकर ज्ञानदर्पण नामक पर प्रवेश करता है और वह

---

१. डा० श्याम शर्मा, संस्कृत के ऐतिहासिक नाटक, पृ० ४७६।

२. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६७६।

३. गायकवाड ओरियण्टल सीरीज नं० १६१८, बड़ौदा से प्रकाशित।

४. एम० कृष्णामाचारी, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६७६।

सूचित करता है कि मोहराज ने जनमनोवृत्ति पर सफल आक्रमण किया है और राजा विवेक विवश होकर पत्नी शान्ति और पुत्री कृपासुन्दरी के साथ भाग गया है। उसी चर के द्वारा कुमारपाल को यह सूचना भी मिलती है कि मोहराज उस पर भी आक्रमण करना चाहता है। कुमारपाल मोहराज को पराजित करने की प्रतिज्ञा करता है।

प्रवेशक में अमात्य पुण्यकेतु के द्वारा ज्ञात होता है कि हेमचन्द्र के आश्रम में पहुँचकर विवेक कुमारपाल से मिला है और कुमारपाल की स्नेहदृष्टि विवेकपुत्री कृपासुन्दरी पर पड़ी है। द्वितीय अङ्क में कुमारपाल विदूषक के साथ परम्परागत ढंग से छिपकर कृपासुन्दरी तथा उसकी सखी सोमता की बातें सुनने की इच्छा करता है और अन्ततः उससे बातचीत भी करता है। उसी समय रानी राज्यश्री अपनी सखी रौद्रता के साथ वहाँ आ जाती है और राजा उससे क्षमा याचना करता है।

तृतीय अङ्क में अमात्य पुण्यकेतु प्रेमीयुगल के प्रेममार्ग की बाधा को एक चतुर युक्ति से दूरकर दोनों को मिलने का अवसर प्रदान करता है। पुण्यकेतु अपनी एक सेविका को उस देवीमूर्ति के पीछे बैठा देता है, जिसके समीप जाकर रानी अपनी भावी सौत को विरूप कर देने का वर मांगती है। इस प्रकार रानी को देवी की ओर से संकेत मिलता है कि कृपासुन्दरी के साथ विवाह के उपरान्त ही राजा मोहराज को पराजित कर सकता है। रानी इस संकेत को देवी का हस्तक्षेप मानकर कृपासुन्दरी का विवाह राजा के साथ करने का आग्रह करती है। विवेक अपनी कन्या कृपासुन्दरी का विवाह राजा के साथ करने के लिए सहमत हो जाता है, किन्तु वह आग्रह करता है कि सात व्यसन निर्वासित कर दिए जाएं और सन्तानहीन मरने वाले व्यक्ति की सम्पत्ति को राज्याधीन करने की प्रथा बन्द कर दी जाए। विवेक का यह आग्रह स्वीकार कर लिया जाता है।

सात व्यसनों के निर्वासन के आग्रह का पालन चतुर्थ अङ्क में किया जाता है। दाण्डपाशिक द्यूत, मांसभक्षण, मद्यपान, मारि (हत्या), चौर्य, पारदारिकत्व और वेश्यागमन इन सात व्यसनों को निर्वासित करने में प्रवृत्त होता है। पंचम अङ्क में राजा कुमारपाल हेमचन्द्र के योगशास्त्र और वीतरागस्तुति से सज्जित होकर मोहराज के सुरक्षित स्थानों का निरीक्षण कर उससे युद्ध करता है और अन्ततः उसे पराजित करता है। विवेक को अपना राज्य प्राप्त होता है। भरतवाक्य में राजा जिन और हेमचन्द्र की प्रशंसा के साथ यह कामना करता है – 'मेरा यश चन्द्र के साथ मिलकर मोह के अन्धकार को दूर करने में समर्थ हो।'

नाटकीय गुणों की दृष्ट से यह नाटक महत्त्वपूर्ण है। यह सरल संस्कृत में रचित है और इसकी एक विशेषता यह है कि इसमें कुमारपाल के राज्य का नियमन करने वाली जैनधर्म की गतिविधियों का स्पष्ट निर्देश है। इससे गुजरात के इतिहास के विषय में

असभ्य कोटि प्रवृत्ति है, वीर रस में एक दूसरे को अपमानित करने की वृत्ति है तथा अद्भुत की गति स्वभावतः विरुद्ध है। अतः शान्त ही निःसंदिग्ध वास्तव रस है।'

कर्णपूर -

महाप्रभु चैतन्य के पार्षद शिवानन्द सेन के पुत्र परमानन्द दरस का जन्म १५२४ ई० में हुआ। चैतन्यदेव ने इन्हें 'कर्णपूर' की उपाधि से विभूषित किया।[२] किंवदन्ती है कि परमानन्द दास ने सात वर्ष की अवस्था में ही एक भावपूर्ण श्लोक[३] की रचना की जिसे सुनकर चैतन्यदेव ने कहा- 'तूने सबसे पहले व्रजाङ्गनाओं के कानों के आभूषण का वर्णन किया है, अतः तू कवि होगा और कर्णपूर के नाम से तेरी ख्याति होगी।' तभी से परमानन्द दास कवि 'कर्णपूर' के नाम से प्रसिद्ध हुए। चैतन्य महाप्रभु के समकालिक एवं उनके शिष्य होने के कारण कर्णपूर का समय १६वीं शती माना जाता है। कर्णपूर ने स्वयं चैतन्यदेव के अवतार और अपने नाटक 'चैतन्य चन्द्रोदय' के रचनाकाल का उल्लेख किया है -

शाके चतुर्दशशते रविवाजियुक्ते गौरो हरिर्धरणिमण्डल आविरासीत्।
तस्मिंश्चतुर्नवति भाजि तदीय भक्त्या ग्रन्थोऽयमाविरभवत् कतमस्य वक्त्रात्।।

-चैतन्य चन्द्रोदय, उपसंहार श्लो० ४

उपर्युक्त श्लोक के साक्ष्य से यह सिद्ध होता है कि चैतन्यदेव का आविर्भव १४०७ शाके तदनुसार १४८५ ई० में हुआ तथा चैतन्यचन्द्रोदय की रचना १४९४ शाके तदनुसार १५७९ ई० में हुई। फलतः कर्णपूर का समय निर्विवाद रूप से १६वीं शताब्दी है।

चैतन्य चन्द्रोदय -

कवि कर्णपूर द्वारा लिखित नव ग्रन्थों में 'चैतन्य चन्द्रोदय'[४] प्रमुख प्रतीक नाटक है। इसकी रचना जगन्नाथ क्षेत्र के अधिपति गजपति प्रतापरुद्र की आज्ञा से हुई थी। उस

---

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ. ६४२

२. असभ्यपरिपाटिकामधि करोति शृंगारिता, परस्परतिरस्कृतिं परिचिनोति वीरायितम्।
विरुद्धगतिरद्भुतस्तदमल्पसारैः परैः, शमस्तु परिशिष्यते शमितचित्तखेदो रसः।।"
संकल्पसूर्योदय का यह श्लोक संस्कृत साहित्य का इतिहास (आ०बलदेव उपाध्याय) के पृ० ६४२ में उद्धृत।

३. श्रवसोः कुवलयमक्ष्णोरञ्जनमुरसो महेन्द्रमणिदाम।
.....

' चैतन्य चन्द्रोदय' नाटक की भूमिका, पृ० १३ में उद्धृत।)

४. प्रथम संस्करण एशियाटिक सोसाइटी द्वारा प्रकाशित। द्वितीय संस्करण काव्यमाला, निर्णय सागर प्रेस से प्रकाशित। तृतीय संस्करण चौखम्बा संस्कृत सीरीज, वाराणसी से १९६६ में प्रकाशित।)

समय कर्णपूर की अवस्था ५५ वर्ष की थी, अतः यह उनकी प्रौढावस्था की कृति मानी जाती है।[1] चैतन्य चन्द्रोदय में दस अङ्क हैं। महाप्रभु चैतन्यदेव के जीवनवृत्त को जानने के लिए यह नाटक अत्यन्त प्रामाणिक एवं उपादेय है। कवि कर्णपूर ने महाप्रभु के जीवन चरित को स्वयं अंशतः देखा और अंशतः प्रामाणिक भक्तों के मुख से सुना था, अतः इसकी प्रामाणिकता निःसंदिग्ध है। इस नाटक में चैतन्यदेव के अवतार से लेकर मथुरागमन तक का चरित्र अंकित है। नाटक के अङ्कों के नाम से ही कथानक स्पष्ट हो जाता है -

प्रथम अङ्क	–	स्वानन्दावेश (अवतार शक्तिग्रहण)
द्वितीय अङ्क	–	सर्वावतारदर्शन (शक्ति प्रकाशन)
तृतीय अङ्क	–	दान विनोद (लीला प्रकटन)
चतुर्थ अङ्क	–	सन्यास परिग्रह
पञ्चम अङ्क	–	अद्वैतपुर विलास
षष्ठ अङ्क	–	सार्वभौमानुग्रह
सप्तम अङ्क	–	तीर्थाटन
अष्टम अङ्क	–	प्रतारुद्रानुग्रह
नवम अङ्क	–	मथुरागमन
दशम अङ्क	–	महामहोत्सव

इस नाटक के पात्रों में मूर्त और अमूर्त दोनों प्रकार के पात्रों का सम्मिश्रण है। अमूर्त पात्रों में भक्ति, विराग, कलि, अधर्म आदि हैं। मूर्त पात्रों में चैतन्य तथा उनके प्रमख शिष्य हैं। चैतन्य के भक्ति सिद्धान्त का प्रतिपादन इस नाटक का मुख्य लक्ष्य है। 'चैतन्य चन्द्रोदय' कर्णपूर की मधूर नाट्यकृति है, जिसमें सहृदय प्रेक्षकों को भक्तिरस के आस्वादन का अपूर्व अनुभव होता है।

श्लेष अलंकार के माध्यम से अर्थस्फोटन की कला में दक्ष कर्णपूर के पद्य-

कृष्णपक्षेऽनुदिवसं क्षयमाप्नोति यः सदा।
दोषकरी बाधतां किं स वै विष्णुपदाश्रितान्।।[2]

के 'कृष्णपक्ष', 'दोषकर' तथा 'विष्णुपद' शब्दों में विद्यमान श्लेष चमत्कारी एवं सहृदयसंवेद्य है। शब्दशय्या का यह उदाहरण – 'तत्साधनं धनम्' 'भक्ति योगो योऽगोचरः शास्त्रकृताम्' 'वेपाते पातेन कुलिशस्येव' अत्यन्त मनोहारी है। प्रसादगुण से आपूर्ण यह पद्य -

१. आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६४२।)
२. चैतन्यचन्द्रोदय, १/६

मनो यदि न निर्जितं किममुना तपस्यादिना,
कथं स मनसो जयो यदि न चिन्त्यते माधवः।
किमस्य च विचिन्तनं यदि न हन्त चेतोद्रवः
स वा कथमहो भवेद् यदि न वासना क्षालनम्।।[1]

इस नाटक की भाषा सरल, सुबोध तथा प्राञ्जल है।

अमृतोदय[2]

'अमृतोदय' नाटक के प्रणेता गोकुलनाथोपाध्याय मिथिला के मधुबनी जिले के मंगरौनी ग्राम के निवासी थे। वे मैथिल पञ्जीप्रसिद्ध 'फणिदहा' वंश के गौरव थे। उनका गोत्र वत्स था। उनकी माता का नाम उमा तथा पिता का नाम विद्यानिधि पीताम्बर था।[3] गोकुलनाथ मिथिलानरेश राघव सिंह के समकालिक तथा टिहरी गढ़वाल राज्य के शासक फतेह सिंह के सभापण्डित थे। इस तथ्य की पुष्टि गोकुलनाथ चरित 'एकावली' नामक छन्दोग्रन्थ से होती है–

वृत्तसागररत्नानां सारमुद्धृत्य निर्मिता।
एकावलीं 'फतेहशाह' तव कण्ठे लुठत्यसौ।।[4]

एम० कृष्णमाचारी के अनुसार गोकुलनाथ श्रीनगर के राजा फतेहशाह के राजकवि थे और मिथिला के राजा राघव सिंह, जिन्होंने १६१५ ई० में शासन किया, के समकालिक थे।[5] मिथिला की प्रचलित परम्परा के अनुसार गोकुलनाथ पञ्चदेवोपासक नैष्ठिक पण्डित थे।

कथावस्तु –

'अमृतोदय' का प्रतीक नाटकों में विशेष स्थान है। इसमें मुख्य रूप से न्यायशास्त्र के पदार्थ पात्र बनाये गये हैं। नाटक का कथानक पाँच अङ्कों में विभक्त है। नाटक की प्रस्तावना में सकल प्रवृत्ति का मूल 'राग' सूत्रधार के रूप में रङ्गमञ्च पर आता है। प्रथम अङ्क में आन्वीक्षिकी द्वारा बौद्धों द्वारा अपहृत प्रमिति के उद्धार का वर्णन है। द्वितीय अङ्क में चेटी एवं कञ्चुकी के सम्वाद में पक्षता के प्रति परामर्श की अनुरक्ति का सङ्केत

---

१. वही, ७/७

२. काव्यमाला ५६ १८६७ ई० में प्रकाशित। पुनः हिन्दी टीका के साथ चौखम्बा विद्याभवन, वाराणसी से १९६४ में प्रकाशित।

३. विद्यानिधेः पीताम्बरस्य चतुर्णां पुत्राणामेकतमो गोकुलनाथो नाम। अमृतोदय, पृ० २६१।

४. एकावली का यह श्लोक अमृतोदय-पूर्वपीठिका पृ० ४३ पर उद्धृत है।

५. हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६७६।

मिलता है। तृतीय अङ्क में श्रद्धा और निर्वेद के कथोपकथन से ज्ञात होता है कि श्रुति न अपनी पुत्री प्रमिति को पुरुष के लिए समर्पित किया है, किन्तु पुरुष उस पर विश्वास नहीं करता। अनुमिति पुरुष को समझाती है कि प्रमिति के संयोग से ही उसे सिद्धि प्राप्त हो सकती है। चतुर्थ अङ्क में पुरुष की समाधिसिद्धि का वर्णन है। पुरुषोत्तम के साक्षात्कार से पुरुष की आत्मग्रन्थि खुल जाती है और वह जगत् तत्त्व को जानकर स्वस्वरूप में प्रतिष्ठित होता है। वह मायातीत होकर मुक्ति के द्वार पर उपस्थित होता है। पञ्चम अङ्क में वर्णन है कि पुरुष प्रमिति, अनुमिति और सिद्धि से संयुक्त होकर समाधिस्थ है। उसका मोहभङ्ग हो गया है। उसी समय श्रुति आन्विक्षिकी समर्पित निर्वाण संज्ञक मोक्ष को अपवर्ग पद पर प्रतिष्ठित करती है। श्रुति द्वारा स्मृत सरस्वती उपस्थित होकर यह सूचित करती है कि विद्यानिधि पीताम्बर के पुत्र गोकुलनाथ इस अपवर्ग प्रतिष्ठा को प्रबन्ध के रूप में प्रस्तुत करेंगे।

अमृतोदय नाटक की रचना का उद्देश्य अन्यान्य दर्शन में प्रतिपादित मुक्ति स्वरूप का निराकरण करके न्यायसम्मत मुक्तिस्वरूप का प्रतिपादन करना है। अतः इसमें दार्शनिकता की प्रधानता है। यद्यपि अन्य प्रतीक नाटकों में भी दार्शनिक तत्त्व निहित रहते हैं किन्तु उनका निवेश मानव हृदय की समवेदना से तारतम्य बनाये रहता है। परन्तु 'अमृतोदय' में दार्शनिक तत्त्वों के पात्रों में मानव हृदय के स्पन्दन की झलक नहीं मिलती। प्रस्तुत नाटक दार्शनिकता से इतना अधिक प्रभावित हे कि यह नाटक की अपेक्षा दर्शनग्रन्थ हो गया है। संस्कृत में 'पाठ्यनाटकों' का उपक्रम 'अमृतोदय' से माना जायेगा।

'प्रबोध चन्द्रोदय' अमृतोदय से पूर्ववर्ती नाटक है। अतः अमृतोदय प्रबोध चन्द्रोदय से प्रभावित है। मोक्षमार्ग का निर्देश करना दोनों नाटकों का उद्देश्य है। प्रबोध चन्द्रोदय का 'प्रबोध' अमृतोदय में 'अपवर्ग' के रूप में गृहीत है। वस्तुतः दोनों नाटकों की आधारभूमि सामान है, रङ्ग भिन्न हैं अतः अमृतोदय चन्द्रोदय से प्रभावित है। अमृतोदय एक शुद्ध दार्शनिक नाटक है फिर भी इसमें प्रकृति सौन्दर्य एवं साहित्यिक चमत्कार का अभाव नहीं है। सूर्यास्त का वर्णन कितना स्वाभाविक है -

धूमायते सिमसिमायितमातनोति फेनायते विवृतबुद्बुदधारमम्भः।
मग्नोऽपि पश्चिमसरस्वतिदूरमाभिर्निर्धूयते न रविरच्छतरारभिरद्भिः।।

(अमृतो० ३/३३)

सूर्य के डूबने से जल में धुआं निकल रहा है, सिमसिमाहट फैल रही है, बुलबुले निकल रहे हैं। सूर्य यद्यपि पश्चिम समुद्र में डूब चुका है, तथापि जल की स्वच्छता से वह छिप नहीं पाया है।

एक ही पद्य में प्रकृति के स्वभाव, जीव की माया परवशता और पुरुषोत्तम की मायातीतता का वर्णन कवित्वशक्ति का सुन्दर निदर्शन है –

प्रकृतिरियमनश्वरस्वभावा सृजति महान्तमसौ यतो विकारम्।
अविकृतमभिपश्यतः सतस्ते सह रमते ह्यनया सखा त्वदीयः।।

(अमृतो० ४/२१)

यह प्रकृति (माया) अनश्वर है। यह महान् विकार उत्पन्न करती है। आप (पुरुषोत्तम) निर्विकार भाव से उसे देखते हैं और आपका मित्रजीव उसके साथ रमण करता है।

कविसूक्ति की आनन्ददायकता की उपमा दयिता की तर्जनी अंगुलि से देकर नाटककार ने अपनी उक्तिचातुरी का उदाहरण कितनी सरल भाषा में दिया है –

संकेतकेतनोन्मुखदयिताकर तर्जनीव कविसूक्तिः।
दृष्टमजि दर्शयन्ती रमयति चेतांसि चतुराणाम्।। (अमृतो० ५/१३)

कवि की सूक्ति संकेत भवन की ओर जाती हुई दयिता की तर्जनी अंगुलि की भाँति दृष्टवस्तुओं को भी दिखाती हुई चतुरजनों के चित्त को आनन्द प्रदान करती है।

धर्मविजय[1]

'धर्मविजय' नाटक के प्रणेता भूदेव शुक्ल शुकदेव के पुत्र और श्रीकण्ठ दीक्षित के शिष्य थे। ये कश्मीर में जम्बू सरस में निवास करते थे। इनका समय सत्रहवीं शती माना जाता है।[2]

धर्मविजय नाटक की कथावस्तु पाँच अङ्कों में विभाजित है। इस नाटक में आध्यात्मिक नियमों द्वारा संचालित जीवन के गुणों का वर्णन है और मुगल सम्राट् औरंगजेब तथा उसके उत्तराधिकारियों के सुधार का भी वर्णन है। यह नाटक अपने समय के धार्मिक मतों, प्रथाओं एवं कृत्यों का विशद चित्र प्रस्तुत करता है। नाटक की भाषाशैली सुबोध है। वर्णन क्रम में यथास्थान अलंकारों का प्रयोग विषय की स्पष्टता में सहायक है। आध्यात्मिकता से सम्पुटित यह प्रतीक नाटक तत्कालीन धार्मिक एवं सामाजिक अवस्थाओं का सफल चित्रण करता है।

जीवन्मुक्ति कल्याण नाटक

प्रस्तुत प्रतीक नाटक के प्रणेता नल्लाध्वरी रामचन्द्र दीक्षित के सम्बन्धी तथा शिष्य

---

१. पं० नारायणशास्त्री खिस्ते द्वारा सम्पादित और सरस्वती भवन पुस्तकमाला, वाराणसी से १९३० ई० में प्रकाशित।

२. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६५७।

और धर्मविजय चम्पू के रचयिता नल्ला दीक्षित से भिन्न हैं।[1] यह कौशिक गोत्रीय ब्राह्मण और काण्डरमाणिक्क के निवासी थे। इनके पिता का नाम बालचन्द्र मखी था। नल्लाध्वरी रामनाथ मखी तथा सदाशिव ब्रह्मेन्द्र के शिष्य थे। रामनाथ मखी तञ्जोर के राजा शाहजी (१६८४-१७१०ई०) के सभापण्डित रामचन्द्र दीक्षित के समकालिक थे। अतः नल्लाध्वरी का समय सत्रहवीं शती का अन्त और अट्ठारहवीं शती का आरम्भ है।[2]

रचनायें -

जीवन्मुक्ति कल्याणनाटक[3] के अतिरिक्त नल्लाध्वरी ने शृङ्गार सर्वस्वभाण, सुभद्रा परिणय और चित्तवृत्तिकल्याण नामक ग्रन्थों की भी रचना की है।

कथानक -

प्रस्तुत नाटक में जीव का जीवन्मुक्ति के साथ विवाह का वर्णन है। जाग्रत्, स्वप्न और सुषुप्ति अवस्थाओं में अपनी पत्नी बुद्धि के साथ भ्रमणशील जीव विषयसुख से ऊबकर मुक्ति प्राप्त करना चाहता है। उसका मंत्री रमणीय चरण अपनी पुत्री सत्वशुद्धि के साथ इस कार्य में उसकी सहायता करता है। जीव को जीवनमुक्ति के प्रति अनुरक्त देखकर बुद्धि का पिता अज्ञान कामादि छः अनुचरों को उसे प्रवृत्ति मार्ग में पुनः आसक्त करने के लिए भेजता है, किन्तु जीव का अनुचर आपातबोध कामादि से जीव की रक्षा करता है।

साधन सम्पत्ति, ब्रह्म जिज्ञासा और भवितव्यता बुद्धि को समझाती है कि वह जीव के मुक्तिमार्ग में बाधक न बने। वह जीवन्मुक्ति को अपनी सखी मान कर उसे जीव से मिलने में सहायता करे। बुद्धि जीव और जीवन्मुक्ति का मिलन कराने के लिए उद्यत हो जाती है। अज्ञान द्वारा प्रेषित मोह जीवन को पाशबद्ध कर द्वैत के अन्धकार में डाल देता है। जीव शिव की शरण में जाता है। शिव जीव की दुःख निवृत्ति के लिए शिव प्रसाद को भेजते हैं। शिवप्रसाद द्वैतवाद को पराजित करने तथा ब्रह्मज्योति को प्रज्वलित करने के लिए श्रवण, मनन तथा निदिध्यासन को नियुक्त करता हे। जीव के कल्याण के लिये शिवप्रसाद ब्रह्मविद्या नामक सिद्धाञ्जनौषधि को लाने जाता है। देशिकानुग्रह विपन्न जीव को आश्वस्त करता है। श्रवण 'तत्त्वमसि' रूप शस्त्र से द्वैतवाद को पराजित करता है। अनुग्रह जीव को ब्रह्मस्वरूप का साक्षात्कार कराता है। शिवप्रसाद जीव को ब्रह्मविद्या प्रदान करता है। ब्रह्मविद्या के तेज से अज्ञान जल जाता है और देशिकानुग्रह की कृपा से जीव का जीवन्मुक्ति से सुखद मिलन होता है।

---

१. डा० वे० राघवन, शाहेन्द्र विलास की प्रस्तावना, पृ० ५३।

२. बी०एल० नागार्य, अट्ठारहवीं शती के संस्कृत रूपक, पृ० ३५।

३. जीवन्मुक्ति कल्याणनाटक टी०के० बाल सुब्रह्मण्य ऐयर द्वारा सम्पादित तथा शंकर गुरुकुल ग्रन्थावली सं० १० में श्रीरङ्गम् से ११४४ ई० में प्रकाशित है।

इस नाटक की कथावस्तु सुघटित है। यह नाटक पाँच अङ्कों में विभक्त है। कथानक के सूच्य अंशों को सूचित करने के लिए इसमें विष्कम्भक तथा प्रवेशक का भी प्रयोग किया गया है। इसके सभी पात्र अमूर्त हैं।

शिवलिङ्ग सूर्योदय नाटक'

'शिवलिङ्ग सूर्योदय नाटक' के प्रणेता मल्लारि आराध्य आन्ध्र प्रदेश में कृष्णा जिले के निवासी थे।[२] इनके पिता का नाम शरमणाराध्य था। मल्लारि आराण्य मैसूर में कल्याणपुर (केलडि) के सामन्त राजा वसवेश्वर द्वितीय के आश्रित कवि थे।[३] वसवेश्वर द्वितीय का शासन काल १७३६-१७५४ ई० था। अतः उसके समकालिक आश्रित कवि आराध्य का समय १८वीं शतीं है।[४]

कथावस्तु -

'शिवलिङ्ग सूर्योदय' नाटक में राजा सुज्ञान द्वारा प्रतिपक्षी अज्ञान की पराजय तथा शिवलिङ्ग रूपी सूर्य के उदय का वर्णन है। सुज्ञान के अतिरिक्त काम, रति, विद्या, शान्ति, चार्वाक, क्षपणक, बौद्धभिक्षु आदि इस नाटक के पात्र हैं।

सुज्ञान कामादि शत्रुओं द्वारा आबद्ध जीव की मुक्ति के लिए प्रयत्नशील है। परमेश्वर की दो पत्नियां हैं - क्रियाशक्ति तथा ज्ञानशक्ति। क्रियाशक्ति अन्नमयादि पञ्चकोशें से युक्त शरीरों की रचना कर, उनमें कामादि पुत्रों को सन्निविष्ट कर उन्हें राजा बना देती हैं। सुज्ञान अपनी पत्नी प्रज्ञा की सहायता से कामादि को पराजित कर शिवशक्ति द्वारा जीव के मोक्ष के लिए प्रयासरत है। श्रीशैल पर सुज्ञान के प्रयास को विफल करने के लिए अज्ञानी का मन्त्री दम्भ वहाँ आता है। वहाँ महामोह भी आ जाता है। चार्वाक महामोह के समक्ष अपना मत प्रस्तुत करता है और उसे शिवभक्ति से सावधान रहने का परामर्श देता है। मान और मद गोकर्ण क्षेत्र से महामोह को पत्र भेजता है। पत्र से महामोह को ज्ञात होता है कि शिवागम की पत्नी उपनिषद् देवी से उत्पन्न विद्या अपनी बेटी भक्ति के साथ गुरु के समीप पहुँच कर सपर्या का उनके साथ समागम कराने में प्रवृत्त हुई है। महामोह क्रोध एवं लोभ को विद्या के प्रतिकार के लिए भेजता है। विद्या अपनी पुत्री भक्ति को न देखकर प्राणत्याग करना चाहती है किन्तु शान्ति उसे धैर्य प्रदान करती है। विद्या भक्ति की खोज में जैनादि पाखण्ड मतों के घर में जाती है। विद्या वृद्धमाध्व को बताती

१. अप्रकाशित। इसकी एक हस्तलिखित प्रति गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्यु० लाइब्रेरी, मद्रास, ग्रन्थ सं० आर० २२८२ में उपलब्ध है।

२. डा० वर्णेकर, अर्वाचीन संस्कृत साहित्य, नागपुर १९६३, पृ० १९२।

३. शिवलिङ्गसूर्योदय, १/६

४. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री ऑफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६८१।

है कि वह सदाशिव के चतुर्मुखों से निःश्वास रूप उत्पन्न हुई है और इसे सदाशिव ने चतुर्मुख ब्रह्मा के लिए प्रदान किया है।

विद्या भक्ति की खोज में श्रीशैल पर जाती है। वहाँ काम का दूत ब्राह्मण वेष में विद्या को तन्त्रसिद्धान्त का उपदेश देता है किन्तु विद्या उसे अस्वीकार कर देती है। श्रीशैल पर शिवभक्ति की सखी ईशाना से विद्या की मित्रता होती है। सुशान की पत्नी बुद्धि विद्या को सुशान के पास पहुँचाती हे। विद्या सुशान को बताती है कि प्रज्ञा उसको अज्ञानादि के विनाश का उपाय बतायेगी। प्रज्ञा सुशान को शिवभक्ति के द्वारा अज्ञान पर विजय प्राप्त करने का परामर्श देती है। उसी समय शिवभक्ति विद्या के पास आती है। हर्षित विद्या शिवभक्ति के साथ सुशान के पास जाती है। सुशान गुरु के पास जाता है। गुरुपुत्री दीक्षा से शिवलिङ्गरूपी सूर्य का उदय होता है। सुशानादि उनकी स्तुति करते हैं।

नाटक की कथावस्तु सुघटित है। इसमें आरम्भ से अन्त तक प्रतीकात्मकता बनी रहती है।

विद्यापरिणय[1]

आनन्द राय मखी का दूसरा प्रतीक नाटक 'विद्यापरिणय' है। इस नाटक की रचना तञ्जोर के राजा सरफोजी प्रथम के शासनकाल (१७११-१७२८ ई०) में हुई थी।

कथावस्तु - विद्यापरिणय नाटक की कथावस्तु सात अङ्कों में विभाजित हे। इसमें जीवराज तथा विद्या के विवाह के वर्णन है।

पत्नी अविद्या से पीड़ित जीवराज को देखकर पार्वती शिवभक्ति को आदेश देती है कि तुम निवृत्ति की सहायता से जीवराज को अविद्या के मोहपाश से मुक्त कर विद्या से मिलाओ। जीवराज का मन्त्री चित्त इस कार्य में शिवभक्ति की सहायता करता है। निवृत्ति जीवराज को समझाती है कि शिवभक्ति की कृपा से ही वह वेदाख्य (शिवक्षेत्र) में प्रवेश कर विद्यासुन्दरी को पा सकता है। निवृत्ति से इस तथ्य को जानकर जीवराज विद्या प्राप्ति के लिए उत्कण्ठित होता है। विद्या के प्रति जीवराज की उत्कण्ठा से अविद्या व्यथित होकर विषयवासना से अपनी वेदना बतती है। विषयवासना अविद्या को आश्वस्त करती है।

जीवराज विद्या को देखने के लिए अत्यन्त उत्सुक है। निवृत्ति के द्वारा प्रदत्त चित्रपट में विद्या का चित्र देखकर जीवराज उसके सौन्दर्य की प्रशंसा करता है। विद्या की प्रशंसा सुनकर अविद्या दुःखी होती है और जीवराज को उलाहना देकर चली जाती है। चित्त जीवराज को विद्या से मिलाने का निश्चय करता है। जीवराज अविद्या के साथ वेदाख्य की

---

१. इस नाटक का प्रकाशन काव्यमाला ग्रन्थावली सं० ३९ में हुआ है। पुनः हरिदास संस्कृत ग्रन्थमाला सं० २७० में वाराणसी से १९६७ ई० में प्रकाशित।

ओर प्रस्थान करता है। मार्ग में उसे लोकायतिकादि पाखण्ड मत मिलते हैं। जैन बौद्धादि नास्तिक और सोम, वैष्णवादि आस्तिक जीवराज को अपनी ओर आकृष्ट करने का प्रयास करते हैं, किन्तु वस्तुविचार के सत्प्रयास और शिवभक्ति की कृपा से जीवराज विद्या को देख लेता है। विद्या के प्रति जीवराज का अनुराग जानकर अविद्या दुःखी होकर चली जाती है और राजसी तथा तामसी भक्ति को जीवराज के वेदाख्य में प्रवेश के समय उसको काम्यक्रियोपासना में प्रवृत्त कराने के लिए भेजती है। शिवभक्ति विद्यारण्य में प्रविष्टि जीवराज की रक्षा के लिए विवेक को भेजती है। सात्त्विकी शिवभक्ति के द्वारा नियुक्त निवृत्ति एवं अष्टाङ्गयोग राजसी-तामसी शिभक्तियों के प्रयास को सिफल कर देते हैं।

शिवभक्ति जीवराज के पास आकर उपनिषद्देवी को सन्देश देती है कि वह विद्या की विवाह के लिये सजाकर पुण्डरीकपुर ले आये। जीवराज को योगनिद्रा की कृपा से शिव तथा पार्वती का दर्शन होता है। जीवराज शिव की स्तुति करता है। उपनिषद्देवी के साथ निदिध्यासन विद्या को लेकर वहाँ आता है और उसे जीवराज को समर्पित करता है।

इस नाटक में प्राकृत भाषा का प्रयोग नहीं हुआ है। इस नाटक का प्रधान उद्देश्य शिवभक्ति के द्वारा मुक्ति प्राप्ति का प्रतिपादन है। इसमें अद्वैत तत्त्व तथा शिवभक्ति का शोभन समन्वय है। विद्यापरिणय नाटक में स्वाभिमत दर्शनतत्त्वों को समझाने के साथ ही शास्त्रीय पदार्थों का मानवीकरण करके सरसता तथा सरलता के साथ मानवीय भावों की अभिव्यकित हुई है। दर्शनप्रधान प्रतीक नाटक होने पर भी इसमें साहित्यिक सौष्ठव की झलक मिल जाती है। जीवराज के प्रेम में पगी विद्या की उत्कण्ठा का वर्णन कितना मनोरम है -

आदर्शभित्ति भजते न विहारगेहमासन्न चन्द्रमभितः स्वमुखाम्बुजेन।
आलीरभिप्रतिवचो गृणती गवाक्षमारामकोकिलभयेन मुहुः पिधत्ते।।

(विद्या० ४/६)

वह शीशे से निर्मित दीवारवाले अपने विहारगृह में नहीं जाती है क्योंकि उसे वहाँ पर दीवारों में प्रतिबिम्ब अपने मुख में चन्द्रमा के भ्रम से भय होता है। और जब वह सखियों से कुछ कहती है तो ऐसा लगता है कि कोयल बोल उठी, बस झट से वह उद्यानगत कोयल के भय से खिड़कियां बन्द कर लेती है।

सुख अथवा दुःख का सदा सेवन अच्छा नहीं लगता, इस तथ्य का वर्णन अत्यन्त सरल भाषा में किया गया है -

सुखमस्त्वसुखं वास्तु नैव साधु निरन्तरम्।
यथा विरहिणी कान्ते रमते किं तथापरा।। (विद्या० १/३७)

जीवानन्दन नाटक[1]

प्रस्तुत प्रतीक नाटक के रचयिता आनन्दराय मखी हैं। आनन्दराय मखी नृसिंह राय के पुत्र तथा गंगाधर मखी के पौत्र थे। गंगाधन तंजोर के राजा एकोजी, नृसिंहराय एकोजी और शाहजी के मन्त्री थे। नृसिंह राय के अनुज त्र्यम्बकराय शाहजी तथा सरफोजी के मन्त्री थे। आनन्द राय मखी शाहजी प्रथम, सरफोजी प्रथम तथा तुक्कोजीके धर्माधिकारी तथा सेनाधिकारी थे। अतः आनन्दराय का समय सत्रहवीं शती का अन्त और अट्ठारहतीं शती का आरम्भ है। शाहजी के अनुग्रह से ही आनन्हराय सरस कवि बने। आनन्द राय स्वयं भी विद्वानों के आश्रयदाता थे। आनन्दराय ने १७२५ ई० में मदुरा के राजा और पुदुकोहइ के तोण्डमान की सम्मिलित सेना को पराजित किया। आनन्दराय का देहावसान संभवतः राजा तुक्कोजी के शासनकाल (१७२६-१७२५ ई०) में हुआ।

जीवानन्दन नाटक के अतिरिक्त आनन्दराय की अन्य दो कृतियाँ - विद्यापरिणय नाटक और आश्वलायन गृह्यसूत्रवृत्ति भी उपलब्ध है।

कथानक -

जीवानन्दन नाटक में आयुर्वेद के सिद्धातों को स्पष्ट करने के लिये रोगों को पात्र के रूप में चित्रित किया गया है। आयुर्वेद के साथ ही वेदान्त, योग तथा शिवभक्ति का इसमें मञ्जुल समन्वय हे।

विज्ञान राजा जीव की आज्ञा से शत्रु यक्ष्मा की गतिविधि का पता लगाने के लिए धारणा को नियुक्त करता है। विज्ञान जीवराज को वात आदि तीन प्रवृत्तियों तथा कामादि षड्रिपुओं की सहायता से शरीररूपी नगर पर यक्ष्मा के आक्रगण से अवगत करता है। राजा जीवराज यक्ष्मा संहार के लिए पारद आदि सिद्ध-औषधियों को प्राप्त करने के उद्देश्य से पुण्डरीकपुर (हृदय) में शिव और पार्वती की उपासना करता है। यक्ष्मा का मन्त्री पाण्डु जीवराज को पराजित करने का उपाय सोचता है। पाण्डु के अनुचर अनेक रोग जीवराज के नगर पर आक्रमण करते हैं। उपासना से प्रसन्न शिव से रस गन्धादि प्राप्तकर जीवराज पुण्डरीकपुर से अपने नगर में लौट आता है। विज्ञान रस तथा गन्ध को अन्य औषधियों से संयोजित करता है।

जीवराज राज्यसुख का भोग करता है किन्तु शिवभक्ति श्रद्धा के साथ आकर जीवराज को यक्ष्मा को पराजित करने के लिए प्रोत्साहित करती है। शिवोपासना में तल्लीन जीवराज पर यक्ष्मा पुनः आक्रमण करना चाहती है। दोनों पक्षों के सैनिकों में युद्ध होता है। यक्ष्मा के सैनिक मारे जाते हैं। मत्सर की मंत्रणा से यक्ष्मा पुनः जीवराज को नष्ट करने

१. दुर्गाप्रसाद पाण्डुरङ्ग परब द्वारा काव्यमाला ग्रन्थावली २७ में तथा अभिदेव द्वारा पुस्तक भवन, बनारस से १९५५ ई० में प्रकाशित।

के लिए कूटयुद्ध का उपक्रम करती है। विज्ञान के परामर्श से जीवराज शिव की स्तुति करता है। शिव योगराज को योग का उपदेश देते हैं और ज्ञान तथा विज्ञान को समान आदर देने का परामर्श देते हैं। योगसिद्धि के कारण जीवराज की शत्रु यक्ष्मा, विषूची तथा अन्य असाध्य रोग स्वयं नष्ट हो जाते हैं। विजय पाकर जीवराज प्रसन्न होता है।

इस नाटक की कथावस्तु कल्पित है। आयुर्वेद के दुरूह सिद्धान्तों को सही रूप में सरलता से प्रतिपादित करने वाला यह विलक्षण नाटक है। इसमें ४० अमूर्त पात्र हैं।

भाग्यमहोदय नाटक[1]

'भागयमहोदयनाटक' के प्रणेता शीघ्र कवीश्वर जगन्नाथ का जन्म १७५८ ई० में गुजरात के नहानी बोरू ग्राम में हुआ था। इनके पिता का नाम कुबेर था। जगन्नाथ ने ४० दिन के उपवास व्रत से बहुचरा देवी को प्रसन्न कर उनसे विद्या का वर प्राप्त किया था। देवी के प्रसाद से उन्हें आशु कवित्व प्रापत हुआ और ये 'शीघ्र कवीश्वर' की उपाधि से विभूषित हुए।[2]

जगन्नाथ ने भावनगर में 'भागयमहोदय' का प्रणयन किया। उनकी काव्यचातुरी से प्रसन्न होकर भावनगर के राजा वरवत सिंह ने इनको वार्षिक जागीर तथा निवास गृह दिया। १७९६ में जगन्नाथ पूना गये। पूना के राजा पेशवा बाजीराव द्वितीय के मन्त्री नाना फड़नवीस ने इनकी कवित्वप्रतिभा से प्रभावित होकर इनका समुचित सम्मान किया। जगन्नाथ के बड़ौदा जाने पर वहाँ के राजा गोविन्द राव गायकवाड़ ने इन्हें २०० रू० वार्षिक देने की व्यवस्था की थी। इस प्रकार जगन्नाथ भावनगर, पूना और बड़ौदा-तीनों राजसभाओं के सम्मानित राजकवि थे। जगन्नाथ काव्यकला के साथ ही चित्र, नृत्य तथा संगीत कलाओं में भी प्रवीण थे। नृत्य, संगीत और चित्र इन तीनों कलाओं का एक साथ प्रदर्शन जगन्नाथ की अद्भुत विलक्षणता का निदर्शन है।

कथावस्तु -

'भाग्यमहोदय' प्रतीक नाटक होकर भी कथानक की दृष्टि से कुछ विलक्षण है। इसमें अन्य प्रतीक नाटकों के समान आध्यात्मिक अमूर्त भावों का पात्रीकरण न होकर साहित्यिक छन्दों एवं अलंकारों को पात्र बनाया गया है। इसमें मगण आदि गणों और उपमा आदि अलङ्कारों को पात्र बनाकर छन्दों एवं अलङ्कारों का दर्शकों को ज्ञान कराने का प्रयास किया गया है। मगणादि आठ गण क्रमशः पात्ररूप में रङ्गमञ्च पर अपनी-अपनी श्रेष्ठता तथा परिभाषा बताकर और भावनगर के राजा वरवत सिंह को आशीर्वाद देकर

---

१. देवशङ्कर वैकुण्ठ भट्ट द्वारा सम्पादित और सरस्वती प्रेस भावनगर (गुजरात) से १९१२ ई० में प्रकाशित।

२. देवशङ्कर वैकुण्ठ भट्ट द्वारा सम्पादित भाग्योदय नाटक की भूमिका।

चले जाते हैं। तत्पश्चात् उपमा आदि प्रमुख अर्थालङ्कार रङ्गमञ्च पर आते हैं और अपना सोदाहरण लक्षण प्रस्तुत कर चले जाते हैं। अलङ्कारों के इन उदाहरणों में राजा वरवत सिंह की प्रशंसा ओर उनके मन्त्री, सेनापति एवं सेना का वर्णन है।

प्रस्तुत नाटक में नाटककार ने अपने आश्रयदाता राज वरवत सिंह का नाम 'भाग्यसिंह' रखा है। इसमें केवल अर्थालङ्कारों का ही वर्णन है। इस वर्णन प्रधानतया अप्पय दीक्षित के 'कुवलयानन्द' पर आधृत है। इस नाटक का कथानक इतिवृत्तात्मक नहीं है। इसमें नाट्यशास्त्रीय नियमों का भी ठीक से पालन नहीं हुआ है। यह दो अङ्कों का रूपक है। छनद के गणों और प्रमुख अर्थालंकारों के लक्षणों को स्पष्ट करने तथा राजा वरवत सिंह के यशोगान के अतिरिक्त इस नाटक का कोई अन्य उद्देश्य नहीं है।

पूर्णपुरुषार्थ चन्द्रोदय'

'पुर्णपुरुषार्थ चन्द्रोदय' नाटक के रचयिता जातवेद केरल प्रदेश के निवासी थे। इस नाटक की एक हस्तलिखित प्रति[२] के अन्तिम कतिपय पद्यों से रचयिता कानाम जातवेदस् ज्ञात होता है। पद्यों से स्पष्ट प्रतीत होता है कि जातवेद केरल के आठ प्रसिद्ध नम्बूतिरी परिवारों में किसी एक में उत्पन्न हुये थे। इनका गोत्र विश्वामित्र था। इन्होंने संन्यास ग्रहण के बाद प्रस्तुत नाटक की रचना की थी। जातवेद १८०० ई० के आसपास मालावार में रहते थे।[३]

कथावस्तु -

'पूर्णपुरुषार्थ चन्द्रोदय' नाटक में राजा रशाश्व (आत्मा) और सारश्रुति की पुत्री आनन्द पक्ववल्ली के विवाह की कथा को नाटकीय रूप दिया गया है। राजा दशाश्व आनन्दपक्वल्ली को पाने के लिए उत्कण्ठित हे। आनन्दपक्ववल्ली वेदोद्यान में रहती है। राजा दशाश्व विदूषक के साथ आनन्दवल्ली से मिलने के लिए वेदोद्यान की ओर प्रस्थान करता है।

नायिका आनन्दपक्ववल्ली अपने अनुरूप योग्य वर को खोजने के लिए अपनी दो चेटियों श्रुतिनिपुणा तथा श्रुतिनिर्णीति को भेजती है। श्रुनिनिर्णीति नायिका के लिए दशाश्व को उपयुक्त वर मानती है। नायिका दशाश्व को दुर्लभ पुरुष मानकर प्राण विसर्जन के लिए उद्यत होती है किन्तु योगिनी सुभक्ति उसे ऐसा नहीं करने देती है। वह नायिका से उसके

---

१. अप्रकाशित। इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ गवर्नमेन्ट ओरियण्टल मैन्युस्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास, ग्रंथ सं० १२५४० तथा १२५४१ में उपलब्ध है।

२. गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्यु० लाइब्रेरी, मद्रास, ग्रन्थ सं० १२५४१।

३. एम० कृष्णमाचारी, ए हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६८१।

प्रति नायक दशाश्व के अनुराग को बता देती है। वेदोद्यान जाते हुए दशाश्व को मार्ग में चार्वाक, बौद्ध, जैन और कापालिक मिलते हैं, किन्तु दशाश्व उन्हें अस्वीकार कर देता है।

सारश्रुति को अपनी पुत्री आनन्दपक्ववल्ली की, दशाश्व के प्रति अनुरक्ति का आभास मिल जाता है। काञ्चुकीय सारश्रुति को सूचित करता है कि दशाश्व कामादि शत्रुओं का संहार कर आनन्दपक्ववल्ली को प्राप्त करने के लिये वेदोद्यान के समीप विद्यमान है। काञ्चुकीय नायिका को आश्वस्त करता है। कामादि शत्रुओं का विनाश करके दशाश्व विदूषक के साथ वेदोद्यान में प्रवेश करता है। वह न्यायवैशेषिक और सांख्य मत को अस्वीकार कर कुमारिल मत का समर्थन करता है। आनन्दपक्ववल्ली को विरहाकुल जानकर दशाश्व सारश्रुति के पास जाता है। सारश्रुति आनन्दपक्ववल्ली का विवाह दशाश्व के साथ कराने का निश्चय करके पुत्री आनन्दवल्ली को तिरस्करिणी द्वारा छिपा देती है। दशाश्व प्रियतमा आनन्दवल्ली को पान के लिए भगवती दुर्गा की शरण में जाता है। भगवती दुर्गा दशाश्व की आराधना से प्रसन्न होकर आनन्दवल्ली और दशाश्व का सुखद मिलन करा देती हैं।

प्रस्तुत नाटक की कथावस्तु पाँच अङ्कों में विभक्त है। इसकी रचना नाट्यशास्त्रीय नियमों के अनुकूल हुई है। भास के नाटकों की भाँति नान्दीपाठ के अनन्तर सूत्रधार मङ्गलपाठ से नाटक का आरंभ करता है। इसमें प्रस्तावना के स्थान पर 'स्थापना' का प्रयोग किया गया है। नाटक के पात्रों में दशाश्व आनन्दपक्ववल्ली, विदूषक, सारश्रुति, सुभक्ति प्रमुख हैं। इसमें आनन्दपक्ववल्ली 'आनन्द' तथा दशाश्व 'आत्मा' के प्रतीक हैं।

पुरञ्जनचरित नाटक[1]

'पुरञ्जनचरित नाटक' के प्रणेता कृष्णदत्त मैथिल बिहार के दरभंगा जिले में शारदापुर के समीप उद्यान (उझान) नामक ग्राम के निवासी थे। इनके पिता का नाम भवेश और माता का नाम भगवती था।[2] कृष्णदत्त मिथिला के श्रोत्रिय मैथिल ब्राह्मण परिवार के कुलभूषण थे। इन्होंने मिथिला तथा काशी में अनेक शास्त्रों की शिक्षा प्राप्त की थी। यह छिन्नमस्ता देवी के अनन्य उपासक और प्रतिभासम्पन्न कवि थे। इनकी साहित्यिक कृतियों का रचनाकाल १७४०-१७८० ई० के मध्य है। 'पुरञ्जनचरित' की रचना तिथि १७७५ ई० के आसपास मानी जाती है।[3] कृष्णदत्त को नागपुर के भोंसले राजा जानोजी

---

१. कुमारी नीलम सोलंकी द्वारा सम्पादित तथा चरोत्तर बुक स्टाल आनन्द (पश्चिम रेलवे) से १९५५ ई० में प्रकाशित। इसका आलोचनात्मक संस्करण एस०एल० कात्रे द्वारा सम्पादित तथा विदर्भ संशोधन मण्डल नागपुर से १९६१ ई० में प्रकाशित।

२. गीतं गोपीपतिकाव्य, १२, २८।

३. एस०एल० कात्रे, पुरञ्जनचरित भूमिका, पृ० २५-२७।

(१७५५-१७७२ ई०), रघूजी द्वितीय (१७७२-१८१६ ई०) तथा उनके मन्त्री देवा जी पन्त का आश्रय प्राप्त था। देवाजी पन्त के आश्रय में ही कृष्णदत्त ने 'पुरञ्जनरित' का प्रणयन किया था।[1] कृष्णदत्त मैथिल का समय १८वीं शती का उत्तरार्ध माना जाता है।

'पुरञ्जनचरित' के अतिरिक्त कृष्णदत्त की अन्य रचनायें हैं - कुवलयाश्वीय नाटक, गीत गोपीपतिकाव्य, चण्डिकाचरित चन्द्रिका और गीतगोविन्द गङ्गा।

कथावस्तु - 'पुरञ्जनोपायान नाटक' का उपजीव्य श्रीमद्भागवत, चतुर्थ स्कन्ध अध्याय २५-२६ में वर्णित 'पुरञ्जनोपाख्यान' है। अपने निवास योग्य नगर की खोज में सचिव सुसाधन के साथ पुरञ्जन प्रवरापुरी पहुँचती है। वहाँ वह नगर की स्वामिनी पुरञ्जनी से विवाह करता है। बिना सूचना दिये ही मृगया के लिए चले जाने से पुरञ्जनी पुरञ्जन से अप्रसन्न हो जाती है, किन्तु पुरञ्जन के मनाने पर प्रसन्न हो जाती है। वे दोनों नगरविहार के लिये निकल पड़ते हैं।

इधर चण्डवेग, कालककन्यका, भय तथा प्रज्वार एक साथ ही पुरञ्जन की पुरी पर आक्रमण कर देते हैं। कालकन्यका पुरञ्जन के साथ छद्मरूप से भोग करती है जिससे पुरञ्जन में निद्रा, आलस्य, दुर्बलता आदि के लक्षण प्रकट होते हैं। पुरञ्जनी पुरञ्जन को छोड़कर चली जाती है। पुरञ्जन भी नगर छोड़कर अन्यत्र चला जाता है। विदर्भ की ओर जाता हुआ पुरञ्जन अकस्मात् एक रूपसी नारी वैदर्भी के रूप में परिणत हो जाता है। अविज्ञात लक्षण नवलक्षणा कामधेनु की सहायता से पुरञ्जन को अपने वास्तविक स्वरूप का ज्ञान करा देता है।

'पुरञ्जनचरित नाटक' प्रतीकात्मक है। इसमें पुरञ्जन जीवात्मा का, पुरञ्जनी बुद्धि या अविद्या का, अविज्ञात लक्षण ईश्वर का, प्रजागर सर्प प्राणवायु का, गन्धर्व चण्डवेग एक वर्ष का, कालकन्यका वृद्धावस्था का, यवनराज मय मृत्यु का तथा नवलक्षणा कामधेनु नवधा भक्ति का प्रतीक है। इस प्रतीक नाटक के कथानक में मूल भागवत कथा से कुछ परिवर्तन भी किये गये हैं। यह नाटक पाँच अङ्कों में विभक्त है। इसमें पंच सन्धियों और विष्कम्भकादि अर्थोपक्षेपकों का यथास्थान प्रयोग हुआ है।

विवेकभिहिर नाटक[2]

प्रस्तुत नाटक के रचयिता हरियज्वा शाण्डिल्यगोत्रीय ब्राह्मण थे। इनके पिता का नाम नृसिंह तथा माता का नाम लक्ष्मी था। इनके कुलदेवता नृसिंह थे।[3] हरियज्वा मैसूर

१. बी०एल० नागार्य, अट्ठारहवीं शती के संस्कृत रूपक, पृ० ६८।

२. यह नाटक अप्रकाशित है, इसकी दो हस्तलिखित प्रतियाँ भारत इतिहास संशोधन मण्डल, पूना में उपलब्ध है।

३. भीष्मयुद्ध, अन्तिम श्लोक।

प्रदेश के धारवार जिले में 'नरगुन्द' ग्राम के निवासी थे। नरगुन्द के राजा रामाराव दादाजी भावे हरियज्वा के आश्रयदाता थे।[1] राजा रामाराव ने हरियज्वा को पुरस्कार में 'कुरिगोवनकोण' नामक ग्राम दिया था। हरियज्वा रामाराव के गुरु थे। हरियज्वा का उपनाम नीलकण्ठ था। इनके गुरु का नाम वामन तथा अग्रज का नाम गङ्गाधर था। यह संस्कृत तथा मराठी दोनों भाषाओं के निष्णात विद्वान् थे। हरियज्वा हरिदीक्षित नाम से भी जाने जाते हैं परन्तु यह भट्टोजि दीक्षित के पौत्र तथा प्रौढ़ मनोरमा की लघुशब्दरत्नटीका के लेखक हरिदीक्षित से भिन्न हैं।[2] 'विवेकमिहिर' के अतिरिक्त हरियज्वा की ब्रह्मसूत्रवृत्ति, मितभाषिणी, बालानन्दिनी, सारसंग्रह, कंसान्तक और नृसिंहनाटक रचनायें उपलब्ध हैं।

कथावस्तु - हरियज्वा प्रणीत 'विवेकमिहिरनाटक' में राजा विवेक की प्रतिद्वन्द्वी मोह पर विजय का वर्णन है। मोह के अनुचर काम, क्रोध आदि उसके समक्ष अपने प्रभाव का वर्णन करते हैं किन्तु विवेक के आते ही मोह अनुचरों के साथ पलायित हो जाता है। विवेक मोह की निन्दा करता है। 'मोह आपसे अधिक बलवान् है' विदूषक के मुख से यह बात सुनकर विवेक खिन्न हो जाता है, किन्तु आचार्य उसे सान्त्वना देकर विदूषक से दूर रहने का निर्देश देते हैं। आचार्य विवेक को शमादि के साथ मुमुक्षु के मन में जाकर वहाँ मोह को नष्ट करने का आदेश देते हैं। वे भक्ति और श्रद्धा को भी विवेक को मोहपराजय के लिए परिपुष्ट करने का परामर्श देते हैं।

विदूषक विवेक को सूचित करता है कि क्रुद्ध मोह मन को वश में करके कामादि की सहायता से आप पर आक्रमण करना चाहता है वह पाशुपत और पाञ्चरात्र आदि पाखण्ड मतों द्वारा आपको बहिष्कृत करने के लिए पूर्ण सचेष्ट है। विवेक मोह को सन्देश भेजता है - "मैं भगवत्कृपा से तुमको नष्ट कर दूँगा।" आचार्य विवेक को जीवों के लिए कर्मानुष्ठान तथा भगवद्भजन में संलग्न कराने का आदेश देते हैं। विवेक की प्रार्थना पर आचार्य योगबल से जीवों को प्रथम, मध्यम तथा उत्तम अधिकारियों में विभक्त कर देते हैं। अन्त में आचार्य जीवों को सदुपदेश देते हैं।

इस नाटक की कथावस्तु सुघटित नहीं है। इसमें पञ्चसन्धि तथा अर्थोपक्षेपकों का प्रयोग नहीं है। इसमें सूत्रधार और पारिपार्श्वक प्रारंभ से अन्त तक रङ्गमञ्च पर उपस्थित रहते हैं। सूत्रधार ही प्रेक्षकों को आशीर्वाद देता है। इसमें मूर्त तथा अमूर्त दोनों प्रकार के पात्र अभिनय करते हैं। इसकी भाषाशैली विषय के अनुकूल है। वर्णन की अधिकता से कथाप्रवाह में शिथिलता सी प्रतीत होती है।

---

१. जी०एच० खरे, हरिदीक्षित एण्ड हिज वर्क्स, पूरा ओरियण्टल, जिल्द ६, अङ्क १-२, पृ० ६२।
२. बी०एल० नागार्य, अट्ठारहवीं शती के संस्कृत रूपक, पृ० ८६।)

विवेकचन्द्रोदय'

'विवेकचन्द्रोदय' के रचयिता शिव कवि हैं। इनके जीवन के विषय में विशेष विवरण नहीं मिलता। शिवकवि णाणर (राणेर) नगर के निवासी थे। यह नगर यमुना के तट पर स्थित था। यह गंगा के समान पवित्र और तीर्थोपम था।[२] शिवकवि दुर्गा के परम भक्त थे।[३] विवेक चन्द्रोदय नाटक का अभिनय एक राजा के आदेश से किया गया था किन्तु उस राजा का नामोल्लेख नहीं है। भण्डारकर ओरियण्टल इन्स्टीच्यूट, पूना में उपलब्ध इस नाटक की एक हस्तलिखित प्रति में इसका रचना काल सं० १८१६ (१७६३ ई०) उल्लिखित है। अतः शिव कवि का समय १८वीं शती का मध्यभाग सिद्ध होता है।[४]

कथावस्तु

'विवेकचन्द्रोदय' में अधर्म पर विवेक की विजय का वर्णन है। इसमें रुक्मिणीविवाह और राजनीतिक उपदेशों का भी समावश किया गया है।

सिद्धिदेव चारुकण्ठ को इन्द्रजाल द्वारा रुक्मिणी का विवह दिखाता है। दुर्विनय आदि इन्द्र के दोष को बताते हैं। अधर्म का सेवक दुर्विनय धर्म के मन्त्री विवेक को पत्र देता है। उस पत्र में तप, व्रत आदि को निरर्थक और कामादि को स्तुत्य कहा गया है। इन्द्रादि को अपना अधिकार त्याग कर अधर्म की अधीनता स्वीकार करने का आदेश दिया गया है। देवगण इस पत्र को पढ़कर हंसते हैं। विवेक के आदेश से विनय दुर्विनय को राजनीति का उपदेश देता है। वह धर्म की प्रशंसा और अधर्म की निन्दा करता है। विनय की बात सुनकर दुर्विनय आदि वहाँ से भागकर शिशुपाल, रुक्मी आदि में प्रवेश कर जाते हैं। यहाँ तक की कथावस्तु में प्रतीकात्मकता है। इस प्रतीक प्रसङ्क के बाद रुक्मिणी विवाह की पौराणिक कथा वर्णित है।

उद्धव श्रीकृष्ण से कहते हैं कि आपके विवाह के लिए रुक्मिणी उपयुक्त राजकुमारी है। रुक्मिणी के पिता भीम आपके साथ रुक्मिणी के परिणय का इच्छुक है किन्तु उसके भाई रुक्मी को यह सम्बन्ध मान्य नहीं है। रुक्मी अपनी बहन रुक्मिणी का विवाह शिशुपाल से करना चाहता है। वृद्धश्रवा द्वारा लाये गये पत्र से रुक्मिणी को अपने प्रति अनुरक्त जानकर श्रीकृष्ण कुण्डिनपुर जाकर रुक्मिणी का अपहरण कर लेते हैं। जरासन्ध का बलभद्र तथा यादव सेना के साथ युद्ध होता है। युद्ध में जरासन्ध मारा जाता है, शिशुपाल भाग जाता है और रुक्मी ध्वजस्तम्भ में बाँध दिया जाता है। परन्तु रुक्मिणी के

---

१. इस नाटक का प्रकाशन विश्वेश्वरानन्द शोध संस्थान, होशियारपुर से १९६६ ई० में हुआ है।
२. विवकचन्द्रोदय, प्रस्तावना पद्य-५।
३. वही, प्रस्तावना पद्य-१।
४. वी० एल० नागार्य, अट्ठारहवीं शती के संस्कृत रूपक, पृ० ८६।)

अनुरोध पर वह छोड़ दिया जाता है। विषयी कृष्ण द्वारका लौटकर रुक्मिणी से विवाह रचाते हैं।

विवेकचन्द्रोदय की कथावस्तु व्यवस्थित नहीं है। वर्णन की अधिकता के कारण इसमें नाटकीय गतिशीलता का अभाव है। इसकी कथा अंशतः कल्पित और अंशतः पौराणिक है। रुक्मिणी विवाह की पौराणिक कथा प्रख्यात है और उद्धव का विन्धय क्षेत्र में अधर्म पर धर्म विजय का स्वप्नदर्शन तथा ऐन्द्रजालिक सिद्धिदेव का वृत्त कल्पित है।

कथानक के विकास में पञ्चसंधियों का निर्वाह तथा विष्कम्भकादि का प्रयोग नहीं हुआ है। इसमें अमूर्त एवं मूर्त उभयविध पात्र हैं।

अनुमिति परिणय नाटक'

'अनुमिति परिणय' प्रतीक नाटक के प्रणेता नृसिंह कति १८वीं शती के प्रारम्भ में मद्रास के ट्रिप्लीकेन संभाग में रहते थे।[२] इनके पिता का नाम वेंकटकृष्ण था, यह भारद्वाज गोत्रीय ब्राह्मण थे। नृसिंह सफल कवि और न्यायशास्त्र के वेत्ता थे। इनके जीवन के विषय में विशेष जानकारी नहीं मिलती। इनकी एक ही रचना 'अनुमितिपरिणय' नाटक ज्ञात हो सकी है।

कथानक – अनुमिति परिणय नाटक में परामर्श की पुत्री अनुमिति का राजा न्यायरसिक के साथ विवाह का वर्णन है। बुद्धिलता, तर्कसार, साक्षात्कारिणी, चार्वाक आदि इसके अन्य पात्र हैं। इस नाटक का नायक न्यासरसिक और नायिका अनुमिति है।

साक्षात्कारिणी न्यायरसिक की पत्नी है। वह न्यायरसिक को अनुमिति के प्रति आसक्त देखकर कोप भवन में चली जाती है। न्यायरसिक के मनाने पर भी वह प्रसन्न नहीं होती। साक्षात्कारिणी का पिता चार्वाक भी न्यायरसिक पर अप्रसन्न हो जाता है। न्यायरसिक रघुनाथ शिरोमणि आदि तार्किकों की सहायता से चार्वाक को पराजित करने का निश्चय करता है। अन्ततः अनुमिति के साथ न्यायरसिक का विवाह होता है।

न्यायशास्त्र के तत्त्वों को पात्र बनाकर अनुमिति प्रक्रिया को स्पष्ट करने वाला यह रूपक विशेष महत्त्व रखता है। इसमें नान्दी, प्रस्तावना, विष्कम्भक आदि का यथास्थान प्रयोग हुआ है। इसमें अनुमिति आदि अमूर्त और चार्वाक आदि मूर्त पात्र हैं। इसका प्रथम अङ्क पूर्णरूप से तथा द्वितीय अङ्क केवल कुछ अंश रूप से उपलब्ध है।

• • • •

---

१. यह नाटक अभी तक अप्रकाशित है। इसकी एक हस्तलिखित प्रति गवर्नमेण्ट ओरियण्टल मैन्यू-स्क्रिप्ट्स लाइब्रेरी, मद्रास में हस्तलिखित ग्रन्थ संख्या १२४६३ में मिलती है। (१८वीं शती के संस्कृत रूपक पृ० ६३ की पाद टि० सं० ३)

२. एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, पृ० ६८२।

वत्सराज के रूपक

– डॉ० रमाकान्त झा

वत्सराज

वत्सराज कालिञ्जर नरेश परमर्दिदेव के अमात्य[1] थे। परमर्दिदेव ही 'परमाल' के नाम से प्रसिद्ध थे, जिनके पृथ्वीराज चौहान से पराजित होने की घटना का वर्णन चन्दवरदाई ने 'पृथ्वीराजरासो' में किया है। वत्सराज परमर्दिदेव के पुत्र त्रैलोक्यवर्मदेव के राज्य में भी अमात्य पद पर प्रतिष्ठित थे। वत्सराज का समय १२वीं शती का उत्तारार्ध तथा १३ वीं षती का पूर्वार्ध माना जाता है।[2] कालिञ्जर मध्यदेश में ६ वीं षती से १३ वीं षती तक वीरभूमि के रूप में प्रसिद्ध रहा है। कला और काव्य का अनुपम साहचर्य उस युग की विशेषता है। इस प्रदेश का नाम चन्देल राज्य के श्रेष्ठ राजा जयशक्ति के नाम पर 'जेजाकभुक्ति' पड़ा। इसी वंश में १० वीं शती में महान पराक्रमी राजा यशोवर्मा हुआ, जिसने भारतवर्ष के अधिकांश भागों पर विजय प्राप्त कर खजुराहो में विष्णु का मन्दिर और एक जलाशय का निर्माण कराया। कीर्तिवर्मा और मदनवर्मा भी इस वंश के प्रसिद्ध राजा थे। इन्हीं महान राजाओं की परम्परा में ११६५ ई० में परमर्दिदेव षासक हुए। इन्हीं का पुत्र त्रैलोक्यवर्मदेव उच्च कोटि के विजेता राजा हुए। त्रैलोक्यवर्मदेव का समय १३ वीं षती का अन्त है।[3] परमर्दिदेव और त्रैलोक्यवर्मदेव दोनों राजाओं के अमातय होने के कारण वत्सराज १२ वीं शती के उत्तरार्ध और १३ वीं शती के पूर्वार्ध के प्रतिष्ठित रूपककार थे।

रचनाएं–

संस्कृत साहित्य में वत्सराज के छः रूपक प्रसिद्ध हैं– १. कर्पूरचरित (भाण), २. हास्यचूडामणि (प्रहसन), ३. त्रिपुरदाह (डिग), ४. किरातार्जुनीय (व्यायोग) ५. समुद्रमन्थन (समवकार), ६. रूक्मिणीहरण (ईहामृग) । इन रूपकों का प्रकाशन 'वत्सराज प्रणीत रूपकषटकम्' नाम से गायकवाड़ ओरियण्टल सीरीज सं० ८ बड़ौदा से १९१८ में हुआ है। पुस्तक की प्रति सम्पूर्णानन्द संस्कृत विश्वविद्यालय, वाराणसी के सरस्वती भवन में संरक्षित है। वत्सराज ने रूपक के प्रायः सभी अप्रचलित भेदों पर एक-एक कृति लिखकर अपने वैदुष्य का परिचय दिया है। इन लघुरूपकों में नाटकीय सक्रियता, रोचकता एवं कुतुहलपूर्ण घटनाओं का सन्निवेश है।[4]

---

१. राजा परमर्दिदेव आत्मनोघ्मात्येन कविनावत्सराजेन विरचितं हास्यचूडामणिं नाम प्रहसनमादिशति भवन्तम्। हास्यचूडामणि-प्रस्तावना।

२. आचार्य बलदेव उपाध्याय,संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ०६३६।

३. डा० रामजी उपाध्याय, मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ० २२६।

४. डा० खण्डेवाल, संस्कृत साहित्य की प्रवृ ियाँ, पृ० २४८ ।

कर्पूचरित

वत्सराज रचित कर्पूचरित 'भाण' प्रकार का रूपक है। इस रूपक का प्रथम अभिनय नीलकण्ठ यात्रा के अवसर पर हुआ था। इसमें कर्पूरक नामक धूर्त जुआरी की आत्मकथा चन्दनक नामक अन्य विट के साथ 'आकाशभाषित' रीति से सम्वाद के माध्यम से वर्णित है। कर्पूरक अपने एकालाप में अपनी रंगरेलियों, द्यूतक्रीड़ा और प्रणयलीला का वर्णन करता है। कर्पूरक के मत में माया-व्यापार से बड़े-बड़े कार्य सिद्ध किए जा सकते हैं। द्यूतशाला की ओर जाते हुए कर्पूरक की दृष्टि चन्दनक नामक जुआरी पर पड़ती है। वह चन्दनक से अपनी प्रेयसी विलावती के साथ अपनी प्रणयलीला का वर्णन करता है और यह भी बताता है कि किस प्रकार उसने मज्जरीक नामक नागर को ठगा है। एक दिन कर्पूरक विलासवती की ओर से उपहार लेकर मज्जरीक के पास जाता है और यह कहता है कि विलासवती की माता कलावती ने मुझे आपके पास इस संदेश के साथ भेजा है कि विलासवती आपके वियोग में मरणासन्न है, आप आकर उसकी प्राणरक्षा कीजिए। मज्जरीक विलासवती के उपहार को स्वीकार करता है और प्रसन्न होकर एक सहस्त्र स्वर्णमुद्राएं कर्पूरक को देता है। यह मज्जरीक से स्वर्ण मुद्रा प्राप्त करने की कर्पूरक की कपट योजना है। जो अंशुक कर्पूरक ने उपहार के रूप में मज्जरीक को दिया है, वह उसे गणिका चन्द्रसेना के घर चोरी करने से मिला है।

चन्दनक चन्द्रसेना से प्रेम करता है, किन्तु चन्द्रसेना हारदत्त पर आसक्त है। कर्पूरक हारदा का हार लेकर चन्द्रसेना के पास पहुँचता है और कहता है किम आज हारदा द्यूतक्रीड़ा में विजयी हुआ है। इस उपलक्ष्य में उसने आपको उपहार स्वरूप यह हार भेजा है। इस प्रकार कर्पूरक हारदा को भी अपने मायाजाल में फाँसता है। अन्त में विरोधक नामक एक व्यक्ति से कर्पूरक को यह ज्ञात होता है कि चन्दनक का प्रतिपक्षी हारदत्त राजाज्ञा से निर्वासित कर दिया गया है और कर्पूरक के प्रणयपथ में बाधा डालने वाली कलावती को विलासवती ने घर से निकाल दिया है। अन्ततः चन्दनक का चन्द्रसेना से और कर्पूरक का विलावती से सुखद मिलन होता है।

कर्पूरचरित में वत्सराज की कल्पना का उत्कर्ष प्रचुर मात्रा में विद्यमान है। कवि ने यमक का सन्निवेश कर्पूरक और मज्जरीक आदि को कपूर और मज्जीर से सप्रसगं उपमित कर किया है। इस रूपक में पूर्ववर्ती कवियों की उक्ति का भी यत्र-तत्र अनुहरण हुआ है। पूर्ववर्ती भागों की श्रृगांरिक वृत्तियों और प्रवृत्तियों के साथ ही इसमें माया-व्यापार के चमत्कार को प्रदर्शित किया गया है। इस 'भाण' में रगंमंच पर एकाकी पात्र कर्पूरक अपने गायन से भी प्रेक्षकों का मनोरंजन करता है। 'कर्पूरचरित' वत्सराज की सफल नाटयकृति है, जिसकी रचना शास्त्रबद्ध रीति से हुई है।

'कर्पूरचरित' रूपक की भाषा शैली सरल एवं प्रवाहपूर्ण है। कहीं-कहीं उक्ति में उपालम्भ का पुट रोचकता का आधायक है। देवोपलम्भ का एक वर्णन द्रष्टव्य है-

पूजोपहारविनियोगपरम्पराभि-
रायासयन्ति च धनानि च संहरन्ति।
आशामयं दृढमपि द्रढयन्ति पाशं।
विश्वप्रलम्भनपरा हि सदैव देवाः।। (कर्पूर २४)

विषय के स्पष्टीकरण में कथन की स्वाभाविकता रूपककार की अनुभवशीलता की परिचायिका है। गणिका कुट्टनी से छुटकारा पा गई मानो चन्दनलता सर्पिणी से मुक्त हो गयी, इस तथ्य का वर्णनपकर पद्य कितना मर्मस्पर्शी है-

पीयूषसिन्धुरजनिष्ट विनष्ट नक्रः
प्रोच्छिन्नदुर्जनकथाजनि काव्यगोष्ठी।
जाताद्य चन्दनलता भुजगीवियुक्तां
यत् कुट्टनीविरहिता गणिका बभूव।। (कर्पूर ३०)

हास्यचूडामणि

वत्सराज का द्वितीय रूपक 'हास्यचूडामणि' दो अक्कों का प्रहसन है। इसका भी प्रथम अभिनय नीलकण्ठ यात्रा महोत्सव के अवसर पर सामाजिकों के अनुरज्जन के लिए राजा परमर्दिदेव ने कराया था। प्रहसन का कथानक इस प्रकार है- मदन सुन्दरी वेश्या की माता कपटकेलि को चेटी से ज्ञात होता है कि रात में चिरकाल से संचित उसके आभूषणों को चोर ले गये। आभूषण चोरी का समाचार सुनकर कपटकेलि अनुमान करती है कि मदनसुन्दरी के प्रेमी जुआरी कलाकरण्डक ने ही यह चोरी की है। वह चोर का पता लगाने केवलीविद्या का रहस्य बता रहा है। केवलीविद्या के द्वारा खोयी तथा गड़ी हुई चीजों का पता लगाया जाता है। कपटकेली ज्ञानराशि से आभूषण चोरी की बात बता कर वास्तविक चोर का नाम पूछती है। ज्ञानराशि चोर के रूप में पहले कपटकेली का किन्तु बाद में कोकिल ओर पारावत का नाम बताता हैं। कपटकेली घर लौट आती है। ज्ञानराशि कपटकेली की अंगूठी पहनकर जुए में कलाकरण्डक की जीत के लिए मान्त्रिक जप करने चला जाता है। जप समाप्त कर वह पुनः उद्यान में लौट आता है। उसी समय मदनसुन्दरी चेटी के साथ देव-पूजन के लिए आती है। मदनसुन्दरी को देखकर ज्ञानराशि कामविह्वल हो उठता हैं वह मदनसुन्दरी के स्पर्श से सुरभित वेदिका पर बैठ जाता है। ज्ञानराशि का शिष्य दुर्निग्रह गुरू की यह दशा देखकर उसकी खिल्ली उड़ता है। कपटकेलि पूजन सामग्री लेकर वहाँ आती

है और ज्ञानराशि को कषायवस्त्र उतार कर प्रणय के लिए आमंत्रित करती है। उसी समय ज्ञानराशि को खेजते हुए कोकिल औरा पारावत दोनों आते हैं। शिष्य दुर्निग्रह उनको बताता है कि हमारे गुरू धरती में छिपे धन को जानते हैं। इनके बिना यह विद्या नष्ट हो जायेगी। धरती में छिपा धन जहाँ का तहाँ धरा रह जायेगां कोकिल और पारावत ज्ञानराशि से छिपे धन को दिखाने का आग्रह करते हैं। गुरू के आदेश से शिष्य लागलीरस ले आता है। ज्ञानराशि सबसे पहले कोकिल और पारावत की आँखों में लागलीरस का अंजन लगा देता है। अंजन लगते ही उन दोनों को कुछ दिखायी नहीं देता है। वे दोनों गुरू-शिष्य की आँखों से अपनी आँखें मल देते हैं। ज्ञानराशि के ही कहने पर सब निकटवर्ती जलाशय के पास जाते है। वहा। कलाकरण्डक मदनसुन्दरी के साथ पानगोष्ठी का आनन्द ले रहा है। कलाकरण्डक सबकी आँखें धो देता है। कलाकरण्डकके आदेश से कोकिल और पारावत ज्ञानराशि के चरणों में नतमस्तक होते हैं।

प्रस्तुत रूपक का नायक ज्ञानराशि भागवत सम्प्रदाय का आचार्य होकर भी कामी और धूर्त है। वह केवली विद्या के माध्यम से विभिन्न छल प्रपंचों और आभिचारिक क्रियाओं से अपना व्यवसाय चलाता है। उसके तथाकथित शिष्य को उसमें तनिक भी श्रद्धा नहीं है। वह अपने गुरू का उपहास भी करता रहता है। संस्कृत के कतिपय प्रहसनों में हास्यचूडामणि वस्तुतः अपना नाम सार्थक करता है। इसमें श्रृगांर की अपेक्षा अभिचार क्रियाओं की प्रधानता है। समाज की विषम और घातक प्रवृत्तियों के भण्डाफोड़ में नाटककार विशेष सफल है। धार्मिक कृत्यों को छोड़कर भौतिक कार्यों की अनुरक्ति का वर्णन इस प्रहसन का उद्श्य है। इसमें ढोंगी गुरू-शिष्य के क्रिया-कलापों से लोगों को सावधान रहने का संकेत मिलता है।

'हास्यचूडामणि' प्रहसनप्रकार का रूपक है और इसमें साहित्यिक वैशिष्ट्य भी प्रक्षकों के हृदय को आवर्जित करता है । सूत्रधार के मुख से अस्ताचलगामी चन्द्रमा की दशा का चित्रण हृदयग्राही है-

नवविचकिलमालामांसलैर्यस्तदानीं मदनमयमशेषं विश्वमेतद्व्यधायि।
परमशिखरशीर्षे सन्निविष्टास्त एव दधति पलितभङ्गि भावनः श्वेतीनोः।।

(हास्य०)

मदनसुन्दरी की विवशता निम्न पद्य में द्रष्टव्य है-

भुज्जानाः सहकारकोरकविषं प्राणन्ति पुष्पन्धयाः
कण्ठः कोकिल योषितां नभकुहूशब्दाग्निना दहयते।

श्रीखण्ठानिलकालकूटपवनैर्मूच्छन्ति नैता लता

धिड्मृत्योरसमर्थतां स्मरशरैर्विद्धाऽपि जीवाम्यहू।। (हास्य० २१३)

रूपक के भरतवाक्य की पदशय्या शब्द सौष्ठव का सुन्दर निदर्शन है-

अवनिमवनिपालाः पालयन्तु प्रकामं

विदधतु शुभदृष्टिं दत्तमोदाः पयोदाः।

भवतु भवतु लोकः शोक वेदेशिकात्मा

श्रजनिरमणलेखाशंखरध्वानधन्यः।।

त्रिपुरदाह

वत्सराज का तृतीय रूपक 'त्रिपुरदाह' चार अङ्कों का डिम है। इस विधा की कोई भी पूर्वकालिक रचना अप्राप्त होने के कारण इसका विशेष महत्व है। भरतमुनि ने नाटयशास्त्र में त्रिपुरदाह नामक डिम के प्रथम प्रयोग का उल्लेख किया है। इसी संकेत के आधार पर वत्सराज ने इस रूपक की रचना की है।[1]

'त्रिपुरदाह' की कथावस्तु पौराणिक है। इसमें भगवान् शंकर के द्वारा त्रिपुरासुर के संहार का विस्तृत वर्णन है। नारद मुनि ब्रह्मा के वरदान से गर्वित दानवों के उत्कर्ष से चिन्तित होकर भगवान् षंकर के पास पहुँचते हैं। शिवलोक में देवगण आशुतोष शिव की उपासना कर रहे हैं। नन्दी के पूछने पर देवगुरू बृहस्पति आकाशचारी त्रिपुरासुर को संसार का धूमकेतु कहते हैं। उसी समय राहु के द्वारा सूर्य को ग्रसने की बात सुनाई पड़ती है। षंकर राहु को मारने के लिये उद्यत होते हैं, किन्तु नन्दी उन्हें त्रिपुरासुर को मारकर देवयान और पितृयान को मुक्त करने की प्रार्थना करता है। इस देवासुर संग्राम के नायक बनते हैं कुमार कार्तिकेय। भगवान् षंकर इस युद्ध में सम्मिलित होने का सन्देश देकर नारद को ब्रह्मा और विष्णु के समीप भेजते है। इन्द्रादि देवता भी युद्ध का सन्देश पाते हैं।

गुप्तचरों से देवताओं के युद्ध की तैयारी का समाचार सुनकर त्रिपुरासुर नारद के कपट वेष में अलीक और विपरीत को क्रमशः ब्रह्मा और शिव के पास भेजता है। दोनों कपटी दानव ब्रह्मा और षंकर में वैमनस्य उत्पन्न करने का प्रयास करते हैं, किन्तु विष्णु दानवराज की इस कपट योजना को समझ जाते हैं और सन्देश भेजकर ब्रह्मा और शिव को सावधान कर देते हैं। तीनों देवता परस्पर मिलकर दानव का संहार का निश्चय करते हैं।

---

१. श्री बलदेव उपध्याय, संस्कृत साहित्य का इतिहास, पृ० ६३६।

दानव स्वर्ग पर अधिकार करने के लिए प्रयाण करते हैं, किन्तु विष्णु इन्द्रजाल द्वारा उनके मार्ग को

अन्धकार से आच्छन्न कर देते हैं। दानव उस मायिक अन्धकार को कौमुदी माया से दूर करते हैं। तत्पश्चात् देवगण त्रिपुर पर आक्रमण करते हैं। दानवराज सर्वताप अपने दोनों भाइयों- सूर्यताप और चन्द्रताप के साथ देवताओं से युद्ध करते हैं। सूर्यताप के साथ कुमार कार्तिकेय का युद्ध होता है, किन्तु भाग्रव के आ जाने से दोनों का युद्ध बन्द हो जाता है। देवताओं की ओर से युद्ध का उपक्रम होता है। पृथ्वी रथ बनती है। उसमें ब्रह्मा सारथि, षंकर रथी, हिमालय चापदण्ड, शेषनाग प्रत्याञ्चा और विष्णु बाण बनते हैं। इन्द्रादि देवगण रथ के अनुगामी बनते हैं। षंकर के रथारूढ़ होते ही त्रिपुरी दृष्टिगोचर होती है। विष्णु यह जान लेते हैं कि यह कोई दूसरी त्रिपुरी है। वास्तविक त्रिपुरी नहीं। इस कपटत्रिपुरी का निर्माण दैत्यगुरू शुक्राचार्य ने किया है। उसी समय वास्तविक कपटपुरी भी सामने आ जाती है। मायात्रिपुरी दूर हट जाती है। भगवान् षंकर बाण प्रहार से त्रिपुरी का संहार करते हैं। त्रिपुरवध के बाद षंकर अपना रथ को कैलास पर रोक कर देवताओं से कहते हैं कि यह मेरी विजय नहीं, अपितु आप सबकी विजय है।

इस रूपक की पौराणिक कथा सुप्रसिद्ध है। इसमें देवताओं के जिस सामूहिक प्रयास का वर्णन है, वह उच्चता और गरिमा में संस्कृत वाङ्मय के बहुमूल्य रत्न के रूप में सदा उद्भासित रहेगा । इसमें देवों के अलौकिक ऐश्वर्य और सात्विकता का अनूठा आदर्श विद्यमान है। 'त्रिपुरदाह' में कपटनारद की कल्पना का आधार भवभूति के महावीरचरिजत का कपट-दशरथ प्रसंग प्रतीत होता है। इसमें कपटत्रिपुरी का समयोजन कवि कल्पना के नूतन आयामक संकेत देता है।[1]

परवर्ती युग में विष्कम्भक और प्रवेशक का अन्तर धूमिल पड़ गया था। इस रूपक के द्वितीय अङ्क के आरम्भ में अलीक और विपरीत सदृश अधम पात्रों का प्राकृत भाषा में सम्वाद प्रवेशक होना चाहिए, किन्तु इसे विष्कंभक कहा गया है। इसमें परिहास का उच्चस्तर है। कपटनारद के भेद खुलने पर महेश-विष्णु संवाद परिहासपूर्ण है। इसमें चूलिका के द्वारा अदृष्ट घटनाक्रम का सफल विन्यास है।

रंगमञ्च पर युद्ध वर्जित है, किन्तु यह रूपक इस नियम का अपवाद है। इसमें रंगमञ्च पर सर्वताप और कुमार के युद्ध का दृश्य दिखाया गया है। स्वप्न और षकुन का भी उपयोग भावी घटनाओं की पूर्वसूचना के लिए हुआ हैं इस रूपक के सभी पात्र देव और दानव कोटि के हैं। उनका मानवोचित व्यवहार पर्याप्त मनोरंजक है। वतसराज की षाबदी क्रीड़ा में अभिरूचि है-

---

१. डा० रामजी उपध्याय, मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ० २४७।

"सखे कुबेर धनदोऽसि तदानीं निधनदो भव विद्विषाम्।

शापेनैव केशवं षवी करोमि। नारद पारदोऽसि वियतपारावास्य।"

सूक्तियों के प्रयोग से नाटककार ने अपनी षैली में प्रभविष्णुता का सुभग सम्पुट दिया है। इसमें भरतवाक्य देवराज इन्द्र द्वारा प्रस्तुत किया गया है, रूपक के नायक शिव द्वारा नहीं। त्रिपुरदाह में अलंकार की योना अर्थाभिव्यक्ति में विशेष उपादेय है। जिस लक्ष्मी का दान न किया जाय, वह प्रयत्नपूर्वक रक्षित होने पर भी बाँझ गाय की भाँति गृहस्थों के लिए सकष्टकर होती है, इस तथ्य का वर्णन निम्न पद्य में उपमा के द्वारा किया गया है-

पुष्टापि रक्षितापि प्रयत्नतो दान विरहिता लक्ष्मीः।

गौरिव वन्ध्या भूता भवति कष्टदा गृहिणः।। (त्रिपुर १/५)

एक छोटे से पद्य में रूपक और उत्प्रेक्षा का समावेश कितना मनोरम है-

अविमृश्यकारितेयं क्रूरा कालोरगी हहा काऽपि।

यद्दष्टमनिशमन्तः सशल्यमिव तप्यते हृदयम्।। त्रिपुर २/८)

किरातार्जुनीय

वत्सराज का चतुर्थ रूपक "किरातार्जुनीय" एक अंक का व्यायोग हैं। इस एकांकी रूपक की कथावस्तु का आधार महाभारत और भारवि का किरातार्जुनीयम् महाकाव्य है। इसमें किरातवेषधारी शिव और अर्जुन के युद्ध का वर्णन है। रूपक का कथानक इस प्रकार है-

रूपक के नायक अर्जुन शिव को प्रसन्न करने के लिए तपस्या कर रहे हैं। स्वर्ग से अप्सराओं की विमानमाला अर्जुन के समीप उतरती है। अर्जुन समझ जाते हैं कि उनकी तपस्या में विघ्न डालने के लिए कामदेव ने इन्हें भेजा है। वे सुरक्षा के लिये अपने चारों ओर बाणों का जाल बिछा देते हैं। अप्सराओं के विमान स्वर्ग लौट जाते हैं। तत्पश्चात् एक महामुनि वहाँ आते हैं और अर्जुन की तपस्या करने का कारण पूछते हैं। अर्जुन अपनी तपस्या का उद्देश्य शिव प्रसादन बताते हैं। महामुनि इन्द्र के रूप में प्रकट होकर और अर्जुन को आर्शीवाद देकर चले जाते हैं। अर्जुन पुनः शिवोपासना में तल्लीन हो जाते हैं। उसी समय एक महावराह वहाँ आ जाता है। अर्जुन वराह से सबकी रक्षा के लिए शिव से प्रार्थना करते हैं। नेपथ्य से आवाज आती है कि किरात ही शिव का कार्य करने जा रहा है। अर्जुन के बाण-प्रहार से पहले ही किरात अपने बाण से उस वराह को धराशाही कर देता है। अर्जुन अपना बाण उठाने के लिए वराह के पास पहुँचते हैं, किन्तु वहाँ बाण एक ही है और वराह को दो घाव लगे हैं। बाण को लेकर अर्जुन और किरात में विवाद होता हैं ।

अर्जुन को क्रुद्ध करने के लिए किरात तुरन्त दुर्योधन का रूप धारण कर लेता है। फिर दुर्योधनरूप धारी शिव और अर्जुन में घोर युद्ध होता है। अर्जुन की वीरता से प्रसन्न होकर शिव अपने रूप में प्रकट होकर अर्जुन को पाशुपत अस्त्र देते हैं।

कवि ने मूलकथा में पर्याप्त परिवर्तनकरके इसे नाटयोचित संक्षिप्त रूप दिया है। शिव का किरात से दुर्योधन का रूप धारण करके अर्जुन से युद्ध करना कवि की मौलिक सूझ है। इस रूपक के नायक अर्जुन 'व्यायोग' के अनुरूप धीरोद्धत प्रकृति के व्यक्ति हैं। इसमें कवि की वाक्पटुता और अनुप्रास की छटा मनोरम है। वत्सराज की शैली व्यञ्जनापूर्ण रसनिर्भरता का सुन्दर निदर्शन है।

इस लघुकाय रूपक में काव्य सौन्दर्य की झांकी भी मिल जाती है। तपोनिरत धनुर्धारी अर्जुन को देखकर किरात की निम्न उक्ति में उत्प्रेक्षा का चमत्कार देखते ही बनता है-

एक : करः कलयति स्फटिकाक्षमालां घोरं धनुस्तदितरश्च बिभर्ति हस्तः।
धर्मः कठोर कलिकालकदर्थ्यकानः सत्क्षत्रियस्य षरणं किमिवानुयातः।।

(किरात० ३६)

व्राह करी दाढ़ की क्रूरता के वर्णन में नामधातु का प्रयोग भाषा की दृष्टि से कवि के षब्दप्रयोसामर्थ्य का परिचायक है-

कुद्दालीयति सान्द्रकन्दपटले बाढं कुठारीयति
स्कन्धाग्रेषु परश्वधीयति शिखाशाखासु सम्पातिनी।
दंष्ट्रेयं विकटा किटेः प्रतिदिनं मार्गद्रुमद्रोणिषु
क्रूरक्रूरपराक्रमप्रणयिनी किं किं न सम्पद्यते।। (किरात० ३८)

रूक्मिणीहरण-

वत्सराज का "रूक्मिणीहरण" रूपक चार अकों का ईहामृग हैं.इसका सर्वप्रथम अभिनय कालिञ्जर के चक्रस्वामी- यात्रा में चन्द्रोदय के समय हुआ था। रूपक का कथानक इस प्रकार है- विदर्भनरेश भीष्मक की कन्या रूक्मिणी की आचार्या सुबुद्धि छात्री सुवत्सला के साथ द्वारका आकर कृष्ण से कहती है कि चेदिनरेश शिशुपाल रूक्मिणी से विवाह करना चाहता है, किन्तु रूक्मिणी ने स्वयं पति के रूप में आपका वरण कर लिया है। रूक्मिणी का भाई रूक्मी शिशुपाल के पक्ष में कृष्ण से शत्रुभाव रखता है। शिशुपाल का दूत प्रियंवदक कृष्ण को शिशुपाल और रूक्मी का पत्र देता है। पत्र की भाषा से क्रुद्ध बलराम शिशुपाल और रूक्मी से युद्ध करने के लिए उद्यत होते है। कृष्ण और बलराम

की मंत्रणा के समय शिशुपाल का दूत सन्धानक आता है और शिशुपाल की ओर से एक मणिमाला कृष्ण को उपहार में देकर कहता है कि आगामी वैशाख में शिशुपाल और रूक्मिणी का विवाह है। आपको इस विवाह में सम्मिलित होने का निमंत्रण है। कृष्ण निमंत्रण को स्वीकार कर लेते हैं।

रूक्मिणी शिशुपाल के साथ विवाह का समाचार सुनकर व्याकुल है। उसको आश्वस्त करने के लिए कृष्ण का चित्र दे दिया गया है। कृष्ण कुण्डिनपुर आकर शिविर में ठहरे हैं। सुबुद्धि रूक्मिणी का चित्र लेकर कृष्णशिविर में आती हैं कृष्ण चित्रगत रूक्मिणी का पाणिग्रहण करते हैं। रूक्मिणी भी चित्रगत कृष्ण का वरण करती है। चेटी मकरन्दिका कृष्ण के चित्र में रूक्मिणी का चित्र बना देती है। रूक्मिणी के स्वयंवर में भाग लेने के लिए राजाओं की टोली चलती है। रूक्मिणी उसे देखने के लिए राजप्रासाद पर जाती है और प्रासाद के गवाक्ष से कृष्ण को देखती है। भावविहलता में उसके हाथ से चित्रफलक गिर पड़ता है। कृष्ण को चित्र की आकृति से मिलती रूक्मिणी दृष्टिगोचर होती है। रूक्मी के साथ शिशुपाल का रथ निकलता है। रूक्मिणी सुबुद्धि के साथ इन्द्राणी की पूजा करने जाती है। कृष्ण इन्द्राणी-पूजा के समय रूक्मिणी का हरण कर लेते हैं। कृष्ण और शिशुपाल में पहले वाग्युद्ध और बाद में मायायुद्ध होता है। कृष्ण रूक्मी और शिशुपाल को पराजित कर बन्दी बना लेते हैं। तत्पश्चात बलराम और कृष्ण रूक्मिणी के साथ द्वारका प्रस्थान करते हैं।

रूपक की कथा का उपजीव्य हरिवंश और भागवत है। मूलकथा में अनेक परिवर्तन किए सगये हैं। सुबुद्धि और गरूड के कार्यकलाप तथा चित्रप्रसंग कवि की निजी कल्पना है। तृतीय अंक के आरम्भ में सुबुद्धि की एकोक्ति कलात्मक दृष्टि से उत्तम हैं। कवि की अनुप्रास नयी भाषा में प्रसाद गुण और वैदर्भी रीति का मंजुल समन्वय है। संवाद की भाषा सरल और स्वाभाविक है। साहित्यिक दृष्टि से 'रूक्मिणीहरण' की वर्णनचातुरी आलंकारिक है। सायंकाल में रूपक के माध्यम से चन्द्रमा के षीघ्र उचित होने के हेतु में उत्प्रेक्षा का एक उदाहरण द्रष्टव्य हैं-

उदयगिरि कुरङ्गीरागपाशेन कृष्टः
परिपततु कुरङ्गो मा ममायं विमूढः।
इति हृदि कृतशङ्को नूनमेणाङ्क एष।
त्वरितपदमुपैति व्योमरङ्गस्य मध्यम्।।

अस्ताचलगामी भास्कर के लिये नेपथ्य से दिया गया आश्वासन कितना मर्मस्पर्शी है-

यामानिमान्कतिपयानपराम्बुराशि-
सौधस्थितो गमय मीलितरश्मिनेत्रः।
सूर्यप्रसीद पुनरुदयाधिरूढ़ः
प्रह्लादयिष्यसि जगन्नवकान्तिकान्तः।। (१/२८)

उद्धव की निम्न उक्ति में अर्थान्तरन्यास के द्वारा लोक मर्यादा के उल्लंघन न करने का निर्देश अत्यन महत्वपूर्ण है-

सिध्यन्ति कामा बलिनां बलेन
लोकस्थितिः किन्तु न लङ्घनीया।
दृष्ट्यैव संहर्तुमलं गिरीशः।
शत्रुच्छिदे सज्जयति त्रिशूलम्।। (२/१२)

• • • •

वत्सराज का समुद्रमन्थन तथा अन्य परवर्ती काल के समवकार तथा रूपक प्रकार

- डा० नरेश झा

साहित्यशास्त्र में काव्य के प्रथमतः दो भेद किये गये हैं- दृश्य और श्रव्य।[1] दृश्य को अभिनेय अथवा रूपक भी कहते हैं। दृश्य काव्य को रूपक इसलिये कहा जाता है कि इसके अभिनेता (नट आदि) इसमें अंकित विविध चरितों के स्वरूप का अपने मन तथा हाव-भाव में आरोप किये हुए दृष्टिगोचर होते हैं।[2] और आरोप ही रूपक हैं इन दोनों में तादात्म्य बुद्धि की स्थापना करनी पड़ती है- जैसे मुख में (जो वास्तविक चन्द्र नहीं है) चन्द्रत्व का आरोप। यही आरोप रूपकालअंलकार का बीच माना जाता है। यद्यपि सामान्य दृष्टि से नाटय, रूप और रूपक एक दूसरे के पर्यायवाची है, कहने का आशय यह है कि जो नाटय है वही रूप है और वही रूपक भी है। हाँ शुद्ध भेद से सामान्य अर्थ भेद होना तो स्वाभाविक है ही।

सर्वप्रथम आचार्य भरतमुनि ने अपने नाटयशास्त्र में दशरूपकों का विधान किया, जिसमें एक समवकार भी है। वैसे तो नाटयशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में ताण्डवलक्षण के प्रसंग में ब्रह्मा के आदेशानुसार 'अमृत मन्थन' समवकार का भरतमुनि द्वारा प्रथम प्रयोग कास उपस्थापन' हुआ है, किन्तु उसका साङ्गोपाङ्ग विवेचन बीसवें अध्याय में प्राप्त होता है। तद्यथा-

प्रकरण-नाटक लक्षणयुक्तं विप्रा मया समासेन।
वक्ष्याम्यतः परमहं लक्षणयुक्तं समवकारम्।।[3]

शास्त्रवर्णित तथ्यों के अनुसार समवकार रूपक की कथावस्तु प्रसिद्ध देव एवं दैत्यों से सम्बद्ध हुआ करती है। अतः इतिहासप्रसिद्ध बारह संख्यक देव या तत्तुलय अथवा राक्षस पात्र होते हैं। इसमें नाटक के समान ही आमुख की भी योजना होती है। समवकार में विमर्श सन्धि और कैशिकी वृत्ति नहीं होती है तथा इसमें तीन अङ्क होते हैं। उन तीनों अङ्कों में तीन प्रकार के कपट, धर्म, अर्थ, काम और श्रृगांर समायोजित रहते हैं। प्रत्येक

---

१. साहित्यदर्पण ६/१-दृश्यश्रव्यत्वभेदेन पुनः काव्यं द्विधा मतम्।
२. वही।
३. नाटयशास्त्र २०/६३।

अङ्क में कपट, विद्रव और शृगांर के एक एक प्रकार का अद्भुत चित्रण होता है। अनुष्टुप्, उष्णिक् और कुटिल छन्द इसके अनुकूल पड़ते हैं।

नाटयशास्त्र (ई०पू० प्रथम या द्वितीय शती) के उपर्युक्त लक्षण से विलसित धनञ्जय (दशवीं शती) ने दशरूपक में, सागरनन्दी (११वीं शती) ने नाटकलक्षणरत्नकोश में, हेमचन्द्र (बारहवीं शती) के काव्यानुशासन में, रामचन्द्र तथा गुणचन्द्र (बारहवीं शती) ने नाट्यदर्पण में, शारदातनय (१३वीं शती का प्रारंभ) ने भाव प्रकाशन में, सिंह भूपाल (चतुर्दश शती) ने रसार्णवसुधाकर में और आचार्य विश्वनाथ कविराज (१५वीं शती) ने साहित्यदर्पण में समवकार का लक्षण गृहीत किया है-सबका सारांश यह है कि 'समवकीर्यन्ते बहवो रसा यत्र इति व्युत्पत्या सर्वरसावस्थानं सूच्यते" अर्थात् अनेक रसों का जहाँ विकीकरण हो तथा उनमें वीर रस प्रधान हो वही समवकार है। यही कारण है कि विविध दुर्लभ लक्षणों से युक्त समवकार के अधिक उदाहरणस्वरूप ग्रन्थ नहीं मिलते हैं। नाटयशास्त्र के चतुर्थ अध्याय में 'अमृत मन्थन' के प्रयोग का निर्देश किया गया है-इससे अभी केवल संकेत मात्र मिलता है। किन्तु उस समय उसका प्रयोग अवश्य किया गया है, यथा-

योऽयं समवकारस्तु धर्मकामार्थसाधकः।

मया प्राग्ग्रथितो विद्वन् स प्रयोगः प्रयुज्यताम्।।

अर्थात् हे विद्वन! मैंने जिस समवकार की रचना की है, वह धर्म, काम और अर्थ का साधक है। आप उसी नाटय का अब प्रयोग करें।[२] उसी अमृत मन्थन के आधार पर कालान्तर में 'समुद्र मथनम्' का प्रयोग किया गया। ऐसा माना होगा। दूसरी बात यह है कि रूपक के डिम, समवकार, वीथी, अङ्क और ईहामृग इन पाँच भेदों का प्रचलन प्रायः नगण्य था। अतः प्रारम्भिक हजार वर्षो में समवकार का स्पष्ट उदाहरण नहीं मिल सका। हाँ आचार्य भरतमुनि समसामयिक महाकवि भाव विरचित 'पञ्चरात्र' समवकारका उदाहरण अवश्य हो सकता है। कतिपय विद्वानों ने इसे स्वीकार भी किया है। उस समय सर्वमान्य उदाहरण न मानने का एक यह भी कारण हो सकता है कि बहुत दिनों तक भास नाटकचक्र लुप्त अथवा अन्तरिक ही रहा। सुयोग से स्व० श्री टी० गणपति शास्त्री ने सन् १९०९ ई० में भास के १३ नाटकों को खोलकर 'त्रयोदश त्रिवेन्द्रम् नाटकानि' नाम से प्रकाशित किया। उनमें 'समवकार' का प्रथम संस्करण सन् १९१२ तथा द्वि० सं० सन् १९१७ में प्रकाशित हुआ। तक शास्त्री जी ने उसे स्पष्ट रूप से समवकार घोषित कर दिया। उन्होंने स्पष्ट रूप से कहा कि-

---

१. संस्कृत साहित्योतिहासः, पृ० १३२।

२. नाटयशास्त्र 'प्रदीप', ४/३।

श्रीमासरूपकस्तोमे व्याख्यां नानारसाश्रये।

कुर्वे समवकारस्य पञ्चरात्रस्य साम्प्रतम्।।

अब पञ्चरात्र को समवकार स्वीकार करने में कोई आपत्ति नहीं रह गई। लक्षणानुसार 'पञ्चरात्र' में तीन अङ्क हैं तथा एक यह भी आधार है कि इसमें एक से अधिक नायक जैसे पात्र हैं और वे न्यूनाधिक पुरुषार्थलाभ करते हैं। समवकार का उपस्थापन करते हुए सूत्रधार कहता है कि-

द्रोणः पृथिव्यर्जुनमदूतो यः कर्णधारः शकुनीश्वरस्य।

दुर्योधनों भीष्मयुधिष्ठिरः स पायाद् विराडुत्तरगोधभिमन्युः।।

इस सम्बन्ध में ए०बी० कीथ (संस्कृत ड्रामा के मूल लेखक) ने ठीक ही कहा है कि-पञ्चरात्र 'समवकार' में उस काल का प्रतिबिम्ब हे जब कौरवों ओर पाण्डवों को उस घातक संघर्ष से बचाने का प्रयास किया जाता है, जिसका अन्त कौरवों के नाश तथा पाण्डवों की गहरी क्षति में होता हैं द्रोण ने दुर्योधन के लिये उत्सर्ग किया है। वे उसके पारितोषिक रूप में पाण्डवों के लिये आधे राज्य का अनुदान चाहते हैं, जिस पर उनका न्यायोचित दावा है। दुर्योधन इस शर्त पर वचन देता है कि उनका पाँच रात के अन्दर पता लग जाय। परन्तु इस प्रस्ताव के अवसर पर उपस्थित लोगों में विराट् नहीं हैं। वे सौ कीचकों की मृत्यु पर शोक मना रहे हैं। भीष्म को संदेह है कि इस दुर्घटना के मूल में भीम अवश्य होंगे। दूसरे अङ्क के अन्त में उनकी प्रेरणा से विराट् की गायों पर आक्रमण करने का निश्चय किया जाता है, क्योंकि उन्हें आशा है कि इस प्रकार के तथ्यों को प्रकाश में ला सकेंगे। परन्तु यह चढ़ाई निष्फल जाती है क्योंकि पाण्डव विराट् के साथ छद्मवेष में हैं। अभिमन्यु बन्दी बना लिया जाता है और विराट् की पुत्री के साथ उसका विवाह होता है।

तीसरे अङ्क में सारथि समाचार लाता है, जिसमें साफ जाहिर है कि अर्जुन और भीम ने इस युद्ध में भाग लिया है, किन्तु तो भी दुर्योधन अपने वचन का पालन करता है[1] और कहता है कि-

बाढं दत्तं मया राज्यं पाण्डवेभ्यो यथापुरम्।

मृतेऽपि हि नराः सर्वे सत्ये विष्ठन्ति तिष्ठति।।[2]

समवकार की मर्यादा के अनुसार आचार्य द्रोण मंगलकामना करते हैं कि-

---

१. संस्कृतनाटक, भाषान्तरकार-डॉ-उदयभानुसिंह, पृ० ६०।

२. पञ्चरात्र-त्रिवेन्द्रम् त्रि० सं० के अन्त में।

हन्त सर्वे प्रसन्नाःस्मःप्रवृद्धकुल संग्रहाः।

इयामपि महीं कृत्स्नां राजसिंहः प्रशासनः।।'

समुद्रमन्थनम् (या अम्भोधिमन्थनम्) समवकार

नाटयशास्त्र में विर्णत दशरूपकों में डिम, समवकार, वीथी, अङ्क और ईहामृग इन पाँच भेदों का प्रचलन प्रायः बहुत कम रहा। यही कारण है कि इन रूपकों के उदाहरणस्वरूप ग्रन्थ दुर्लभ हैं।

नाटयसाहित्य के लिये यह सुयोग ही कहना चाहिये कि कालञ्जर देशाधिपति परमर्दिदेव के अमात्य कविवर वत्सराज ने उपर्युक्त उपेक्षित इन रूपकों के उदाहरणस्वरूप 'रूपक शट्कम्' नामक ग्रन्थ की रचना की। यह महत्वपूर्ण ग्रन्थ सेन्ट्रल लाइब्रेरी, बड़ौदा से सन् १९१८ में श्री चिम्मनलाल डी०दलाल, एम०ए० के सम्पाकदत्व में निकला। जिसमें (१) किरातार्जुनीय व्यायोग (२) कर्पूरचरित भाण, (३) रूक्मिणी परिणय ईहामृग, (४)त्रिपुरदाह डिम, (५) हास्य चूडामणि- प्रहसनम् और (६) समुद्रमथन समवकार हैं। इसी समवकार को उदाहरण के रूप में विभिन्न आचार्यो ने अपने ग्रन्थों में प्रस्तुत किया है। वत्सराजप्रणीत 'समुद्र मन्थन' समवकार में तीन अङ्क हैं। इसके अस्तित्व में आने और नामकरण की प्रेरणा भी नाटयशास्त्र (अमृतमन्थनम्) से मिली है जिसमें समवकार के आदर्श के रूप में इस प्रकार के नाम वाले रूपक का उल्लेख किया गया है। लालित्यपूर्ण नान्दीपाठ का उदाहरण के रूप में मात्र एक पद्य प्रस्तुत किया जाता है-

गङ्गाधरो रूचिरशीतकाभिरामो भालासिवह्निभसम्भृतवाडवाग्निः।

विभ्रद्विषं सुविषमं गुणरजरम्यो भर्गः समुद्र इव वर्द्धयतु श्रियं वः।।१।।

प्रस्तुत इस सपद्य में भगवान् सदाशिव विषपायी शंकर के विविध रूपों का वर्णन करते हुए रत्नाकर समुद्र के समान उनसे लक्ष्मी की वृद्धि की कामना की गयी है।

सूत्रधार और उसके ग्यारह भाई साथ-साथ संपत्ति पाना चाहते हैं। यह कैसे संभव है? स्थापक सुझाव देता है कि राजा परमर्द्दि अथवा समुद्र की सेवा से ही हो सकता है।

इस उक्ति को पकड़ कर नपेथ्य से कोई कहता है कि समुद्र से सारे मनोरथ पूर्ण होते हैं, तदनन्तर पद्यक आता है। यह रूपक (समवकार) देवताओं एवं दानवों के द्वारा किये गये समुद्रमन्थन (पौराणिक) के उपाख्यान पर आधारित है, जिस मन्थन के फलस्वरूप विष्णु को लक्ष्मी की तथा इस अद्भुत कार्य में भाग लेने वाले सुरासुरों को अन्य रत्नों की प्राप्ति होती है।[२]

---

१. तत्रैव।

२. संस्कृत नाटक, पृ० २८३।

इस समवकार के प्रथम अङ्क में जब सूत्रधार का प्रवेश होता है तब (प्राचीमवलोक्य सहर्षम् अये प्रागल्भ्यमाससाद प्रत्यूषसमयः) कहता है कि अये! अत्यन्त रमणीय प्रातःकाल का सुनहला समय उपस्थित हो गया है। देखिये, क्या ही मनोरम वर्णन किया गया है-

अभ्युत्थिता परिलसत्कमलाकराब्धेर्लक्ष्मीः सहस्त्रकरमण्डलमभ्युपैति।
तन्मध्यवर्त्तिमुरवैरिमुखारविन्दसन्दर्शनोत्सवसमुत्सुकतां गतेव ।।३।।

इस अङ्क में सूत्रधार के अतिरिक्त पद्यक, निष्ठुरक, लक्ष्मी, धृति, लज्जा, वासुदेव, बृहस्पति, इन्द्र, धनद, ब्रह्मा, महेश, शेष, बालि और कुबेर आदि का कथोपकथन है। विशेष रूप से लक्ष्मी अपनी सखियों लज्जा और धृति के साथ अपने प्रियतम के चित्र को तन्मयता से देखती हुई दिखाई देती हैं बाद में उसका प्रेम पात्र भी रंगमंच पर आता है।

द्वितीय अङ्क में कपट कामिनीवेषधारी वैकुण्ठ और सखीवेष में वैनतेय का प्रवेश होता है। इसमें वैनतेय, वैकुण्ठ, बलि, कुजम्भ, मोहनिका, निपुणिका, सन्धानक और शुक्र आदि पात्र विलासित हैं।

वैनतेय वैकुण्ठ के प्रति चतुराई के साथ सोत्साह कहता है कि-

दृशोद्वन्द्वं खेलत्यलसमलसं कर्णसविधे,
नटन्ती भ्रूवल्लीकुसुमविशिखं बीजयति च।
मुहुः स्मेर स्मेरं मदयति मुखाम्भोरूहमिदं
स्वतः क्षोभं यासि तवमपि मुकुरं पश्यसि यदा।।१।।

इस पद्य में सखीवेष विन्यास से वैनतेय ने कपट कामिनीवेषयुक्त वैकुण्ठ से बड़े ही प्रभावोतपादक चुटीले शब्दों में नेत्रों के द्वन्द्व, भौहों की तिरछी गति, एवं पुष्पबाण का वर्णन किया है।

ऐसा ही एक मार्मिक प्रकरण तब आता है जब बालि अमृत पात्र को लेकर कन्या वेषधारी वैकुण्ठ के प्रति कहता है-

पीयूषमेतद्दयिते! गृहाण तवमेव पीयूषमिदं वृथा मे।
सम्पूर्णकामा कतिचिन्मुहूर्त्तभव प्रिये यामि रणोत्सवाय।।

इस पद्य में क्या ही मनोरमता छिपी हुई है।

इस समवकार के तृतीय अङ्क में कृष्ण और लक्ष्मी का प्रवेश होता है। इस अङ्क के पात्र विशेष हैं-कृष्ण, लक्ष्मी, भार्गव, शंकर, वैनतेय, महेश, सागर और समुद्र।

कृष्ण लक्ष्मी की ओर देखकर अपने मन में हर्ष और उत्कण्ठापूर्वक कहते हैं- निश्चय ही इस प्रकार के स्त्रीरूपी शिल्प के निर्माण में कोई वैदेशिक ब्रह्मा ही हो सकता है, क्योंकि यह निश्चय है कि-

इन्दोः कलास्त्रिदशपादपपल्लवानि पीयूषमुज्जवलरुचो मणयश्च ते ते।

यस्यास्तुतोपकरणावलिरित्थमस्ति स्रष्टुं स एव भवति प्रभुरब्धिरेनाम्।।

अर्थात् चन्द्रकला, देववृक्ष कल्पवृक्ष के पल्लव, अमृत, उज्जवल कान्ति वाले मणि जिनके अद्भुत उपकरण हैं, इन्हें समुद्र ही सृजित कर सकता है।

अब देखिये सुद्र से उतपवन्न विष का वितरण-इस प्रसंग में समुद का कहना है कि हे वासुकि प्रमुख-महान् सर्पो! आपलोग विष को स्वीकार कर अत्यन्त प्रबल हो जायं। वासुकी सहर्ष उठकर विष ग्रहण करते हैं। तदनन्तर समुद्र कहता है कि हे देवगण! आप अमृत ग्रहण करें। इसके पान से देवगण जरा (वृद्धावस्था) रहित हो जायं। (अमृत वहि- शिव को आश्रय लेता है) समुद्र हर्ष और उल्लास से कहता है कि अये! भगवन! चन्द्रशेखर (पीयूषमयूचा शेखर!)

अद्य त्वया प्रमथनाथ ! कृतः कृतार्थो
मन्थोपमर्द्महमुत्सवमेव मन्ये।
द्रव्याण्यमूनि वितरन्नमरार्थि सार्थे
यद्दातृतामुपगतोघस्मि किमन्यदीहे ।।१३।।

आशय यह है कि हे प्रमथनाथ् ! (भूत-पिशाचाधिप!) विषपायी शंकर! आज आपने मुझे कृतार्थ किया, मैं इस मन्थन को एक महोत्सव मानता हैं। देवगणों के समूह में इन मन्थन समुत्पन्न वस्तुओं को वितरण करते हुए मैंनें दाता के पद को ग्रहण कर लिया है, और मुझे क्या चाहिये! फिर भी इस समवकार के अन्त में मेरी अभिलाषा है कि-

औदार्य शौर्यरसिकाः सुखयन्तु भूपाः
सन्मार्गवासितधियो विलसन्तु लोकाः।
वर्षन्तु बद्धपरितोषभराः पयोदाः
सारस्वतोत्सवमयाः कवयो भवन्तु।१४।।

अर्थात् उदारता एवं शूरता के रसिक होकर राजागण सुख करें, समस्त सामाजिक गण अच्छे मार्ग पर चलने की बुद्धिविकसित करें, मेघ सन्तुष्टिदायक वर्षा करें और कविगण सारस्वतोत्सव के अनुरागी होवें। इन लोकोपकारी कामनाओं के साथ यह अनुपमेय समवकार पूर्ण होता है।

दशरूपक (धनञ्जय), साहित्यदर्पण (आचार्य विश्वनाथ) एवं कई इतिहासकारों ने भी इसी समुद्र-मथन (अम्भोधि मन्थन) का समवकार का उदाहरण प्रस्तुत किया है। आचार्य शारदातनय (१३ वीं शती) ने अपने भावप्रकाश ग्रन्थ में समवकार का उदाहरण 'अमृत मन्थन' सुनिश्चित किया है 'उदाहरणमेतस्य भवेरमृतमन्थनम्'।

शक्रानन्द समवकार-३ अङ्क

इसका उल्लेख सागरनन्दी ने अपने नाटकलक्षणरत्नकोश में किया हैं इसमें देवासुर-शौर्य प्रदर्शन वर्णित है।

लक्ष्मीस्वयंवर समवकार (१७ वीं शती)-

इसी समवकार का अभिनय सर्वप्रथम श्री रामपुरी में तिरूवेङ्गलनाथ नामक रघुनाथ के महोत्सव के अवसर पर उपस्थित रसिकमण्डली के मनोरञ्जन के लिये हुआ था।

कथावस्तु-

वरूण ने समुद्र की कन्या लक्ष्मी का विवाह करने के लिये स्वयंवर कराया-नटी कहती है-अपूर्वः खलु समवकारप्रयोगः। अपरञ्च-

भरत ने लक्ष्मी- स्वयंवर का जो प्रयोग किया था उसके उपाख्यान में बतलाया गया है कि अप्सरा उर्वशी ने नायिका की भूमिका ग्रहण की थी।[1]

जैसा कि पहले ही सकेंत किया जा चुका है कि डिम, समवकार, दीशी और ईहामृग रूपप्रकारों के उदाहरण बहुत कम मिलते हैं। संस्कृत नाटयसाहित्य के इतिहास में दृश्य काव्य के प्रथम लेखक के रूप में महाकवि भास आज उपलब्ध हैं। उन्होंने व्यायोग, समवकार आदि रूपक लिखे किन्तु परवर्ती युग में वत्सराज ने ही शड्विध रूपकों की रचना कर उस परम्परा को आगे बढ़ाया। उनके पश्चात् भी समवकारों की रचना और प्रयोग किये गये और इस प्रकार संस्कृत नाटयलेखन तथा रंगप्रयोग की धारा सतत विद्यमान रही हैं।

• • • •

विषयानुक्रमणिका

अ

अभिनयचतुष्टयेन, १०

अभिनवभारत्यां, ३

अभिनवभारती, ३

अभिनवभारती, नाट्यशास्त्रे, ३

अभिनवगुप्तपादा, ७

अभिनवगुप्तपादाचार्याः, ६

अभिनवगुप्तपादानां
नाट्यवेदविवृतिर्भाष्यरूपेणाद्यापि, १

अभिनवगुप्तपादैः, ११

आचार्योऽभिनवगुप्तस्तु
अत्रैवाभिनवभारत्यां, ५

आचार्य बलदेवोपाध्याय महोदयानां, १३

आचार्यकान्तिचन्द्रपाण्डेय-
कपिलावात्स्यायन-
गोविन्दचन्द्रपा, ३

अनुकृतिवादस्य, ७

अनुव्यवसायरूपं, ११

अनुव्यवसायात्मकं
रूषितविकल्पसंवेदनात्मकं, १०

अनुव्यवसायस्य, १०

अरुन्धती, ४२४

अकालजलद, ३१६, ३२०

अमृतोदय, ५०३

अमोघवर्ष III, ३२७

अहिण्डवाड, ३५५

अभिराज राजेन्द्र मिश्र, ५०

अभिज्ञानशाकुन्तलम्, ६६

अभिज्ञानशाकुन्तलचर्चा, ७०

अभिसारिकाञ्चितकम्, १६५

अभिसारिकाञ्चितकम् की उक्त, १६५

अभिसारिकावन्तिकम्, १६३

अभिजातजानकी, ४११

अभिनयचतुष्टयेन, १०

अभिनवभारती, ३, १७६, ४१०

अभिनवभारती, काव्यमीमांसा, १६६

अभिनवभारती, शृङ्गारप्रकाश, ४०२

अभिनवराघव, ४१२

अभिनवगुप्त, २८, १५६, १६४,
१६५, २२१, ४१०, ४१२

अभिनवगुप्त तथा भगवदज्जुकीयम्
के रचयिता, १७६
अभिनवगुप्त, भोज, रामचन्द्र-गुणचन्द्र,
सागरनन्दी, राज, १६६
अभिनवगुप्तपादाचार्याः, ६
अर्थद्योतनिका, ६६
अर्थप्रकृति, २०३
अर्थप्रकृतियों, २०३
अर्थशास्त्र, १६, २०, २११
अविमारक, ३५
अविमारकम, १५६
अश्विनी, ४३१
अग्निमित्र, ४७, ५८
अग्निपुराणकार, सागरनन्दी,
रामचन्द्र-गुणचन्द्र, शारदात, ३०३
अप्सराओं, १६
अपवारित, २३२, २५२, २५५
आणंदसुन्दरी, ३१२
आर्य सत्य, १०६
आर्य नागदत्त, १५६
आर्यदेव, ८२
आद्यरंगाचार्य, १
आकर पुष्यमित्र, ७६
आकाशभाषित, १५८, १६१,
२३२, २५२
आकाशभाषित एवं 'कर्णे', २५५
आमराजा, ४३५
टामस, ७८
आदित्यवर्धन, २५८
आप्टे, ३२०
आप्टे, स्टेनकोनो, ३२८
आर० स्मिथ, ८६
आर० पी० जागीरदार, १२
आरम्भ, २०३
आरम्भ, यत्न, प्राप्त्याशा,
नियताप्ति, २०३
आरभटी वृत्ति, १६
अशोक, ७७
आश्चर्यचूड़ामणि, २७, ३८१, ३८२
आचार्य बलदेव उपाध्याय, ८४, १३३
आचार्य बलदेव उपाध्याय
संस्कृत साहित्य, ३८१
आचार्य बलदेव उपाध्याय, संस्कृत, ३८७
आचार्य बलदेवोपाध्याय महोदयानां, १३

आचार्य रामचन्द्र सूरि, ४३५
आचार्य रेवाप्रसाद द्विवेदी, ६६
आचार्य सीताराम चतुर्वेदी, ६६
आचार्य वामन, १३३
आचार्य वार्षगण्य, १७६
आचार्य नरेन्द्र देव, ८४
आचार्य अभिनवगुप्त, २६, १६४
आजाद मिश्र 'मधुकर', ४
आन्ध्रभृत्य, १३२
आनन्द राय मखी, ५०८
आनन्दगिरिकृत शंकरदिग्विजय, २२२
आनन्दराय मखी, ५१०
आनन्दसुन्दरी' २ सट्टक, ३७८
ऑक्सफोड, ६०
आगे धनिक, २६४
अद्‌भुत दर्पण, ३६७
अश्वघोष, ४६, ७७, ८१
अश्वघोष कालिदास, ४६
अश्वघोष-द्वय, ८२
अश्वघोष, नागार्जुन, ८४
अवंतिसुंदरीकथा, २८
अवमर्श सन्धि, ३०६
अवन्तिसुन्दरी, १३२, ३१६
अवन्तिसुन्दरीकथासार, १८४
अवन्तिवर्मा, १६२
अवेस्ता, ४८
अजयपाल, ४५६
अर्जुनवमा, ३५६
अञ्जनापवनञ्जय, ४७६
अनर्घराघव, ३६०, ३६१
अनर्घरावण, ३३७
अनादि मिश्र, ३७१
अनुमिति परिणय, ५१७
अनुव्यवसायस्य, १०
अनेस्की, ७८
अष्टमहाश्रीचैत्यसंस्कृतस्तोत्र, २६८
अष्टादशछन्दस, ४१५
अलावदीन नृपति, ३६०
अल्तमश, ४६६

इ

इ०एच० जान्सटन, ६०
इत्सिंग, ८२, ८६
इत्सिंगन, २७६
इतिवृत्त, २०४

इतिवृत्तविषयक, २०३
इज्न खुदैबा, ३१८
इन्दुलेखा नाटिका, ३६७
इन्द्र, ३२५, ३२७
इन्द्रेण, ४
इण्डोनेशियादेशीये १३
इलंकोवाडिगल, २५, ३०
ई.पू., १७६
ईहामृग, ५३१
ईश्वरकृष्ण, १७६
ईश्वरकृष्ण उनके, १७६
ईश्वरकृष्णकृत सांख्यमत, १७६
ईश्वरषेण, १३५

उ

उद्भट-भट्टयन्त्र-
कीर्तिधर-लोल्लट-श्रीशङ्कुक-
भट्टतौत, १
उद्धवसंदेश, ४१५
उम्बेक, २१६
उन्नि ने मानमण्डूर शिलालेख, १७५
उपरूपक, १७६
उपक्रम, २०३
उसमें दस अंक हैं, २५१
उदयनकथाश्रित, २७
उद्घात्यक तथा प्रयोगातिशय, २०६
उदात्तराघव, ३०, ३८७
उर्वशी-वियोग, ६३
उत्कलिकावल्लरी, ४१५
उज्ज्वलनीलमणि, ४१५
उत्तरमन्द्रा, २
उत्तररामचरित, २१४
उत्तररामचरितम्, २२७
उत्तररामचरितम् की टीका, २१७

ऋ

ऋग्वेद, १

ए

एफ.डब्ल्यू, ७८
एफ० डब्ल्यू० टामस, ८६
ए० बी० कीथ, ४, २५, ६४
ए०बी० कीथ, १, ४८, ८४,
३८७, ३६७
एम. कृष्णाचारी, ८४
एम.वी. लेल, २१६
एम० कृष्णमाचारी, ४०७

एम० कृष्णमाचारी, ३८१
एम० कृष्णमाचारी, हिस्ट्री आफ क्लासिकल संस्कृत लिट्रेचर, ३८७
एलिजाबेथन रंगमंच, ४६
एस० बील, ८४, ८६
एस० के०, ४८
एस० के० डे०, ४८
एस० दासगुप्त, ८४

क

करुणावज्रायुध, ४६६
कण्ठाभरण, १५५
कर्णे, २३२, २५२
कर्णपूर, ५०१
कर्णसुन्दरी, ३५५
कृष्ण II, ३२७
कृष्ण III, ३२६, ३३०
कृष्णकुतूहल, ४२५
कृष्णमिश्र, ४६४, ४६५
कृष्णानन्द, ३६०
कृष्णदत्त मैथिल, ५१३
कृष्णचैतन्य, ३६१, ३६७
कृत्यारावण, ४०२, ४०३
कृत्रिमाहन्ताविमर्शरूपेण, ६
कृतिमनुकरणरूपत्वात्, ५
कविव्यापारः, १०
कीर्तनम्, १०
काश्मीरीयशिवाद्वैतवाद, ६
कुमारसम्भवे, १२
कुमारस्वामि, ३
कुडियाट्टमाख्ये, ११
कंसवध, ४२८, ४२६
कश्मीर, कुलूत, मलय, सिन्ध, १६०
कमलशील, २२०
कविकुलगुरु कालिदास, ६६
कविपुत्र, २७
कविराज, ५२६
कविराज विश्वनाथ, ३६०
कविव्यापारः, १०
कविर्वाक्पतिराज, २१८
कनिष्क, ७७, ८१
कनिष्क का राजकवि, ८४
कलिङ्गनरेश नरसिंह भानुदेव चतुर्थ, ३६०
कीथ, ७८, ८३, ३२८, ३६१

कीथ, लक्ष्मण स्वरूप, २७
कीर्तिकौमुदी, ४६७
कीलहार्न, ७८
कर्पूरमञ्जरी, ३०८, ३२४, ३२५, ३४१, ३७३
कर्पूरचरित (भाण), ५१८
कर्पूरचरित, ५१६
काणे, २२४, २२७
काञ्ची, १८३
काञ्ची में पल्लवों, १८३
काश्मीरीयशिवाद्वैतवाद, ६
कामशास्त्र, १६०
कामसूत्र, २०, १५१, १५५
कामसूत्रकार वात्स्यायन, १३२, १३३
कामदत्ता, १५६
कामदत्ता प्रकरण, १५६
कामन्दक ने चाणक्य, २०२
कालिदास, २७, २८, ३०, ४७, ४८, ४६, ५०, ५५, ६८, ८४, १३३, ३८४
कालिदास की रूपकत्रयी, ५१
कालिदास भरतमुनि, ५३
कालिदासस्य, २७
काव्यमीमांसा, ३०७, ३२४, ३२५, १६, ३१५
काव्यप्रकाश के मूल, २७६
काव्यप्रकाश के टीकाकारों, २७६
काव्यादर्श, २८
काव्यानुशासन, ३०, ४३५
काव्यालङ्कारसूत्रवृत्ति, १३३
काव्यालंकार, २८
काव्यालंकारसूत्र, २८
कोङ्कणाधिपति इन्द्रस्वामी (इन्द्रदत्त), १५७
कोक्कलदेव I, ३२७
कौमुदीमित्राणन्द, ४४५
कौटिल्य, १६, २०
कौटिल्य के अर्थशास्त्र, २६, २०४
कोहल, ३०४
कोहल की परम्परा में परवर्ती, १७६
कौशलिका, ३६८
कोनो, १३५, ३२०
कान्तानाथ शास्त्री तैलंग, १३२
कार्नपौसिन, ७८

काटयवेम, ५६
कॉवेल, २७६
कालिदास अकादमी, उज्जैन, ७६
कवीश्वर जगन्नाथ, ५११
कवीन्द्र-समुच्चय, ८६
कुरु (Cyrus), १६१
कुमारिल, २२०, २२२
कुमारिलस्वामि, २१६
कुमार, ४१४
कुमारसम्भवे, १२
कुमारस्वामि, ३
कुमारजीवकृत, ८६
कुमारगुप्त, १५७
कुमारलात, ८६
कुमुद्वतीप्रकरण, १५६, १७२
कुडियाट्टमाख्ये, ११
कुशीलवों, १६
कुसुमपुर (पाटलिपुत्र), १६२
कुवलयावली, ३६३
कुन्दमाला, ३८५
कुन्दरदेवी व्याह, ३२७
कुन्तक, १६४
कुन्तक वक्रोक्तिजीवित, ४१०
कुन्तक तथा क्षेमेन्द्र, १५६
कुन्ग-चान्ग, ८१
कुन्ग-टे-जिन्ह, ८१
कुट्टनीमतम, १६२
कुलशेखर, ३८१
कैशिकी तथा भारतीवृत्ति, ३०४
कैपेलर, ७८
केदारनाथ शर्मा सारस्वत, ३१७
कुडियाट्टम्, ४६
कल्पनामण्डितिका, ८६
कलाविलास, १६२
कलचुरिनरेश, ३२४
किमूरा, ७८
किरणावली, ३०
किरातार्जुनीय, ५२४
किरातार्जुनीय (व्यायोग), ५१८
क्रमविपर्यय, २०३
क्रोचेप्रभृतिभिः, २

ख

खरपट, १८६
खरपटस, १८६
खर्परखान, ४६८

ग

गायनादिव्यापारः, १०

गोविन्द चन्द्र पाण्डेय, २

गणपति, २५

गणपति शास्त्री, ४५

गण्डीस्तोत्र गाथा, ८८

गंगाधर, ३५६

गीतगोविन्द, ४१७

गाथासप्तशती, ४८

गोकुलनाथोपाध्याय मिथिला, ५०३

गोविन्द भट्ट, ३५८

गोविन्द IV, ३२५

गोविन्दवल्लभ नाटक, ४३०

गोविन्दचतुर्थ, ३२६

गोपाल दारक, १३५

गोपालचन्द्रिका, ४२३

गोपुच्छाग्रवत् कथावस्तु के विन्यास, २०२

गौरीशङ्कर हीराचन्द्र ओझा, ४६६

गोस्वामी तुलसीदास, ४२५

गौडवहा, २८

गान्धर्ववेद, १३

गानोस्की, ७८

गदाधर, ४२५

गुप्त, १५५

गुप्त संवत्, ४८

गुप्तममहेश्वरदत्तौ, १५५

गेटे (Gaethe), ६७

गन्धमादन नामक, १८४

गन्धमादनम्, १८४

गन्धर्वो, १६

गर्नर, ७८

ग्रन्थिक, २१

ग्रीक एम्फी थियेटरों, १३

घ

घोष, ३२८

घनश्याम, ३७८

घनश्याम (१७०० ई.), २२१

घटकर्पर, ३०

घटकर्पर, धावक, ३०

च

चानुव्यवसायो, १०

चण्डकौशिक, ३२५

चण्डपाल, ३२८, ३३०

चण्डसेन, ३३०
चारुमति, १५५
चारुदत्तप्रकरण, १३३
चाक्यारा, २६
चाक्यारों, २५, २७, ३४, १३५
चाहमान सिन्धुराज, ४६७
चाउ-सिंयाग-क्वांग, ८३
चौर्यशास्त्र के आचार्य, १८६
चौरशास्त्रधुरन्धर धूर्तसम्राट्
कर्णीसुत मूलदेव, १५८
चतुर्भाणी, १५४
चैतन्य, ४१४
चैतन्य महाप्रभु, ४१३
चैतन्य चन्द्रोदय, ५०१
चन्द्रबली पाण्डेय, ४८, १३२,
१३३, १३५
चन्द्रकला, ३६०
चन्द्रकला नाटिका, ३६१
चन्द्रशेखर, ६६
चन्द्रवर्मा, ३३०
चन्द्रगुप्त द्वारा, १६०
चन्द्रगुप्त द्वितीय, ४८
चन्द्रगुप्त द्वितीय विक्रमादित्य, ४८
चन्द्रगुप्त विक्रमादित्य
(३७५-४१३ ई०), १६०
चन्द्रगुप्त प्रथम, ४८
चन्द्रलेखा, ३११, ३७७
चन्द्रलेखा सट्टक, ३७७
चन्द्रलेखाविजय प्रकरण, ४५३

ज

जयकेशी, ३५५
ज्योतिष्प्रभानाटक, ४८८
जयदेव, ३६४
जयन्त भट्ट, १८१
जयन्तक, १५७
जयन्तभट्ट, १८१
जयनन्दक, १५७
जीवानन्दन नाटक, ५१०
जीवन्मुक्ति कल्याण नाटक, ५०५
जातवेद, ५१२
जोगलेकर, ७६
जार्ज फार्स्टर, ६७
जानूस्टन, ६७
जानकी राघव, ४०५

जानकीपरिणय, ३६६
जानकीराघव, ४०५
जान्स्टन कृत, ८६
जॉन्स्टन, ७६
जागीरदार, २७
जवनिका, १६७
जे० फ्लीट, ३१४
जैन संस्कृत नाटक, ४३४
जनरल कनिंघम, २२४
जनान्तिक, २३२, २५०, २५५
जगद्धर ने, २२६
जगद्धर ने पद्मनगर
पद्मावती नाम प्रसिद्धौ, २२२
जगद्गुरु सर्वज्ञ, ४१४
जगन्नाथ प्रसाद, ७६
जल्हण, २८, ३०
जिनरत्नकोश, ४५६, ४६६

झ

झाला, ४६

ट

टी० बरो, १५७
टी० सुजुकी, ८३, ८४, ८५, ८६
टी० गणपति शास्त्री २७, २६, १५४, १८३
टी० गणिपति शास्त्री, २५

ड

डा० कपिला वात्स्यायन, १३
डा० कपिला वात्स्यायन, १७
डा० घोष, ३२४
डा० कपिला वात्स्यायन, ३
डा० कीथ, १३२
डा० मनमोहन घोष, १२
डा० हुल्त्ज, ३१४
डा० भरत सिंह उपाध्याय, ८४
डा० राघवन्, ४०३
डा० रामजी उपाध्याय, १६१
डा० एस० के० डे के, ३८६
डा० डे, ३६१
डा० व्ही० राघवन्, १६६
डा० वी० राघवन, ४०२, ४०५
डा० एफ०बी०जे० क्वाइपर, १०
डा० जयकिसनलाल खण्डेलवाल, ३८१
डा० एन० आर० लिडोवा, १०
डा० नरेश झा, ५२८

डॉ मोतीचन्द्र, १५७

डॉ. खण्डेलवाल, ३८१

डॉ. कृष्ण कुमार, ५०

डॉ. मिराशी, २५३

डॉ. मिराशी के मतों, २२४

डॉ. पी. वी. काणे, २२१, २२४

डॉ. राघवन्, ४११

डॉ. राम किशोर मिश्र, ५०

डॉ. वासुदेव विष्णु मिराशी, २२२

डॉ. आर.जी. भण्डारकर, २१६

डॉ० श्यामशङ्कर दीक्षित, ४७०

डॉ० घोष, ३२०

डॉ० बी० जे० साण्डेसरा, ४६६

डॉ० काणे, २२६

डॉ० कुन्हनराजा, २१६

डॉ० के० राघवन् पिल्लै, ७०

डॉ० के०एम० मुंशी, ४६३

डॉ० मोतीचन्द, १५७

डॉ० मनमोहन घोष, ३१७

डॉ० हुलत्ज़, ३१६

डॉ० पी० वी० काणे, २२२

डॉ० रमाकान्त झा, ३४५, ३८१, ४१३, ४६४, ५१८

डॉ० उन्नि, १७४, १८३

डॉ० उन्नि, १८३

डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल, १६६

डॉ० वुलर, २७३

डॉ० जयकिशन प्र० खण्डेलवाल, ३८८

डॉ० एन० पी० उन्नि, १८३

डॉ० नेमिचन्द्र शास्त्री, ४७०

डॉ० गंगासागर राय, ३४०

डॉ० गुलाबचन्द्र चौधरी, ४७०

डॉ० लूडर्स, ८४

डी०के० शास्त्री, ४६६

डी०आर० भण्डारकर, ८५

डिम, ५३१

डिण्डियों, १६२

त

तक्षणादिना रेखामुद्भावयतः प्रतिमाकर्तुः स्थपतेर्वा, १०

तद्वेदनवेद्यत्वम, ११

तस्यानुकरणरूपं, ५

तदनुसारत्व-
तत्प्रतिकृतित्वादिपक्षग्रहणेऽपि, ५
तदन्तेऽनुकृतिर्बद्धा, ४
तत्सादृश्य-तत्सम्भावनात्व-
तदध्यवसायत्व-
तदारोपत्वादिपक्ष, ५
तत्सादृश्यं भ्रान्तिरूपताम्,
आरोपात्मत्वं गौर्वाहीकवद्, ५
तैरनुकृतिरूपत्वं, ७
तत्त्वरूपताम्, ५
तंजोर के सरस्वतीभवन, ३७८
तथागत बुद्ध, १८६
तथता, ११५
तपतीसंवरण, ३८१
ताकाकुस, ८३
ताकाकुसु, ८३
तापसवत्सराज, ३८७
तारानाथ, ८१, ८२
तदनुसारत्व-
तत्प्रतिकृतित्वादिपक्षग्रहणेऽपि, ५
तन्त्रालोक, २२१
तत्त्वप्रदीपिका, २२२
तलस्पर्शिनी, २१७

द

दण्डी, १३२, १३३
दृश्य, ५२८
दंडी, २८
दरिद्रचारुदत्त, ३५, १३५
दरिद्रचारुदत्त प्रकरण, १३५
दरिद्रचारुदत्तम्, २८
दन्तिवर्मा, १६२
छलिक, ५२
छलितराम, ४०२, ४०४
दशरूपक, २६३, ३४५
दशरूपक के 'अवलोक, ४०४
दशरूपक, ४.३५ की
'अवलोक' वृत्ति में धनिक, २६४
दशरूपकावलोक, ४०१
दामोदरगुप्तेन, १३
देवदानवयुद्धानुकृतिरूपे, ४
दशरूपकों, ५२८
दामोदर मिश्र, ३८८
दासगुप्त, ६७

दानकेलिकौमुदी, ४१५
दुर्दुक, ३१६, ३२७
दुर्गाप्रसाद पण्डित रत्नावली, २७६
दत्तकपुत्र, १५५
देवधर, २७
देवीचन्द्रगुप्तम, १६०, १६३
देवीचन्द्रगुप्तम्, १६६
देवज्ञ, ३२४
देवसेना, १५६
देवचन्द्र, ४५३
दलालमहोदय, ३२६
द्रोणी, ३१८
द्रौपदीस्वयंवर, ४५७
दिङ्नाग, ३८५
दिव्यावदान, २१८
दिवाकर, २६५
दिवाकरमित्र, २६६
दिष्ट, १६३
द्वारकानाथ, ४३०

ध

ध्रुवा, १३
ध्वजमह, ४
धर्माभ्युदय, ४६४
धर्मविजय, ५०५
धनिक, ४०४
धनिक ने अवलोक (वृत्ति), २६४
धीरनाग, ३८५
धारा, १७६
धावक, ३०
धावक या बाण, २७३
धावक (धोबी), ३०
धावक, २७६
धनुर्वेद, १३
धनञ्जय कृत दशरूपक, २६४
धूर्तविटसंवाद, १७२
ध्रुवा, १३, २
ध्रुवाएं, ६६
ध्रुवाविधान, ६६
ध्रुवस्वामिनी, १६०
ध्वन्यालोक, ४०१
ध्वन्यालोक ३.२६ की वृत्ति, २६४
ध्वन्यालोककार आनन्दवर्धन, २६३
ध्वन्यालोकलोचन, २६

न

नाट्यं रसः, १०
नाट्यशास्त्र, १, ४
नाट्यशास्त्रस्य, ४
अनुभवितृव्यापारः, १०
अनुव्यवसायो, १०
नटव्यापारेण भावानुकीर्तनात्मकेन, ११
न्याय, प्रमाण, लय,
स्थान, शम्या, ताल, १५
नृसिंह कृति, ५१७
नर्मगोष्ठी, २१
धनंजय सूची, ८५
नीलकण्ठ दीक्षित, ३६६
नरसिंहाचार्य, ३५८
शृङ्गारमञ्जरी, ३१२
शृङ्गारमञ्जरी सट्टक, ३७६
शृङ्गारप्रकाश, १६६, ४०१
शृङ्गारवापिका, ३६५
शृंगार, ४२२
शृंगारहाट, १५५, १५६
नाम कमलनयन, ४२५
नाटिका, ३४५
नाटिकायें, २७०
नारायण मिश्र, ४२४
नारायण नम्बूदरिपाद, १५४
नान्दी, ३६०
नान्दी पद्य, १८३, १८८
नाट्यशास्त्र, ५२८, ५२६, ५३१
नाट्यशास्त्र, ५३, ६६
नाट्यदर्पण, ४०१
नाटक, प्रकरण, १७६
नाटकचन्द्रिका, ४१५
नाटकलक्षण रत्नकोष, ४०१
नाटकलक्षणरत्नकोश, २६, १६६, ५२६
नाटकलक्षणरत्नकोश, ३०३
नाट्यशास्त्र, १, ४५, १३८,
१४६, १५३, २११
नाट्यशास्त्र २५/५० पर, १७६
नाट्यशास्त्र की लक्षणपरम्परा, १७५
नाट्यशास्त्र का प्रमाण, ८
नाट्यशास्त्र' में 'नाटिका'
के सम्बन्ध, २८८
नाट्यावशेषद्वय, ६५
नाट्यसंरचना, २०३

नाट्यदर्पण, २८, ४०७, ४३५, ४१२, ४, ३०३
नाट्यवाङ्मय, ४७३
नागार्जुन, ८२, ११५
नागानन्द, २९२, ३४६
नागानन्द (नाटक) की कथा, २८५
नागानन्दं नाम नाटकम्, २६६
नालन्दा विश्वविद्यालय, २६५
नवमालिका नाटिका, ३७०
नुझतुल मुश्तक, ३१७
नैष्क्रामिकी ध्रुवा, १९७
एनैन्डरसन वारू, ३२२
नन्दीगीकर, ७९
नन्नसूरि, ४३४
नट-नटियों, २०
नट, नर्तक, नायक, वाग्जीवक, कुशीलव, शौभिक, चारण, २०
नटी के, १९२
नलविलास, ४४२
नल्लाध्वरी रामचन्द्र दीक्षित, ५०५
नियताप्ति, २०३
निर्भयभ्रमव्यायोग, ४४९
निर्वाण, १०४
निर्वहण सन्धि, ३०६
निसर्गवादस्य, ७

प

पिण्डनिज्जुति, ४३४
पिशेल, १३२, ३८६
पर्णगोपालक थे, ४३०
पृथ, १९०
पद्मपुराण, ४१३
पद्मावली, ४१५
पंच सन्धिया, २०३
पंच अर्थप्रकृतियां, २०४
पंच अवस्थाओं, २०३
पंच अवस्थाओं का क्रमिक, २०४
पंचशिख, १३३
पण्डित राज जगन्नाथ, ३३२
पी० वी० काणे, मीराशी, ३१७
पी०एल० वैद्य, ७९
पीठमर्द, २१
परमर्दिदेव, ५१८
परमाल, ५१८
पाँच सन्धियों का जनक, २०४

पाँच सौ ई०, ४८
पाँचों अवस्थाएं, २०३
पाणिनि, ४
पार्थिवोऽन्तिवर्मा, १६२
पारिप्लव आख्यान, ४
पारिजातमञ्जरी, ३५६, ३५७
पार, १७६
पार्श्व, ८०
पार्श्व अपने, ८१
पाश्चात्यसौन्दर्यसिद्धान्तात्, ७
पौत्र वसुमित्र, ५८
प्रतीक नाटक, ४६४
पद्मपुराण, ६८
पद्मप्राभृतकम्, १३२
पद्मावती, २८
पञ्चरात्रम्, २७
पञ्चावस्थासमन्वित, १६६
पञ्चसन्धि, १६६
पुण्ययशस्, ८०, ८२
पुण्यश्री, ८१
पुष्यमित्र, ४७
पुष्यमित्र शुङ्ग, ५८
पुष्पादित्य, ८१
पुरोदन पुरन्दराचार्य, ४२४
पुरञ्जनोपाख्यान, ४६४
पुरञ्जनचरित नाटक, ५१३
पुरन्दरविजय, १७२
पुसालकर, २७
पुलुमावि, १३२
पताका, २०३
पताका नायक, २०३
पताकास्थानक, १६६, २२६
पताकास्थानकों, २१०
पताकावेश्याओं, १६२
पतञ्जलि, २१
पतञ्जलि बाण तथा भोज, ११
पूर्णपुरुषार्थ चन्द्रोदय, ५१२
पूर्वरङ्ग, ६
पल्लव राजा महेन्द्रविक्रम, १७५
पल्लवनरेश, १८३
पल्लवनरेश महेन्द्रविक्रमवर्मन्, १८२
पराहन्ताविमर्शरूपेण, ६
पाश्चात्यसौन्दर्यसिद्धान्तात्, ७
पदार्थस्येन्द्रजालवत्, ५

पञ्चमो वेदः, १

प्रभुतेरानन्द-कुमारस्वामि-
श्री अरविन्द-हिरियन्ना-वासुदे, ३

प्रत्यवमर्शपरनाम्नो विमर्शस्य, ६

प्रतीकवादस्य, ७

प्रणेता मल्लारि आराध्य, ५०७

प्रणेता भूदेव शुक्ल, ५०५

प्रयोग, १३

प्रबोध चन्द्रोदय, ४६४, ४६५

प्रबुद्धरौहिणेय-प्रस्तुत, ४५४

प्रबन्धचिन्तामणि, ४६३, ४६६

प्रकरी, १६३, २०३, २०४

प्रथम मूर्च्छना, २

प्रसिद्ध मीमांसक
श्री माधव सरस्वती, ४२४

प्रतिमा तथा अभिषेकम्, २७

प्रतिज्ञायौगन्धरायण, २८, ३०

प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, ३३

प्रतिज्ञायौगन्धारायणम्, २७

प्रतिज्ञायौगन्धरायणम्, २७

प्रहसन, १७४

प्रभाकरवर्धन, ३४५

प्ररोचना, ४१२

प्राकृतसर्वस्व, ३७८

प्राप्त्याशा, २०३

प्रो. भगवती प्रसाद पांथरी, २५६, २६१

प्रो. रामजी उपाध्याय, १६०

प्रो. वी. वी. मिराशी, २१६

प्रो. चेज़ी, ६७

प्रो० यदुनाथ प्रसाद दुबे, ४३४,
४५४, ४५६

प्रो० कमलेदशदत्त त्रिपाठी, ७०

प्रो० मीराशी, ३१४

प्रो० हरिदत्त शर्मा, ७०

प्रो० भोलाशंकर व्यास, ८४

प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी, २६२

प्रो० भगवती प्रसाद पांथरी,
हर्षवर्धन और उनका युग, २७४

प्रो० राधावल्लभ त्रिपाठी, ७०

प्रो० रामजी उपाध्याय, २०४, ४५४

प्रो० स्टेन कोनो, १३२

प्रो० सूर्यकान्त शास्त्री, ८४

प्रो० डे, प्रो० रा० उपाध्याय, १७५

प्रो० वाचस्पति उपाध्याय, ५०

प्रो० वसन्त कुमार भट्ट, ६६
प्रो० फर्गुसन, ४८
प्रो० आर० पी० द्विवेदी, ७७
प्रस्तावना, १६०, १६२, २०६, ३६०
प्रस्तावना में सूत्रधार, १६२
प्रसन्नराघव, ३६४
प्रतीत्य समुत्पाद, १०६
प्रेक्षा, १५
प्रेक्षागार, १३
प्रियदर्शिका, २८६
प्रियदर्शिका, ३०, ३४६
प्रियदर्शिका (नाटिका), २८०
प्रियदर्शिका रत्नावली को, २७६
प्रियदर्शिका नाम नाटिका, २६६
प्रियदर्शिका, रत्नावली और
नागानन्द, २६८
प्रियदर्शी अशोक, ७७
प्रो० आजाद मिश्र 'मधुकर', ४०

फ

फारमिची, ७८
फारस, १६०
फाउस्ट, ६७
फलागम, २०३
फ्लीट, ८४

ब

व्यापारश्चित्रकृतः, १०
वृषभेण संज्ञानस्य, ६
बृहस्पति, २६
बृहत्कथामञ्जरी, १३२
बी०सी० लॉ, ७६
बीज, २०३
बील, ८२
बप्पभटि, ४३४
बाण, २८, ४७, १३३, २७६
बाण ने, १३२
बाणमयूरयोः, ३१८
बाणभट्ट, ४७, ३४५, ३४६
बोधायन, १८०
बाउमगार्टेन, २
बौद्ध-संगीति, ६८
बोधायन, १७५, १८०, १८२
बोधायन मुनि, १७५
बोधायन, १७५
बोधायनधर्मसूत्र, १७५

बार्नेट, २७, १८३
बार्नेट, सिल्वाँ लेवी, विंटरनित्स, सुकथनकर, कृष्ण पिष्ट, २५
बाटलिंक, ७८
बाल भारत, ३२५
बालभारत या प्रचण्डपाण्डव, ३२४
बालभारतम्, ३४०
बालीत्याख्ये, १३
बालरामायण, बालभारत, विद्धशालभञ्जिका और कर्पूरमंजरी, ३०७
बालरामायणम्, ३३२
बालक्रीडा, २२२
बालवाल्मीकि, ३६०
बालचरित, ४१, १५६
बालचरितम्, २७
बुद्धचरित, ८८
बुद्धिसागरसूरि, ४३५
बलदेव उपाध्याय, ४६, ७६, ८३
ब्रह्मणा-१, ४
बिल्हण, ३२१, ३५५
बाउमगार्टेन, २
बाउमगार्टेनमहोदयेन, २
बालीत्याख्ये, १३
बालरामभरतादिभिः, १
ब्रह्मणा, १, ४, ५
ब्रह्मा विश्वकर्माणम्, ४
ब्रह्मा च, ५

भ

भट्टतौतादिभिश्च, १
भारतीयसौन्दर्यसिद्धान्तस्य, ७
भावानुकीर्तनरूपत्वञ्च, ५
भावानुकीर्तनरूपेण, ५
भावानुकीर्तनवादं, ६
भर्तृहरिणा, ८
भगवतो भर्तृहरेः, ६
भ्रान्तत्वेन्द्रजालत्वादिक-निर्माणाभासत्वस्य, ५
भण्डारी, ७६
भट्टकुमारिलशिष्यकृत, २१६
भट्टतौतादिभिश्च, १
भक्तिरसामृतसिन्धु, ४१५
भटिट्वर्मा, १५७
भरत मुनि, ४५

भरत सिंह उपाध्याय, ७६
भरत वाक्य, १६१
भरतमुनि, ६०, ५२८
भरतवाक्य, १६०
भामह, २८
भाविक, ५२
भास, २४, २७, २८, २६, ३०, ४५, १३२, १५४
भास (घटखर्पर) द्वारा, २७६
भास ने स्वप्नवासवदत्तम्, २७
भास, बतलाते, २७६
भास, सौमिल्ल, कविपुत्र, ५१
भासकृत, १३५
भासकृत स्वप्नवासवदत्तम्, २६
भासो, २८
भाससौमिल्लकविपुत्रादीनां, २७
भासनाटकचक्र, २६, ३०
भावप्रकाश, १३, ३८८, ४०१, ४०६, ४१२
भावप्रकाश, ४०२
भावप्रकाशन, ३, ३०३
भावानुकीर्तनरूपेण, ५
भावना विवेक, २२०
भोज, २८, २६, १६४, १६५, ३२४
भोज के, ३८८
भोज द्वितीय, ३२७
भोज ने शृङ्गारप्रकाश, ४०६
भोजप्रबन्ध, ३८८
भोजराज के शृङ्गारप्रकाश, ३०४
भोजराज, हेमचन्द्र और वाग्भट, ३०३
भाग्यमहोदयनाटक, ५११
भद्रायुध, १५७
भवभूति, ३२४, ३३७, २२२
भुवनकोश, ३२४
भर्तृमेण्ठ, ३२४
भर्तृमेण्ठतः, २१८
भर्तृहरिणा, ८
भट्टश्रीभवनुतचूड, ३६८
भट्टेन्दुराज, ४१२
भूततथता, ११५
भगवदज्जुकम्, १७४
भगवदज्जुकीयम्, १७४, १८१, १८२
भगवदज्जुकीयम्, १७५

म

म.म. पी०वी०, २१६
मण्डन, २२२
मण्डन को कुमारिलभट्ट, २२२
मण्डन को भी एक माना, २२२
मण्डन और उम्बेक दोनों, २२२
मण्डन, सुरेश्वर, २२२
मण्डल, चारी, १५
मध्यमव्यायोगः, पञ्चरात्रम्, दूतवाक्यम्, दूतघटोत्कचम्, २७
मधुसूदन मिश्र, ३८८
मधुसूदन सरस्वती, ४२४
मृदङ्गवादक वासुलक, १५६
मृच्छकटिक, २८, १३२, १५६
मृच्छकटिकम्, २८, ६४
मृगाङ्कलेखा'१ नाटिका, ३६६
म०म० हरप्रसाद शास्त्री, ८४
म०म० कुप्पुस्वामी, २१६
म०म० कुप्पूस्वामी शास्त्री, ३८२
म०म० गंगानाथ, २१६
मकुन्द, ४१४
मम्मट, ३०, १६४
मल्लिकामकरन्द, ४४४
मल्लिकामारुत नाटिका, ३७१
मथुरामहिम्न, ४१५
मथुरादास, ३६४
मलिक मुहम्मद जायसी, ११४
महर्षि कपिल, १२५
महीपाल, ३२७, ३२६
महीपालन, ३२८
महायान श्रद्धोत्पादशास्त्र, ८६
महायानश्रद्धोत्पादशास्त्र, ११५
महाकवि बाण, मयूर, २६५
महाकवि कालिदास, ८४
महाकवि भवभूति, २१४
महाकवि अश्वघोष, ७७
महाकविः कालिदासः, १
महामहोपाध्याय रामावतार शर्मा, २५
महाभारत, १, ११, १२, १३, १५, ६८
महाभारताश्रित रूपक, ३६
महापण्डित राहुल, ६३
महाप्रभु, ४१५
महारंग, १३
महाराज भास्करदत्त, १६०

महासेन, ३२६
महादेव, ३६७
महावीरचरित, २१४
महावीरचरितम्, २२७, २४६
महावीरचरितम्, २१६
महाव्रत, ४
महाव्रत विधि, ४
महानाटक, ३८८
महेंद्रविक्रमवर्मन्, २७
महेश्वर शास्त्री एन. जोशी, ५०
महेश्वरदत्त, १५५
महेन्द्रविक्रम, १७५, १८४
महेन्द्रविक्रमवर्मन्
कान्यकुब्जनरेश श्रीहर्ष, १८३
महेन्द्रपाल, ३१६, ३२४
महेन्द्रपाल द्वितीय, ३२६
महेन्द्रादित्य, ४८
मीराशी, ३१६, ३२२, ३२४, ३२६
मीराशी महोदय, ३२४
मीराशी ने, ३२७
मायापुष्पक, ४१०
माघकवि, ३३२
मार्कण्डेय कवीन्द, ३७८
मारीचवञ्चित, ४१२
धावक पाठ, २७६
मोहराज पराजय, ४६८
मातृचेट, ८४
मातृचेट बुद्ध, ८४
मौर्य चन्द्रोदय, १५७
मोक्षमूल, २
मोहराजपराजय, ४५८
मोहनदास, ३८६
मोतीचंद, १६६
मानसार, १३
मालविकाग्निमित्र, २७
मालविकाग्निमित्रम्, ४७
मालविकाग्निमित्रम्, ५१
मालव संवत, ४८
मालव-गणराज्य, ४६
मालवगणस्थिति, ४६
मालती माधव, २५१
मालतीमाधव, २१४
मालतीमाधवम्, २२७
मदन कवि ही, ३५६

मदनबाल सरस्वती, ३५६
मदनसेना, १५६
मुख, प्रतिमुख, गर्भ, विमर्श और निर्वहण सन्धियों, २०४
मुद्रितकुमुदचन्द्र, ४६२
मुनिना, ३
मुहम्मद गोरी, ४६६
मुरारि, ३३७, ३६०
मुद्राराक्षस, १६०, १६३, २००
मुगल सम्राट् अकबर, ४२५
मेरुतुङ्गाचार्यकृत 'पद्मावती', ४८
मेघदूत, ३१, ५०
मैकूडॉनेल, २७६
मैक्समूलर, १
मैक्डॉनल, १
मैथ्यू अर्नाल्ड, १२०
मैथिलीकल्याण, ४८५
मञ्जुश्रीमूलकल्प, २५८
मत्तविलास, १८२
मत्तविलासम्, १७४
मत्तविलासटिप्पण, १८३
मत्तविलासप्रहसन, १८२
मत्तविलासप्रहसनटीका, १८३
मन्दसौर शिलालेख, ४६
मलयजा कल्याण नाटिका, ३६८
मल्लविद्या, १६
मियाणल्ल देवी, ३५५
मिराशी, २२७
धारणाध्यवसायविज्ञानभिन्न-वृत्तान्तास्वादन, ६
मोक्षमूल, २
मोक्षमूलरमहाशयम्, २
मुनिना, ३
मुनिना भरतेन, १

य

यथार्थवाद, ७
यथार्थवादस्य, ७
योऽनुव्यवसायः, १०
यहाँ युवराजदेव प्रथम, ३२६
यशःपाल, ४५६, ४६८
याकोबी, ७८, १६२
श्यामिलककृत पादताडितकम्, १५४
याज्ञवल्क्य स्मृति, २२२
यशोमती, ३४५

यशोवर्मा, ४००
यादवाभ्युदय, ४५२
यवनिका, ३०४
यवनीवेश्या, १६२
युवराजदेव, ३२५
युवराजदेव प्रथम, ३२६, ३२७, ३२८, ३३०
यत्न, २०३
यजुर्वेद, २, ३
यजुर्वेद के तीसवें अध्याय, ३
यन्नातङ्गादिवाकरः, ३१८

र

राघावल्लभ त्रिपाठी, १
रायपसेणिय, १६
राघवभट्ट, ६६
राघवाभ्युदय, ४०७, ४५१
राघवानन्द, ४११
राघवानन्द नाटक, १६३
रा० उपाध्याय, मध्यकालीन संस्कृत नाटक, पृ० १४१, १७५
रामकृष्ण, ४२३
रामकृष्ण कवि, १५४
राममूर्तित्रिपाठि, ३
रामविक्रम, ४१२
रामभद्र दीक्षित, ३६६
रामायण, १५, २२
रामायणाश्रित नाटक, ३६
रामाभ्युदय, ४००
रामानन्द, ४०६
रामवञ्चि, ४३१
रामचंद्र-गुणचंद, २८
रामचन्द, ४०७
रामचन्द्र तिवारी, ४८
रामचन्द्र सूरि का नाट्य, ४३८
रामचन्द्रसूरि, ४५०
रामनाथ मखी, ५०६
रामनाथ शास्त्री, १५६
रामगुप्त, १६०
रामिल, १३२, १३३
राहुल सांकृत्यायन, ७६, ८३, ६४, ६८
रोहिणमृगाङ्क, ४५०
रौद्र, वीर, भयानक, और बीभत्स रस तथा अवमर्श सन्धि, ३०४
राज्यश्री, ३४५

राजवती पाण्डेय, ४६
राजर्षि कुमार, ४३५
राजा विक्रमादित्य, १३३
राजा गोविन्दचन्द्र, ४२८
राजशेखर, २८, ३०, ३१४, ३२६, ३२७, ३५१, ४११
राजशेखर ६०० ई०, ३२३
राजशेखर कट्टर, ३१८
राजशेखर महेन्द्रपाल, ३१६
राजशेखरकृत, २८
राजशेखरकृत कर्पूरमञ्जरी, ३०३
राजशेखरेण, ६
राष्ट्र कूटनरेश इन्द्र III, ३२५
राष्ट्रपाल, ६४
राष्टकूटनरेश इन्द्र III, ३२७
रसार्णवसुधाकर, ४०६
रसन-आस्वादन-चमत्कार-चर्वण-निर्वेश, १०
श्रव्य, ५२८
श्रुति, १८१
श्रीमहानयप्रकाशे, ११
राघवन्, २
रामपूर्तित्रिपाठि, ३
राजशेखरेण, ६
राजशेखरेण काव्यमीमांसाया, ६
रसन-आस्वादन-चमत्कार-चर्वण-निर्वेश, १०
रसन-आस्वादन-चमत्कार-चर्वण-निर्वेश-भोगाद्यपरपर्य्यायाः, १०
रत्नावली, २६०, ३४६, ३४७
रत्नावली (नाटिका), २८२
रत्नावली तथा नागानंद, ३०
रत्नावली नाम नाटिका, २६६
रैप्सन तथा रायचौधरी, ८५
रेवाप्रसाद द्विवेदी, ४६
रट्टवाल, ४३४
रघुविलास, ४४७
रघुवंश, ४८
रङ्गनिर्देश, २५५
रङ्गदैवतपूजन, ६
रंग, १३
रंगनाथ (१६५० ई०), ५६
रम्भामञ्जरी, ३७६
रम्भामञ्जरी' सट्टक, ३७६

रमेशदत्त, २७६
रविकीर्ति, ४७
रन्तिवर्मा, १६२
रिचर्ड्जू, ८६
रुक्मिणीकान्त, ४३०
रुक्मिणीपरिणय, ४३१
रुद्रदामन (१३०-१५० ई०), ८५
रुक्मिणीहरण, ५२५
रुक्मिणीहरण (ईहामृग), ५१८
रुपक प्रकारों, १७६
रूपक प्रकारों में, १७६
रूपकों की रचना की थी, ३०
रूपेश्वर, ४१४
रूपगोस्वामी, ४१३, ४१४, ४१६

ल

ल्यूमैन, ७८
ल्यूडस, ३८६
लघुतोषिणी, ४१३, ४१५
ललितमाधव, ४१५, ४१६, ४२१, ४२२
ललितविस्तर, १८, ४८
लाइप्ज़िग, ६७
लोकुर, ७६
लोचन, ४०१
लेनमैन, ३३०
लूडर्स, ७८, ८६
लूडर्स महोदय, ६४
लिम्पतीव तमोऽङ्गानि वर्षतीवाञ्जनं नभः, २८
लौकिकपदार्थ, ६

व

विष्णुधर्मोत्तर, ३
विश्वकर्माणम्, ४
विक्रमोर्वशीयस्य, १३
वर्धमानसूरि, ४३५
व्याडी, ७८
वृत्तिकार बोधायन, १७५
वृषभध्वजचरित, ४३४
वृषभेण संज्ञानस्य, ६
वसिलजेव, ७८
वीणापाणिन्, २
वी० स्मिथ, २६७
वीथी, अङ्क, ५३१
वीर राघव, २१६

वीर राघव, जगद्धर, २१८
वीरराघव, २२५, ३६८
वीरराघव ने 'भावप्रद्योतिनी' टीका, २१६
वररुचि, १५५
वराहमिहिर, १३३, १६२, १६२
वाक्पति राज ने भास, २८
वाक्पतिराजन्, २१८
वामन शिवराम आप्ट, ३०२
वामन भास, २८
वासिष्ठीपुत्र, १३२
वासिष्ठीपुत्र पुलुमावि, १३२
वार, १७६
वार्षगण्य, १७६
वासवदत्तानाट्य, १७६
वार्डर, १५६, १७५, १३५, १६५
वात्स्यायन, २०
वाल्मीकि, ३२४
वाल्टर रूबेन, ७६
वस्तुपाल का, ४६६
वत्सभट्टि, ४६
वत्सराज, ५१८, ५२२, ५२४, ५२५
वत्सराज का समुद्रमन्थन, ५२८
वत्सराजचरित, १५६
वेश्याध्यक्ष (द्रौणिक प्रतीहार), १६२
वैखानस श्रीनिवासाचार्य, ६६
वैद्यनाथ, ३६७
वेंकटनाथ, ५००
वज्रसूचिकोपनिषद्, ८७
वज्रसूची, ८७, ११५
वज्रच्छेदिका, ८७
वनमाला, ४५३
विद्धशालभञ्जिका, ३५२
विद्धशालभञ्जिका, ३२४, ३२५
विण्टरनित्ज, ७८, ७६, ८३, ८४, १६१
विद्यापरिणय, ५०८
विद्योत्तमा, ५०
विद्योत्तमानाटिका, ५०
विबुधानन्द नामक, ४३६
विबुधानन्दनाटकम्, ४३६
विण्डिश, ७८
विण्डिश २ प्रथम, ७८
विण्डिस् द्वितीय, ७८
विभावना, २२२
विपर्यय, १८२

विशाखदत्त, १६०
विज्ञानवाद, ११५
विसंगति, १८२
विडम्बना, १८२
विडम्बना (हास्यजनक अनुकृति), १८२
विदूषक सूत्रधार, १७६
विदग्धमाधव, ४१५, ४२२
विश्वरूप, २२२
विश्वरूप भी अलग, २२२
विश्वरूप, २२२
विश्वकर्माणम्, ४
विक्रम, ४८
विक्रम संवत्सर, ४६
विक्रमादित्य, ४८, १३३
विक्रमादित्य 'शकारि', ४८
विक्रमादित्य मालव-गणतन्त्र, ४८
विक्रमोर्वशीयम्, ४८, ५८
विक्रमोर्वशीयस्य, १३
विक्रान्तकौरव, ४८२
विक्रान्तशूद्रक, १३३
विवेकमिहिर नाटक, ५१४
विवेकचन्द्रोदय, ५१६
विश्वेश्वर पाण्डेय, ३६६, ३७६
विश्वनाथ, ३०३
विश्वनाथभट्ट, ३६५
विश्वनाथदेव, ३६६
विजयपाल, ४५७
विनायकपाल, ३२८
विंटरनित्स, २७
विलासवती, ३११, ३७८

श

शब्दभावना, ६
शारदातनय, १
शारदातनय-शाङ्गदेव-
कल्लिनाथादिभिः, १
शारदातनयेन, शाङ्गदेवेन,
कल्लिनाथादिना, १३
शारतनयेन, १३
शृङ्गारहाट, १५४
शृंगारप्रकाश, २८
शङ्कर, ६६
शङ्करदिग्विजय (७-११६) में विद्यारण्य
ने मण्डन और उम्ब, २२२
शंकर पाण्डुरंग पण्डित, १, २१६

शंकरदिग्विजय (७-१२०), २२२
शंकराचार्य, २२२, ३८१
शब्दभावना, ६
शकों, ४८, १५७
शक्तिभद्र, ३८१
शक्तिभद्र, २७
शहाबुद्दीन, ४६६
शहाबुद्दीन गोरी, ४६६
शीलाङ्क, ४३६
शार्ङ्गधरपद्धति, ३३७
शाक्यसमय, १८२
शामामृत, ४६५
शारिपुत्र-प्रकरण, ६४
शारदातनय, १, ३०, ३८८, ४०६, ४१२
शारदातनय, ३०५, ३०५
शारदातनयेन, १३
शास्त्रसंग्रह, ३२४
शासनकाल (दो सौ ई०पू०), ७६
शौभनिक, २१
शोभाकर मिश्र ने, १६४
शौरसेनी, प्राच्या या महाराष्ट्री होनी, ३०४
शाट (शाटक), ३०६
षड्जग्राम, २
शुद्ध, १७४
शुद्ध विष्कम्भक, २५३
शेक्सपीयर, ४६
शेम्बोनकर, ४६
शेषकृष्ण, ४२८
शूद्रक, १३२, १३३, १५५, १५६
शूद्रक : मृच्छकटिक, १३२
शूद्रककृत पद्मप्राभृतकम्, वररुचिकृत उभयाभिसारिका, १५४
शूद्रककथा, १३२, १३३
शूद्रकचरित आख्यायिका, १३३
शून्य, १०५
शून्यवाद, ११५
श्लोकवार्तिक, २२०
शिष्य थे, ४३८
शिष्य रामभद्र मुनि, ४५४
शिङ्गभूपाल, ३६३
शिमुक (२४० ई०पू०), १३३
शिव कवि, ५१६
शिवलिङ्ग सूर्योदय नाटक, ५०७

शिवदत्त, १३२, १३५
शिलालि, ४
श्री ए० अनुजन्, १७४
श्री मुकुन्दशास्त्री, ४२५
श्री पणिक्कर, २६७
श्री प्रभात शास्त्री, १७४
श्री रामकृष्ण कवि, १५६
श्री एस.पी. पण्डित, २१६
श्री सर्वदानन्द सिद्धान्तवाचस्पति, ४१४
श्री वार्डर, १७६, १६३
श्री टी. गणपति शास्त्री, १३५
श्री टी० गणपति शास्त्री, २४
श्री गर्दे (GARDE), २२४
श्रीधर भास्कर वर्णेकर, ५०
श्रीधरदास, १६३, २१८
श्रीरूप, ४१४
श्रीकृष्ण सरस्वती, ४२५
श्रीकृष्णलीला-नाटिका, ३६७
श्रीमहानयप्रकाशे, ११
श्रीमद्भागवत, महाभारत,
विष्णुपुराण, ब्रह्मवैवर्त, ४१३
श्रीमद्भगवदीता, १८१
श्रीहर्षस्याभवत्सभ्यः, ३१८
श्रीहर्षवर्धन, २५८
श्रीरामतीर्थ, ४२४
श्रीजीव, ४१४
श्रीनारायण शास्त्री तक, २७६
श्रीनारायण शास्त्री ने, २७६
श्रीगदित, ४०६

ष

षाड्गुण्य, विषप्रयोग,
चर-व्यवस्था तथा कूटलेख, २०४

स

सदाशिवपरम्परामपि, १
स्वीकारेऽसाधारणत्वम्, ५
स्त्रीप्रेक्षा, २०
सङ्कीर्ण, १७४
संकल्पसूर्योदय, ५००
संविधान, २०३
संवादसूक्त, ६
संगीतक, १५६, १७२
संगीतकों मदनविजय, १७२
संग्राम सिंह, ४६७
संल्लाप, १७६

संल्लाप, १७६
स्कन्दपुराण, १३२, १३३
स्कन्दगुप्त, ४८
समयमातृका, १६२
स्मृति, १८१
सम्भवतः ११वीं शती में की थी।
मायुराज (अनङ्गहर्ष), ३८६
सम्पादकः एन०पी० उन्नि, १७५
समवकार, ५३१
समुद्रमन्थन (समवकार), ५१८
समुद्रगुप्त, ४८, १६०
समन्तभद्र, ३५८
सम्राट् कनिष्क, ८१
सन्धिसन्ध्यङ्गसंघटना, २०३
सी० कैप्पेलर, ८६
सी०आर० देवधर, २७
स्पेयस, ७८
सर विलियम जोन्स, ६७
सरस्वती भवन, २०
सरस्वतीकंठाभरण, २६
सरजान मार्शल, ८४
साकेत, ७६
सामन्त वटेश्वरदत्त, १६०
साहित्य-दर्पण, ४०१
साहित्यदर्पण, ३०६, ३६०, ४०७
सारस्वतभद्र, १५८
सारस्वतभद्र, १५८
सार्वभौमनगर, १५७
सार्वभौनगर (उज्जयिनी?), १५७
सोमप्रभसूरि, ३०
सौमिल, १३५
सोमिल, १३२, १३३
सौमिल्ल, २७
सौन्दरनन्द, ८६
सोमिल्ल, १३२
सोड्ढल, ३०
सोवेनी, ७६
सानुबन्ध पताका, २०३
सूत्रधार, १८७
सागरनंदी, २६
सागरनन्दिन् के
'नाटकलक्षणरत्नकोष, ४०७
सागरनन्दिन्, ४०५
सागरनन्दी, १६४, ५२६

सागरनन्दी, ३०४
सागरनन्दी ने
नाटकलक्षणरत्नकोश, १७४
सदुक्तिकर्णामृत, १६३
स्वप्नदशानन, ४११
स्वप्नवासवदत्त, २८
स्वप्नवासवदत्तम, २८, २६, ३०
स्वप्नवासवदत्तम्
२७, २८, २६, ३०, ३३
स्वप्नवासवदत्तस्य, २८
स्वप्नवावसदत्तम, ३०
सर्वानंद, ३०
स्वगत भाषण, २५२
स्वगत लम्बा, २५२
स्वगतकथन, २३२, २५२
सर्वज्ञ, ४१४
सुक्थनकर, २७
सुकुमार सेन, ७६
सुभद्रा नाटिका, ३५६
सुभद्रानाटिका, ४७६
सुप्रभातस्तोत्र, २६८
सुरेश्वर, २२२
सुवर्णाक्षी, ७६
सत्य हरिश्चन्द्र, ४३६
सैयद फखरुद्दीन, ४१४
सेनापति सेनिक, १५७
सट्टक, ३७३
स्टेन कोना, १३५
स्टेन कोनो, ४८, ३०३
स्टेनकोनो, ३१५
सूर्याभदेव, ४३४
सूर्यकान्त शास्त्री, ७६
सूर्यनारायण चौधरी ७६,
८४, ८८, ६०
सूत्रधार, २०५, ५३१, ५३२, १६२
सूत्रधार एवं नट, २३३
सूत्रालङ्कार, ८६
सूक्तमुक्तावली, ३०, २८, ४११
सूतों, ग्रन्थिकों, १६
सिद्धराज जयसिंह, ४३५, ४६३
सिंहविष्णु, १८३
सिंहभूपाल, ४०६
स्ट्रीस स्क्राडर, ७८
सिल्वा लेवी, ७८

सिल्वाँ लेव्ही, २७, १३२
सिल्वाँलेवी, ८४
सिल्वां लेव्ही, १

ह

हस्तलाघवादा, ५
हेगेलमहोदयेन, २
हूवेनसांग, ३४५, ३४६
हंसदूत, ४१५
हम्मीरममदमर्दनम, ४६६
हम्मीरमदमर्दन, ४६७
हम्मीरमदमर्दन में, ४६६
हरियज्वा शाण्डिल्यगोत्रीय, ५१४
हरिदत्त, २६५
हरिवंशपुराण, २२
हस्तिमल्ल, ३५८, ४७३
हर प्रसाद शास्त्री, ७६
हरविलास, ३२४
हरप्रसाद शास्त्री, ६०
हरदत्त शास्त्री, ७६
हाफिन्स, ७८
हास्य, ४२२
हास्यचूडामणि (प्रहसन), ५१८
हॉल, २७६
हॉल महाशय, २७५
हॉल ने, २७३
हर्ष, ३०
हर्षविक्रमादित्य, ४८
हर्षवर्धन, ४७, ३४५
हर्षचरित, २८, ४७, १३२, ३४५, ३४६
हुशेनशाह, ४१४
हुएन्त्सांग, ८३
हुल्त्ज़ एवं मीराशी, ३२६
हर्तेल ने, १८३
हेमचंद, ३०
हेमचन्द्र, उज्ज्वलदत्त, ३२४
हेमचन्द्राचार्य, ४३५
हनुमन्नाटक, २७६
हूणा, ४८
हूणों, ४८, १५७
हेनसांग, २५८, २६४, २६५, २६६
हृदयसंवादतन्मयीभवनसहकारिणा, १०

क्ष

क्षणिकवाद, १०४

क्षीरस्वामी, ४१२
क्षेत्रेशचन्द्र चट्टोपाध्याय, ४६
क्षेमेश्वर, ३२०, ३२५, ३२८
क्षेमेन्द्र, ३२०

त्र

त्रैलोक्यमल्ल, ३५५
त्रिपुरारि, २२५
त्रिपुरारि, घनश्याम अनन्तपण्डित, २१८
त्रिपुरदाह, ५२२
त्रिपुरदाह (डिम), ५१८

ज्ञ

ज्ञानसूर्योदयनाटक, ४६२
ज्ञानचन्द्रोदय नाटक, ४६२

***

संस्कृत वाङ्मय का बृहद् इतिहास
षष्ठ खंड नाट्य

भरतमुनि का नाट्यशास्त्र न केवल नाट्यकला, अपितु भारतीय सभी कलाओं का विश्वकोश है। इसकी परम्परा में कला पक्ष के सैद्धान्तिक और प्रायोगिक वाङ्मय की रचना निरन्तर होती रही है। सैद्धान्तिक पक्ष पर विवृति, व्याख्या, भाष्य एवं स्वतन्त्र समीक्षा ग्रन्थ लिखे गये तथा प्रयोग पक्ष पर निरन्तर संस्कृत, प्राकृत एवं क्षेत्रीय भाषाओं में नाटकों की रचना होती रही है।

इस पुस्तक में नाट्य कला के दोनों पक्षों के वाङ्मय और उनके रचनाकारों का क्रमबद्ध प्रामाणिक इतिहास और विषय-समीक्षा प्रस्तुत की गयी है। इसमें नाटक के उद्भव, विकास और उत्कर्ष के साथ उसके प्रसार का भी प्रामाणिक विवेचन है। यहाँ भास, कालिदास, अश्वघोष, शूद्रक, विशाखदत्त, भवभूति, हर्षवर्धन आदि प्रमुख नाटककारों के नाटकों की तथा रूपक के सभी भेद-प्रभेदों में प्राप्त नाटकों की समीक्षा की गयी है। इसमें जैन संस्कृतनाटकों के साथ राम-कृष्ण कथाश्रित एवं प्रतीक नाटकों का विस्तृत परिचय भी दिया गया है। इस प्रकार प्राचीन संस्कृत नाटकों के समीक्षात्मक इतिहास की यह सर्वोत्तम पुस्तक है।